

प्रधान सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र

सम्पादक—डॉ० दशरथ ओझा

डॉ० सत्यदेव चौधरी

हिन्दी नाट्यदर्पण

भाष्यकार

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

हिन्दी विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिन्दी नाट्यदर्पण

हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिन्दी
नाट्यदर्पण

मुद्रकस्य कराघातैः खिन्ना चेन्मम भारती ।
कराम्बुजामृतस्पर्शैः सन्तः ! सञ्जीवयन्तु ताम् ॥

हिन्दी
नाट्यदर्पण

श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्र-विरचित

नाट्यदर्पण की हिन्दी व्याख्या

* * *

प्रधान सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र

सम्पादक

डॉ० दशरथ ओझा

डॉ० सत्यदेव चौधरी



भूमिका-लेखक तथा व्याख्याकार

वृन्दावनस्थ गुरुकुल विश्वविद्यालयके अनुसन्धान-सञ्चालक

दिल्ली विश्वविद्यालय हिन्दी अनुसन्धान परिषद्के

सम्मान्य सदस्य

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

* * *

प्रकाशक

हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रकाशक :
हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रथम संस्करण
१९६१

मूल्य : २२ रुपये

मुद्रक :
युनिवर्सिटी प्रेस,
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली-६

विषयानुक्रम

प्रथम विवेक

विषय		पृष्ठ

विषय		पृष्ठ

द्वितीय विवेक

तृतीय विवेक

विषय		पृष्ठ

भूमिका

ग्रन्थकार का देश—

प्रस्तुत ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' के रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र पश्चिम भारत में स्थित गुजरात देश के निवासी थे। संस्कृत साहित्य के विशाल भण्डार को इतना गौरवमय एवं समृद्ध बनाने में [शारदा देश] काश्मीर के बाद गुजरात का विशेष महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। गुजरात में अणहिल-पट्टन का प्रसिद्ध राज्य विद्वानों का प्रमुख आश्रय-स्थान और भारतीय वाङ्मय की सेवा एवं समृद्धि में सबसे अग्रगण्य राज्य था। इस राज्य की स्थापना विक्रम सं० ८०२ [ई० सन् ७४६] में हुई थी। 'अणहिल-गोपाल' नामक कुशल शिल्पी ने इस स्थान की परीक्षा करके 'चाउक्कड' वंश के तत्कालीन राजा 'मोती सम वणराय' को इस स्थान पर उत्तम 'पत्तन' बसाने का परामर्श दिया था। तदनुसार 'मोती सम वणराय' ने इस स्थान पर अपनी राजधानी का निर्माण कराया और 'अणहिल-गोपाल' के नाम पर उसका नाम 'अणहिल-पट्टण' रखा। यह 'अणहिल-पट्टण' आगे चलकर भारत का एक प्रमुख राज्य बना और उसने संस्कृत-साहित्य को समृद्ध बनाने में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

काश्मीर के समान 'अणहिल-पट्टन' का राज्य भी शैव-राज्य था। उसके राजा प्रायः शैव सम्प्रदाय 'के' अनुयायी थे। किन्तु साहित्य-समृद्धि के क्षेत्र में वहाँ जैनों का विशेष महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। ११वीं शताब्दी से लेकर १३वीं शताब्दी तक प्रायः दो सौ वर्ष पर्यन्त 'अणहिल-पट्टन' का प्रभुत्व अपने चरमोत्कर्ष पर रहा। इस बीच में (१) भीमदेव [१०२१–६४ ई०] (२) कर्णदेव [१०६४ से ९४ ई०], राजा के समय 'अणहिल-पट्टन' 'शैव' विद्वानों का अत्यन्त प्रिय केन्द्र बन गया था। शैवाचार्य ज्ञानदेव, सोमेश्वर पुरोहित, सुराचार्य, और मध्यदेश के श्रीधर तथा श्रीपति आदि शैव-धर्म के अनेक प्रसिद्ध विद्वान् 'अणहिल-पट्टन' की राजसभा के रत्नों के रूप में उसे सुशोभित कर रहे थे। राजा भीमदेव के 'सन्धि-विग्रहिक' दामोदर पण्डित उस समय अपनी विद्वता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थे। उनके प्रभाव से ही उस समय 'अणहिल-पट्टन' विद्वानों के आकर्षण का केन्द्र बन गया था। यों तो 'अणहिल-पट्टन' का राज्य शैव राज्य था। उसके राजा और 'सान्धि-विग्राहिक' दामोदर पण्डित दोनों शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे, किन्तु उनके यहाँ सभी धार्मिक विद्वानों का समान रूप से स्वागत होता था। एक ओर जहाँ शैवाचार्य ज्ञानदेव सरीखे शैव विद्वान् उनकी सभा को सुशोभित करते थे उन्हीं के साथ भडौंच [भृगुकच्छ] के कौलकवि 'धर्म तत्त्वो-पप्लव' की युक्तियों के बल पर सभा में वाद-विवाद करते थे। उसी सभा में जैनाचार्य शान्त-सूरि इनकी सभा के पण्डित थे जो 'बौद्ध तर्क से उत्पन्न दुरूह प्रमेयों' की शिक्षा एवं तर्क बुद्धि के लिए अत्यन्त प्रख्यात थे। पट्टन का राजद्वार जैसे सभी धर्मों और सम्प्रदायों के विद्वानों के लिए समान रूप से आकर्षण का केन्द्र था इसी प्रकार सभी देशों एवं राज्यों के विद्वानों के लिए भी वह आकर्षण का केन्द्र था। 'कर्णसुन्दरी नाटिका' के कर्ता काश्मीरी पण्डित बिल्हण और नवाङ्गी टीकाकार अजयदेव-सूरि ने कर्णदेव के शासन काल में 'अणहिल-पट्टन' की राजसभा को सुशोभित किया था। प्रस्तुत ग्रन्थ 'नाट्य-दर्पण' के रचयिता श्री रामचन्द्र गुणचन्द्र भी इसी विद्वज्जन-सेवित एवं प्रगतिशील राज्य की विभूति थे।

ग्रन्थकार के गुरु आचार्य हेमचन्द्र—

प्रस्तुत ग्रन्थ 'नाटचदर्पण' के निर्माता रामचन्द्र ने अपने नाटकों की प्रस्तावना में सूत्रधार के द्वारा अपने को आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य बतलाते हुए अपना परिचय दिया है। जैसे—

"सूत्र०—दत्तः श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रस्य शिष्येण रामचन्द्रेण विरचितं नलविलासा• भिधानमाद्यं रूपकमभिनेतुमादेशः।"

[नलविलासस्य आमुखे]

"सूत्र०—श्रीसिद्धहेमाभिधान-शब्दानुशासनवेधसः श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रस्य शिष्येण रामचन्द्रेण विरचितं सत्यहरिश्चन्द्राभिधानमादिरूपकमभिनीय सभाजनमनुरञ्ज- यिष्यामः।"

[सत्यहरिश्चन्द्रस्य प्रस्तावनायाम्]

सूत्र०—श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रशिष्यस्य प्रबन्धशतकर्तुर्महाकवे रामचन्द्रस्य भूयांसः प्रबन्धाः।"

[निर्भयभीमव्यायोगस्य प्रस्तावनायाम्]

इस प्रकार अपने अनेक ग्रन्थों में नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र ने अपने आपको आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य घोषित किया है। इस 'नाटचदर्पण' की विवृति के अन्त में भी—

"शब्द-प्रमाण-साहित्य-छन्दोलक्ष्मविधायिनाम्।
श्रीहेमचन्द्रपादानां प्रसादाय नमो नमः॥"

लिखकर ग्रन्थकार ने अपने गुरु श्री आचार्य हेमचन्द्र को नमस्कार करते हुए उनके प्रति अपनी श्रद्धा का प्रदर्शन किया है।

नाटचदर्पण-कार रामचन्द्र के गुरु, ये आचार्य हेमचन्द्र, जैन धर्म के अनुयायी और बहुत बड़े विद्वान् थे। जैन धर्म के शास्त्रीय तत्त्वों के अपूर्व-ज्ञाता एवं व्याख्याता होने के अतिरिक्त वे व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि शास्त्रों के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका जन्म सन् १०९० में गुजरात के अन्तर्गत 'धन्धुका' ग्राम के एक वैश्य परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम 'चच्चिभ' (अथवा चच्च) और माता का नाम 'चाहिणी' (अथवा 'पाहिणी') था। हेमचन्द्र का बाल्यावस्था का राशिनाम 'चङ्गदेव' था। आगे आठ वर्ष की अवस्था में जैन धर्म में दीक्षित होने पर इनका नाम बदल कर 'सोमचन्द्र' प्रसिद्ध हुआ। और फिर २१ वर्ष की अवस्था में 'सूरी' पद प्राप्त करने से उनका नाम 'हेमचन्द्र' प्रसिद्ध हुआ। कहते हैं २१ वर्ष की अवस्था में जब इनको 'सूरी' पद प्राप्त हुआ तब इनके शरीर का वर्ण हेम (सुवर्ण) के समान तथा मुख की कान्ति चन्द्रमा के समान थी, इसीलिए इनका नाम हेमचन्द्र रखा गया। 'सोमप्रभसूरि' विरचित 'कुमारपाल-प्रतिबोध' की कथा के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र के सूरिपद की प्राप्ति का महोत्सव नागौर (मारवाड़) में बड़े समारोह के साथ मनाया गया। इस महोत्सव पर होने वाले व्यय का सारा भार नागौर निवासी और आचार्य हेमचन्द्र के भक्त व्यापारी 'धनद' ने अपने ऊपर लिया था।

'सोमप्रभसूरि' के अनुसार 'धन्धुका' ग्राम के एक वैश्यकुल में उत्पन्न यह 'चङ्गदेव' बालक 'पूर्णतलल-गच्छ' के निवासी 'श्री देवचन्द्र सूरि' के सम्पर्क एवं प्रभाव से ही श्रमण-सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुआ। बालक चङ्गदेव की आयु अभी आठ वर्ष की ही थी। 'देवचन्द्र सूरि' विहार करते हुए उन्हीं दिनों 'चन्द्रदेव' के ग्राम 'धन्धुका' में पहुंचे। वहां प्रत्येक दिन 'सूरि' का प्रवचन (देशना)

होता था। इन प्रवचनों का बालक चङ्गदेव के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। एक देशना (प्रवचन) पूरी होने पर यह वणिक्-कुमार चङ्गदेव अत्यन्त विनयपूर्वक आचार्य के सामने उपस्थित हुआ। बालक के मामा 'नेमि' ने आचार्य से बालक का परिचय कराया। और बालक 'चङ्गदेव' ने उनसे प्रार्थना की कि—'सुचारित्र्य रूपी जलयान द्वारा इस संसार सागर से पार लगाइए।' देवचन्द्र-सूरि ने बालक की योग्यता और उत्कट इच्छा को देख कर उसके मामा 'नेमि' से कहा कि इसके पिता 'चच्च' को प्रेरणा करो कि वह इसे व्रत ग्रहण की आज्ञा दे दे। तब हम इस बालक को प्राप्त कर निःशेष शास्त्र परामार्थ का अवगाहन करावेंगे। पश्चात् यह लोक में तीर्थङ्कर जैसा उपकारक होगा'। अन्त में सम्भवतः १०९८ ई० में आठ वर्ष की आयु में बालक 'चङ्गदेव' ने आचार्य देवचन्द्र सूरि से जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की। उस समय उस 'सोहमुह' सौम्यमुख का नाम 'सोमचन्द्र' रखा गया। २१ वर्ष की आयु में ११११ ई० में 'सूरि' पद प्राप्त करने पर उनका नाम 'सोमचन्द्र' से बदल कर हेमचन्द्र हो गया।

यह नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र के गुरु आचार्य हेमचन्द्र के प्रारम्भिक जीवन की कहानी है। आचार्य हेमचन्द्र के गौरव का यथेष्ट परिचय इससे मिलता है। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की लोकोक्ति के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र के गौरव के लक्षण उनकी बाल्यावस्था में ही प्रकट होने लगे थे। उनका जीवन क्रमशः विकसित होता हुआ जैन धर्म के एक महान् आचार्य एवं संस्कृत-साहित्य के अपूर्व विद्वान् के रूप में लोकप्रतिष्ठा के चरम-शिखर पर पहुँच गया था।

हेमचन्द्र का राजसम्बन्ध—

जैसा कि पहले कहा जा चुका है आचार्य हेमचन्द्र का जन्म गुजरात में सन् १०९० में हुआ था। और १०९८ में उन्होंने आचार्य देवचन्द्र सूरि से जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की। गुजरात में इस समय जयसिंह सिद्धराज का राज्य चल रहा था। जयसिंह सिद्धराज का शासनकाल १०९३ से १२४३ ई० तक रहा। इसके बाद ११४३ से ११७३ तक लगभग ३० वर्ष कुमारपाल ने 'अणहिल-पट्टन' की गद्दी पर राज्य किया। इन दोनों राजाओं के यहां आचार्य हेमचन्द्र को बड़ा गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। जयसिंह सिद्धराज लगभग उनके समवयस्क थे, अतएव उनका सदैव मित्रवत् व्यवहार रहता था। कुमारपाल शिष्य के समान उन पर सदा भक्ति रखते थे। जयसिंह-सिद्धराज के शासन में गुर्जर और मालवा राज्यों में लम्बा युद्ध चलता रहा। अन्त में ११३६ ई० में मालवा राज्य के ऊपर गुर्जर राज्य को विजय प्राप्त हुई। इस विजयप्राप्ति के अवसर पर गुर्जर देश की प्रजा ने अपने राजा जयसिंह सिद्धराज का बड़े उत्साह एवं समारोह के साथ स्वागत किया। इस स्वागत-समारोह के अवसर पर राजा जयसिंह सिद्धराज का आचार्य हेमचन्द्र के साथ प्रथम परिचय हुआ था। यह परिचय उत्तरोत्तर प्रगाढ़ मैत्री के रूप में विकसित होता गया। जयसिंह-सिद्धराज के विजय-महोत्सव के अवसर पर सभी सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों ने उनका स्वागत किया था। इसी प्रसङ्ग में जैन धर्म के प्रतिनिधि के रूप में आचार्य हेमचन्द्र ने उनका स्वागत किया था। उनके स्वागत-पद्यों में निम्न पद्य विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं—

भूमिं कामदुघां स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकर !
मुक्ता स्वस्तिकमातनुध्वमुडुप त्वं पूर्णकुम्भी भव।
धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरल दिग्वा रणास्तोरणा-
न्याधत्त, स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः॥

(प्रभावकचरित पृ ३००)

इस प्रथम राजपरिचय के समय आचार्य हेमचन्द्र की आयु ४६ वर्ष के लगभग थी। किसी अन्य अवसर पर राजा जयसिंह सिद्धराज 'अणहिल-पट्टन' के राजमार्ग पर हाथी पर चढ़े हुए जा रहे थे। दूसरी ओर से आचार्य हेमचन्द्र सूरि पैदल आ रहे थे। मार्ग सकरा था। राजा जयसिंह सिद्धराज ने हाथी रुकवा दिया। इस पर आचार्य हेमचन्द्र ने उनको एक ओर से निःशंक हाथी निकाल ले जाने का सुझाव देते हुए तत्काल बना कर निम्न श्लोक पढ़ा—

"कारय प्रसरं सिद्ध ! हस्तिराजमशङ्कितम्।
त्रस्यन्तु दिग्गजाः किन्तैर्भूर्यस्त्वयैवोद्धृता यतः ॥"

हेमचन्द्राचार्य की साहित्यसेवा—

उपर्युक्त विवरण के अनुसार सन् ११३६ में मालव-विजयोत्सव के समारोह के अवसर पर आचार्य हेमचन्द्र का 'अणहिल-पट्टन' के अधीश्वर जयसिंह सिद्धराज के साथ प्रथम परिचय हुआ। उसके बाद सन् ११४६ में जयसिंह की समाप्ति हो गई। इस प्रकार सात वर्ष तक इन दोनों का साथ रहा। इन सात वर्षों के थोड़े से काल में राजा जयसिंह के प्रोत्साहन और प्रेरणा से, इन्होंने बहुत बड़े और बहुत महत्त्वपूर्ण साहित्य की रचना की है। व्याकरण, न्याय, साहित्य, छन्दःशास्त्र आदि सभी विषयों पर उनके प्रौढ़ एवं अत्यन्त उच्च कोटि के ग्रन्थ पाए जाते हैं : १ सिद्ध-हेमशब्दानुशासन, २ काव्यानुशासन, ३ छन्दोऽनुशासन, ४ वादानुशासन, ५ धातुपारायण, ६ द्वयाश्रय महाकाव्य, ७ देशीनाममालाभिधान चिन्तामणि, ८ अनेकार्थ संग्रह निघण्टु, ९ सप्त सन्धान महाकाव्य, १० त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित, ११ परिशिष्ट पर्व, १२ योगशास्त्र, १३ वीतराग स्तोत्र, १४ द्वात्रिंशिका द्वयस्त्रीति, १५ प्रमाणमीमांसा आदि उनके लिखे हुए ग्रन्थों की सूची बहुत लम्बी है। और इनके प्रतिपाद्य विषयों का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। इतने व्यापक और विविध विषयों पर इतनी उच्चकोटि के ग्रन्थ लिख कर उन्होंने सचमुच अपने आचार्यत्व को चरितार्थ किया और संस्कृत साहित्य की महती सेवा की है।

आचार्य हेमचन्द्र के ये सभी ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु इनमें 'सिद्ध-हेमशब्दानुशासनम्' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह व्याकरण-शास्त्र का ग्रन्थ है यह बात उसके 'शब्दानुशासन' नाम से ही प्रतीत होती है, किन्तु उसके नामकरण में सिद्धहेम पद जोड़ कर आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी और राजा जयसिंह सिद्धराज की मित्रता को अमर कर दिया है। इस नामकरण में 'सिद्ध' पद राजा 'जयसिंह सिद्धराज' का बोधक है और 'हेम' पद आचार्य हेमचन्द्र के नाम का सूचक है। सिद्धराज जयसिंह की प्रेरणा से आचार्य हेमचन्द्र ने इस शब्दानुशासन की रचना की है इस बात को आचार्य हेमचन्द्र ने इस नामकरण द्वारा सूचित किया है। उनका 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' एक विशाल पुराण ग्रन्थ है। और उनका 'परिशिष्ट-पर्व' भारत के प्राचीन इतिहास के अनुसन्धान-कार्य में उपयोगी हो सकता है। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में लिखा गया 'द्वयाश्रय महाकाव्य' एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। 'प्रमाण मीमांसा' उनका दर्शन ग्रन्थ है। इसमें जैन दर्शन के अनुसार प्रमाणों का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ सूत्र रूप में लिखा गया है। सूत्रों के ऊपर उनकी अपनी ही बनाई हुई स्वोपज्ञ वृत्ति भी पाई जाती है। 'योगशास्त्र' में जैन दर्शन के साथ योग-प्रक्रिया का समन्वय करने का यत्न किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने सभी विषयों पर ग्रन्थ लिख कर अपने अनुयायियों के संस्कृत अध्ययन के लिए एक स्वतंत्र ग्रन्थ-माला की रचना कर दी है। उनके अनुयायी विद्यार्थियों को पढ़ने पढ़ाने के लिए सभी प्रमुख विषयों पर अपने स्वतन्त्र ग्रन्थ मिल

सकते हैं। इस प्रकार उन्होंने संस्कृत विद्या के अध्ययन के निमित्त जैन धर्म एवं गुजरात प्रदेश दोनों को स्वावलम्बी बना दिया है।

अन्तिम झांकी—

आचार्य हेमचन्द्र एक महान् साधुपुरुष और संस्कृत के प्रौढ़ विद्वान् थे। उनका अधिकांश समय अध्ययन, अध्यापन एवं साहित्यिक कार्य में व्यतीत होता था। राजा जयसिंह के साथ और उनके बाद जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल के साथ यद्यपि उनका घनिष्ट सम्बन्ध था, किन्तु वे श्रमणों की नाईं अलग अपने विहार में रहते थे। आवश्यकता होने पर सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल उनके स्थान पर जाकर ही उनसे आवश्यक परामर्श प्राप्त करते थे। फिर भी राज-सम्पर्क बड़ी बुरी बला है। आचार्य हेमचन्द्र को इस राज-सम्पर्क का बड़ा बुरा फल भोगना पड़ा।

राजा जयसिंह सिद्धराज के साथ आचार्य हेमचन्द्र का प्रथम परिचय ११३६ में मालव-विजयोत्सव के समारोह के अवसर पर हुआ था। उस समय उनकी अवस्था ४६ वर्ष की थी। उसके बाद ७ वर्ष तक राजा जयसिंह सिद्धराज के साथ उनका सम्बन्ध रहा। उसके बाद उनके उत्तराधिकारी 'अणहिल-पट्टन' के राजा कुमारपाल के साथ ३० वर्ष तक उनका सम्बन्ध रहा। इस प्रकार ४६ वर्ष की आयु में राज-सम्पर्क में आकर ३७ वर्ष तक वे निरन्तर राज-सम्पर्क में रहे, और ८३ वर्ष की आयु में उनका देहावसान हुआ। उनके देहावसान की घटना बड़ी करुण है।

'अणहिल-पट्टन' के राजा और आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य कुमारपाल के कोई पुत्र नहीं था। एक पुत्री थी और उसका लड़का प्रतापमल्ल था। ३० वर्ष राज्य करने के बाद राजा कुमारपाल वृद्ध हो गए थे, और उन्हें राज्य के उत्तराधिकारी का निर्णय करने की चिन्ता हुई। उनके निकट सम्बन्धियों में एक तो यही उनका दौहित्र प्रतापमल्ल था और दूसरा उनका भाई अजयपाल था। इन्हीं दो में से किसी को 'अणहिल पट्टन' की राजगद्दी का उत्तराधिकारी बनाया जा सकता था। इन दोनों में किसको राज-सिंहासन देना उचित होगा इस विषय में परामर्श करने के लिए वृद्ध राजा कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्र से परामर्श करने के लिए उनके स्थान पर गए। राजा के साथ उनका प्रिय एक जैन व्यापारी 'वणाह-आभड़' भी था। राजा जयसिंह सिद्धराज के साथ आचार्य हेमचन्द्र का सम्पर्क केवल सात वर्ष ही रहा था। इसलिए जयसिंह शैव धर्म के ही अनुयायी बने रहे, किन्तु कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्र के उपदेशों को सुन कर जैन बन गए थे। उनका दौहित्र प्रतापमल्ल भी जैन था। इसलिए आचार्य हेमचन्द्र ने राजा कुमारपाल को यह परामर्श दिया कि धर्म के स्थैर्य के लिए प्रतापमल्ल को गद्दी देना अच्छा रहेगा। किन्तु राजा के जैन मित्र 'वणाह-आभड़' की यह सम्मति थी कि—"कुछ भी हो, पर अपना काम का" इस कहावत के अनुसार 'अजयपाल' को गद्दी देना ठीक होगा। अन्त में परिस्थितियों से विवश होकर अजयपाल को ही राज्य का उत्तराधिकारी बनाया गया।

आचार्य हेमचन्द्र के यहाँ जिस समय राजा कुमारपाल राज्य के उत्तराधिकारी के विषय में परामर्श कर रहे थे उस समय आचार्य का एक विद्यार्थी बालचन्द्र भी वहाँ उपस्थित था। उस बालक बालचन्द्र के द्वारा अजयपाल को किसी तरह यह बात मालूम हो गई कि आचार्य हेमचन्द्र ने उसको गद्दी दिए जाने का विरोध किया है। इस बात को सुन कर उसे बड़ा क्षोभ हुआ और वह आचार्य हेमचन्द्र तथा उनके कृपापात्र एवं साथियों का शत्रु बन गया। आचार्य

हेमचन्द्र की अवस्था उस समय ८३ वर्ष की हो चुकी थी और उसके बाद बहुत शीघ्र ही उनका देहावसान हो गया। पता नहीं यह उसके किसी षड्यन्त्र का परिणाम था या यह स्वाभाविक मृत्यु थी। यद्यपि ग्रन्थों में तो इसका उल्लेख नहीं मिलता है फिर भी अजयपाल की प्रकृति को देखते हुए यह आश्चर्य नहीं है कि उसने किसी षड्यन्त्र द्वारा आचार्य हेमचन्द्र को समाप्त करा दिया हो। क्योंकि आचार्य के निधन के बाद ३२वें दिन ही अजयपाल ने विष देकर कुमारपाल को समाप्त कर दिया और स्वयं राज्यसिंहासन पर अधिकार कर लिया। इस घटना का उल्लेख अनेक जैन ग्रन्थों में पाया जाता है। सन् १३४८ में लिखे गए राजशेखर सूरि के 'प्रबन्धकोष' में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"एवं व्रजति काले राजा कुमारपालदेवः श्री हेमश्च वृद्धौ जातौ। श्री हेमसूरिगच्छे-विरोधः। रामचन्द्र-गुणचन्द्रादिवृन्दमेकतः। एकतो बालचन्द्रः। तस्य च बालचन्द्रस्य राजभ्रातृव्येन अजयपालेन सह मैत्री। एकदा प्रस्तावे राज्ञो गुरूणां आभडस्य च रात्रौ मन्त्रारम्भः। राजा पृच्छति—भगवन्! अहमपुत्रः, कमहं स्वपदे रोपयामि? गुरवो ब्रुवन्ति प्रतापमल्लं दौहित्रं राजानं कुरु धर्मस्थैर्याय, अजयपालात्तु त्वत्स्थापितधर्मक्षयो भावी। अत्रान्तरे आभडः प्राह—भगवन्! यादृशस्तादृशः, आत्मीयो भव्यः। पुनः श्रीहेमः—अजयपालं राजं मा कृथाः सर्वथैव। एवं मन्त्रं कृत्वा उत्थितास्त्रयः। स च मंत्रो बालचन्द्रेण श्रुतः, अजयपालाय च कथितः। अतो हेमगच्छीय-रामचन्द्रादिषु द्वेषः, आभडे तु प्रीतिः। हेमसूरेः स्वर्गमनं जातम्। ततो दिनद्वात्रिंशता राजा कुमारपालोऽजयपालदात्तविषेण परलोकमगमत्। अजयपालो राज्ये निषण्णः। श्री हेम-द्वेषाद् रामचन्द्रादिशिष्याणां तप्तलोहविष्टरासनपातनया मारणं कृतम्। राजविहाराणां बहूनां पातनम्। लघुक्षुल्लकानाह्वाय्य प्रातः प्रातर्मृगयां कर्तुमभ्यासयति। पूर्वमेते चैत्यपरिपाटीमकार्षुरित्युपाहसता बालचन्द्रोऽपि स्वगोत्रहत्याकारक इति ब्रुवाद्भिर्ब्राह्मणैर्मनस उत्तारितः। श्रीमालवान् गत्वा मृतः। पापं पच्यते हि सव्यः।"

आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य—

प्रस्तुत ग्रन्थ नाटचदर्पण के निर्माता रामचन्द्र उक्त गुजरात की महाविभूति आचार्य हेमचन्द्र के प्रमुख शिष्य थे। राजा जयसिंह सिद्धराज के समय में ही आचार्य हेमचन्द्र ने उन्हें अपना पट्ट शिष्य घोषित कर दिया था। सन् १२७७ (सं० १३३४) में लिखे गए प्रभाचन्द्रसूरि के 'प्रभावक चरित' में रामचन्द्र के पट्टधर शिष्य होने का उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है।

"राज्ञा श्रीसिद्धराजेन, अन्यदानुयुयुजे प्रभुः।
भवतां कोऽस्ति पट्टस्य योग्यः शिष्यो गुणाधिकः॥
तमस्माकं दर्शयत चित्तोत्कर्षाय, मामिव।
अपुत्रमनुकम्पार्हं पूर्वे त्वां मा स्म शोचयन्॥
आह श्रीहेमचन्द्रश्च न कोऽप्येवं हि चिन्तकः।
आद्योऽप्यभूदिलापालः सत्पात्राम्भोधिचन्द्रमाः॥
सज्ज्ञानमहिमस्थैर्यं मुनिनां किं न जायते।
कल्पद्रुमसमे राज्ञि त्वयीदृशि कृतस्थितौ॥
अस्त्यमुष्यायाणो रामचन्द्राख्यः कृतिशेखरः।
प्राप्तरेखः प्राप्तरूपः सङ्घे विश्वकलानिधिः॥
अन्यदाऽदर्शयंस्तेऽमुं, क्षितिपस्य स्तुतिं च सः।
अनुक्तामाद्यविद्वद्भिर्हृल्लेखाधायिनीं व्यधात्॥

इन श्लोकों में राजा जयसिंह सिद्धराज और आचार्य हेमचन्द्र का संवाद वर्णित है। एक बार राजा सिद्धराज जयसिंह ने आचार्य हेमचन्द्र से पूछा कि—हे भगवन्! आपका उत्तराधिकारी योग्य शिष्य कौन है, हमें भी उसका दर्शन कराने की कृपा करें। राजा जयसिंह के कोई पुत्र नहीं था। इसलिए उसने कहा कि हे आचार्य कहीं ऐसा न हो कि मेरी तरह आपके विषय में भी शोक का अवसर आए कि आपका कोई योग्य शिष्य नहीं था। इसलिए अपने पट्टधर उत्तराधिकारी का निश्चय कर लीजिए। और इस पर आचार्य हेमचन्द्र ने रामचन्द्र को अपना उत्तराधिकारी पट्टशिष्य बतलाया और कहा इसे किसी समय आपको दिखला भी चुका हूँ। उस समय उसने अर्थात् रामचन्द्र ने आपकी अपूर्व ढंग से स्तुति भी की थी। इस स्तुति का वर्णन उसी 'प्रभावक चरित' में निम्न प्रकार किया गया है—

तथाहि—

> मात्रयाप्यधिकं कंचिन्न सहन्ते जिगीषवः।
> इतीव त्वं धरानाथ! धाराधिपमपाकृथाः॥

अर्थात् हे राजन्। विजयेच्छु लोग (मात्रयाप्यधिकं) अपने से तनिक भी बड़े को सहन नहीं करते हैं, इसलिए धरानाथ! आप उस धारानाथ अर्थात् मालवाराज का नाश कर डालें। इस श्लोक में धरानाथ तथा धारानाथ शब्दों के प्रयोग में चमत्कार है। इस शब्दों की मात्राओं की गणना की जाय तो 'धरानाथ की अपेक्षा 'धारानाथ' में एक मात्रा अधिक है। कवि ने धरानाथ सम्बोधन 'गुर्जराधीश जयसिंह सिंहराज के लिए किया है और 'धारानाथ' पद से मालवराज की ओर संकेत किया है। वह मात्रया अधिक है। इसलिए इसको नष्ट करने की बात कवि ने कही है। इस उक्ति में कुछ कविजनोचित अपूर्व चमत्कार है। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने उसे 'अनुक्तामाद्यविद्वद्भि:' एकदम अपूर्व कहा है। और इसीलिए उसको सुन कर राजा का सिर झूमने लगा। जैसा कि अगले श्लोक में कहा है—

> शिरोधूननपूर्वं च भूपालोऽत्र दृशं दधौ।
> रामे, वामेतराचारो विदुषां महिमस्पृशाम्॥

इस प्रकार के वर्णनों से विदित होता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने राजा जयसिंह सिद्धराज के सामने ही अर्थात् अपनी मृत्यु से लगभग ४०-४२ वर्ष पूर्व ही रामचन्द्र को अपना पट्टधर उत्तराधिकारी एवं प्रमुख शिष्य घोषित कर दिया था। रामचन्द्र के अतिरिक्त १ महेन्द्रसूरि, २ गुणचन्द्र सूरि, ३ वर्धमानगणि, ४ देवचन्द्र मुनि, ५ यशश्चन्द्र ६ उदयचन्द्र तथा ७ बालचन्द्र ये ७ उनके सहपाठी तथा आचार्य हेमचन्द्र के विशेष कृपापात्र शिष्य थे।

१. महेन्द्रसूरि—इन में से महेन्द्रसूरि ने आचार्य हेमचन्द्र के 'अनेकार्थ संग्रह' नामक ग्रन्थ के ऊपर 'हैमानेकार्थ संग्रह टीका' लिखी थी। जैसा कि उनके निम्न श्लोक से प्रतीत होता है—

> श्री हेमसूरिशिष्येण श्रीमन्महेन्द्रसूरिणा।
> भक्तिनिष्ठेन टीकेयं तन्नाम्नैव प्रतिष्ठिता॥

२-३. ग्रन्थकार के सहाध्यायी गुणचन्द्रगणि तथा वर्धमानगणि—वि०स० १२४१ (सन् १२८४ ई०) में सोमप्रभाचार्य ने 'कुमारपाल प्रतिबोध' काव्य-ग्रन्थ की रचना की थी। सोमप्रभ

ने अपना यह काव्य हेमचन्द्र के शिष्य गुणचन्द्रगणि तथा वर्धमानगणि को सुनाया था, इस प्रकार का उल्लेख उन्होंने स्वयं इस प्रकार किया है—

शशिजलधिसूर्यवर्षे शुचिमासे रविदिने सिताष्टम्याम् ।
जिनधर्मप्रतिबोधः क्लृप्तोऽयं गुर्जरेन्द्रपुरे ॥
हेमसूरिपदपंकजहंसैः महेन्द्रमुनिपैः श्रुतमेतत् ।
वर्धमान-गुणचन्द्रगणिभ्यां साकमाकलितशास्त्ररहस्यैः ॥

इन श्लोकों में वर्धमान तथा गुणचन्द्र दोनों के नामों का उल्लेख साथ-साथ किया है और उन्हें आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य बतलाया है। इससे ये दोनों भी नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र के सहपाठी सिद्ध होते हैं। इनमें से गुणचन्द्र तो वे हैं जिन्होंने रामचन्द्र के साथ मिलकर इस प्रस्तुत ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' और उसकी स्वोपज्ञवृत्ति की रचना की है। वर्धमानगणि ने भी 'कुमार विहार-प्रशस्ति' नामक ग्रन्थ की व्याख्या की है। उसका परिचय निम्न लेख से मिलता है—

श्रीहेमचन्द्रसूरिशिष्येण वर्धमानगणिना कुमारविहारप्रशस्तौ, काव्येऽमुष्मिन् षडर्थे कृतेऽपि कौतुकात् षोडशोत्तरं शतं व्याख्यानं चक्रे ।

४-५. **देवचन्द्रमुनि तथा यशश्चन्द्रगणि**—ये दोनों भी आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य और नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र के सहपाठी थे। इनमें से देवचन्द्रमुनि ने 'चन्द्रलेख विजय' नामक 'प्रकरण' (रूपक भेद) की रचना की है, और यशश्चन्द्रगणि का नाम मेरुतुङ्ग सूरि द्वारा विरचित 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रूप में पाया जाता है।

६. **उदयचन्द्र**—इनके नाम का उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र-विरचित शब्दानुशासन की न्यास टीका के लेखक कनकप्रभ ने निम्न प्रकार किया है—

भूपालमौलिमाणिक्य-मालालालितशासनः ।
दर्शनषट्कनिस्तन्द्रोहेमचन्द्रो मुनीश्वरः ॥
तेषामुदयचन्द्रोऽस्ति शिष्यः संख्यावतां वरः ।
यावज्जीवमभूद् यस्य, व्याख्या ज्ञानामृतप्रपा ॥
तस्योपदेशाद् देवेन्द्रसूरि शिष्यलवो व्यधात् ।
न्याससारसमुद्धारं मनीषी कनकप्रभः ॥

७. **बालचन्द्र**—रामचन्द्र के सहपाठियों में बालचन्द्र जी का भी विशेष स्थान है। इसके नाम की चर्चा हम अभी आचार्य हेमचन्द्र की अन्तिम झांकी के प्रसङ्ग में करचुके हैं। राजा कुमारपाल की मृत्यु का कारण यही था, और आश्चर्य नहीं कि आचार्य हेमचन्द्र की मृत्यु भी इसी कारण हुई हो।

कवि कटारमल्ल की उपाधि—

कवि रामचन्द्र का जन्म कब और कहाँ हुआ इसका ठीक निर्णय करने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। सन् ११३६ में आचार्य हेमचन्द्र को, जयसिंह सिद्धराज के साथ परिचय होने के समय वे आचार्य हेमचन्द्र के विद्यार्थियों में थे। यह बात पूर्वोद्धृत श्लोकों के आधार पर कही जा सकती है, और उससे यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि उनका जन्म गुजरात में 'अणहिल-पट्टन' के आस-पास ही कहीं हुआ होगा। तभी उन्हें आचार्य हेमचन्द्र के शिष्यत्व को सौभाग्य का अवसर सरलता से मिल गया।

आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा रामचन्द्र का परिचय राजा जयसिंह सिद्धराज के साथ भी हो गया था। एक बार ग्रीष्म ऋतु की प्रचण्डता की चर्चा के प्रसङ्ग में राजा जयसिंह सिद्धराज ने अपने पारिषदों से पूछा कि गर्मी में दिन लम्बे क्यों हो जाते हैं ? कथं ग्रीष्मे दिवसा गुरुतरा: ?' लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्तर दिए। उस समय रामचन्द्र भी सभा में उपस्थित थे। राजा ने उनका भी अभिप्राय जानना चाहा। रामचन्द्र ने उनके प्रश्न का उत्तर दिया। वह उत्तर उस समय की सामन्ती परम्परा के अनुसार और कवि रामचन्द्र की कवित्व-प्रतिभा के अनुरूप था। रामचन्द्र ने राजा के प्रश्न का उत्तर निम्न श्लोक द्वारा प्रस्तुत किया।

देव ! श्रीगिरिदुर्गमल्ल ! भवतो दिग्जैत्रयात्रोत्सवे,
धावद्वीरतुरङ्गनिष्ठुरखुरक्षुण्णक्ष्मामण्डलात् ।
वातोद्धूतरजोमिलत्सुरसरित्संजातपङ्कस्थली—
दूर्वाचुम्बनचंञ्चुरारविहयास्तेनातिवृद्धं दिनम् ॥

श्लोक में राजा के प्रताप का वर्णन है। राजा जयसिंह सिद्धराज जब दिग्विजय करने निकलते हैं तब उनके सैनिकों के घोड़ों के खुरों से उड़ाई गई धूलि आकाश-गंगा पर जाती है और उस पर दूब उग आती है। सूर्य का रथ जब आकाश-गंगा पर पहुँचता है तो सूर्य के घोड़े उस हरी-हरी दूब को देख कर उसे खाने के लिए रुक जाते हैं। इसलिए उनको अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँचने में विलम्ब हो जाता है। इसी कारण दिन बड़ा हो जाता है। उत्तर को सुन कर राजा बहुत प्रसन्न हुए। विशेषकर इसलिए कि यह श्लोक कवि का तुरन्त बनाया हुआ श्लोक था और उससे कवि की कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता था।

इसी प्रकार किसी अन्य अवसर पर राजा जयसिंह सिद्धराज ने रामचन्द्र से कहा कि—'सद्योनगरं वर्णय पट्टनाभिधानम्' 'अणहिल-पट्टन' नगर का वर्णन अभी करो। रामचन्द्र ने तनिक सी देर में ही 'अणहिल-पट्टन' नगर के वर्णन में निम्न श्लोक बना कर राजा के सामने प्रस्तुत कर दिया—

एतस्यास्य पुरस्य पौरवनिताचातुर्यतानिर्जिता
मन्ये नाथ ! सरस्वती जडतया नीरं वहन्ती स्थिता ।
कीर्तिस्तम्भमिषोच्चदण्डरुचिरामुत्सृज्य वाहावली—
तंत्रीका गुरुसिद्धभूपतिसरस्तुम्बीं निजां कच्छपीम् ॥

इस श्लोक का भाव यह है कि इस 'अणहिल-पट्टन' की निवासिनी स्त्रियों की चतुराई से पराजित होकर सरस्वती बिल्कुल मूर्खा बन कर उनके सामने 'पानी भरने लगी।' इसीलिए अपनी वीणा की कच्छपी [नीचे वाले भाग] को सिद्धराज भूपाल के तालाब की कच्छपी के रूप में नीचे छोड़ दिया और वीणादण्ड को राजा के कीर्ति-स्तम्भ के रूप में धारण किए और मेघावली को तंत्री बनाए हुए घूम रही है।

यों तो दोनों श्लोकों में कुछ गड़बड़ है किन्तु सद्य:निर्मित श्लोक होने के कारण वे काफी अच्छे श्लोक हैं। रामचन्द्र की इस प्रकार की प्रतिभा का परिचय राजा जयसिंह सिद्धराज को अनेक बार प्राप्त हो चुका था। इसलिए राजा ने प्रसन्न होकर 'कवि-कटारमल्ल' की उपाधि रामचन्द्र को प्रदान की।

एक बार काशी से विश्वेश्वर नामक कवि पण्डित अणहिल-पट्टन आए। यह राजा कुमारपाल के समय की बात है। वे कविवर आचार्य हेमचन्द्र की सभा में पहुँचे। उस समय राजा कुमारपाल भी आचार्य हेमचन्द्र के पास बैठे हुए थे। विश्वेश्वर पण्डित ने सभा में पहुँचते ही आचार्य हेमचन्द्र को आशीर्वाद देते हुए निम्न श्लोकार्द्ध को पढ़ा—

पातु वो हेम ! गोपालः कम्बलं दण्डमुद्वहन् ।

श्लोकार्द्ध का अर्थ था कि हे हेमचन्द्र ! दण्ड और कम्बल धारण किए हुए गोपाल कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें। कवि विश्वेश्वर ने अपनी धार्मिक भावना के अनुसार कृष्ण के द्वारा उनकी रक्षा की बात कही थी। पर आचार्य हेमचन्द्र और उनके आस-पास की सारी मण्डली तो जैन मतावलम्बिनी थी। उसे तो 'कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें, यह बात कुछ रुचिकर नहीं मालूम पड़ी। उसके स्थान पर यदि 'जिन तुम्हारी रक्षा करें' यह बात कही जाती तो उन्हें अच्छा लगता। उस समय कवि रामचन्द्र भी वहीं बैठे थे। उन्हें कृष्ण का यह 'रक्षा करने का गौरव' पसन्द नहीं आया। इसलिए उन्होंने तुरन्त ही शेष आधे श्लोक की पूर्ति निम्न प्रकार करके सुना दी—

षड्दर्शन पशुग्रामं चारयन् जैनगोचरे ॥

पहिले श्लोकार्द्ध में दण्ड और कम्बलधारी गोपाल के रूप में कृष्ण को उपस्थित किया था। रामचन्द्र के श्लोकार्द्ध में यह कहा गया है कि हाथ में लाठी लिए हुए और कंधे पर कमरिया डाले हुए वह गोपाल 'जैन गोचरे' जैनों के यहाँ षड्दर्शन रूप पशुओं को चरा रहा है। विश्वेश्वर कवि के हृदय में आशीर्वाद देते समय कृष्ण के प्रति जितना अभिमान व्यक्त हो रहा था, रामचन्द्र के श्लोकार्द्ध ने उतनी बुरी तरह कृष्ण की हीनता को प्रकाशित किया है। इस प्रकार यह श्लोक धार्मिक संघर्ष का सुन्दर उदाहरण बन गया है। सहृदय लोगों ने उस समय भी इस का रसास्वादन किया होगा। और आजके सहृदयों को भी उसमें एक तीखा ही सही पर विशेष रसास्वादन मिलेगा—

"पातु वो हेम ! गोपालः कम्बलं दण्डमुद्वहन् ।
षड्दर्शनपशुग्रामं चारयन् जैनगोचरे ॥"

इस घटना का यह विवरण मेरुतुङ्ग रचित प्रबन्ध चिन्तामणि [पृ० २२६-२७] के आधार पर दिया गया है। चरित्रसुन्दरगणि ने 'कुमारपालचरित महाकाव्य' में इसी प्रकार की घटना का उल्लेख निम्न प्रकार किया है।

पञ्चलक्षाणि द्रव्याणां दश चोच्चैस्तुरङ्गमान् ।
विश्वेश्वराय कवये तुष्टः श्री कुमरो ददौ ॥
सार्धं नृपतिना सोऽथ विश्वेश्वरकविर्ययौ ।
श्री हेमसूरिशालायां विद्वद्गोष्ठीरसेरितः ॥
आलोक्य संसदं सूरेर्भूरिसूरिजनावृताम् ।
स ब्रह्मपरिषत्तुल्यामेनां मेने कवीश्वरः ॥
सूरि-शिष्यपरीक्षायै द्वे समस्ये समार्पयत् ।
'व्याषिद्धेति' प्रसिद्धाऽऽद्या 'श्रृङ्गाग्रेणेति' चापरा ॥
तामाद्यां निरवद्यपद्यरचनाहृद्यः कपर्दी महा—
ऽमात्यः पूर्वमपूरयद् गुरुतरप्रज्ञाप्रकर्षोद्धुरः ।

कुर्वंस्तन्मनसीति विस्मयभरं श्रीसूरिशिष्यः क्षणाद् ।
अन्यां मान्यतमोऽनिशं मतिमतां श्रीरामचन्द्रोऽभ्यधात् ।।

यह वर्णन, पूर्व वर्णन से भिन्न प्रकार का है। इसके अनुसार विश्वेश्वर कवि का पहिले राजा कुमारपाल ने अपनी सभा में सत्कार किया। उसके बाद कवि राजा कुमारपाल के साथ आचार्य हेमचन्द्र की शाला में गए हैं। वहां उन्होंने आचार्य के शिष्यों की परीक्षा के लिए दो समस्याएं पूर्ति करने के लिए रखीं। इनमें से एक समस्या 'व्याषिद्धा' थी और दूसरी 'शृङ्गाग्रेण' थी। इनमें पहिली समस्या की पूर्ति पहिले राजा के महामात्य 'कपर्दी' ने की। उसके बाद दूसरी समस्या की पूर्ति हेमचन्द्र सूरि के शिष्य रामचन्द्र ने की। इन दोनों के समस्या-पूर्ति श्लोकों को ग्रन्थकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

नैतस्याः प्रसृतिद्वयेन सरले ! शक्ये पिधातुं दृशौ
सर्वत्रापि च लक्ष्यते मुखशशिज्योत्स्नावितानैरियम् ।
इत्थं मध्यगता सखीभिरभितो दृग्मीलनात् केलिषु,
व्याषिद्धा, नयने मुखं च रुदती स्वे गर्हते कन्यका ।।

यह महामात्य द्वारा की गई 'व्याषिद्धा' समस्या की पूर्ति है। रामचन्द्र द्वारा की गई दूसरी समस्या की पूर्ति निम्न प्रकार है—

त्वं नो गोत्रगुरुस्तवेन्दुरधिपस्तस्यामृतं तत्करे
तेन व्याधशरातुरां मम प्रियामेनां समुज्जीवय ।
इत्युक्ते मृगलाञ्छनस्य हरिणे कारुण्यमाजल्पतः
शृङ्गाग्रेण मृगस्य पश्य पतितं नेत्राम्बु भूमण्डले ।।

इनमें से प्रथम श्लोक में कन्याओं की आंखमिचौनी की क्रीडा का वर्णन है। आंख-मिचौनी खेलने वाली लड़कियों में एक लड़की की आंखे बहुत बड़ी बड़ी हैं। इतनी बड़ी कि 'प्रसृतिद्वयेन' दोनों हाथों से 'पिधातुं न शक्ये' ढकने में नहीं आती है। उससे आंख मिचौनी कैसे खेली जाय। उस लड़की में दूसरा दोष यह भी था कि वह कहीं भी जाकर छिपे, पर उसके सौन्दर्य की कान्ति चारों ओर फैल जाने से वह छिपी नहीं रह सकती है। इन दोनों कारणों से उस कन्या को 'दृग्मीलन केलि' से निकाल दिया गया—'व्याषिद्धा'। औरवह बेचारी अपने मुख तथा नेत्रों को कोस-कोस कर रोने लगी।

दूसरे श्लोक में कोई मृग शृङ्गाग्र से चन्द्रमा में बैठे हुए मृग को स्पर्श करते हुए उससे प्रार्थना कर रहा है कि तुम हमारे वंश के बड़े-बूढ़े गुरु हो, चन्द्रमा तुम्हारा स्वामी है। उससे अमृत भरे हाथ के द्वारा व्याध के बाण से मृतकल्प मेरी प्रिया हरनी को पुनर्जीवित करादो। इस प्रकार कहते हुए करुणामयी प्रार्थना करने वाले मृग की आंखों से आंसू टपकने लगे। इस प्रकार अपनी दी हुई दोनों समस्याओं की तुरन्त प्रस्तुत की गई इन दोनों सुन्दर पूर्तियों को सुन कर विश्वेश्वर पण्डित अत्यन्त प्रसन्न हुए।

स जहर्ष निजाथन ते निपीयाशु पूरिते ।
अहो ! जानाति विश्वेऽस्मिन् कविरेव कवेः श्रमम् ।।

कवि रामचन्द्र का आत्मपरिचय—

नाट्य दर्पणकार रामचन्द्र का यह परिचय हमने अन्य लोगों के ग्रन्थों में वर्णित सामग्री के आधार पर दिया था। अब आगे उनकी स्वयं दी हुई सामग्री के आधार पर उनका कुछ परिचय प्रस्तुत किया जाता है। नाट्यरचना के नियमों के अनुसार नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार के मुख से प्रत्येक नाटककार अपने सम्बन्ध में कुछ परिचय देता है :

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः।
रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्तयेत् ॥ साहित्यदर्पण ६-२८।

इस नियम के अनुसार प्रत्येक नाटक के आरम्भ में कवि रामचन्द्र ने अपना परिचय दिया है, परन्तु परिचय में उन्होंने अपने गोत्रस्थान आदि का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है। अपने सभी नाटकों में उन्होंने केवल आचार्य हेमचन्द्र सूरि के शिष्य-रूप में ही अपना परिचय कराया है। इस लिए उनके ठीक जन्म स्थान, पितृनाम और कुल-गोत्रादि का कोई परिचय हमको नहीं मिलता है। फिर भी उनके अपने व्यक्तित्व के परिचय कराने के लिए उनकी स्वलिखित पर्याप्त सामग्री मिलती है। अपने विषय में सबसे लम्बा परिचय उन्होंने कदाचित् 'रघुविलास' की प्रस्तावना में दिया है। वह परिचय निम्न प्रकार है—

"मारिष ! सिद्धहेमचन्द्राभिधानशब्दानुशासनविधानवेधसः श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रस्य शिष्यं रामचन्द्रमभिजानासि ?

चन्द्र०—[साक्षेपम्]—

पञ्चप्रबन्धमिषपञ्चमुखानकेन
विद्वन्मनःसदसि नृत्यति यस्य कीर्तिः।
विद्यात्रयीचणमचुम्बितकाव्यतन्द्रं
कस्तं न वेद सुकृती किल रामचन्द्रम् ?

किन्तु द्रव्यालङ्कारनामा प्रबन्धोऽनभिनेयत्वेन तावदास्ताम्। अपरेषां राघवाभ्युदय-यादवाभ्युदय-नलविलास-रघुविलासानां चतुर्णां रमणीयतम-सन्दध्यङ्गनिवेशानां विशदप्रकृतीनां पुनर्मध्ये कुत्र प्रजानामनुरागः ? [रघुविलास-प्रस्तावनायाम्]

यह उद्धरण 'रघुविलास' की प्रस्तावना से लिया गया है। इसमें कवि रामचन्द्र ने अपने पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें से प्रथम 'द्रव्यालङ्कार' ग्रन्थ न्यायशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ है और शेष चारों उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। पाँच ग्रन्थों के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि 'रघुविलास' की रचनाकाल तक वे इसको मिला कर पांच ग्रन्थों की रचना कर चुके थे। और उनके कारण उनकी पर्याप्त ख्याति हो गई थी। इस परिचय में उन्होंने अपने को 'विद्यात्रयी चणम्' कहा है। साधारण 'त्रयीविद्या' पद से वेदविद्या का ग्रहण होता है। किन्तु रामचन्द्र जैन विद्वान् थे इसलिए वेद विद्या से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। उन्होंने जो 'विद्यात्रयी' का प्रयोग किया है उससे न्याय, व्याकरण तथा साहित्य विद्या का ग्रहण होता है। रामचन्द्र का इन तीनों शास्त्रों के ऊपर पूर्ण अधिकार था, इसी लिए उन्होंने यहाँ अपने को 'विद्यात्रयीचणम्' तीनों विद्याओं में निपुण कह कर अपना परिचय दिया है। 'नाट्यदर्पण-विवृति' के अन्त में—

"शब्दलक्ष्म-प्रमालक्ष्म-काव्यलक्ष्म-कृतश्रमः।
वाग्विलासस्त्रिमार्गो नौ, प्रवाह इव जाह्नवः ॥"

लिख कर उन्होंने फिर अपने को इन तीनों विद्याओं का पण्डित सूचित किया है। अपना ही नहीं अपने आचार्य हेमचन्द्र का भी इन तीन शास्त्रों का ही पाण्डित्य 'नाटचदर्पण-विवृति' के अन्त में उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है—

"शब्द-प्रमाण-साहित्य-छन्दो-लक्ष्म विधायिनाम् ।
श्रीहेमचन्द्रपादानां, प्रसादाय नमो नमः ।।"

'नाटचदर्पण विवृति' के प्रारम्भ में भी—

"प्राणाः कवित्वं विद्यानां, लावण्यमिव योषिताम् ।
त्रैविद्यवेदिनोऽप्यस्मै, ततो नित्यं कृतस्पृहाः ।।" [ना० द० १-६]

इस श्लोक से उन्होंने अपने को 'त्रैविद्यवेदिनः' कह कर अपना परिचय दिया है। 'सिद्धहेम-शब्दानुशासन' के ऊपर 'न्यास' टीका लिख कर उन्होंने अपने व्याकरणशास्त्र के पाण्डित्य को चरितार्थ कर दिया है। अपने 'द्रव्यालंकार विवृति' ग्रन्थ द्वारा न्यायशास्त्र के पारङ्गतत्व को, और नाटचदर्पण एवं अनेक नाटकों की रचना द्वारा अपने साहित्यशास्त्र निष्णातत्व को चरितार्थ कर दिखाया। उनके ग्रन्थों के पढ़ने से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि वे इन सब शास्त्रों के अपूर्व विद्वान् थे। इसलिए उनका 'त्रैविद्य-वेदित्व' का अभियान यथार्थ ही था।

२. नाटचदर्पणकार रामचन्द्र ने अपने नाटकों में अपनी स्वातन्त्र्य-प्रियता पर बड़ा बल दिया है। उनकी काव्यरचना बिल्कुल स्वतन्त्र है। किसी अन्य कवि की कविता आदि का उन्होंने तनिक भी आश्रय नहीं लिया है। इस बात को प्रदर्शित करते हुए नलविलास की प्रस्तावना में लिखा है कि—

"नटः [विमृश्य] भाव ! अयं कविः स्वयमुत्पादक उताहो परोपजीवकः ?
सूत्रधारः—अत्रार्थे तेनैव कविना दत्तमुत्तरम्—

जनः प्रज्ञाप्राप्तं पदमथ पदार्थं घटयतः
पराध्वाध्वन्यान् नः कथयतु गिरां वर्त्तनिरियम् ।
अमावास्यायामप्यविकलविकासीनि कुमुदा—
न्ययं लोकश्चन्द्रव्यतिकरविकासीनि वदति ।। [नलविलास १-७]

ऐसा प्रतीत होता है कि किसी आलोचक ने रामचन्द्र को गतानुगतिक अर्थात् पुरानी बातों का ही वर्णन एवं अनुगमन करने वाला कह दिया था। उसका विरोध करते हुए इस श्लोक में उन्होंने यह दिखलाया है कि 'हम तो सदा अपनी बुद्धि में प्रस्फुटित नवीन पदार्थों की रचना करते हैं, फिर भी यदि हमें लोग दूसरों का अनुगमन करने वाला कहते हैं तो कहने दो। ऐसा तो संसार में कहा ही जाता है। देखो न ! संसार कुमदों को चन्द्रमा के सम्पर्क से ही खिलने वाला कहता है। पर वे कुमुद तो अमावस्या के दिन चन्द्रमा के न होने पर भी खिलते हैं। इसलिए लोगों की बात विश्वास के योग्य नहीं है।

"अपि च शपथप्रत्येयपदपदार्थसम्बन्धेषु प्रीतिमादधानं जनमवलोक्य जातखेदेन तेनेदं चाभिहितम्—

स्पृहां लोकः काव्ये वहति जरठैः कुण्ठिततमैः
वचोभिर्वाच्येन प्रकृतिकुटिलेन स्थपुटिते ।

वयं वीथीं गाढुं कथमपि न शक्ताः पुनरिमा—
मियं चिन्ता चेतस्तरलयति नित्यं किमपि नः।

पुरानी शैली के जिन यमकादि प्रधान और चित्रकाव्यों का अर्थ भी समझाना कठिन होता है, इस प्रकार के काव्यों में लोगों की विशेष अभिरुचि से खिन्न होकर रामचन्द्र ने यह श्लोक लिखा है। उसका भाव यह है कि हम इस प्रकार के स्वभावतः दुर्ज्ञेय और निकृष्ट रचनाशैली का अवलम्बन करने में असमर्थ हैं। तो लोग हमारे काव्य को पसन्द करेंगे या कि नहीं यही चिन्ता हमें सता रही है। अर्थात् रामचन्द्र ने पुरानी शैली का अवलम्बन करके ही अपने नाटकों की रचना नहीं की है। इसलिए गतानुगतिक केवल पुरानी लकीर के फ़कीर नहीं हैं—

लीक लीक गाड़ी चलै लीकहि चलै कपूत।
तीन लीक पर ना चलें शायर शेर सपूत॥

कवि रामचन्द्र तो शायर भी हैं और सपूत भी, इसलिए पुरानी लीक पर चलने वाले कैसे हो सकते हैं। उनकी रचनाशैली चित्रकाव्य की कठिन शैली से सर्वथा भिन्न सरल और सुबोध शैली है। इसीलिए उनकी रचना विशेष रूप से रसवती बन पड़ी है। इसी बात को उन्होंने निम्न श्लोक में दिखलाया है—

प्रबन्धानाधातुं नवभणितिवैदग्ध्यमधुरान्
कवीन्द्रा निस्तन्द्राः कति नहि मुरारिप्रभृतयः।
ऋते रामान्नान्यः किमुत परकोटौ घटयितुं
रसान् नाटचप्राणान् पटुरिति वितर्को मनसि नः।

अर्थात् नवीन कल्पना और उक्तियों से मधुर काव्यों की रचना करने वाले मुरारि आदि न जाने कितने कवि हुए हैं। किन्तु नाटच के प्राणभूत रसों का चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने में समर्थ, रचना को प्रस्तुत करने वाला तो रामचन्द्र के अतिरिक्त कोई दूसरा कवि दिखलाई नहीं देता है।

यह तो रामचन्द्र ने अपनी स्वतंत्र रचनाशैली का प्रतिपादन किया है। किन्तु दूसरे कवियों के पद-पदार्थ का अपहरण करने वाले कवियों की उन्होंने बड़ी कटु आलोचना की है। उनकी अनेक कृतियों में इस अपहरण-प्रवृत्ति की निन्दा पायी जाती है। उनमें से कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

अकवित्वं परस्तावत् कलङ्कः पाठशालिनाम्।
अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलङ्कस्यापि चूलिका॥
[नाटचदर्पण-विवृति १-११]

यह श्लोक नाटचदर्पण विवृति के आदि में लिखा है। इसी प्रकार इस विवृति के अन्त में भी उन्होंने लिखा है—

परोपनीतशब्दार्थाः, स्वनाम्ना कृतकीर्तयः।
निबद्धारोऽधुना तेन, को नौ क्लेशमवेष्यति ?

आजकल तो लोग दूसरों के शब्द अर्थों को लेकर अपने नाम से प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। तब हम दोनों अर्थात् नाटचदर्पणकार रामचन्द्र और गुणचन्द्र के उस कष्ट को, जो उन्होंने इस ग्रन्थ तथा अन्य ग्रन्थों की रचना में उठाया है कौन समझ सकेगा ?

'कौमुदी मित्राणन्द' की प्रस्तावना में भी उन्होंने इसी भाव को निम्न प्रकार लिखा है—

परोपनीतशब्दार्थाः स्वनाम्ना कृतकीर्तयः ।
निबद्धारोऽधुना तेन विश्रम्भस्तेषु वः सताम् ॥

कवि रामचन्द्र न केवल काव्य-रचना के क्षेत्र में अपितु जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वतंत्रता के उपासक हैं । अपनी इस स्वातन्त्र्यप्रियता का परिचय अनेक स्थानों पर दिया है । कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

काव्यं चेत् सरसं किमर्थममृतं, वक्त्रं कुरंगीदृशां
चेत् कन्दर्पविपाण्डुगण्डफलकं राकाशशाङ्केन किम् ?
स्वातंत्र्यं यदि जीवितावधि मुधा स्वर्भूर्भुवो वैभवे
वैदर्भी यदि बद्धयौवनभरा प्रीत्या सरस्याऽपि किम् ?॥

[नलविलास २-२]

इसके तीसरे चरण में उन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता के सामने स्वर्ग और तीनों लोकों के वैभव को तुच्छ बतलाया है। नलविलास के छठे अङ्क में उन्होंने फिर इस स्वातंत्र्य की चर्चा की है—

अनुभूतं न यद् येन रूपं नावैति तस्य सः ।
न स्वतंत्रो व्यथां वेत्ति परतंत्रस्य देहिनः ॥

[नलविलास ६-७]

'जिनस्तोत्र' के अन्त में उन्होंने स्वातंत्र्य-महिमा का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

'स्वतंत्रो देव ! भूयासं सारमेयोऽपि वर्त्मनि ।
मा स्म भूवं परायत्तस्त्रिलोकस्यापि नायकः ॥

हे देव ! मैं चाहता हूँ कि मैं स्वतंत्र रहूं । भले ही गली का कुत्ता बन कर रहूँ । पराधीन हो कर मैं तीनों लोकों का राजा भी बनना नहीं चाहता हूँ । यह स्वातंत्र्य-प्रियता का चरम रूप है । सत्यहरिश्चन्द्र की प्रस्तावना में भी उन्होंने लिखा है—

सूक्तयो रामचन्द्रस्य, वसन्तः, कलगीतयः ।
स्वातंत्र्यं, इष्टयोगश्च पंचैते हर्षसृष्टयः ॥

१ रामचन्द्र की सूक्तियां, २ वसन्त, ३ सुन्दर गान, ४ स्वतंत्रता और ५ इष्ट का योग ये पांचों वस्तुएं आनन्द एवं सुख की सृष्टि करने वाली हैं ।

"प्राप्य स्वातंत्र्यलक्ष्मीं मुदमथ वहतां शाश्वतीं यादवेन्द्रः"

[यादवाभ्युदय]

"प्राप्य स्वातंत्र्यलक्ष्मीं मनुभवतु मुदं शाश्वतीं भीमसेनः ।"

[निर्भय भीमयायोग]

"अजातगणनाः समाः परमतः स्वतंत्रो भव ।"

[नलविलास, तथा सत्यहरिश्चन्द्र]

"आसाद्य यशोलक्ष्मीं परां स्वतंत्रश्चिरं भूयाः"

[कौमुदीमित्राणन्द]

"स्वातंत्र्यप्रसवां यदीच्छत चिरं सर्वार्थं सिद्धि हृदि"

[द्रव्यालङ्कारान्ते]

कवि रामचन्द्र के ग्रन्थ—

प्रस्तुत नाटचदर्पण ग्रन्थ के लेखक रामचन्द्र की 'प्रबन्धशतकर्ता' के रूप में विशेष रूप से प्रसिद्धि हैं। उन्होंने स्वयं अनेक ग्रन्थों में अपने को सौ ग्रन्थों का निर्माता 'प्रन्बधशतकर्ता' बतलाया है। 'कौमुदीमित्राणन्द' की प्रस्तावना में 'प्रबन्धशतविधाननिष्णातबुद्धिना' इत्यादि द्वारा स्पष्ट रूप से अपने को १०० ग्रन्थों का निर्माता बतलाया है। इसी प्रकार 'निर्भयभीम-व्यायोग' की प्रस्तावना में 'प्रबन्धशतकर्तृमहाकवे रामचन्द्रस्य' इन शब्दों में अपने को प्रबन्ध-शतकर्ता घोषित किया है। किन्तु दुर्भाग्य से उनके सब ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। छोटे-छोटे 'स्तव' आदि तक को मिलाकर इस समय तक उनकी केवल ३९ कृतियां उपलब्ध हुई हैं। उनमें से हमारे ज्ञान में केवल छः ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१. नाटचदर्पण [बड़ोदा से प्रकाशित]
२. नलविलास नाटक [बड़ोदा से प्रकाशित]
३. कौमुदीमित्राणन्द [आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित]
४. निर्भयभीमव्यायोग [यशो जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित]
५. सत्यश्रीहरिश्चन्द्रनाटक [निर्णय सागर बम्बई से प्रकाशित]
६. कुमारविहारशतक [भा० आ० सभा से प्रकाशित]

हमारे ज्ञान में इन छः प्रकाशित ग्रन्थों के अतिरिक्त रामचन्द्र के नाम से निम्न सात अप्रकाशित ग्रन्थ और मिलते हैं जिनका उल्लेख नाटचदर्पण में पाया जाता है—

७. मल्लिकामकरन्दंप्रकरणम् [ना० द० में उद्धृत]
८. यादवाभ्युदयं नाटकम् [ना० द० में उद्धृत]
९. रघुविलास-नाटकम् [ना० द० में उद्धृत]
१०. राघवाभ्युदय-नाटकम् [ना० द० में उद्धृत]
११. रोहिणीमृगाङ्क-प्रकरणम् [ना० द में उद्धृत]
१२. वनमालानाटिका [ना० द० में उद्धृत]
१३. सुधाकलशः [ना० द० में उद्धृत]
१४. द्रव्यालङ्कार [रघुविलास प्रस्तावना में उद्धृत]
१५. यदुविलास [रघुविलास प्रस्तावना में उद्धृत]

इनके अतिरिक्त कवि रामचन्द्र के निम्न ग्रन्थ और उपलब्ध होते हैं। वे सब छोटे-छोटे स्तव रूप हैं—

१६. युगादिदेवद्वात्रिंशिका
१७. व्यतिरेकद्वात्रिंशिका
१८. प्रसादद्वात्रिंशिका
१९. आदिदेवस्तवः
२०. मुनिसुव्रतदेवस्तवः
२१. नेमिस्तवः
२२. जिनस्तोत्राणि
२३. हैमबृहद्वृत्तिन्यासः
२४–३९ तक सोलह साधारण जिन स्तव

अन्धता का अभिशाप —

रामचन्द्र के जीवन का अन्तिम भाग दुःखमय ही रहा। इसका कारण उनका अन्धा हो जाना था। 'प्रभावक-चरित' के अनुसार तो अणहिल-पट्टन के राजा जयसिंह सिद्धराज के समय में ही उनकी दाहिनी आंख नष्ट हो गई थी। इस बात का वर्णन प्रभावक-चरित में निम्न प्रकार किया गया है—

"उपाश्रयाश्रितस्यास्य महापीडापुरःसरम्।
व्यनशद् दक्षिणं चक्षुः ······················ ॥
कर्मप्रामाण्यमालोच्य ते शीतीभूतचेतसः।
स्थितास्तत्र चतुर्मासीमासीनास्तपसि स्थिरे ॥"

अर्थात् कभी चतुर्मास के अवसर पर कवि रामचन्द्र की आंख दुखने आई और अत्यन्त पीड़ा देने के बाद उनकी दाहिनी आंख जाती रही। रामचन्द्र ने उसे अपने कर्मों का दोष कह कर सन्तोष किया। और पूर्ववत् तपोऽनुष्ठान करते हुए चातुर्मास्य को वहीं पूर्ण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह घटना उनके मुख्य १५-१६ ग्रन्थों के रचना-काल के बाद हुई है। और उसने उनकी कार्य-पद्धति एवं प्रवृत्ति को ही बदल दिया है। इस दुर्घटना के बाद वे अन्य ग्रन्थों को छोड़ कर केवल स्तवों की रचना में लग गए। हमारे इस अनुमान का कारण यह है कि उनके स्तवों में अनेक जगह दृष्टि-दान की प्रार्थना पाई जाती है। 'निमिस्तव' के अन्त में उन्होंने लिखा है—

नेमे ! निधेहि निशितासिलताभिराम !
चन्द्रावदातमहसं मयि देव ! दृष्टिम्।
सद्यस्तमांसि विततान्यपि यान्तु नाश—
मुज्जृम्भतां सपदि शाश्वतिकः प्रकाशः ॥

इसमें स्पष्टतः दृष्टिदान की प्रार्थना की गई है। 'षोडश षोडशिका' के अन्त में भी कुछ इसी प्रकार की प्रार्थना निम्न श्लोक में की गई है।

स्वामिन्ननन्तफलकल्पतरोऽतिराम !
चन्द्रावदात चरिताञ्चितविश्वचक्र !
शक्रस्तुतांघ्रिसरसीरुह ! दुःस्थसार्थे,
देव ! प्रसीद करुणां कुरु देहि दृष्टिम् ॥

ऊपर हमने 'प्रभावक चरित' के जो श्लोक उद्धृत किए थे यद्यपि 'व्यनशद् दक्षिणं चक्षुः' केवल दक्षिण चक्षु के नाश की बात कही गई थी किन्तु वस्तुतः उनकी एक ही चक्षु नष्ट नहीं हुई थी अपितु वे दोनों नेत्रों से विहीन अन्धे हो गए थे। इसीलिए इन सब श्लोकों में उन्होंने दृष्टिदान की प्रार्थना की है। 'व्यतिरेकद्वात्रिंशिका' के अन्त में तो उन्होंने अपने 'विधिनतान्ध्य' अर्थात् दैवात् प्राप्त हुई अन्धता का उल्लेख किया है। और इसके साथ ही 'गलत्तनुता' अर्थात् वार्धक्य का भी संकेत करते हुए लिखा है—

जगति पूर्वविधेर्विनियोगजं
विधिनतान्ध्य-गलत्तनुताऽऽदिकम्।
सकलमेव विलुम्पति यः क्षणात्
अभिनवः शिवसृष्टिकरः सताम् ॥

इत्थंकारमकारणैकसुहृदं विश्वस्य पार्श्वं जिनं
तं स्तोतुस्त्रिजगद्विलक्षणगुणग्रामाभिरामाकृतिम् ।
यः कश्चिद् विकचीबभूव बत मे भाग्यातिरेकस्ततः
तल्लोकव्यतिरिक्तमुक्तियुवतिप्रेमप्रमोदोत्सवः ।।

इन दोनों श्लोकों में से प्रथम श्लोक में ग्रन्थकार ने पार्श्वदेव की स्तुति की है और उनके अनुग्रह से 'विधिनतान्ध्य' और 'गलत्तनुता' के नाश की आशा प्रकट की है। दूसरे श्लोक में भी उन्हीं पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए इसीप्रकार अपने 'भाग्यातिरेक' के 'विकचीभवन' की चर्चा की है। यों अन्धता जीवन का अभिशाप है। किन्तु उसमें बाह्य वृत्तियों का निरोध होकर मनुष्य की वृत्तियां स्वयं अन्तर्मुखी बन जाती है और उसके भीतर भगवान् के प्रति प्रेम का उदय हो जाता है यह अच्छी बात है। इस दूसरे श्लोक में रामचन्द्र ने अपने उसी 'भाग्यातिरेक' के 'विकचीभवन' को 'प्रमोदोत्सव' कह कर अपना सन्तोष व्यक्त किया है।

ग्रन्थकार के जीवन की अन्तिम झांकी—

आचार्य हेमचन्द्र के जीवन की अन्तिम झांकी हम देख चुके हैं। जिस समय 'अणहिल-पट्टन' के राजा कुमारपाल अपने उत्तराधिकारी के निर्णय के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए आचार्य हेमचन्द्र के आवास-स्थान पर परामर्श कर रहे थे, उस समय आचार्य के अन्यान्य शिष्यों के साथ रामचन्द्र भी उपस्थित थे। उस समय अजयपाल को राज्य का उत्तराधिकारी न बनाने का जो परामर्श आचार्य हेमचन्द्र की ओर से दिया गया था उसमें रामचन्द्र का विशेष हाथ था। आचार्य हेमचन्द्र के शिष्यों में रामचन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी और मन ही मन उनसे द्वेष रखने वाला उसका सहपाठी बालचन्द्र भी था। उसने ही अजयपाल के पास जाकर रामचन्द्र की चुग़ली करके अजयपाल को रामचन्द्र का शत्रु बना दिया था। इसलिए जैसा कि हम पहिले पढ़ चुके हैं अब अजयपाल राजा बना तो उसने रामचन्द्र को बुला कर गर्म लोहे की चादर के ऊपर बिठा कर उनको मरवा डाला। रामचन्द्र की इस नृशंस हत्या के पूर्व अजयपाल ने कहा था कि—

महिवीढह सचराचरह जिण सिरि दिण्हा पाय।
तसु अत्थमणु दिणेसरह होउत होइ चिराय ।।'
[महीपीठस्य सचराचरस्य येन शिरसि दत्ताः पादाः ।
तस्यास्तमनं दिनेश्वरस्य भवितव्यं भवति चिराय ।।]

अर्थात् जो सारे चराचर जगत् के सिर पर पैर रखकर चलता है उस दिनेश्वर सूर्य का अन्त में चिरकाल के लिए अस्त हो जाता है। इसी प्रकार आज हमारे सिर पर पैर रखने का यत्न करने वाले इस रामचन्द्र का अन्त हो रहा है।

रामचन्द्र के सहकारी गुणचन्द्र—

प्रस्तुत 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ की रचना में रामचन्द्र के साथ गुणचन्द्र का भी नाम आता है। अर्थात् इस ग्रन्थ की रचना रामचन्द्र गुणचन्द्र दोनों ने मिल कर की है। इनमें से रामचन्द्र के जीवन का वृत्तान्त ऊपर दिया गया है। किन्तु गुणचन्द्र के विषय में कुछ अधिक परिचय नहीं मिलता है। केवल इतना विदित होता है कि ये रामचन्द्र के सहपाठी घनिष्ट मित्र और आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। इन्होंने अपने तीसरे साथी वर्धमानगणि के साथ सोमप्रभाचार्य रचित 'कुमारपाल प्रतिबोध' का श्रवण किया था। इस बात का उल्लेख करने वाले दो श्लोक हम पृष्ठ ८

पर उद्धृत कर चुके हैं । उनमें 'वर्धमान-गुणचन्द्रगणिभ्यां' पद में गुणचन्द्रगणि पद से इन्हीं नाट्यदर्पण विवृत्तिकार गुणचन्द्र का ही संकेत किया गया है । इन गुणचन्द्र ने रामचन्द्र के साथ मिलकर दो ग्रन्थों की रचना की है । एक तो यही प्रस्तुत 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ और दूसरा इसी प्रकार का 'द्रव्यालङ्कारवृत्ति' ग्रन्थ है । ये दोनों ग्रन्थ रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र की सम्मिलित कृतियां हैं । इन सम्मिलित दो कृतियों के अतिरिक्त रामचन्द्र की तो ३७ स्वतन्त्र कृतियां और पाई जाती हैं किन्तु गुणचन्द्र की और कोई कृति नहीं पाई जाती है । गुणचन्द्र के विषय में इतना ही वर्णन उपलब्ध होता है ।

दो नाटचदर्पण—

प्रस्तुत नाट्यदर्पण ग्रन्थ रामचन्द्र-गुणचन्द्र का बनाया हुआ है । यह चार 'विवेकों' में विभक्त है । मूल ग्रन्थ कारिका रूप में लिखा गया है । उसके ऊपर ग्रन्थकारों ने स्वयं ही विवृत्ति लिखी है । ग्रन्थ में कुल २०७ कारिकाएं हैं । 'रघुनाथ' ने 'विक्रमोर्वशीय' की टीकायें और 'भर्तृमलिक' ने 'भट्टिकाव्य' की टीका में 'नाट्यदर्पण' का उल्लेख किया है । किन्तु वह नाटचदर्पण प्रकृत ग्रन्थ से बिल्कुल भिन्न ग्रन्थ प्रतीत होता है । इस अनुमान का कारण यह है कि भर्तृमलिक ने 'भट्टिकाव्य' [१४-२] की टीका में नाटचदर्पण से 'शुद्धताम्रमयी मध्यशुषिरा काहला मतेति नाट्यदर्पणे' लिखकर नाटचदर्पण का श्लोक उद्धृत किया है किन्तु यह श्लोक प्रस्तुत नाटचदर्पण में नहीं पाया जाता है । यही नहीं अपितु प्रस्तुत नाट्यदर्पण में ऐसा कोई प्रकरण नहीं है जिसमें इस श्लोक की खपत हो सकती हो । इस श्लोक में 'काहला' नामक वाद्य का लक्षण किया गया है किन्तु प्रस्तुत नाटचदर्पण में वाद्य की चर्चा करने वाला कोई भी प्रकरण नहीं आया है । तब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भट्टिकाव्य [सर्ग १४-२] में उद्धृत श्लोक रामचन्द्र-गुणचन्द्र कृत नाटचदर्पण से भिन्न किसी अन्य ही नाटचदर्पण से उद्धृत किया गया है ।

इसी प्रकार रघुनाथ ने विक्रमोर्वशीय टीका में नाटचदर्पण का एक उद्धरण निम्न प्रकार दिया है—

अत्र च समासोक्त्या पूर्वोक्तप्रकारेण काव्यार्थप्रकाशनात् पत्रावली समाख्येयं नान्दी । तथाचोक्तं नाट्यदर्पणकृता—

तस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिनेयस्य वस्तुनः ।
श्लेषेण वा समासोक्त्या नाम्ना पत्रावली तु सा ॥

[विक्रमोर्वशीय पृ० ७ नि० सागर]

इस श्लोक में नान्दी के 'पत्रावली' नामक विशेष भेद का लक्षण दिया गया है किन्तु प्रस्तुत नाटचदर्पण में यह नहीं पाया जाता है । इससे यह प्रतीत होता है कि रामचन्द्र गुणचन्द्र कृत प्रस्तुत नाट्य दर्पण के अतिरिक्त कोई और भी नाट्य दर्पण रहा होगा जिससे कि उक्त श्लोक उद्धृत किए गए होंगे ।

नाट्यशास्त्र और नाट्य दर्पण—

प्रस्तुत नाट्य दर्पण ग्रन्थ का मूल आधार भरतमुनि कृत नाटचशास्त्र है । पर नाटचशास्त्र एक बड़ा विस्तीर्ण ग्रन्थ है । उसे समस्त ललित कलाओं का विश्वकोश कहा जा सकता है । नाटच दर्पण का क्षेत्र उसकी अपेक्षा बहुत छोटा है । नाटचशास्त्र के १८वें अध्याय में दशरूपकों का वर्णन किया गया है । मुख्यतः उसी के आधार पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने इस ग्रन्थ की

रचना की है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के पहिले इसी प्रकार के 'दशरूपक' नामक एक ग्रन्थ की रचना 'धनञ्जय' कर चुके थे। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी की प्रतिद्वन्द्विता में लिखा गया प्रतीत होता है। इसकी पृष्ठभूमि में राजनीति की प्रतिस्पर्धा की प्रेरणा रही हो तो भी कुछ आश्चर्य नहीं है। दशरूपककार धनञ्जय मालव नरेश मुञ्ज के सभा पण्डित थे। रामचन्द्र-गुणचन्द्र गुर्जरेश्वर के पण्डित थे। गुजरात और मालवा राज्यों का सदा संघर्ष रहता था। उनमें दीर्घकाल तक युद्ध भी चलते रहे थे। इसलिए गौरव-प्राप्ति के हर क्षेत्र में दोनों राज्यों की प्रतिस्पर्धा चलती रहती थी। इसी प्रतिस्पर्धा के कारण मालवाधीश के आश्रय में निर्मित 'दशरूपक' की प्रतिस्पर्धा में इस नाटच-दर्पण की रचना हुई हो, यह सर्वथा सम्भावित है। हम आगे यह देखेंगे कि नाटचदर्पणकार ने प्रायः १३ स्थलों पर दशरूपककार के मत का उल्लेख किया है किन्तु एक भी स्थान पर उनका नामतः निर्देश नहीं किया है। 'अन्ये', 'केचित्' आदि सर्वनाम-शब्दों से पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर उसका खण्डन किया है। पर उस दशरूपक वाले प्रकरण को प्रारम्भ करने के पहिले हम भरत के नाटच-शास्त्र और नाटचदर्पण के विषय में कुछ विचार कर लेना चाहते हैं। नाटचदर्पण की रचना यद्यपि भरतमुनि के नाटचशास्त्र के आधार पर की गई है किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अनेक स्थलों पर भरतमुनि से अपना मत भेद प्रकट किया है। इस प्रकार के दो उदाहरण हम नीचे देते हैं—

१. तृतीय विवेक में 'प्ररोचना' का वर्णन करते हुए नाटचदर्पणकार ने लिखा है कि—

"अस्य च पूर्वरङ्गस्य प्रत्याहारादीन्यासारितान्तानि नवान्तर्जवनिकं, गीतकादीनि प्ररोचनान्तानि च दश बहिर्जवनिकमङ्गानि प्रयोज्यानि 'पूर्वाचार्यैः' लक्षितानि। अस्माभिस्तु स्वतो लोकप्रसिद्धत्वात्, तन्न्यासक्रमस्य निष्फलत्वात् विविधदेवतापरितोषरूपस्य तत्फलस्य च श्रद्धालुप्रतारणमात्रत्वादुपेक्षितानि। प्ररोचना तु पूर्वरङ्गाङ्गभूताऽपि नाट्ये प्रवृत्तौ प्रधान-मङ्गमिति लक्ष्यते।"

इसमें 'पूर्वाचार्यैः' पद से भरत मुनि का संकेत किया गया है। भरत मुनि ने पूर्वरङ्ग के १९ अङ्गों का विधान किया है। जिनमें से ९ जवनिका के भीतर और दश जवनिका के बाहर किए जाते हैं। नाटचदर्पणकार ने इनमें से केवल एक अङ्ग 'प्ररोचना' को लिया है, शेष १८ अङ्गों को छोड़ दिया है। उनके छोड़ देने के तीन कारण यहाँ दिखलाए हैं :

१. स्वतो लोकप्रसिद्धत्वात्, २. तन्न्यासक्रमस्य निष्फलत्वात् और ३. विविधदेवता परितोषरूपस्य तत्फलस्य च श्रद्धालुप्रतारणमात्रत्वात्।

२. इस स्थल पर नाटचदर्पणकार ने भरत मुनि से अपना मतभेद प्रकट किया है। इसी प्रकार का एक और स्थल भारती वृत्ति के विवेचन में आया है। वृत्तियों के निरूपण के प्रसङ्ग में नाटचशास्त्र के २० वें अध्याय में निम्न श्लोक आया है—

रौद्रे भयानके चैव विज्ञेयारभटी बुधैः।
बीभत्से करुणे चैव भारती सम्प्रकीर्तिता॥ [नाटचशास्त्र २०-६४]

इसके अनुसार केवल बीभत्स तथा करुण रसों में 'भारती वृत्ति' का प्रयोग भरतमुनि को अभिप्रेत प्रतीत होता है। किन्तु उसी २०वें अध्याय में इसके पूर्व ४७वां श्लोक निम्न प्रकार आया है—

भेदास्तस्यास्तु विज्ञेयाश्चत्वारोऽङ्गत्वमागताः ।
प्ररोचनामुखं चैव वीथी प्रहसनं तथा ॥ [नाट्यशास्त्र ४-४७ ।]

इस श्लोक में प्ररोचना, आमुख आदि को उस भारती वृत्ति का भेद बतलाया गया है । प्ररोचना, आमुख आदि का तो बीभत्स तथा करुण के अतिरिक्त अन्य रसों से भी सम्बन्ध है । इसलिए भरतमुनि के इन वचनों में विरोध प्रतीत होता है । इसकी आलोचना करते हुए नाट्य-दर्पणकार ने लिखा है कि—

"ये तु भारत्यां बीभत्स-करुणौ प्रपन्नाः, तैः सर्वरसवीथी-प्रधानशृङ्गारवीरभाण-प्रधानहास्यप्रहसनानि स्वयमेव भारत्यामेव वृत्तौ नियंत्रितानि नावेक्षितानि ।"

'ये तु' से यहां भरतमुनि का ग्रहण है । जिन भरतमुनि ने भारती वृत्ति में बीभत्स तथा करुण रस का समावेश माना है, उन्होंने स्वयं ही सर्वरसावीथी, और शृङ्गार या वीर रस जिसमें मुख्य है इस प्रकार के भाण तथा हास्यरस जिसमें प्रधान रहता है उन प्रहसनों की भारती वृत्ति में रचना का जो निश्चय पहिले किया है, उसकी उपेक्षा कर दी है । अतः उनके इस कथन में 'वदतो-व्याघात' दोष आता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां आवश्यकता पड़ी है वहां नाट्यदर्पण-कार ने भरतमुनि की आलोचना भी की है ।

नाट्यदर्पण और दशरूपक—

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने इस ग्रन्थ में प्रायः १३ बार 'अन्ये' 'केचित्' आदि शब्दों से अपने पूर्ववर्ती नाट्यलक्षणकार धनञ्जय के दशरूपक का उल्लेख किया है । इनमें से दो स्थानों पर तो उनके मत की आलोचना करते हुए उन्हें 'न मुनिसमयाध्यवसायिनः' और 'वृद्धसम्प्रदायवन्ध्यः' अर्थात् भरतमुनि के अभिप्राय को न समझ सकने वाला कहा है । शेष ११ स्थलों पर मुखसन्धि आदि के अङ्गों के विविध लक्षणों में अपने लक्षणों से दशरूपक में दिखाए गए लक्षणों में जो भेद पाया जाता है उसका प्रदर्शन कराया है । जिन दो स्थलों पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने धनञ्जय को 'न मुनिसमयाध्यवसायिनः' भरत मुनि के मत को न समझने वाला बतलाया है उनमें से एक स्थल नाटक-लक्षण के अवसर पर और दूसरा प्रकरण-लक्षण के अवसर पर आया है ।

१. नाटक के लक्षण में नाट्यदर्पणकार ने 'ख्याताद्यराजचरितं' [कारिका ५] यह एक विशेषण दिया है । इसके अनुसार किसी इतिहास-प्रसिद्ध पूर्ववर्ती राजा के चरित का अवलम्बन करके ही नाटक की रचना करनी चाहिए । अर्थात् इतिहास-प्रसिद्ध पूर्वकालीन राजा ही नाटक का नायक हो सकता है । इसके बाद अगली छठी कारिका में धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त ये चार प्रकार के नायक-स्वभाव बतला कर प्रत्येक के उत्तम, मध्यम दो भेद किए हैं । इस प्रकार स्वभावभेद के आधार पर नायक के ६ भेद हो जाते हैं । इससे अगली सातवीं कारिका में यह दिखलाया है कि 'देवा धीरोद्धताः' देवता लोग धीरोद्धत स्वभाव के होते हैं । 'धीरोदात्ताः सैन्येशमन्त्रिणः' सेनापति तथा मन्त्री धीरोदात्त स्वभाव के होते हैं । 'धीरशान्ता वणिक्विप्राः' वणिक् और विप्र धीरप्रशान्त स्वभाव के होते हैं । और अन्त में 'राजानस्तु चतुर्विधाः' राजा चारों प्रकार के स्वभाव वाले होते हैं, यह कहा है । इसके अनुसार नाटक का नायक चारों प्रकार के स्वभाव वाला हो सकता है ।

दशरूपककार ने जो नाटक का लक्षण किया है उसमें 'धीरोदात्तः प्रतापवान्' [३-२२] नायक का धीरोदात्त होना आवश्यक बतलाया है। अर्थात् दशरूपककार के अनुसार नाटक का नायक केवल धीरोदात्त ही हो सकता है अन्य नहीं। इस विषय पर नाटचदर्पणकार का दशरूपककार से मत भेद है। नाटचदर्पणकार धीरललित आदि को भी नाटक का नायक मानते हैं। दशरूपककार केवल धीरोदात्त को ही मानते हैं। धीरललित आदि को नहीं मानते। इसी कारण रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने दशरूपक का खण्डन करते हुए लिखा है—

'['राजान' इति] बहुवचनात् व्यक्तिभेदेन चतुःस्वभावो नाटकस्य नेता। न पुनरेकस्यां व्यक्तौ, एकत्र प्राधान्येन स्वभावचतुष्कस्य वर्णयितुमशक्यत्वादिति। प्रधाननायकस्य चायं नियमः। गौणनेतॄणां तु स्वभावान्तरमपि पूर्वस्वभावत्यागेन निबध्यते।

ये तु नाटकस्य नेतारं धीरोदात्तमेव प्रतिजानते, न ते मुनिसमयाध्यवगाहिनः। नाटकेषु धीरललितादीनामपि नायकानां दर्शनात्, कविसमयबाह्याश्च।"

[नाटचदर्पण १-७]

इस उद्धरण में नाटचदर्पणकार ने केवल धीरोदात्त को नाटक का नायक मानने से भरतमुनि के मत को न समझने वाला कहा है। भरत मुनि ने जो नाटक का लक्षण किया है वह निम्न प्रकार है—

प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्तनायकं चैव।
राजर्षिवंश्यचरितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम्॥
नानाविभूति संयुतमृद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चैव।
अङ्कप्रवेशकाढ्यं भवति हि तन्नाटकं नाम।

[नाट्यशास्त्र अ० १८, १०-११]

भरतमुनि के इस नाटक लक्षण में स्पष्ट रूपसे 'प्रख्यातोदात्तनायकं' पद से नाटक में उदात्त नायक का प्रतिपादन किया है। इसी के आधार पर धनञ्जय ने 'दशरूपक' में 'धीरोदात्तः प्रतापवान्' आदि लिखा है। किन्तु रामचन्द्र उसे भरतमुनि के मत को न समझने वाली बात कहते हैं। यह बात कुछ अटपटी सी प्रतीत होती है। नाटचशास्त्र के वर्तमान संस्करणों में उपलब्ध पाठ के अनुसार तो दशरूपक का मत भरत का अनुगामी ही है विरोधी नहीं। सम्भव है रामचन्द्र-गुणचन्द्र के पास नाटचशास्त्र का जो संस्करण रहा हो उसमें कुछ अन्य प्रकार का पाठ पाया जाता हो। यदि उस पाठ को जिसके आधार पर वे दशरूपककार को भरतमुनि के मतको न समझने वाला कह रहे हैं, यहाँ दे दिया होता तो बात अधिक स्पष्ट हो जाती, उसके बिना नाटचदर्पणकार की बात अस्पष्ट रह जाती है। परन्तु इस विषय में नाटचदर्पणकार ने दूसरी बात यह भी लिखी है कि—'नाटकेषु धीरललितादीनामपि नायकानां दर्शनात् कविसमयबाह्याश्च'। अर्थात् नाटकों में धीर ललित आदि नायक भी पाए जाते हैं, अतः दशरूपककार का मत कवि सम्पदाय के विपरीत भी है। यह बात कुछ अधिक स्पष्ट है।

(२) नाटचदर्पणकार द्वारा की गई दशरूपक की आलोचना का दूसरा प्रसङ्ग 'प्रकरण' के लक्षण में आया है। 'प्रकरण' का लक्षण 'दशरूपक' में निम्न प्रकार किया गया है—

"अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम्।
अमात्य-विप्र-वणिजामेकं कुर्याच्च नायकम्॥

धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थं तत्परम् ।
शेषं नाटकवत्, सन्धि-प्रवेशकरसादिकम् ॥
[दशरूपक ३-३६, ४०]

इस लक्षण के अनुसार 'प्रकरण' में धीरप्रशान्त स्वभाव वाले अमात्य, विप्र या वणिक् में से किसी एक को नायक बनाना चाहिए यह अर्थ निकलता है। किन्तु नाट्यदर्पणकार इस बात से सहमत नहीं है। उनके मत में अमात्य के साथ धीरप्रशान्त विशेषण संगत नहीं होता है। प्रथम विवेक की सातवीं कारिका में वे पहिले ही लिख चुके हैं कि 'धीरोदात्तः सैन्येश-मन्त्रिणः' सेनापति और अमात्य धीरोदात्त ही होते हैं। अर्थात् अमात्य सदा धीरोदात्त होना चाहिए। 'धीरशान्ता वणिक्विप्राः' वणिक् और विप्र तो धीरशान्त होते हैं, किन्तु अमात्य धीरप्रशान्त नहीं धीरोदात्त होता है। इसलिए दशरूपककार ने जो अमात्य को 'प्रकरण' का नायक मान कर 'धीरशान्त' उसका विशेषण दिया है वह उचित नहीं है। इसी बात को नाट्य-दर्पण कार ने निम्न प्रकार लिखा है—

"सचिवो राज्यचिन्तकः । अयं वणिग्-विप्रयोर्मध्यपात्यपि धीरोदात्त-धीरप्रशान्तौ प्रकरणे नेतारौ भवतः इति प्रतिपादनार्थं पृथगुपात्तः । यस्त्वमात्यं नेतारमभ्युपगम्य धीरप्रशान्त-नायकमिति प्रकरणं विशेषयति, स वृद्धसम्प्रदायवन्ध्यः ।" [नाट्यदर्पण २—१]

सचिव अर्थात् अमात्य राज्य का चिन्तक अर्थात् प्रबन्ध करने वाला होता है। यद्यपि विप्र तथा वणिक् के भीतर ही इस अमात्य का भी अन्तर्भाव हो सकता है अर्थात् विप्र या वणिक् में से ही कोई अमात्य होता है। इसलिए यदि उसका अलग ग्रहण न किया जाता तो भी काम चल सकता था। फिर भी उसका अलग ग्रहण इसलिए किया गया है कि अमात्य धीरोदात्त होता है और वणिक् विप्र दोनों धीरप्रशान्त होते हैं। इसलिए अमात्य के पृथग् ग्रहण से यह अभिप्राय निकला कि प्रकरण में धीरोदात्त तथा धीरप्रशान्त दोनों प्रकार के नायक हो सकते हैं। इस दशा में दशरूपककार ने 'प्रकरण' में अमात्य को नायक मानते हुए भी जो 'धीरप्रशान्त' विशेषण द्वारा 'प्रकरण' में 'धीरप्रशान्त' के ही नायक होने का प्रतिपादन किया है, वह उचित नहीं है।

इन दो स्थलों पर तो नाट्यदर्पणकार ने दशरूपककार के मत की आलोचना की है। किन्तु इनके अतिरिक्त प्रायः ११ स्थल ऐसे हैं जिनमें मुख सन्धि आदि के अङ्गों के लक्षणों में नाट्यदर्पण तथा दशरूपक में भेद पाया जाता है। नाट्यदर्पणकार ने ऐसे स्थलों पर अपना लक्षण देने के बाद 'अन्ये' आदि पदों से दशरूपक के लक्षण भी दिखा दिए हैं। इन ११ स्थलों को हम नीचे दे रहे हैं।

१. मुख सन्धि के पञ्चम अङ्ग 'उद्भेद' का लक्षण नाट्यदर्पण में 'स्वल्पप्ररोह-उद्भेदः' किया गया है [का० १-४३]। दशरूपक में उसके स्थान पर 'उद्भेदो गूढभेदनम्' [दश० १-२९] किया गया है। नाट्यदर्पण की विवृति में इसी का उल्लेख 'अन्ये तु गूढभेदन-मुद्भेदमामनन्ति' इस प्रकार किया गया है।

२. नाट्यदर्पण में मुख सन्धि का आठवां अङ्ग भेदन माना गया है। उसका लक्षण 'भेदनं पात्रनिर्गमः' [का० १-४४] किया गया है। दशरूपक में उसका लक्षण 'भेदः प्रोत्साहना मता' [का० १-२६] इस प्रकार किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने 'अन्ये तु भेदं प्रोत्साहनमाहुः'

लिख कर इसी भेद को दर्शाया है। इसी प्रसङ्ग में नाट्यदर्पणकार ने 'अन्ये तु संहतानां प्रतिपक्षाणां बीजफलोत्पत्तिनिरोधकानां विश्लेषकं भेदरूपमुपायं भेदनं मन्यन्ते' इस रूप में भेद के तृतीय लक्षण का भी उल्लेख किया है।

मुख सन्धि के इन दो अङ्गों के लक्षणों के विषय में रामचन्द्र तथा धनञ्जय का मत-भेद है। आगे 'प्रतिमुख सन्धि' के अङ्गों के विषय में दोनों का मतभेद दिखलाते हैं।

३. 'प्रतिमुख सन्धि' का पांचवां अङ्ग 'वर्णसंहृति' है। उसका लक्षण नाट्यदर्पण में 'पात्रौघो वर्णसंहृतिः' [का० १४८] किया गया है। दशरूपक में उसके स्थान पर 'चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते' [१-३५] यह लक्षण किया है। नाट्यदर्पणकार ने इसी भेद को 'अन्ये तु वर्णानां ब्राह्मणादीनां द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वा एकत्र मीलनं वर्णसंहारमाचक्षते' इस प्रकार दिखलाया है।

४. 'प्रतिमुख सन्धि' का सातवां अङ्ग 'नर्मद्युति' है। इसका लक्षण नाट्यदर्पण में 'दोषावृतौ तु तद्द्युतिः', [का० ४६] किया है। दशरूपक में उसके स्थान पर 'परिहासवचो नर्म, धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता' [का० १-३३] यह लक्षण किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने अन्ये तु नर्मजां धृतिं द्युतिमाहुः' इन शब्दों में इस भेद को दिखलाया है।

५. 'गर्भ सन्धि' का तीसरा अङ्ग 'रूप' है। उसका लक्षण 'नाट्यदर्पणकार ने 'रूपं नानार्थसंशयः' किया है। दशरूपक में 'रूपं वितर्कवद्'वाक्यम्' यह 'रूप' का लक्षण किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने 'अन्ये त्वधीयते रूपं वितर्कवद् वाक्यम् इति' [पृष्ठ १४७] इस रूप में इस भेद को प्रदर्शित किया है। इसी प्रसङ्ग में 'अन्ये तु चित्रार्थं रूपकं वचः' [पृष्ठ १४८] इन शब्दों में किसी तीसरे लक्षण का भी उल्लेख किया है।

६. 'गर्भ सन्धि' का छठा अङ्ग 'क्रम' है। नाट्यदर्पण में उसका लक्षण 'क्रमो भावस्य निर्णयः' [का० १-५४] किया गया है। दशरूपक में 'क्रमः संचिन्त्यमानाप्तिः' [१-३६] यह क्रम का लक्षण किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने 'क्रमः संचिन्त्यमानाप्तिः इत्याहुः' लिखकर इस भेद को दिखलाया है। 'अन्ये तु भविष्यदर्थतत्त्वोपलब्धिं क्रममिच्छन्ति' इन शब्दों में 'क्रम' का तीसरा लक्षण भी नाट्यदर्पणकार ने दिखलाया है।

७. 'अवमर्श सन्धि' का पाँचवां अङ्ग 'छादन' है। नाट्यदर्पण में उसका लक्षण 'छादनं मन्युमार्जनम्' [का० १–५८] किया गया है। दशरूपक में 'छादन' के स्थान 'छलन' अङ्ग पाया गया है। नाट्यदर्पणकार ने इसका उल्लेख 'अन्ये त्वस्य स्थाने छलनं अवमाननरूपमाहुः' इन शब्दों में किया है। इसके अतिरिक्त (१) 'अन्ये तु कार्यार्थमसह्यस्याप्यर्थस्य सहनं छादनमिच्छन्ति।' (२) 'अपरे तु छलनं सम्मोहमिच्छन्ति' इस रूप में छादन अङ्ग के विषय में दो मतों का उल्लेख [पृ० १६६] और किया है।

८. 'अवमर्श सन्धि' का छठा अङ्ग 'द्युति' है। नाट्यदर्पण में उसका लक्षण 'तिरस्कारो द्युतिः' [का० ५९] किया गया है। दशरूपक में 'तर्जनोद्वेजने द्युतिः' [१-४६] इस प्रकार 'द्युति' का लक्षण किया है। इस अन्तर का उल्लेख करते हुए नाट्यदर्पण में लिखा है— 'तर्जनोद्वेजनं द्युतिं केचिदिच्छन्ति' इसके साथ ही 'अपरे तु तर्जनाधर्षणे द्युतिं मन्यन्ते' इस रूप में 'द्युति' के तीसरे लक्षण का भी उल्लेख नाट्यदर्पणकार ने किया है।

९. 'अवमर्श सन्धि' का दशम अङ्ग 'शक्ति' है। उसका लक्षण नाट्य दर्पण में 'क्रुद्ध-प्रसादनं शक्तिः' [का० ६०] और दशरूपक में 'विरोधशमनं शक्तिः' [१-४६] किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने 'एके तु विरोध शमनं शक्तिमिच्छन्ति' लिख कर इस भेद का उल्लेख किया है।

१०. अवमर्श सन्धि का १३वाँ अङ्ग 'व्यवसाय' है। नाट्यदर्पण में उसका लक्षण 'व्यवसायोऽर्थ्यहेतुयुक्' [का० ६०] और दशरूपक में 'व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः' [का० १-५७] किया है। नाट्यदर्पणकार ने 'अन्ये तु व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः इति पठन्ति' लिख कर इस भेद का प्रदर्शन किया है।

११. 'निर्वहण सन्धि' का पाँचवाँ अङ्ग 'परिभाषण' है। नाट्यदर्पण में उसका लक्षण 'परिभाषास्वनिन्दनम्' [का० १-६३] और दशरूपक में 'परिभाषा मिथोजल्पः' [१-५२] किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने इस भेद को 'एके तु परिभाषा मिथोजल्पः इति पठन्ति' लिख कर इस भेद का उल्लेख किया है।

रामचन्द्र और सागरनन्दी—

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के पूर्ववर्ती नाट्यलक्षणकारों में दशरूपककार धनञ्जय [सन् ९७४-९९५] के बाद दूसरा नाम 'नाटकलक्षणरत्नकोश' के निर्माता 'सागरनन्दी' का आता है। ये दोनों मम्मट के उत्तरवर्ती आचार्य हैं। सागरनन्दी ने धनञ्जय से लगभग १०० वर्ष बाद अपने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। इनका असली नाम तो केवल 'सागर' था किन्तु नन्दवंश में उत्पन्न होने के कारण वे 'सागरनन्दी' नाम से ही प्रसिद्ध हैं। इनका 'नाटकलक्षणरत्नकोश' ग्रन्थ, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, नाट्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र को सम्भवतः इस ग्रन्थ का भी पूर्ण परिचय प्राप्त था। धनञ्जय के समान सागरनन्दी से भी रामचन्द-गुणचन्द्र का अनेक स्थलों पर मत भेद पाया जाता है। नाट्यदर्पण में जिस प्रकार नाटक की पाँचों सन्धियों के विविध अङ्गों के लक्षण करते समय जहाँ कहीं दशरूपक के लक्षण से भेद आया है वहाँ 'अन्ये' आदि शब्दों से दशरूपक के लक्षण को भी उद्धृत कर दिया है। इसी प्रकार १२वें रूपक भेद 'वीथी' के अङ्गों का विवेचन करते हुए जहाँ उनके लक्षण से भिन्न अन्य लक्षण भी पाए जाते हैं, वहाँ 'अन्ये' आदि शब्दों में उन लक्षणों का उल्लेख कर दिया है। यह उल्लेख दशरूपक से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि दशरूपक में 'वीथी' के अङ्गों का विवेचन ही नहीं किया गया है। दशरूपककार ने तृतीय प्रकाश के अन्त में केवल ६८, ६९ दो कारिकाओं में 'वीथी' का लक्षण मात्र कर दिया है। उसके अङ्गों का विवेचन नहीं किया किया है। नाट्यदर्पणकार ने 'वीथी' के लक्षण के अतिरिक्त उसके १३ अङ्गों का उदाहरणों सहित विस्तृत विवेचन किया है। और उसमें अपने से भिन्न अन्य लक्षणों का भी उल्लेख किया है। ये लक्षण दशरूपक के नहीं हैं इसलिए ऐसा अनुमान है कि सम्भवतः ये 'नाटकलक्षणरत्नकोश' से दिए गए हैं।

रामचन्द्र और मम्मट—

१. काव्यप्रकाशकार मम्मट रामचन्द्र-गुणचन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्य हैं। पर उन्होंने न तो नाटयलक्षण सम्बन्धी कोई ग्रन्थ लिखा है और न काव्यप्रकाश में ही नाटक-सम्बन्धी किसी विषय की विवेचना की है, इसलिए नाट्यदर्पण का मम्मट के साथ कोई विशेष सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है! किन्तु रसदोषों का विवेचन दोनों ने किया है। इसलिए इस अंश में दोनों का

सम्बन्ध है। इस प्रसङ्ग में एक स्थल पर नाट्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार के मत का खण्डन किया है। रस-दोषों में अङ्ग अर्थात् अप्रधान रस का अधिक विस्तार करना दोष माना गया है। काव्यप्रकाश में इसे 'अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः' [सप्तम उल्लास सूत्र ८२, का० ६१ से] नाम से और नाट्यदर्पण में इसे 'अङ्गोग्य' [का० ३-२३] नाम से कहा गया है। काव्यप्रकाशकार ने 'अङ्गस्य अप्रधानस्य, अति विस्तरेण वर्णने यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य'। [पृ० ३६२ ज्ञानमण्डल से प्रकाशित संस्करण] लिख कर प्रतिनायक रूप हय ग्रीव के अति विस्तृत वर्णन को इसके उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु नाट्यदर्पणकार इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। उन्होंने इसका खण्डन करते हुए इसे 'वृत्त-दोष' अर्थात् कथा-भाग का दोष मात्र कहा है, रसदोष नहीं। रस की दृष्टि से तो उनके मत में यह दोष न होकर गुण है। प्रतिपक्षी का अत्यन्त उत्कर्ष दिखला कर नायक द्वारा उसका वध कराने में तो नायक का उत्कर्ष बढ़ता ही है, इसलिए उस दृष्टि से यह दोष नहीं अपितु गुण ही है, यह नाट्यदर्पणकार का अभिप्राय है। अपने इस मत का प्रतिपादन उन्होंने इस प्रकार किया है—

"केचिदत्र हयग्रीववधे हयग्रीववर्णनमुदाहरन्ति। स पुनर्वृत्तदोषो वृत्तनायकस्याल्पवर्णनात्। तत्र हि वीरो रसः, स विशेषतो वध्यस्य शौर्य-विभूत्यतिशयवर्णनेन भूष्यत इति।"
[ना० द० ३–२३]

इसके स्थान पर उन्होंने कृत्यारावण का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"अथाङ्गोग्यम्। अङ्गस्य मुख्यरसपोषकतया अवयवभूतस्यौग्र्यं विस्तरेणोत्कटत्वं दोषः। यथा कृत्यारावणे जटायुवध-लक्ष्मणशक्तिभेद-सीताविपत्तिश्रवणेषु रामस्य मुहुर्मुहुः करुणाधिक्यम्।"
[ना० द०३–२३]

२. 'प्रतिकूल-विभावादिग्रह' नाम का दूसरा रस-दोष है। काव्यप्रकाश में इसका उदाहरण निम्न प्रकार दिया गया है—

"प्रसादे वर्तस्व, प्रकटयमुदं, संत्यज रुषं
प्रिये शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिंचतु वचः।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः॥

अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रकाशितो निर्वेदश्च व्यभिचारी उपात्तः॥"
[का० पृ० ३६०]

अर्थात् इस श्लोक में शृङ्गार रस के प्रतिकूल शान्त रस का तथा उसके अनित्यता-ख्यापनात्मक निर्वेदरूप व्यभिचारिभाव का ग्रहण होने से यहाँ 'प्रतिकूलविभावादि परिग्रह रूप' रस दोष होता है। नाट्यदर्पणकारने इस उदाहरण की किसी प्रकार की आलोचना न करते हुए भी इसका दूसरा उदाहरण निम्न प्रकार दिया है—

त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः।
परभृताभिरितीव निवेदिते, स्मरमते रमते स्म वधूजनः॥

अत्र शृङ्गारप्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यता प्रकाशनरूपो विभावो निबद्धः।
[ना० द० ३–२३]

इन दोनों में केवल श्लोक का अन्तर है, भाव दोनों उदाहरणों का बिल्कुल एक ही है। इसके अतिरिक्त 'अकाण्डे प्रथनं, अकाण्डे छेदः दीप्तिः पुनःपुनः तथा अङ्गिनोऽननुसन्धानम्, इन चारों रस-दोषों के उदाहरण काव्यप्रकाश तथा, नाट्यदर्पण में बिल्कुल एक ही दिए हैं।

३. रस-दोषों के निरूपण के प्रसङ्ग में काव्यप्रकाश में 'व्यभिचारि-रस-स्थायिभावानां शब्दवाच्यता' को सबसे पहिला रस-दोष कहा गया है। अर्थात् मम्मट के अनुसार व्यभिचारि-भाव अथवा रस अथवा स्थायिभावों को अपने वाचक शब्द द्वारा कथन नहीं करना चाहिये। उनका स्वशब्द से कथन करने पर रसानुभूति का अपकर्षक होने से दोषाधायक होता है। किन्तु नाट्यदर्पणकार इस बात से सहमत नहीं हैं। इसलिए इस विषय में मम्मट का खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"केचित्तु 'व्यभिचारि-रस-स्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः। तदयुक्तम्। व्यभि-चार्यादीनां स्ववाचकपदप्रयोगेऽपि विभावपुष्टेः—

दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं,
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम्।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं,
चक्षुर्जातमहो ! प्रपंचचतुरं जातागसि प्रेयसि॥

इसमें उत्सुक, विवलित आदि व्यभिचारिभावों का स्वशब्द से कथन होने पर भी रस की परिपुष्टि हो रही है, इस लिए विभावादि का स्वशब्द से ग्रहण दोष नहीं है। यह नाट्यदर्पण-कार का अभिप्राय है।

४. इसी प्रकार 'कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः' [का० प्र० कारिका ६०, पृ० ३५७] को दूसरा रसदोष माना गया है। पर नाट्यदर्पणकार का मत इस विषय में भी मम्मट से भिन्न है। अपने मत को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है—

"एवमुभयरस साधारणविभावपदानां कष्टेन नियतविभावाभिधायित्वाधिगमोऽपि सन्दिग्धत्वलक्षणो वाक्यदोष एव। यथा—

परिहरति मतिं रतिं लुनीते, स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशा स्वदेहं, परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः॥

अत्र रतिपरिहारादीनां विभावानां करुणादावपि सम्भवात् शृङ्गारं प्रति भावत्व-सन्देह इति।" [ना० द० ३-२३]

इस प्रकार मम्मट ने काव्य प्रकाश में जिन आठ प्रकार के रसदोषों का वर्णन किया था, नाट्यदर्पणकार ने उनमें से तीन का बिल्कुल खण्डन कर दिया, और चार को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है, और एक को उदाहरण में परिवर्तन करते हुए स्वीकार कर लिया है।

रामचन्द्र और अभिनवगुप्त—

नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' नामक विवृति के निर्माता अभिनवगुप्त भी नाट्य-दर्पणकार के पूर्ववर्ती आचार्य हैं। रस-निरूपण के प्रसङ्ग में नाट्यदर्पणकार ने उनके मत के आधार पर अपने मत की स्थापना की है। किन्तु उसमें भी उन्होंने अभिनवगुप्त की अपेक्षा कुछ नूतनता उत्पन्न कर दी है।

१. उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने रस को प्रायः ब्रह्मानन्दसहोदर और परमानन्द-स्वरूप माना है। करुण और भयानक तथा बीभत्स जैसे रसों को भी सुखात्मक रस माना गया है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने सभी रसों की ऐकान्तिक सुखात्मकता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःख हेतुता॥

[साहित्यदर्पण परि० ३, ४-५]

विश्वनाथ आदि के इस सुखात्मकतावाद के विपरीत अभिनवगुप्त ने प्रत्येक रस को सुखदुःखोभयात्मक रस माना है। अर्थात् उनके मत में प्रत्येक रस में सुख की प्रधानता होते हुए भी दुःख का स्पर्श रहता है। उन्होंने लिखा है—

इत्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्। किन्तूपरञ्जकविषयवशात् तेषामपि कटुकितास्पर्शोऽस्ति वीरस्येव। स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव।" [हिन्दी अभिनवभारती पृ० ४७८]

इनमें भी शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत इन चार रसों में सुख की प्रधानता के साथ दुःख का अनुवेध रहता है। इसके विपरीत रौद्र, भयानक, करुण तथा बीभत्स इन चार रसों में दुःख की प्रधानता के साथ सुख का अनुवेध माना है। केवल शान्त रस को ही उन्होंने नितान्त सुख रूप माना है। अभिनवभारती के प्रथम अध्याय में इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है—

"स च सुख-दुःखरूपेण विचित्रेण समनुगतो न तु तदेकात्मा। तथाहि—रति-हास-उत्साह-विस्मयानां सुखस्वभावत्वम्। तत्र तु चिरकालव्यापिसुखानुसन्धिरूपत्वेन विषयौन्मुख्य-प्राणतया तद्विषयाशंसाबाहुल्येन अपायभीरुत्वाद् दुःखांशनुवेधो रतेः। हासस्य सानुसन्धानस्य विद्युत्स-दृशस्तात्कालिकोऽल्पदुःखानुवेधः सुखानुगतः। उत्साहस्य तात्कालिक-दुःखायास-निमज्जनरूपानु-सन्धिना भाविबहुजनोपकारिचिरतरकालभाविसुखसमाचिकीर्षात्मना सुखरूपता। विस्मयस्य निरनुसन्धानतडित्तुल्यसुखरूपता।

क्रोध-भय-शोक-जुगुप्सानां तु दुःखस्वरूपता। तत्र चिरकालदुःखानुसन्धिप्राणो विषयगता-ऽऽत्यन्तिकनाशभावना तदाकांक्षाप्राणतया सुखदुःखानुवेधवान् क्रोधः। निरनुसन्धितात्कालिकदुःख-प्राणतया तदपगमाकांक्षोत्प्रेक्षितसुखानुसम्भिन्नं भयम्। ऐकालिकस्वभीष्टविषयनाशजः प्राक्तन-सुखस्मरणानुविद्धः सर्वथैव दुःखरूपः शोकः। उत्पाद्यमानदुःखानुसन्धानजीवितविषयात् पलायनपरायणरूपा निषिध्यमानशंकितसुखानुविद्धा जुगुप्सा।

समस्तपूर्वदुःख-सञ्चय स्मरणप्राणितः सम्भावितदुपरमबहुलसुखमयो निर्वेदः।

[हिन्दी अभिनवभारती पृ० २१६-२२४]

इन तीनों अनुच्छेदों में अभिनवगुप्त ने शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत रसों में सुख की प्रधानता के साथ-साथ दुःखानुवेध की, तथा रौद्र, भयानक, करुण तथा बीभत्स रसों में दुःख की प्रधानता के साथ सुखानुवेध की चर्चा करते हुए अन्तमें निर्वेद को नितान्त सुखमय ठहराया है।

रसों के विषय में नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मत पूर्वोक्त दोनों मतों से भिन्न प्रकार का है। उसे हम विभज्यवादी मत कह सकते हैं। विश्वनाथ आदि ने सभी रसों को सुखात्मक रस माना है। अभिनवगुप्त ने सभी रसों को उभयात्मक रस माना है। किन्तु नाट्य-दर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने न सभी रसों को सुखात्मक रस माना है, और न सभी रसों में सुख-दुःख दोनों का समावेश माना है। उन्होंने रसों को अलग-अलग दो भागों में विभक्त कर दिया है। जिनमें से शृङ्गार, हास्य वीर, अद्भुत तथा शान्त इन पांच को सर्वथा सुखात्मक और करुण, रौद्र, भयानक तथा बीभत्स इन चार को सर्वथा दुःखात्मक रस बतलाया। अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नाट्यदर्पण में उन्होंने निम्न प्रकार से किया है—

"तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृङ्गार-हास्यवीर-अद्भुत-शान्ताः पञ्च सुखात्मानः।

अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुण-रौद्र-बीभत्स-भयानकाः चत्वारो दुःखात्मानः।

यत् पुनः सर्वरसानां सुखात्मकत्वमुच्यते, तत्प्रतीतिबाधितम्। आस्तां नाम मुख्य-विभावोपचितः, काव्याभिनयोपनीत-विभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्सः, करुणो रौद्रो वा रसा-स्वादवतामनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अतएव भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादादुद्वेगो घटते। [नाट्यदर्पण ३–७]

३. इस उद्धरण में रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने स्पष्ट रूप से पांच रसों को सुखात्मक तथा चार रसों को दुःखात्मक कह कर रसों को दो भागों में विभक्त कर दिया है। अतः उनका मत विभज्यवादी मत कहा जा सकता है।

१. दूसरा प्रसङ्ग जहाँ रामचन्द्र-गुणचन्द्र अभिनवगुप्त के साथ हैं, शान्तरस का प्रकरण है।

शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥ [नाट्यशास्त्र -१५]

इस भरतवचन के आधार पर अनेक विद्वान् नाटक में केवल आठ रसों की स्थिति मानते हैं। किन्तु अभिनवगुप्त आदि अनेक विद्वान् शान्तरस को भी नवम रस मानते हैं। उनके अनुसार इस भरत-वचन के उत्तरार्ध का पाठ 'बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः' इस प्रकार का है। अभिनवगुप्त के नाट्यशास्त्र ने छठे अध्याय पर 'अभिनवभारती' व्याख्या लिखते हुए उसके अन्त में बहुत विस्तार के साथ शान्तरस का विवेचन किया है। उनके पूर्व नाट्यशास्त्र के दूसरे व्याख्याता उद्भट ने भी शान्तरस को नाट्यरस माना है, और उक्त भरत वचन के पाठान्तर के अनुसार नवरसों का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—

शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः।
बीभत्साद्भुत-शान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः॥

[उद्भट काव्यालं० ४-४]

रुद्रट् ने भी शान्त रस को माना है। बल्कि उन्होंने एक प्रेयान् रस को और जोड़ कर रसों की संख्या दश कर दी है। उनका श्लोक निम्न प्रकार है—

श्रृङ्गार-वीर-करुण-बीभत्स-भयानकाद्भुता हास्यः ।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्याः रसाः सर्वे ॥

[रुद्रट काव्यालङ्कार १२-९]

आठ रसों को मान कर शान्तरस का खण्डन करने वालों में दशरूपककार धनञ्जय और उनके टीकाकार धनिक का नाम विशेष रूप से उल्लेख-योग्य है। धनञ्जय ने लिखा है—

शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ।
निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥" [दशरूपक ४, ३५-३६]

इसकी व्याख्या करते हुए धनिक ने लिखा है—

"इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः । केचिदाहुः नास्त्येव शान्तो रसः । तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात् । अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति । अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात् । अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति । एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति । यथा तथा अस्तु । सर्वथा नाटकादौ अभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते । तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्य अभिनयायोगात् ।

[दशरूपक ४, ३५-३६]

दशरूपककार के शान्तरस के विरोधी होने पर भी नाट्यशास्त्र के प्रमुख व्याख्याता उद्भट, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि ने शान्तरस की सत्ता स्वीकार की है और उसे नाट्यरस माना है इसलिए उसका निषेध करना उचित नहीं है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र भी इस विषय में अभिनवगुप्त के साथ हैं। रस के भेद करते हुए उन्होंने लिखा है—

श्रृङ्गार-हास्य-करुणाः, रौद्र-वीर-भयानकाः ।
बीभत्साद्भुत-शान्ताश्च, रसाः सद्भिर्नव स्मृताः ॥

[नाट्यदर्पण ३, ९]

(३) शान्तरस की स्थिति के बाद तीसरा प्रश्न शान्तरस के स्थायिभाव का है। शान्तरस का स्थायिभाव क्या है ? इस विषय में अनेक मत पाए जाते हैं। मम्मट ने 'निर्वेद' को शान्तरस का स्थायिभाव बतलाते हुए 'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः [का० प्र० सूत्र ४०, का० ३५]। भरतमुनि ने व्यभिचारीभावों की गणना कराते समय 'निर्वेद' को सबसे पहिला व्यभिचारी भाव गिनाया है। तब उसे शान्तरस का स्थायिभाव कैसे कहा जा सकता है ? यह शंका हो सकती है इस बात को मन में रख कर काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उसका समाधान करने का यत्न किया है। उनका कहना है कि 'निर्वेद' स्वरूपतः अमङ्गल रूप है। उसको व्यभिचारिभावों की गणना में सबसे पहिले नहीं गिनना चाहिए था। किन्तु भरत मुनि ने उस अमाङ्गलिक 'निर्वेद' का जो सबसे पहिले ग्रहण किया है, वह इसलिए किया है कि 'निर्वेद' एक ऐसा भाव है जो व्यभिचारिभावों में परिगणित होने पर शान्तरस का स्थायिभाव है। उसकी स्थायिता की सूचना के लिए ही भरत मुनि ने 'निर्वेद' का ग्रहण सबसे पहिले किया है। मम्मट ने अपने इस अभिप्राय को निम्न प्रकार से प्रकट किया—

"निर्वेदस्यामङ्गलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽपि उपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिता-ऽभिधानार्थम्।"

[काव्य प्रकाश ज्ञानमण्डल पृ० १३८]

सङ्गीतरत्नाकर में भी इसी युक्तिक्रम से निर्वेद को शान्त रस का स्थायिभाव सिद्ध करते हुए लिखा है—

उद्दिश्य स्थायिनः, प्राप्ते समये व्यभिचारिणाम्।
अमङ्गलमपि ब्रूते पूर्वं निर्वेदमेव यत्॥
मुनिर्मेनेऽस्य तन्नूनं स्थायिता-व्यभिचारिते।
पूर्वापरान्वयो ह्यस्य मध्यस्थस्यानुषङ्गतः॥

[सङ्गीतरत्नाकर १३१५-१३१६]

नाट्यदर्पणकार इस बात को नहीं मानते हैं। उनके मत में 'निर्वेद' केवल व्यभिचारि-भाव है, स्थायिभाव नहीं है। इसलिए उसे शान्तरस का स्थायिभाव नहीं कहा जा सकता है। उन्होंने लिखा है—

"अयं च [निर्वेदः] रसेष्वनियतत्वात् कादाचित्कत्वाच्च व्यभिचारी, न स्थायी।"

[नाट्यदर्पण ३–२८]

अभिनवगुप्त ने भी निर्वेद को शान्तरस का स्थायिभाव नहीं माना है। उन्होंने विस्तार पूर्वक इसका खण्डन करते हुए अभिनवभारती में पृ० ६१३-६१७ तक इसका विवेचन किया है। उसके अन्त में लिखा है कि—

"ततश्च तत्त्वज्ञानमेवेदं तत्त्वज्ञानमालया परिपोष्यमाणमिति न निर्वेदः स्थायी, किन्तु तत्त्वज्ञानमेव स्थायीति भवेत्।"

[अभिनवभारती पृ० ६१७]

इससे यह स्पष्ट है कि युक्तिक्रम के भिन्न होने पर भी निर्वेद शान्तरस का स्थायिभाव नहीं है इस विषय में नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र अभिनव गुप्त के साथ हैं।

नाट्य दर्पण का विषय—

रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अपने 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ की रचना यद्यपि भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के आधार पर की है किन्तु इन दोनों में बहुत अन्तर है। नाट्य शास्त्र ३६ अध्यायों का एक विशाल विश्वकोष है जिसमें प्रायः सभी ललित कलाओं का उल्लेख पाया जाता है। उसके सामने 'नाट्यदर्पण' बहुत छोटा सा ग्रन्थ है। इसमें नाट्यशास्त्र के केवल १८वें अध्याय में वर्णित विषय का ही प्रतिपादन किया गया है। नाट्य शास्त्र के १८वें अध्याय का 'दशरूपक-निरूपणाध्याय' है। इसमें १ नाटक, २ प्रकरण, ३ व्यायोग, ४ समवकार, ५ भाण, ६ प्रहसन, ७ डिम, ८ अङ्क, ९ ईहामृग और १० वीथी इन दस प्रकार के रूपकों का वर्णन किया गया है। इसीलिए इस अध्याय को 'दशरूपक-निरूपणाध्याय' कहते हैं। इसी अध्याय के आधार पर धनञ्जय ने 'दशरूपक' की रचना की थी और उसी के आधार पर रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' की रचना की है।

नाट्यशास्त्र के १८वें अध्याय का नाम 'दशरूपकाध्याय' है, किन्तु उसमें पूर्वोक्त दश शुद्ध रूपकों के निरूपण के साथ उनके संङ्कर से जन्य दो रूपकों का भी वर्णन किया है। ये

भेद नाटक तथा प्रकरण इन दोनों के मिश्रण से बनते हैं। भरत मुनि ने इनका विधान निम्न श्लोक में किया है—

अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये॥

[नाट्यशास्त्र १८, ५७]

श्लोक का अर्थ कुछ अस्पष्ट सा है किन्तु इसका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि नाटक तथा प्रकरण इन दोनों के योग से एक नाटिका या नाटी नाम से प्रसिद्ध भेद समझना चाहिए। अथवा दूसरा प्रकरणी नामक अप्रसिद्ध भेद समझना चाहिए। ये दोनों 'नाटी' नाम से कहे जाते हैं।

इस श्लोक की अस्पष्टता के कारण कुछ लोग 'नाटिका' तथा 'प्रकरणी' दो संकीर्ण भेद मानते हैं और कुछ लोग दोनों के सङ्कर से बना हुआ केवल एक सङ्कीर्ण भेद मानते हैं और उसे 'नाटी' या नाटिका नाम से कहते हैं। दशरूपककार धनञ्जय 'नाटिका' रूप केवल एक सङ्कीर्ण भेद मानते हैं और 'नाट्यदर्पणकार' 'नाटिका' तथा 'प्रकरणी' रूप दो सङ्कीर्ण भेद मानते हैं। दशरूपक की व्याख्या करने वाले धनिक ने दो भेद मानने का खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है—
"अत्र केचित्—

अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये॥

"इत्यमुं भरतीयं श्लोकं, 'एको भेदः प्रख्यातो नाटिकाख्यः, इतरस्त्वप्रख्यातः प्रकरणिका-संज्ञो, नाटीसंज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते' इति व्याचक्षाणाः प्रकरणिकामपि मन्यन्ते। तदसत्। उद्देश-लक्षणयोरनभिधानात्। समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात्। वस्तु-रस-नायकानां प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकायाः। अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया यन्मुनिना लक्षणं कृतं तत्रायमभिप्रायः—शुद्धलक्षण-सङ्करादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं सङ्कीर्णानां नाटिकैव कर्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते।"

[दशरूपक ३-४३वी टीका]

इसका अभिप्राय यह है कि 'अनयोश्च बन्धयोगात्' इत्यादि भरतमुनि के श्लोक के आधार पर कुछ लोग नाटिका और प्रकरणी दो सङ्करकृत भेद मानते हैं। किन्तु उनकी यह मान्यता अनुचित है। इसके चार कारण हैं। १. नाटिका तथा प्रकरणी नाम से दो अलग-अलग भेदों का न उद्देश्य अर्थात् नाममात्र से कथन किया गया है और न लक्षण। २. यदि नाटिका तथा प्रकरणी दोनों का लक्षण एक सा ही माना जाय तो उनमें भेद नहीं रहता है। ३. प्रकरणी का अलग भेद मानने वाले उसका जो लक्षण करते हैं उसके अनुसार 'प्रकरणी' की वस्तु, रस और नायक सब 'प्रकरण' के समान होते हैं इसलिए उसे 'प्रकरण' से अलग मानना असङ्गत हो जाता है। इसलिए प्रारम्भ में कथित 'उद्दिष्ट' न होने पर भी भरतमुनि ने 'नाटिका' का जो लक्षण किया है उसका यह अभिप्राय है कि सङ्करभेदों में से केवल एक 'नाटिका' की रचना करनी चाहिए।

धनिक द्वारा किए इस उत्कट विरोध के बाद भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'प्रकरणी' को 'नाटिका' भिन्न रूपक भेद मान कर उसका लक्षण किया है—

'एवं प्रकरणी किन्तु नेता प्रकरणोदितः।'

अर्थात् नाटिका के समान चतुरङ्कत्व आदि धर्मों से युक्त 'प्रकरणी' होती है। किन्तु इस में भेद यह है कि नाटकोक्त राजादि नायक के स्थान पर प्रकरणोक्त वणिग् आदि नायक होता

है। इस नायक-भेद के कारण ही इसके नाम का भेद हो जाता है। 'नायकानुसारित्वात् सर्व-व्यवहाराणाम्' क्योंकि सारे व्यवहार नायक के अनुसार ही होते हैं इसलिए प्रकरणोक्त नायक होने के कारण चतुरङ्गत्व आदि धर्मों से युक्त रूपक भेद को 'प्रकरणी' कहते हैं यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है। इस प्रकार नाट्यदर्पण में १० मुख्य रूपक तथा नाटिका एवं प्रकरणी रूप दो सङ्कीर्ण भेदों को मिलाकर कुल १२ प्रकार के रूपकों का वर्णन किया गया है।

दशरूपककार धनञ्जय ने दस प्रकार के मुख्य रूपकों के साथ 'नाटिका' रूप एक सङ्कीर्ण भेद को मिला कर ११ रूपकों का निरूपण किया है। फिर भी उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' ही रखा है। इसका कारण कुछ तो भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में १८वें अध्याय के लिए प्रयुक्त होने वाला 'दशरूपकनिरूपणाध्याय' नाम है। उसमें भी नाटिका सहित ११ भेदों का निरूपण होने पर भी उसका नाम 'दशरूपकनिरूपणाध्याय' रखा गया है। उसीके अनुकरण पर धनञ्जय ने भी अपने ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' रखा है। इसके साथ धार्मिक भावना के अनुसार विष्णु के दस अवतारों के साथ भरतमुनि के दशरूपकों का सम्बन्ध जोड़ना भी इसका एक कारण है। अपने मङ्गलाचरण में इस सम्बन्ध को दिखलाते हुए निम्न श्लोक लिखा है—

"दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः।
नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च॥"

[दशरूपक १, २]

जिस प्रकार यहां धनञ्जय ने रूपकों की दश संख्या का अपने इष्ट देव विष्णु [धनञ्जय के पिता का नाम भी विष्णु ही था] के दस अवतारों के साथ सम्बन्ध जोड़ कर अपनी धार्मिक भावुकता का परिचय दिया है, इसी प्रकार नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रूपकों की द्वादश संख्या का अपने धर्म में प्रतिपादित आचार से लेकर दृष्टिवाद-पर्यन्त द्वादश अङ्गों के साथ सम्बन्ध जोड़ कर ही अपना मङ्गलाचरण श्लोक लिखा है—

"चतुर्वर्गफलां नित्यं, जैनीं वाचमुपास्महे।
रूपैर्द्वादशभिर्विश्वं यया न्याय्ये धृतं पथि॥"

[नाट्यदर्पण १-१]

इस प्रकार दस के स्थान पर १२ रूपक भेदों का निरूपण नाट्यदर्पण का प्रतिपाद्य विषय है। इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ को चार भागों में विभक्त किया है। उन्हें 'विवेक' नाम से निर्दिष्ट किया है। प्रथम विवेक में उन्होंने केवल नाटक का निरूपण किया है। द्वितीय विवेक में 'प्रकरण' आदि शेष ११ रूपक भेदों का निरूपण किया है। इस प्रकार अपने मुख्य प्रतिपाद्य विषय अर्थात् द्वादश रूपकों के लक्षणों का प्रतिपादन उन्होंने दो विवेकों में ही कर दिया है। उसके बाद तृतीय विवेक में नाट्य से सम्बद्ध वृत्ति, रस, भाव और अभिनय आदि का विवेचन किया है, और चतुर्थ विवेक में कुछ ऐसी बातों की चर्चा की है जो सारे रूपकों में समान रूप से उपयोग में आने वाली है। इसलिए इस विवेक का नाम 'सर्वरूपकसाधारणलक्षण-निर्णयः' रखा गया है। दशरूपककार धनञ्जय ने नाटक के अतिरिक्त अन्य रूपक-भेदों के निरूपण में बहुत संक्षेप से काम लिया है। अधिकांश रूपकों का निरूपण उन्होंने दो चार श्लोकों में ही समाप्त कर दिया है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाटक के समान अन्य रूपक भेदों का निरूपण भी पर्याप्त विस्तार के साथ किया है। इसलिए उनका निरूपण धनञ्जय की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और उपयोगी बन पड़ा है।

नाट्यदर्पण के उदाहरण—

नाट्यदर्पण का विषय-प्रतिपादन जैसे दशरूपक की अपेक्षा अधिक विशद् और विस्तृत है, इसी प्रकार उसके उदाहरणों का क्षेत्र भी दशरूपक की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने प्रतिपाद्य विषय के स्पष्टीकरण के लिए इस ग्रन्थ में जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं वे प्रायः ६३ नाटकों से लिए गए हैं। इन ६३ नाटकों की सूची बहुत लम्बी है। दशरूपक में यह बात कहां है ? इन ६३ नाटकों में ११ नाटक तो स्वयं रामचन्द्र के अपने बनाए हुए नाटक हैं। भवभूति के (१२) उत्तर रामचरित (१३) महावीर चरित और (१४) मालती माधव तीनों नाटक इस सूची में उपस्थित हैं। इसी प्रकार कालिदास के (१५) अभिज्ञान शाकुन्तल, (१६) विक्रमोर्वशीय तथा (१७) मालविकाग्निमित्र इन तीनों नाटकों के उदाहरण इसमें प्रस्तुत किए गए हैं। यह बात विशेष रूप से उल्लेख योग्य है कि इसमें 'मालविकाग्निमित्र' का नाम सर्वत्र 'मालतिकाग्निमित्र' दिया गया है। विशाखदेव कृत (१८) मुद्राराक्षस नाटक के साथ उनके (१९) देवीचन्द्र गुप्त नाटक के उदाहरण भी इसमें दिए गए हैं। मुरारिकवि के (२०) अनर्घराघव, श्रीहर्ष के (२१) नागानन्द, और (२२) रत्नावली, (२३) शूद्रक के मृच्छकटिक, (२४) भट्ट नारायण के वेणीसंहार के उदाहरण भी दिए गए हैं। (२५) भास के स्वप्नवासवदत्तम् तथा (२६) दरिद्रचारुदत्तम् नाटकों का उल्लेख इसमें आया है। इसमें विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि भास के स्वप्नवासवदत्तम् से 'पादाक्रान्तानि पुष्पाणि' इत्यादि एक ही श्लोक [का० ५३ में अनुमान के उदाहरण रूप में] दिया गया है किन्तु वह श्लोक 'स्वप्नवासवदत्तम्' के वर्तमान मुद्रित संस्करणों में नहीं पाया जाता है। और भास के 'चारुदत्त' का यहां 'दरिद्रचारुदत्त' नाम से उल्लेख किया गया है। (२७) कुन्दमाला नाटक के उदाहरण भी आए हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने उसे 'वीरनाग' की रचना बतलाया है जब कि वर्तमान उपलब्ध 'कुन्दमाला' नाटक दिङ्नाग की कृति है। सम्भव है दिङ्नाग का ही दूसरा नाम 'वीरनाग' हो। अमात्य शंकुक के (२८) 'चित्रोत्पलावलम्बितम्' नाटक के उदाहरण भी इसमें दिए हैं। पता नहीं यह शंकुक भरत के व्याख्याकार शंकुक हैं या कोई दूसरे। बाणभट्ट की (२९) कादम्बरी, (३०) कालिदास के कुमारसम्भव, गुणाढ्य की (३१) बृहत्कथा, व्यास के (३२) महाभारत और भर्तृमेण्ठ के (३३) हयग्रीववध के उदाहरण भी दिए गए हैं। ये ३३ ग्रन्थ तो प्रायः प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त प्रायः ३० ऐसे ग्रन्थों के उदाहरण भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने इस नाट्यदर्पण में प्रस्तुत किए हैं जो अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं, और अब तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। उनका कुछ थोड़ा सा परिचय देना आवश्यक है। अतः हम इनका सामान्य परिचय नीचे दे रहे हैं।

नाट्यदर्पण में उद्धृत ३५ अलभ्य ग्रन्थ—

१. **अनङ्गवती नाटिका**—नाट्यदर्पण के तृतीय अनुच्छेद के आरम्भ में तीसरी कारिका की व्याख्या में पूर्वरङ्ग के अन्त में 'स्थापक' द्वारा 'आमुख' के अनुष्ठान के उदाहरण के लिए "तथा च 'अनङ्गवत्यां' नाटिकायां दृश्यते 'पूर्वरङ्गान्ते स्थापकं' इति" इस रूप में अनङ्गवती 'नाटिका' का उल्लेख केवल एक बार किया गया है। और कहीं भी इसका उल्लेख नहीं मिलता है। इसका निर्माण किसने और कब किया इसका परिचय प्राप्त होना सम्भव नहीं है। ग्रन्थ के अलभ्य होने से उसकी कथावस्तु का भी पता नहीं चल सकता है।

भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' [११-१४७], हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' [८,३३९] तथा शारदातनय के 'भावप्रकाशन' [पृ० २६७ अधि ९] में 'अनङ्गवती' का उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है—

"क्षुद्रकथा मन्थुल्ली येह महाराष्ट्रभाषया भवति ।
गोरोचनेव कार्या सानङ्गवतीव वा कविभिः ।।"

[शृंगारप्रकाश ११-१४७]

"प्रेतमहाराष्ट्रभाषायां क्षुद्रकथा गोरोचनानङ्गवत्यादिवत् मन्थल्लिका ।
क्षुद्रकथा मन्थल्ली प्रेत महाराष्ट्रभाषया भवति ।
गोरोचनेव कार्या सानङ्गवतीव वार्कचेटी [कवि] भिः ।।"

[काव्यानुशासन सविवेक नि० सा० पृष्ठ ३३६]

"क्षुद्रकथा मत्तल्लिका येह महाराष्ट्रभाषया भवति ।
गोरोचनेव कार्याऽनङ्गवती भावरसविषा ।।"

[भावप्रकाशन पृ० २६७, अधि ६]

इन तीनों ग्रन्थों में जिस 'अनंगवती' का उल्लेख मिलता है वह नाट्यदर्पण में उद्धृत 'अनंगवती' नाटिका से भिन्न कोई और ही चीज है । क्योंकि 'नाट्यदर्पण' की 'अनंगवती नाटिका' जैसा कि उसके 'पूर्वरंगान्ते स्थापकः' इस उद्धरण से प्रतीत होता है । संस्कृत भाषा में लिखी गई नाटिका है, और 'शृंगारप्रकाश' आदि तीनों ग्रन्थों में उल्लिखित 'गोरोचना अनंगवती' महाराष्ट्र की प्रेत भाषा में लिखी हुई कोई क्षुद्र कथा है जिसे महाराष्ट्र भाषा में 'मन्थुल्ली' कहते हैं । इस लिए 'नाटयदर्पण' की 'अनंगवती नाटिका' उससे बिल्कुल भिन्न है ।

क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' [५१८-१९] में एक अनगवती के चरित का उल्लेख मिलता है । सम्भव है कि 'नाट्यदर्पण' वाली 'अनंगवती नाटिका' की रचना इसी कथा के आधार पर की गई हो, और जैसे उदयन-वासवदत्ता की कथा के आधार पर अनेक नाटकों की रचना हुई है, इसी प्रकार 'अनंगवती' की यह कथा भी महाराष्ट्र की प्रेत भाषा में क्षुद्र कथा के रूप में प्रसिद्ध हुई हो । इन सबके होने पर भी 'नाटयदर्पण' की 'अनंगवती नाटिका' के कर्ता आदि का विषय बिल्कुल अन्धकार में रहता है ।

२. **अनङ्गसेनाहरिनन्दिप्रकरणम्**—'नाटयदर्पण' के प्रथम विवेक में 'अमर्श सन्धि' के पांचवें अंग 'छादन' के निरूपण में ग्रन्थकार ने—

"यथा श्री शुक्तिवासकुमारविरचिते अनंगसेना-हरिनन्दिनि प्रकरणे नवमेऽङ्के राजपुत्र चन्द्रकेतुना दत्तं कर्णालङ्कारयुगलं नायिकया माधव्या नायकस्य प्रेषितम् ।"

इत्यादि रूप में 'अनंगसेना-हरिनन्दिप्रकरणम्' का उल्लेख किया है, और उसे 'शुक्तिवास कुमार' की कृति बतलाया है । किन्तु ये 'शुक्तिवासकुमार' कौन हैं ? इसका कुछ पता नहीं चलता है । इसलिए उनके काल आदि का निश्चय नहीं किया जा सकता है ।

३. **अभिनवराघवम्**—नाटयदर्पण के तृतीय विवेक में 'प्ररोचना' के लक्षण के प्रसंग में ग्रन्थकार ने निम्न प्रकार से केवल एक बार इस नाटक का उल्लेख किया है—

"यथा क्षीरस्वामिविरचितेऽभिनवराघवे—
स्थापकः—(सहर्षम्) आर्ये ! चिरस्य स्मृतम् ।
अस्त्येव राघवमहीनकथा पवित्रं,
काव्यप्रबन्धघटना प्रथितप्रथिम्नः ।
भट्टेन्दुराज-चरणाब्जमधुव्रतस्य,
क्षीरस्य नाटकमनन्यसमानसारम् ।"

यह नाटक तो नहीं मिलता है, किन्तु इस श्लोक में उसके कर्ता आदि का पर्याप्त परिचय दे दिया गया है। इसके अनुसार 'अभिनवराघव' के निर्माता क्षीरस्वामी, भट्टेन्दुराज के शिष्य हैं। ये भट्टेन्दुराज अभिनवगुप्त के भी गुरु हैं। ध्वन्यालोक की 'लोचन' टीका में अभिनवगुप्त ने इनका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवास,
हृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्।
यत् किंचिदप्यनुरणन् स्फुटयामि काव्या—
लोकं सुलोचन-नियोजनया जनस्य॥

यथाऽस्मदुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य।" [ध्वन्यालोकलोचन पृ० ४३, ११६]

इससे प्रतीत होता है कि अभिनवराघव के निर्माता और स्वामी कदाचित् अभिनवगुप्त के सहपाठी हैं। 'नाट्यदर्पण' के अतिरिक्त (१) कल्हण कृत राजतरंगिणी, [तरंग ४, श्लोक ४८९], (२) अमरकोश के व्याख्याता क्षीरस्वामी, (३) हेमचन्द्राचार्यकृत सिद्धहेमशब्दानुशासन [अ० १, पृ० ४४], तथा हेमचन्द्र की ही 'अभिधानचिन्तामणि' की स्वोपज्ञनाममालाविवृति [पृ० ३६०, ४६१] में भी क्षीरस्वामी के नाम का उल्लेख पाया जाता है। ये सब क्षीरस्वामी कदाचित् एक ही व्यक्ति रहे होंगे। उस दशा में क्षीरस्वामी ने अभिनवगुप्त के काल में ही रामचन्द्र के चरित को लेकर अपने इस 'अभिनवराघवम्' नाटक की रचना की होगी। पर यह इस समय उपलब्ध नहीं हो रहा है।

(४) **अर्जुनचरितम्**—नाट्यदर्पण के तृतीय विवेक में विरुद्ध रसों के विरोध या अविरोध की व्यवस्था के प्रकरण [का० ३–२३] में 'अर्जुनचरित' का एक श्लोक केवल एक वार निम्न प्रकार उद्धृत किया गया है—

यथा अर्जुनचरिते—

समुत्थिते धनुर्ध्वनौ भयावहे किरीटिनः।
महानुपप्लवोऽभवत् पुरे पुरन्दरद्विषाम्॥

अत्र नायकस्य वीरः, प्रतिपक्षाणां तु भयानकः।"

'अर्जुनचरित' के लेखक का यहां नाट्यदर्पणकार ने कोई उल्लेख नहीं किया है किन्तु इसके निर्माता ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन हैं। यह आनन्दवर्धन का लिखा एक महाकाव्य है। आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में दो वार इसका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

"विपक्षविषये हि भयातिशयवर्णने नायकस्य भयपराक्रमादिसम्पत् सुतरामुद्योतिता भवति। यथा मदीये अर्जुनचरिते अर्जुनस्य पातालावतरणप्रसङ्गे वैशद्येन प्रदर्शितम्।"

आनन्दवर्धन का यह अर्जुनचरित नाटक नहीं अपितु महाकाव्य है इस बात का उल्लेख भी उन्होंने स्वयं ही किया है—

"यथा च मदीय एव अर्जुन चरिते महाकाव्ये × × ×"

रुद्रट के काव्यालङ्कार की टीका में 'नमि साधु' ने 'अर्जुनचरितं आनन्दवर्धनाचार्यकृतं प्राकृतकाव्यम्' लिख कर अर्जुनचरित को प्राकृत का काव्य बतलाया है। किन्तु उनका

यह कथन ठीक नहीं है। जो श्लोक यहां नाटचदर्पणकार ने उद्धृत किया है वह संस्कृत का पद्य है, इसलिए यह स्पष्ट है कि अर्जुनचरित आनन्दवर्धनाचार्य का संस्कृत महाकाव्य है। नमिसाधु ने बिना देखे ही अनुमान से उसे प्राकृत काव्य कह दिया है। यह काव्य इस समय उपलब्ध नहीं है, इसलिए उसका नाम अप्रसिद्ध ग्रन्थों की सूची में दिया है।

(५) **इन्दुलेखानाटिका**—नाटचदर्पण के प्रथम विवेक में निर्वहण सन्धि के काव्य-संहार नामक अङ्ग के निरूपण के प्रसङ्ग में [कारिका ६५] ग्रन्थकार ने इन्दुलेखा नाटिका का एक प्राकृत भाग उद्धृत किया है [ना० द० १.६५]। किन्तु इस नाटिका का कर्ता कौन है ? इसका कोई परिचय अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

(६) **इन्दुलेखावीथी**—नाटचदर्पण के द्वितीय विवेक में 'वीथी' के पांचवें अङ्ग त्रिगत [का० ३३] के निरूपण के प्रसङ्ग में—

"यथा इन्दुलेखायां वीथ्याम्—

राजा—वयस्य !

किं नु कलहंसनादो, मधुरो मधुपायिनां नु झंकारः ?
हृदयगृहदेवतायास्तस्या नु सनूपुरश्चरणः ॥ इति"

यह एक श्लोक उद्धृत किया है। महाराज भोज के 'शृङ्गार प्रकाश' [१२-१८८] तथा शारदातनय के 'भावप्रकाशन' [अधि ८, पृ० २३१] में भी यही पद्य इसी नाम से उद्धृत किया गया है। किन्तु 'भावप्रकाशन' में 'हृदयगतदेवतायाः' के स्थान पर 'हृदयगतवेदनायाः' पाठ दिया गया है। नाटचदर्पण तथा शृङ्गारप्रकाश का पाठ एक ही है, और अधिक अच्छा पाठ है। जैसा कि नाम से ही प्रकट है 'इन्दुलेखा नाटिका' तथा 'इन्दुलेखा वीथी' एक ही कथानक पर ऊपर लिखे हुए दो अलग ग्रन्थ हैं, किन्तु दोनों में से किसी के भी कर्ता का पता नहीं मिलता है।

(७) **उदयनचरितम्**—नाटचदर्पण के तृतीय विवेक में आरभटी वृत्ति के निरूपण में 'छद्म' के उदाहरण रूप में 'उदयनचरिते किलिञ्जहस्तिप्रयोगः' (पृ० १४०) इस रूप में 'उदयनचरित' का उल्लेख किया है। 'दशरूपक' की 'अवलोक' टीका में [२। ५७], और साहित्यदर्पण [६-१३५] में भी इसी रूप में उदयनचरित्र का उल्लेख किया गया है। वैसे उदयन की कथा संस्कृत साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध और बड़ी व्यापक कथा है। मूलतः उदयन का चरित बृहत्कथा से लिया गया है, और उसके आधार पर अनेक नाटकों की रचना हुई है। सम्भव है उसके आधार पर 'उदयन चरित' नामक किसी नाटक की रचना हुई हो। पर वह न उपलब्ध है और न उनके कर्ता का कोई पता चलता है। यहां जिस रूप में उसका उल्लेख हुआ है उसके किसी विशेष नाटक के रूप में नहीं, अपितु सामान्य रूप से उदयन-कथात्मक उदयनचरित का ग्रहण करने से भी काम चल सकता है। वैसे भामह के काव्यालङ्कार में 'विजिगीषुमुपन्यस्य वत्सेशं वृद्धदर्शनम्' [४-३९], कालिदास के मेघदूत में 'प्राप्यावन्तीमुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्,' आचार्य हरिभद्रसूरि के 'आवश्यक सूत्रवृत्ति' में [पृ० ६६-६७, ६७३, ६७५], आचार्य हेमचन्द्र विरचित 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरिते' [पर्व० १० स ११ १८४-२६५], सोमप्रभ के 'कुमारपालप्रतिबोध' [पृ० ८०-८२] आदि जैन-ग्रन्थों में भी समान रूप से उदयन की कथा का उल्लेख मिलता है। यह बात इस कथा की अत्यन्त लोकप्रियता की सूचक है।

(८) **उदात्तराघवम्**—नाटचदर्पण में 'उदात्तराघवम्' नाटक का उल्लेख तीन बार किया गया है। पहिली वार प्रथम विवेक की ४५ वीं कारिका की व्याख्या में, दूसरी वार

प्रथम विवेक की बिल्कुल समाप्ति पर और तीसरी बार चतुर्थ विवेक की द्वितीय कारिका की व्याख्या में। दशरूपक' के अवलोक-टीकाकार ने तृतीय प्रकाश की २५वीं कारिका की व्याख्या में 'यथा छद्मना बालिवधो मायुराजेन उदात्तराघवे परित्यक्तः', इस रूप में उदात्तराघव का उल्लेख करते हुए उसे मायुराज की कृति बतलाया है। 'वक्रोक्तिजीवित-कार' कुन्तक ने भी 'यथा उदात्त-राघवे कविना वैदग्ध्यवशेन मारीचमृग-मारणाय प्रयातस्य लक्ष्मणस्य परित्राणार्थं सीतया कातरत्वेन रामः प्रेरित इत्युपनिबद्धम्' इस रूप में 'उदात्तराघव' का उल्लेख किया है। इन दोनों उल्लेखों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस 'उदात्तराघव' के कवि ने रामचरित को उदात्त' बनाने के लिए उसकी कथावस्तु में नये संशोधन किए हैं। इसीलिए कुन्तक ने लिखा भी है कि—

"यथा (एकस्यामेव दाशरथिकथायां) रामाभ्युदय-उदात्तराघव-वीरचरित-बालरामायण-कृत्यारावण-मायापुष्पकप्रभृतयः। ते हि प्रबन्धप्रवरास्तेनैव कथामार्गेण निरर्गलरसासारगर्भ-सम्पदा प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिप्रकरणं च प्रकाशमानाभिनवभङ्गी × × × हर्षातिरेकमनेकशोऽप्यास्वाद्यमानः समुत्पादयन्ति सहृदयानाम्।"

[वक्रोक्ति जीवित पृ० ५३६]

'दशरूपकावलोक' में [३-५६, ३-३१, ४-२३, २८] उदात्तराघव के तीन श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं। विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण [परि० ६, श्लोक २७, ५०, १५४] में इसके श्लोक उद्धृत किए हैं। भोजदेव के 'श्रृङ्गारप्रकाश' [पृ० १२], सरस्वती कण्ठाभरण [पृ० ६४५], हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन' की स्वोपज्ञ अलङ्कारचूड़ामणिवृत्ति [पृ० १८०] में भी इसके उदाहरण दिए गए हैं। इससे यह नाटक अत्यन्त लोकप्रिय रहा प्रतीत होता है। राजशेखर ने 'मायुराज' को कलचुरि वंश का कवि कहा है। ऐसा जल्हण-संग्रहीत 'सूक्तिमुक्तावली' के निम्न लेख से प्रतीत होता है—

"राजशेखर—

मायुराजसमो जातो नान्यः कलचुरिः कविः।
उदन्वतः समुत्तस्थुः कति वा तुहिनांशवः॥

[जल्हण-संग्रहीत सूक्तिमुक्तावली ४५]

इस प्रकार बहुप्रशंसित, बहुचर्चित यह उदात्तराघव नाटक निश्चय ही अत्यन्त उच्चकोटि का नाटक रहा होगा, किन्तु दुर्भाग्य से इस समय वह उपलब्ध नहीं हो रहा है।

(९) **कृत्यारावणम्**—नाट्यदर्पणकार ने कृत्यारावण के १३ उदाहरण इस ग्रन्थ में दिए हैं। इसके 'आमुख' में से 'अवलगित' का उदाहरण [२–३६], प्रथम अङ्क से 'अधिबल' का उदाहरण [२–११] द्वितीय अङ्क से 'वज्र' का उदाहरण [१–५०], चतुर्थ अङ्क से 'प्रार्थना' का उदाहरण [१–५३], षष्ठ अङ्क से 'विद्रव' का उदाहरण [१–५४], और सप्तम अङ्क से 'विरोध' और 'शक्ति' के उदाहरण में [१–५६, ६०] ७ उदाहरण तो अङ्क-निर्देश पूर्वक उद्धृत किए हैं। इनके अतिरिक्त रूप, द्युति, खेद, आक्ष्य, आरभटी-वृत्ति, अङ्गौग्य इन ६ के उदाहरण अङ्कोल्लेख के बिना दिए हैं। इस प्रकार केवल नाटचदर्पण' में १३ बार 'कृत्यारावण' नाटक का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त की अभिनवभारती [अ० १८ पृ० ४१०, अ० ५० पृ० १०४-१०५, अ० २२ पृ० १७६ ख० २, पृ ४४४, ५२३, ५२४ ख० ३ पृ० १३, ४०] में ८ जगह भोजदेव के 'श्रृङ्गारप्रकाश' में प्र० १२, १८७, १९७, २०० तीन जगह, हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुशासन-विवेक में एक जगह [अ० ६, पृ० २७९], शारदातनय के 'भाव-

प्रकाशन' में [पृ० २३८, २४१] दो जगह, और साहित्यदर्पण [परि० ६, श्लोक १३७] में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। कुन्तक ने भी वक्रोक्तिजीवित में इसका उल्लेख किया है। किन्तु 'दशरूपकावलोक' में इसका एक बार भी उल्लेख नहीं मिला यह आश्चर्य की बात है। इतना प्रसिद्ध यह नाटक भी आज उपलब्ध नहीं हो रहा है, यह भी आश्चर्य की बात है।

(१०) **कौशलिकानाटिका**—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक की दसवीं कारिका की व्याख्या के प्रसङ्ग में केवल एक बार 'कौशालिकानाटिका' का उल्लेख आया है। इस उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि यह नाटिका वत्सराज उदयन के चरित्र को लेकर लिखी गई थी। नाट्यदर्पण में लिखा है—"यथा भट्टश्रीभवनुत (?) चूडाविरचितायां कौशालिकायां नाटिकायां कौशालिकाप्राप्तिमधिकृत्य प्रवृत्तस्य वत्सराजस्य न प्रासङ्गिकम्।" इस नाटिका का अन्यत्र कोई उल्लेख नहीं मिलता है, और न यह नाटिका ही उपलब्ध होती है।

(११) **चित्रोत्पलावलम्बितकं प्रकरणम्**—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में गर्भसन्धि के सातवें अङ्ग 'उद्वेग' के उदाहरण के प्रसङ्ग में ग्रन्थकारने—

"यथा अमात्यशंकुकविरचिते चित्रोत्पलावलम्बितके प्रकरणे पञ्चमेऽङ्के नेपथ्ये सचीत्कारम्—"

इत्यादि रूप में 'चित्रोत्पलावलम्बितक' प्रकरण को अमात्य शंकुक की कृति घोषित किया है। शंकुक का नाम तो साहित्यशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है। काव्यप्रकाशकार ने रस-निरूपण के प्रसङ्ग में चतुर्थ उल्लास में, अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती में अनेक बार शंकुक का नाम उल्लेख किया है। किन्तु सब जगह उनके मत का खण्डन ही किया गया है। उदाहरणार्थ—

तेन शंकुकादिभिः × × × वृथैव बहुतरमुपन्यस्तम्। [अ० २ पृ० ६७]
शंकुकस्त्वाह × × × एतदप्यसत्। [अ० ६, २७४]
यत्वत्र शंकुकेनोक्तं × × × तदसत् [अ० ६, २८२]
इति श्रीशंकुकः। एतच्च पूर्वापरविस्मरणविजृम्भितमस्य [अध्याय ६, २९३]

इसी प्रकार यहां नाट्यदर्पण में द्वितीय विवेक के 'वीथी' निरूपण के प्रसङ्ग में उनके मत की अनुपादेयता का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

"शंकुकस्तु अधमप्रकृतेर्नायकत्वमनिच्छन् प्रहसन-भाणादौ हास्यरसप्रधाने विटादेर्नायकत्वं प्रतिपादयन् कथमुपादेयः स्यादिति।"

[नाट्यदर्पण २–२८]

राजतरंगिणी [त० ४, ७०५] में—

कविर्बुधमनः सिन्धुः शशांकः शंकुकाभिधः।
यमुद्दिश्याकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्॥

इत्यादि पद्य द्वारा शंकुक को 'भुवनाभ्युदयम्' नामक काव्य का निर्माता बतलाया है। वल्लभदेव-संग्रहीत 'सुभाषितावलि' में [५२६, ५३८, ५४५, ७५०, ८७३, ८७४, ९०८, १२३३, १२३४, ३१२७, ३३७८ संख्या के] ग्यारह पद्य शंकुक के नाम से उद्धृत किए गए हैं। नाट्यशास्त्र के व्याख्याता के रूप में उनकी विशेष प्रसिद्धि है। हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुशासन [अ० २ पृ० ५७ वि०] और शारदातनय के 'भावप्रकाशन' [अ० ८ पृ० २५२], में भी शंकुक का उल्लेख किया

गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये शंकुक ही इस 'चित्रोत्पलावलम्बितक' प्रकरण के निर्माता होंगे। किन्तु वे किसके अप्रमात्य थे इसका पता नहीं चल रहा है। यह ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है।

(१२) **छलितरामम्**—नाटचदर्पणकार ने चार स्थानों पर 'छलितराम' नाटक के नाम का उल्लेख करते हुए उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित में भी 'छलितराम' का उल्लेख पाया जाता है। धनिक के 'दशरूपकावलोक' में [१-४१, ३-१३, १७] तीन स्थलों पर, भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' [प्र० ११, पृ० १२३], तथा सरस्वतीकण्ठाभरण [पृ० ३७७, ६४५] तथा विश्वनाथ के साहित्यदर्पण [परि० ६ पृ २६१] में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। किन्तु न तो इसके कर्त्ता का पता चलता है और न यह ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है।

(१३) **जामदग्न्यजयः**—'नाटचदर्पण' के द्वितीय विवेक में 'व्यायोग' के लक्षण के प्रसङ्ग में 'अस्त्रीनिमित्त संग्रामः' जिसमें स्त्री की प्राप्ति के लिए संग्राम न हो वह व्यायोग होता है। इसका उदाहरण दिखलाने के लिए–'अस्त्रीति अस्त्र्यर्थसंग्रामसंयुक्तश्च। यथा—'जामदग्नजये परशुरामेण सहस्रार्जुनस्य वधः कृतः। इस रूप में इस 'जामदग्न्यजय व्यायोग' का उल्लेख किया है। 'दशरूपक के मूल में और 'अवलोक' टीका में भी व्यायोग के लक्षण के प्रसङ्ग में 'अस्त्रीनिमित्तश्च संग्रामो जामदग्न्यजये यथा' [३-६१], लिख कर इसका निर्देश इसी रूप में किया गया है। किन्तु इसकी रचना किसने कब की इसका कोई पता नहीं लगा है। यह ग्रन्थ भी इस समय उपलब्ध नहीं हो रहा है।

(१४) **तरङ्गदत्तम्**—नाटचदर्पण के द्वितीय विवेक में 'प्रकरण' के निरूपण प्रसङ्ग में का० ३ तथा ४ की व्याख्या में दो जगह 'तरङ्गदत्त' प्रकरण का उल्लेख किया गया है धनिक के 'दशरूपकावलोक' [३-३८], शारदातनय के 'भावप्रकाशन' [अधि०८, पृ० २४३], और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण [परि० ६ पृ० २२६] में भी इसका उल्लेख पाया जाता है किन्तु इसका कर्ता कौन है इस विषय में कोई पता नहीं चलता है, और न यह ग्रन्थ मिलता है।

(१५) **देवीचन्द्रगुप्तम्**—'नाटचदर्पण' में सात वार देवीचन्द्रगुप्त नाटक का उल्लेख आया है और उसे 'मुद्राराक्षसकार' विशाखदेव या विशाखदत्त की कृति बतलाया गया है। इन उदाहरणों से इस नाटक की कथावस्तु प्रायः स्पष्ट हो जाती है। राजा रामगुप्त ने प्रबल शकराज के मांगने पर अपनी रानी ध्रुवदेवी को शकराज को समर्पित कर देना स्वीकार कर लिया। बाद को रामगुप्त के भाई चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी के वेष में शकराज के शिविर में गया और वहां पहुँच कर चन्द्रगुप्त ने शकराज का वध कर डाला, यह इस नाटक की कथा है। इस कथा का उल्लेख 'हर्षचरित' में पाया जाता है—

"शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः, चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन रहसि व्यापादित इति।"

[हर्षचरित उ० ५ पृ० २७०]

'काव्यमीमांसा' में भी इस कथा का उल्लेख आता है—

दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
यस्मात् खण्डितसाहसो निववते श्रीरामगुप्तो नृपः।

[काव्यमीमांसा अ० ९ पृ० ४७]

इस कथा को लेकर देवीचन्द्रगुप्त नाटक की रचना हुई है। उसका उल्लेख भी अनेक जगह पाया जाता है। किन्तु यह ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है।

मुद्राराक्षस तथा देवीचन्द्र गुप्त के अतिरिक्त 'अभिसारिकवञ्चितक' नामक एक और नाटक भी विशाखदेव ने बनाया था। इस बात का उल्लेख अभिनवभारती [अ० २२ पृ० १६७, खण्ड ३ पृ० २८] तथा 'शृंगारप्रकाश' में मिलता है। यह नाटक वत्सराज उदयन के चरित को लेकर लिखा गया था, यह बात भी निम्न उद्धरणों से विदित होती है—

"यथा विशाखदेवनिबद्धे अभिसारिकवञ्चितके वत्सेशस्य पद्मावती शबरीवेषाद्याचरण-रूपात् लीलाचेष्टितात् कामः प्रत्यानीतः।" [अ० भा० अ० २२ पृ० १६७]

"यथा श्रीविशाखदेवकृते अभिसारिकावंचितके वत्सराजः सम्भावितपुत्रवधायै पद्मावत्यै क्रुद्धस्तथा चाम्यधात्।" [शृंगारप्रकाश प्र० १२ पृ० १६७]

१६. **पयोनिधिमथनम्**— नाट्यदर्पण के द्वितीय विवेक में 'समवकार' के निरूपण प्रसंग में 'अत्र द्वादश नेतारः फलं तेषां पृथक् पृथक्' [का० २-१२] के उदाहरण में 'यथा पयोनिधि-मथने हरि-बलि-प्रभृतीनां लक्ष्म्यादिलाभाः' इस रूप में 'पयोधिमथन' का उल्लेख होने से यह 'समवकार' प्रतीत होता है। 'दशरूपक' के समवकार निरूपण में भी 'बहुवीररसाः सर्वे यद्वदम्भो-धिमन्थने' [३-६४] इस रूप में 'अम्भोधिमथन' का उल्लेख किया गया है। यह 'पयोधिमथन' का ही दूसरा नामान्तर है। भोमदेव के 'शृंगारप्रकाश' में [प्र० ११ पृ० १४८] तथा हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन में अपभ्रंश भाषा में लिखे गए एक 'अब्धिमथन' का उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है—

"योऽपभ्रंशनिबद्धो मात्राछन्दोभिरभिमतोऽल्पधियाम्।
वाच्यः स सन्धिबन्धः चतुर्मुखोक्ताब्धिमथनादि॥"
[शृंगारप्रकाश पृ० २१, पृ० १४८]

अपभ्रंशभाषानिबद्धसन्धिबन्धमथनादि। [काव्यानुशासन अ० ८ पृ० ३३७]

पता नहीं इसी 'अब्धिमथन' को नाट्यदर्पण कार ने यहाँ 'पयोधिमथन' के नाम से निर्दिष्ट किया है, या यह कोई अलग ग्रन्थ है। न यह ग्रन्थ मिलता है और न उसके कर्ता आदि का पता चलता है।

१६. पाण्डवानन्दम्—नाट्यदर्पण के द्वितीय विवेक में 'वीथी' के 'उद्घात्यक' नामक ११वें अंग के उदाहरण में पाण्डवानन्द का सूत्रधार तथा पारिपार्श्विक की उक्ति-प्रत्युक्ति रूप 'का भूषा बलिनां क्षमा' इत्यादि एक श्लोक उद्धृत किया गया है। उसकी अवतरणिका में—'यथा पाण्डवानन्दे सूत्रधार-परिपार्श्विकयोरुक्तिप्रत्युक्ती—' इस रूप में 'पाण्डवानन्द' का उल्लेख किया गया है। 'वीथी' के प्रसंग में निर्दिष्ट होने के कारण यह 'वीथी' है ऐसा अनुमान होता है। 'दशरूपकावलोक' में 'उद्घात्यक' के उदाहरण रूप में तनिक से पाठ भेद के साथ यही पद्य उद्धृत किया गया है। 'अभिनवभारती' [अ० १८ पृ० ४५४] में भी 'पाण्डवानन्द' का यह पद्य उद्धृत हुआ है और शारदातनय के 'भावप्रकाशन' [पृ० २३०] में भी यह पद्य 'पाण्डवानन्द' से उद्धृत पाया जाता है। किन्तु इसका कर्ता कौन था इसका कुछ भी पता नहीं चलता है और न यह ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है।

१७. **पार्थविजयम्**—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में प्रतिमुख सन्धि के आठवें अंग 'ताप' तथा 'अनुमर्पण' के निरूपण के प्रसंग में 'यथा पार्थविजये' लिख कर तीन बार 'पार्थविजय' के उद्धरण दिए गए हैं। भोजराज के 'श्रृंगार प्रकाश' में भी [प्र० १२, प्रा० वि० पृ० १६४, १६७ १९९] साम, दान रूप सन्ध्यंगो के उदाहरण रूप में 'पार्थविजय' के कुछ अंश उद्धृत किए गये हैं।

"तत्र पुंसोऽपि ह्रीः यथा 'पार्थविजये' गन्धर्वैः पराजितस्य बद्धस्य अर्जुनेन विक्रम्य मोचितस्य दुर्योधनस्य।"

"तत्र साम यथा 'पार्थविजये' भगवान् वासुदेवो दौत्येन गतो दुर्योधनमाह"

[श्रृंगारप्रकाश प्र० १२, प्रा० वि० पृ० १९७, १९८]

'सूक्तमुक्तावली' में राजशेखर के नाम से निम्न पद्य उद्धृत हुआ है—

कर्तुं त्रिलोचनादन्यः कः पार्थविजयं क्षमः।
तदर्थः शक्यते द्रष्टुं लोचनद्वयिभिः कथम्॥"

[सूक्तमुक्तावली पि० रि० २, ६३]

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि इस 'पार्थविजय' के निर्माता त्रिलोचन कवि हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका' में 'त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः' लिख कर त्रिलोचन अपना गुरु घोषित किया है। इन्हीं त्रिलोचन कवि का बनाया हुआ यह 'पार्थविजय' नाटक था। किन्तु इस समय तक उपलब्ध या प्रकाशित नहीं हुआ है।

१८. **पुष्पदूतिकम्**—'नाटचदर्पण' के प्रथम तथा द्वितीय विवेक में कुल मिला कर आठ स्थानों पर 'पुष्पदूतिकम्' के नाम तथा उसके उद्धरण दिए गए हैं। 'वक्रोक्तिजीवित' का जो उद्धरण हम 'कृत्यारावण' के विवेचन के प्रसंग में पृष्ठ ३८ पर दे आए हैं उसमें भी 'पुष्पदूतिक' का नाम आया है। अभिनवभारती [अ० १८ पृ० ४३२] तथा 'दशरूपकावलोक' [प्र० ३, श्लोक ४५] में 'पुष्पदूतिक' का उल्लेख पाया जाता है। इसमें समुद्रदत्त नामक वणिक् नायक और कुलस्त्री रूप नन्दयन्ती नायिका की कथा दी गई है। विविध ग्रन्थों में इसके उद्धरण मिलने पर यह ग्रन्थ आज उपलब्ध या प्रकाशित नहीं है।

१९. **प्रतिमानिरुद्धम्**—'नाट्यदर्पण' के प्रथम विवेक के अन्त में—'श्री भीमदेवसूनोर्वसुनागस्य कृतौ प्रतिमानिरुद्धे' इन शब्दों में 'प्रतिमानिरुद्ध' नाटक का निर्देश किया गया है। अभिनवभारती [अ० १९, पृ० ३] में भी भीमदेव-सूनु वसुनाग की कृति के रूप में 'प्रतिमानिरुद्ध' का निर्देश किया गया है। 'वक्रोक्तिजीवित' में केवल नाटक के नाम का उल्लेख पाया जाता है। वल्लभदेव-संगृहीत 'सुभाषितावली' में [श्लोक १२७४, १२८३, १३६३] तीन श्लोक वसुनाग कृत उद्धृत किए गए हैं। वे 'प्रतिमानिरुद्ध' के निर्माता वसुनाग के ही बनाए हुए प्रतीत होते हैं। यह नाटक भी इस समय उपलब्ध नहीं है।

२०. **प्रयोगाभ्युदयम्**—नाट्यदर्पण के द्वितीय विवेक में 'वीथी' के चतुर्थ अंग 'प्रपंच' के निरूपण के प्रसंग में विदूषक और चेटी का संवाद 'प्रयोगाभ्युदय' से उद्धृत किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि यह 'वीथी' श्रेणी का रूपक है। भोजदेव के 'श्रृंगारप्रकाश'

में भी [प्र० १८, पृ० १९१] 'प्रयोगाभ्युदय' का ठीक यही अंश उद्धृत हुआ है। परन्तु यह ग्रन्थ भी इस समय उपलब्ध नहीं है।

२१. **बालिकावञ्चितकम्**—नलविलास में 'बालिकावंचितक' के उदाहरण दो बार दिए गए हैं। एक उदाहरण उसके आमुख से लिया गया है। उसमें 'वीथी' के नवम अंग 'नाली' का प्रयोग निम्न प्रकार दिखलाया है—

"यथा बालिकावंचितके पारिपार्श्विक:—

तपनीयोज्ज्वलकरकं कुवलयारुचि भासमानमाकाशे।
तेजोमयं दिनकराद् द्वितीयमाचक्ष्व मे भूतम्॥

अत्र निगूढो नारदलक्षणोऽर्थ: ···· श्लोके 'द्वितीयमेनं 'मुनिं पश्य' इति चतुर्थपादान्यथाकरणेन व्याख्यात इति।" [नाट्यदर्पण २–३५]

इसमें आकाश-मार्ग से कृष्ण के पास आते हुए नारद का वर्णन है। दूसरे स्थान पर—

"यथा वा बालिकावञ्चितके—

रिष्टस्तावदुदग्रश्रृङ्गविकट: शैलेन्द्रकल्पो वृष:,
सप्तद्वीपसमुद्रजस्य पयस: शोषक्षमा पूतना।
केशी वाजितनु: खुरैर्विघटयेदापन्नगांन्मेदिनीं,
सार्धं बन्धुभिरेवमूर्जितबलं क: कंसमास्कन्दति॥"

[नाटयदर्पण २–३२]

आदि श्लोक इस 'बालिकावञ्जितक' से उद्धृत किए गए हैं। इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि यह रूपक कृष्ण की कथा को लेकर लिखा गया है, और उसमें 'बालिका' पद कदाचित् राधा के लिए प्रयुक्त हुआ होगा। दुर्भाग्य से यह रूपक भी उपलब्ध नहीं होता है।

२२. **मनोरमावत्सराजम्**—नाटयदर्पण के द्वितीय विकेक में 'वीथी' के 'असत्प्रलाप' नामक अङ्ग के निरूपण के प्रसङ्ग में केवल एक वार इसका उल्लेख किया गया है। उसमें "यथा भीमट-विरचिते मनोरमावत्सराजे" इस रूप में इस रूपक का निर्देश किया गया है। जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है यह रूपक वत्सराज उदयन की कथा को लेकर लिखा गया है। उदयन के चरित को लेकर संस्कृत साहित्य में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है। (१) वासवदत्ता, (२) वीणा-वासवदत्ता, (३) स्वप्नवासवदत्ता, (४) प्रतिज्ञायौगन्धरायण, (५) रत्नावली, (६) प्रियदर्शिका, (७) कौशाम्बिका, (८) अभिसारिकावञ्चितक, (९) तापसवत्सराज, (१०) उदयनचरित आदि सभी ग्रन्थ एक ही कथा को लेकर लिखे गए हैं। भीमट कवि का यह 'मनोरमावत्सराज' रूपक उसी श्रेणी में आता है। इसके निर्माता भीमट के विषय में जल्हण-संकलित 'सूक्तमुक्तावली' में एक पद्य आया है—

कलिञ्जरपतिश्चक्रे भीमट: पञ्चनाटकीम्।
प्राप्तप्रबन्धराजत्वं तेषु स्वप्नदशाननम्॥

[सूक्तमुक्तावली ४-६३]

अर्थात् भीमट कवि कलिञ्जर के राजा थे। उन्होंने पांच नाटक बनाए थे जिनमें 'स्वप्न-दशानन' नामक सर्वश्रेष्ठ था। पिटर्सन आदि के अनुसार 'रावणीयार्जुन' काव्य के निर्माता भीम और कलिञ्जरराज भीमट एक ही व्यक्ति हैं। खेद की बात है कि उनकी यह कृति भी अभी तक प्रकाश में नहीं आई है।

२३. **मल्लिकामकरन्दम्**—यह रामचन्द्र का अपना बनाया 'प्रकरण' रूपक है। 'नाटयदर्पण' के तृतीय विवेक की २१वीं कारिका की व्याख्या में 'यथा वा अस्मदुपज्ञे मल्लिका-मकरन्दे प्रकरणे—

आस्यं हास्यकरं शशाङ्कयशसां, बिम्बाधर: सोदर:
पीयूषस्य, वचांसि मन्मथमहाराजस्य तेजांसि च।
दृष्टिर्विष्टपचन्द्रिका, स्तनतटी लक्ष्मीनटीनाटयभू:
औचित्याचरणं विलासकरणं तस्या: प्रशस्यावधे: ॥

इस रूप में 'मल्लिकामकरन्द' का उदाहरण केवल एक बार दिया गया है। आज से ३०० वर्ष पहिले १७वीं शताब्दी में कान्तिविजयगणि द्वारा तैयार किए गए सूचीपत्र में 'तस्यैव [पं० रामचन्द्रस्य] मल्लिकामकरन्दनाटकम्' १५००। [पुरातत्त्व पु० दे० अ० ४, ४२४-५२८] इस रूप में मल्लिकामकरन्द-को रामचन्द्र का नाटक बतलाया है। किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि ग्रन्थकार ने स्वयं उसे 'नाटक' के स्थान पर 'प्रकरण' कहा है। १५०० श्लोक अर्थात् अनुष्टुप् इसका परिमाण था, किन्तु यह ग्रन्थ अब तक अप्राप्य और अप्रकाशित है।

२४. **मायापुष्पकम्**—'नाटयदर्पण' के प्रथम विवेक में 'बीज' का निरूपण करने वाली २६वीं कारिका की व्याख्या में—

"यथा मायापुष्पके शाप: प्रविश्य वचनक्रमेणाह—

कैकेयी क्व पतिव्रता भगवती क्वैवंविधं वाग्विषं,
धर्मात्मा क्व रघूद्वह: क्व गमितोऽरण्यं सजायानुज:।
क्व स्वच्छो भरत: क्व वा पितृवधान्मात्राऽधिकं दह्यते
किं कृत्वेति कृतो मया दशरथेऽवध्ये कुलस्य क्षय: ॥"

इस रूप में मायापुष्पक का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार आगे पताका के लक्षण के प्रसंग में [का० ३३] फिर 'यथा मायापुष्पके' लिख कर एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि यह नाटक है और रामचन्द्र की कथा को लेकर लिखा गया है। अभिनवभारती [अ० १३ पृ० २१६, अ० १६ पृ० १७, अ० २२ पृ० १६६] में भी तीन वार इसका उल्लेख हुआ है, और कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवित' का जो उद्धरण हम अभी 'कृत्यारावण' की विवेचना (पृ० ३८) में दे आए हैं उसमें भी 'मायापुष्पक' के नाम का उल्लेख है। किन्तु इस नाटक का कर्ता कौन है इसके विषय में कोई पता नहीं चलता है, और न यह नाटक अब तक प्रकाशित ही हुआ है।

२५. **यादवाभ्युदयम्**—यह नाटक स्वयं नाटयदर्पणकार रामचन्द्र कवि का बनाया हुआ है। 'यथा वा अस्मदुपज्ञ एव यादवाभ्युदये' लिख कर ग्रन्थकार ने अपने इस नाटक से सात स्थानों पर उदाहरण उद्धृत किए हैं। ग्रन्थकार के परिचय के प्रसङ्ग में हमने उनके 'रघुविलास' नाटक के आमुख से जो उद्धरण दिया था उसमें उनकी सर्वश्रेष्ठ पांच नाटकों में इस 'यादवाभ्युदय नाटक' का भी नाम है। जैसा कि इसके नाम से ही प्रतीत होता है इसमें यदुवंशी कृष्ण के चरित्र का वर्णन है। कंस और जरासन्ध आदि को मार कर आधे भारत पर कृष्ण के साम्राज्य का प्रदर्शन उसके काव्योपसंहार के निम्न श्लोक में दिखलाया है—

ग्रातो घोषभुवां विधृत्य मधुजित्, कंस: क्षयं लम्भित:,
सम्प्रत्येव विनिर्मितं मगधभूभर्तु: कबन्धं वपु:।
पादाक्रान्तमजायतार्द्धभरतं तद् ब्रूहि न: किं परं?
श्रेयोऽस्मादपि पाण्डवेश! पुनरप्याशास्महे यद् वयम् ।।

[नाट्यदर्पण १-६५]

यह नाटक यों तो स्वयं नाटचदर्पणकार रामचन्द्र का बनाया हुग्रा है, किन्तु ग्रब तक ग्रनुपलब्ध ग्रौर ग्रप्रकाशित है। ग्रत: यहां उसका समावेश किया गया है।

२६. रघुविलासम्—ग्रन्थकार के परिचय के प्रसङ्ग में 'रघुविलास' का जो उद्धरण हम ऊपर दे चुके हैं उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह 'रघुविलास' नाटक नाटचदर्पणकार रामचन्द्र की ग्रपनी कृति है, ग्रौर वह उनके सर्वश्रेष्ठ पांच नाटकों में से एक है। नाटचदर्पण में उन्होंने ग्रपने इस नाटक के १४ उदाहरण दिए हैं। किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि स्वयं नाटचदर्पणकार का यह नाटक भी ग्राज तक उपलब्ध तथा प्रकाशित नहीं हो सका है।

२७. राघवाभ्युदयम्—'यादवाभ्युदय' के समान यह 'राघवाभ्युदय' नाटक भी नाटचदर्पणकार रामचन्द्र का ग्रपना बनाया हुग्रा नाटक है, ग्रौर उनके सर्वोत्तम पांच नाटकों में गिनाया गया है। जैनसाहित्य संग्रह खं० १ ग्र० २ की 'राघवाभ्युदयं नाटकं पं० रामचन्द्र कृतं १० ग्रङ्कम्' इस टिप्पणी से प्रतीत होता है कि यह नाटक दस ग्रङ्कों का बड़ा नाटक है। किन्तु ग्रन्य कृतियों के समान ग्रब तक ग्रनुपलब्ध ग्रौर ग्रप्रकाशित है।

२८. राधाविप्रलम्भम्—'नाटचदर्पण' के प्रथम विवेक के ग्रन्त में 'यथा भेज्जल-विरचिते राधाविप्रलम्भे रासकाङ्के परिकर-परिन्यासयोरुपक्षेपेणैव गतत्वान्न तन्निबन्ध:। एवं परस्परान्तर्भावे चतुरङ्गोऽपि क्वापि सन्धिर्भवति।" इस रूप में ग्रन्थकार ने 'राधाविप्रलम्भ' को भेज्जल-कवि विरचित रासकाङ्क बतलाया है। इसका उल्लेख ग्रभिनवभारती में भी ग्राया है ग्रौर वहां इसका एक श्लोक निम्न प्रकार उद्धृत किया गया है—

'मेघाशङ्किशिखण्डि-ताण्डवविधावाचार्यकं कल्पयन्
निर्ह्रादो मुरजस्य मूर्च्छतितरां वेणुस्वनापूरित:।
वीणाया: कलयन् लयेन गमकानुग्राहिणीं मूर्च्छनां
कर्षत्येष च कालकुट्टितलयां रम्यश्रुतिं षाडवे ।।"

[ग्रभिनवभारती दिल्ली संस्करण पृ० २१५]

इसी पद्य को ग्रभिनवभारती के पंचमाध्याय में फिर 'भेज्जलनाम्ना निजरूपके उक्तम्' [ग्र० ५ पृ० २१४ प्र० ६] इस ग्रवतरणिका के साथ उद्धृत किया है। 'श्रृङ्गारप्रकाश' में 'यथा रासकाङ्के' [प्र० १२, पृ० १८२] इन शब्दों में कदाचित इसी 'रासकाङ्क' का उल्लेख किया गया है।

२९. रामाभ्युदयम्—नाटचदर्पण में ग्रन्थकार के नाम का उल्लेख किए बिना ६ स्थानों पर 'रामाभ्युदय नाटक' के उद्धरण दिए गए हैं। इस नाटक के द्वितीयाङ्क से सीता के प्रति सुग्रीव की सन्देशोक्ति, मारीच, रावण ग्रौर प्रहस्तका संवाद दिए गए हैं। चतुर्थ ग्रङ्क से सीता के ग्रग्नि-प्रवेश ग्रादि 'परिगूहन' के उदाहरण में, सीता-परित्याग का ग्रवमानन 'छल' के उदाहरण रूप में, माया-शिरोदर्शन 'ग्रारभटी'

के लक्षण के अवसर पर दिखलाए हैं। ध्वन्यालोक [उद्योत ३, १३३] ध्वन्यालोक-लोचन [उद्योत ३, १४८] शृङ्गार प्रकाश' [प्र० १२ १८६, २०१], भावप्रकाशन' [अ० ७, २०० २१२] आदि में भी इस नाटक का उल्लेख पाया जाता है। ध्वन्यालोक-लोचन [उद्योत ३, पृ० १४८] के उल्लेख से ही यह विदित होता है कि इस नाटक के कर्त्ता यशोवर्मा है। क्षेमेन्द्र के 'सुवृत्ततिलक' [२, ३९; ३, २१] तथा वल्लभदेव-संगृहीत सुभाषितावली' [पृ० ६०४] में यशोवर्मा की कृतिरूप ये कुछ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। वे सम्भवत इसी नाटक से लिए गए हैं। यशोवर्मा नाम के एक राजा कन्नौज में हुए हैं। उनका काश्मीरराज ललितादित्य से युद्ध हुआ था, और उस युद्ध में यशोवर्मा को पराजय का दुःख देखना पड़ा। उनके इस युद्ध का वर्णन 'राजतरंगिणी' में किया गया है—

कविवाक्पतिराजभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥

[राजतरंगिणी त० ४, १४४]

'अभिनवभारती' आदि के निर्माता अभिनव गुप्त के लगभग २०० वर्ष पूर्व उनके पूर्वज अत्रिगुप्त इन्हीं कान्यकुब्जेश्वर यशोवर्मा के यहां रहते थे। इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद काश्मीर-नरेश बड़े सम्मान-पूर्वक उनको अपने यहां लिवा ले गए थे। अभिनवगुप्त ने स्वयं अपने 'तन्त्रालोक' ग्रन्थ में इस घटना का वर्णन निम्न श्लोकों में किया है—

निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेशः,
तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा।
कोऽप्यत्रिगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्रः,
शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्रः॥
तमथ ललितादित्यो राजा स्वकं पुरमानयत्।
प्रणयरभसात् काश्मीराख्यं हिमालयमूर्धजम्॥

[तन्त्रालोक, अ० ३७]

इन यशोवर्मा के यहां विद्वानों का संग्रह था। कवि वाक्पतिराज, भवभूति आदि इन्हीं की राजसभा में रहते थे। सम्भव है इन्हीं यशोवर्मा ने इस 'रामाभ्युदय' नाटक की रचना की हो। यह नाटक भी अब तक उपलब्ध या प्रकाशित नहीं हुआ है।

३०. **रोहिणीमृगाङ्क**— नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में 'मुखसन्धि' के 'परिन्यास' नामक तृतीय अङ्ग के निरूपण-प्रसङ्ग में—

'यथा वा अस्मदुपज्ञे रोहिणीमृगाङ्काभिधाने प्रकरणे मृगाङ्कं प्रति वसन्तः।'

इस रूप में 'रोहिणीमृगाङ्क' को नाट्यदर्पणकार ने स्वयं अपनी कृति घोषित किया है। आगे फिर मुख सन्धि' के परिभावना नामक १२ वें अङ्ग के उदाहरण रूप में भी 'रोहिणी-मृगाङ्क' प्रकरण से एक श्लोक उद्धृत किया है। पर यह 'प्रकरण' भी इस समय उपलब्ध नहीं है।

३१. **वनमालानाटिका**—'रोहिणी-मृगाङ्क' प्रकरण के समान 'वनमालानाटिका' भी स्वयं नाट्यदर्पणकार की कृति है। जैसा कि उन्होंने तृतीय विवेक में २१ वीं कारिका की व्याख्या में—'यथा वा अस्मदुपज्ञायां वनमालायां नाटिकायां' इन शब्दों से व्यक्त किया है।

'वृहट्टिप्पणी' और उसके आधार पर 'जैनग्रन्थावली' आदि में [पृ० ३३८] इस वनमाला नाटिका को अमरचन्द्र की कृति बतलाया है। किन्तु यह ठीक नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामचन्द्र के स्थान पर भूल से अमरचन्द्र लिख दिया गया है। गणि-कान्तिविजय के लिखे हुए 'प्राचीनग्रन्थ-सूचिपत्र' में तो 'प० रामचन्द्रकृता वनमालानाटिका श्लोक ८००' [पुरातत्त्व पु० २ अ० ४, ४२४-४२८] इन शब्दों में 'वनमाला नाटिका' को रामचन्द्र की कृति ही बतलाया है। इस नाटिका का केवल एक ही उदाहरण नाट्यदर्पण में दिया गया है, और वह राजा नल की दमयन्ती के प्रति उक्ति के रूप में है। इससे प्रतीत होता है कि उस नाटिका की रचना भी नल-दमयन्ती के चरित को लेकर की गई है। किन्तु यह नाटिका भी इस समय तक उपलब्ध या प्रकाशित नहीं हुई है।

(३२) विधिविलसितम्—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में विमर्श सन्धि के लक्षण के प्रसङ्ग [का० ३९] में विधिविलसितम्' का केवल एक उद्धरण निम्न प्रकार दिया है—

दैवतो यथा 'विधिविलसिते पञ्चमेऽङ्के'—

"कञ्चुकी—हा धिक् कष्टम्, नैवोल्लंघ्य: प्राक्तनः कर्मविपाकः—

वार्ताऽपि नैव यदिहास्ति स राजचन्द्रः
तेनोज्झिता विधिविमोहितचेतनेन।
देवा वने त्रिदशनाथविलासिनीभिः,
कर्तुं गता जगति सत्यमिति प्रवादः॥"

इस उदाहरण की लक्षण के साथ योजना करते हुए नाट्यदर्पणकार ने लिखा है—

"अत्र सूदाचारावलम्बिनि नले दैवत्यक्त-दमयन्ती-राज्यप्राप्तिविघ्नजो विमर्शः।"

इस पंक्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि नल-दमयन्ती के चरित्र को लेकर इस नाटक का रचना की गई थी। किन्तु इसका निर्माता कौन था इसका कुछ पता नहीं चलता। नाटक भी अब तक उपलब्ध तथा प्रकाशित नहीं हुआ है।

३३. विलक्षदुर्योधनम्—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में 'प्रतिमुख-सन्धि के नवम अङ्ग 'पुष्प' के उदाहरण [का० ४६] के रूप में—

यथा विलक्षदुर्योधने-भीष्मः—

एतत्ते हृदयं स्पृशामि यदि वा साक्षी तवैवात्मजः,
सम्प्रत्येव तु गोग्रहे यदभवत् तत् तावदाकर्ण्यताम्।
एकः पूर्वमुदायुधैः स बहुभिर्हृष्टस्ततोऽनन्तरं
यावन्तो वयमाहवप्रणयिनः तावन्त एवार्जुनाः॥

इस एक उदाहरण के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी 'विलक्षदुर्योधन' का नाम नहीं मिलता है। इस लिए यह नहीं कहा जा सकता है कि इसका कर्ता कौन है। यह नाटक अब तक प्रकाशित भी नहीं हुआ है।

३४. सुधाकलशः—'नाट्यदर्पण' के द्वितीय विवेक में वीथी के 'मृदवम्' नामक अङ्ग के निरूपण में 'यथा अस्मदुपज्ञे सुधाकलशे' और 'यथा सुधाकलशे' इन अवतरणिकाओं के साथ दो श्लोक उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए हैं। ये दोनों ही श्लोक प्राकृत भाषा के हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि यह 'सुधाकलशः' नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र की सुन्दर भाषामयी अथवा प्राकृत-भाषा प्रधान कृति है। यह कोई नाटक या रूपक नहीं, अपितु सुभाषित-संग्रह का ग्रन्थ है, यह बात जैन

साहित्य संशोधक [खं० १ अ०] के 'सुधाकलशाख्यसुभाषिताकोश: पं० रामचन्द्रकृत:' इस लेख से प्रतीत होती है। पुरातत्त्व [पु० ८ अ० ४, ४२४, ४२८] में 'पं० रामचन्द्रकृत: सुधाकलश: १३००' इस लेख से यह भी प्रतीत होता है कि इसमें १३०० श्लोक थे। इसमें प्राकृत श्लोकों की प्रधानता थी। यह ग्रन्थ भी अब तक अनुपलब्ध तथा अप्रकाशित है।

३५. हयग्रीववधम्—'हयग्रीववध' संस्कृत साहित्य का अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके रचयिता भर्तृमेण्ठ हैं। इनकी भी संस्कृत साहित्य में अत्यन्त प्रशंसा पाई जाती है। काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने लिखा है—आरम्भ में जो आदि कवि वाल्मीकि थे. वे ही अगले जन्म में भर्तृमेण्ठ बने थे। उसके बाद भर्तृमेण्ठ ने भवभूति के रूप में जन्म लिया और आज वे ही भर्तृमेण्ठ राजशेखर के रूप में उपस्थित हैं। इस प्रकार राजशेखर ने भर्तृमेण्ठ के साथ-साथ अपनी भी प्रशसा कर ली है। राजशेखर का श्लोक निम्न प्रकार है—

बभूव वल्मीकिभवः पुरा कविः,
ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

[बालरामायण १-१६, बालभारत प्र० १२]

राजशेखर ने ही दूसरी जगह काव्यमीमांसा में यह लिखा है कि विशाला अर्थात् उज्जयिनी नगरी में आकर बड़े-बड़े महाकवियों की परीक्षा होती है कि कौन कितने पानी में है। उसमें आकर ही कालिदास और भर्तृमेण्ठ की परीक्षा हुई। यही आकर अमर, रूप, सूर और भारवि का यश फैला, और हरिश्चन्द्र तथा चन्द्रगुप्त की परीक्षा भी यहीं आकर हुई। इन सब कवियों में कालिदास, भर्तृमेण्ठ तथा भारवि तीन तो प्रसिद्ध कवि हैं शेष अत्यन्त अप्रसिद्ध कवि हैं। फिर भी अपने समय में उज्जयिनी में उसका अपना कुछ विशेष गौरव रहा होगा। राजशेखर का यह श्लोक निम्न प्रकार है—

इह कालिदास-भर्तृमेण्ठौ अत्रामर-रूप-सूर-भारवयः।
हरिचन्द्र-चन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥

[काव्य मीमांसायाम् अ० १० पृ० ५५]

राजशेखर भर्तृमेण्ठ के बड़े भक्त और प्रशंसक थे। यह बात इन ऊपर उद्धृत दिए हुए दोनों श्लोकों से स्पष्ट प्रतीत होती है। जल्हण की संगृहीत 'सूक्तमुक्तावली' में भी राजशेखर के नाम से एक पद्य मिलता है, जिसमें राजशेखर ने भर्तृमेण्ठ की सूक्तियों की तुलना 'सृणि' अर्थात् हाथी को हाँकने वाले अकुश से और कवियों की तुलना कुंजर से अर्थात् हाथी से की है। राजशेखर का कहना है कि जैसे 'सृणि' के लगने पर हाथी का सिर घूमने लगता है इसी प्रकार भर्तृमेण्ठ की सूक्तियों को पढ़ कर कविकुंजर अर्थात् महाकवियों के सिर झूमने लगते हैं। अपनी इस सुन्दर कल्पना को उन्होंने श्लोक में निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

"वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्।
आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुंजराः॥" [सूक्तमुक्तावली २-६४]

शार्ङ्गधर-पद्धति में भी भर्तृमेण्ठ के नाम का उल्लेख निम्न श्लोक में पाया जाता है—

भासो रामिल-सौमिलौ वररुचिः श्री साहसाङ्कः कविः
मेण्ठो भारवि-कालिदास-तरलाः स्कन्धाः सुबन्धुश्च यः।

दण्डी बाण-दिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः
सिद्धा यस्य सरस्वती रसवती के तस्य सर्वेऽपि ते ।।

[शार्गंधरपद्धति १८८]

कवि पद्मगुप्तने भी—जिनका दूसरा नाम परिमल भी था—'नवसाहसांकचरित' नामक अपने ग्रन्थ में भर्तृमेण्ठ का स्मरण बड़े आदर के साथ करते हुए उनकी प्रशंसा-सूचक निम्न दो श्लोक लिखे हैं—

तत्त्वस्पृशस्ते कवयः पुराणाः
श्री भर्तृमेण्ठ प्रमुखा जयन्ति ।
निस्त्रिंशधारासदृशेन येषां
वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः ।। [नवसाहसांकचरित ५]

भर्तृमेण्ठ सदृश कवि संसार में सर्वोत्कर्षशाली हैं जिनकी वाणी तलवार की धार के समान वैदर्भी रीति का अवलम्बन करके प्रवाहित होती रहती है। इस पद्य में भर्तृमेण्ठ के काव्य में वैदर्भी रीति की प्रधानता सूचित करते हुए उसकी अत्यन्त प्रशंसा और उसके प्रति आदर भाव को प्रकट किया गया है।

उन्हीं पद्मगुप्त ने भर्तृमेण्ठ की प्रशंसा में दूसरा श्लोक निम्न प्रकार लिखा है—

पूर्णेन्दुबिम्बादपि सुन्दराणि,
तेषामदूरे पुरतो यशांसि ।
ये भर्तृमेण्ठादिकवीन्द्रसूक्ति—
व्यक्तोपदिष्टेन पथा प्रयान्ति ।।" [नवसाहसांकचरित ६]

अर्थात् जो नवीन कविगण भर्तृमेण्ठ जैसे कवीन्द्र की सूक्तियों द्वारा स्पष्ट रूप से उपदिष्ट मार्ग पर चलते हैं, अर्थात् भर्तृमेण्ठ के समान वैदर्भी रीति का अवलम्बन करते हैं उनको शीघ्र ही पूर्णिमा के चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर यश प्राप्त होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल राजशेखर ही भर्तृमेण्ठ के प्रशंसक है, अपितु पद्मगुप्त भी उनके वैसे ही भक्त और प्रशंसक प्रतीत होते हैं। 'सूक्तमुक्तावली' तथा 'शार्ङ्गधरपद्धति' भी भर्तृमेण्ठ का गुण-गान कर रही है। इन्हीं प्रसिद्ध कविराज भर्तृमेण्ठ ने 'हयग्रीववध' नामक महाकाव्य की रचना की थी।

काश्मीर के इतिहास 'राजतरंगिणी' में ऐसी कथा दी हुई है कि भर्तृमेण्ठ अपने 'हयग्रीव वध' नामक नवनिर्मित महाकाव्य को लेकर काश्मीराधिपति मातृगुप्त के यहाँ गए। वहाँ उन्होंने अपना सारा महाकाव्य राजा को सुनाया, पर वहाँ उन्हें एक बार साधुवाद प्राप्त नहीं हुआ। तब उनको राजा की अरसिकता और अपने अकवित्व दोनों पर बड़ी ग्लानि हुई। वे अपनी पुस्तक-पत्रे बाँधने लगे तो राजा ने उठकर एक सोने का पात्र उसके नीचे लगा दिया कि कहीं इस काव्य का माधुर्य नीचे न बिखर जाय। भर्तृमेण्ठ राजा के हृदय का भाव समझ कर अत्यन्त प्रसन्न हुए, और उन्होंने अनुभव किया कि मुझे मेरी रचना के अनुरूप आदर प्राप्त हो गया। इससे अपने को कृतकृत्य समझ कर बाद में राजा ने उनको जो धनादि दिया वह सब उनको अनावश्यक सा प्रतीत हुआ। राजतरंगिणीकार ने इस सुन्दर घटना का उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

हयग्रीववधं मेण्ठस्तदग्रे दर्शयन् नवम् ।
आसमाप्ति ततो नापत् साधु साध्विति वा वचः ।।
अथ ग्रथयितुं तस्मिन् पुस्तकं प्रस्तुते न्यधात् ।
लावण्यनिर्याणधिया तदधः स्वर्णभाजनम् ।।

अन्तरज्ञतया तस्य ताहृश्या कृतसत्कृतिः ।
भर्तृमेण्ठः कविर्मेने पुनरुक्तं श्रियोऽर्पणम् ।।

[राजतरंगिणी त० ३, २६०-२६२]

काव्यप्रकाश की 'बालबोधिनी' टीका में वामनाचार्य ने [पृ० ४४१] हयग्रीववध को नाटक बतलाया है। मैसूर से 'राजकीय ग्रन्थमाला' में प्रकाशित काव्यप्रकाश में भी 'हयग्रीववध' का नाटक रूप में ही उल्लेख किया गया है। इसी कारण हमने भी अपनी काव्य प्रकाश की टीका में नाटक रूप में ही उसका निर्देश कर दिया है। किन्तु 'शृंगारप्रकाश', 'काव्यानुशासन' आदि प्राचीन ग्रन्थों से विदित होता है कि यह नाटक नहीं, अपितु 'सर्गबन्ध' महाकाव्य है। हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन' में [अ० ८ पृ० ३३७] 'संस्कृतभाषानिबद्धसर्गबन्धं हयग्रीववधादि' लिख कर ग्रन्थकार ने इसे स्पष्ट रूप से श्रव्य काव्य ही सूचित किया है। भोजदेव के 'शृंगारप्रकाश' में भी 'हयग्रीववध' का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है। वहाँ भी इसे महाकाव्य ही माना है। 'शृंगारप्रकाश' के कुछ स्थल, जिनमें 'हयग्रीववध' की चर्चा की गई है निम्न प्रकार हैं—

"हयग्रीववधादयो महादेवादीनामैतिहासिकं चरितमावेदयन्ति।"

[शृङ्गारप्रकाश प्र० १२, पृ० १६८]

"आसीद् दैत्यो हयग्रीवः........" [शृं० प्र० ११, पृ० १४८]

रात्रिवर्णनं किरातजुर्नीय-कुमारसम्भव-शिशुपालवध-हयग्रीववधादौ।"

[शृङ्गारप्रकाश प्र० ११, पृ० १५२]

यस्मिन् इतिहासार्थानपेशलान् पेशलान् कविः कुरुते।
स हयग्रीववधादिप्रबन्ध इव सर्गबन्धः स्यात्।।"

[शृङ्गारप्रकाश प्र० पृ० १५६]

कवि क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्त तिलक' [३, १६] में सर्गबन्ध महाकाव्य के आरम्भ में अनुष्टुप के प्रयोग का उदाहरण देते हुए हयग्रीववध का 'आसीद् दैत्यो हयग्रीवः' इत्यादि पद्य उद्धृत किया है। इससे भी प्रतीत होता है कि 'हयग्रीववध' नाटक नहीं, काव्य है।

श्री मङ्खक कवि ने अपने 'श्रीकण्ठचरित' में अत्यन्त श्रद्धा के साथ भर्तृमेण्ठ कवि का उल्लेख करते हुए लिखा है—

मेण्ठे स्वर्द्विरदाधिरोहिणि, वशं याते सुबन्धौ विधेः
शान्ते हन्त च भारवौ, विघटिते बाणे विवादस्पृशः।
वाग्देव्या विरमन्तु यत्र विधुरा द्राग् दृष्टयश्चेष्टते
शिष्टः कश्चन् स प्रसादयति तां यद्वाणि सद्वाणिनी।।

ऐसे महाकवि थे भर्तृमेण्ठ, जिनका यशोगान संस्कृत साहित्य के अनेकानेक कवियों ने मुक्तकण्ठ से किया है। किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट की दृष्टि में मेण्ठकवि जंचे नहीं। उन्होंने दो तीन जगह मेण्ठकवि का उल्लेख किया है पर वह प्रशंसा-व्यंजक नहीं है। सबसे पहिले काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में उन्होंने सबसे निकृष्ट चित्र काव्य का जो उदाहरण दिया है वह हयग्रीववध में से खोज कर निकाला है—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्
भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम्।
स-सम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला
निमीलिताक्षीव भियामरावती।।

यह श्लोक टीकाकारों के अनुसार भर्तृमेण्ठ के 'हयग्रीववध' से लिया गया है। श्लोक में कवि ने यह भाव प्रस्तुत किया है कि जिस समय हयग्रीव अपने प्रासाद से केवल घूमने के लिए ही निकलता था और उसका समाचार यदि इन्द्र को पता चल जाता था तो इन्द्र इतना भयभीत हो उठता था कि सैकड़ों नौकर-चाकरों के होते हुए भी भाग कर अपनी नगरी अमरावती का फाटक बन्द कर देता था, और उस फाटक के बन्द होने पर कवि यह उत्प्रेक्षा करता है कि मानो हयग्रीव के डर के कारण अमरावती नायिका ने अपनी आंखें मीच ली हैं।

हयग्रीव के प्रभावातिशय का वर्णन कवि ने कितने सुन्दर ढंग से किया है। नगरी का द्वार बन्द करने के लिए इन्द्र की उतावली, और अमरावती के भय से आंख मीचने की उत्प्रेक्षा, इस पद्य में कुछ चमत्कार दिखला रही हैं। पर काव्यप्रकाशकार ने उसे अधम काव्य की कोटि में रखा है।

जैसा कि ऊपर पृष्ठ ५० पर उद्धृत शृङ्गारप्रकाश के उद्धरण से विदित होता है कि 'हयग्रीववध' में महादेव के ऐतिहासिक चरित का वर्णन किया गया है, हयग्रीव इसमें प्रतिनायक है। 'शिशुपालवध' आदि के समान इस काव्य का नामकरण भी नायक नहीं अपितु प्रतिनायक के नाम पर हुआ है। इसके नायक महादेव हैं। उनके द्वारा हयग्रीव का वध इसमें दिखलाया गया है। किन्तु उसके वध के पूर्व हयग्रीव के प्रतापातिशय का वर्णन बहुत विस्तार के साथ किया गया है। इसलिए काव्यप्रकाशकार ने रसदोषों के प्रसङ्ग में 'अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः' दोष के उदाहरण रूप में फिर 'हयग्रीववध' का ही उल्लेख किया है।

"अङ्गस्याऽप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनं यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य।"

[काव्यप्रकाश, ज्ञानमण्डल सं० पृ० ३६२]

इन सब उल्लेखों से प्रतीत होता है कि काव्यप्रकाश मम्मट की दृष्टि में हयग्रीववध एक नितान्त निम्न श्रेणी की कृति है। हमारे प्रस्तुत नाटच दर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र मम्मट के इस विचार से सहमत नहीं हैं। मम्मट ने हयग्रीव के जिस अतिशय वर्णन को रस दोष माना है, रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने उसे दोष न मान कर रस का उत्कर्षाधायक गुण माना है। उनके मत में हयग्रीव के अतिशय वर्णन को यदि दोष ही कहा जाय तो वह 'वृत्त-दोष' अर्थात् कथा का दोष हो सकता है, रस का दोष नहीं। रस की दृष्टि में तो वह वर्णन वीररस का उत्कर्षाधायक ही है अपकर्षकारक नहीं। इसी प्रसङ्ग में 'नाटचदर्पण' में केवल एक वार हयग्रीववध का उल्लेख नाट्यदर्पणकार ने किया है। मम्मट ने जिसे 'अङ्गस्याप्यतिविस्तृति' दोष कहा है उसे नाट्यदर्पणकार ने 'अङ्गौग्य' नाम से निर्दिष्ट किया है। इसके उदाहरण रूप में उन्होंने 'कृत्यारावण' से जटायुवध, लक्ष्मण-शक्तिभेद, सीताविपत्ति-श्रवण आदि से उत्पन्न वार-वार वर्णित करुण रस के अतिशय को प्रस्तुत किया है, और उसके बाद काव्यप्रकाशकार के मत का खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"केचिदत्र हयग्रीववधे हयग्रीववर्णनमुदाहरन्ति। स पुनर्वृत्तदोषो वृत्तनायकस्याल्पवर्णनात्। तत्र हि वीरो रसः, स विशेषतो वध्यस्य शौर्यविभूत्यतिशयवर्णनेन भूष्यते।"

[नाट्यदर्पण ३-२३]

अर्थात् [काव्यप्रकाश कारकादि] कुछ लोग 'हयग्रीववध' में हयग्रीव के वर्णन को इस 'अङ्गौग्य' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं, किन्तु वह वृत्त-अर्थात् कथा भाग का दोष है, क्योंकि कथा के नायक का वर्णन उसमें कम किया गया है। वह रस का दोष नहीं है। क्योंकि उस 'हयग्रीववध' का मुख्य रस वीर रस है, और वध्य के शौर्य, वीर्य, विभूति आदि के अतिशय वर्णन से उस मुख्य वीर रस का उत्कर्षाधान ही होता है, अपकर्ष नहीं। इसलिए हयग्रीव का अतिशय वर्णन रस दोष नहीं कहा जा सकता है। यह नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र की सम्मति है।

भर्तृमेण्ठ अपनी रसवती रचना के लिए ही तो इतने प्रसिद्ध हैं। यदि वे मम्मट के अनुसार केवल अधम चित्रकाव्य के निर्माता होते तो क्या उन्हें इतनी प्रसिद्धि प्राप्त हो सकती है ? और क्या राजशेखर जैसे मनस्वी कवि का सिर जो कि अपने को वाल्मीकि का अवतार मानता है भर्तृमेण्ठ के सामने श्रद्धा से झुक सकता था। और क्या उस नीरस अधम काव्य को सुनकर ही 'आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः' की उक्ति चरितार्थ हो सकती थी ? ये सब उक्तियां भर्तृमेण्ठ की इस महती रचना की अपूर्व रसवत्ता की परिचायिका हैं। मम्मट ऐसे आलोचक हैं, जो अपनी 'दोषदृष्टि' के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध या बदनाम हैं। अपनी इसी 'दोष दृष्टि' के कारण 'हयग्रीव वध' में उन्हें सर्वत्र दोष ही दोष दिखलाई दिए हैं। पर राजशेखर, पद्मगुप्त, बिल्हण आदि अन्य कवियों एवं आलोचकों की दृष्टि में भर्तृमेण्ठ एक 'रससिद्धः कवीश्वरः' है। ऊपर 'राजतरंगिणी' से मातृगुप्त तथा भर्तृमेण्ठ की जिस कथा का उल्लेख किया गया है वह भी इसी बात की पुष्टि करती है। 'लावण्यनिर्याणधिया तदधः स्वर्णभाजनम्' की बात भी तो हयग्रीववध की अतिशय रसवत्ता को ही सूचित कर रही है। बड़ोदा से प्रकाशित 'उदय सुन्दरी कथा' में उसके निर्माता कायस्थ कवि सोड्ढल ने भी तो भर्तृमेण्ठ की इस 'रससिद्धता की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"स कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे
प्रसिद्धनामा भुवि भर्तृमेण्ठः।
रसप्लवेऽपि स्फुरति प्रकामं,
वर्णेषु यस्योज्ज्वलता तथैव ॥"

इस प्रकार के बहुप्रशंसित, बहुचर्चित और बड़े बड़े कवियों के श्रद्धाभाजन भर्तृमेण्ठ की एकमात्र कृति को अधम काव्य की श्रेणी में रखना और उससे रसदोषों का अनुसन्धान करना मम्मट की केवल दोषदृष्टि की विशेषता को ही प्रख्यापित करता है। भर्तृमेण्ठ तो अब भी 'कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे'—कविता के अपूर्व चित्रकार हैं। जिनके चित्र में 'रसप्लवेऽपि' रस का प्रवाह भरा होने पर भी, और दूसरे पक्ष में पानी पड़ जाने पर भी 'स्फुरति प्रकामं वर्णेषु यस्योज्ज्वलता तथैव' वर्णों की, और दूसरे पक्ष में चित्र के रंगों की चमक वैसी ही बनी रहती है तनिक भी मलिन नहीं हो पाती है।

उपसंहार

यह ३५ नाटकों और काव्यों का परिचय हमने यहाँ उपस्थित किया है। इन ग्रन्थों का उल्लेख संस्कृत साहित्य के अनेकानेक ग्रन्थों में पाया जाता है। आज से ८०० वर्ष पूर्व १२वीं शताब्दी में नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र के समय में ये ग्रन्थ उपलब्ध थे। ग्रन्थकार ने उनमें से अनेक उद्धरण स्वयं दिए हैं। परन्तु आज तक ये ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुए हैं। सम्भवतः उपलब्ध भी नहीं हुए हैं। अन्यथा उनका प्रकाशन अवश्य होता। इतने सुप्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का इस ८०० वर्ष के बीच में सर्वथा लोप हो जाना आश्चर्य की बात है, या फिर उनकी अब तक उपलब्धि न होना हमारे प्रमाद की सूचक है। नाट्यदर्पणकार ने इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का नाम और परिचय हमको दिया, इसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। अब इनकी खोज करना और उनके प्रकाशन की व्यवस्था करना हमारा काम है। आशा है विद्वज्जन इस दिशा में विशेष रूप से प्रयत्न करेंगे ताकि उनकी उपलब्धि सर्वसाधारण को हो सके।

विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि
आचार्य
गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन

बसन्त पञ्चमी, सं० २०१७
जनवरी १९६१

सम्पादकीय

(क) नाटयदर्पण में रूपकेतर काव्यशास्त्रीय प्रसंग

नाट्यदर्पण अपने नाम के अनुरूप नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जिसे ग्रन्थकारों ने चार विवेकों में विभक्त किया है। इन्होंने रूपक के दश भेदों में नाटिका और प्रकरणी को जोड़कर इसके कुल बारह भेद स्वीकार किये हैं। इन जैन लेखकों ने इतनी संख्या शायद इसलिए गिनायी है कि 'जैनी' वाणी के भी १२ रूप माने गये हैं। ग्रन्थ के प्रथम विवेक में 'नाटक' नामक प्रथम रूपक-भेद का स्वरूप एवं विवेचन प्रस्तुत किया है और द्वितीय विवेक में 'प्रकरण' आदि शेष ग्यारह भेदों का। तृतीय विवेक में रसवृत्ति, रस, रस-दोष तथा अभिनय का विवेचन है तथा चतुर्थ विवेक में रूपकोपयोगी अन्य सामग्री का, जिसके अन्तर्गत नायक-नायिका भेद को भी स्थान मिला है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में रूपक-सम्बन्धी प्रचलित सामग्री को एकत्र निरूपित, व्यवस्थित एवं विवेचित किया गया है। कलेवर की दृष्टि से सर्वाधिक स्थान ग्रन्थ के प्रमुख विषय रूपक को ही मिला है। इस दृष्टि से दूसरा स्थान रस का है और तीसरा स्थान नायक-नायिका भेद का। उक्त विषयों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में कतिपय अन्य विषयों पर भी आनुषंगिक रूप से प्रकाश पड़ गया है, जैसे— काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, कवित्व-महिमा, अलंकार, वक्रोक्ति, औचित्य, अनौचित्य, दोष आदि। इस लेख में रूपक के अरिरिक्त प्रायः सभी प्रसंगों पर ग्रन्थकारों का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा।

१. काव्यप्रयोजन

इस ग्रन्थ में काव्यप्रयोजन-प्रसंग को स्वतन्त्र स्थान नहीं मिला। ग्रन्थ के निम्नोक्त मंगलाचरण—

> चतुर्वर्गफलां नित्यां जैनीं वाचमुपास्महे।
> रूपैर्द्वादशभिर्विश्वं यया न्याय्ये धृतं पथि॥

—में ग्रन्थकारों ने 'जैनी' वाणी की उपासना करते हुए इसे चतुर्वर्ग-फल-प्रदायिनी कहा है और अपनी वृत्ति में इस फल को अभिनेय वाक्य अर्थात् दृश्यकाव्य के साथ भी सम्बद्ध किया है। इस सम्बन्ध में उनका मन्तव्य इस प्रकार है :

१. दृश्य काव्य द्वारा धर्म, अर्थ और काम ये तीनों फल तो प्राप्त होते ही हैं, इससे मोक्ष-प्राप्ति भी होती है।

२. मोक्ष-प्राप्ति का एक कारण तो यह है कि इससे सहृदय को शिक्षा मिलती है कि रामादि के समान आचरण का ग्रहण करना चाहिए और रावणादि के समान आचरण का त्याग। दूसरा कारण यह है कि धर्म नामक पुरुषार्थ की स्वीकृति कर लेने पर इसके द्वारा परम्परा-रूप से मोक्ष-प्राप्ति भी सम्भव है।[1] हाँ मोक्षप्राप्ति रूप फल धर्म की अपेक्षा गौण फल होता है।[2]

---

१. अथाभिनेयवाक्यपरतया श्लोकोऽयं व्याख्यायते। यद्यपि साक्षाद् धर्मार्थकामफलान्येव नाटकादीनि तथापि 'रामवद् वर्तितव्यं न रावणवद्' इति हेयोपादेयहानोपादानपरतया, धर्मस्य च मोक्षहेतुतया मोक्षोऽपि पारम्पर्येण फलम्। —हिन्दी नाटचदर्पण पृष्ठ ११

२. मोक्षस्तु धर्मकार्यत्वात् गौणं फलम्। —वही, पृष्ठ २१

३. 'जैनी' वाणी के अनुरूप काव्य के द्वारा भी इन पुरुषार्थों में से रचयिता अथवा पाठक को वही फल प्रधानता से प्राप्त होता है जो उसे अभीष्ट होता है और शेष फल उसे गौण रूप से मिलते हैं।[1]

४. 'जैनी' वाणी से तात्पर्य काव्य-नाटक भी लिया जा सकता है, क्योंकि यह वाणी (रचना) भी 'जिनों' अर्थात् राग आदि के विजेताओं—काव्यनाटककारों—की होती है।[2]

काव्यप्रयोजनों में पुरुषार्थचतुष्टय को सर्वप्रथम भामह ने स्थान दिया था और इनके उपरान्त रुद्रट और कुन्तक ने। अग्निपुराणकार ने मोक्ष को छोड़ कर शेष त्रिवर्ग को ही काव्य-प्रयोजन माना था। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के उपरान्त विश्वनाथ ने भी पुरुषार्थ-चतुष्टय को काव्य-प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया। इन चारों में से अर्थप्राप्ति ऐसा प्रयोजन है, जिस पर कोई विवाद नहीं किया जा सकता। 'धर्म' से तात्पर्य यदि 'धार्यते इति धर्मः' अर्थात् शुभ कर्तव्य का पालन है, तो यह काव्य का साक्षात् प्रयोजन न होकर असाक्षात् प्रयोजन है। कर्तव्य वस्तुतः उस कर्म का नाम है जिसे हम दूसरों की प्रेरणा अथवा उपदेश द्वारा करते हैं तथा दूसरों के उपकार के लिए करते हैं, किन्तु काव्य-सर्जन अन्तःप्रेरणा से प्रसूत होने के कारण न तो दूसरों की प्रेरणा अथवा उपदेश की अपेक्षा रखता है और न इसके द्वारा दूसरों का उपकार करना कवि का प्रमुख उद्देश्य होता है। और यदि 'धर्म' से तात्पर्य 'पुण्यफल-प्राप्ति' लिया जाए तो इसे आज के बुद्धि-वादी युग का मानव स्वीकार नहीं करेगा। ठीक यही स्थिति 'मोक्ष' नाम काव्यप्रयोजन की भी माननी चाहिए, क्योंकि स्वयं ग्रन्थकार ने धर्म और मोक्ष में कारण-कार्य सम्बन्ध स्वीकार किया है। शेष रहता है एक पुरुषार्थ—'काम' अर्थात् अभीष्ट फल की प्राप्ति। 'काम' शब्द से यदि मानवीय रागात्मक भावों की इच्छापूर्ति यह अभिप्राय लिया जाए तो इसे प्रकारान्तर से अलौकिक आनन्द-प्राप्ति का पर्याय मान सकते हैं जिसे मम्मट ने 'सद्यःपरनिर्वृति' नाम दिया है। वस्तुतः यही फल काव्य का प्रमुख एवं अभीष्ट प्रयोजन है। किन्तु नाट्यदर्पण में इसे स्पष्ट शब्दों में स्थान नहीं मिला।

इस ग्रन्थ के इस प्रसंग में उपर्युक्त एक विशेषता उल्लेखनीय है कि जो सहृदय जिस फल-प्राप्ति के लिए काव्य-निर्माण अथवा काव्य-पठन करता है उसे वही फल तो प्रमुख रूप से मिलता है और शेष फल गौण रूप से। निस्सन्देह उनकी यह धारणा अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में देखने को नहीं मिलती। किन्तु 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' इस कथन पर भी आज का बुद्धिवादी मानव पूर्ण आस्था एवं विश्वास नहीं रखता। दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इन्होंने काव्य-नाटक की रचना को भी 'जैनी' वाणी इसलिए कहा है कि यह राग आदि के विजेताओं की वाणी होती है। ग्रन्थकारों ने यद्यपि श्लेष के बल पर ही यह खेंचतान करने का प्रयास किया है, किन्तु उनकी यह धारणा निस्सन्देह मान्य है। काव्य-नाटक प्रणेता इनके प्रणयन के समय सांसारिक राग-द्वेष, सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठ चुका होता है। चित्त की एकाग्रता के बिना वह कवि-कर्म भी नहीं कर सकता। समाधि की अवस्था अथवा वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता इस कर्म के लिए नितान्त अनिवार्य है। तटस्थता इस कर्म की आधारशिला है। यही कारण है कि किसी उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर रचित ग्रन्थ अथवा काव्य-नाटक वास्तविक 'काव्य' कहाने के अधिकारी नहीं होते। ऐसे काव्यों से साम्प्रदायिकता अथवा 'प्रापेगण्डा' के दुर्गन्ध की लपटें उठा करती हैं।

---

१. इष्टलक्षणत्वाच्च फलस्य यो यस्य पुरुषार्थोऽभीष्टः स तस्य प्रधानम्। —वही, पृष्ठ ६

२. जिनानां रागादिजेतॄणां लक्षणप्रणयनापेक्षेयं 'जैनी'। —वही, पृष्ठ ११

२. काव्यहेतु

संस्कृत काव्यशास्त्रियों में से जिन्होंने काव्यहेतुओं का निरूपण किया है उनमें से दण्डी वामन, रुद्रट, कुन्तक और मम्मट का नाम उल्लेख्य है। मम्मट ने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों का सारग्रहण करते हुए केवल तीन काव्यहेतु निर्दिष्ट किये थे—शक्ति, निपुणता और अभ्यास। नाटयदर्पण के रचयिताओं ने इस ओर स्पष्ट संकेत नहीं किया। ग्रन्थारम्भ में काव्यनाटय-निर्माण पर चलता-सा प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि 'जो कवि निर्धन से लेकर राजा तक की 'औचिती' अर्थात् उनके सामान्य व्यवहार से अवगत न होते हुए भी काव्य-निर्माण की कामना करते हैं, वे विद्वज्जनों के उपहास के पात्र बनते हैं—

> **आरङ्काद् भूपतिं यावदौचितीं न विदन्ति ये।**
> **स्पृहयन्ति कवित्वाय, खेलनं ते सुमेधसाम्॥ १।८**

तथा जो नाटककार न तो गीत, वाद्य, नृत्य आदि जानते हैं, न लोकस्थिति से परिचित हैं, और न प्रबन्धों अर्थात् नाटकों का अभिनय ही कर सकते हैं वे भी नाटक-रचना करने के अधिकारी नहीं है—

> **न गीतवाद्यनृत्तज्ञाः, लोकस्थितिविदो न ये।**
> **अभिनेतुं च कर्तुं च प्रबन्धांस्ते बहिर्मुखाः॥ १।४**

उपर्युक्त दोनों पद्यों में दो काव्यहेतुओं की प्रकारान्तर से चर्चा हुई है : गीत, वाद्य, नृत्त (नृत्य) अभिनय आदि का क्रियात्मक ज्ञान तथा रंक से राजा-पर्यन्त लोक-व्यवहार से परिचिति। इन दोनों हेतुओं को रुद्रट और कुन्तक के शब्दों में अधिकांश सीमा तक 'व्युत्पत्ति' कह सकते हैं और मम्मट के शब्दों में 'निपुणता'। पूर्ण सीमा तक इसलिए नहीं कि इन आचार्यों ने 'व्युत्पत्ति' और 'निपुणता' के अन्तर्गत लोक-व्यवहारज्ञान के अतिरिक्त काव्यग्रन्थों एवं काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का पठन-पाठन भी सम्मिलित किया है। अस्तु ! रामचन्द्रगुणचन्द्र के उपर्युक्त कथन से यह न समझना चाहिए कि उन्हें केवल 'व्यवहार-ज्ञान' को ही काव्यहेतु मानना अभीष्ट होगा और शेष दो को, प्रतिभा और अभ्यास को, नहीं। जैसे कि ऊपर कह आये हैं उनका उद्देश्य काव्यहेतुओं का निरूपण करना नहीं था, केवल कवित्व-महिमा प्रकरण में उन्होंने इस प्रसंग की चर्चामात्र कर दी है। निस्सन्देह शक्ति अथवा प्रतिभा काव्य-रचना का अनिवार्य हेतु है, और लोकज्ञान तथा इसके साथ साथ 'अभ्यास' गौण हेतु हैं, किन्तु इन दोनों से शक्ति का परिष्कार एवं संस्कार होता है—यह भी असन्दिग्ध रूप से सत्य है :

> **प्रतिभाऽस्य हेतुः। व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या।**
> **—काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), पृष्ठ ६**

३. कवित्व-महिमा

विद्वज्जनों को शास्त्रज्ञान के साथ कविकर्म में भी निपुण होना चाहिए, इस सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में इन शब्दों में चर्चा की गयी है—जिस प्रकार लावण्य नारी का प्राण है उसी प्रकार कवित्व सफल विद्याओं का प्राण है। यही कारण है कि तीनों विद्याओं अर्थात् तीनों वेदों के ज्ञाता भी सर्वदा कवित्व-निर्माण की अभिलाषा रखते हैं। सत्य तो यह है कि कवित्व-निर्माण का अभाव विद्वानों के लिए एक ऐसा कलंक है जैसा कि नासिका के ऊपर कोढ़ का होता है, अथवा यह अभाव ऐसा है जैसे किसी मृगनयनी के शरीर पर कुचों का अभाव हो। [और शायद इसी कलंक

एवं अभाव से बचने के लिए] कई लोग अन्य कवियों के काव्यों द्वारा कवि बनना चाहते हैं । किन्तु यह प्रवृत्ति तो उक्त कलंक की भी चूलिका अर्थात् वर्द्धक है[1] ।

उक्त प्रसंग से दो विषय हमारे सामने आते हैं—अन्य शास्त्रज्ञान के साथ-साथ कविकर्म का भी अपेक्षित रहना तथा चौरकवि की निन्दा ।

अन्य शास्त्रज्ञान के साथ कविकर्म में भी नैपुण्य होना किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व में निस्सन्देह शोभावृद्धि का कारण बन सकता है, पर इसके अभाव में किसी के व्यक्तित्व में न तो कलंक लगने की सम्भावना करना समुचित है; और न ही कवित्व को सकल विद्याओं का प्राण समझना । शास्त्र-ज्ञान बुद्धि एवं मस्तिष्क का व्यापार है और कवि-कर्म हृदय का । अतः शास्त्रीय चर्चा और कवित्व में एक दूसरे का पुट दे देने से इनमें से किसी का भी यथावत् एवं सम्यक् रूप उपस्थित नहीं होता । क्योंकि कवित्व में कल्पना एक अनिवार्य तत्त्व है और उधर शास्त्रीय चर्चा तथा कल्पना का पारस्परिक विरोध है । इस आधार पर निस्संकोच कहा जा सकता है कि शास्त्रवेत्ता को अपने सिद्धान्तों का निरूपण, प्रतिपादन अथवा सम्पादन करते समय कविकर्म की नितान्त अपेक्षा नहीं रहती । यदि कविकर्म से तात्पर्य पद्य-निर्माण है तो यह तात्पर्य संकुचित सीमित एवं एकदेशीय होने के कारण यथार्थ नहीं है, और न ही रामचन्द्र-गुणचन्द्र को सम्भवतः यही तात्पर्य अभीष्ट होगा । अतः कवित्व को सकल विद्याओं का 'प्राण' समझना अनुचित है । यदि कविकर्म से तात्पर्य 'पद्य-निर्माण' ले भी लिया जाए तो भी मुद्रण-यन्त्र के इस युग में हर शास्त्रीय अथवा लौकिक चर्चा को पद्य-बद्ध रूप में प्रस्तुत करना हास्यास्पद एवं अवाञ्छनीय है । हाँ, यदि कोई शास्त्रवेत्ता कवि भी है तो यह विशिष्टता जैसे कि ऊपर कह आए हैं उसके व्यक्तित्व में शोभा-वृद्धि का कारण बन जाएगी, किन्तु इसका अभाव उसके कलंक का कारण किसी भी रूप में नहीं है ।

चौरकवि की निन्दा जितनी की जाए थोड़ी है । दूसरों की रचना को अपनी बताने वाला तो चोर है ही, किन्तु दूसरों का भावापहरण करके उसे अपने शब्दों में प्रस्तुत करने वाला तो पहले प्रकार के चौर कवि की अपेक्षा कहीं अधिक दम्भी है, अतः अधिक अपराधी और निन्दनीय है । ऐसे 'कवियों' की निन्दा अनेक रूपों में की गयी है । इस सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों में राजशेखर के और कवियों में बाणभट्ट के कथन प्रायः उद्धृत किए जाते हैं । इस ग्रन्थ के हिन्दी व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर ने राजशेखर के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं (दे० पृष्ठ ६) बाणभट्ट ने चौरकवियों की भर्त्सना हुए कहा है :

अन्यवर्णपरावृत्त्या बन्धचिह्ननिगूहनैः ।
अनाख्यातः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते ।।

हर्षचरितम् १।६

१, प्राणः कवित्वं विद्यानां लावण्यमिव योषिताम् ।
त्रैविद्यवेदिनोऽप्यस्मै ततो नित्यं कृतस्पृहाः ।।
नासिकान्ते द्वयं श्वित्रं द्वयोर्व्रीडा रसज्ञयो। ।
कुचाभावः कुरङ्गाक्ष्याः काव्याभावो विपश्चितः ।।
अकवित्वं परस्तावत् कलङ्कः; पाठशालिनाम् ।
अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलङ्कस्यापि चूलिका ।।

इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि यदि यह स्वीकार किया जाता है कि 'मौलिकता' नाम का तत्त्व नितान्त दुर्लभ है, तो भावसाम्य के आधार पर किसी की भर्त्सना क्यों की जाए ? भावसाम्य का एक कारण तो मानव-मन का ऐक्य है। विभिन्न देश और काल में वर्तमान व्यक्तियों ने जो कि प्रत्येक दृष्टि से एक दूसरे से अप्रभावित हैं एक ही प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। निस्सन्देह इस प्रकार का भावसाम्य उपस्थित करने वाला व्यक्ति किसी भी रूप में अपराध तथा निन्दा का पात्र नहीं है। कभी कोई बात, कोई घटना अथवा कोई विचार पढ़ा-सुना जाने पर हमारे हृदय के किसी कोने पर जा पड़ता है और फिर कभी परिस्थितिवश जागृत होकर अनायास वाणी अथवा लेखनी द्वारा निःसृत हो जाता है और भाव-साम्य का कारण बन जाता है। किन्तु इस प्रकार की साम्यता पर मानव का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि न तो वह दूसरों के विचारों को अपने मन में संस्कार रूप में प्रसुप्त होने से रोक सकता है और न ही उन्हें अभिव्यक्त होने से। कभी हम दूसरों के विचारों को पढ़ और सुनकर उन्हें नवीन एवं व्यवस्थित रूप में प्रतिपादित करने के लिए लालायित हो उठते हैं और उन्हें निबन्ध, कविता, नाटक, कहानी उपन्यास आदि के रूप ढाल देते हैं। निस्सन्देह यह प्रक्रिया भी निन्दनीय नहीं है, क्योंकि इससे पूर्व भावों को नवीन दिशा मिलती है, हमारी, कल्पना का संयोग पा कर ये भाव कहीं अधिक स्पष्ट, विशद, ग्राह्य एवं प्रभावशाली बन जाते हैं। इस पुनराख्यान-प्रक्रिया को चाहें तो मौलिकता का नाम भी दे सकते हैं। पूर्वज्ञात भाव हमारी कल्पना का योग पाकर यदि नवीन रूप में प्रतिपादित हो जाएं तो इसे 'मौलिकता' मान लेने में अधिक आपत्ति भी नहीं होनी चाहिए। अब केवल शेष एक रूप रह जाता है जो अत्यन्त भर्त्सनीय है, वह है—दूसरे के भावों का बाह्य कलेवर बदल देना, दूसरे के शब्दों के स्थान पर अपने शब्दों और दूसरों की वाक्यवली के स्थान पर अपनी वाक्यवली को रखते चले जाना और इस दम्भ की आड़ में कवि और विचारक कहलाना। यह प्रवृत्ति पूर्णतः त्याज्य है।

४. अलंकार

ग्रन्थ के मूल भाग में निम्नोक्त स्थलों पर अलंकार की चर्चा हुई है :

१. कथा आदि का मार्ग अलंकारों द्वारा कोमल होने के कारण सुखपूर्वक संचरणीय है, किन्तु नाटक का मार्ग रस की कल्लोलों से परिपूर्ण होने के कारण अत्यन्त कठिन है।[1]

२. वह वाणी जो श्लेष अलंकार से युक्त होने पर भी रसप्रवाह से रहित होने के कारण कठोर होती है वह [भोक्ता के] मन को उस प्रकार प्रफुल्लित नहीं करती जिस प्रकार दुर्भग [अर्थात् यौन रस न निकलने के कारण कठोर भग वाली] स्त्रियाँ [पुरुषों को आह्लादित नहीं करतीं]।[2]

३. नाटक नामक रूपक में अलंकारों द्वारा रस का गलन अर्थात् स्खलन अथवा भंग नहीं होना चाहिए :[3] **अलंकारकथाङ्गै रगलद्रसम्। १।१५।**

---

१. **अलंकारमृदुः पन्थाः कथादीनां सुसञ्चरः।**
दुःसञ्चरस्तु नाट्यस्य रसकल्लोलसंकुलः॥ १।३

२. **श्लेषालंकारभाजोऽपि रसानिस्यन्दकर्कशाः।**
दुर्भगा इव कामिन्यः प्रीणन्ति न मनो गिरः॥ १।७

उक्त स्थलों के अतिरिक्त निम्नोक्त दो अन्य स्थलों में अलंकार की चर्चा साक्षात् न हो कर असाक्षात् रूप से हुई है :

१. जो कवि (नाटककार) नानाविध शब्द तथा अर्थ के लौल्य (चमत्कार) के कारण रस रूप अमृत से पराङ्मुख हो जाते हैं वे विद्वान् होते हुए भी उत्तम कवियों की गणना में नहीं आते ।[1]

२. काव्य (नाटक) में अर्थ और शब्द की उत्प्रेक्षा (कल्पना) इतनी श्लाघ्य नहीं है जितना कि रस श्लाघ्य है । पका हुआ और सुन्दर भी आम यदि रस-शून्य हो तो [भोक्ता के मन में] उसके प्रति उद्वेजना (घृणा, अरुचि) उत्पन्न हो जाती है ।[2]

इन दोनों स्थलों में शब्द और अर्थ के लौल्य (चमत्कार) और इनकी उत्प्रेक्षा (कल्पना) से ग्रन्थकारों का तात्पर्य शब्दालंकार और अर्थालंकार से ही है ।

ग्रन्थ के मूलभाग में अन्यत्र भी 'अलंकार' शब्द का प्रयोग हुआ है, पर वहां इस शब्द से तात्पर्य है—नायिका के यौवनस्थ भाव, हाव आदि २० धर्म जो तीन रूपों में विभक्त किये गये हैं ।[3] किन्तु प्रस्तुत प्रकरण से इन अलंकारों का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ये शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर के शोभाकारक धर्म न होकर नायिका के व्यक्तित्व के शोभाकारक धर्म हैं ।

उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम उद्धरण में कथा की अपेक्षा नाटक को इस आधार पर उत्कृष्ट माना गया है कि रस के बिना भी केवल अलंकार-प्रयोग के बल पर कथा का निर्माण हो सकता है किन्तु नाटक के लिए रस एक अनिवार्य तत्त्व है । वस्तुतः यह धारणा संस्कृत के दशकुमारचरित, वासवदत्ता आदि कथा-आख्यायिका साहित्य को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत की गयी प्रतीत होती है, जिनमें अलंकारों का अतिशय प्रयोग हुआ है । इसका एक कारण पाठक की दृष्टि से था और दूसरा कारण कवि की दृष्टि से । यह साहित्य सामान्य स्तर से उच्च वर्ग के लिए निर्मित होता था । इनसे एक ओर ये पाठक अनुप्रास, यमक, श्लेष, परिसंख्या, विरोधाभास आदि से चमत्कृत होते नहीं अघाते थे, और उधर दूसरी ओर **'गद्यं कवीनां निकषः वदन्ति'** इस उक्ति के आधार पर गद्य-कार की सिद्धि एवं प्रशंसा का आधार अलंकार-प्रयोग द्वारा चमकार-प्रदर्शन समझा जाने लगा था । किन्तु उक्त धारणा वर्तमान कथा-साहित्य के लिए नितान्त उपयुक्त नहीं है । नाटक के समान इसके लिए भी रस-तत्त्व का समावेश नितान्त अनिवार्य है, और अलंकार की इसे भी विशेष अपेक्षा नहीं रहती । इसी प्रकार प्रबन्धकार और मुक्तककार कवियों में भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसी प्रकार का ही अन्तर निर्देश[4] किया है जो कि युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता ।

---

१. नानार्थशब्दलौल्येन पराञ्चो ये रसामृतात् ।
विद्वांसस्ते कवीन्द्राणामर्हन्ति न पुनः कथाम् ॥ ना० द० १।६

२. न तथार्थशब्दोत्प्रेक्षाः श्लाघ्याः काव्ये यथा रसः ।
विपाकक्रमप्याम्रं उद्वेजयति नीरसम् ॥ ना० द० ३।२२

३. ना० द० ४।२७,२८

४. × × × × × । योग्यतां च रसनिवेशैकव्यवसायिनः प्रबन्धकवयो विदन्ति, न पुनः शब्दार्थप्रथन-वैचित्र्यमात्रोन्मदिष्णवो मुक्तकवयः ।
हि० ना० द० पृष्ठ १९७

उक्त द्वितीय उद्धरण में रस और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए प्रकारान्तर से अलंकार को रस की अपेक्षा दो स्थितियों में अनुत्कृष्ट माना गया है :

(क) रस ही काव्य का अनिवार्य धर्म है, अलंकार नहीं,

(ख) अलंकार का अनुचित प्रयोग रसास्वाद में बाधक बनता है।

ये दोनों धारणाएं रस-सिद्धान्त के ही अनुकूल प्रस्तुत की गयी हैं।

अलंकारवादियों ने सभी काव्य-शोभाकर धर्मों को 'अलंकार' की संज्ञा देते हुए[1] किसी विशेष काव्यांग को काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकृत नहीं किया था। उनकी दृष्टि में न केवल अनुप्रास एवं उपमा आदि ही अलंकार थे, अपितु गुण, रीति, रस, ध्वनि, नाट्यवृत्ति आदि ये सभी काव्यशोभाकर होने के कारण 'अलंकार' नाम से अभिहित किये गये थे। अतः उनके अनुसार यदि किसी काव्यांग को काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकृत करना चाहें तो उसका नाम 'अलंकार' ही होगा। चाहे वह अनुप्रास-उपमा आदि का वाचक हो, अथवा गुण, रीति, रस और ध्वनि का। किन्तु इधर रसवादियों ने केवल रस को ही काव्य की आत्मा अर्थात् अनिवार्य तत्त्व स्वीकृत किया, तथा अलंकार को शब्दार्थ का आभूषक धर्म मानते हुए प्रकारान्तर से इसे रस का भी उत्कर्षक मान लिया और वह भी नित्य रूप से नहीं। नित्यरूप से अलंकार को रस का उत्कर्षक धर्म न मानने का कारण यह है कि यह शब्दार्थ का शोभावर्द्धक होते हुए भी कभी तो रस का उत्कर्ष करता है, कभी नहीं करता और कभी इसका अपकर्ष भी कर देता है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कटक-कुण्डल आदि कामिनी के शरीर के शोभवर्द्धक होते हुए उसकी मनःस्थिति के अनुसार कभी उसकी आत्मा का उत्कर्ष करते हैं, कभी नहीं करते और कभी अपकर्ष भी करते हैं।

रस और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध निर्देश-प्रसंग में अलंकारवादियों का यह मन्तव्य भी उल्लेखनीय है कि वे रस, भाव आदि को अंगीभूत और अंगभूत दोनों रूपों में स्वीकार करते हुए इन्हें निम्न रूप से 'अलंकार' में अन्तर्भूत करते थे—अंगीभूत रस को रसवद् अलंकार में, अङ्गीभूत भाव को प्रेयस्वद् में, अङ्गीभूत रसाभास एवं भावाभास को ऊर्जस्वी में, अङ्गीभूत भावशान्ति को समाहित में। इनके अतिरिक्त अङ्गीभूत भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को इन्हीं नामों के ही अलंकारों में अन्तर्भूत किया गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अङ्गभूत रस, भाव आदि सब को द्वितीय उदात्त अलंकार ही में अन्तर्भूत किया। किन्तु वस्तुतः रस, भाव आदि से जन्य चमत्कार नितान्त बाह्य न होकर नितान्त आन्तरिक है। अलंकार की रचना अनिवार्यतः कवि के सायास शब्द-योजन पर आधृत है और उसका चमत्कार नाद तथा अर्थ पर। किन्तु इधर रसपूर्ण काव्य की रचना के लिए शब्दयोजन अनिवार्य तत्त्व नहीं है, और इसका आस्वाद नाद एवं अर्थ पर आधृत न होकर व्यङ्ग्यार्थ पर आधृत है। शब्दयोजन यदि अलंकृत न भी हो, तो भी सरस रचना व्यङ्ग्यार्थ के बल पर सहृदय के लिए आस्वाद-प्रदान की क्षमता रखती है। 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इस सिद्धान्त के अनुसार यह निष्कर्ष निस्संकोच निकाला जा सकता है कि एक ओर 'अलंकार' कविनिष्ठ है तो दूसरी ओर 'रस' सहृदय-निष्ठ। मूलतः इन्हीं आधारों पर रसवादी रस को अलंकार में अन्तर्भूत करने के विरुद्ध हैं। उन्होंने रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुए अलंकार को अननिवार्य रूप में इसका उत्कर्षक धर्म मान लिया। अतः उन्होंने

---

१. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।

अङ्गीभूत रस, भाव आदि को इन्हीं नामों से ही अभिहित किया। हाँ, अङ्गभूत रस, और भाव को इन्होंने क्रमशः रसवद् और प्रेयस्वद् अलंकार नाम दिया, रसभास तथा भावाभास को ऊर्जस्वी अलंकार और भावशान्ति को समाहित अलंकार। इसके अतिरिक्त भावोदय आदि तीनों को अङ्गरूप में वर्णित होने पर इन्हीं नामों के ही अलंकारों से अभिहित किया गया। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि रसवद् अलंकारों को अनुप्रास तथा उपमा आदि के समान चित्रकाव्य का अंग न मानकर गुणीभूतव्यङ्ग्य के 'अपरस्याङ्ग' नामक भेद का अंग स्वीकार करके मम्मट ने प्रकारान्तर से यह भी संकेत किया कि ये अलंकार अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों की अपेक्षा उच्च भाव-भूमि पर अवस्थित हैं—क्योंकि इनमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ भले ही गौण हो, किन्तु अनुप्रास, उपमा आदि के समान इनमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की अस्फुटता नहीं होती। अस्तु!

रसवादी आचार्यों का अलंकार के प्रति यही दृष्टिकोण है, और इसी के ही आधार पर रामचन्द्रगुणचन्द्र की उक्त कथन में प्रकारान्तर से स्वीकृति है कि रस ही काव्य का अनिवार्य धर्म है, अलंकार नहीं।

(२)

अब रामचन्द्र-गुणचन्द्र की दूसरी धारणा को लें कि अलंकार का अनुचित प्रयोग रसास्वाद में बाधक बनता है। दूसरे शब्दों में, अलंकार का औचित्यपूर्ण प्रयोग ही रस का उत्कर्ष कर सकता है, अनौचित्यपूर्ण प्रयोग नहीं। इस सम्बन्ध में वामन, भोजराज और क्षेमेन्द्र के निम्नोक्त कथन अवलोकनीय हैं :

आभूषणों के आदर्श-प्रयोग के लिए केवल ऐसा शरीर ही अधिकारी है जो हर प्रकार से सुपात्र हो। इस दृष्टि से न तो अचेतन शव अलंकारों का अधिकारी है, न किसी यति का शरीर और न किसी नारी का यौवनवन्ध्य वपु।[1] इधर सजीव, स्वस्थ, सुन्दर शरीर पर भी आभूषणों का प्रयोग औचित्य की अपेक्षा रखता है—अंजन की कालिमा बड़ी बड़ी आँखों में ही शोभित होती है अन्यत्र नहीं, मुक्ताहार उन्नत पीन पयोधरों पर सुशोभित होते हैं अन्यत्र नहीं—

दीर्घापांगं नयनयुगलं भूषयत्यञ्जनश्रीः
तुङ्गाभोगौ प्रभवति कुचावर्चितं हारयष्टिः। स०क०भ० १।१६०

किन्तु इसके विपरीत कण्ठ में मेखला का, नितम्बफलक पर सुन्दर हार का, हाथों में नूपुरों का, चरणों में केयूरों का अवधारण कितना कुरूप, भद्दा और हास्यप्रद बनेगा यह कहने की आवश्यकता नहीं है।[2]

---

१. (क) तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकारस्य अनौचित्यात्।
(ख) वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः। का० सू० वृ० ३।१।२ (वृत्ति)

२. कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा।
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा॥
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया, नायान्ति के हास्यतां,
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते, नालंकृतिर्नो गुणाः॥
औ० वि० च०, पृष्ठ १

उन तीन कथनों से स्पष्ट है कि आभूषणों का प्रयोग जहाँ सजीव एवं सुन्दर शरीर की अपेक्षा रखता है, वहाँ औचित्य भी उसके लिए अनिवार्य तत्व है। काव्यगत अलंकारों के शोभावह प्रयोग में भी इन्हीं दोनों तत्वों की अनिवार्यता अपेक्षित है—(१) अलंकारों का सरस काव्य में प्रयोग (२) सरस काव्य में भी अलंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग। एक ओर यदि शव, यति-शरीर अथवा यौवनवन्ध्यवपु पर आभूषणों का अवधारण एक कौतुहल-मात्र है, तो दूसरी ओर नीरस काव्य में भी अलंकार-प्रयोग का अन्य नाम 'उक्तिवैचित्र्य-मात्र' है—'यत्र तु नास्ति रसः तत्र (अलंकाराः) उक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः।'[१] जिस प्रकार हाथों में नूपुरों का और चरणों में केयूरों का बन्धन समुचित नहीं है, उसी प्रकार विप्रलम्भ शृङ्गार में भी यमक आदि का बन्धन समुचित नहीं है। तात्पर्य यह कि लौकिक और काव्यगत दोनों प्रकार के अलंकारों का जीवन और उनकी अलंकारिता उचित स्थानविन्यास पर ही आश्रित है।[२] फिर भी शरीर-सौन्दर्य की अपेक्षा काव्य-सौन्दर्य अधिक संवेदनशील है। उदाहरणार्थ रकार का अनुप्रास विप्रलम्भ शृंगार के एक उदाहरण में रस का उपकार करता है तो टकार का अनुप्रास उसी ही रस के दूसरे उदाहरण में रस का उपकार नहीं करता।[३] तभी मम्मट को अलंकारों के विषय में लिखना पड़ा—**क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति।** स्पष्ट है कि एक ही रस के दो उदाहरणों में कोमल वर्ण 'रकार' और कठोर वर्ण 'टकार' की सह्यता अथवा असह्यता का उत्तरदायित्व औचित्य के ही सद्भाव अथवा अभाव पर निर्भर है।

जहाँ तक शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के पारस्परिक तारतम्य का प्रश्न है, संस्कृत का काव्यशास्त्री शब्दालंकारों के प्रयोग के अनौचित्य के विषय में अपेक्षाकृत अधिक आशंकित रहा है। यही कारण है कि दण्डी जैसे अलंकारवादी ने भी अनुप्रास और यमक के प्रति अपनी अवहेलना प्रकट की है,[४] और रुद्रट जैसे अलंकारप्रिय आचार्य ने अनुप्रास अलंकार की स्वसम्मत मधुरा, प्रौढा आदि पाँच वृत्तियों के औचित्यपूर्ण प्रयोग पर विशेष बल दिया है[५]। आनन्दवर्द्धन ने अनुप्रास-बन्ध के विषय में एक चेतावनी दी है कि 'शृंगार के सभी प्रभेदों में अनुप्रास का बन्ध सदा एक सा अभिव्यंजक नहीं हुआ करता। अतः कवि को इस अलंकार के औचित्यपूर्ण प्रयोग के लिए विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। शृङ्गार विशेषतः विप्रलम्भ शृङ्गार में यमक का (शब्दश्लेश, चित्र आदि का भी) प्रयोग कवि के प्रमाद का सूचक है।[६] कुन्तक अनुप्रासमयी रचना की अतिनिबद्धता

---

१. का० प्र०, ८ उल्लास, पृष्ठ ३०

२. (क) काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥ औ०वि०च० पृ० ४

(ख) उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः। वही पृ० ६।

३. देखिए मम्मट द्वारा उद्धृत दोनों उदाहरण—

(क) अपसारय घनसारम्…… ।

(ख) चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि…… (का० प्र० ८ म उल्लास)

४. का० द० १। ४३,४४,६१.

५. का० अ० २। ३२.

६. (क) शृङ्गारस्यांगिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेवप्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः॥ ध्व० २। १४॥

(ख) ध्वन्यात्मभूतशृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥ व० जी० २। ४.

(संकुलता-पूर्ण बद्धता) के पक्ष में नहीं है, और यदि ऐसी रचना हो भी जाए; तो उसे असुकुमार नहीं बनाना चाहिए[1]। भट्टलोल्लट (?) के मत में यमक आदि शब्दालंकार रस के अतिविरोधी हैं। इनका प्रयोग कवि के अभिमान का सूचक है, अथवा भेड़चाल के समान है।[2]

इन सब आचार्यों के अनुरूप रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी अलंकार विशेषत: श्लेष अलंकार को अपने उक्त कथन में रस के गलन अर्थात् भंग का कारण माना है[3]।

हमने देखा कि शब्दालंकारों के औचित्य को समझाते-समझाते संस्कृत का आचार्य कहीं कहीं उनका विरोध और निषेध तक कर बैठा है। पर अर्थालंकारों के प्रयोग का निषेध वह किसी अवस्था में करने को उद्यत नहीं है। वह इन्हें स्वस्थ रूप में देखना चाहता है। अलंकार का स्वस्थ रूप है—रस, भाव आदि का अंग बन कर रहना।[4] उसे यह रूप देने के लिए एक प्रबुद्ध कवि को विशेष प्रकार के समीक्षण की सदा अपेक्षा रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अर्थालंकारों का प्रयोग करते चले जाना कवि की स्वेच्छा पर भी निर्भर नहीं है। ये ध्वनि के उपकारक तभी समझे जाएंगे, जब ये रस में दत्तचित्त, प्रतिभावान् कवि के सामने हाथ जोड़े चले आएं,[5] अर्थात् किसी प्रयत्न के बिना रचना में रसानुकूल समाविष्ट होकर स्वयं कवि को भी आश्चर्यचकित कर दें। निष्कर्ष यह कि अर्थालंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की कसौटी है—अपृथग्यत्न-रूप से रसानुकूलता की प्राप्ति—

> **रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धश्शक्यक्रियो भवेत्।**
> **अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ ध्वन्या २। १६।**

और यदि शब्दालंकारों का भी, रसोपयोगी बन कर अपृथग्यत्न-रूप से, रचना में स्वत:समावेश सम्भव होता, तो संस्कृत के आचार्यों ने अर्थालंकारों के समान इन्हें भी निश्चित ही समान महत्त्व दे दिया होता।

अर्थालंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग करने के लिए आनन्दवर्द्धन ने निम्न साधनों में से किसी एक का आश्रय लेने की सम्मति दी है[6]—

(१) अंगीभूत रस के प्रति रूपक आदि अलंकारों का सदा अंगरूप से विवक्षा करना।

(२) अंगीरूप में अलंकारों की विवक्षा कभी न करना।

(३-४) अवसर पर इनका ग्रहण अथवा त्याग करना।

---

१. **नातिनिबन्धविहिता, नाप्यपेशलभूषिता। व० जी० २। ४।**

२. **यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदो तिरसविरोधिन्य-। अभिमानमात्रमेतद् गड्डुरिकादि प्रवाहो वा॥ का० अनु० (हेम) पृष्ठ**

३.

४. **रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।**
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥ ध्व० पृ० १२२।

५. **अलंकारान्तराणि—रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति। (ध्वन्या० २। १६। वृत्ति)**

६. **ध्वन्या० २। १८,१९।**

(५) आरम्भ करके उसे अन्त तक निभाने का प्रयत्न न करना ।

(६) यदि अनायास आद्यन्त निर्वाह हो भी जाए तो उसे अंगरूप में रसपोषक बनाने का यत्न करना ।

उपर्युक्त साधनों में से प्रथम दो तो एक ही हैं । पाँचवें साधन का तीसरे और चौथे में तथा छठे का पहले में अन्तर्भाव हो सकता है । इन सब का कुल मिलाकर उद्देश्य यह है कि रचना में अलंकारों को रस के अंग रूप में ही स्थान दिया जाए, प्रधान रूप में कभी नहीं, और ऐसा करने के लिए कवि समीक्षा-बुद्धिसे काम ले, तभी अर्थालंकार अपनी यथार्थता को प्राप्त कर सकेंगे—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशतः ।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ।। ध्व० २ । १७ ।।

५. गुण

रस और गुण के परस्पर-सम्बन्ध का निर्देश करते हुए एक स्थान पर ग्रन्थकार लिखते हैं कि 'व्यायोग' नामक रूपक में वीर, रौद्र आदि दीप्त रसों की स्थिति होती है । अतः इस में गद्य तथा पद्य दोनों ओजगुण-युक्त होने चाहिएं : **दीप्तानां वीररौद्रादीनां रसानामाश्रयः । अतएवात्र गद्यं पद्यं चौजोगुणयुक्तम् ।'** (हि० ना० द० पृष्ठ० २२१)

आनन्दवर्द्धन तथा उनके अनुयायियों के अनुसार गुण का रस के साथ दोहरा सम्बन्ध होता है—एक सम्बन्ध प्रधान है और दूसरा गौण । प्रधान सम्बन्ध का आधार सहृदय की चित्तवृत्ति है, और गौण सम्बन्ध का आधार वर्ण, पद और अर्थ हैं । अतः गुण प्रधानतः रस का धर्म है और गौणतः वर्णादि का[1] ।

(१) रस के साथ गुण का प्रधान सम्बन्ध होता है । इसका यह तात्पर्य है कि शृंगार, करुण आदि कोमल रसों में चित्त की द्रुति होने के कारण माधुर्य गुण की स्वीकृति होगी, और वीर, रौद्र आदि कठोर रसों में चित्त की दीप्ति होने के कारण ओज गुण की । कोमल अथवा कठोर रसों में से किसी भी रस में यदि अर्थ का अवबोध त्वरित हो जाएगा तो वहाँ चित्त की व्याप्ति होने के कारण माधुर्य अथवा ओज के अतिरिक्त प्रसाद गुण की भी स्वीकृति की जाएगी । दूसरे शब्दों में, किसी सरस रचना में यदि त्वरित अर्थावबोध न होगा तो वहाँ रस के अनुकूल माधुर्य अथवा ओज में किसी एक गुण की स्थिति मानी जाएगी, और यदि त्वरित अर्थावबोध हो जाएगा तो वहाँ रस के अनुकूल माधुर्य और प्रसाद गुण, अथवा ओज और प्रसाद गुण दो-दो गुणों की स्थिति स्वीकृत होगी । इस प्रकार ये गुण सहृदय के चित्त की विभिन्न अवस्थाओं पर आधारित हैं । चित्त की द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति नामक अवस्थाएं पहले होती हैं और रसाभिव्यक्ति इनके बाद होती है । ऐसा कभी नहीं हो सकता कि सहृदय का मन इन अवस्थाओं में से न गुज़रे और रस का अभिव्यक्ति हो जाए । निष्कर्षतः चित्तवृत्ति रूप गुण और रस में पूर्वापर-सम्बन्ध है तथा यह सम्बन्ध नित्य अर्थात् अनिवार्य है ।

(२) गुण का रस के साथ गौण सम्बन्ध भी है । इसका तात्पर्य यह है कि शृंगार, करुण

---

१. (क) **ये रसस्याङ्गिनो धर्माः × × अचलस्थितयो गुणाः ।**
(ख) **गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ।** का०प्र० ८।६६,७१

आदि कोमल रसों में कोमल वर्णों का प्रयोग होना चाहिए तथा समस्त पदों का प्रयोग या तो न हो, यदि हो तो अल्प हो जिसमें समस्त पद लघु हों। इसी प्रकार वीर, रौद्र आदि कठोर रसों में कठोर वर्णों का प्रयोग करना चाहिए, तथा सघन और अधिक समासों का प्रयोग होना चाहिए। उक्त वर्णों एवं पदों का प्रयोग कोमल रसों में माधुर्य गुण का अभिव्यंजक कहाता है और कठोर रसों में ओज गुण का। इनके अतिरिक्त यदि किसी भी सरस रचना में अर्थ का अवबोध त्वरित हो जाएगा तो उसमें चाहे कैसे भी वर्णों और पदों का प्रयोग हो वहाँ माधुर्य अथवा ओज में से किसी एक गुण के साथ प्रसाद गुण की स्वीकृति भी की जाएगी। इस प्रकार ये गुण वर्ण और पद पर आधारित हैं, रचना अर्थात् काव्य के बाह्य पक्ष पर आधारित हैं, पूर्वोक्त गुणों के समान सहृदय की चित्तवृत्ति अर्थात् काव्य के आन्तरिक पक्ष पर आधारित नहीं हैं। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त गुणों के समान इन गुणों का रस के साथ नित्य सम्बन्ध भी नहीं है। उदाहरणार्थ, शृंगार रस के किसी पद्य में यदि कोई अप्रौढ कवि दीर्घ-समस्तवृत्ति और टवर्गादि से युक्त कठोर वर्ण-योजना का प्रयोग कर लेगा, तो उस स्थिति में भी उस पद्य में रसगत माधुर्य गुण की ही स्वीकृति होगी और वर्णादिगत ओजगुण की। क्योंकि गुण की स्थिति रस पर आधृत है न कि वर्णयोजना पर। हाँ, इस पद्य में 'वर्ण-प्रतिकूलता' नामक दोष भी अवश्य माना जाएगा। किन्तु आदर्श स्थिति यही है कि शृंगार आदि रसों में माधुर्यगुण के अभिव्यञ्जक वर्ण प्रयुक्त किये जाने चाहिए और रौद्र आदि रसों में ओज गुण के।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र को अपने उपर्युक्त कथन में यही आदर्श स्थिति अभीष्ट है कि वीर-रौद्र आदि दीप्त रसों में रसगत ओज गुण तो स्वतःसिद्ध है ही, वहाँ वर्णादिगत भी ओज गुण ही होना चाहिए।

६. वक्रोक्ति

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग जिन प्रसंगों में हुआ है, उनमें निम्नोक्त चार प्रसंग उल्लेखनीय हैं—वीथी, शृंगार रस, आमुख, और रसदोष। इन्हीं प्रसंगों में वक्रोक्ति को न तो कुन्तक-सम्मत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, तथा न शब्दालंकार रूप प्रचलित अर्थ में। इन प्रसंगों में इसका प्रयोग एक-समान अर्थ में न होकर तीन भिन्न अर्थों में हुआ है :

(१) 'वीथी'-प्रसंग में वक्रोक्ति से तात्पर्य है—विविधता विचित्रता, अथवा शबलता। ग्रन्थकारों ने वीथी के लक्षण में इसे नाटकादि द्वादश रूपकों की उपकारिणी कहा है और इसका कारण यह बताया है कि वीथी के व्याहार, अधिबल आदि १३ अंग नाटक आदि सभी रूपकों में उपयोगी हैं, और इन अंगों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है, कि ये अनेक वक्रोक्तियों अर्थात् विविधताओं, विचित्रताओं अथवा शबलताओं से युक्त हैं—

सर्वेषां रूपकाणां नाटकादीनां वक्रोक्त्यादिसंकुला।
त्रयोदशाङ्गप्रवेशेन उपयोगिनी वैचित्र्यकारिका॥ हि० ना० द० पृष्ठ २४१

इसी प्रसंग में ही शृंगार और हास्य को अनेक प्रकार की वक्रोक्तियों से युक्त कहा गया है। यहाँ भी 'वक्रोक्ति' का अर्थ विविधता ही है—

वक्रोक्तिसहस्रसंकुलत्वेन शृंगारहास्ययोः सूचनामात्रत्वात् कैशिकी वृत्तिहीनत्वम्। —वही

(२) इसी प्रकार शृंगार रस के निम्नोक्त प्रसंग में भी वक्रोक्ति से अभिप्राय है सुन्दर वार्तालाप, न कि कुन्तक-सम्मत वक्रोक्ति—

प्रथमः सम्भोगाख्यो बहुः। परस्परावलोकन-चुम्बन-विचित्रवक्रोक्त्यादिभेदतोऽनन्त-प्रकारः।
—हि० ना० द० पृष्ठ १०७

(३) आमुख-प्रसंग में 'वक्रोक्त' (वक्रोक्ति) शब्द का प्रयोग 'स्पष्ट वचन से विपरीत' अर्थ में हुआ है: "आमुख में सूत्रधार दो प्रकार के वचनों का प्रयोग करता है—स्पष्ट और वक्रोक्त।"[1] वक्रोक्त से तात्पर्य है साक्षात् विवक्षित अर्थ का अप्रतिपादक कथन—"वक्रोक्तैः साक्षाद् विवक्षितार्थस्याप्रतिपादकैः," अर्थात् वह वचन जो स्पष्टतया न कहा जा कर घुमा-फिरा कर कहा जाए, जैसा कि संस्कृत-नाटकों के 'आमुख' में प्रायः व्यवहृत होता है।

(४) रसदोष-प्रसंग में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग तो नहीं हुआ, 'अवक्रोक्ति' का हुआ है। यहाँ 'वक्रोक्ति' से अभिप्राय है—युक्त, उचित, मान्य, संगत आदि। रस, स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव, आदि की स्वशब्दवाच्यता का सर्वप्रथम संकेत उद्भट ने किया था, तथा कुन्तक, मम्मट आदि आचार्यों ने इसे एक दोष माना था, किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इस दोष-कल्पना को अयुक्त कहा है,[2] तथा इसे अव्युत्पन्न जनों की उक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए इसे 'अवक्रोक्ति' अर्थात् अयुक्त, अनुचित, अमान्य, असंगत धारणा माना है: 'तस्माद् अव्युत्पन्नोक्तित्वादवक्रोक्तिरेवेयम्' (हि० ना० द०)। उक्त धारणा अयुक्त है अथवा नहीं, यहाँ यह विचारणीय नहीं है। विचारणीय यह है कि क्या 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ 'युक्त' आदि भी हो सकता है? शब्द के वाच्यार्थ से तो इस अर्थ का बोध नहीं होता, हाँ यदि खेंचतान की जाए तो वक्रोक्ति = काव्य का बाह्य साधन = काव्य का उपयुक्त अथवा युक्त, मान्य, उचित तत्त्व। अतः वक्रोक्ति का अर्थ हुआ युक्त और अवक्रोक्ति का अयुक्त। किन्तु इस धारणा से मनस्तुष्टि नहीं होती। सम्भवतः यह पाठ ही अशुद्ध हो। अथवा 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ काव्यत्व भी लिया जा सकता है, जिसके अनुरूप 'अवक्रोक्ति' का अर्थ होगा—'काव्यत्व से बहिष्कृत'। अस्तु! यह शब्द यहाँ 'अप्रयुक्त' दोष से दूषित है।

(२)

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में निम्नोक्त स्थल पर यद्यपि 'वक्रता' अथवा 'वक्रोक्ति' शब्द का व्यवहार नहीं किया गया, तथापि जिस धारणा को वहाँ प्रस्तुत किया गया है उसका मूल आधार वचन की वक्रता ही है। 'वीथी' नामक रूपक-भेद के १३ अंगों में से १० वां अंग है मृदवम्—जिसका लक्षण है जिसमें गुण और दोष का पारस्परिक व्यत्यय हो—'व्यत्ययो गुणदोषयोः मृदवम्।' (हि० ना० द० पृष्ठ २६३)। इस प्रकार 'मृदव' नामक वीथ्यङ्ग के दो रूप हैं गुणों का दोष बन जाना और दोषों का गुण बन जाना। प्रथम रूप के उदाहरण-स्वरूप नाटचदर्पण में तीन उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें गुण को दोष बताया गया है। इनमें से प्रथम दो उदाहरण लीजिए:

---

१. विदूषकनटी मार्षैः प्रस्तुताक्षेपि भाषणम्।
सूत्रधारस्य वक्रोक्त-स्पष्टोक्तं यत् तदामुखम्॥

२. केचित्तु व्यभिचारिरसस्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः, तदयुक्तम्।
हि० ना० द० पृष्ठ ३२८

(क) द्यूत-सभा में बेचारी द्रौपदी 'गो: गो:' [अर्थात् मैं तुम्हारी 'गौ' हूँ, मुझे बचाओ, मुझे बचाओ] चिल्लाती रही किन्तु उस समय क्या धनुर्धारी अर्जुन वहाँ नहीं था जो उसे बचा सकता ? 'वेणीसंहार' में दुर्योधन जयद्रथ की माता की चेतावनी की अवहेलना करते हुए बोले।

(ख) [मेरे आने पर] तुम्हारे मुखचन्द्र ने मुस्करा कर मेरा स्वागत किया, नेत्रों ने प्रफुल्लित होकर, बाहुओं ने रोमाञ्चित होकर और वाणी ने गद्गद् स्वर को धारण करके, किन्तु तुम्हारे कुचद्वन्द्वों में कोई परिवर्तन नहीं आया, वे वैसे के वैसे कठोर अर्थात् जड़ बने रहे," 'नलविलास' में नल आगतपतिका दमयन्ती से बोले।[1]

पहले पद्य में अर्जुन का 'धनुर्धरत्व' और दूसरे पद्य में कुचद्वन्द्वों की 'कठोरता'—यद्यपि ये दोनों गुण हैं तथापि इन्हें दोष रूप में स्वीकृत किया गया है। इन उदाहरणों से दो बातें स्पष्ट हैं। एक यह कि यहाँ 'गुण' शब्द काव्यगुणों का सूचक न होकर लौकिक गुणों का सूचक है, और दूसरी यह कि इस प्रकार की दोषता का आधार वचन की वक्रता है जिससे गुण दोष न बन कर और भी अधिक निखर आता है तथा काव्य-सौन्दर्य का कारण बनता है।

इसी प्रकार दोष के गुण बन जाने के सम्बन्ध में भी जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उनमें सभी दोष काव्य-दोष के सूचक न होकर लौकिक दोषों के सूचक हैं तथा वे गुण रूप में वर्णित किए जाने पर भी ग्राह्य न बन कर त्याज्य बन गये हैं। इस वर्णन-प्रकार का मूल आधार भी वचन की वक्रता ही है। दो उदाहरण लीजिए :[2]

(क) द्रोण, कर्ण, जयद्रथ आदि सात महारथियों द्वारा अभिमन्यु के वध का समाचार सुनकर दुर्योधन कह उठा कि शत्रु पर किया गया अपकार भी निःसन्देह अत्यन्त आनन्ददायक होता है।

(ख) सब की पत्नियाँ सुन्दर नहीं होतीं, परनारीगामी पुरुष राज्यदण्ड का भागी बनता है, × × × × × ×, यदि दूसरों के हित में संलग्न वेश्यायें न हों तो बेचारे कामार्त जन कहां जायें ?

प्रथम पद्य में 'क्षात्रधर्म का परित्याग' रूप दोष गुण माना गया है, और द्वितीय पद्य में 'वेश्यागमन' रूप दोष भी गुण रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु इन दोनों पद्यों के वक्ताओं के प्रति न तो कवि की सहानुभूति है और न ही उसके अनुरूप सहृदय की। अतः वचन-वक्रता के आधार पर ये दोनों लौकिक दोष और भी अधिक त्याज्य रूप में वर्णित हो गये हैं।

७. औचित्य और अनौचित्य

(क) औचित्य—

इस ग्रन्थ में 'औचित्य' का प्रयोग निम्नोक्त चार स्थलों पर हुआ है—

(१) कवि [धीरोदात्त आदि मुख्य पात्र के लिए] अपनी इच्छा से किसी फल-विशेष का उत्कर्ष वर्णित नहीं करने लग जाता, अपितु 'औचत्य' अर्थात् उचितता को देखकर ही वह ऐसा करता है : "कविरपि न स्वेच्छया फलस्य उत्कर्षं निबद्धुमर्हति किन्तु औचित्येन।" (पृष्ठ ३०)

१-२ हिन्दी ना० द० पृष्ठ २६३-२६५।

(२) जो वृत्त नायक अथवा प्रकृत रस के अयुक्त अथवा विरुद्ध हो उसे या तो छोड़ देना चाहिए, अथवा उसकी अन्यथा कल्पना कर लेनी चाहिए। (१।१८) यहां 'अन्यथा' शब्द से स्वयं ग्रन्थकारों का अभिप्राय है **औचित्य अथवा अविरोध—अन्यथेति औचित्येनाऽविरोधेन वा।** उदाहरणार्थ, नलविलास में नल जैसे धीरललित नायक द्वारा निरपराध पत्नी का त्याग यद्यपि अनुचित है किन्तु कापालिक के प्रयोग से वह [उचितता-(औचित्य-) पूर्वक] निबद्ध हो गया है, अतः यह प्रसंग अनिबन्धनीय नहीं है। (पृष्ठ ३९)

(३) जिस प्रकार नाटक में अभिनेय प्रबन्ध के लिए उपयुक्त फल, अंक, उपाय, × × × रस आदि का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार प्रकरण में भी इन सब का प्रयोग औचित्य (उचितता) का उल्लंघन किये बिना करना चाहिए—**"अभिनेयप्रबन्धोचितं फलाङ्कोपाय···रसादिकं यथा नाटके लक्षितं तथाऽत्रापि सर्वौचित्याऽनतिक्रमेणऽऽयोज्यम्।"** (पृ० २१२)

(घ) निर्वेद आदि तेतीस संचारिभाव शृंगारादि रसों में यथायोग प्रयुक्त करने चाहिए : **"त्रयस्त्रिंशद् यथायोगं रसानां व्यभिचारिणः।"** यहां 'यथायोग' का तात्पर्य है—रसों के औचित्य (उचितता) का अनुल्लंघन अर्थात् इसका सम्यक् पालन—**'यथायोगम्' इति रसौचित्याऽनतिक्रमेण।** (हि० ना० द० पृष्ठ ३३१)

उक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'औचित्य' शब्द का प्रयोग क्षेमेन्द्र-सम्मत औचित्य-सिद्धान्त के पारिभाषिक अर्थ में न किया जाकर 'उचितता' अर्थ में किया गया है, यद्यपि यह अलग बात है कि मूलतः जो कुछ क्षेमेन्द्र को अभीष्ट है लगभग वही कुछ रामचन्द्र-गुणचन्द्र को भी अभीष्ट है। क्षेमेन्द्र के शब्दों में **'उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते',** किन्तु उन्होंने क्षेमेन्द्र के समान साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप में इसे 'काव्य को जीवित' स्वीकार नहीं किया।

(ख) अनौचित्य—

इस ग्रन्थ में कतिपय स्थलों पर **'अनौचित्य'** शब्द का भी प्रयोग हुआ है। एक स्थल पर यह पांच रसदोषों में से एक रसदोष है। पांच रसदोष हैं—अनौचित्य, अंग की उग्रता, अपुष्टि, अत्युक्ति और अङ्गिभित्। इनमें से 'अनौचित्य' नामक रसदोष का स्वरूप है—वह कर्म जो सहृदयों के मन में विचिकित्सा अर्थात् शंका अथवा सन्देह का कारण बने—**सहृदयानां विचिकित्सा-हेतु कर्मानौचित्यम्।** (पृष्ठ ३२४)

आगे चलकर इसी प्रसंग में अनौचित्य को 'रसदोष' का पर्याय स्वीकार करते हुए ग्रन्थकारों ने कहा है कि यद्यपि अंगों की उग्रता आदि शेष चार रसदोष भी मूलतः 'अनौचित्य' नामक दोष में ही अन्तर्भूत हो सकते हैं, [अतः इनका पृथक् निरूपण नहीं करना चाहिए], तथापि सहृदयों को अनौचित्य अर्थात् रसदोष का सम्यक् ज्ञान हो जाए, इसलिए ऐसा किया गया है—**"अंगोग्र्यादयश्च दोषाः परमार्थतोऽनौचित्यान्तःपातिनोऽपि सहृदयानामनौचित्यव्युत्पादनार्थमुदाहरणत्वेनोपात्ताः।** पृष्ठ (३२८)

उक्त दोनों स्थलों से भी यही ज्ञात होता है कि 'अनौचित्य' शब्द क्षेमेन्द्र-सम्मत पारिभाषिक 'औचित्य' के अभावात्मक अर्थ में प्रयुक्त न होकर रसदोष अर्थ में ही स्वीकृत हुआ है।

इसका कारण सम्भवतः आनन्दवर्द्धन का यह कथन प्रतीत होता है कि अनौचित्य के बिना रसभङ्ग का कोई अन्य कारण नहीं होता—"**अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।**" (ध्वन्या० ३/१४ वृत्ति) आनन्दवर्द्धन ने रसभंग और अनौचित्य में परस्पर सम्बन्ध जोड़ा तो रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसे 'रसदोष' का ही समानार्थक मान लिया। इसी प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि अनौचित्य शब्द का दोष के अर्थ में सम्भवतः सर्वप्रथम प्रयोग महिमभट्ट ने किया था तथा इसके अनेक भेदों की भी चर्चा की थी, किन्तु वहां न तो इसे रसदोष के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और न ही इसके भेद रसदोष ही हैं। वहां तो इसे काव्य-दोष के सामान्य अर्थ का ही वाचक माना गया है। (देखिए व्यक्तिविवेक २य विमर्श)

हाँ, प्रस्तुत ग्रन्थ में निम्नोक्त स्थल पर 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग क्षेमेन्द्र-सम्मत 'औचित्य' के अभावात्मक रूप में भी उपस्थित किया गया है—"प्रहसन नामक रूपक केवल हास्य रस का ही विषय है। यह शृंगार रस का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि [इस रूपक के मुख्य पात्रों] निन्दनीय पाखण्डी आदि का शृंगार रस के रूप में निरूपण करना अनौचित्य (औचित्य के अभाव) का सूचक है—**निन्द्यपाखण्डिप्रभृतीनां शृंगारस्याऽनौचित्येनाभावात् केवलहास्यविषयत्वमेव।** (पृष्ठ ३२१) उधर क्षेमेन्द्र भी रस के औचित्य के विषय में अत्यन्त आग्रहशील हैं—

कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः ।
मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः ।। औचित्यविचारचर्चा-१६

तथा वे रसों के पारस्परिक संयोजन में अनौचित्य को इष्टकर नहीं मानते—

तेषां परस्पराश्लेषात् कुर्यादौचित्यरक्षणम् ।
अनौचित्येन संस्पृष्टः कस्येष्टो रससंकरः ।। —वही, १८

८. दोष

पीछे निर्देश कर आये हैं कि इस ग्रन्थ में पांच रस-दोषों का निरूपण किया गया है। इस प्रसंग के अतिरिक्त दोष पर अन्यत्र विशिष्ट प्रकाश नहीं डाला गया।[1] इस प्रसंग में ग्रन्थकारों ने उक्त पांच रसदोषों के भेदोपभेदों का निरूपण किया है जिन्हें इनसे पूर्व मम्मट ने भी थोड़े-बहुत अन्तर के साथ उल्लिखित किया था। इस प्रसंग की दो उल्लेखनीय विशेषताएं हैं—(१) रसादि की स्वशब्दोक्ति को दोष न मानना, तथा (२) 'विभाव की कष्टकल्पना द्वारा व्यक्ति' को मम्मट के समान रसदोष न मानकर 'सन्दिग्ध' नामक वाक्यदोष मानना। ये दोनों स्थल विचारणीय हैं।

(१)

रसादि की स्वशब्दोक्ति का सर्वप्रथम उल्लेख उद्भट ने अपने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में रसवद् अलंकार का लक्षण प्रस्तुत करते हुए इन शब्दों में किया था—

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसादयम् ।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ।। का० सा० सं० ४।३

---

१. उदाहरणार्थ देखिए—हि० नाट्यदर्पण पृ० २३२।

इस कथन से उनका अभिप्राय यह है कि रसवद् अलंकार वहां होता है जहां शृंगार आदि स्पष्ट (प्रधान अथवा अङ्गी) रूप से दिखाये गये हों तथा साथ ही स्थायिभाव, संचारिभाव, विभाव तथा अभिनय अर्थात् अनुभाव और सात्त्विक भाव [के विभिन्न प्रकारों] का स्वशब्द से आस्पद (कथन) भी किया गया हो। इसी अलंकार के उदाहरण-स्वरूप उन्होंने निम्नोक्त तीन पद्य प्रस्तुत किये थे—

इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान्।
संभृतानल्पसंकल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत्॥
स्विद्यताऽपि स गात्रेण बभार पुलकोत्करम्।
कदम्बकलिकाकोशकेसरप्रकरोपम्॥
क्षणमौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम्।
क्षणं प्रमोदालसया दृशाऽस्याऽऽस्यमभूष्यत॥ **का० सा० सं० ४।२-४**

यह उदाहरण रसवादियों के मत में रस का है और अलंकारवादियों के मत में रसवत् अलंकार का। उन दोनों का विभिन्न दृष्टिकोण ही इस धारणा का उत्तरदायी है। किन्तु यहां विचारणीय विषय यह दृष्टिकोण नहीं है, अपितु यह है कि क्या किसी सरस वाक्य में रस आदि की स्वशब्दोक्ति अनिवार्य है। उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने उक्त पद्यों में विभावादि पांचों तत्त्वों की स्वशब्दोक्ति का निर्देश करते हुए लिखा है कि यहां कन्दर्प अर्थात् 'रति' नामक स्थायिभाव, औत्सुक्य, चिन्ता, प्रमोद (हर्ष) नामक संचारिभाव, स्वेद और पुलक (रोमाञ्च) नामक सात्त्विक-भाव—ये सभी, तथा इनके अतिरिक्त पार्वती और 'तस्य' अर्थात् महादेव ये दोनों विभाव भी स्वशब्द द्वारा कथित हैं। (पृष्ठ ५४) अतः यहां उद्भट-सम्मत रसवत् अलंकार का उक्त लक्षण घटित हो जाता है। उद्भट और प्रतिहारेन्दुराज के इन वक्तव्यों से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उद्भट के समय तक रसवत् अलंकार (अथवा रस) के उदाहरणों में विभावादि की स्वशब्दोक्ति अनिवार्यतः स्वीकृत की जाती थी।

उद्भट के उपरान्त आनन्दवर्द्धन ने अपने रसदोष-प्रसंग में उक्त दोष का नामोल्लेख नहीं किया। हाँ, रस वाच्य पर आधृत न होकर व्यङ्ग्य पर आधृत होता है—इस प्रसंग में उन्होंने प्रकारान्तर से इस दोष की चर्चा की है। इस सम्बन्ध में उनका कथन यह है कि किसी भी रचना में विभाव आदि की परिपक्व सामग्री के अभाव में रस आदि के नामोल्लेख-मात्र से रसानुभूति नहीं हो जाती—**न हि केवलं शृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति।** —ध्वन्या० १।४ वृत्ति

आगे चलकर कुन्तक ने उद्भट के उक्त कथन का उल्लेख करते हुए उसका खण्डन किया। उनके मत का सार यह है कि रस आदि की स्वशब्दोक्ति द्वारा ही यदि रसचवर्णा का चमत्कार स्वीकार किया जाए तब तो घृतपूर (आदि मिष्टान्न) का नाम लेने मात्र से भी उनका आस्वाद प्राप्त हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है।[1]

---

१. यदपि कश्चित् 'स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्' इत्यनेन पूर्वमेव लक्षणं विशेषितम्। तत्र स्वशब्दास्पदत्वं रसानामपरिगतपूर्वमस्माकम्। × × × × यत् स्वशब्दैरभिधीयमानाः श्रुतिपथमवतरन्तः चेतनानां चर्वणचमत्कारं कुर्वन्तीत्यनेन न्यायेन घृतपूरप्रभृतयः पदार्थाः स्वशब्दैरभिधीयमानाः तदास्वादसम्पदं सम्पादयन्ति × × × ×। —हि० वक्रोक्तिजीवित पृष्ठ ३४३-३४४

कुन्तक के उपरान्त मम्मट ने 'रस आदि की स्वशब्दवाच्यता' को रसदोषों में परिगणित किया। उन्हें इस दोष की प्रेरणा आनन्दवर्द्धन और सम्भवतः कुन्तक के उक्त प्रसंगों से मिली होगी। मम्मट के अनुकरण पर विश्वनाथ ने भी इस दोष की स्वीकृति की और निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किये—

(क) **तामुद्वीक्ष्य कुरंगाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत।**
(ख) **चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम्।**
(ग) **अजायत रतिस्तस्याः त्वयि लोचनगोचरे।**
(घ) **जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने।**

इधर रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने सम्भवतः मम्मट के इस प्रसंग से प्रेरणा प्राप्त कर उनसे असहमति प्रकट करते हुए उक्त रूप में इस दोष की अस्वीकृति की है। इस सम्बन्ध में हमारी विनम्र सम्मति यह है कि—

(क) जहां विभावादि-सामग्री अपूर्ण एवं अपरिपक्व रूप में प्रस्तुत की जाती है, अथवा इसका अभाव ही रहता है, वहां यदि रस, शृंगार, रति, लज्जा आदि शब्दों द्वारा कथन को सरस बनाने की चेष्टा की जाए तो निस्सन्देह ऐसे कथन न तो सरस कहाएंगे और न काव्यत्व की किसी कोटि में ही वे अन्तर्भूत होंगे। वे केवल साधारण वार्तामात्र ही होंगे जैसे कि विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत उक्त चार वाक्य।

(ख) जहां विभावादि की सम्पूर्ण सामग्री का उपस्थापन सम्यक् रूप से किया जाए, और यदि वहां रस आदि में से किसी एक का नाम-निर्देश भी अनायास हो जाए तो इन सरस प्रसंगों में यह दोष प्रथम तो स्वीकृत नहीं करना चाहिए, और यदि स्वीकृत किया भी जाए तो उसे क्षम्य समझना चाहिए, क्योंकि इससे रस-प्राप्ति में कोई व्याघात उपस्थित नहीं होता। उदाहरणार्थ, रामचन्द्र-गुणचन्द्र प्रस्तुत पद्य[1] में मानिनी के नेत्रों का प्रपञ्च-चातुर्य-पूर्ण वर्णन काव्याह्लादकता का उत्पादक है, किन्तु केवल 'उत्सुकम्' नामक संचारिभाव के प्रयोग से इसमें रसदोष मानकर काव्यत्व की अस्वीकृति अथवा हीन-काव्यत्व की स्वीकृति करना समुचित नहीं है। इसी प्रकार एक ओर उद्भट तथा दूसरी ओर स्वयं मम्मट द्वारा प्रस्तुत दो उदाहरण[2] भी केवल वार्तामात्र न होकर काव्यचमत्कार के उत्पादन में समर्थ हैं, क्योंकि उस सहृदय को जो इस पारिभाषिक काव्य-दोष से नितान्त अपरिचित है, इन शब्दों के प्रयोग के कारण उसके आह्लाद में तनिक भी व्याघात नहीं पहुँचता।

(ग) काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने इस प्रसंग में यह संकेत भी किया है कि स्थायि-भाव, संचारिभाव आदि के प्रचलित नामों के स्थान पर यदि उनका पर्यायवाची शब्द रख दिया जाए तो वहां दोष नहीं रहता। उदाहरणार्थ **"ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत"** में 'उत्साह' नामक स्थायिभाव का प्रयोग दोष का कारण है, पर यदि यह पाठ कर दिया जाए तो यह दोष न रहेगा—**'प्रमोदस्तस्य कोऽप्यभूत्।'** किन्तु यह धारणा भी समुचित नहीं है। इस दोष का एक

---

१. **हिन्दी नाट्यदर्पण पृष्ठ ३२८**

२. (क) **सव्रीडा दयितानने**.......
   (ख) **तामनङ्गजयमंगल**....... । **का० प्र० ७/३२१, ३२२**

मात्र आधार है काव्यचमत्कार की अपुष्टि । मम्मट-प्रस्तुत यह पद्य[1] इस आधार पर भले ही सदोष हो, पर इस कारण कदापि सदोष नहीं मानना चाहिए कि इसमें 'उत्साह' शब्द का प्रयोग हुआ है, अथवा 'प्रमोद' शब्द रख देने से यह अपुष्टि दूर हो जाएगी और यह सदोष न रहेगा ।

(घ) वस्तुत: इस दोष की स्वीकृति का मूल उद्देश्य व्यङ्ग्यार्थ की महत्ता स्पष्ट करना है । अत: यदि रस, स्थायिभाव आदि का प्रयोग न किया जाए तो यह आदर्श स्थिति है, विभावादि की परिपक्वता में इनका प्रयोग सदोष नहीं है तथा इनकी अपरिपक्वता में दोष है ।

अतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र की उक्त धारणा आंशिक रूप से ग्राह्य है—पूर्णतः नहीं ।

(२)

अब दूसरे दोष को लें—'विभाव की कष्टकल्पना द्वारा व्यक्ति (अभिव्यक्ति)।' इस दोष का मम्मट तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है—

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः ।
इति बत विषमा दशा स्वदेहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥[2]

अर्थात् यह नायिका किसी प्रकार की रुचि नहीं रखती, इसकी बुद्धि क्षीण हो गयी है, यह निरन्तर गिरती पड़ती है तथा बार बार करवटें बदलती है । इस प्रकार इसके देह की अवस्था अत्यन्त विषम है, इसका क्या उपाय किया जाए ?—इस कथन से यह सन्देह बना रहता है कि इस नायिका की यह दशा वियोग (रति) के कारण है अथवा शोक के कारण । अत: यह निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते कि यह उदाहरण विप्रलम्भ शृंगार रस का है अथवा करुण रस का। मम्मट ने इसे 'विभावस्य कष्टकल्पनया व्यक्ति' नामक रसदोष माना है और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'सन्दिग्ध' नामक वाक्यदोष । नाट्यदर्पण में रसदोषों के अतिरिक्त अन्य दोषों का निरूपण नहीं किया गया । काव्यप्रकाश में वाक्यगत सन्दिग्ध का उदाहरण है—

कस्मिन् कर्मणि सामर्थ्यमस्य नोत्तपतेतराम् ।
अयं साधुचरस्तस्माद् अञ्जलिर्बध्यतामिह ॥ का० प्र० ७/२०५

अर्थात्, इस पुरुष की शक्ति किस कार्य में प्रकट नहीं होती ? यह व्यक्ति तो 'साधुचर' है । अतः इसे नमस्कार कीजिए । 'साधुचर' से यह स्पष्टतः प्रकट नहीं होता कि वह 'साधुओं में घूमता-फिरता है' अथवा 'पहले साधु रहा है ।' अत: यहां मम्मट के मत में वाक्यगत सन्देह है । निस्सन्देह उक्त 'परिहरति रतिं.........' पद्य में इस प्रकार का सन्देह नहीं है । यहां रस-विषयक सन्देह है वाक्य-विषयक नहीं ।

इसी प्रसंग में अर्थगत सन्देह का उदारहण भी द्रष्टव्य है—

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
सेव्याः नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥ का० प्र० ७/२६२

---

१. संप्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणाम्परस्परम् ।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥ का० प्र० ७/३२४

२. का० प्र० ७/३२६, ना० द० ३/२३ वृत्ति ।

अर्थात्, क्या पर्वतों के नितम्ब (प्रान्तर भाग) सेवनीय हैं अथवा विलासिनियों के नितम्ब—इस कथन में प्रकरणाभाव के कारण यह सन्देह बना रहता है कि यह उदाहरण शान्त रस का है अथवा शृंगार रस का। "परिहरति रतिं ···" पद्य तथा इस पद्य में समस्या एक ही है कि दो रसों में से इसे किस रस का उदाहरण माना जाए। किन्तु साथ ही दोनों पद्यों में अन्तर है वह यह कि एक में श्लेष के कारण सन्देह है और दूसरे में इसके बिना। वस्तुतः अन्वयव्यतिरेक-सम्बन्ध के आधार पर 'सेव्याः नितम्बाः···' कथन में अर्थदोषता की अपेक्षा पददोषता अधिक है, जैसे कि स्वयं मम्मट ने पदगत सन्देह का ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत किया है—"**आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु।**" इसमें 'वन्द्याम्' का अर्थ सन्दिग्ध है। क्या इसका अर्थ 'वन्दनीया अर्थात् नमस्करणीया को' है, अथवा वन्द्याम् (बन्द्याम्) का अर्थ 'बन्दीकृत महिला में' है? किन्तु सेव्याः नितम्बाः··· ' में रस-विषयक सन्देह है जो कि 'श्लेष' पर आधारित है, और 'आशीःपरम्परां वन्द्याम्···' में श्लेष तो है किन्तु यहां रस-विषयक सन्देह नहीं है। अतः 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' के अनुसार प्रथम पद्य में रसदोष है और द्वितीय पद्य में पददोष। 'श्लेष' के सम्बन्ध में आचार्यों की स्पष्ट धारणा है कि इसकी स्थिति तब माननी चाहिए जब यह स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त हो।[1] इसकी परतन्त्र अथवा गौण स्थिति में प्रधानता उस काव्य-तत्त्व की माननी चाहिए जिसका यह पोषक हो।

उक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'सेव्याः नितम्बाः···' और 'परिहरति रतिं···' इन दोनों पद्यों में सन्दिग्ध नामक रसदोष ही है, किन्तु एक अन्तर के साथ—प्रथम में श्लिष्ट सन्दिग्ध दोष है और दूसरे में अश्लिष्ट, पर दोनों हैं रसगत ही। क्योंकि दोष की दृष्टि से रस-निर्णय में सन्दिग्धता का बना रहना ही दोनों का प्रतिपाद्य है। 'परिहरति रतिं···' में 'विभाव की कष्टकल्पना द्वारा अभिव्यक्ति' नामक दोष की स्वीकृति इसलिए नहीं माननी चाहिए कि विभावादि तो रस-सिद्धि के लिए साधन हैं। इस पद्य में रस का निर्णय सन्दिग्ध रह जाने के कारण सन्दिग्ध दोष मानना चाहिए और वह भी रसगत। निष्कर्षतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र की यह धारणा कि यहां वाक्यगत सन्दिग्ध दोष है अंशतः मान्य है, क्योंकि यहां सन्दिग्ध दोष रसगत ही है वाक्यगत नहीं।

८. रस

नाट्यदर्पण में अन्य काव्योपकरणों के समान रस पर भी केवल इस दृष्टि से प्रकाश डाला गया है कि इसका रूपक के साथ क्या सम्बन्ध है, कौन कौन से रस इसके विभिन्न भेदों अथवा अंगों के साथ सम्बद्ध हैं आदि। उदाहरणार्थ—'भाण' रूपक में शृंगार और वीर रस की प्रधानता होती है, 'डिम' में रौद्र रस की तथा 'उत्सृष्टाङ्क' में करुण रस की, और 'वीथी' का सम्बन्ध सब रसों के साथ होता है, इत्यादि।[2] 'भारती' नामक नाट्यवृत्ति सब रसों के साथ सम्बद्ध होती है, 'सात्त्वती' रौद्र, वीर, शान्त और अद्भुत रसों के साथ, 'कैशिकी' हास्य और शृंगार रस के साथ, तथा 'आरभटी' रौद्र आदि दीप्त रसों के साथ।[3] इसी प्रकार रूपकों में कौन कौन से रस परस्पर मित्र होते हैं तथा कौन से विरोधी और विरोधी, रसों का परिहार किस प्रकार किया जाए, आदि[4]—इन बहुचर्चित विषयों पर भी इस ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है।

---

१. श्लेषस्य चोपमाद्यलंकारविविक्तोऽस्ति विषयः इति। [का० प्र० ९ म उ०, श्लेषप्रकरण]

२. हिन्दी नाट्यदर्पण २/१६, २१, २३, २८।

३. वही ३/२, ५, ६।   ४. वही पृष्ठ ३२०।

रूपक और रस के पारस्परिक सम्बन्ध-निर्देशक उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में रस-विषयक कतिपय अन्य समस्याओं एवं प्रसंगों की भी चर्चा की गयी है, जैसे—

(१) रस की महत्ता।
(२) प्रचलित से इतर संचारिभावों तथा रसों का नाम-निर्देश।
(३) नौ रसों का क्रम-निर्देश।
(४) शृङ्गार रस के दोनों भेदों का निर्णायक आधार।
(५) अद्भुत रस की महत्ता एवं स्थिति।
(६) शान्त रस का स्थायिभाव।
(७) अभिनय और नट तथा प्रेक्षक।
(८) रस की सुखदुःखात्मकता।

अब इन प्रसंगों का दिग्दर्शन एवं सामान्य विवेचन प्रस्तुत है।

(१) रस की महत्ता

प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर यह निर्दिष्ट किया गया है कि रस नाटक में अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है। इनमें से कुछ स्थलों पर रस को काव्य के अन्य उपकरणों—विशेषतः अलंकार—की अपेक्षा सर्वोतम उपकरण के रूप में स्वीकार किया गया है, जिनका उल्लेख पीछे यथास्थान किया चुका है। इस सम्बन्ध में अन्य उल्लेखनीय स्थल इस प्रकार हैं—

(१) नाट्य का पन्थ रस की कल्लोलों से परिपूर्ण होता है।[1]

(२) नाट्य का एक मात्र आधार रस ही है।[2]

(३) (नाटच के) कथाभाग में विच्छेद न आने देना रस की परिपुष्टि के लिए किया जाता है।[3]

(४) 'प्रकरण' नामक रूपक में पुरानी बातों में भी कवि को रस की परिपुष्टि के लिए नयी बात और बढ़ा देनी चाहिए।[4]

(५) कवि (नाटककार, प्रबन्धकार) की समग्र चेतना एकमात्र रस-विधान में ही संलग्न रहती है, वह रस-निवेश में सिद्धहस्त होता है।[5]

उक्त स्थलों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकारों को यह मानना अभीष्ट है कि रस नाटक का अनिवार्य तत्त्व है तथा नाटककार का एक-मात्र लक्ष्य इसी की ही पुष्टि एवं सिद्धि करना है। वस्तुतः

---

१. पन्थाः × × × नाटचस्य रसकल्लोलसंकुलः। हि० ना० द० पृष्ठ ३

२. शब्दार्थमात्रशरणाः शुष्ककवयो यमकश्लेषादीनामेव निबन्धमर्हन्ति, न तु रसैकशरणस्य नाटचस्य। — वही, पृष्ठ ३२०

३. इतिवृत्तस्याऽविच्छेदः रसपुष्टयर्थः। — वही पृष्ठ १९६

४. यद्यपि अत्र प्राक्तनं निबद्धचते तत्रापि कविना रसपुष्टिहेतुरधिकावापो विधेयः। —वही पृष्ठ २११

५. रसविधानैकचेतसः कवेः × × × रसनिवेशैकव्यवसायिनः प्रबन्धकवयः × × ×। —वही, पृष्ठ १९६-१९७

नाटक और रस के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा भरत मुनि के समय से ही की जाती रही है। उन्होंने नाट्य (नाटक) के लक्षण में अन्य तत्वों के साथ रसतत्त्व का भी समावेश किया है[१], नाट्य के प्रधान अंगों में पाठ्य, गीत, अभिनय के अतिरिक्त रस की भी गणना की है[२], तथा नाट्य में रस की अनिवार्य स्थिति को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है।[३] इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि नाट्यदर्पण में कथा और मुक्तक-काव्य की सिद्धि अलंकार-चमत्कार पर आधारित की गयी है और नाटक तथा प्रबन्ध-काव्य की रस पर। किन्तु प्रथम धारणा अंशतः सत्य है[४], और दूसरी धारणा के सम्बन्ध में इतना और ज्ञातव्य है कि प्रबन्धकाव्यों की अपेक्षा नाटक में रस की पुष्टि अधिक संकुलता के साथ की जा सकती है, क्योंकि इस में विभावादि सामग्री अपने यथावत् रूप में सन्निविष्ट रहती है।

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शब्दार्थ को काव्य का शरीर मानते हुए कहा है कि इस शरीर में प्राण-संचार करने वाला रस ही है। यही कारण है कि कविजनों की प्रीति रस की प्रति ही होती है—

> **अर्थशब्दवपुः काव्यं रसैः प्राणैर्विसर्पति ।**
> **अञ्जसा तेन सौहार्दं रसेषु कविमानिनाम् ।। ना० द० ३/२१**

(२) प्रचलित से इतर रसों तथा संचारिभावों का नामनिर्देश—

इस ग्रन्थ में प्रचलित से इतर संचारिभावों तथा रसों का नाम-निर्देश किया गया है, किन्तु इनका स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया गया। इनकी सूची इस प्रकार है—

संचारिभाव—क्षुत्, तृष्णा, मैत्री, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा, रति, सन्तोष, क्षमा, मार्दव, आर्जव, दाक्षिण्य आदि।[५]

रस—लौल्य, स्नेह, व्यसन, दुःख, सुख आदि। इन पांचों के स्थायिभाव क्रमशः ये हैं—गर्द्ध (तृष्णा), आर्द्रता, आसक्ति, अरति और सन्तोष। किन्तु कई आचार्य इनका अन्तर्भाव प्रचलित रसों में मानते हैं।[६]

(३) नव रसों का क्रम

इस ग्रन्थ में शृंगार आदि नौ रसों की पूर्वापर-क्रम स्थिति के सम्बन्ध में निम्नोक्त संगतियां प्रस्तुत की गयी हैं जो कि प्रायः मनस्तोत्वक हैं। (१) सर्वप्रथम शृंगार रस की गणना करनी चाहिए क्योंकि 'काम' सब प्राणियों में सुलभ तत्त्व है, तथा उन्हें अत्यन्त परिचित रहता है, अतः सब को मनोहर प्रतीत होता है। (२) शृंगार के उपरान्त हास्यरस की गणना की जाती है, क्योंकि यह रस शृंगार का अनुगामी (उससे उद्भूत एवं उसका पोषक) होता है। (३) इसके उपरान्त

---

१. बहुकृतरसमार्गम् × × × ना० शा० १६/११८
२. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
   यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।। वही १/१७
३. ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविचक्षणैः । वही ६/२
४. देखिए पृष्ठ ६
५, ६. हिन्दी नाट्यदर्पण पृष्ठ ३३१, ३०६

करुण रस—क्योंकि यह हास्य रस का विरोधी अर्थात् उसके विपरीत होता है। (४) इसके उपरान्त रौद्र रस—क्योंकि यह रस अर्थप्रधान है और अर्थ की उत्पत्ति काम से होती है। (५) इस के उपरान्त वीर रस—क्योंकि यह रस धर्मप्रधान है और धर्म की उत्पत्ति काम और अर्थ दोनों से होती है। (६) इस के उपरान्त भयानक रस—क्योंकि वीररस का मुख्य उद्देश्य है भीत जनों को अभय-प्रदान। (७) इसके उपरान्त बीभत्स रस—क्योंकि सात्त्विक जन भय के प्रति जुगुप्सा प्रकट करते हैं। (८) इसके उपरान्त अद्‌भुत रस—क्योंकि बीभत्स को विस्मय द्वारा दूर किया जा सकता है। (९) सब से अन्त में शान्त रस की गणना की जाती है, क्योंकि शम सब धर्मों का मूल कारण है।[१]

निष्कर्षतः उक्त प्रसंग में 'काम' को प्रधान माना गया है, क्योंकि इसी पर ही धर्म और अर्थ दोनों आधारित हैं, तथा इन तीनों के बल पर शृंगार आदि नौ रसों की पूर्वापर-स्थिति निर्धारित की गयी है; तथा साथ ही प्रकारान्तर से शृंगार रस की प्रधानता भी सिद्ध की गयी है, क्योंकि अकेला शृंगार रस ही ऐसा है जो 'काम' से सम्बद्ध है। शृंगार के अतिरिक्त अन्य रस या तो अर्थ और धर्म में से किसी एक अथवा दोनों पर अवलम्बित हैं अथवा एक दूसरे रस पर। इस प्रकार से रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अग्निपुराणकार एवं भोजराज की एतद्विषयक प्रख्यात धारणा का अन्य रूप से समर्थन किया है कि शृंगार रस सर्वोपरि रस है।

(४) शृङ्गार रस के दोनों भेदों का निर्णायक आधार

शृंगार रस के दो प्रचलित भेदों के सम्बन्ध में ग्रन्थकारों का कहना है कि ये भेद गाय के चितकबरे और काले वर्ण के समान नितान्त विभिन्न न होकर परस्पर संकुलित (मिश्रित) रहते हैं, क्योंकि एक ओर सम्भोग में विप्रलम्भ की सम्भावना बनी रहती है और दूसरी ओर विप्रलम्भ में मनोगत सम्भोग का भाव अनुस्यूत रहता है। किन्तु इस स्थिति में निर्णय उत्कटता के आधार पर किया जाता है।[२] हाँ, यदि किसी पद्य में दोनों अवस्थाओं को प्रस्तुत किया जाता है तो वह मीलित (एक समान आह्लादक) चित्रण का स्थल अतिशय चमत्कार का द्योतक होता है—

अवस्थाद्वयमीलननिबन्धने च सातिशयश्चमत्कारः। (हि० ना० द० पृष्ठ ३०६)

इनमें से प्रमम धारणा का आधार व्याकरणशास्त्र का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति।' निस्सन्देह शृङ्गार के दोनों भेदों में इतर भेद का अंश संवलित रहता है और उसका व्यपदेशक आधार है किसी एक तत्त्व का प्राधान्य। किन्तु दूसरी धारणा विचारणीय है। प्रथम तो ऐसे पद्यों का मिलना असम्भव है, जिन में सम्भोग अथवा विप्रलम्भ में से किसी एक रूप की प्रधानता लक्षित न होती हो, और दूसरे, पंडितराज जगन्नाथ के शब्दों में संयोग और विप्रलम्भ का एकमात्र आधार अन्तःकरण की वृत्ति-विशेष है; बाह्य वातावरण नहीं है।[३] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इस प्रसंग में जो उदाहरण प्रस्तुत किया है[४], उसी से मिलता जुलता उदाहरण जगन्नाथ ने भी इसी प्रसंग में दिया है—

१, २. हि० ना० द० पृष्ठ ३०५, ३०६

३. **इमौ संयोगवियोगाख्यावन्तःकरणवृत्तिविशेषौ। —रसगंगाधर पृष्ठ ४१**

४. **"एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो" इत्यादि**

—हि० ना० द० पृष्ठ ३०७

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्त्तुमहो मनोरथान् ।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥
[रसगंगाधर पृष्ठ ४१,४२]

इन दोनों उदाहरणों में अन्तःवृत्ति के आधार पर अन्ततः सम्भोग शृंगार की ही स्वीकृति होगी, वियोग की भावना तो यहां उद्दीपक मात्र है ।

(५) **अद्भुत रस की महत्ता एवं स्थिति**

नाट्यदर्पण में अद्भुत रस की चर्चा दो स्थलों पर की गयी है—एक 'परिगूहन' नामक निर्वहण-सन्ध्यङ्ग के प्रसंग में और दूसरे 'नाटक' नामक रूपक के प्रसंग में ।

पहले प्रसंग में अद्भुत रस का सामान्य सा स्वरूप-निर्देश है—"अद्भुत रस की प्राप्ति 'उपगूहन' (परिगूहन) कहाती है । इसका स्थायिभाव 'विस्मय' है । उदाहरणार्थ, रामाभ्युदय नाटक में सीता-ज्वलन प्रकरण के अन्तर्गत सीता के लिए अग्निदेव का प्रवेश आदि ।" [पृ० १८८]

दूसरे प्रसंग में अद्भुत रस की महत्ता एवं स्थिति पर प्रकाश डाला गया है—"नाटक नामक रूपक में एक रस अंगीरूप में होना चाहिए, तथा अन्य रस अंगरूप में । इसके अन्त में अद्भुत रस होना चाहिए : **एकाङ्गिरसमन्याङ्गम् अद्भुतान्तम्'** । 'अद्भुतान्तम्' पद का विग्रह करते हुए आचार्य कहते हैं कि "अद्भुत एव रसोऽन्ते निर्वहणे यत्र", अर्थात् नाटक के अन्त में—निर्वहण सन्धि में—अद्भुत रस होना चाहिए । इसकी व्याख्या में आगे कहा गया है कि "नाटक में एक ओर शृंगार, वीर, रौद्र आदि रसों द्वारा स्त्रीरत्न, पृथ्वीलाभ, शत्रुक्षय रूप सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है, और दूसरी ओर करुण, भयानक तथा बीभत्स रसों द्वारा इन सब की अप्राप्ति । किन्तु नाटक के अन्त में अद्भुत रस द्वारा लोकोत्तर एवं असम्भाव्य फलरूप प्राप्ति दिखानी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई फल तो अवश्य होता ही है, अतः यदि नाटक में असाधारण वस्तु रूप फल की कल्पना न की गयी तो फिर इसके निर्माण में परिश्रम करने से क्या लाभ ?"
(पृष्ठ ३७)

इस कथन का अभिप्राय यह है कि अंगी रस चाहे कोई भी हो किन्तु उस रस से सम्बद्ध फल 'अद्भुत' से मिश्रित होना चाहिए । 'अद्भुत' से यहां तात्पर्य है ऐसा फल जो एक ओर तो असम्भाव्य हो, अर्थात् जो सामान्य परिस्थितियों में सुलभ न हो, अथवा जिसके लिए नायक को लोकाचार से किंचिद् विलक्षण आचरण करना पड़े अथवा घोर विपत्तियों का सामना करना पड़े; और दूसरी ओर वह लोकोत्तर हो, अर्थात् जिसकी प्राप्ति सामान्य जन के लिए प्रायः असम्भव सी होती हुई भी सबकी लालसा एवं कामना का विषय बनी रहे । उदाहरणार्थ, सामान्य लोकव्यवहार के समान केवल विवाह-सम्बन्ध द्वारा नायिका की प्राप्ति में अद्भुत-तत्त्व का समावेश न होने के कारण यह नाटक का विषय नहीं है । हाँ, दुष्यन्त-शकुन्तला का प्रेम-प्रसंग नाटक का विषय बन सकता है, क्योंकि इसमें एक ओर लोकाचार से विलक्षण आचरण किया गया है और दूसरी ओर अनिन्द्य सुन्दरी शकुन्तला रूप फलप्राप्ति प्रत्येक सहृदय की लालसा एवं कामना का विषय बन गयी है । इसी प्रकार 'पृथ्वीराज-संयोगिता स्वयंवर' भी असामान्य वरमाला-प्रसंग के समावेश के कारण नाटक का विषय बन सकता है । इसी प्रकार वीर रस के नाटकों में भी नैपोलियन का यह कथन भी कि "मैं गया, मैंने देखा और मैंने जीत लिया" उसी स्थिति में नाटक

का विषय बन सकता है जब कि या तो शत्रुपक्ष का कायरतापूर्ण पलायन भी साथ ही दिखाया जाए, या फिर यह दिखाया जाए कि शत्रुओं के रक्त की प्यासी तलवार ज्यों की त्यों खिंची रह गयी और वह 'बेचारा' जनशून्य शत्रु-नगरी में हाथ मलता रह गया। किन्तु इस सबसे बढ़कर आदर्श स्थिति राम-रावण युद्ध प्रसंग की माननी चाहिए जिसमें राम ने रावण पर आक्रमण करके उसकी सेना एवं सहयोगी वीर सम्बन्धियों का मूलोच्छेदन करके लंका-विजय के उपरान्त सीता का उद्धार किया।

इन सब प्रकरणों में अंगी रस शृंगार अथवा वीर रस स्वीकार किये जाएंगे। यदि इनमें अन्य रसों की झलक मिलेगी भी तो वे अंगी के पोषक होने के कारण अंगरूप में स्वीकृत रहेंगे। किन्तु अंगी (पोष्य) रस के चमत्कार का मूल कारण ये अंग (पोषक) रस नहीं हैं, अपितु 'अद्भुत' का समावेश ही है—यह रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मूल अभिप्राय है, और शायद इसी अथवा इस प्रकार की धारणा से प्रेरित होकर धर्मदत्त नामक आचार्य ने निम्नलिखित कथन में अद्भुत रस की सर्वत्र (सब सरस रचनाओं में) स्वीकृति कर ली थी—

रसे सारः चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥[1]

और इसी आधार पर ही नारायण नामक आचार्य (आचार्य विश्वनाथ के प्रपितामह) ने केवल अद्भुन रस को ही एकमात्र रस घोषित किया था—**तस्माद् अद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।**[2]

निस्सन्देह रस में चमत्कार ही सारभूत तत्त्व है। चमत्कार को विश्वनाथ के शब्दों में विस्मय का अपर पर्याय भी कह सकते हैं, जिससे सहृदय के चित्त का विस्तार होता है।

"चमत्कारः चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः"

और इस चमत्कार अथवा विस्मय को खींचतान कर 'अद्भुत' का भी पर्याय मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, और यही अद्भुत सभी रसों में एक अनिवार्य तत्त्व भी है, क्योंकि इसके बिना रस की सिद्धि ही सम्भव नहीं है। किन्तु यह सब स्वीकार करते हुए भी—

(१) न तो रामचन्द्र-गुणचन्द्र आचार्यों के समान इस 'अद्भुत' को 'अद्भुत रस' इस नाम से अभिहित करना चाहिए, और

(२) न आचार्य नारायण के समान इस अद्भुत को ही एकमात्र रस स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि उक्त स्वीकृति में यह 'चमत्कार' अथवा 'अद्भुत' नामक तत्त्व रचना के मूल रस का केवल साधन मात्र होता है, साध्य नहीं होता, साध्य तो शृंगार आदि अन्य रस ही होते हैं। केवल इतना ही क्यों, यहां तक कि जिस रचना में अद्भुत रस साध्य रूप में रहेगा, वहां भी साधन रूप में ही इसकी स्थिति अनिवार्यत. रहेगी। निष्कर्षतः इस प्रसंग में 'अद्भुत' शब्द काव्य-चमत्कार का ही पर्याय है. अद्भुत रस का नहीं।

(६) शान्त रस का स्थायिभाव—

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शान्त रस का स्थायिभाव निर्वेद न मानकर 'शम' माना है। इस सम्बन्ध में उनके निम्न कथन उल्लेखनीय हैं—

१,२. साहित्यदर्पण ३।३ वृत्ति।

(१) निःस्पृहता (इच्छा के अभाव) को 'शम' कहते हैं—**निःस्पृहत्वं शमः**। (पृष्ठ ३३०) काम, क्रोध, लोभ, मान, माया आदि से रहित, विषयसंलग्नता से विमुक्त, अक्लिष्ट चित्तवृत्ति रूप 'शम' नामक स्थायिभाव शान्त रस [के रूप में अभिव्यक्त] होता है : **'काम-क्रोध-लोभ-मान-माया-द्यनुपरक्त-परोन्मुखता-विवर्जिताऽक्लिष्टचेतोरूपशमस्थायी शान्तो रसो भवति।** (पृष्ठ ३१७)

(२) दरिद्रता, व्याधि, अपमान, ईर्ष्या, भ्रम, आक्रोश, ताडन, इष्टवियोग, पर-विभूतिदर्शन आदि (सांसारिक) क्लेशों के कारण विरसता (वैराग्यभाव) तथा तत्त्वज्ञान को निर्वेद नामक संचारिभाव कहते हैं—**निर्वेदस्तत्त्वधीः क्लेशैर्वैरस्यम्**। (पृष्ठ ३३१)

(३) जन्म-मरण से युक्त संसार से, भय तथा वैराग्य से, जीव, अजीव (परमात्मा और प्रकृति), पाप-पुण्य आदि तत्त्वों तथा मोक्ष के उपायों के प्रतिपादक शास्त्रों के विमर्शन से शान्त रस की उत्पत्ति होती है। (पृष्ठ ३१७)

स्पष्टतः उक्त कथनों में 'शम' को स्थायिभाव माना गया है और 'निर्वेद' को संचारिभाव। रामचन्द्र-गुणचन्द्र से पूर्व मम्मट ने निर्वेद को स्थायीभाव भी माना था और संचारिभाव भी, तथा 'निर्वेद' स्थायिभाव से शान्त रस की अभिव्यक्ति स्वीकृत की थी।[1] किन्तु इन आचार्यों ने मम्मट के इस मन्तव्य को अस्वीकृत करते हुए कहा है कि एक ही भाव को इन दोनों नामों से अभिहित करना स्ववचनविरोध है।[2] किन्तु वस्तुतः मम्मट को भी वही अभीष्ट है जो इन दोनों आचार्यों को है। उन्होंने सभी स्थायिभावों तथा संचारिभावों की सूची प्रस्तुत करके इन्हें 'लक्षण नाम प्रकाश' समझ कर इनका लक्षण प्रस्तुत नहीं किया। किन्तु उनके शान्त रस के प्रख्यात उदाहरण "अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा" से निस्सन्देह यही प्रतीत होता है कि निर्वेद नामक-स्थायिभाव तत्त्वज्ञान से उत्पन्न भाव है, न कि साँसारिक क्लेशों के कारण उत्पन्न वैराग्य भाव से। हाँ, यह दूसरा रूप इसे संचारिभाव की ही संज्ञा देगा, स्थायिभाव की नहीं।

मम्मट की इसी धारणा को मम्मट के टीकाकारों ने भी समझा था और स्पष्टतः लिखा था—

> **स्थायी स्याद् विषयेष्वेष तत्त्वज्ञानाद् भवेद् यदि।**
> **इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ॥**
>
> **का० प्र० (बालबोधिनी टीका) पृष्ठ ११६**

किन्तु फिर भी, रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने निर्वेद और शम का स्वरूप अलग-अलग दिखाकर विषय की स्पष्टता में पूर्ण सहयोग दिया है, और सम्भवतः इनके ग्रन्थ से अथवा इसी के अनुरूप किसी

---

१. (क) **निर्वेदस्य × × × प्रथमम् × × × उपदानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताभिधानार्थम्। का० प्र० ४। ३४**

(ख) **निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।**

वही ४। ३५

२. **मम्मटस्तु व्यभिचारिकथनप्रस्तावे निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायितां, 'प्रतिकूलविभावादि-परिग्रहः' इत्यत्र तु तमेव प्रति व्यभिचारितां च ब्रुवाणः स्वचनविरोधेन प्रतिहतः इति। —हि० ना० द० पृष्ठ ३३२।**

अन्य ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर विश्वनाथ ने भी काव्यप्रकाश के समान 'निर्वेद' को दोनों रूपों में स्वीकृत न कर इन्हीं के अनुरूप शम तथा निर्वेद दोनों भावों की अलग-अलग स्वीकृति की है।[1] वस्तुतः स्वच्छ प्रतिपादन के लिए आवश्यक भी यही था।

(७) **अभिनय और नट तथा प्रेक्षक—**

'अभिनीयते इति अभिनयः'। अभिनय उसे कहते हैं जिसके द्वारा [अभीष्ट] अर्थ (विषय) सामाजिकों के सम्मुख साक्षात् रूप से प्रस्तुत किया जाता है—**सामाजिकानामाभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यतेऽर्थोऽनेनेति अभिनयः।**

अनुकर्त्ता (नट) अपने अनुकरण द्वारा अनुकार्य (रामादि) और प्रेक्षक के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है: उसके अनुकरण के बल पर प्रेक्षक उसे ही अनुकार्य समझने लगता है। किन्तु यह सब कैसे सम्भव होता है क्योंकि न तो अनुकर्ता ने अनुकार्य को देखा होता है, और न प्रेक्षक ने। अतः न तो अनुकर्ता अनुकार्य का [यथावत्] अनुकरण कर सकता है और न प्रेक्षक अनुकर्ता के अनुकरण को देखते हुए भी इसे [वास्तविक] अनुकरण मान सकता है।[2]

इस शंका के समाधान में रामचन्द्र-गुणचन्द्र के निम्न कथन उल्लेखनीय हैं:

१. अभिनेता कवि-प्रणीत रामादि के चरित को पढ़कर अत्यन्त अभ्यास द्वारा ऐसा अनुभव करने लगता है कि उसने अनुकार्य को स्वयं देख सा लिया है और पुनः यह अध्यवसान करने लगता है कि मैं उसी का ही अनुकरण कर रहा हूँ।[3]

२. यहां एक शंका की जा सकती है कि कवि जन अपने नाटकों में राम आदि अनुकार्य की अवस्था का चित्रण कैसे कर पाते हैं जबकि उन्होंने भी तो राम को नहीं देखा होता। इसके उत्तर में कहा गया है कि "त्रिकालदर्शी ऋषिजनों से उन्हें यह ज्ञान मिलता है, जिसके आधार पर वे अपने नाटकों का निर्माण करते हैं, तथा इनके ही ज्ञान पर पूर्ण विश्वास करने से प्रेक्षक भी नट को अनुकार्य समझ लेता है।[4]

३. यद्यपि नट को यह ज्ञात नहीं होता कि अमुक अवसर पर किस प्रकार का हास्य अथवा रोदन अनुकार्य ने किया होगा, किन्तु वह वस्तुतः लोकव्यवहार का (लोक में विभिन्न अवसरों पर हंसने और रोने वाले व्यक्तियों का) अनुकरण कर रहा होता है।[5]

---

१. साहित्यदर्पण ३। १४२, १७५, २४५
२. **रामादेरनुकार्यस्य नटेन प्रेक्षकैर्वा स्वयमदृष्टत्वात्। अनुकर्त्ता हि अनुकार्यमदृष्ट्वा नानुकर्तुमलम्। प्रेक्षकोऽपि चादृष्टानुकार्यो नाऽनुकर्तुरनुकर्तृत्वमनुमन्यते।**
हि० ना० द० पृष्ठ ३५२
३. **तदयं नटो रामादेश्चरितं कविनिबद्धमधीत्य अत्यन्ताऽभ्यासवशतः स्वयं दृष्टमनुमन्यमानोऽनुकरोमि इत्यध्यवस्यति। —वही**
४. **इह तावद् इत्थमाकृतिरित्थं गतिः × × × इत्येवमशेषमपि रामादिललितम् ऋषीणां कालदर्शिना ज्ञानेन निश्चितं कवयो नाटके निबध्नन्ति। तत्र चार्थे मुनिज्ञानविश्वासात् नटस्य साक्षाद् दर्शनेमेव। —वही, पृष्ठ ३५३**
५. **परमार्थतस्तु लोकव्यवहारमेवाऽयमनुवर्तते। —वही**

४. उधर प्रेक्षक भी यद्यपि देश-काल के भेद के कारण नट को रामादि समझने में असमर्थ होता है, तो भी नट द्वारा उच्चरित रामादि के शब्द-संकेतों के श्रवण तथा अत्यन्त मनोरम संगीत आदि के वशीभूत होकर उस नट को रामादि समझने लगता है जो [वाचिक आदि] चार प्रकार के अभिनय से आच्छादित हो चुका होता है—उसका अपना वास्तविक रूप रामादि के रूप के नीचे ढँप गया होता है। ऐसी स्थिति में प्रेक्षक रामादि की सुख अथवा दुःख रूप अवस्थाओं में लीन हो जाता है।[1]

५. इसके अतिरिक्त अनुकर्त्ता को अनुकार्य समझ लेने का कारण भ्रान्ति भी है, जिसके बल पर प्रेक्षक शृंगार आदि रसों का आस्वाद प्राप्त करता है: **उन्मिषन्ति च भ्रान्तेरपि शृंगारादयः।** क्योंकि इसी भ्रान्ति के ही कारण स्वप्न में भी कामिनी, वैरी अथवा चोर आदि को देख कर स्वप्नद्रष्टा स्तम्भ आदि अनुभावों का अनुभव करते हैं।[2]

उक्त कथनों का निष्कर्ष यह है कि कोई प्रेक्षक जब तक अनुकर्ता को कृत्रिम व्यक्ति समझ रहा होता है तब तक उसे रसास्वाद प्राप्त नहीं हो सकता।[3] किन्तु जब वह उसे अनुकार्य समझने लगता है तभी उसे रसास्वाद की प्राप्ति होती है। उसे अनुकार्य समझ लेने का कारण है उसका अभिनय-कौशल तथा अन्य रंगमञ्चीय मनोहारी व्यवस्था। इन दोनों को नाटचदर्पण के अनुसार 'भ्रान्ति' अथवा चकाचौंध भी कह सकते हैं। उधर अनुकर्ता का अभिनय-कौशल भी इसी अध्यवसान पर आधारित है कि वह अपने आपको अनुकार्य ही समझ ले और यह तभी सम्भव है जब एक ओर तो वह कवि-निबद्ध नाटक का पुनः पुनः अभ्यास करता है और दूसरी ओर वह लौकिक व्यवहार से विभिन्न प्रकार के मनोभावों का प्रदर्शन सीखता है। शेष रहा कवि का प्रश्न कि उसे अनुकार्यों की विभिन्न मनोदशाओं का ज्ञान कैसे हो जाता है? वह इसे ज्ञानचक्षुओं से देखने वाले ऋषियों से प्राप्त करता है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का उक्त विवेचन अधिकांशतः मान्य है। उनका अन्तिम कथन किञ्चित् शिथिल है। इसका अभिप्राय केवल यही लिया जा सकता है कि कविजन काव्य-नाटक के निर्माण के समय अपनी कल्पना के बल पर जो विवरण प्रस्तुत करते हैं वे शायद लगभग वैसे ही होंगे जैसे कि अनुकार्यों के साथ घटित हुए होंगे। जिसे आज का आलोचक कल्पना (इमैजिनेशन) कहता है उसे रामचन्द्र-गुणचन्द्र के शब्दों में 'ऋषियों की ज्ञानचक्षु' कह सकते हैं। स्वयं वाल्मीकि भी यदि राम के समय में रहे हों तो भी वे उनकी सर्व प्रकार की मनोदशाओं से अवगत नहीं होंगे। अतः उनकी ज्ञानचक्षु को 'कल्पना' का पर्याय मान सकते हैं। इसी प्रकार भास, कालिदास आदि नाटककारों ने अन्य मुनियों के सम्पर्क द्वारा अनुकार्य व्यक्ति की मनोदशाओं का ज्ञान प्राप्त किया होगा—यह मानना भी न तो व्यवहार-संगत है और न बुद्धिसंगत।

हमारे विचार में अनुकार्य की स्थिति के अवबोध के लिए सर्वप्रमुख साधन है परम्परा-

---

१. प्रेक्षकोऽपि रामादिशब्दसंकेतश्रवणाद् अतिहृद्यसंगीतकाहितवैवश्याच्च स्वरूपदेशकालभेदेनाऽतथाभूतेष्वपि अभिनेयचतुष्टयाऽऽच्छादनात् तथाभूतेष्विव नटेषु रामादीनध्यवस्यति। अतएव तासु तासु सुखदुःखरूपासु रामाद्यवस्थासु तन्मयीभवति। —वही, पृष्ठ ३५२-३५३

२. उन्मिषन्ति च भ्रान्तेरपि शृंगारादयः। कामिनीवैरि-चौरादीन् अधिस्वप्नमभिपश्यतः पुंसः कथम् अपरथा रसप्ररोहरोहिणस्तत्र स्तम्भादयोऽनुभावाः प्रादुर्भवेयुरिति।—वही, पृष्ठ ३५३

३. कृत्रिममेतद् इति जानन्तो (प्रेक्षकाः) न रामादिसुखदुःखेषु तन्मयीभवेयुः। —वही

गत ज्ञान अथवा लोकानुश्रुति। इसी के ही बल पर कविजन राम के परम्परागत अथवा लोकानुश्रुत रूप का चित्रण करते चले आये हैं। यद्यपि अपनी कल्पना के आधार पर वे उनके चरित्र में इधर-उधर परिवर्तन भी कर देते हैं, तथापि उन के मूल रूप में, उनकी मूल भावना में, कोई अन्तर नहीं आता। वह अपने ही देश-विशेष अथवा काल-विशेष के व्यक्ति के रूप में ही चित्रित किये जाते हैं, अन्य देश अथवा काल के व्यक्ति के रूप में नहीं। इसी प्रकार नट भी यद्यपि नाटक में निर्दिष्ट नाटककार (अथवा निर्देशक) के 'स्वगत, प्रकट, सावेग, सकोप, सहर्ष 'तारस्वरेण' आदि निर्देशों द्वारा अभिनय-कौशल प्राप्त करता है, किन्तु किसी व्यक्ति-विशेष के अभिनय के लिए उसे निर्देशन लोक-परम्परा द्वारा ही मिलता है। विरही राम, विरही यक्ष और विरही पुरुरवा के विरह-विलाप में क्या अन्तर है यह ज्ञान उसे अथवा उसके निर्देशक को केवल लोक-परम्परा द्वारा ही मिलता है। ठीक यही स्थिति प्रेक्षक की भी है। सीता के वियोग में 'राम' यदि रंगमंच पर बिसूरने लगता है तो भारतीय परम्परा से अभिज्ञ प्रेक्षक का 'करुण' रस हास्य-विनोद में परिवर्तित हो जाता है, किन्तु इस परम्परा से अनभिज्ञ किसी विदेशी के रसास्वाद में कोई अन्तर नहीं आता। बिसूरना भी करुण रस की अभिव्यक्ति का कारण बन सकता है पर सामान्य अनुकार्य के अनुकरण-प्रसंग में न कि राम जैसे धीरोदात्त नायक के प्रसंग में। इस रसभंग अथवा रसास्वाद का एक मात्र कारण है लोक-परम्परागत ज्ञान अथवा लोकानुश्रुति। इसी कसौटी पर यदि कोई नट अभिनय करता है तो प्रेक्षक उसे अनुकार्य समझकर रसास्वाद प्राप्त करता है।

८. रस की सुखदुःखात्मकता

इस ग्रन्थ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रसंग वह है जिसमें रस को सुखदुःखात्मक कहा गया है—**सुखदुःखात्मको रसः**। (३।७) इस कथन को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकारों का अभिमत है कि जहाँ शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त ये पाँच रस सुखात्मक हैं, वहाँ करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार रस दुःखात्मक हैं।[1] प्रथम वर्ग के रस तो निर्विवाद रूप से सुखात्मक हैं ही, किन्तु द्वितीय वर्ग के रसों को भी यदि सुखात्मक मान लिया जाता है तो इसी पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र को आपत्ति है। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्नोक्त चार तर्क उपस्थित किये हैं :

१. उनका पहला तर्क यह है कि भयानक आदि रस सहृदयों को किसी अवर्णनीय क्लेशदशा तक पहुँचा देते हैं। इनसे सामाजिक उद्वेग प्राप्त करते हैं। सुखास्वाद से भी भला कहीं कोई उद्विग्न होता है ?[2] सीता का हरण, द्रौपदी के वस्त्रों तथा केशों का कर्षण, हरिश्चन्द्र की चाण्डाल के यहाँ दासता, रोहिताश्व की मृत्यु आदि घटनाओं के अभिनय को देखकर कौन ऐसा सहृदय है जो सुखास्वाद को प्राप्त करता हो ?[3]

२. दूसरा तर्क यह है कि काव्य-नाटक में लौकिक आचार-व्यवहार का चित्रण यथार्थ रूप में ही किया जाता है। कविजन सांसारिक सुखों का वर्णन सुख-रूप में करते हैं और दुःखों का वर्णन दुःख-रूप में। विरही राम-सीता आदि अनुकार्यों की करुण-दशाएँ निस्सन्देह दुःखात्मक

---

१. हिन्दी नाट्यदर्पण पृष्ठ २९०।

२. भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो वा रसास्वादवताम् अनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अतएव भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादाद् उद्वेगो घटते।
—वही, पृष्ठ २९१।

३. वही, पृष्ठ २९१-२९२।

होती हैं, अतः यदि उनके काव्य-नाटक गत अनुकरण को सुखात्मक माना जाए तो वह अनुकरण वास्तविक न होगा, क्योंकि वह लौकिक वस्तुस्थिति से विपरीत ही रहेगा।[1]

३. रस को सुखात्मक मानने वालों की ओर से यह कहा जा सकता है कि जैसे लोक में विरही एवं शोकाकुल जनों के सम्मुख कारुणिक प्रसंगों का वर्णन अथवा अभिनय करने से उन्हें सुख-सान्त्वना मिलती है, इसी प्रकार काव्य-नाटक गत करुण, भयानक आदि रस भी सुखात्मक ही हैं, दुःखात्मक नहीं हैं। किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में भी दुःखी जनों को जो सुखास्वाद मिलता प्रतीत होता है, मूलतः वह भी दुःखास्वाद ही है, क्योंकि यदि वही व्यक्ति दुःखपूर्ण वार्ताओं से सुख-सा अनुभव प्रतीत करता है, तो प्रमोदपूर्ण वार्ताओं से [इतर जनों के समान] सुख का अनुभव न कर विकलित ही होता है। अतः वादियों का उक्त सहानुभूति-मूलक तर्क मनस्तोषक एवं मान्य नहीं है। वस्तुतः करुण आदि रस दुःखात्मक ही हैं।[2]

४. यद्यपि भयानक, करुण आदि रस दुःखात्मक ही हैं, फिर भी यदि इनसे सहृदय परम आनन्द को प्राप्त करते हैं तो केवल-मात्र कवि एवं नट की कुशलता से चमत्कृत होकर ही।[3]

इस कथन से ग्रन्थकारों का तात्पर्य यह है कि कवि के व्यवस्थित एवं मार्मिक निरूपण को पढ़कर अथवा नट के सुन्दर एवं हृदयहारी अभिनय को देखकर हमें जो आस्वाद प्राप्त होता है, उसकी लोलुपता ही सहृदय को भयानक, करुण आदि रसों से युक्त भी काव्य-नाटकों से आनन्द प्राप्त कराती है तथा उन्हें बार बार पढ़ने-देखने की ओर प्रवृत्त कराती है, अन्यथा ये रस तो दुःखात्मक ही होते हैं। एक उदाहरण द्वारा अपने कथन की पुष्टि करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जिस प्रकार लोक में वीर पुरुष अपने उस प्राण-घातक शत्रु को भी देखकर आश्चर्यचकित से रह जाते हैं जो प्रहार करने में अत्यन्त निपुण होता है,[4] उसी प्रकार प्रेक्षक भी अथवा नटके कौशल द्वारा चमत्कृत हो जाते हैं।

उक्त तर्कों में से प्रथम तर्क मन के उद्वेग को लक्ष्य में रख कर प्रस्तुत किया गया है और द्वितीय तर्क लौकिक व्यवहार और काव्य-रचना की पारस्परिक अन्वति को। तृतीय तर्क लौकिक सहानुभूति एवं सान्त्वना से सम्बद्ध है और चतुर्थ तर्क काव्यत्व एवं अभिनय-जन्य बाह्य चमत्कार से। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो इन चारों तर्कों के मूल में एक ही भ्रान्त धारणा सन्निहित है कि लौकिक व्यवहार और कवि-कृति में कोई अन्तर नहीं है, ये दोनों एक ही धरातल पर अवस्थित हैं। यही कारण है कि पहले तर्क में सहृदय को भी भयानक, करुण आदि रसों

---

१. (क) कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति।

(ख) तथानुकार्यगताश्च करुणादयः परिदेवितानुकार्यत्वात् तावद् दुःखात्मका एव। यदि चाऽनुकरणे सुखात्मनः स्युः न सम्यग् अनुकरणं स्यात्। विपरीतत्वेन भासनाद् इति। —वही, पृष्ठ २९१-२९२।

२. वही, पृष्ठ २९२।

३. अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। —वही, पृष्ठ २९१।

४. विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणाऽपि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः। —वही

द्वारा वैसा ही उद्विग्न एवं विकलित समझ लिया गया है जैसा कि सामान्य व्यवहार में भयभीत अथवा करुणाग्रस्त व्यक्ति को। किन्तु वस्तुतः लौकिक रति, शोक आदि भावों में तथा काव्यगत इन भावों में सदा अन्तर रहता है। लौकिक भाव एक देश, काल एवं व्यक्ति तक सीमित रहते हैं और काव्य-गत भाव प्रत्येक प्रकार की सीमा से नितान्त विमुक्त होते हैं। इसी प्रकार दूसरे तर्क में उक्त धारणा के ही बल पर लौकिक घटनाओं और काव्य-गत घटनाओं को एक-समान समझ लिया गया है। किन्तु यह एक अमान्य मन्तव्य है। दोनों में बहुविध तथा बहुहेतुक अन्तर रहता है। इनमें से एक अन्तर तो यह है कि काव्य में लौकिक घटनाओं के असमान केवल यथार्थ का चित्रण न होकर यथार्थ के साथ कल्पना-तत्त्व का सम्मिश्रण भी अनिवार्यतः रहता है। अस्तु! अतः लोक और काव्य की पारस्परिक अनुकूलता को आधार मानकर अनुकार्य के ही अनुरूप सहृदय के सुखदुःख का निर्णय करना मूलतः भ्रमपूर्ण है। अब तीसरे तर्क को लें। उधर लोक में पुत्र-विच्छेदविह्वला माता के शोक में, और इधर ऐसी माता को रंगमंच पर देखकर अथवा इसके चरित्र को पढ़कर शोक-विह्वल सहृदय के शोक में अन्तर है। उधर सान्त्वना से दुःख का हल्का होना, इस का कुछ क्षणों के के लिए लुप्त हो जाना अथवा इसका बढ़ जाना आदि सभी स्थितियां सम्भव हैं, किन्तु इधर शोक स्थायिभाव से उद्विग्न अथवा आकुल [यदि इस स्थिति को यह नाम दें तो] सहृदय के लिए प्रथम तो सान्त्वना-प्रदान का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि काव्य-नाटकगत घटनाओं से इतर घटनाओं के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं। और यदि उसके सम्मुख ऐसी घटनाएँ लायी भी जाती हैं तो उस समय वह सहृदय न होकर सांसारिक व्यक्ति-मात्र रह जाता है। चतुर्थ तर्क में सत्यता अवश्य है, पर एकांगी। कवि के रचना-कौशल से और विशेषतः नट के अभिनय-कौशल से जन्य चमत्कार निस्सन्देह सहृदय को अभिभूत कर देता है। इस कथन की पुष्टि में एक प्रत्युदाहरण लीजिए कि किस प्रकार एक अत्यन्त करुणोत्पादक एवं हृदयविदारक दृश्य भी एक अनाड़ी नट के असफल प्रदर्शन द्वारा करुण के स्थान पर हास्य का रूप धारण कर लेता है। अस्तु! कवि और नट की कुशलता से उत्पन्न चमत्कार से किसी भी स्थिति में इनकार नहीं किया जा सकता, किन्तु यह चमत्कार पूर्ववर्ती प्रभाव का उद्दीपक कारण होता है, उसका उत्पादक कारण नहीं होता। उदाहरणार्थ, शृंगार रस में वह सहृदय के रति भाव को उद्दीप्त करता है और करुण रस में उसके शोक भाव को। इसके अतिरिक्त उक्त कौशल-जन्य चमत्कार कवि अथवा नट की प्रतिभा के प्रति प्रेक्षक के हृदय में आश्चर्यभाव भी उत्पन्न करता है। किन्तु जैसा कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मन्तव्य है कि इसी आश्चर्यभाव को करुण रस में सुख-प्राप्ति का कारण नहीं मानना चाहिए। यह आश्चर्यभाव लौकिक होता है। अतः इससे लौकिक आह्लाद ही उत्पन्न हो सकता है, काव्यगत रस—सुखात्मक रस—उत्पन्न नहीं हो सकता।

(२)

रसों को सुखात्मक और दुःखात्मक स्वीकार करने वाले प्रथम आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र नहीं है। इनसे पूर्व भी कुछ इस प्रकार के स्पष्ट कथन मिल जाते हैं।[1]

(क) येन त्वभ्यधायि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव सुखदुःखस्वभावो रसः। [अज्ञात आचार्य] अभिनवभारती, भा० १ पृष्ठ २७८

---

१. विशेष विवरण केलिए देखिए 'रससिद्धान्त: स्वरूप-विश्लेषण' (आनन्दप्रकाश दीक्षित) पृष्ठ २०६–२३०

(ख) रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते. अतएव तदुभयजनकत्वम्।
—रसकलिका (रुद्रभट्ट) नम्बर आफ़ रस'ज़ पृष्ठ १५५

(ग) रसा हि सुखदुःखरूपाः। शृं० प्र० २य भाग पृष्ठ ३६६

किन्तु इन कथनों से यद्यपि यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता कि उक्त आचार्य सभी रसों को सुखात्मक और दुःखात्मक स्वीकार करते थे अथवा कुछ को सुखात्मक और कुछ को दुःखात्मक, किन्तु फिर भी सम्भावना यही है कि वे भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र के समान शृंगार, हास्य आदि को सुखात्मक मानते होंगे और भयानक, करुण आदि को दुःखात्मक। इन कथनों के अतिरिक्त आचार्य वामन ने किसी आचार्य के नाम पर ऐसा कथन भी उद्धृत किया है, जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह स्वयं अथवा सम्भवतः कुछ अन्य आचार्य भी करुण रस में सुख और दुःख दोनों का सम्मिश्रण मानते थे :

करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवःसुखदुःखयो।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवोजःप्रसादयोः॥ का० सू० वृ० ३।१।१९ वृत्ति

अर्थात् जिस प्रकार करुण रस के नाटकों में सुख और दुःख का मिश्रण सहृदयजनों के अनुभव द्वारा सिद्ध है, उसी प्रकार ओज और प्रसाद का मिश्रण भी उनके अनुभव द्वारा सिद्ध हैं। सुख पहले होता है अथवा दुःख पहले—इस ओर इस श्लोक में कोई संकेत नहीं है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें करुण रस में दुःख की स्थिति पूर्वमान्य होगी, और सुख की बाद में। दूसरे शब्दों में, सहृदय लौकिक दुःख का अनुभव करता हुआ भी अन्ततः काव्यगत आनन्द का—अलौकिक सुख का—अनुभव करता है। कुछ इस प्रकार की धारणा की व्याख्या मधुसूदन सरस्वती ने सम्भवतः सर्वप्रथम मौलिक रूप से की है। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि सभी रसों से निस्सन्देह सुख का अनुभव होता है, परन्तु यह अनुभव सब रसों में तुल्य रूप से नहीं होता। इसका कारण यह है कि सत्त्वगुण की प्रधानता ही सुख का हेतु है, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि किसी रस में रजोगुण और तमोगुण नितान्त अभिभूत हो जाएं और सत्त्वगुण पूर्णतः आविर्भूत अथवा उद्रिक्त हो जाए, अपितु रजोगुण और तमोगुण किसी न किसी अंश तक अवश्य विद्यमान रहते हैं। ये किस रस में कितनी मात्रा में विद्यमान रहते हैं, यद्यपि इसका निर्णय कर सकना कठिन है तथापि वे रहते अवश्य हैं। अतः उनके मिश्रण के तारतम्य के अनुसार सब रसों में सुख के साथ दुःख का मिश्रण भी समझना चाहिए।

इस प्रकार हमारे सम्मुख निम्नोक्त-चार विकल्प उपस्थित होते हैं—

(क) सभी रस सुखात्मक हैं,

(ख) सभी रस सुखदुःखात्मक हैं,

(ग) शृङ्गार, हास्य आदि रस सुखात्मक हैं और भयानक, करुण आदि रस दुःखात्मक हैं,

(घ) शृंगार आदि रस तो सुखात्मक हैं किन्तु भयानक आदि रस सुखदुःखात्मक हैं।

---

१. सत्त्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावनां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोंशमिश्रणात्तु तारतम्यमवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवः। —न० आफ़ र० पृष्ठ १५६

इन विकल्पों में से रामचन्द्र-गुणचन्द्र यद्यपि स्पष्टत: तीसरे विकल्प को स्वीकार करते हुए भयानक आदि को दुःखात्मक स्वीकार करते हैं, तथापि वे इन्हें अन्ततः सुखात्मक भी स्वीकार करते होंगे। कुछ इस प्रकार का संकेत उन्होंने स्वयं भी दिया है—**पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इति।** (हि० ना० द० पृष्ठ २९१) अर्थात् "जिस प्रकार पानक (खट्टे-मीठे-तीखे पेय) की मिठास दुःखस्वादजनक तीक्ष्ण पदार्थ के मिश्रण से और भी अधिक सुखास्वाद प्रदान करती है, उसी प्रकार करुण आदि रसों में भी दुःख का मिश्रण सुखास्वाद प्रदान करता है।" वस्तुत: देखा जाए तो पानक पदार्थ और करुण रस में स्थापित यह उपमेय-उपमान सम्बन्ध यथावत् एवं सुघटित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पानक में माधुर्य और तीक्ष्णता के मिश्रण में भले ही पूर्वापर-सम्बन्ध हो, किन्तु उसके आस्वाद में पूर्वापर-सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु करुण रस के शोक (लौकिक दुःख) और इस रस के आस्वाद (सुख) में निस्सन्देह पूर्वापर-सम्बन्ध बना रहता है, यद्यपि यह अलग बात है कि इनमें काल का अन्तर इतना त्वरित एवं क्षिप्र होता है कि यह कहते नहीं बनता कि इस दुःख और सुख में कोई काल-सम्बन्धी अन्तर है भी। अस्तु ! जो हो, रामचन्द्र-गुणचन्द्र का यह उद्धरण यह मानने के लिए पर्याप्त है कि वह उक्त विकल्पों में से तीसरे विकल्प को स्वीकार न कर चौथे विकल्प को स्वीकार करते होंगे कि भयानक, करुण आदि केवल दुःखात्मक न होकर सुखदुःखात्मक हैं। अथवा यों कहिये कि दुःखसुखात्मक हैं। पूर्वस्थिति में यह दुःखात्मक हैं और अन्तिम स्थिति में सुखात्मक। यदि यही उनकी मान्यता है तो इसकी व्याख्या उपस्थित की जा सकती है। यदि वे भयानक, करुण आदि को नितान्त दुःखात्मक स्वीकार करते हैं तो उनकी यह धारणा काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान के तो प्रतिकूल है ही, व्यवहार के भी सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण सर्वथा अमान्य है। इस दृष्टि से विश्वनाथ का केवल एक यही तर्क इसे अमान्य ठहराने के लिए पर्याप्त है कि करुण आदि रस इसीलिए सुखात्मक हैं कि सहृदय जन इसे देखने के लिए सदा उन्मुख अर्थात् लालायित रहते हैं—

> **करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।**
> **सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।**
> **किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः॥**
>
> सा० द० ३।४,५

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कोई पाठक उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ के अवलोकन के उपरान्त यह मानने को कदापि उद्यत न होगा कि उन जैसे तत्त्ववेता और चिन्तक आचार्य करुण आदि को केवल दुःखात्मक ही मानते होंगे। वह इसे दुःखात्मक मानते अवश्य होंगे किन्तु पूर्वस्थिति में, और अन्ततः वे इन्हें सुखात्मक ही मानते होंगे।

(४)

इस मान्यता की व्याख्या कई रूपों में तथा कई दृष्टियों से की जा सकती है :

१. शृंगार, करुण आदि सभी प्रकार के रसों में रति, शोक आदि सभी स्थायिभाव जब तक विभावादि के संयोग द्वारा रसरूप में परिणत अथवा अभिव्यक्त नहीं होते, तब तक उनसे लौकिक सुख अथवा दुःख का ही अनुभव होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी प्रेक्षक को शृंगार रस के नाटक में अपनी प्रेयसी की अथवा करुण रस के नाटक में अपने मृत पुत्र की स्मृति

हो आती है तो उसका रति अथवा शोक भाव उसे लौकिक सुख अथवा दुःख की अनुभूति करायेगा। वह प्रेक्षक नाटचगृह में बैठा हुआ भी तत्क्षण के लिए सहृदय न होकर सांसारिक व्यक्ति ही होता है। किन्तु जिस क्षण वही व्यक्ति निजत्व की भावना से ऊपर उठ जाता है, वही क्षण रसदशा का है—रतिजन्य सांसारिक सुख अथवा शोकजन्य सांसारिक दुःख इस रस-दशा की पूर्वस्थिति बन जाते हैं और रस-दशा अन्तिम स्थिति बन जाती है।

२. काव्यशास्त्रीय आधार पर लौकिक कारण, कार्य एवं सहकारिकारण काव्य में इसीलिए क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारिभाव कहाते हैं कि वे अब लौकिक क्षेत्र से ऊपर उठकर अलौकिकता के क्षेत्र में जा पहुँचते हैं। जब तक भय, शोक आदि भाव लौकिक कारण आदि से सम्पृक्त हैं, (चाहे वह घटना-स्थल नाटचगृह भी क्यों न हो), तब तक वे निस्सन्देह दुःखात्मक हैं, किन्तु विभाव आदि से सम्पृक्त होने के कारण वे सुखात्मक भयानक, करुण आदि रसों के रूप में परिणत हो जाते हैं।

३. भयानक, करुण आदि को अपनी परिणति में सुखात्मक स्वीकार करने के लिए काव्याचार्यों का 'साधारणीकरण' नामक सिद्धान्त एक प्रबल साधन है, जिसके बल पर सहृदय असाधारण (विशेष) से साधारण (सामान्य) भावभूमि पर उतर आता है।[1] उसका भय अथवा शोक किसी देश अथवा काल-विशेष से मुक्त हो जाता है।[2] वह अपने समस्त मोह, संकट आदि (से जन्य अज्ञान) से निवृत्त हो जाता है।[3] परिणामतः काव्य-नाटकगत कोई पात्र अब उसके लिए अपना विशिष्ट व्यक्तित्व खोकर मानव-मात्र बन जाता है—राम नामक पुरुष पात्र पुरुषमात्र बन जाता है और सीता नामक स्त्री-पात्र स्त्रीमात्र बन जाता है[4], और इसका अगला परिणाम यह होता है कि सहृदय निजत्व और परत्व दोनों प्रकार के विश्वासों से विनिर्मुक्त हो जाता है। अतः इस प्रकार की परिस्थिति में सहृदय के लिए न तो शृंगार आदि रसों द्वारा लौकिक सुखानुभूति स्वीकार की जा सकती है, और न भयानक आदि रसों द्वारा लौकिक दुःखानुभूति — यह अवस्था दोनों प्रकार के रसों में अलौकिक सुखात्मिका ही होती है।

इस प्रकार अन्त में हम कह सकते हैं कि—

१. प्रत्येक स्थायिभाव अपरिपक्व अवस्था में लौकिक सुख अथवा दुःख का कारण बनता है, किन्तु परिपक्व अवस्था में केवल अलौकिक सुख का ही।

२. भयानक, करुण आदि रसों में निस्सन्देह प्रेक्षक भय, शोक आदि से जन्य दुःख का अनुभव करता है—किन्तु वह लौकिक दुःख ही होता है—ठीक उसी प्रकार जैसे वह शृंगार, हास्य आदि रसों में रति, हास आदि से जन्य लौकिक सुख का अनुभव करता है। किन्तु यह लौकिक सुख अथवा दुःख रस-दशा की पूर्ववर्ती अवस्था है और रस-दशा उसकी परवर्ती अवस्था है।

---

१. (क) असाधारणस्य साधारणकरणम् इति साधारणीकरणम्।

२. ××× भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम्। —हिन्दी अभिनवभारती पृष्ठ ४७०

३. काव्ये ×× नाटचे चे ×× निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादि-साधारणीकरणात्मना ×××। —वही, पृष्ठ ४६४-४६५

४. तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषा स्त्रीमात्रवाचिनः। —दशरूपक ४/४० वृत्ति

३. किन्तु यह सदा आवश्यक नहीं कि प्रत्येक सहृदय को इस प्रकार के लौकिक सुख अथवा दुःख की अनुभूति हो ही, किन्हीं सहृदयों को नहीं भी होती, यद्यपि ऐसे सहृदयों की संख्या बहुत अल्प होती है, किन्तु दोनों प्रकार के रसों से उन्हें अलौकिक सुखानुभूति अवश्य प्राप्त होती है।

४. अतः भयानक आदि रसों को नित्य रूप से दुःखात्मक नहीं मान सकते, और अधिकांशतः ऐसा मान लेने पर भी वह दुःख लौकिक ही होता है, किन्तु यह दुःख परवर्ती अलौकिक सुखानुभूति की प्राप्ति के लिए किसी भी रूप में न तो अनिवार्य साधन है और न ही सहायक साधन। हाँ, वह अत्यन्त भावुक सहृदयों की अलौकिक सुखानुभूति के लिए उद्दीपक कारण अवश्य सिद्ध हो सकता है।

५. निष्कर्षतः भयानक, करुण आदि रस दुःखात्मक नहीं है, वे वे भी शृंगार आदि के समान सुखात्मक ही हैं।

(ख) नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्यदर्पण का स्थान

नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी उपलब्ध एवं अनुपलब्ध साहित्य का वर्गीकरण करने से हमें प्रमुख नाट्याचार्यों की सात कोटियां मिलती हैं : –

(१) भरत के पूर्ववर्त्ती आचार्य जिनकी रचनाओं को भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में सर्वथा आत्मसात् कर लिया है । इन आचार्यों की रचनाएँ अभी तक अप्राप्य हैं ।

(२) आचार्य भरत जिनका नाट्यशास्त्र शताब्दियों तक प्रायः सभी आचार्यों की रचनाओं का मूलाधार बना रहा ।

(३) भरत के अनुवर्त्ती आचार्य जिनकी रचनाएँ भरत के नाट्यशास्त्र पर आधृत हैं । इन्होंने कारिकाएं एवं वृत्तियां लिखकर भरत के मत का स्पष्टीकरण किया । इस वर्ग के प्रमुख आचार्य हैं—अभिनवगुप्त[१], धनञ्जय[२], सागरनन्दी[३], रामचन्द्र-गुणचन्द्र[४], शारदातनय[५], शिङ्गभूपाल[६], रूपगोस्वामी,[७] सुन्दरमित्र[८] और नन्दिकेश्वर[९] ।

(४) वे आचार्य जिनकी सम्पूर्ण रचनाएँ तो अनुपलब्ध हैं, किन्तु अन्य आचार्यों ने अपनी रचनाओं में जिनका उल्लेख करते हुए कहीं कहीं उनके उद्धरण दिये हैं । उदाहरणार्थ अभिनवगुप्त ने अपने प्रथम अध्याय में नान्दी का विवेचन करते हुए 'कोहलप्रदर्शिता नान्दी' लिख कर यह सिद्ध किया है कि उन्हें कोहल की कोई न कोई रचना उपलब्ध थी जो अब अप्राप्य है । वे एक स्थान पर भरत से कोहल का मतवैभिन्य दिखाते हुए वे लिखते हैं :

"अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेन एकादशाङ्गत्वमुच्यते । न तु भरते ।"
[अभिनवभारती, अध्याय ६ कारिका १० की वृत्ति]

अभिनवगुप्त ने दत्तिलाचार्य के श्लोकों को भी चौदह बार उद्धृत किया है । इससे सिद्ध होता है कि दत्तिल नामक आचार्य की भी कोई न कोई रचना अभिनवगुप्त को प्राप्त थी । सागरनन्दी के 'नाटकलक्षणरत्नकोष' में अश्मकुट्ट और बादरायण की रचनाओं के कई उद्धरण प्राप्त होते हैं । इसी ग्रन्थ में शातकर्णी नामक आचार्य के कई उद्धरण पाये जाते हैं । अभिनवगुप्त

---

१. रचना—अभिनवभारती — समय दसवीं शताब्दी का अन्त ।
२. „ दशरूपक — समय ९७४ से ९९४ ई० ।
३. „ नाटकलक्षणरत्नकोश — समय ११ शतक का पूर्वार्द्ध ।
४. „ नाट्यदर्पण — समय १२ शतक का मध्यभाग ।
५. „ भावप्रकाशन — समय १२ और १३ शतक के मध्य ।
६. „ नाटकपरिभाषा — समय १४ शतक ।
७. „ नाटकचन्द्रिका — समय १५ शतक ।
८. „ नाट्यप्रदीप — समय १६१३ ई० ।
९. „ अभिनयदर्पण — समय २-३ शती ई० (सम्भवत:)

ने तुंबरु नामक आचार्य की रचना का उद्धरण देकर एक स्थान पर लिखा है—'तुम्बरुणेद-मुक्तम् ।' अभिनवभारती के चौदहवें अध्याय में कात्यायन का मत कई श्लोकों में उद्धृत किया गया है। कात्यायन ने वीरों के भुजदंड के वर्णन में स्रग्धरा छन्द और नायिका-वर्णन में वसन्त-तिलका का प्रयोग विहित माना है। इसीप्रकार इसी ग्रन्थ के चौथे अध्याय में राहुल नामक आचार्य का मत देते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं—'यथोक्तं राहुलेन,' तथा 'ते च यथाह राहुलः' विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण में नखकुट्ट की रचनाओं के उद्धरण दिये हैं। इस प्रकार इस कोटि के प्रमुख नाट्याचार्य हुए—मातृगुप्त, दत्तिल, अश्मकुट्ट, बादरायण, शातकर्णी, तुम्बुरु, कात्यायन, राहुल, नखकुट्ट आदि ।

(५) पाँचवीं कोटि में वे आचार्य आते हैं जिनका एकमात्र नामोल्लेख पाया जाता है, किन्तु जिनकी न तो कोई रचना उपलब्ध है, न किसी श्लोक का उद्धरण ही कहीं पाया जाता है। ऐसे आचार्यों में भरत के पूर्ववर्ती हैं—शिलालिन्, कृशाश्व, धूर्तिल, शाण्डिल्य, वात्स्य जिनका उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में पाया जाता है। अभिनवभारती, दशरूपक और भावप्रकाशन में सदाशिव, पद्मभू, द्रौहिणि, व्यास, आञ्जनेय नामक आचार्यों का नाट्यकार के रूप में वर्णन मिलता है, परन्तु उनकी किसी रचना का उद्धरण नहीं पाया जाता। शारदातनय ने अपने ग्रंथ भावप्रकाशन में सुबन्धु का उल्लेख किया है। यदि यह सुबन्धु वासवदत्ता के रचयिता भी हैं तो इनका समय पाँचवीं शताब्दी में मानना होगा, किन्तु नाट्यसम्बन्धी इनकी कोई भी रचना प्राप्य नहीं है।

(६) छठी कोटि में वे आचार्य आते हैं जिन्होंने नाटक के सम्बन्ध में कोई स्वतंत्र रचना न करके केवल भरत-नाट्यशास्त्र का भाष्य प्रस्तुत किया है। ऐसे भाष्यकारों में आचार्य अभिनवगुप्त, कीर्तिधर, नान्यदेव, भट्ट उद्भट, श्रीशंकुक, भट्टयंत्र प्रसिद्ध हैं।

(७) सातवीं कोटि में वे आचार्य हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्र के सभी अंगों को ग्रहण करके उसके कुछ अध्यायों में नाट्य-शास्त्र का विवेचन किया है। ऐसे आचार्यों में शिङ्गभूपाल, रूपगोस्वामी, भोजराज, विद्यानाथ और विश्वनाथ प्रसिद्ध हैं। शिङ्गभूपाल ने अपने ग्रन्थ 'रसार्णव-सुधाकर' में एक ओर तो 'नाटक-परिभाषा' की रचना केवल नाट्य-विषयों को लेकर की, और दूसरी ओर इस ग्रन्थ के अंतिम भाग में काव्य के अन्य विषयों के साथ नाट्यशास्त्र पर भी प्रकाश डाला। इसी प्रकार भोजराज ने 'शृंगारप्रकाश' के बारहवें प्रकाश में नाटक का वर्णन किया और शेष में साहित्यशास्त्र के सभी अंगों का। उन्होंने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के पाँचवें परिच्छेद में तो नाटक का विवेचन किया और शेष अध्यायों में काव्यशास्त्र के अन्य अंगों का। विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक ग्रन्थ के केवल तीसरे प्रकरण में नाटक का विवेचन किया और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के छठे परिच्छेद में नाट्य-सम्बन्धी लक्षणों पर प्रकाश डाला। इन आचार्यों ने भरत-नाट्यशास्त्र एवं दशरूपक को अपनी रचनाओं का आधार बनाया।

उक्त आचार्यों में से अधिकांश ने अपने को भरत के नाट्यशास्त्र का ऋणी माना है, किन्तु नाट्यदर्पण के रचयिता रामचन्द्र-गुणचन्द्र बड़े गर्व के साथ अपनी रचना को सर्वथा मौलिक मानते हैं, और भरत-नाट्यशास्त्र पर आद्धृत दशरूपक के मतों का स्थान स्थान पर खण्डन करते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के पूर्व धनञ्जय और उनके अनुज धनिक की दशरूपक पर अवलोक-वृत्ति का इतना प्रचार हो गया था कि सर्वत्र उक्त ग्रंथ ही समादृत हो रहा था। धनञ्जय के उपरान्त

तीन शताब्दियाँ बीत चुकी थीं, और इस काल में ऐसे अनेक नाटक विरचित हो चुके थे, जिन्हें देख कर रामचन्द्र-गुणचन्द्र को दशरूपक के लक्षण और उदाहरण अपर्याप्त प्रतीत होने लगे, और उन्हें नाटयशास्त्र पर एक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता जान पड़ी।

रचना की प्रेरणा

रामचन्द्रगुणचन्द्र के पूर्व नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी तीन ग्रन्थ अति प्रसिद्ध थे। १. भरत-कृत 'नाट्यशास्त्र' २. धनञ्जय-कृत 'दशरूपक' ३. सागरनन्दी-कृत 'नाटकलक्षणरत्नकोष'। नाटय-दर्पण में स्थान स्थान पर उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों से मतभेद मिलता है। रामचन्द्र स्वयं एक सफल नाटयकार थे। उन्होंने एक दर्जन से अधिक नाटकों की रचना की। अपने ग्रन्थ नाटयदर्पण में पारिभाषिक शब्दों का लक्षण देते हुए उदाहरण के लिए उन्होंने अपने नाटकों से उद्धरण दिये। इससे यह आभास मिलता है कि वे पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षण और उदाहरणों से असन्तुष्ट होकर नवीन ग्रन्थों की रचना आवश्यक समझते थे। वे स्वयं लिखते हैं कि कालिदास आदि महान् कवियों के बनाए हुए अनेक रूपकों को देख कर और स्वयं भी अनेक रूपकों का निर्णय करके हम दोनों नाट्य-लक्षण की विवेचना आरम्भ करते हैं। (ना० द० १।२)

आचार्य विश्वेश्वर ने अपनी भूमिका में इस ग्रन्थ की प्रेरणा के सम्बन्ध में अपना मत देते हुए लिखा है "इसकी पृष्ठभूमि में राजनीति की प्रतिस्पर्धा की प्रेरणा रही हो तो भी कुछ आश्चर्य नहीं है। दशरूपककार धनञ्जय मालवनरेश मुंज के सभापण्डित थे। रामचन्द्र-गुणचन्द्र गुर्जरेश्वर के पण्डित थे। गुजरात और मालवा राज्यों का सदा संघर्ष रहता था। इसमें दीर्घकाल तक युद्ध भी चलते रहे थे। इसलिए गौरव-प्राप्ति के हर क्षेत्र में दोनों राज्यों की प्रतिस्पर्धा चलती रहती थी। इसी प्रतिस्पर्धा के कारण मालवाधीश के आश्रय में निर्मित दशरूपक की प्रतिस्पर्धा में इस नाटयदर्पण की रचना हुई हो, यह सर्वथा संभावित है"।

दशरूपक और नाटकलक्षणरत्नकोष से नाटयदर्पण की तुलना करते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि रामचन्द्र को पूर्ववर्ती आचार्यों के नाटयसम्बन्धी लक्षणों से कई स्थलों पर इतना असन्तोष था कि उन्हें अपने मत को स्पष्ट करने केलिए एक नये ग्रन्थ की रचना करनी आवश्यक प्रतीत हुई। दशरूपक और नाटयदर्पण की तुलना करते हुए २१ स्थलों पर मतभेद मिलता है, जिसका विस्तृत विवेचन भूमिका के पृष्ठ २१ से २५ तक देखा जा सकता है। सागरनन्दी के मत से भी ये ग्रन्थकार कई स्थलों पर मतभेद रखते हैं, इसका विस्तृत विवेचन भी पृष्ठ २५ पर देखा जा सकता है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र की मौलिकता

रामचन्द्र-गुणचन्द्र निर्भीक शास्त्र प्रणेता थे। उन्होंने न केवल धनञ्जय और सागननन्दी के ही मतों का खण्डन किया है, अपितु भरतमुनि के मत का भी खंडन करने में उन्हें संकोच नहीं हुआ। निदर्शन एवं प्रमाण के लिए निम्न प्रसंग द्रष्टव्य हैं—

तृतीय विवेक में प्ररोचना के सम्बन्ध में उनका मत देखा जा सकता है। इसके लिए भूमिका का पृष्ठ २० द्रष्टव्य है। वृत्तियों का निरूपण भी भरतमुनि के मत से भिन्न जान पड़ता है।

रामचन्द्र ने भरतमुनि के 'भारती वृत्ति विवेचन' में 'वदतोव्याघात दोष' दिखा कर भरतमुनि के मत की आलोचना की है। भरतमुनि ने जहाँ रूपक के दश भेद किये हैं, वहाँ 'नाटचदर्पणकार' ने इसके बारह भेद करके मंगलाचरण में ही जिनवाणी के आचारादि से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त बारह अंगों के अनुसार रूपक के बारह भेदों का संकेत कर दिया है। भरतमुनि के दशरूपकों से दो भेद नाटिका और प्रकरणी अधिक मान कर इन्होंने नयी पद्धति से बारह रूपक-भेदों का वर्गीकरण किया है। उन्होंने नाटक, प्रकरण, नाटिका, और प्रकरणी में कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती वृत्तियाँ मानी हैं, किंतु व्यायोग, समवकार, भाण, प्रहसन, डिम, उत्सृष्टिकाङ्क, ईहामृग एवं वीथी में कैशिकी रहित केवल तीन वृत्तियाँ। इसप्रकार वृत्तियों के आधार पर नाटकों का वर्गीकरण रामचन्द्र-गुणचन्द्र की अपनी मौलिक सूझ है।

नाट्यदर्पण में रस-विवेचन भी पूर्वाचार्यों से कहीं कहीं भिन्न प्रतीत होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र अपने पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट के मत का खंडन करते हुए कहीं भी संकोच नहीं करते। मम्मट 'अधिक विस्तार' को रसदोष में परिगणित करते हैं, किन्तु नाट्यदर्पणकार इसे रसदोष न मान कर वृत्तदोष मानते हैं। उनका कथन है कि रस की दृष्टि से यह दोष न होकर गुण है। "प्रतिपक्षी का अत्यंत उत्कर्ष दिखलाकर नायक द्वारा उसका बध कराने में तो नायक का उत्कर्ष बढ़ता ही है, इसलिए यह दोष नहीं अपितु गुण है।" इसका विस्तारपूर्वक वर्णन नाटचदर्पण के पृष्ट १५५ पर देखा जा सकता है। इसी प्रकार इन आचार्यों ने अभिनवगुप्त के मतों का भी रस की दृष्टि में खंडन किया है। इसके लिए भूमिका (पृष्ठ २८ से ३१) तक द्रष्टव्य है।

नाट्यदर्पणकार का रस-विवेचन सर्वथा मान्य भले ही न हो, पर वह मौलिक अवश्य है। उन्होंने रस को सुखदुःखात्मक दोनों माना है,[1] उनके मत से शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शांत तो सुखात्मक रस हैं, किन्तु करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक रस दुखात्मक ही हैं। तृतीय विवेचन में कतिपय आचार्यों के सभी रसों की सुखात्मकता का खंडन करते हुए रामचन्द्र-गुणचन्द्र कारिका की वृत्ति में कहते हैं :—

[कुछ आचार्यों के द्वारा] जो सब रसों को सुखात्मक बतलाया जाता है, वह प्रतीति के विपरीत [होने से सामान्य असंगत] है। मुख्य [अर्थात् वास्तविक) विभावों से उत्पन्न करुण आदि की दुःखात्मकता की तो बात ही जाने दो, काव्य के अभिनय में प्राप्त [बनावटी] विभाव आदि से उत्पन्न हुआ भी भयानक, बीभत्स, करुण, अथवा रौद्र रस आस्वादन करने वालों को कुछ अवर्णनीय-सी क्लेश दशा को उत्पन्न कर देता है। इसीलिए भयानक आदि [दृश्यों] से सामाजिकों को घबराहट होती है [यदि सब रस सुखात्मक हों तो] सुखास्वादसे तो किसी को उद्वेग नहीं होता [इसलिए करुणादि रस दुःखात्मक ही होते हैं]।[2]

---

१. स्थायीभावः श्रितोत्कर्षो विभावव्यभिचारिभिः।
स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुखदुःखात्मको रसः॥

२. यत् पुनः सर्वरसानां सुखदुःखात्मकत्वमुच्यते तत् प्रतीतिबाधितम्। आस्तां नाम मुख्यविभावोपचिताः, काव्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्सकरुणौ रौद्रो वा रसास्वादवतामनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अतएव भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादोद्वेगो घटते। हि० ना० द० पृष्ठ २९०-२९१

सभी रसों को सुखात्मक मानने वाले आचार्यों के तर्कों का खंडन करते हुए नाट्यदर्पणकार कहते हैं कि कवि एवं अभिनेता के कौशल के द्वारा करुण आदि रसों में भी बुद्धिमान् व्यक्ति को परमानन्द की अनुभूति होती है, यह धारणामात्र है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र की युक्ति यह है कि कविगण तो सुख-दुःखात्मक संसार के अनुरूप ही रामादि के चरित्र की रचना करते समय सुखदुःखात्मक रसों से युक्त ही (काव्यनाटक आदि की) रचना करते हैं। जब कवि को स्वत: दुःखात्मक रस की अनुभूति होती है तो रोहिताश्व के मरण, लक्ष्मण के शक्ति-भेदन आदि को देखकर सामाजिक को सुख का आस्वाद कैसे हो सकता है ? [इसलिए करुणादि रसों को सुखात्मक मानना उचित नहीं है।]

उनका दूसरा तर्क यह है कि अनुकार्यगत करुणादि विलापादि युक्त होने के कारण निश्चित रूप से दुःखात्मक ही होते हैं। यदि उनको अनुकरण में सुखात्मक माना जाय तो वह सम्यक् अनुकरण नहीं हो सकता है।

तीसरा तर्क है कि इष्टजन के विनाश से दुःखियों के सामने करुणादि का वर्णन किये जाने अथवा अभिनय किये जाने पर जो सुखास्वाद होता है वह भी वास्तव में दुःखात्मक ही होता है।

नाटचदर्पणकार करुण को दुःखात्मक और विप्रलम्भ शृङ्गार को सुखात्मक स्वीकार करते हुए कारण बताते हैं कि—**विप्रलम्भशृङ्गारस्तु दाहादिकार्यत्वाद् दुःखरूपोऽपि सम्भोग-सम्भावनागर्भत्वात् सुखात्मकः।**

अर्थात् विप्रलम्भ शृंगार तो इष्टजन के दाहादि द्वारा विनाश की प्रतीति से जन्य होने के कारण दुःख रूप होने पर भी उसमें सम्भोग (पुनर्मिलन) की सम्भावना बनी रहने से सुखात्मक ही है।

नाटचदर्पणकार का रससिद्धान्त अन्य आचार्यों के सिद्धान्त से भिन्न है। वे काव्य और नाटक में सामान्य-विषयक और विशेष-विषयक द्विविध रसों की स्थिति मानते हैं! जहाँ अन्य आचार्य लोक में होने वाली स्त्री पुरुष की परस्पर रति को रस नहीं मानते, वहाँ नाटचदर्पणकार लौकिक स्त्री पुरुष आदि को भी विभावादि शब्दों से और उनकी रति आदि को भी 'रस' शब्द से निर्दिष्ट करते हैं।

ग्रन्थकार के मत से रसानुभूति के पाँच आधार होते हैं (१) लौकिक रूप में स्थित पुरुष (२) नट (३) काव्य नाटक के श्रोता (४) काव्यनाटक के अनुसन्धाता अर्थात् कवि एवं नाटचकार (५) सामाजिक। अनुकार्य, अनुकर्त्ता, श्रोता एवं अनुसन्धाता को तो प्रत्यक्ष रूप में रसानुभूति होती है किन्तु सामाजिक को परोक्ष रूप में। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के मत से प्रेक्षक आदि में रहने वाला रस लोकोत्तर है और शेष लौकिक।

रसभेद संबंधी ग्रंथकार का मत अन्य आचार्यों के मत से भिन्न है। यद्यपि रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस के मूलत: नौ भेद मानते हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त तृष्णा को स्थायी भाव मान कर लौल्यरस, आर्द्रता को स्थायिभाव मानकर स्नेह रस, आसक्ति को स्थायी भाव मान कर व्यसनरस, अरति को स्थायीभाव मान कर दुःख रस, और संतोष को स्थायी भाव मान कर सुख रस की भी अनुभूति वे स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार ग्रंथकार ने स्वतन्त्र ढंग से रसविवेचन का भी प्रयास किया है। इस प्रयास में सफलता की कसौटी एक मात्र यही है कि आगामी आचार्यों ने उनके मत को कहीं मान्य नहीं माना, और विश्वनाथ आदि ने उनके मतों की सर्वदा अवहेलना ही की।

नाट्यदर्पणकार की एक बड़ी विशेषता यह दिखाई पड़ती है कि वे अपनी कारिका के गूढ़ स्थलों की व्याख्या स्वरचित वृत्ति में इतने विस्तार के साथ कर देते हैं कि वे गूढ़ स्थल स्पष्ट हो जाते हैं। कहीं कहीं तो अन्य आचार्यों के कई श्लोकों में वर्णित लक्षणों को वे एक ही श्लोक में समाविष्ट कर लेते हैं। जहाँ भरत मुनि ने अठारहवें अध्याय के १०,११,१२वें श्लोकों में नाटक का लक्षण किया है वहाँ रामचन्द्र ने केवल एक श्लोक में नाटक की परिभाषा इस प्रकार की है—

"उन रूपक भेदों में से धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिविध फलों वाला, अंक, उपाय, दशा, संधि से युक्त, देवता आदि जिसमें सहायक हों, इस प्रकार का पूर्वकाल के प्रसिद्ध राजाओं का चरित्रप्रदर्शित करने वाला अभिनेय काव्य नाटक कहलाता है :—

ख्याताद्यराजचरितं धर्मकामार्थसत्फलम्।
साङ्कोपायादशा-संधि-दिव्याङ्गं तत्र नाटकम्॥ १।५

रामचन्द्रगुणचन्द्र ने अभिनवगुप्त के नाटक शब्द की व्युत्पत्ति की आलोचना की है। अभिनवगुप्त ने 'णट् नृतौ' के स्थान पर 'णतनतौ' पाठ मान कर नति अर्थात् नमनार्थक नट् धातु से नाटक की सिद्धि मानी है, जो उनके विचार से 'मितां ह्रस्वः ६।४।९२ (अष्टा०) सूत्र से णिच् परे रहते उपधा को ह्रस्व करने के विधान से 'नटक' शब्द 'घटक' के समान बनता है। किन्तु रामचन्द्र की यह आपत्ति उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अभिनवगुप्त ने नर्तनार्थक धातु से भी नाटक शब्द की सिद्धि की है। (विशेष विवेचन के लिए नाट्यदर्पण की प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या पृ० २३ देखिए।) इस सम्बन्ध में विवेचन करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अभिनवगुप्त ने केवल नमनार्थक धातु से ही नहीं, अपितु नर्त्तनार्थक धातु से भी नाटक शब्द की सिद्धि की है। अभिनवगुप्त लिखते हैं:—

नाटकं नाम तच्चेष्टितं प्रह्वीभावदायकं भवति तथा हृदयानुप्रवेशरञ्जनोल्लासनया हृदयं शरीरं च नर्तयति नाटकम्।

नाटक और नाटकेतर काव्यांगों में अन्तर—

नाट्यदर्पणकार के पूर्व आचार्यों ने नाटक एवं नाटकेतर काव्य में उतनी स्पष्टता के साथ अन्तर नहीं दिखलाया है, जितनी स्पष्टता हमें रामचन्द्रगुणचन्द्र की रचना नाट्यदर्पण में मिलती है। आचार्य धनञ्जय ने नाटक और नाटकेतर रूपकों में अन्तर दिखाते हुए लिखा है—

प्रकृतित्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात्।
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते॥

[नाटक- अन्य प्रकार के रूपकों की प्रकृति है। अर्थात् प्रकरण आदि भेदों का लक्षण नाटक के आधार पर ही किया जाता है। नाटक में बहुत अधिक रस का परिग्रह होता है, और उसमें संपूर्ण लक्षण होते हैं।]

यहाँ धनञ्जय ने नाटक और अन्य रूपकों में अन्तर दिखाने का प्रयत्न किया है, पर रूपक और रूपक से इतर साहित्य का अन्तर कहीं नहीं स्पष्ट किया है। रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है—

१. रामचन्द्रगुणचन्द्र ने नाटक और कथासाहित्य में व्यावर्तक धर्म स्थापित करते हुए कहा है कि यद्यपि कथादि भी श्रोताओं के हृदय को नचा देते हैं किन्त वे उपायादि वैचित्र्य हेतुओं के अभाव में उतने उल्लासकारी नहीं होते।

२. नाटक के द्वारा राजा और उसके अंग रूप में आमात्यादि को व्युत्पन्न किया जाता है, जो नाटकेतर साहित्य में सम्भव नहीं है।

३. कथासाहित्य और नाटक की रचनाशैली में स्पष्ट अन्तर इस प्रकार होता है। श्रव्यकाव्य में पद्य ही पद्य और आख्यायिका में गद्य ही होता है और दोनों में समुद्र, नदी, सूर्य, चन्द्र आदि के प्राकृतिक वर्णन का बाहुल्य होता है। किन्तु नाटक में पद्य की संख्या स्वल्प और गद्यशैली भी आख्यायिका से भिन्न होती है। कादम्बरी एवं वासवदत्ता आदि आख्यायिका-ग्रन्थों में दीर्घ सामासिक गद्य स्पृहणीय है। किन्तु नाटक में सरल एवं दीर्घ समास-रहित गद्य ही वाञ्छनीय है, कर्कश और अधिक समस्तपदयुक्त गद्य ठीक नहीं। नाटक में उसी अवान्तर कथावस्तु की योजना होती है, जो परंपरा से फल की साधक होती है। रामचन्द्रगुणचन्द्र ने अपने 'नलविलास' नामक नाटक का उल्लेख करते हुए दमयन्ती के चित्रदर्शन द्वारा नल के हृदय में अनुराग उत्पन्न करने का प्रयास किया है, अतः चित्रदर्शन की अवान्तर कथा नाटक के सर्वथा उपयुक्त ही मानी जायगी।

४. नदी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, पर्वत, मधुपान जलक्रीड़ा आदि का वर्णन नाटकेतर साहित्य में आवश्यक माना जाता है, किन्तु नाटक में इन लम्बे वर्णनों से नाटक-रस तिरोभूत हो जाता है। इनका अत्यल्प वर्णन तो स्वीकार्य हो सकता है, पर विस्तृत वर्णन नाटकोपयोगी नहीं माना जा सकता।

५. अलंकारों का विशेष प्रयोग भी नाटक में उपादेय नहीं समझा जाता। नाट्यदर्पणकार कहते हैं कि उन्हीं श्लेषोपमादि का प्रयोग करना चाहिए जो रससिद्धि के लिए किये जाने वाले प्रयत्न से ही सिद्ध होते हैं। कथाभाग में उपक्षेप आदि संन्ध्यंगों की रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि जिससे वे रस को तिरोभूत न कर सकें।

लक्षण और उदाहरण—

नाट्यदर्पणकारने पारिभाषिक शब्दावली के लक्षण एवं उदाहरण पूर्ववर्त्ती आचार्यों से पृथक् रूप में किये हैं। उन्होंने न तो भरत का अनुसरण किया है और न अन्य पूर्ववर्त्ती नाट्याचार्यों का। उन्होंने लक्षण और उदाहरण की एक नवीन पद्धति अपनाई है। सूत्रों में सामान्य लक्षण और वृत्ति में उसका विवेचन किया है। यहां दो चार पारिभाषिक शब्दों के लक्षण और उदाहरण लिखकर रामचन्द्रगुणचन्द्र की मौलिकता पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

अङ्क का लक्षण भरतमुनि इस प्रकार लिखते हैं—

अङ्क इति रूढिशब्दो भावश्च रसैश्च रोहयत्यर्थान् ।
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद्भवेदङ्कः ॥

इस लक्षण से अङ्क का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। धनञ्जय ने भी अङ्क का लक्षण स्पष्ट नहीं किया। नाट्यदर्पणकार ने अङ्क का लक्षण अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ इस प्रकार लिखा है—

[कार्य की प्रारम्भ आदिरूप] अवस्था की समाप्ति अथवा कार्यवश [असमाप्त अवस्था का भी] विच्छेद [जो अगले अङ्क की कथा के बीज अथवा] बिन्दु से युक्त और दो घड़ी से लेकर चारप्रहर तक के दर्शनीय अर्थ से युक्त हो वह 'अङ्क' कहलाता है।

पाँच अवस्थाओं में से किसी भी एक अवस्था का आरम्भ और पूर्णता द्वारा समाप्ति [अङ्क की नियामिका होती है। उसको अङ्क में दिखलाना चाहिए] अथवा असमाप्त अवस्था का भी कार्यवश जो बीच में विच्छेद कर दिया जाय वह भी अङ्क का नियामक है। 'कार्य' पद से यहाँ एक दिन में न हो सकने वाले दूरदेशगमन आदि अथवा बहुत लम्बा होने के कारण एक दिन में जिसका अभिनय किया जाना सम्भव न हो [उसका ग्रहण होता है]। उसके कारण जो अवस्था का बीच में ही विच्छेद कर दिया जाता है वह भी 'अङ्क' का नियामक है। [कारिका १९]

रामचन्द्रगुणचन्द्र का यह लक्षण पूर्ववर्त्ती आचार्यों के लक्षणों से अधिक स्पष्ट है। किन्तु आश्चर्य यह है कि परिवर्त्ती आचार्यों ने इसका कोई उपयोग नहीं किया, और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में भरत के ही लक्षण का आधार लेते हुए कहा है "जिसके अन्त में सम्पूर्ण पात्र रंगमंच से निष्क्रमण कर जाएँ।"[1] भरत ने कहा है: **निष्क्रामः सर्वेषां यस्मिन्नङ्कः स विज्ञेयः**, और विश्वनाथ ने भरत के निम्नलिखित श्लोकों की सर्वथा उपेक्षा की तथा उनका कोई अंश अपने लक्षण में सम्मिलित नहीं किया—

यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति संहारः ।
किञ्चिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सदावगन्तव्यः ॥

अङ्क का यह लक्षण अधिक स्पष्ट है। अभिनवगुप्त ने इसी लक्षण का आधार लेकर लिखा है—

अङ्क इत्ययं लक्षणे रूढः शब्दः। अन्यतो व्यवच्छेदकं लक्षणम् अभिनेये रसभावैरुपलक्षितानप्यर्थान् रोहयति। हृदयसंवादसाधारणताकरणेन प्रत्यक्षीभावनया रसाकारोदयप्ररोहो भवति। प्रारम्भाद्यवस्थालक्षणो यत्र समाप्यते सोऽङ्कः। मुखादिषु यथाक्रमं बीजस्य दशाविशेषाः संहारशब्दवाच्याः अनेक रसाङ्कितत्वादङ्क इति नाम। —अभिनवभारती

अभिनवगुप्त ने भरतमत की व्याख्या विस्तार के साथ की है। सागरनन्दी ने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' में अङ्क में वर्जित घटनाओं का ही उल्लेख किया है। घटनाकाल के विषय में इतना अवश्य लिखा है "**बहुकालप्रणेयं कार्यं नाङ्के विधेयम्।**" अर्थात् दीर्घकाल में घटित होने

---

१. **प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः । अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः ॥**
सा० द० ६-१९ ।

वाले कार्य को अङ्क में स्थान नहीं देना चाहिए, किन्तु अङ्क की अन्य विशेषताओं का कहीं उल्लेख नहीं किया।

उपर्युक्त लक्षणों की तुलना करते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने पूर्ववर्ती आचार्यों के अङ्क-सम्बन्धी लक्षणों को स्वतन्त्र रीति से सोचने और व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार अर्थप्रकृति के लक्षण का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने से भी हम उक्त निष्कर्ष पर ही पहुँचते हैं।

अर्थ-प्रकृति—

भरतमुनि ने बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नामक पाँच अर्थप्रकृतियों का विवेचन किया है। परवर्ती सभी आचार्यों ने भरतमुनि का ही अनुसरण किया और उन्हीं के निर्मित लक्षणों को आधार बनाया। सभी ने प्रयोजन-सिद्धि के पाँच हेतुओं का उपर्युक्त क्रम रखा। किन्तु रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इनमें परिवर्तन कर दिया। उन्होंने अर्थप्रकृति को 'उपाय' नाम से अभिहित किया और उनका क्रम रखा—

बीजं पताका प्रकरी बिन्दुः कार्यं यथारुचि।
फलस्य हेतवः पञ्च चेतनाचेतनात्मकाः॥ सूत्र १।२८

उन्होंने कारिका की वृत्ति में यह स्पष्ट किया है कि रुचि के अनुरूप इनके क्रम में परिर्तन किया जा सकता है। अन्य आचार्य इस मत से सहमत नहीं। दूसरा अन्तर यह है कि रामचन्द्रगुणचन्द्र इन उपायों का विभाजन चेतन एवं अचेतन की दृष्टि से एक विलक्षण रीति से करना चाहते हैं। अचेतन हेतु भी मुख्य और अमुख्य भेद से दो प्रकार का होता है। 'बीज' मुख्य अचेतन हेतु है और 'कार्य' अमुख्य। इसी प्रकार चेतन हेतु भी मुख्य और उपकरणभूत दृष्टि से दो प्रकार के होते हैं। 'बिन्दु' मुख्य चेतन हेतु है। उपकरणभूत चेतन हेतु दो प्रकार के होते हैं—(१) स्वार्थसिद्धि युक्त होने के साथ परार्थ-सिद्धिपर (२) परार्थ-सिद्धितत्पर। प्रथम का नाम 'पताका' है, और द्वितीय का नाम प्रकरी।

इस प्रकार का वर्गीकरण और क्रम हमें अन्य किसी आचार्य की रचना में नहीं दिखाई पड़ता। पंच उपायों के लक्षण भी अन्य आचार्यों से कहीं-कहीं भिन्न रूप में दिखाई पड़ते हैं। रामचन्द्र की विशेषता यह है कि वे लक्षण के उपरान्त स्वरचित नाटकों से उदाहरण देकर लक्षणों की पुष्टि करते हैं। बीज और बिन्दु के लक्षण और उदाहरण कई आचार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और बोधगम्य हैं। आवश्यकतानुसार एक ही 'उपाय' के चार चार उदाहरण देकर उन्होंने कठिन विषय को सरल बना देने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, बीज के लक्षण के उपरान्त रत्नावली, सत्यहरिश्चन्द्र, स्वरचित यादवाभ्युदय एवं मुद्राराक्षस के उन स्थलों का विश्लेषण किया है जहाँ से 'बीज' प्रारम्भ होकर शाखा आदि रूप में विस्तार पाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाटय-सम्बन्धी गूढ़ स्थलों का मौलिक रीति से चिन्तन करने का प्रयास किया है। इतना अवश्य है कि मौलिकता के उत्साह में वे कहीं कहीं इतने बहक गए हैं कि मूलतत्त्व तक पहुँचते पहुँचते रह जाते हैं। जैसे रस-वर्णन के कतिपय प्रसंगों में।

नाट्यदर्पणकार का योगदान

रामचन्द्र उन कतिपय आचार्यों में परिगणित होने योग्य हैं जिनमें कारयित्री एवं भावयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभा विद्यमान है। नाट्यदर्पण के अतिरिक्त उन्होंने मल्लिका-मकरन्दम्, यादवाभ्युदयम्, रघुविलासम, राघवाभ्युदयम्, रोहिणीमृगाङ्कम्, वनमाला-नाटिका आदि नाटक एवं सुधाकलश नामक काव्य की रचना की। अपने नाट्यग्रन्थ के लिए उनके मन में नाटक-रचना की प्रेरणा उठी अथवा नाटक-रचना के उपरान्त प्राचीन नाट्य-लक्षणों में संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई. अथवा दोनों प्रेरणाएँ साथ साथ उत्पन्न हुईं, यह निश्चय करना कठिन है।

यद्यपि नाट्यदर्पणमें विद्वान् व्याकरण की अनेक अशुद्धियाँ निकाल सकते हैं, और आचार्य की नवीन मान्यताओं का खण्डन भी कर सकते हैं, पर इतना तो अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि (१) उन दोनों ग्रन्थकारों ने अनेक अप्रकाशित नाट्य-ग्रन्थों का अध्ययन करके उनके आधार पर एक नये नाट्यशास्त्र का निर्माण किया। (२) अनेक अप्रकाशित ग्रन्थों का विषय प्रकाश में लाकर नाट्य-साहित्य की समृद्धि की (३) नाट्य-साहित्य और नाट्यशास्त्र का नये ढंग से चिन्तन किया। (४) अनेक गम्भीर विषयों का अपने मतानुसार स्पष्टीकरण किया। (५) विरक्ति प्रधान जैन समाज में शृंगार-प्रधान नाट्यसाहित्य को भी समादृत किया। (६) पूर्वाचार्यों द्वारा निर्णीत नाट्य-लक्षणों में संशोधन उपस्थित करने का साहस करके नवीन शैली पर सोचने का मार्ग प्रशस्त किया। (७) रस-विवेचन में इन आचार्यों ने एक नया सिद्धान्त उपस्थित किया। ये आचार्य रसों को अभिनवगुप्त के समान न तो सुख-दुःख रूप ही मानते हैं, न इनका मत धनंजय-धनिक एवं विश्वनाथ के समान सुखात्मकवादी ही हैं। इनका मत विभज्यवादी मत कहलाता है जिसके विषय में हम पूर्व विवेचन कर आए हैं।

ॐ

श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितं
स्वोपज्ञविवरणविभूषितं

नाट्यदर्पणम्

प्रथमो विवेकः

चतुर्वर्गफलां नित्यं जैनीं वाचमुपास्महे ।
रूपैर्द्वादशभि-र्विश्वं यया न्याय्ये धृतं पथि ॥१॥

अथ श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिता
नाट्यदर्पणदीपिका हिन्दी व्याख्या

इनोत पृच्छ जनिमा कवीनां मनोधृतः सुकृतस्तक्षत द्याम् ।
इमा उ ते प्रण्यो वर्धमाना मनोवाता अध नु धर्मणि ग्मन् ॥
ऋग्वेद ३-३८-२ ।

विश्व-नाट्यमिदं सूत्रधारो यस्तनुते सदा ।
रसकन्दस्वरूपाय तस्मै सूत्रात्मने नमः ॥

यदंश-भाष्यं भरते सवृत्तिके
कृतं, न पूर्ति-र्विषयस्य तावता ।
अतोऽस्य पूर्त्यै परिशिष्टरूपतः
तनोमि वृत्तिं खलु नाट्यदर्पणे ॥

वृत्तिभागका मङ्गलाचरण—

[धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप] चतुर्वर्गात्मक फलोंको प्रदान करने वाली [रागादि के विजेता] जिनोंकी [उस] वाणीको हम नमस्कार करते हैं जिसने [अपने] बारह रूपों के द्वारा संसारको न्यायोचित मार्गमें स्थापित किया है ।१।

इस ग्रन्थके निर्माता श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्र (१०९३-११७५) दो व्यक्ति हैं। उन्होंने सम्मिलित रूपसे इस ग्रन्थकी रचना की है। दोनों जैन आचार्य श्री हेमचन्द्रके शिष्य और परस्पर सहाध्यायी गुरुभाई हैं। जैन मतावलम्बी होनेके कारण इस मङ्गलश्लोकमें उन्होंने 'जैनी-वाणी' अर्थात् रागादि विजेता अपने आराध्य जिनोंकी वाणीको नमस्कार किया है। उस 'जिन-वाणी' के उन्होंने 'द्वादश-रूप' बतलाए हैं। ये 'द्वादस-रूप' जैन शास्त्रोंमें निम्न प्रकार गिनाए गए हैं—

१. आचाराङ्ग, २. सूत्रकृताङ्ग, ३. स्थानाङ्ग, ४. समवायाङ्ग, ५. भगवती,

महाकविनिबद्धानि दृष्ट्वा रूपाणि भूरिशः ।
स्वयं च कृत्वा, स्वोपज्ञं नाट्यलक्ष्म विवृणवहे ॥२॥

---

६. ज्ञाताधर्मकथा, ७. उपासकदशा, ८. अन्तकृद्दशाङ्ग, ९. अनुत्तरोपपायिक, १०. प्रश्न-व्याकरण, ११. विपाक और १२. दृष्टिवाद ।

आचाराङ्गसे लेकर दृष्टिवाद पर्यंत इन 'द्वादश-रूपों' के द्वारा ही रागादिके विजेता जिनोंकी वाणीने विश्वको धर्ममार्गमें स्थित रहनेकी प्रेरणा प्रदान की है । इसलिए ग्रन्थकारने यहाँ उन द्वादश-रूपों वाली जिन-वाणीको नमस्कार किया है । किन्तु इसके अतिरिक्त यहाँ 'द्वादश-रूपों' की चर्चा करनेका कुछ और भी कारण है उसका सम्बन्ध इस ग्रन्थसे है । नाट्यदर्पणके आरम्भमें जो यह मङ्गल-श्लोक लिखा गया है उसका ग्रन्थके प्रतिपाद्य नाट्य-विषयके साथ भी कुछ सम्बन्ध होना चाहिए । इस दृष्टिसे ग्रन्थकार इसकी नाट्यपरक व्याख्या भी आगे स्वयं प्रस्तुत करेंगे । इस व्याख्यामें 'द्वादशरूपैः' से बारह प्रकारके रूपक-भेदोंका ग्रहण किया जायगा । इसी दृष्टिसे ग्रन्थकारने यहाँ विशेष रूपसे 'रूपैर्द्वादशभिः' पदोंका समावेश किया है ।

नाट्यके विषयपर सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रंथ भरत मुनिका 'नाट्यशास्त्र' है । उसके बाद 'दशरूपक', 'भावप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' तथा 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' आदि अनेक ग्रन्थोंमें नाट्य-सम्बन्धी विषयका विवेचन किया गया है । इन सबमें ही प्रायः रूपक के दस भेद गिनाए गए हैं । दश-रूपककार धनञ्जयने तो अपने ग्रन्थका नाम ही 'दशरूपक' रखा है । उससे रूपकके मुख्य दस भेदोंकी सूचना मिलती है । उन्होंने दस रूपकोंका सम्बन्ध दस अवतारोंके साथ भी जोड़ा है । दस अवतारोंके समान रूपक भी दस ही हैं, यह उनका मत है । परन्तु फिर भी उन्होंने गौण भेदके रूपमें ग्यारहवें भेद 'नाटिका' का भी उल्लेख किया है । और 'रत्नावली नाटिका' के बहुतसे उदाहरण भी ग्रंथमें प्रस्तुत किए हैं । 'भावप्रकाश' तथा साहित्यदर्पणकारने भी 'नाटिका' को ग्यारहवाँ भेद माना है और उसके उदाहरण रूपमें 'रत्नावली-नाटिका' का उल्लेख किया है । इस प्रकार अन्य आचार्योंके मतमें भी रूपकके ग्यारह भेद बन जाते हैं । किन्तु यहाँ ग्रंथकारने 'प्रकरणी' नामक एक और भेद करके रूपकके बारह भेद कर दिए हैं । उसी आधारपर यहाँ 'द्वादश रूपों' की चर्चा की गई है ।

इस ग्रंथके दो भाग हैं एक कारिका भाग और दूसरा उसका वृत्ति अथवा विवरण भाग । दोनों भागोंके रचयिता एक ही हैं । अर्थात् जिन्होंने मूल कारिकाओंकी रचना की है, उन्हींने उनपर स्वयं ही वृत्ति भी लिखी है । इसलिए यह मङ्गल-श्लोक कारिका भाग और वृत्ति भाग दोनोंके आरम्भमें दिया गया है । यहांपर यह श्लोक वृत्ति भागके मङ्गलाचरणके रूपमें दिया गया है । मूलकारिका भागके मङ्गलाचरणके रूपमें आगे फिर इसको लिखकर इसकी व्याख्या करेंगे । सम्प्रति वृति भागकी अवतरणिकाके रूपमें बारह श्लोक लिखते हैं ।

वृत्ति भागकी अवतरणिका—

[कालिदास आदि] महाकवियोंके बनाए हुए अनेक रूपकों [भूरिशः रूपाणि] को

अलङ्कारमृदुः पन्थाः कथादीनां सुसञ्चरः ।
दुःसञ्चरस्तु नाट्यस्य रसकल्लोलसङ्कुलः ॥३॥
न गीतावाद्यनृत्तज्ञा लोकस्थितिविदो न ये ।
अभिनेतुं च कर्तुं च प्रबन्धांस्ते बहिर्मुखाः ॥४॥

देखकर और स्वयं भी [अनेक रूपकोंका] निर्माण करके [अर्थात् नाट्य-लक्षण आदिका पूर्ण ज्ञान और अनुभव प्राप्त करके] हम दोनों [अर्थात् इस ग्रंथके रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र इस नाट्यदर्पण ग्रंथमें] नाट्य-लक्षणकी विवेचना [प्रारम्भ] करते हैं ।२।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि इस ग्रन्थके कर्ता रामचन्द्र और गुणचन्द्र दो व्यक्ति हैं । उन दोनोंने मिलकर इस ग्रन्थकी रचना की है । इस नाट्यदर्पणके अतिरिक्त 'द्रव्यालङ्कारवृत्ति' नामक एक और भी ऐसा ग्रन्थ है जिसकी रचना इन दोनोंने मिलकर की है । गुणचन्द्रका स्वतन्त्र रूपसे लिखा हुआ कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है । परन्तु रामचन्द्र ने स्वतन्त्र रूपसे भी बहुतसे ग्रन्थोंकी रचना की है । उनको प्रायः 'प्रबन्ध-शतकर्ता' उपाधि से विभूषित किया जाता है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि उन्होंने लगभग सौ ग्रन्थोंकी रचना की थी । उनके सब ग्रन्थ तो अब तक नहीं मिले हैं और न उनके नाम ही ज्ञात हैं किन्तु फिर भी अपने ग्यारह नाटकोंका उल्लेख उन्होंने अपने इस ग्रन्थमें स्थान-स्थानपर किया है । अर्थात् अधिक नहीं तो कम-से-कम ग्यारह नाटक तो उन्होंने बनाए ही हैं । जब इतने नाटक उन्होंने स्वयं बनाए हैं तो सम्भवतः अपने समयमें उपलब्ध प्रायः सभी नाटक उन्होंने पढ़ डाले होंगे । इतने नाटकोंके पढ़ने और स्वयं बनानेके बाद उन्होंने इस नाट्य-दर्पणकी रचनामें हाथ लगाया है इससे विदित होता है कि वे इस विषयपर ग्रन्थ लिखने के लिए अत्यन्त उपयुक्त और अधिकारी व्यक्ति हैं । इसी बातको सूचित करनेके लिए उन्होंने इस श्लोकमें सबसे पहले अपने नाट्य-विषयक इस विशाल अनुभवका उल्लेख उपर्युक्त प्रकारसे किया है ।

नाट्यरचनाकी दुष्करता

काव्यके, श्रव्य-काव्य, नाटक आख्यायिका आदि अनेक भेद माने गए हैं । इन सबकी ही रचनाके लिए विशेष प्रकारकी प्रतिभाकी आवश्यकता होती है किन्तु ग्रंथकारकी दृष्टिमें नाटककी रचना अन्य अङ्गोंकी अपेक्षा अधिक कठिन है । इसलिए वे अगले श्लोकोंमें उसकी दुष्करताका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

कथा आदि [काव्यके अन्य प्रभेदोंकी रचना] का मार्ग अलङ्कारोंसे कोमल हो जानेके कारण सुखपूर्वक सञ्चरण करने योग्य है [अर्थात् अलङ्कार-प्रधान कथा आदिकी रचना सरलतासे की जा सकती है] किन्तु रसोंकी कल्लोलोंसे परिपूर्ण होनेसे नाट्यका मार्ग अत्यन्त कठिन [दुःसञ्चर] है । ३ ।

जो गीत-वाद्य-नृत्य आदिको नहीं जानते हैं और जो लोक-व्यवहारमें कुशल नहीं हैं वे [प्रबन्धान् अर्थात्] नाटकोंका अभिनय करने और रचना करनेकेलिए [बहिर्मुख हैं अर्थात्] अधिकारी नहीं हैं । ४ ।

स कविस्तस्य काव्येन मर्त्या अपि सुधान्धसः ।
रसोर्मिघूर्णिता नाट्ये यस्य नृत्यति भारती ॥५॥
नानार्थशब्दलौल्येन पराञ्चो ये रसामृतात् ।
विद्वांसस्ते कवीन्द्राणामर्हन्ति न पुनः कथाम्[1] ॥६॥

इन श्लोकोंमें ग्रन्थकारने कथा आदि काव्यभेदोंके मार्गको 'अलङ्कारमृदुः' अतएव 'सुसञ्चर' कहा है और नाटककी रचनाके मार्गको 'रस-कल्लोल-संकुल' होनेके कारण 'दुःसञ्चर' बतलाया है। किन्तु कथा आदि गद्य-काव्योंके लेखकोंने 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' लिखकर उस गद्य-रचनाको ही कवियोंकी प्रतिभाकी परखके लिए कसौटी माना है। इसी प्रकार पद्यात्मक प्रबन्ध-काव्योंके लेखकोंने छन्दके परिमित अक्षरोंके बन्धनमें बँधकर की जाने वाली काव्य-रचना ही कवि-प्रतिभाका निकष माना है। वास्तवमें प्रतिभावान् कवियोंके लिए तो सभी मार्ग सुसञ्चर हैं और अप्रतिभावानोंके लिए सभी जगह कठिनाई है। पण्डितराज जगन्नाथने अपनी रचना शक्तिकी प्रसंशा करते हुए लिखा है—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता।
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ॥

जिस प्रकार अनुकूल पतिके होनेपर चाहे कठोर भूमि हो या कोमल सुसज्जित शय्या हो स्त्रियोंके आनन्द और विलासमें कोई अन्तर नहीं पड़ता है इसी प्रकार प्रतिभावान् कविके होनेपर वह किसी मार्गसे चले उसके आगे सरस्वती समान रूपसे ही अपने सौन्दर्यको अभिव्यक्त करती है, उसमें अन्तर नहीं आता है।

रसकवियोंकी प्रशंसा—

नाट्यकी रचनाको 'रस-कल्लोल-संकुल' होनेके कारण ही कठिन कहा गया था। किन्तु वह रस ही नाट्य या काव्यका प्राण है। इसीलिए 'रससिद्धाः कवीश्वराः' रस-कवियोंकी सर्वत्र प्रशंसा की गई हैं। अगले श्लोकमें ग्रन्थकार भी उनकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

वही [वास्तविक] कवि है और उसके काव्य [के पढ़ने] से मर्त्यलोकके वासी [मनुष्य] भी [काव्यरस रूप] अमृतका पान करने वाले बन जाते हैं जिसकी वाणी नाटकों में रसकी लहरियोंमें चकराती हुई-सी नाचती है। ५ ।

शब्द-कवियोंकी निन्दा—

जो कवि नानार्थक [अर्थात् अनेकार्थ-वाचक श्लिष्ट] शब्दोंके प्रलोभनमें [पड़कर] रसामृतसे पराङ्मुख हो जाते हैं [अर्थात् रसकी उपेक्षा कर, केवल श्लेष आदिके निर्वाहके लिए शब्द-प्रधान तुकबन्दीमें लग जाते हैं] वे विद्वान् [शब्दपटुताके कारण विद्वान् तो कहे जा सकते हैं किन्तु वे 'कवीन्द्राणां कथां न अर्हन्ति'] उत्तम कवि नहीं कहला सकते हैं। ६ !

१. कथम्।

श्लेषालङ्कारभाजोऽपि रसानिस्यन्दकर्कशाः ।
दुर्भगा इव कामिन्यः प्रीणन्ति न मनो गिरः ॥७॥
आरङ्काद् भूपतिं यावदौचितीं न विदन्ति ये ।
स्पृयहन्ति कवित्वाय खेलनं ते सुमेधसाम् ॥८॥

नीरस-वाणीकी निन्दा—

श्लेष अलङ्कारसे युक्त होनेपर भी रस-प्रवाहसे रहित होनेके कारण कर्कश [कवियों की] वाणी उसी प्रकार [सहृदयोंके] मनको प्रफुल्लित नहीं करती है जिस प्रकार आलिङ्गन करती हुई और अलङ्कारोंसे सजी हुई होनेपर भी [यौन] रसके न निकलने के कारण कठोर भग वाली [दुर्भग] स्त्रियाँ [पुरुषोंको] आह्लादित नहीं करती हैं । ७ ।

इस प्रकार इन तीन श्लोकोंमें ग्रन्थकारने रसकवियोंकी प्रशंसा करते हुए यह दिखलाया है कि रस ही काव्य या नाटकका सर्वस्व है । उससे रहित नाटकोंको अलङ्कार आदिसे चाहे जितना भी अलंकृत कर दिया जाय वे सहृदयोंको आकृष्ट नहीं कर सकते हैं । सहृदयोंके आकर्षणकेलिए रसप्रधान नाटक ही उपयुक्त हो सकते हैं ।

कवियोंकेलिए व्यवहार ज्ञानकी उपयोगिता—

उत्तम काव्य या नाटककी रचनाके लिए सबसे मुख्य कारण तो कविकी प्रतिभा है । किन्तु उसके बाद कविकी व्युत्पत्ति अर्थात् लौकिक तथा शास्त्रीय व्यवहारका परिज्ञान भी दूसरा अनिवार्य कारण है । मम्मट आदिने तो इन दोनोंको अलग-अलग कारण न मानकर सम्मिलित रूपसे कारण माना है । और उनके साथ 'काव्यज्ञशिक्षयाभ्यासः' अर्थात् अभ्यासको भी जोड़कर—

शक्ति-र्निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

काव्यप्रकाश १—२ ।

शक्ति अर्थात् कवित्वकी बीजभूत प्रतिभा, लोक, शास्त्र तथा काव्यादिके परिशीलन से उत्पन्न निपुणता अर्थात् व्युत्पत्ति, और काव्यके निर्माण तथा उसकी विवेचनामें समर्थ काव्यज्ञोंकी शिक्षाके अनुसार अभ्यास करना ये तीनों मिलकर 'हेतुः' अर्थात् काव्यके कारण होते हैं । 'न तु हेतवः' अलग-अलग तीन कारण नहीं होते हैं । इसी दृष्टिसे यहाँ भी ग्रन्थकार लोकव्यवहार आदिकी उपयोगिताका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

निर्धनसे लेकर राजा तक [के व्यवहार] के औचित्यको जो नहीं जानते हैं और कवित्वकी कामना करते हैं [अर्थात् कवि बनना चाहते हैं] वे विद्वानोंके उपहासके [मनो-रंजनके] पात्र बनते हैं [खेलनं ते सुमेधसाम्] ।८।

विद्वत्ताके साथ कवित्व आवश्यक—

अगले श्लोकोंमें ग्रन्थकार इस बातपर बल देते हैं कि लोक-रंजन और लोकमें प्रतिष्ठाकी प्राप्ति केवल विद्वत्ताके द्वारा नहीं हो सकती है । इनकी प्राप्तिके लिए शास्त्रीय विद्वत्ताके साथ कवित्वकी शक्ति भी आवश्यक है । कवित्वके बिना कोरा विद्वान् लोकमें न प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है और लोकका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकता है ।

प्राणाः कवित्वं विद्यानां लावण्यमिव योषिताम् ।
त्रैविद्यवेदिनोऽप्यस्मै ततो नित्यं कृतस्पृहाः ॥९॥
नासिकान्ते द्वयं श्वित्रं द्वयोर्व्रीडा रसज्ञयोः
कुचाभावः कुरङ्गाक्ष्याः काव्याभावो विपश्चितः ॥१०॥
अकवित्वं परस्तावत् कलङ्कः पाठशालिनाम् ।
अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलङ्कस्यापि चूलिका ॥११॥

स्त्रियोंके लावण्यके समान कवित्व, विद्याओंका प्राणरूप है। इसलिए त्रयीविद्याके जानने वाले [वेदोंके विद्वान्] भी इस [कवित्वकी प्राप्ति] के लिए सदा उत्सुक रहते हैं ।९।

[श्लोकके उत्तरार्द्धमें कही जाने वाली] दो वस्तुएँ नाकके ऊपर हुए कोढ़के समान है और [इन] दोनोंसे रसज्ञोंको लज्जा होती है। [वे दोनों वस्तुएँ कौन सी यह कहते हैं। उनमेंसे एक तो] मृगनयनी [सुन्दरी] के स्तनोंका अभाव [अर्थात् छोटे स्तन का होना और दूसरा) विद्वान्का काव्याभाव [अर्थात् कवि न होना, ये दोनों नाकपरके कोढ़ के समान लज्जाप्रद होते हैं] ।१०।

काव्यापहरणकी निन्दा—

जैसा कि पिछले श्लोकोंमें कहा गया है बिना कवित्वके केवल कोरे विद्वानोंको भी जगत्में आदर प्राप्त करना कठिन हो जाता है। इसलिए कभी-कभी कवित्वकी प्रतिभा से हीन, किन्तु लोकमें आदर पानेके लिए उत्सुक, विद्वान् भी दूसरोंके काव्यको चुराकर अपहरण कर अपने नामसे प्रसिद्ध कर देते हैं और इस प्रकार अनायास ही लोकमें आदर प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार लोगोंकी निन्दा करते हुए ग्रन्थकार अगले श्लोक में लिखते हैं—

[पाठशालिनाम् अर्थात्] विद्वानोंकेलिए कवि न होना ही बड़ा कलङ्क है किन्तु अन्यों के काव्यसे [अर्थात् दूसरोंके काव्यका अपहरण करके अपने नामसे प्रसिद्ध करनेसे] कवित्व [को प्राप्त करनेका यत्न] तो कलङ्कको भी चूलिका [और भी अधिक बढ़ाने वाली चेष्टा] है। ११।

राजशेखर आदिने इस प्रकारके कवियोंका अच्छा विवेचन किया है। उन्होंने कवियोंके चार भेद किए हैं। (१) उत्पादक कवि, (२) परिवर्तक कवि, (३) आच्छादक कवि और (४) संवर्गक कवि। इनमेंसे 'उत्पादक' कवि उसको कहते हैं जो अपनी प्रतिभाके बलसे सुन्दर नूतन काव्यकी स्वयं रचना करता है। वही वास्तवमें कवि कहलानेका अधिकारी है। दूसरा 'परिवर्तक' कवि वह कहलाता है, जो किसी अन्य कविके भाव और शब्दों में हेर-फेर करके उसको अपना काव्य बना लेता है। अर्थात् कुछ परिवर्तनोंद्वारा दूसरेकी कवितापर अपने व्यक्तित्वकी छाप लगा देता है। तीसरे प्रकारका कवि 'आच्छादक' कवि होता है। वह दूसरेकी रचनाको छिपा देता है, प्रकाशित होनेका अवसर नहीं देता है और उसीसे मिलती-जुलती या हीन कोटिकी भी अपनी कविताको प्रसिद्ध कर देता है। चौथा कवि 'संवर्गक' कवि कहलाता है। 'संवर्गक' का अर्थ डाकू है। जो दूसरे काव्यको

खुल्लम-खुल्ला अपना कहकर प्रकाशित करनेका दुस्साहस करता है वह 'संवर्गक-कवि' कहलाता है। परिवर्तक कवि और आच्छादक कवि यदि चोर कवि हैं तो संवर्गक-कवि डाकू कवि है। कवियोंके ये सब भेद प्राचीन कालमें भी पाए जाते थे और अब भी पाए जाते हैं। इस प्रकारके कवियोंके विषयमें निम्न श्लोकमें अच्छी चुटकी ली गई है—

कविरनुहरति च्छायां, अर्थं कुकविः, पदादिकं चौरः।
सकलप्रबन्धहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तस्मै ॥

अर्थात् कवि यदि कभी काव्यापहरणका यत्न करता है तो वह केवल छायामात्रका ही अपहरण करता है। कुकवि दूसरेके काव्यसे अर्थका अपहरण करता है और चोर कवि पदादिका अपहरण करता है। किन्तु जो सारे प्रबन्ध, सारे काव्यका ही अपहरण कर लेता हूँ उस साहसिक डाकूको दूरसे नमस्कार है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि दूसरोंके काव्यसे छायामात्रका अपहरण करना, ग्रहण कर लेना अनुचित नहीं है उसकी अनुमति सुकविके लिए भी प्रदान की गई है। किन्तु अर्थापहरण, पदापहरण और प्रबन्धापहरण उत्तरोत्तर गुरुतर अपराध बन जाते हैं।

त्रिविध काव्यसंवाद—

ऊपरके श्लोकमें 'कविरनुहरति च्छायां' लिखकर कविको छायापहरणकी अनुमति-सी प्रदान कर दी गई प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि काव्योंमें बहुधा साम्य भी पाया जाता है। और वह साम्य कभी-कभी महाकवियोंके काव्योंमें भी पाया जाता है। पर वह छाया-साम्य ही होता है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन तथा राजशेखर आदि ने इस प्रकोरके काव्य-साम्यको तीन भागोंमें विभक्त किया है। (१) प्रतिबिम्ब-कल्प साम्य, (२) आलेख्यप्रख्य साम्य और (३) तुल्यदेहिवत् साम्य। इनका वर्णन करते हुए आनन्दवर्धनाचार्यने लिखा है—

संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत् पुनः प्रतिबिम्बवत्।
आलेख्याकारवत् तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥ ध्वन्यालोक ४-१२।

इनके लक्षण राजशेखरने निम्न प्रकारसे किये हैं—

अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरो यत्र।
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात् ॥
कियतापि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद् भाति।
तत् कथितमर्थचतुरै-रालेख्यप्रख्यमिति काव्यम् ॥

अर्थात् प्रतिबिम्बकल्प-काव्य, मूलकाव्यका प्रतिबिम्बमात्र प्रतीत होता है उसका अपना व्यक्तित्व और स्वरूप मूलकाव्यसे अलग प्रतीत नहीं होता है। आनन्दवर्धनाचार्यने इस प्रकारके काव्यको 'तात्त्विक-शरीर-शून्य' और राजशेखरने उसको 'अपरमार्थ-विभेद' कहा है। यह काव्य सर्वथा हेय है। दूसरे आलेख्यप्रख्य काव्यमें मूलकाव्यका कुछ संस्कार करके उसकी रचना की जाती है। जिससे वह प्रतिबिम्बभावको छोड़कर आलेख्य या चित्रके समान प्रतीत होता है। यह भी हेय ही माना जाता है। तीसरा 'तुल्यदेहिवत्' साम्य माना गया है। आनन्दवर्धनने इसके विषयमें लिखा है—

तत्त्वस्यान्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥ ध्वन्या० ४-१४।

कवित्ववन्ध्याः क्लिश्यन्ते सुखाकर्तुं जगन्ति ये ।
नेत्रे निमील्य विद्वांसस्तेऽधिरोहन्ति पर्वतम् ॥१२॥

अथ शिष्टसमयपरिपालनाय प्रत्यूहव्यूहोपशमनाय च सकलसन्दर्भार्थरत्नगर्भं समुचितेष्टाधिदैवतस्य सूत्रकारौ नमस्कारश्लोकं परामृशतः—

[सूत्र १]— चतुर्वर्गफलां नित्यं जैनीं वाचमुपास्महे ।
रूपैर्द्वादशभि-र्विश्वं यया न्याय्ये पथि धृतम् ॥१॥

अर्थात् जिस प्रकार कामिनीका मुख पूर्ववर्ती चन्द्रमाकी कान्तिका अनुसरण करने पर भी अत्यन्त शोभित होता है इसी प्रकार पूर्वकाव्यकी छायाका अनुसरण करनेवाला नवीन काव्य भी चमत्कारयुक्त हो सकता है । आनन्दवर्धन इस प्रकारके काव्य-साम्यके समर्थक हैं। इसीको पूर्व श्लोकमें "कविरनुहरति च्छायां" लिखकर ग्राह्य कहा गया है ।

कवित्वशक्तिसे रहित जो [विद्वान् अपनी कोरी विद्याके आधारपर] जगत्को प्रसन्न [सुखी] बनानेका क्लेश उठाते हैं वे विद्वान् मानो आँखें मींच कर पर्वतपर चढ़नेका यत्न करते हैं। [अर्थात् वे कभी अपने कार्यमें सफल नहीं हो सकते हैं] उनका वह प्रयास अविवेक-पूर्ण है ॥१२॥

मूल ग्रन्थका मङ्गलाचरण—

ऊपरके बारह श्लोक ग्रन्थकी अवतरणिका रूपमें लिखे गए थे । वे मूल ग्रन्थ के भाग न होकर उसके व्याख्याभूत विवरणके भाग थे । अब आगेसे मूल ग्रन्थ और उसकी व्याख्याका आरम्भ होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह ग्रन्थ दो भागोंमें विभक्त है—एक मूल कारिका भाग जिसको सूत्रभाग भी कहा जाता है, और दूसरा उसका व्याख्या-भाग अथवा विवरण-भाग कहलाता है । इन दोनों भागोंके निर्माता एक ही व्यक्ति हैं । अर्थात् सूत्रकारोंने स्वयं ही उसपर विवरण भी लिखा है । इसलिए मूल सूत्र-ग्रन्थका जो मङ्गल श्लोक था उसीको उन्होंने अपने विवरणके आरम्भमें मङ्गलश्लोकके रूपमें भी दे दिया है । 'चतुवर्गफलां' इत्यादि श्लोकको हम इससे पहिले भी देख चुके हैं, वही श्लोक अब फिर आ गया है । इसका यही कारण है । पहिली जगह विवरण या व्याख्या-भागके मङ्गलश्लोकके रूपमें उसको दिया गया था । अब उसे मूल सूत्र-ग्रन्थ के मङ्गलश्लोकके रूपमें लिखकर स्वयं सूत्रकार ही उसकी व्याख्या कर रहे हैं । इस बात को समझ लेनेसे श्लोककी पुनरावृत्ति से किसी प्रकारका संशय या भ्रम उत्पन्न नहीं होगा ।

सदाचारके परिपालनकेलिए और विघ्न-समुदायके नाश करनेकेलिए सूत्रकार [अर्थात् मूल सूत्र-ग्रन्थके निर्माता रामचन्द्र गुणचन्द्र] सम्पूर्ण ग्रन्थके अर्थकी स्तुतिसे युक्त [ग्रन्थके आरम्भमें नमस्कार करने योग्य] समुचित इष्टदेवता [जैनी वाक् अर्थात् सरस्वती] के नमस्कार-परक श्लोक लिखते हैं—

[सूत्र १]—[धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप] चतुर्वर्गात्मक फलको प्रदान करने वाली [रागादि दोषोंको जीत लेने वाले अत एव] जिनों [अर्थात् जिन नामसे कहे जाने वाले सन्तों] की [उस] वाणीको [इस ग्रन्थके निर्माता हम दोनों] नमस्कार करते हैं जिसने

'चतुर्वर्ग' इत्यादि—चतुर्वर्गो धर्म-अर्थ-काम-मोक्षा, यथौचित्यं प्रधानं गौणं वा 'फलं' यस्याः। समुदाय-समुदायिनोरभेदोऽप्यस्ति, तेन पुरुषभेदेन एक-द्वि-त्रि-पुरुषार्थफलत्वेऽपि चतुर्वर्गफलत्वं न विहन्यते।

इष्टलक्षणत्वाच्च फलस्य यो यस्य पुरुषार्थोऽभीष्टः स तस्य प्रधानं, अपरो गौणः। 'नित्यम्' इत्यनेन आवश्यकं वाचः चतुवर्गफलं प्रति हेतुत्वमुच्यते। अर्थापेक्षया जिनानामियं 'जैनी'। जिनोपदिष्टं ह्यर्थं ऋषयो ग्रथ्नन्ति। 'वाचम्' इति भारतीम्। 'उपास्महे' तदर्थानुष्ठानेन समीपे वर्तामहे। समीपवृत्या च तदेकशरणत्मात्वमात्मनः ख्यापितम्।

[अपने आचाराङ्ग से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त प्रसिद्ध] बारह रूपोंके द्वारा समस्त जगत्को न्यायोचित [धर्मानुकूल] मार्गमें नियन्त्रित किया है।१।

'चतुर्वर्ग' इत्यादि [व्याख्येय श्लोक का प्रतीक-भाग है। आगे उसकी व्याख्या करते हैं] चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष [रूप चारों पुरुषार्थ प्रकरणानुकूल] औचित्य अनुसार जिसके प्रधान या गौण फल हैं [वह चतुर्वर्गफला वाणी हुई]। समुदाय और समुदायी [अर्थात् समष्टि और व्यष्टि] का अभेद भी [माना जाता] है इसलिए पुरुषभेदसे [कहीं] एक [कहीं] दो और [कहीं] तीन पुरुषार्थके फल होनेपर भी चतुर्वर्गफलत्व का खण्डन नहीं होता है।

इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ जिन-वाणीका जो 'चतुर्वर्गफलत्व' प्रतिपादन किया है वह सर्वत्र समान रूपसे घटित नहीं होता है। पुरुषभेदसे उसमें भेद पाया जाता है। कहीं धर्म अर्थ कामादिमेंसे केवल एक ही फलकी प्राप्ति होती है। कहीं दो फल भी मिल सकते हैं और कहीं तीन या चार फल भी मिल सकते हैं। इसलिए जिन-वाणी कहीं एकफला, कहीं द्विफला, और कहीं त्रिफला भी हो सकती है। इसलिए यहाँ जो 'चतुर्वर्गफलत्व' कहा है सो उचित नहीं है। यह शङ्का हो सकती है। इस शङ्काका समाधान करनेकेलिए ग्रन्थकारने समुदाय और समुदायी अर्थात् समष्टि और व्यष्टिके अभेद-सिद्धान्तका आश्रय लिया है। इस सिद्धान्तके अनुसार समुदायी अर्थात् व्यष्टि रूप धर्म, अर्थ आदि अलग-अलग व्यक्तियों और उन चारोंके समुदाय अर्थात् समष्टिको अभिन्न मानकर केवल एक, दो या तीन फलोंके होने पर भी चतुर्वर्गफलत्व बन जाता है। उसमें कोई दोष नहीं होता है। यह ग्रंथकारका अभिप्राय है।

ये चारों फल सर्वत्र समान स्थितिमें भी नहीं होते हैं। कोई प्रधान होता है और कोई गौण। जो फल जिस समय जिस व्यक्तिको विशेष रूपसे अभीष्ट होता है वह उस समय प्रधान फल कहलाता है और शेष फल गौण कहलाते हैं। परन्तु वह फल चाहे प्रधान रूप हो अथवा गौण रूप, प्रत्येक दशामें चतुर्वर्गफलके भीतर गिना जाता है। तभी उन चारोंकी फलरूपताका उपपादन हो उकता है ऐसी बातको आगे कहते हैं—

और फलके इष्ट होनेसे [अर्थात् अभीष्ट अर्थकी प्राप्तिके ही फल-पद-वाच्य होनेसे धर्मादि चारों पुरुषार्थोंमेंसे जिस समय] जो पुरुषार्थ जिसको अभीष्ट है वह उसके लिए प्रधान [फल] होता है और अन्य [पुरुषार्थ] गौण [फल] होते हैं। ['चतुर्वर्गफलोंके साथ अन्वित होने वाले] 'नित्यम्' इस पदसे वाणीका चतुर्वर्गफलके प्रति आवश्यक—अनिवार्य—हेतुत्व

'नित्यम्' इत्यस्यात्रापि सम्बन्धादुपासनस्याविच्छित्तिः ख्यापिता। रूपाणि अङ्गान्याचारादीनि दृष्टिवादपर्यन्तानि। 'द्वादश' प्रसिद्धानि। संख्यानिर्देशेन चानियन्त्रितसंख्याया जिनवाचः प्रस्तुतातुल्यत्वेन व्यवच्छेदः कथ्यते।

'विश्वम्' इति समुदायापेक्षमेकत्वम्। कर्मभूमित्वात् प्राधान्यविवक्षया मनुष्यलोको वा विश्वम्। 'न्याय्ये' न्यायादनपेते। 'धृतम्' व्यवस्थापितम्। व्यवस्थापनस्य त्रैकाल्येऽपि अतीतनिर्देशोऽर्थापेक्षया वाचोऽनादित्वख्यापनार्थः। 'पथि' इति पुरुषार्थप्रापणोपायत्वादहिंसा-दानादिकं कर्म लक्ष्यते।

सूचित किया है।' [अर्थात् जिनवाणी अवश्य ही चतुवर्गरूप फलको प्रदान करने वाली होती है। यह जिन-वाणी सर्वत्र साक्षात् शब्दात्मक ही हो यह आवश्यक नहीं है किन्तु] अर्थकी अपेक्षासे [रागादिके विजेता अत एव 'जिन' नामसे प्रसिद्ध सन्तों] जिनोंकी यह [वाणी] 'जैनी' वाग् [कही गई] है। 'जिनों [अर्थात् रागादि विजेता सन्तों] के द्वारा बतलाए हुए अर्थको ही ऋषि लोग ग्रन्थ रूपसे लिखते हैं। [इसलिए ऋषियोंके ग्रन्थोंमें लिखी गई भाषा साक्षात् जिन-वाणी न होते हुए भी 'अर्थापेक्षया' जिनोंकी वाणी 'जैनी वाग्' [कही जा सकती है] 'वाचम्' इस पदसे भारती [का ग्रहण होता है]। 'उपास्महे' इससे उसके अनुसार आचरण द्वारा उसके समीपमें उपस्थित होते हैं। समीप रहनेके द्वारा अपने एकमात्र उसके शरणागत्वका प्रतिपादन किया है।

'नित्यम्' इस पदका अन्वय एक बार पहिले 'चतुर्वर्गफलां'के साथ कर चुके हैं। किन्तु दुबारा 'उपास्महे' के साथ भी ग्रन्थकार उसका अन्वय करना चाहते हैं। और इस प्रकार उपासनाकी नित्यता या निरन्तरता सूचित करना चाहते हैं। इसलिए अगली पंक्तिमें वे अपने इस अभिप्रायको व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

'नित्यम् इस [पद] का यहाँ [उपास्महे पदके साथ] भी अन्वय होनेसे उपासनाका अविच्छेद [नैरन्तर्य] सूचित किया है। [बारह] रूप अर्थात् आचारादिसे लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त बारह अङ्ग प्रसिद्ध हैं। [द्वादश इस] संख्याके निर्देशसे अनियत-संख्या वाली जिन-वाणीके प्रस्तुत [अर्थात् द्वादश संख्या वाले रूपकभेदों] के साथ समानता न होनेसे व्यवच्छेद किया गया है।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिनोंकी वाणी तो अन्य विषयोंसे सम्बन्ध रखने वाली अनेक प्रकारकी हो सकती है किन्तु यहाँ उस सबका ग्रहण नहीं किया गया हैं। द्वादशाङ्ग वाली जिन-वाणीकी ही प्रस्तुत द्वादश प्रकारके रूपकोंके साथ समानता हो सकती है इसलिए आचाराङ्गसे लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त द्वादश अङ्गोंका प्रतिपादन करने वाली जिन-वाणीको ही यहाँ नमस्कार किया है।

'विश्वम्' इस पदमें समुदायकी दृष्टिसे एक वचन [का प्रयोग किया गया] है। [अर्थात् उस एकवचनसे समष्टि रूपसे सारे चराचर जगत्का ग्रहण करना चाहिए]। अथवा कर्मभूमि [अर्थात् कर्म-योनि] होनेके कारण प्रधानताकी विवक्षासे [केवल] मनुष्यलोक [यहाँ] 'विश्व' [पदसे अभिप्रेत हो सकता] है। [धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते अष्टा० इस सूत्रसे न्याय-शब्दसे यत्-प्रत्यय करके 'न्याय्य' शब्दकी सिद्धि होती है। इसलिए] 'न्याय्य' अर्थात् न्यायसे अनपेत [न्यायानुकूल मार्ग] में। 'धृतम्' अर्थात् व्यवस्थित किया। [इस] व्यवस्थापनके त्रैकालिक होने

२—अथाभिनेयवाक्यपरतया श्लोकोऽयं व्याख्यायते। यद्यपि साक्षात् धर्म-अर्थ-कामफलान्येव नाटकादीनि तथापि 'रामवद् वर्तितव्यं न रावणवद्' इति हेयोपादेय-हानोपादानपरतया, धर्मस्य च मोक्षहेतुतया मोक्षोऽपि पारम्पर्येण फलम्। 'नित्यम्' इत्यनेन चतुर्वर्गफलान्येव रूपकाणि निबन्धनीयानि इति ख्याप्यते। जिनानां रागादिजेतृणां लक्षणप्रणयनापेक्षेयं 'जैनी'। न नाम सर्वत्रोपदिष्टं लक्षणं न। नवेक्षाऽर्वाचीनदृशः संक्षेपविस्तराभ्यां तत् कर्तुं प्रभवन्ति।

पर भी [अर्थात् जिन-वाणीके द्वारा जगत्को न्याय-मार्गमें व्यवस्थित करनेका कार्य, भूत भविष्य वर्तमान तीनों कालोंमें ही होता रहता है फिर भी 'धृतम्' पदमें अतीतकालके सूचक क्त-प्रत्ययके द्वारा केवल] अतीत-कालका निर्देश वाणीके अनादित्वको सूचित करने के लिए किया गया है। 'पथि' मार्गमें इस [पद] से [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप] पुरुषार्थोंके प्राप्त करनेका उपाय होनेके कारण अहिंसा दान आदि कर्मका ग्रहण [पथि पदसे] होता है। [अर्थात् जिनोंकी वाणीने विश्वको अहिंसा दान आदि कर्मोंमें लगाया यह 'पथि धृतम्' का अर्थ है]।

मङ्गल श्लोककी दूसरी व्याख्या

यहाँ तक विवरणकारने मङ्गलश्लोककी सामान्य मङ्गलाचरण-परक व्याख्याकी है। आगे वे इसकी दूसरे प्रकारकी व्याख्या करेंगे। इस दूसरी व्याख्याका सम्बन्ध प्रकृत नाटकादि रूप विषयके साथ होगा। इसलिए इसमें 'वाचम्' शब्दसे सामान्य वाणी मात्रका ग्रहण न होकर केवल नाटकादि रूप वाणीका ही ग्रहण किया जायगा। शेष पदोंके अर्थोंमें तो कोई विशेष अन्तर नहीं किया गया है किन्तु उनकी व्याख्या नाटकादिपरक रूपसे भिन्न प्रकारसे दिखलाई है। उसीको अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अब आगे अभिनेय-वाक्य [अर्थात् नाटक आदि] परक रूपसे इस श्लोककी [दूसरे प्रकारसे] व्याख्या करते हैं। यद्यपि साक्षात् रूपसे नाटक आदि [बारहों प्रकारके रूपक] धर्म, अर्थ और काम [इन तीनोंमेंसे ही किसी एक] फलको ही प्रदान करने वाले होते हैं [अर्थात् मोक्ष रूप चतुर्थ फलके साथ नाटकादिका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है] फिर भी 'रामके समान आचरण करना चाहिए रावणके समान नहीं' इस प्रकारकी हेय [अर्थात् परित्याग करने योग्य अधर्माचरण] और उपादेय [अर्थात् ग्रहण करने योग्य धर्माचरण] के [क्रमशः] हान [अर्थात् परित्याग] और उपादान [अर्थात् ग्रहण] परक होनेसे [नाटकादि मोक्षके प्रति भी परम्परया कारण हो सकते हैं। इसलिए मोक्षको भी उनका फल कहा जा सकता है। इसका दूसरा कारण भी अगली पंक्तिमें देते हैं कि] और धर्मके [भी] मोक्षजनक होनेसे परम्परासे मोक्ष भी [नाटिकादिका] फल [हो सकता] है। 'नित्यम्' इस [पद] से चतुर्वर्ग रूप फल [के साधक, अथवा चतुर्वर्ग रूप फलको प्रदर्शित करने] वाले ही नाटकादि की रचना [कवियोंको] करनी चाहिए यह बात ['नित्यम्' पदसे] सूचित की गई है। [जैनी इस पदमें 'जिन' पदसे तस्येदम् अष्टा० इस सूत्रके द्वारा अण्-प्रत्यय करके 'जैनी' पद बनता है। इसलिए उसका अर्थ] 'जिनानामिय जैनी' [जिनोंकी यह। अर्थात् जिन-सम्बन्धिनी वाणी यह होता है। और 'जिन' शब्दसे रागादिके विजेता सन्तोंका ग्रहण होता है इसलिए] 'जिनों' अर्थात् राग आदिको वशमें कर लेनेवालोंकी यह [वाणी साक्षात् रूपसे जिनप्रोक्त न

'वाचम्' नाटकाद्यां, 'उपास्महे' परिशीलयामः। 'नित्यम्' इति अत्रापि सम्बध्यते। सततापरिशीलिताभिनेयवाचो हि कुतो नामौचित्यवादिनो भवेयुः।

रूप्यन्ते अभिनीयन्ते इति रूपाणि नाटकादीनि। अनभिनेयानां रूपशब्दाप्रतीतेः सामान्यनिर्देशेऽपि वाचोऽभिनेयत्वं लभ्यते। भूरिभेदत्वेऽप्यभिनेयवाचो 'द्वादशभिः' इति प्रस्तुतप्रकरणापेक्षम्। 'विश्वम्' इति पूर्ववत्, समवकारादीनां देव-दैत्यचरितव्युत्पादकत्वात्। 'पथि' इति यशःसम्पदुपायत्वात् कृत्यं लक्षयति। नायक-प्रतिनायकयोर्हि नयानयफलोपदर्शनेन नाटकादिभि-दुर्दान्तचेतसां न्यायादनपेते कृत्ये प्रवृत्तिर्व्यवस्थाप्यते।

अत्रापि व्याख्याने श्रद्धापरत्वेन नमस्कारपरतैव श्लोकस्य। व्याख्येय-व्याख्यानयोरेककर्तृकत्वख्यापनार्थमयमेव श्लोको विवरणस्याप्यादावधीत इति ॥ १ ॥

होने पर भी मूल रूपमें] लक्षणोंकी रचनाकी दृष्टिसे 'जैनी' [वाणी कही जा सकती] है। [यहाँपर यह शङ्का हो सकती है कि नाटकादिके लक्षण तो भरतादिके ग्रन्थोंमें सर्वत्र पाए जाते हैं फिर उनको जिन-प्रणीत कैसे कह सकते हैं। इसका उत्तर देनेकी दृष्टिसे अगली पंक्तिमें लिखते हैं कि] सर्वत्र उपदिष्ट अर्थ लक्षण न हो ऐसी बात नहीं है। [क्योंकि मूल रूपसे जिनों द्वारा प्रणीत लक्षणोंको ही] नवीन दृष्टिवाले बादके [भरत आदि मुनि] संक्षेप और विस्तारके द्वारा उनको [फिर] कर सकते हैं।

'वाचम्' अर्थात् नाटकादि रूप [वाणी] को। 'उपास्महे' अर्थात् हम परिशीलित [निरूपित] करते हैं। [प्रथम व्याख्यामें भी 'नित्यं' पदका सम्बन्ध 'चतुर्वर्गफलां' और 'उपास्महे' दोनों पदोंके साथ किया गया था। इसी प्रकार इस द्वितीय व्याख्यामें भी दोनोंके साथ सम्बन्ध माना है। इसी बात को आगे लिखते हैं कि] 'नित्यम्' यह [पद पहले चतुर्वर्गफलां'के साथ एक बार अन्वित हो चुका है किन्तु दुबारा] यहाँ [उपास्महेके साथ] भी अन्वित होता है। 'उपास्महे'के साथ 'नित्यम्' पदके सम्बन्धसे यह अभिप्राय निकलता है कि नाटक आदिका निरन्तर परिशीलन करने से ही नाटकके लक्षणादिका निरूपण ठीक तरहसे किया जा सकता है। अन्यथा] अभिनय वाणी [अर्थात् नाटकादि] का निरन्तर अनुशीलन न करने वाले [नाटकलक्षणकार अर्थात् नाट्यशास्त्रके विषयपर ग्रंथ लिखने वाले विद्वान्] औचित्य को प्रतिपादन करने वाले [अर्थात् नाटकादिमें उचित नियमोंके प्रतिपादक] कैसे हो सकते हैं ?

नाटकादिका निरन्तर परिशीलन न करनेवाले विद्वान् अनुभवहीन होनेके कारण नाटकादिके लक्षण और औचित्य आदिका प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं। इसलिए हमने अर्थात् इस ग्रन्थके प्रणेता रामचन्द्र और गुणचन्द्रने नाटकोंका सतत परिशीलन करके अनुभव प्राप्त करनेके बाद ही इस ग्रन्थकी रचनाका साहस किया है यह ग्रन्थकारका निगूढ़ अभिप्राय है।

आगे ग्रंथकार रूपक शब्दकी व्युत्पत्ति द्वारा यह दिखलाते हैं कि नाटकोंकेलिए 'रूपक' शब्दका प्रयोग क्यों होता है।

रूपित अर्थात् अभिनय द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं, इसलिए नाटकादि 'रूप' [या रूपक] कहलाते हैं। जिनका अभिनय नहीं होता है उनकी 'रूप' शब्दसे प्रतीति न होनेके कारण

अथ लक्षणस्य विषयं प्रतिजानीते—

(सूत्र २)—अभिनेयस्य काव्यस्य भूरिभेदभृतः कियत् ।
कियतोऽपि प्रसिद्धस्य दृष्टं लक्ष्म प्रचक्ष्महे ॥२॥

यहाँ वाणीका सामान्य निर्देश होनेपर भी उससे अभिनेय [नाटकादि रूप वाणी] का ही ग्रहण होता है। अभिनेय [नाटकादि रूप] वाणीके [बारहसे अधिक] बहुतसे भेद होनेपर भी 'द्वादशभिः' बारह यह [पद] प्रस्तुत प्रकरणके अनुसार कहा गया है। 'विश्वम्' यह [पद] पूर्व [व्याख्या] के समान [यहाँ इस द्वितीय व्याख्यामें भी समुदायकी दृष्टिसे एकवचनमें प्रयुक्त हुआ] है। [क्योंकि नाट्यके भेद रूप] समवकार आदिमें देव तथा दैत्य आदिके चरित का प्रदर्शन होनेसे [नाट्य समस्त विश्वसे ही सम्बन्ध रखता है]। 'पथि' यह [पद] यशः सम्पादनके उपाय होनेसे उत्तम कार्योंको बोधित करता है। नायक और प्रतिनायकके धर्म और अधर्मके फलोंको दिखलाकर नाटकादि दुर्दान्तचित्त [अधर्मियों] के व्यवहारको भी न्याय्य मार्गमें व्यवस्थित करते हैं।

इस [दूसरी] व्याख्यामें भी श्रद्धापरक होनेसे यह श्लोक नमस्कार सूचक ही समझना चाहिए। व्याख्येय [मूल कारिकाभाग] और व्याख्या [अर्थात् इस विवरण दोनोंके कर्ता अभिन्न होनेसे इसी श्लोकको विवरणके प्रारम्भमें भी दे दिया गया है। [यहाँपर यह मूल ग्रंथकी कारिकाके रूपमें आया है। अतः उसकी व्याख्या की गई है। पहली बार विवरणके मङ्गल-श्लोकके रूपमें दिया गया था। अतः उसकी व्याख्या वहाँ नहीं की गई थी] ॥ १ ॥

प्रतिपाद्य विषय—

प्रथम श्लोकमें मङ्गलाचरण करनेके बाद अब द्वितीय कारिकामें ग्रन्थकार अपने ग्रन्थके प्रतिपाद्य-विषयका दिग्दर्शन कराते हैं। जैसा कि ग्रन्थके नामसे ही स्पष्ट है नाट्यसे सम्बन्ध रखने वाले लक्षणों आदिका प्रतिपादन ही इस ग्रन्थका मुख्य एवं प्रधान प्रतिपाद्य विषय कहा जा सकता है। इन लक्षण आदिका प्रतिपादन भी ग्रन्थकार पूर्वप्रणीत भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' आदिके आधारपर करेंगे। इसीलिए मूल कारिकामें कहा है—'दृष्टं लक्ष्म प्रचक्ष्महे' अर्थात् पूर्व-प्रतिपादित लक्षणोंके आधारपर ही हम लक्षण आदि लिखेंगे। अन्तर इतना है कि भरतमुनिके समान नाट्यके सारे विषयोंका और सारे भेदोंका प्रतिपादन न करके कुछ चुने भेदों और विषयोंका ही लक्षण करेंगे और वह भी बहुत विस्तारके साथ नहीं अपितु संक्षेपमें करेंगे। इसी दृष्टिसे कारिकामें 'कियतोऽपि' और 'कियत् लक्ष्म प्रचक्ष्महे' दो जगह 'कियत्' पदका प्रयोग किया गया है। पहली जगह 'कियतोऽपि' का अभिप्राय यह है कि सारे नाट्यभेदोंका नहीं अपितु केवल कुछ भेदोंका ही लक्षण करेंगे। दूसरी जगह 'कियत्' पदका अभिप्राय यह है कि विस्तारपूर्वक लक्षण न करके कुछ थोड़ासा ही संक्षिप्त लक्षण करेंगे। इसी बातको आगे लिखते हैं—

अब [लक्षण अर्थात्] शास्त्रके विषयका प्रतिपादन [की प्रतिज्ञा] करते हैं—

[सूत्र २]—बहुत प्रकारके भेदोंसे युक्त अभिनेय-काव्य [अर्थात् नाट्य] मेंसे कुछ प्रसिद्ध [भेदों] के [भरत नाट्यशास्त्र आदिमें विस्तारपूर्वक] पूर्व-दृष्ट कुछ [अर्थात् संक्षिप्त] लक्षण हम [अपने इस ग्रन्थमें आगे] कह रहे हैं।२।

'अभिनेयस्य' वाचिक-आङ्गिक-सात्त्विक-आहार्यैरभिनयैः प्रत्यक्षीभवन-योग्यस्य। सूत्रकाराभिप्रायापेक्षं चैतत्, तेन रस-भाव-नायक-नायिकादिलक्षणस्य अभिनेयं प्रति प्रवृत्तस्य अनभिनेयव्यापित्वेऽपि न विरोधः। 'काव्यस्य' वर्णनात्मनः शब्दार्थग्रन्थनस्य कविव्यापारस्य। 'भूरीन्' रसप्रधानान् नाटकादीन्, अप्रधानरसांश्च दुर्मिलित-श्रीगदित-भाणी-प्रस्थान-रासकादीन 'भेदान्' बिभर्ति। 'कियत्' इति अनान्तरीयकस्य रङ्गसन्ध्यन्तरालादिलक्षणस्य परिहारेण वक्ष्यमाणप्रबन्धद्वादशक-ग्रथननान्तरीयकं कतिपयं लक्ष्मेति योगः।

'कियतोऽपि' लक्षणविधावभिप्रेतस्य। तेन कोहलप्रणीतलक्ष्माणः साटकादयो न लक्ष्यन्ते। लक्षणीयबाहुल्येऽपि हि यावत्येव भागे लक्षयितुः श्रद्धा तावानेव लक्ष्यते। कियतोऽपि च 'प्रसिद्धस्य' रसप्राधान्यादखिललोकरञ्जकतया ख्यातस्य नाटकादेः। 'दृष्टं' पूर्वमुनिप्रणीतनाट्यलक्षणपौर्वापर्यपरामर्शेन उपयुक्ततया निश्चितम्। एवं च स्वमनीषिकानिरासेन लक्षणस्योपादेयत्वमुक्तम्। लक्षयति अभि-नेयादनभिनेयाच्च कियतोऽपि व्यवच्छिनत्तीति 'लक्ष्म' लक्षणम्। 'प्रचक्ष्महे' सारा-सारोपादानहानाभ्यां संक्षेप-विस्तराभ्यां च प्रकर्षेण ब्रूमहे। एवं चापरप्रणीतलक्षणो-त्कर्षेण निष्प्रयोजनत्वमपास्तमिति ॥२॥

'अभिनेय [काव्य] के' अर्थात् वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक [अर्थात् मानस] और आहार्य [अर्थात् वेष-भूषात्मक चार प्रकारके] अभिनयोंके द्वारा प्रत्यक्ष होने योग्य [नाट्य] का [लक्षण कहेंगे]। यह बात सूत्रकारके अभिप्रायकी दृष्टिसे कही है। इसलिए रस भाव नायक-नायिका आदिके जो लक्षण अभिनेय [काव्य] की दृष्टिसे किये गए हैं उनके अनभिनेय [अर्थात् श्रव्य-काव्य] में पाए जाने पर भी विरोध नहीं होता है। 'काव्यका' अर्थात् वर्णनात्मक शब्द और अर्थके ग्रन्थन रूप कविके व्यापारका। 'बहुतसे' अर्थात् रस-प्रधान नाटक आदि, और गौण रस वाले दुर्मिलित, श्रीगदित, भाणी, प्रस्थान और रासक आदि भेदोंको धारण करने वाले [यह 'भूरिभेदभृतः' पदका अर्थ हुआ]। 'कियत्' इससे अनावश्यक रङ्ग सन्ध्यन्तराल आदिके लक्षणोंको छोड़कर आगे कहे जाने वाले बारह प्रकारके प्रबन्धोंकी रचनाके लिए आवश्यक 'कुछ' लक्षणोंको कहेंगे यह सम्बन्ध [या अभिप्राय] है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि भरतमुनि-प्रणीत नाट्यशास्त्र आदिमें रङ्गशालाके निर्माण आदिके विषयको बहुत सूक्ष्म विवेचन करते हुए अत्यन्त विस्तारके साथ प्रतिपादन किया गया है। प्रकृत ग्रन्थकारने उस विषयको बिल्कुल छोड़ दिया है। उन्होंने अपने क्षेत्रका बहुत विस्तार न करके सीमित क्षेत्रको ही अपना विषय बनाया है उसकी दृष्टिसे जितना भाग अत्यन्त आवश्यक समझा गया है उसीका प्रतिपादन यहाँ किया है। और वह भी अभि-नेय काव्यके केवल कुछ भेदोंके सम्बन्धमें ही लिखा गया है। बारह प्रकारके अभिनेय-काव्यके भेदोंकी विवेचना ही इस ग्रन्थमें की गई है। अतः ग्रन्थकारका क्षेत्र उन भेदोंकी विवेचना तक ही सीमित है। इस बातको आगे लिखते हैं—

'कियतोऽपि' अर्थात् ग्रन्थ [लक्षणविधि] में अभिप्रेत कुछ छोड़े-से [भेदों] का [ही लक्षण करेंगे]। इसलिए [नाट्यशास्त्रके भरतमुनिसे भी प्राचीनतर आचार्य] कोहल प्रणीत साटक [सट्टक] आदिका लक्षण यहाँ नहीं किया गया है। लक्षणीय [अर्थात् अभिनेय-

अथ व्यक्तिभेदानुद्देशे, नियतं न शक्यते लक्षणमाख्यातुमिति तानुद्दिशति—

[सूत्र ३]—नाटकं प्रकरणं च नाटिका प्रकरण्यथ ।
व्यायोगः समवकारो भाणः प्रहसनं डिमः ॥३॥

काव्यों] का बाहुल्य [बहुतायत] होनेपर भी जितने भागमें ['लक्षयितुः' लक्षण करने वाले अर्थात्] ग्रन्थकारकी श्रद्धा [इच्छा] है उतने ही भागके [अर्थात् केवल बारह भेदोंके] ही लक्षण करते हैं। और 'कियतोऽपि च प्रसिद्धस्य' कुछ प्रसिद्ध [अभिनेय-काव्यों] का अर्थात् रसकी प्रधानता होनेके कारण समस्त जगत्के आल्हादके कारण रूपसे प्रसिद्ध नाटक आदिका [ही लक्षण करेंगे]। 'दृष्टं' अर्थात् [भरत आदि] पूर्वमुनियोंके द्वारा रचे गए नाट्य लक्षणोंके तारतम्य [पौर्वापर्य] का विचार करके उपयुक्ततया निश्चय किए हुए [लक्षणको कहेंगे]। इस प्रकार ['दृष्टं' पदके प्रयोग द्वारा पूर्वाचार्योंके लक्षणोंके उपादेयता-तारतम्यकी विवेचना करके लक्षण कहेंगे इस बातको सूचित करनेसे] अपनी कल्पनामात्रके निरास द्वारा लक्षणोंकी उपादेयताका प्रतिपादन किया है। [आगे 'लक्षणम्' शब्दका अर्थ करते हैं] जो अभिनेय और कुछ अनभिनेयोंसे भी पृथक् करता है वह लक्षण है ['समानासमानजातीयव्यवच्छेदो हि लक्षणार्थः'] इसके अनुसार समानजातीय अन्य अभिनेय काव्योंसे और असमानजातीय अनभिनेय काव्योंसे भिन्न करने वाले ही नाटक आदिके लक्षण होते हैं। यह बात इस पंक्तिसे सूचित की है]। 'प्रकृष्टरूपसे कह रहे हैं' अर्थात् [पूर्वाचार्योंके लक्षणोंमेंसे] सार भागको ग्रहण करके और असार भागको त्याग कर और संक्षेप तथा विस्तारके द्वारा [अर्थात् जहाँ पूर्वाचार्योंने बहुत संक्षेप कर दिया है वहाँ कुछ विस्तार करके और जहाँ उन्होंने अधिक विस्तार किया है वहाँ संक्षेप करके] प्रकृष्टरूपसे कह रहे हैं। इस प्रकार अन्योंके रचे लक्षणोंसे उत्कर्ष दिखलाकर [अपनी रचनाके] निष्प्रयोजनत्वका निराकरण कर दिया है [अर्थात् उपयोगिता प्रदर्शित करदी है] ॥२॥

रूपकोंके भेद—

जैसाकि ग्रन्थकार प्रथम मङ्गल-श्लोकमें संकेत कर चुके हैं इस ग्रन्थमें बारह प्रकारके रूपक-भेदोंका निरूपण किया जायगा। इसलिए अगली दो कारिकाओंमें ग्रन्थकार उन बारह भेदोंके नाम गिनाते हैं। इस नाम गिनानेकी प्रक्रियाको शास्त्रीय परिभाषामें 'उद्देश' शब्दसे कहा जाता है। 'उद्देश' शब्दका अर्थ 'नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनं उद्देशः' अर्थात् नाममात्रसे वस्तुका कथन करना 'उद्देश' कहलाता है यह किया गया है। प्रायः शास्त्रोंमें उद्देश लक्षण और परीक्षा इन तीन प्रकारके उपायोंके द्वारा अपने विषयका प्रतिपादन किया जाता है। उस पद्धतिका ही अवलम्बन करके ग्रन्थकार यहाँ रूपक-भेदोंका नाममात्रसे कथन या 'उद्देश' इन दो कारिकाओंमें कर रहे हैं। फिर आगे उनके लक्षण आदि करेंगे।

[सूत्र ३]—१ नाटक और २. प्रकरण, तथा ३. नाटिका, ४. प्रकरणी एवं ५. व्यायोग, ६. समवकार, ७. भाण, ८. प्रहसन, ९. डिम।

१०. उत्सृष्टिकाङ्क, ११. ईहामृग, १२. वीथी [ये बारह रूपकके भेद होते हैं। उनमेंसे नाटक प्रकरण नाटिका और प्रकरणी ये] चार [भेद कैशिकी, सात्त्वती आरभटी तथा भारती रूप] सब वृत्तियोंसे युक्त होते हैं और बादके आठ [रूपक भेद] कैशिकीवृत्तिसे रहित

अङ्क ईहामृगो वीथी चत्वारः सर्ववृत्तयः ।
त्रिवृत्तयः परे त्वष्टौ कैशिकीपरिवर्जनात् ॥४॥

'चकारः' सर्वपुरुषार्थफलत्वेन महापुरुषोपदेशार्हचरितत्वेन च प्रबन्धेषु नाटकप्रकरणयोः प्राधान्यमाह । 'अथ'-शब्दो नाटिकादिचतुष्टयाद् अपूर्णसन्धित्वेन विष्कम्भक-प्रवेशकायोग्यत्वेन अनुपदेशार्हचरितप्रायत्वेन च उत्तरेषां पार्थक्यं ज्ञापयति । 'अङ्क' इति उत्सृष्टिकाङ्को, न पुनरवस्थासमाप्त्यादिरूपः । अङ्कवतां मध्ये पाठात्, छन्दोऽनुरोधाच्च एकदेशेनाभिधानम् ।

'चत्वारः' इति प्रकरण्यन्ता व्यक्तिभेदाः । 'सर्वा' गुण-प्रधानभावेन चतस्रोऽपि वृत्तयो भारती-सात्त्वती-आरभटी-कैशिक्यो वक्ष्यमाणलक्षणा यत्र । 'तिस्रो' भारती-सात्वती-आरभट्यो व्यस्ताः समस्ता वा वृत्तयो येषु । अत्र च येषु व्यायोग-समवकार-ईहामृग-डिमेषु एकस्या वृत्तेर्न-लक्षणे प्राधान्यनिर्देशस्तेषु व्यक्तिभेदेन पृथक-पृथगेकैकस्या वृत्तेः कविस्वेच्छया प्राधान्यं निबध्यते । येषु तु भेदेषु भाण-प्रहसन-उत्सृष्टिकाङ्क-वीथीषु यस्या वृत्तेः प्राधान्यनिर्देशस्तेषु प्रतिव्यक्ति तस्या एव प्राधान्यमपरयोर्गौणत्वमल्पत्वादभावो वा । 'कैशिक्याः' परि सामस्त्येन 'वर्जनं' अभावः । यद्यपि समवकारे शृङ्गारत्वमस्ति तथापि न तत्र कैशिकी । न खलु काममात्रं शृङ्गारः, किन्तु विलासोत्कर्षः । न चासौ रौद्रप्रकृतीनां नेतॄणाम् । शृङ्गारशब्दश्च तत्र काममात्रपर्यवसायीति ॥३-४॥

होनेके कारण [केवल सात्त्वती आरभटी तथा भारती इन] तीन प्रकारकी वृत्तियोंसे युक्त ही होते हैं । ३-४ ।

[कारिकामें 'प्रकरणं' के बाद आया हुआ] चकार, समस्त [अर्थात् चारों प्रकारके] पुरुषार्थोंके प्रदान करने वाले होनेसे तथा महापुरुषोंके उपदेश-योग्य चरित्रसे युक्त होनेके कारण [बारहों प्रकारके इन] प्रबन्धों [अभिनेय-काव्यों] में नाटक तथा प्रकरणकी प्रधानताको सूचित करता है । ['प्रकरणी' के बाद प्रयुक्त हुआ] अथ-शब्द १. सम्पूर्ण [अर्थात् आगे कही जाने वाली पाँच प्रकारकी] सन्धियोंसे युक्त न होनेके कारण, २. विष्कम्भक तथा प्रवेशक [इनके लक्षण आगे किए जावेंगे] के अयोग्य होनेसे, और ३. उपदेश प्रदान करनेमें असमर्थ चरित्रोंसे पूर्ण होनेके कारण [व्यायोगसे लेकर वीथी पर्यन्त] अगले आठ [भेदों] का नाटकादि [प्रथम चार भेदों] से भेद सूचित करता है । [कारिकामें आए हुए] 'अङ्क' शब्दसे 'उत्सृष्टिकाङ्क' का [ग्रहण करना चाहिए] अवस्था समाप्ति आदि रूप अङ्कोंका नहीं । अङ्क-युक्त [नाटकादि] के मध्यमें पठित होनेसे छन्दके अनुरोधसे [उत्सृष्टिकाङ्क पूरा शब्द न कहकर] एकदेश [अङ्क-पद] से कथन किया गया है ।

[चार] अर्थात् [नाटकसे लेकर] 'प्रकरणी' पर्यन्त [रूपकोंके] व्यक्ति-भेद । [सर्ववृत्तयः सब वृत्तियोंसे युक्त होते हैं । इसका अर्थ करते हैं] सब अर्थात् गुणभाव या प्रधानभावसे भारती, सात्त्वती आरभटी तथा कैशिकी चारों वृत्तियाँ जिसमें रहती हैं । [वे नाटकादि चार भेद सब वृत्तियोंसे युक्त होते हैं । आगे 'त्रिवृत्तयः' का अर्थ करते हैं] तीन अर्थात् भारती, सात्त्वती तथा आरभटी [नामक तीन] वृत्तियाँ अलग-अलग [व्यस्त] अथवा सम्मि-

अथ यथोद्देशं लक्षणमाह—

[सूत्र ४]–ख्याताद्यराजचरितं धर्मकामार्थसत्फलम्
साङ्गोपाय-दशा-सन्धि-दिव्याङ्गं तत्र नाटकम् ॥५॥

लित रूपसे [समस्ता] जिनमें रहती हैं [वे व्यायोगसे लेकर वीथी पर्यन्त आठ रूपकभेद 'त्रिवृत्तयः' तीन वृत्तियों वाले होते हैं]। इनमें जिन व्यायोग, समवकार ईहामृग और डिममें उनके लक्षणोंमें एक-एक वृत्तिके प्राधान्यका निर्देश [किया हुआ] है उनमें व्यक्ति-भेदसे कवि अपनी स्वेच्छासे एक-एक वृत्तिको प्रधान रूपसे निबद्ध करता है। और जिन भेदोंमें अर्थात् भाण प्रहसन, उत्सृष्टिकाङ्क और वीथीमें जिस [विशेष] वृत्तिका [नाम लेकर] प्राधान्यका निर्देश किया गया है उनमें [कवि अपनी स्वेच्छासे नहीं अपितु उसी निर्देशके अनुसार] उसी वृत्तिको प्रधान रूपसे और अन्य दोनों [वृत्तियों] की गौण रूपसे अथवा अल्पताके कारण सर्वथा अभावको [उपनिबद्ध करता है। आगे 'कैशिकीपरिवर्जनात्' का अर्थ करते हैं—] कैशिकी [वृत्ति] का 'परि' अर्थात् सम्पूर्णतया वर्जन अर्थात् अभाव [होनेसे व्यायोगसे लेकर वीथी पर्यन्त आठ भेद केवल तीन वृत्तियों वाले होते हैं]। यद्यपि समवकारमें शृङ्गारत्व [शृङ्गारका भाव काम प्रदर्शित] होता है किन्तु फिर भी [शृङ्गारमें होनेवाली] कैशिकी-वृत्ति वहाँ नहीं रहती है। क्योंकि केवल साधारण कामका ही नाम शृङ्गार नहीं है किन्तु [उसके] विलास का उत्कर्ष [उदात्तीकरण शृङ्गार शब्दसे कहा जाता है। समवकारमें सामान्य लौकिक काम-व्यापारमात्रका प्रदर्शन होता है उसके विलासोत्कर्ष या उदात्तीकरणका नहीं]। क्योंकि [वह] समवकारमें प्रस्तुत किए जाने वाले [रौद्र-प्रकृतिके] पात्रोंमें नहीं हो सकता है। इसलिए समवकारमें यथार्थ शृङ्गारका प्रदर्शन सम्भव नहीं है] और उसमें प्रयुक्त शृङ्गार शब्द केवल [सामान्य] काम मात्रका बोधक है।

इसका यह अभिप्राय है कि तीन वृत्तियों वाले आठ रूपक-भेदोंमेंसे समवकारमें यद्यपि कामकी प्रवृत्तियोंका दर्शन होता है किन्तु उसको उदात्त रूप न होनेसे शृङ्गार शब्दसे नहीं कहा जा सकता है। इसलिए उसमें कैशिकी वृत्तिका उपयोग नहीं होता है। अत एव व्यायोग आदि अन्य सात भेदोंके साथ, काम-युक्त होनेपर भी समवकारको कैशिकी-वृत्ति हीन केवल तीन वृत्तियों वाले वर्गमें रखा गया है ॥३-४॥

१ नाटक लक्षण—

पिछली कारिकाओंमें ग्रन्थकारने रूपकके बारह प्रधान भेदोंका 'उद्देश' अर्थात् 'नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तन' किया है। 'त्रिविधा च शास्त्रस्य प्रवृत्तिः, उद्देशो लक्षणं परीक्षा च' इस सिद्धान्तके अनुसार 'उद्देश' के बाद लक्षणका अवसर आता है। अत एव आगे ग्रन्थकार उद्देशके क्रमसे ही लक्षणोंका निरूपण आरम्भ करते हैं। उद्देशक्रममें सबसे पहले नाटकका नाम आया है इसलिए सबसे पहले नाटकका ही लक्षण करते हैं।

अब उद्देश क्रमके अनुसार [नाटकके] लक्षणको कहते हैं—

[सूत्र ४] उन [रूपक-भेदों] मेंसे धर्म, अर्थ और काम [रूप त्रिविध] फलोंवाला, अङ्क, उपाय, दशा, सन्धिसे युक्त, देवता आदि जिसमें [प्रधान नायकके अङ्ग अर्थात्] सहायक हों, इस प्रकारका पूर्वकालके प्रसिद्ध राजाओंका चरित [प्रदर्शित करनेवाला अभिनेय काव्य] नाटक [नामसे कहा जाता] है।५।

ख्याताद्यराजस्य चरितं यत्रेत्यन्यपदार्थः। इह ख्यातत्वं त्रिधा, नाम्ना, चेष्टितेन, देशेन च। कौशाम्ब्यां चरितं वत्सराजेनैव रञ्जकम्। चरितमपि वत्सराजस्य। कौशाम्ब्यां वासवदत्तालाभादिकमेव। वासवदत्तालाभादिकं वत्सराजस्य कौशाम्ब्यामेव।

चरितख्यातत्वं च प्रधानचरितापेक्षया। ततस्तदनुयायीनि रञ्जकत्वार्थमख्यातान्यपि चरितानि क्रियन्ते। तेन बहुषु रामप्रबन्धेषु सीताहरणानयनोपायानां युद्धानां गौणपात्राणि। अपरेषां च भणितिविशेषादीनां भेदेऽपि न विरोधः।

पूर्वकालके प्रसिद्ध राजाका चरित्र जिसमें [प्रदर्शित किया गया] हो वह ['ख्याताद्यराजचरितं' अभिनेय काव्य हुआ], यह अन्य-पदार्थप्रधान [बहुब्रीहिसमास 'ख्याताद्यराजचरितं' इस पदमें किया गया] है। इसमें प्रसिद्धत्व तीन प्रकारसे होता है, १ नामसे [प्रसिद्धत्व], २ कार्योंसे [चेष्टितेन प्रसिद्धत्व] और ३ देशसे [प्रसिद्धत्व]। [आगे इन तीनों प्रकारके प्रसिद्धत्वको उदाहरणों द्वारा स्पष्ट रूपसे दिखलाते हैं। जैसे नामकी प्रसिद्धिका उदाहरण यह है कि] कौशाम्बीमें चरित [अर्थात् चेष्टाएँ अभिनय] वत्सराज [के नाम] से ही हृदयाकर्षक होता है। [अर्थात् इस रूपमें वत्सराज नामसे नायक उदयनका ख्यातत्व बनता है। दूसरा चरितसे प्रसिद्धका उदाहरण दिखलाते हैं] और वत्सराज [उदयन] का कौशाम्बीमें वासवदत्ता—प्राप्ति रूप चरित ही [हृदयाकर्षक होता है। यह चरित कार्यों द्वारा प्रसिद्धिका उदाहरण हुआ। इसीको तीसरे प्रकारसे बदल देनेपर] वत्सराज [उदयन] का वासवदत्तालाभादिक [चरित] कौशम्बीमें ही [हृदयाकर्षक होता है यह देशसे प्रसिद्धिका उदाहरण हुआ। अर्थात् एक वत्सराजके चरित्रमें ही तीनों प्रकारकी प्रसिद्धि जाई जाती है]।

यह चरित्रकी ख्याति प्रधान नायककी दृष्टिसे ही [ली जाती] है। इसलिए शोभाधानकेलिए उस [प्रधान-नायक] के अनुयायी अप्रसिद्ध चरित्र भी [नाटकमें उपनिबद्ध] किए जाते हैं। इसलिए बहुतसे राम-काव्योंमें सीताके हरण तथा पुनः प्राप्तिके युद्धोंमें गौण पात्र [भी पाए जाते हैं]। और अन्य [अप्रधान पात्रों] की उक्तियोंमें [भिन्न-भिन्न नाटकों] में विरोध होनेपर भी दोष नहीं होता है।

यहाँ ग्रन्थाकारने 'नाम्ना, चेष्टितेन देशेन च' तीनों प्रकारकी प्रसिद्धि एक वत्सराज उदयनके चरित्रमें ही दिखलाई है। और उसकेलिए तीन भिन्न-भिन्न स्थानोंपर 'एवकार' का प्रयोग किया है। 'कौशाम्ब्यां चरितं वत्सराजेनैव रञ्जकम्'। इस वाक्यमें 'एव कार' द्वारा वत्सराज नामपर बल दिया गया है। अर्थात् कौशाम्बीमें वहाँके पूर्ववर्ती राजा वत्सराज उदयनका नाम प्रसिद्ध है इसलिए वहाँ उनका चरित्र ही लोगोंको प्रिय लगता है। यह 'वत्सराजेनैव' में वत्सराजके साथ प्रयुक्त 'एवकार' का अभिप्राय है। दूसरी जगह 'चरितमपि वत्सराजस्य कौशाम्ब्यां वासवदत्तलाभादिकमेव' में प्रयुक्त 'एवकार' वासवदत्ता-प्राप्ति रूप चरितके ऊपर ही बल देता है। अर्थात् वत्सराज उदयनके अन्य चरित्र इतने हृदयाकर्षक नहीं हैं जितना कि वासवदत्ता-प्राप्तिका वृत्तान्त। यह 'चेष्टितेन' प्रसिद्धिका उदाहरण हुआ। तीसरी जगह 'वासवदत्ता लाभादिकं वत्सराजस्य कौशाम्ब्यामेव' यहाँ 'कौशाम्वी' के साथ प्रयुक्त 'एवकार' कौशाम्वी रूप देशपर विशेष बल देता है। अर्थात् वत्सराज उदयनका वासवदत्ता-लाभरूप चरित भी केवल कौशाम्वीमें ही विशेष रूपसे लोकप्रिय है अन्यत्र नहीं।

आद्येति पूर्वः, तेन वर्तमानभविष्यतोर्निरासः। कविना हि रञ्जनार्थं किञ्चित् सदप्युपेक्ष्यते, किञ्चिदसदप्याद्रियते। वर्तमाने च नेतरि तत्कालप्रसिद्धिबाधया रसहानिः स्यात्। पूर्वमहापुरुषचरितेषु च अश्रद्धानं स्यात्। भविष्यतस्तु वृत्तं चरितमपि न भवति। चर्यते स्म चरितमित्यतीतनिर्देशात्।

यह 'देशेन' प्रसिद्धिका उदाहरण है। इस प्रकार एक वत्सराज उदयनके चरित्रमें ही तीनों प्रकारकी प्रसिद्धिके उदाहरण ग्रन्थकारने दिखला दिए हैं।

वर्तमान चरित्रोंके अभिनयका निषेध—

नाटकोंमें केवल पूर्वकालके प्रसिद्ध राजाओंको ही नायक रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है वर्तमान या भविष्यत्के राजाओंको चरित-नायकके रूपमें प्रस्तुत नहीं करना चाहिए इस बातको यहाँ ग्रन्थकारने 'आद्य-राज' पदसे सूचित किया है। इस बातको विवरणकार अगली पंक्तियोंमें दिखलाते हैं—

'आद्य' इस [पद] से पूर्व [कालके राजाओंका ही ग्रहण होता है], इसलिए वर्तमान और भविष्यत् [कालके राजाओंके चरित्रका वर्णन] का निषेध हो जाता है। [इसकेलिए आगे दो युक्तियाँ देते हैं। उनमेंसे पहली युक्ति यह है कि—नाटकमें] शोभाधानके लिए कवि कभी-कभी कुछ विद्यमान [अर्थात् वास्तविक] बातको भी छोड़ देता है और कुछ अविद्यमान [अर्थात् स्वयं कल्पित अर्थ] को भी ग्रहण कर लेता है। [यदि नाटकोंमें वर्तमान-कालके व्यक्तिको भी नायक बना दिया जाय तो ऐसे स्थलोंमें] वर्तमानको नेता बनानेपर तो तत्कालीन प्रसिद्धिके बाधित होनेसे रसकी हानि होगी। और पूर्वकालके महापुरुषोंके चरितकी उपेक्षा [अश्रद्धानं] भी होगी। [इसलिए वर्तमान कालके चरित्रको नाटकमें नायक नहीं बनाना चाहिए] और भविष्यत् कालका [कल्पित कथानक] तो 'चरित' भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि जिसका [अतीतकालमें] आचरण किया जाता था वह 'चरित' [कहलाता] है यह [बात 'चरित' पदमें आए हुए क्त-प्रत्ययसे सूचित होती है। इसलिए क्त-प्रत्ययके द्वारा] अतीतकालका निर्देश होनेसे [भविष्यत्कालके कथानकको चरित भी नहीं कहा जा सकता है]।

अभिनव-भारतीकार अभिनवगुप्तने भी प्रथमाध्यायमें [पृ० १४५ पर] इस विषय की विवेचना विस्तारके साथ की है। भरत-नाट्यशास्त्रके प्रथमाध्याय में 'तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः'। यह [श्लोक ५७] आया है। इसमें इन्द्रकी सभामें देवताओं द्वारा दैत्योंपर विजय प्राप्त करनेके कथानकके अभिनय किए जानेकी बात लिखी है। इस आधारपर किन्हीं पूर्ववर्ती टीकाकारोंने यह परिणाम निकाला है कि अपने स्वामी राजा आदिको प्रसन्न करनेके लिए कभी-कभी उनके चरित्रका भी अभिनय उनको दिखलाना चाहिए। परन्तु अभिनवगुप्त इस बातको स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिए उन्होंने प्रथमाध्यायकी इस ५७ वीं कारिकाकी व्याख्याके प्रसङ्गमें इस प्रश्नको उठाकर उसका खण्डन निम्न प्रकारसे किया है—

"प्रभुपरितोषाय प्रभुचरितं कदाचिन्नाटये वर्णनीयमिति' 'यथा दैत्याः सुरैर्जिताः' इत्येतस्माल्लभ्यत इति केचिदाहुः।

तदसत्। दशरूपक-लक्षण युक्तिविरोधात। तत्र हि किञ्चित् प्रसिद्धचरितं, किञ्चिदुत्पाद्यचरितमिति वक्ष्यते"।

राजेति क्षत्रियमात्रं, न पुनरभिषिक्त एव। राम-जीमूतवाहन-पार्थादीनामनभिषिक्तानामपि दर्शनात्। क्षत्रियो मर्त्य एव, तेन न देवनेतृकं नाटकमित्युक्तं भवति। नाटकं हि रामवद्वर्तितव्यं न रावणवत् इत्युपदेशपरम्। देवतानां तु दुरुपपादस्याप्यर्थस्येच्छामात्रत एव सिद्धिरिति तच्चरितमशक्यानुष्ठानत्वान्न मर्त्यानामुपदेशयोग्यम्। तेन ये दिव्यमपि नेतारं मन्यन्ते न ते सम्यगमंसतेति।

"न च वर्तमानचरितानुकारो युक्तो, विनेयानां तत्र राग-द्वेषमध्यस्थतादिना तन्मयोभावाभावे प्रीतेरभावेन व्युत्पत्तेरप्यभावात्। वर्तमानचरिते च धर्मादिकर्म-फलसम्बन्धस्य प्रत्यक्षत्वे प्रयोगवैयर्थ्यम्। अप्रत्यक्षत्वे 'भविष्यति प्रमाणाभावात्, इति न्यायेन व्युत्पत्तेरसम्भवान्नाधिकम्। एतच्च दशरूपकाध्याय वितनिष्याम इत्यास्तां तावत्"।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रभु-राजादिके प्रसन्न करनेके लिए कभी-कभी उसके चरित्रका भी अभिनय उनको दिखलाना चाहिए ऐसा जो लोग मानते हैं उनका कथन उचित नहीं है। क्योंकि दशरूपकोंके लक्षणोंमें कुछ नाटकादि प्रसिद्ध-चरित वाले माने गए हैं और समवकार आदि कुछ भेद उत्पाद्य-चरित अर्थात् कल्पित चरित्रके आधारपर निर्मित माने गए हैं। वर्तमान राजादिका चरित्र इन दोनोंमेंसे किसी श्रेणीमें नहीं आता है। अतः उसका अभिनय उचित नहीं है। इस सम्बन्धमें दूसरी युक्ति यह है कि वर्तमान चरित्रोंमें देखने वालों का राग-द्वेष-माध्यस्थ्य आदि होनेसे उनका न मनोरंजन होगा और न उनको कोई शिक्षा ही मिलेगी। अर्थात् नाटकके दोनों ही प्रयोजन व्यर्थ हो जावेंगे। अतः वर्तमान चरितका अभिनय नहीं करना चाहिए। इसी विषयमें अभिनवगुप्तने तीसरी युक्ति यह दी है कि वर्तमान चरितमें यदि धर्मादिका फल तुरन्त प्रत्यक्ष हो जाता है तो नाटकके प्रयोगका कोई लाभ सामाजिकको नहीं मिलता है। और यदि धर्मादि फलका प्रत्यक्ष नहीं होता है तो उससे कोई शिक्षा नहीं मिल सकती है। अतः वर्तमान चरितका अभिनय उचित नहीं है।

यहाँ प्रकृत ग्रन्थमें रामचन्द्र-गुणचन्द्रने भी वर्तमान चरित्रके अभिनयको अनुपयुक्त ठहराया है। उनकी युक्तियाँ अभिनवगुप्तकी युक्तियोंसे भिन्न है किन्तु उनकी कल्पना सुन्दर है। इन दोनोंकी युक्तियोंको मिलाकर इस विषयका एक सर्वाङ्ग सुन्दर विवेचन उपस्थित हो जाता है। इसलिए हमने अभिनवगुप्तके मतका यहाँ उल्लेख कर दिया है।

नाटकमें देवताओंके नायकत्वका खण्डन—

और 'राजा' पदसे क्षत्रियमात्रका ग्रहण करना चाहिए केवल अभिषिक्तका ही [ग्रहण] नहीं [करना चाहिए]। क्योंकि राम, जीमूतवाहन और युधिष्ठिर आदि अनभिषिक्त भी [नायक रूपमें] पाए जाते हैं। क्षत्रियसे मानव [रूप क्षत्रिय] का ही ग्रहण करना चाहिए इसका यह अभिप्राय होता है कि नाटकमें देवताओंको नायक नहीं बनाया जा सकता है। क्योंकि 'रामके समान आचरण करना चाहिए रावणके समान नहीं', इस उपदेशको देनेवाला नाटक होता है। और देवताओंकेलिए तो अत्यन्त कठिन कार्यकी सिद्धि भी उनकी इच्छा मात्रसे ही हो जाती है इसलिए उनके चरितके अनुसार आचरण सम्भव न होनेसे वह मनुष्योंके लिए उपदेशप्रद नहीं हो सकता है [इसलिए देवताको नायक बनाना व्यर्थ और अनुचित है] इसलिए जो देवताओंको भी [नाटकोंको] नायक मानते हैं उनका मत ठीक नहीं है।

नायिका तु दिव्यापि भवति यथोर्वशी। प्रधाने मर्त्यचरिते तच्चरितान्तर्भावात्। उपदेशानर्हप्रायवृत्तत्वेन दीप्तरसत्वेनैव च समवकारादौ दिव्योऽपि नेता न विरुध्यते। चरितमित्याचरितं न तु कविबुद्धिकल्पितम्। बाहुल्यापेक्षं चैतत्, तेनाल्पं किमपि रञ्जकं कल्पितमपि न दोषायेति।

धर्म-काम-अर्था व्यस्त-समस्ताः सत् प्रधानं फलं यत्र। मोक्षस्तु धर्मकार्यत्वात् गौणं फलम्। सन्तोऽचिरभावित्वाद् वर्तमाना वा धर्म-अर्थ-कामाः फलम्। तेन भाविकामार्थफलत्वादागमा न नाटकम्।

तत्र धर्मफले नाटके दया-दम-दान-न्यायप्रायं दृष्टफलं आमुष्मिकफलं च राज्याद्यबाधया नेतुश्चरितं व्युत्पाद्यते। न पुनः सर्वसङ्गपरित्यागं कृत्वा व्रतमाचरितमित्यामुष्मिकफलमेव। साक्षाद् दृष्टफलार्थी हि लोकः।

नायिका दिव्य भी हो सकती है—

नायिका तो दिव्य भी हो सकती है जैसे उर्वशी। क्योंकि प्रधान मानव [रूप नायक] के चरित्रमें उस [दिव्य नायिका] के चरित्रका अन्तर्भाव हो जाता है। उपदेश प्रदान करनेकी क्षमतासे रहित और दीप्त रस वाला होनेसे समवकार आदिमें तो दिव्य [अर्थात् देवताओंको] नेता माननेपर भी कोई विरोध नहीं होता है। 'चरित्रमें' इस पदसे [पहले] आचरण किया हुआ [यह अर्थ गृहीत होता है]। कविकी बुद्धिसे कल्पित [चरित्रका] का [ग्रहण] नहीं होता है। और यह बाहुल्यकी दृष्टिसे [कहा गया] है इसलिए थोड़ा-सा कुछ सौन्दर्याधायक [वृत्त] कल्पित होनेपरभी दोषाधायक नहीं होता है।

[आगे 'धर्मकामार्थसत्फलम्' इस कारिका भागकी व्याख्या करते हैं—] अलग-अलग [व्यस्त] या समस्त [समष्टि] रूपमें धर्म, काम और अर्थ जिसके सत् अर्थात् प्रधान फल हैं [वह 'धर्मकामार्थसत्फलम्' हुआ]। मोक्ष तो धर्मका कार्य [धर्म-जन्य] होनेसे गौण फल होता है [इसलिए यहाँ उसकी गणना नहीं कराई है]। अथवा अत्यन्त शीघ्र प्राप्त होने वाले होनेसे भावी धर्मादि को भी सत् कहा जा सकता है इसलिए सत् अर्थात् वर्तमान [वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा] धर्म काम और अर्थ जिसके फल है [यह 'धर्म-कामार्थसत्फलम्' की दूसरी व्याख्या हुई। इस व्याख्याके अनुसार [सुदूरवर्ती जन्मान्तरमें प्राप्त होने वाले] भावी फल [का प्रतिपादन करने] वाले 'आगम', नाटक [श्रेणीमें] नहीं [माने जाते] हैं।

उन [धर्म, काम और अर्थ फल वाले नाटकों जैसे] में से धर्म-फल वाले नाटकोंमें दया, दम, दान और न्याय आदि दृष्ट फल तथा राज्य आदिकी अबाधासे पारलौकिक फल वाले नेताके चरित्रका प्रदर्शन कराया जाता है। समस्त सम्बन्धोंको परित्याग करके [नायकने] व्रतका अनुष्ठान किया इस रूपमें आमुष्मिक फल वाले [नायकके चरित्र] का [प्रदर्शन] नहीं [कराया जाता है। इसका कारण यह है कि] संसार साक्षात् दृष्ट फलको [देखना] चाहता है।

'धर्म-कामार्थसत्फलम्' इस कारिकाभागमें धर्म फल वाले नाटककी चर्चा की गई है। धर्मके भीतर विधिरूप और निषेधरूप दोनों प्रकारके धर्मोंका समावेश हो सकता है। दया दान आदिका करना विधिरूप धर्म है और सब व्यापारोंसे उपरति रूप व्रतादि, निषेध रूप धर्म है। यहाँ नाटकमें दया दानादि रूप विधि धर्मोंका ही धर्म पदसे ग्रहण करना चाहिए। सर्वव्यापारोपरति रूप धर्मका ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि उस प्रकारके कर्मों

कामफले च दिव्यकुलजस्त्रीसम्भोग-सङ्गीतक-कामचारोपवनविहारप्रायम् । अर्थफले च शत्रूच्छेद-सन्धि-विग्रहादिराज्यचिन्ताप्रायमिति ।

'साङ्क, इति अङ्क-उपाय-दशा-सन्धिभिर्वक्ष्यमाणैः सह वर्तते । 'दिव्याङ्गम्, इति दिव्यं देवता अन्योऽपि चोत्तमः प्रधानस्य नेतुरङ्गं सहायः पताका-प्रकरी-नायक-लक्षणो यत्र । दिव्यो हि नेतैव विरुध्यते न पुनः सहायः । अत्यन्तभक्तानामेव नाम देवताः प्रसीदन्तीति देवताराधनपुरःसरं उपायानुष्ठानमाधेयमिति व्युत्पादनार्थं दिव्योऽप्यङ्गत्वेन कार्यः ।

का फल लोकमें साक्षात् नहीं देखा जाता है । इसलिए जिन व्रतादिके प्रदर्शनसे सामाजिकको साक्षात् फलका दर्शन न हो सके उस प्रकारके धर्मका ग्रहण यहाँ धर्म पदमें अभिप्रेत नहीं है ।

राज्यादिकी बाधाका अभाव तो उसके पूर्वकृत धर्मका दृष्ट फल हो सकता है किन्तु व्रतानुष्ठानका फल उस समय देखनेको नहीं मिल सकता है । अतः दया, दान आदि दृष्टफल तथा राज्यकी बाधाका अभाव आदि आमुष्मिक धर्म फल माने जा सकते हैं । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय प्रतीत होता है ।

और कामफल वाले [नाटक] में दिव्य [अर्थात् अप्सरा] अथवा [उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई] कुलीन स्त्रीका सम्भोग, सङ्गीत, कामचार [अर्थात् यथेच्छ उपभोग आदि आचरण] और उपवन-विहार आदि [प्रधान फल प्रदर्शित किया] है । अर्थफल वाले [नाटक] में शत्रुका नाश, सन्धि-विग्रह आदि राज्य चिन्ताका [प्रधान फलके रूपमें प्रदर्शन किया जाता] है ।

यहाँ तक ग्रन्थकारने 'धर्मकामार्थसत्फलम्' इस कारिका-भागकी व्याख्या की है । अब आगे 'साङ्कोपायदशासन्धि' इस पदकी व्याख्या करते हैं । इसमें अङ्क, उपाय, दशा और सन्धि पद आए हैं, ये सब नाट्यशास्त्रके पारिभाषिक शब्द हैं । ग्रन्थकार इन सबके लक्षण आगे करेंगे । उन अङ्क आदि सबसे युक्त, पूर्वकालिक राजाओंके चरित्रका प्रस्तुत करने वाला नाटक होता है यह इस पदका अभिप्राय है । इसी अभिप्रायको अगली पंक्तियोंमें देते हैं—

आगे कहे जाने वाले अङ्क, उपाय, दशा तथा सन्धिसे युक्त [आद्यराजचरित नाटक कहलाता है] । 'दिव्याङ्गम्' [इस पदके दो प्रकारके अर्थ हो सकते हैं । उनमेंसे पहिला अर्थ यह है कि] दिव्य अर्थात् देवता [अथवा] और भी [कोई] उत्तम-प्रकृति [महानुभाव] प्रधान अर्थात् नायकका अङ्ग अर्थात् सहायक अर्थात् पताका-नायक अथवा प्रकरी-नायक-रूप जिसमें हो [वह नाटक 'दिव्याङ्ग' हुआ । इसपर यह शङ्का हो सकती है कि अभी तो नाटकमें दिव्य नायकके रखे जानेका खण्डन कर चुके हैं फिर उसके तुरन्त बाद ही देवताओंको नायकका सहायक अथवा पताका-नायक या प्रकरी-नायक बनानेकी बात कह रहे हैं ये दोनों विरुद्ध बातें हैं । इसका शङ्का समाधान करते हैं कि] देवताको नायक बनाना ही अनुचित है सहायक बनाना [अनुचित] नहीं [है] । अत्यन्त भक्तोंके ऊपर ही देवता प्रसन्न [होकर उनके सहायक बननेके लिए उद्यत] होते हैं इसलिए देवताओंका पूजन करके ही उपायोंका अनुष्ठान करना चाहिए इस बातकी शिक्षा देनेकेलिए देवताओंको भी सहायक [रूपमें प्रस्तुत] करना चाहिए [यह इस पंक्तिका अभिप्राय है] ।

तत्र देवता यथा नागानन्दे गौरी। उत्तमप्रकृतिर्यथा रामादिप्रबन्धेषु सुग्रीवादिरिति। यद्वा दिव्यानि अनवद्यानि अङ्गानि वक्ष्यमाणानि उपक्षेपादीनि यत्र।

तत्रेति निर्धारणार्थः। अभिनेयसमुदायात् प्रधानपुरुषार्थप्रवृत्तविनेयराजादिव्युत्पादनगुणेन नाटकं निर्धार्यते। नाटकमिति नाटयति विचित्रं रञ्जनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयति इति नाटकम्। अभिनवगुप्तस्तु नमनार्थस्यापि नटे-र्नाटकशब्दं व्युत्पादयति। तत्र तु घटादित्वेन ह्रस्वाभावश्चिन्त्यः।

उनमेंसे देवता [के सहायक होनेका उदाहरण] जैसे नागानन्दमें गौरी [मलयवतीकी प्राप्तिमें जीमूतवाहन की सहायक बनती है। दूसरे प्रकारके] उत्तम-प्रकृति [के सहायक होनेका उदाहरण] जैसे रामादिके नाटकोंमें सुग्रीव आदि। अथवा दिव्य अर्थात् सुन्दर जिसके अङ्ग अर्थात् आगे कहे जाने वाले उपक्षेप आदि [रूप अङ्ग] हैं वह [दिव्याङ्ग हुआ। यह 'दिव्याङ्ग' पदका दूसरा अर्थ है]।

[कारिकामें आया हुआ] 'तत्र' शब्द निर्धारणार्थक [छांटनेके अर्थमें प्रयुक्त] है। [बारह प्रकारके] अभिनेय [काव्यों] के समुदायमेंसे [नाटकका अलग निर्धारण यहाँ 'तत्र' शब्दके द्वारा किया गया है। क्योंकि] मुख्य [धर्म, अर्थ, काम रूप] पुरुषार्थों [की सिद्धि] में प्रवृत्त, उपदेश करने योग्य राजा आदिको [विशेष रूपसे] शिक्षा प्रदान करने वाला होनेसे नाटकको [अभिनेय-काव्यके अन्य भेदोंसे 'तत्र' शब्दके द्वारा यहाँ] अलग किया जा रहा है ['निर्धार्यते'। इसलिए 'तत्र' शब्द यहाँ निर्धारणार्थक है। आगे] नाटक [शब्दकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं] नाना प्रकारसे सौन्दर्यके प्रवेश द्वारा ही सहृदयोंके हृदयोंको [नाटयति नर्तयति] आनन्दातिरेक से नचाता-सा है इसलिए [नर्तनार्थक नट धातुसे] 'नाटक' [शब्द बनता] है। अभिनवगुप्तने तो ['णट नृतौ' के स्थानपर 'णट नतौ' पाठ मानकर 'नति' अर्थात्] नमन अर्थ वाले नट धातुसे भी नाटक शब्दकी सिद्धि की है। किन्तु उस स्थलपर [नमन अर्थमें तो नट धातुके] घटादि गणपठित होनेसे [मित और घटादि गणपठित धातुओंकी 'घटादयो मितः' के अनुसार मित् माननेसे 'मितां ह्रस्वः' अष्टा० ६-४-९२ सूत्रसे णिच् परे रहते उपधाको ह्रस्व करनेका विधान होनेसे 'नाटक' शब्दमें] ह्रस्वका अभाव चिन्तनीय है। [अर्थात् शुद्ध नहीं प्रतीत होता है]। अर्थात् यदि घटादि गणस्थ नट धातुसे इस शब्दकी सिद्धि की जायगी तो उपधाको ह्रस्व होकर 'घटक' शब्दके समान 'नटक' शब्द बनना चाहिए। नाटक शब्द नहीं बनेगा]।

'णट नृत्तौ' धातु भ्वादिगणमें [धातु-संख्या ३१० तथा ७८१] दो स्थानोंपर पढ़ा गया है। सिद्धान्तकौमुदीकारने इनमेंसे प्रथम-पठित धातुको नाट्यार्थक और दुबारा पठित धातुको नृत्यार्थक माना है।

"इदमेव पूर्वमपि पठितम्। तत्रायं विवेकः पूर्वपठितस्य नाट्यमर्थः। यत्कारिषु नटव्यपदेशः। वाक्यार्थाभिनयो नाट्यम्। घटादौ तु नृत्तं नृत्यं चार्थः। यत्कारिषु नर्तकव्यपदेशः। पदार्थाभिनयो नृत्यम्। गात्रविक्षेपमात्रं नृत्तम्। केचित्तु घटादौ णट नतौ इति पठन्ति।

भ्वादिगणकी ७८१ संख्या वाले धातुकी व्याख्यामें यह सिद्धान्तकौमुदीकारका लेख है। इसी णट नतौ पाठका उल्लेख नमनार्थक नट धातुके रूपमें यहाँ किया गया है।

अभिनवगुप्तने नाटक शब्दकी व्युत्पत्ति करते समय यद्यपि 'णट नतौ' धातुका स्पष्ट रूपसे उल्लेख नहीं किया है किन्तु 'नमनं प्रह्वीभावः' नमनका अर्थ 'प्रह्वीभाव' नम्रता

यद्यपि कथादयोऽपि श्रोतृहृदयं नाटयन्ति तथापि अङ्कोपायादीनां वैचित्र्य-हेतूनामभावात् न तथा रञ्जकत्वमिति न ते नाकटम्। तथा नाटकं प्रधानपुरुषार्थेषु राज्ञां तदङ्गभूतेष्वमात्यादीनां च बहूनां व्युत्पादकमिति कतिपयव्युत्पादकानि प्रक-रणादीन्यपि न नाटकमिति ॥ ५॥

प्रदर्शन होता है। इस 'प्रह्वीभाव' और 'नति' शब्दोंका उल्लेख नाटक शब्दकी व्युत्पत्तिके प्रसङ्गमें अवश्य किया है। अठारहवें अध्यायमें नाटकके विवेचनके प्रसङ्गमें—

(१) नृपतीनामेव नाटकन्नाम तच्चेष्टितं प्रह्वीभावदायकं भवति [पृ० ४१३, पंक्ति ८]।

(२) यद्यपि सर्वसूत्रकाराणामर्थो हृदये प्रविष्टो विनेयांश्च विनीतान् करोति [पृ० ४१४, पंक्ति २]।

(३) प्रधान पुरुषार्थे प्रधानविनेयानां, अन्यत्रान्येषां वेदयतोऽवनतिं व्युत्पत्तिं ददाति। तत एव नाटकमुच्यते। [पृ० ४१४, पंक्ति ७]।

इत्यादि रूपमें अनेक स्थानोंपर नमन प्रह्वीभाव, नति आदि भावोंका नाटक शब्दके साथ सम्बन्ध दिखलाया है। जिससे प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त नमनार्थक नट धातुसे भी नाटक शब्दकी व्युत्पत्ति मानते हैं।

परन्तु प्रकृत ग्रन्थकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र इस व्युत्पत्तिसे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि घटादि गण पठित णट धातुको ही कुछ लोगों ने 'नृतौ' के बजाय 'नतौ' अर्थ में माना है। घटादि गण पठित धातुओंको मित्-संज्ञा होकर उनमें मितां ह्रस्वः सूत्रसे ह्रस्व हो जाता है। उस दशामें नाटक पदमें भी ह्रस्व होकर 'घटक' के समान 'नटक' पद बनना चाहिए। 'नाटक' शब्द उस धातुसे नहीं बन सकता है। अत एव रामचन्द्र-गुणचन्द्रने इस व्युत्पत्तिका खण्डन किया है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्रने यहाँ अभिनवगुप्तकी व्याख्यापर जो आपत्ति की है वह घटादि गणस्थ नट-धातुको नत्यर्थक माननेपर ही बन सकती है। यदि उससे भिन्न पहिले स्थलपर ३१० धातु-संख्या वाले नट-धातुको नमनार्थक मान लिया जाय तो इस प्रकारकी आपत्ति नहीं उठ सकती है। सम्भव है अभिनवगुप्त उसी स्थलपर 'नट नतौ' पाठ मानते हों दूसरी जगह नहीं। उस दशामें उनकी व्युत्पत्तिमें कोई दोष नहीं होगा।

अभिनवगुप्तने केवल नमनार्थक धातुसे ही नहीं अपितु [पृ० ४१३, अध्याय १८] नर्त-नार्थक धातुसे भी नाटक शब्दकी सिद्धि की है। नाटकं नाम तच्चेष्टितं प्रह्वीभावदायकं भवति तथा हृदयानुप्रवेशरञ्जनोल्लासनया हृदयं 'शरीरं च···नर्तयति···नाटकम्' ये दोनों प्रकारकी व्युत्पत्तियाँ अभिनव गुप्तने की हैं।

यद्यपि कथा आदि भी श्रोताओंके हृदयको [आनन्दातिरेकसे] नचाते हैं किन्तु वे उपाय आदि वैचित्र्यके हेतुओंके न होनेसे इतने आनन्द-दायक नहीं होते हैं इसलिए उनको नाटक नहीं कहते हैं। और नाटक प्रधान पुरुषार्थके विषयमें राजा [अर्थात् मुख्य नायक] और उसके अंग रूपमें अमात्य आदि बहुतोंको व्युत्पन्न कराने वाला होता है इसलिए [उससे भिन्न] केवल कुछ [गिने-चुने व्यक्तियों] को व्युत्पत्ति प्रदान कराने वाले प्रकरण आदि [अभिनेय-काव्योंके अन्य ग्यारहों भेद] नाटक नहीं [कहलाते] हैं।

अथ राजशब्दं व्याख्यातुं सामान्येन नेतुः स्वरूपमाह—

[सूत्र ५]—उद्धतोदात्त-ललित-शान्ता धीरविशेषणाः ।
वर्ण्याः स्वभावाश्चत्वारो नेतृणां मध्यमोत्तमाः ॥६॥

'धीरो' धैर्यं महाव्यसनेऽप्यकातर्यं विशेषणं येषां उद्धतादीनां, धीरोद्धत-धीरोदात्त-धीरललित-धीरप्रशान्ता इत्यर्थः । एवं नाम कविर्वर्णयति । जन्मोत्थितास्तु स्वभावा नेतृणां यथा-तथा वा सन्तु । 'नेतृणाम्' इति बहुवचनात् प्रायेणैकैकस्मिन् धर्मिण्येकैकः स्वभावः, क्वचिदेव तु चत्वारः । 'मध्यमोत्तमा' इति—यद्यपि स्वस्थाने सर्वमपि उत्तममध्यमाधमभेदेन त्रिधा, तथापि धीरोद्धतादयः स्वभावा उत्तम-मध्यमभेदेनैव वर्णनीया इति ॥ ६ ॥

इस ग्रन्थके निर्माता रामचन्द्र-गुणचन्द्रने इस नाटकके लक्षण-सूत्रकी रचनामें अपने कौशलका बड़ा अच्छा परिचय दिया है । अन्य ग्रंथोंमें जहाँ नाटकका लक्षण किया गया है वहाँ कई श्लोक इसके लक्षण रूपमें लिखे गए हैं । स्वयं भरतमुनिने अनेक श्लोकोंमें नाटकका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्त-नायकं चैव ।
राजर्षिवंश्यचरितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम् ॥१०॥
नानाविभूतिभियुतं ऋद्धिविलासादिभिगुणैश्चैव ।
अंकप्रवेशकाढ्यं भवति हि तन्नाटकं नाम ॥११॥
नृपतीनां यच्चरितं नाना रस-भाव-चेष्टितं बहुधा ।
सुखदुःखोत्पत्तिकृतं भवति हि तन्नाटकं नाम ॥१२॥ अ० १८॥

किन्तु यहाँ ग्रन्थकारने केवल एक ही श्लोकमें नाटकके लक्षणको सर्वांग-पूर्ण बना दिया है । यह उनके रचना-कौशलका द्योतक है ।

नायकके चार भेद—

अब राज शब्द [अर्थात् नायक] की व्याख्या करनेकेलिए सामान्य रूपसे नायकके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

[सूत्र ५]—नायकोंके धीर विशेषणसे युक्त उद्धत, उदात्त, ललित और प्रशांत [अर्थात् धीरोद्धत, धीरोदात्त, धीरललित और धीरप्रशांत] चार प्रकारके स्वभाव [केवल] मध्यम तथा उत्तम [दो रूपोंमें] ही वर्णन करने चाहिए [अधम नहीं] ॥ ६ ॥

धीर अर्थात् धैर्य अर्थात् भारी विपत्तिमें भी न घबड़ाना, जिनका विशेषण है वे, अर्थात् धीरोद्धत, धीरोदात्त, धीरललित तथा धीरप्रशांत [इन चार प्रकारके नायक-स्वभावोंका वर्णन करना चाहिए] । इस प्रकारका [स्वभावोंका] वर्णन [केवल] कवि [अपने नाटकमें] करता है । [उन्हीं] नायकोंके जन्मसे उत्पन्न स्वभाव चाहे जैसे हों । 'नेतृणाम्' इस बहुवचन के निर्देशसे [यह प्रतीत होता है कि] प्रायः एक-एक व्यक्तिमें एक-एक प्रकारका ही स्वभाव [काव्य-नाटक] में होता है । चारों स्वभाव तो कहीं [विरले] ही पाए जाते हैं । 'मध्यमोत्तमाः' इससे [पदसे यह सूचित होता है कि] यद्यपि अपने-अपने स्थानपर सब ही [वस्तुएँ] उत्तम, मध्यम और अधम भेदसे तीन प्रकारकी होती हैं । [इसलिए धीरोद्धत आदिके भी ये तीन-

अथ बहुवचनात्प्रमेव विषयभेदं स्पष्टयति—

[सूत्र ६]—देवा धीरोद्धता, धीरोदात्ताः सैन्येश-मन्त्रिणः ।
धीरशान्ता वणिग्-विप्राः, राजानस्तु चतुर्विधाः ॥७॥

स्वभाव-स्वभाविनोरभेदात् सामानाधिकरण्यनिर्देशः । राज्ञां चातुर्विध्य-भणनात् देवा धीरोद्धता एव, सैन्येश-मन्त्रिणो धीरोदात्ता एव, वणिग्-विप्रा धीरशान्ता एव, वर्णनीया इति स्वयोगव्यवस्थायकत्वेनैवावधार्यते नान्ययोगव्य-वच्छेदेन ।

तीन भेद हो सकते हैं] फिर भी धीरोद्धत आदि [नायकोंके स्वभाव] उत्तम तथा मध्यम [केवल दो] भेदोंमें ही वर्णन करने चाहिए [अर्थात् उनके अधम रूपको नाटकोंमें प्रस्तुत नहीं करना चाहिए] ॥ ६ ॥

स्वभाव-व्यवस्था—

पिछली कारिकामें नायकोंके चार प्रकारके स्वभावोंका वर्णन किया था । उसकी व्याख्यामें यह भी कहा था कि सामान्य रूपसे एक व्यक्तिमें एक ही प्रकारका स्वभाव पाया जाता है किन्तु कहीं-कहीं चारों प्रकारके स्वभाव भी एक व्यक्तिमें पाए जा सकते हैं । अब इन चारों प्रकारके स्वभावोंकी व्यवस्था अर्थात् किन लोगोंमें किस प्रकारका स्वभाव पाया जाता है अथवा किसका किस प्रकारका स्वभाव नाटकादिमें चित्रित करना चाहिए इस बात को इस कारिकामें कहते हैं—

[सूत्र ६]—देवता धीरोद्धत [स्वभाव] सेनापति तथा मन्त्री धीरोदात्त [स्वभाव] वणिक् तथा ब्राह्मण धीरप्रशान्त [स्वभाव तथा] क्षत्रिय चारों प्रकारके [स्वभाववाले] हो सकते हैं ॥ ७ ॥

इस कारिकामें धीरललितका कोई उल्लेख नहीं किया है । व्यक्तिभेदसे क्षत्रिय चारों स्वभावके हो सकते हैं । इस कथनसे क्षत्रियोंमें धीरललितका समावेश हो जाता है । श्रीकृष्ण आदि धीरललित-नायकके उदाहरण हैं । यहाँ जो देवताओंको धीरोद्धत, सेनापति और मन्त्रियोंको धीरोदात्त, तथा विप्र तथा वणिक्को धीरप्रशान्त बतलाया है, उसका अभिप्राय स्वयोगव्यवस्थापन-मात्र है, अन्ययोग-व्यवच्छेद नहीं । अर्थात् देवता आदिका उसी-उसी प्रकारका स्वभाव चित्रित करना चाहिए यही इस व्यवस्थाका अभिप्राय है । अन्योंमें इस प्रकारका स्वभाव नहीं हो सकता है, यह इसका तात्पर्य नहीं है । इस बातको विवरणकार आगे लिखते हैं—

स्वभाव तथा स्वभाववान् दोनोंका अभेद मानकर [देवा धीरोद्धताः आदिमें स्वभाव परक 'धीरोद्धताः' तथा स्वभाववान् 'देवाः' दोनों पदोंका समान विभक्ति तथा समान वचनमें प्रयोग रूप] सामानाधिरण्य-निर्देश किया गया है । राजा [अर्थात् क्षत्रियों] के चातुर्विध्यके कहे जानेसे देवता धीरोद्धत ही [हो सकते हैं], सेनापति तथा मन्त्री धीरोदात्त ही, और वणिक् तथा विप्र धीरप्रशान्त ही वर्णित होने चाहिए यह बात स्वयोगव्यवस्थापकत्वेन ही निर्धारित होती है अन्ययोग व्यवच्छेदकत्वेन नहीं ।

अमुक बात ऐसी ही होनी चाहिए इस भावमें सयुक्त होने वाला 'एव' शब्द निर्धारण-

यः पुनः परशुरामस्यातिक्रूरत्वख्यापनार्थो धीरोद्धतत्वनिबन्धः स 'भाषा-प्रकृतिवेषादेः कार्यतः क्वापि लंघनम्' इत्यपवादादविरुद्धः । अयं च नियमो देवानां मर्त्यापेक्षया न स्वापेक्षया । शिवादीनामुदात्तानां, ब्रह्मादीनां शान्तानामपि च दर्शनात् । 'राजानः' इति क्षत्रियजातिः । बहुवचनात् व्यक्तिभेदेन चतुःस्वभावो नाटकस्य नेता, न पुनरेकस्यां व्यक्तौ । एकत्र प्राधान्येन स्वभावचतुष्कस्य वर्णयितुमशक्यत्वादिति । प्रधाननायकस्य चायं नियमो गौणनेतॄणां तु स्वभावान्तरमपि पूर्वस्वभावत्यागेन निबध्यते । ये तु नाटकस्य नेतारं धीरोदात्तमेव प्रतिजानते न ते मुनिसमयाध्यवगाहिनः । नाटकेषु धीरललितादीनामपि नायकानां दर्शनात् कविसमयबाह्याश्च ॥७॥

णार्थक माना जाता है । इसके प्रायः तीन प्रकारके प्रयोग माने जाते हैं । 'विशेष्य-सम्बद्धः एवकारः अन्ययोगव्यवच्छेदकः' अर्थात् विशेष्य पदसे जब 'एव' का पद सम्बन्ध होता है तो वह अन्ययोगका व्यवच्छेदक होता है । जैसे 'पार्थ एव धनुर्धरः' इसमें 'पार्थ' अर्जुनको छोड़कर अन्य धनुर्धर नहीं हैं यह अन्ययोगका व्यवच्छेद होता है । इसी प्रकार 'विशेषण संगतः एवकार अयोगव्यवच्छेदकः' । विशेषण-संगत एवकार अयोग-व्यवच्छेदक होता है जैसे 'पार्थो धनुर्धर एव' अर्थात् अर्जुन धनुर्धर ही है यहाँ 'एव' शब्द अर्जुनमें धनुर्धरत्वके अयोग अर्थात् सम्बन्धाभावका निषेधक अर्थात् अवश्य सम्बन्धका द्योतक है । इसी अयोगव्यवच्छेदक एवकारको यहाँ ग्रन्थकारने 'स्वयोगव्यवस्थापक' माना है । धीरोद्धत आदि विशेषणोंके साथ सम्बद्ध एवकार अन्य-योगका व्यवच्छेदक नहीं अपितु अयोगव्यवच्छेदक अथवा स्वयोगव्यवस्थापकमात्र है यह ग्रन्थ-कारका अभिप्राय है । तीसरा एवकार क्रियाके साथ सम्बद्ध होता है । 'क्रिया-सम्बद्ध एवकारो अत्यन्तायोगव्यवच्छेदकः' क्रियाके साथ सम्बद्ध होने वाला 'एवकार' अत्यन्तायोगका व्यवच्छेदक होता है । जैसे 'नीलं कमलं भवत्येव' इसमें 'भवति' क्रियाके साथ सम्बद्ध 'एवकार' कमलमें नीलत्वके अत्यन्त अयोगका निषेध करके नील कमल भी हो सकता है इस अर्थको बोधित करता है ।

और जो [विप्र] परशुरामके अतिक्रूरत्वके सूचित करनेकेलिए धीरोद्धतत्वका वर्णन किया गया है वह 'कहीं कार्यवश [विशेष प्रयोजनसे] भाषा-प्रकृति और वेष आदि [विषयक नियमों] का उल्लंघन भी किया जा सकता है' इस अपवादके विद्यमान होनेसे अनुचित नहीं है [अर्थात् यहाँ अपवाद रूपमें ही परशुरामके ब्राह्मण होते हुए भी धीरोद्धत-स्वभावका वर्णन किया गया है यह समझना चाहिए]। देवताओंका यह [धीरोद्धत स्वभावका] नियम मनुष्यों-की दृष्टिसे है, अपनी दृष्टिसे नहीं । क्योंकि [देवताओंमें भी] शिव आदि धीरोदात्त तथा ब्रह्मा आदि धीरशान्त [नायक] भी दिखलाई देते हैं । 'राजानः' पदसे [राजाका ही ग्रहण न करके] क्षत्रियजाति मात्र [का ग्रहण करना चाहिए] । और [राजानः पदमें] बहुवचन [के प्रयोग] से व्यक्ति-भेदसे नाटकके नेता चारों प्रकारके स्वभाव वाले हो सकते हैं, एक व्यक्तिमें [चारों प्रकारके स्वभाव] नहीं [हो सकते हैं यह बात सूचित की है] । क्योंकि एक व्यक्तिमें ही चारों प्रकारके स्वभावोंका वर्णन कर सकना असम्भव है । और यह नियम [अर्थात् चारों प्रकारके स्वभावका एक व्यक्तिमें वर्णन नहीं किया जा सकता है केवल] प्रधान नायकके विषयमें ही है । गौण नायकोंमें तो पूर्व-स्वभावको छोड़कर अन्य स्वभावका वर्णन भी किया जा सकता

अथ धीरोद्धतादीनां यथोद्देशमर्थमाह—

[सूत्र० ७]—धीरोद्धतश्चलश्चण्डो दर्पी दम्भी विकत्थनः ।
धीरोदात्तोऽतिगम्भीरो न्यायी सत्त्वी क्षमी स्थिरः ॥८॥
शृङ्गारी धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ।
धीरशान्तोऽनहङ्कारः कृपालुर्विनयी नयी ॥९॥

अकातरत्वं धीरशब्दस्यार्थः सर्वत्र समान एव । चलत्वादयः पुनरुद्धतादीनां शब्दानामर्थाः । चलोऽनवस्थितः । चण्डो रौद्रः । दर्पः शौर्यादिमदः । दम्भः कूट प्रयोगः । विकत्थनः स्वप्रशंसी । अतिगम्भीरो दुरवबोधमध्यः । सत्त्वी शोक-क्रोधाद्यनभिभवनीयः । स्थिरो विमृश्यकारी ।

कलासक्तो गीतादितत्परः । सुखी मन्त्रिन्यस्तराजचिन्ताभारत्वान्निराधिः । मृदुरक्रूराचारः । अनहङ्कारः सर्वथाप्यनवलेपः । धीरोदात्तस्तु विनयच्छन्नावलेपः, इति भेदः । विनयी गुरुजनाद्यनुल्लंघीति । उपलक्षणमात्रं चैतत्, तेनोद्धतादीनां यथौचित्यमपरेऽपि धर्मा द्रष्टव्या इति ॥८-९॥

है । जो नाटकके नायकको केवल धीरादात्त ही मानते हैं वे भरतमुनिके सिद्धान्तको नहीं समझते हैं । और नाटकोंमें धीरललित आदि नायकोंके भी पाए जानेसे कवियोंके व्यवहारसे अपरिचित प्रतीत होते हैं । [अर्थात् भरतमुनिके सिद्धान्त तथा कवियोंके व्यवहार दोनोंके अनुसार नाटकोंमें चारों प्रकारके नायकोंका चित्रण किया जा सकता है । केवल धीरोदात्त ही नायक हो ऐसा कोई बन्धन नहीं है] ॥७॥

अब [उद्देश] क्रमके अनुसार धीरोद्धत आदिका अर्थ बतलाते हैं—

[सूत्र ७]धीरोद्धत [नायक] अस्थिर-चित्त, भयङ्कर, अभिमानी, छली, आत्म- श्लाघी, [होता है] । धीरोदात्त [नायक] अत्यन्त गम्भीर, न्यायप्रिय, शोक-क्रोध आदिके वशीभूत न होने वाला [सत्त्वी], क्षमाशील और स्थिर [सोच-विचार कर कार्य करने वाला होता है] ॥८॥

[सूत्र ७] धीरललित [नायक] शृङ्गारप्रिय, [गीत-वाद्यादि] कलाओंका प्रेमी [राज्यभारको मन्त्रीको सौंपकर निश्चित हो जाने वाला] सुखी और कोमल स्वभावका [होता है] । और धीरप्रशान्त [नायक] सर्वथा अहङ्कार-रहित, दयालु, विनयशील और नीतिका अवलम्बन करने वाला होता है ॥९॥

[कारिकामें आए हुए] 'धीर' शब्दका अर्थ अकातरत्व [न घबड़ाना] है । वह [धीरोदात्त आदि चारों प्रकारके नायकोंमें] सबमें समान ही है। और चलत्व आदि उद्धत आदि शब्दोंके अर्थ हैं । 'चल' अर्थात् अस्थिरचित्त । 'चण्ड' अर्थात् भयङ्कर । शौर्यादिके घमण्डका नाम 'दर्प' है । 'दम्भ'का अर्थ कूटप्रयोग [छल] है । आत्मश्लाधा करने वाला 'विकत्थनः' [होता] है । 'अतिगम्भीर' अर्थात् जिसके मनकी बात सहज न समझी जा सके। 'सत्त्वी' अर्थात् शोक-क्रोध आदिके वशमें न होने वाला 'स्थिर' अर्थात् सोच-विचार कर कार्य करने वाला ।

कलासक्त अर्थात् गीत [वाद्य] आदि [कलाओं] का प्रेमी । 'सुखी' अर्थात् राज्यकी चिन्ताका भार मन्त्रीको सौंपकर निश्चिंत हो जाने वाला । 'मृदुः' अर्थात् क्रूर आचरण न

अथ चरितशब्दं व्याचष्टे—

[सूत्र ८]—मुख्यमिष्टफलं वृत्तं, अङ्गं प्रासङ्गिकं क्वचित् ।
सूच्यं प्रयोज्यमभ्यूह्यं, उपेक्ष्यं तच्चतुर्विधम् ॥१०॥

मुख्यं सर्वप्रबन्धव्यापित्वात् प्रधानम । इष्टं सर्वोत्कर्षेण कवेरभिप्रेतं फलं यस्य । वृत्तं चरितम् । अङ्गं मुख्यवृत्तस्यानुयायित्वादवयवः । प्रसङ्गात् परकीय-यत्नादागतं प्रासङ्गिकम् ।

इह तावत् न निसर्गतः किञ्चिच्चरितं मुख्यमङ्गं वा, किन्तु बहुष्वपि फलेषु कविर्यस्य अत्यन्तमुत्कर्षमभिप्रैति तत्फलमिष्टम् । अनेन च यत् फलवद् वृत्तं तदिह मुख्यम् । तदितरत् अङ्गत्वात् प्रासङ्गिकम् । रामप्रबन्धेषु हि सुग्रीवमैत्री-शरणागत-

---

करने वाला । 'अनहङ्कार' अर्थात् सर्वथा अभिमान-शून्य । धीरोदात्त [नायक] तो [अभिमान-युक्त होनेपर भी] विनयके द्वारा अपने अभिमानको छिपा लेने वाला होता है यह [धीर प्रशान्तसे उसका] भेद है । 'विनयी' अर्थात् गुरुजन आदि [की आज्ञा या मर्यादा] का उल्लं-घन न करने वाला । ये धर्म केवल उपलक्षण मात्र है । इसलिए औचित्यके अनुसार धीरोद्धत आदि [नायकों] में अन्य धर्म भी समझ लेने चाहिए ॥८-९॥

चरितके दो भेद—

नाटकमें वर्णित आख्यान-वस्तु जिसको यहाँ ग्रन्थकारने 'वृत्त' तथा 'चरित' शब्दोंसे निर्दिष्ट किया है दो प्रकारका होता है । एक मुख्य और दूसरा उसका अङ्गभूत । नाटकमें वर्णित प्रधान फलकी प्राप्ति जिसको होती है वह पात्र नाटकका नायक या प्रधान पात्र होता है । उसका चरित मुख्य-चरित कहलाता है । और शेष सब चरित उसकी कार्यसिद्धिके उप-कारक होते हैं इसलिए वे सब उसके अङ्गभूत चरित माने जाते हैं । इसी बातका प्रतिपादन ग्रन्थकार इस कारिकाके विवरणमें निम्न प्रकार करते हैं—

[सूत्र ८]—[कविके द्वारा अभिप्रेत] प्रधान फल जिसको प्राप्त होता है उसका चरित [इष्टफलं वृत्तं] मुख्य [चरित कहलाता है] । और [अनिवार्य रूपसे सर्वत्र नहीं अपितु 'क्वचित्' अर्थात्] कहीं-कहीं [वर्णित] प्रासाङ्गिक [वृत्त] अङ्ग [अप्रधान चरित कहलाता] है । [इन दोनों प्रकारके चरितोंके भी उनकी अभिव्यक्तिकी प्रक्रियाकी दृष्टिसे चार भेद होते हैं । उनके नाम इस कारिकामें निम्न प्रकार दिखलाए हैं] वह भी १ सूच्य, २ प्रयोज्य, ३ अभ्यूह्य [कल्पनीय] और ४ उपेक्षणीय [भेदसे] चार प्रकारका होता है ॥१०॥

सारे प्रबन्ध [अर्थात् सारे नाटकमें आदिसे लेकर अन्त तक निरन्तर] व्यापक रहनेसे प्रधान [चरित ही] मुख्य [चरित कहलाता] है । [उसका लक्षण यहाँ 'इष्टफलम्' किया गया है । इसलिए इस शब्दका अर्थ आगे देते हैं] । 'इष्ट' अर्थात् कवि जिसके फलको सबसे उत्कृष्ट रूपमें चाहता है [वह 'इष्ट' फलं इष्ट फल वाला वृत्त] है [वृत्त अर्थात् चरित] । अङ्ग-अर्थात् मुख्य चरितका अनुगामी होनेसे उसका अवयव [अङ्ग-चरित कहलाता है] । प्रसङ्ग अर्थात् अन्य [विषयक] यत्नसे प्राप्त होने वाला वृत्त प्रासङ्गिक [चरित कहलाता] है ।

इनमेंसे कोई भी चरित स्वभावतः मुख्य या अंग-रूप नहीं होता है । किन्तु अनेक फलोंमेंसे कवि जिसको अत्यन्त उत्कर्ष [दिखलाना] चाहता है वह फल 'इष्ट' [फल होता] है ।

विभीषणरक्षण-रावणबध-सीताप्रत्यानयनादिषु सीताप्रत्यानयनस्यैव प्राधान्यं कविना प्रतिपादितम्। तत्सम्पादनाय तदितरेषु प्रवृत्तेः। अत एव तान्यङ्गानि।

कविरपि न स्वेच्छया फलस्योत्कर्षं निबद्धुमर्हति, किन्त्वौचित्येन। यस्य धीरोद्धतादे-र्यदेव फलमुचितं तस्यैवोत्कर्षो निबन्धनीयः। प्रासङ्गिकस्यापि च मुख्य-वृत्तप्रयत्नेनैव निष्पत्तिविधेया। प्रयत्नान्तरे हि तदपि मुख्यं स्यात्। तापसवत्सराजे हि वत्सराजस्य मुख्याय कौशाम्बीराज्यलाभाय प्रयत्नेनैव यौगन्धरायणव्यापारेण प्रासङ्गिकं वासवदत्तासंगम-पद्मावतीप्राप्त्यादिकमपि साध्यते।

'क्वचित्' इति यत्रैव मुख्यो नेता फलसिद्धौ सहायमपेक्षते तत्रैव प्रासङ्गिकम्। न सर्वत्र। यथा भट्टश्रीभवनुतचूडामणिविरचितायां कोशालिकायां नाटिकायां कोशा-लिकाप्राप्तिमधिकृत्य प्रवृत्तस्य वत्सराजस्य न प्रासङ्गिकम्।

यथा वास्मदुपज्ञे सत्य-हरिश्चन्द्रे नाटके प्रतिज्ञानिर्वाहं प्रति प्रवृत्तस्य हरिश्चन्द्रस्य। 'तच्चतुर्विधम्' इति 'तत्' सामान्येन वृत्तम् ॥१०॥

यह फल जिसको प्राप्त होता है वह 'चरित' यहाँ मुख्य ['चरित' कहलाता] है। उससे भिन्न [चरित उसका] अङ्ग होनेसे प्रासङ्गिक [चरित कहलाता] है। राम-विषयक नाटकोंमें सुग्रीव-मैत्री, शरणागत विभीषणकी रक्षा, रावण-बध और सीताका लौटाना आदिमेंसे सीताके प्रत्या-नयनका ही प्रधान रूपसे वर्णन किया है। अन्यों [का वर्णन करने] में उस [सीता-प्रत्यानयन] के सम्पादनकेलिए ही प्रवृत्त होनेसे [सीता-प्रत्यानयन ही प्रधान फल है। अन्य प्रधान नहीं है] इसलिए वे अंग [कहलाते] हैं।

कवि भी अपनी इच्छासे [किसी विशेष] फलका उत्कर्ष वर्णन नहीं कर सकता है। किन्तु औचित्यके अनुसार [ही वह उत्कर्षका वर्णन करता है]। जिस धीरोद्धत आदि [नायक के] केलिए जो फल उचित हो उसका ही उत्कर्ष वर्णन करना चाहिए। और मुख्यवृत्तके लिए किए गए प्रयत्नके द्वारा ही प्रासङ्गिक [वृत्त] की भी सिद्धि करनी चाहिए। उस [प्रासं-गिक वृत्तकी सिद्धि] केलिए अलग प्रयत्न करनेपर तो वह भी मुख्य बन जावेगा। 'तापस-वत्सराज' [नामक नाटक] में वत्सराज [उदयन] के कौशाम्बीके राज्यकी प्राप्ति रूप मुख्य फलके लिए किए गए [वत्सराजके मंत्री] यौगन्धरायणके व्यापारसे ही वासवदत्ताका समा-गम और पद्मावतीकी प्राप्ति आदि रूप प्रासङ्गिक कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं।

[इसी प्रकार सर्वत्र मुख्य फलकी प्राप्तिके लिए किए जाने वाले व्यापारसे ही प्रासङ्गिक कार्योंकी सिद्धि दिखलानी चाहिए। उसके लिए अलग व्यापारकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। अन्यथा वह अङ्ग न रहकर प्रधान बन जायगा]।

[कारिकामें आए हुए] 'क्वचित्' इस पदसे [यह सूचित किया है कि] जहाँ मुख्य नायक [अपने] फलकी सिद्धिके लिए सहायकको चाहता है वहाँ ही प्रासङ्गिक [चरित] की आवश्यकता होती है। [वहींपर उसका वर्णन करना चाहिए] सब जगह नहीं। जैसे श्री भवनुत चूड़ामणि भट्ट द्वारा विरचित 'कोशालिका' [नामक] नाटिकामें कोशालिका [नायिका] की प्राप्तिकेलिए प्रवृत्त वत्सराजका [कोई सहायक अपेक्षित न होने से उसमें] प्रासङ्गिक [वृत्त] या चरित्र नहीं है।

अथवा जैसे हमारे बनाये हुए 'सत्यहरिश्चन्द्र' [नामक] नाटकमें अपनी प्रतिज्ञाको

अथ चातुर्विध्यमेव स्पष्टयति—

[सूत्र ६]—नीरसानुचितं सूच्यं, प्रयोज्यं तद्विपर्ययः ।
ऊह्यं तदविनाभूतं, उपेक्ष्यं तु जुगुप्सितम् ॥११॥

नीरसं अरञ्जकम् । अनुचितं सरसमप्यनर्हं आलिङ्गन-चुम्बनादि । तत् सूच्यं विष्कम्भादिभिर्ज्ञाप्यम् । तस्य नीरसानुचितस्य विपर्ययः सरसमुचितं च प्रयुज्यते, वाचिकादिभिरभिनयैः सामाजिकानां साक्षादिव क्रियते इति प्रयोज्यम् । तयोः सूच्य-प्रयोज्ययोरविनाभूतं देशान्तरप्राप्त्यादौ गमनादि ऊह्यते स्वयं वितर्क्यते इति ऊह्यम् । न नाम देशान्तरप्राप्तिः पादविहरणादिकं विना भवति । उपेक्ष्यते व्रीडादिहेतुत्वा-दवगण्यते इत्युपेक्ष्यम्[1] । जुगुप्सनीयं[2] भोजन-स्नान-शयन-प्रस्रवणादि । यत् पुनरुत्तर-रामचरिते सीतायाः, अस्मदुपज्ञे नलविलासे अरण्ये दमन्त्याश्च प्रयुक्तं तत् प्रस्तुत-तोपयोगित्वात् रञ्जकत्वाच्च न दुष्टम् ॥११॥

पूर्ण करनेकेलिए प्रवृत्त हरिश्चन्द्रका [कोई सहायक या प्रासङ्गिक वृत्त या चरित्र नहीं है । कारिकाके अन्तमें आए हुए] 'तच्चतुर्विधम्' इस [पद] में 'तत्' [पदसे] सामान्य रूपसे चरित [अर्थात् वृत्त, (१) सूच्य, (२) प्रयोज्य, (३) अभ्यूह्य अर्थात् कल्पनीय और (४) उपेक्ष्य आदि भेदोंसे चार प्रकारका हो सकता है यह बात ग्रन्थकार द्वारा सूचित की रई है] ॥१०॥

चरितकी चार अवस्थाएँ या स्थितियाँ—

अब [पिछली कारिकामें बतलाई हुई चरितकी] चार प्रकारकी स्थितिको ही [इस कारिकामें] स्पष्ट करते हैं—

[सूत्र ६]—[प्रस्तुत चरितमें जो कुछ भाग] नीरस या अनुचित हो वह [दिखलाने योग्य नहीं होता है अपितु विष्कम्भकादिमें अन्योंकी उक्ति द्वारा] सूचित करने योग्य [होता] है । [अतः उसको 'सूच्य' वृत्त कहा जाता है] उसके विपरीत [अर्थात् सरस और उचित भाग ही] 'प्रयोज्य' [अभिनय द्वारा दिखलाने योग्य होता] है । उसका अविनाभूत [अर्थात् जिसके बिना 'प्रयोज्य' भागका अभिनय ही न हो सके वह भाग स्वयं] 'ऊह्य' [अर्थात् कल्पनीय] होता है । और घृणा उत्पन्न करने वाला [जुगुप्सित भाग] 'उपेक्षणीय' [होता] है [अर्थात् उसका अभिनय नहीं करना चाहिए] ॥११॥

नीरस अर्थात् जो मनोरञ्जक न हो । अनुचित अर्थात् जो सरस होनेपर भी [दिख-लानेके] अयोग्य हो जैसे आलिङ्गन, चुम्बन आदि, वह 'सूच्य' अर्थात् विष्कम्भक आदि द्वारा ज्ञापनीय [अर्थात् अन्योंके वर्णन द्वारा बोध्य होता] है । [आगे 'तद्विपर्ययः' का अर्थ करते हैं] उसका अर्थात् नीरस और अनुचित रूप 'सूच्य' भागका विपरीत अर्थात् सरस और उचित है वह प्रयुक्त किया जाता है अर्थात् वाचिक आदि [चारों प्रकारके] अभिनयों द्वारा सामाजिकों के सामने प्रत्यक्ष-जैसा किया जाता है इसलिए 'प्रयोज्य' [कहलाता] है । उन 'सूच्य' तथा 'प्रयोज्य' दोनोंका अविनाभूत [अर्थात् जिसके बिना 'सूच्य' अथवा 'प्रयोज्य' भागका उपपादन ही न हो सके] जैसे अन्य स्थानपर पहुँचनेके लिए [अपरिहार्य] गमन आदिकी स्वयं ऊहा,

---

१. उपेक्ष्यते व्रीडादिहेतुत्वादवगण्यते इत्युपेक्ष्यं योज्यम् ।
२. तयोः सूच्य-प्रयोज्ययो जुर्गुप्सनीयं भोजन-स्नान-शयन प्रस्रवणादि ॥

अथ अन्यानपि वृत्तभेदान् दर्शयति—

[सूत्र १०] प्रकाशं ज्ञाप्यमन्येषां स्वगतं स्वहृदि स्थितम् ।
परावृत्य रहस्याख्यान्यस्मै तदपवारितम् ॥१२॥

अर्थात् कल्पना की जा सकती है इसलिए वह 'ऊह्य' [कहलाता] है । क्योंकि पैरोंसे चले बिना दूसरे स्थानपर नहीं पहुँचा जा सकता है। जो उपेक्षित किया जाता है अर्थात् लज्जादि-जनक होनेके कारण अनादृत किया जाता है वह 'उपेक्ष्य' [कहलाता] है । [घृणाके जनक] भोजन-स्नान-शयन और मूत्र-त्याग आदि [प्रस्रवण] जुगुप्सित [कहलाते] हैं । किन्तु 'उत्तररामचरित' में रामकी गोदमें पड़ी हुई सीताका और हमारे बनाए हुए 'नलविलास' में वनमें दमयन्तीके शयनका जो अभिनय दिखलाया गया है वह प्रस्तुतमें उपयोगी होने और मनोरञ्जक होनेके कारण दोष नहीं है ॥११॥

भावाभिव्यक्तिके नाटकीय प्रकार—

नाटकमें और लोकमें भी सारी बातें एक ही रूपमेंसे नहीं कही जाती हैं । भिन्न-भिन्न अवसरोंपर भिन्न-भिन्न प्रकारकी शैलीका अवलम्बन वार्तालापमें किया जाता है । कोई बात ऐसी होती है जो सबके सामने कही जाती है । कोई ऐसी होती है जिसे वक्ता दूसरों से छिपा कर अपने तक ही सीमित रखना चाहता है । इन दोनोंके लिए नाटकमें अलग-अलग शैलियों का अवलम्बन किया जाता है । जो बात गोप्य नहीं है, वक्ता सबको उस बातको सुनाना चाहता है उसको नाट्यकी परिभाषामें 'प्रकाशम्' शब्दसे कहा जाता है । और जिसको वक्ता अन्य सबसे छिपाकर केवल अपने तक ही सीमित रखना चाहता है इस प्रकारकी बातकेलिए नाटकमें 'स्वगतम्' शब्दका प्रयोग किया जाता है । ये 'प्रकाशम्' तथा 'स्वगतम्' शब्द नाटकमें भावाभिव्यक्तिकी विशेष प्रकारकी शैलीको सूचित करते हैं। 'स्वगतम्' रूपमें कही जाने वाली बात गोप्य होती है । परन्तु उसकी गोप्यता केवल अभिनय करने वाले पात्रोंकी दृष्टिसे ही होती है। नाटकके देखने वाले सामाजिकोंकी दृष्टिसे नहीं । नाटकमें लिखते समय जिसको 'स्वगतम्' लिखा जाता है वह बात भी सामाजिकोंको सुनानी ही होती है । अन्यथा सामाजिकका रसास्वाद गड़बड़ा जायगा । इसलिए अभिनय करते समय उस स्वगत भागको भी जोरसे बोला जाता है कि जिससे सामाजिकगण उसे स्पष्ट रूपसे सुन सकें। केवल मुख-मुद्रादिके द्वारा ऐसा अभिनय किया जाता है कि मानो वक्ता अपने मनमें ही कह रहा है ।

इसी प्रकार जो बात अनेक पात्रोंसे छिपाकर किसी एक पात्र पर प्रकट करनी होती है उसे अन्य लोगोंकी ओर से मुख मोड़कर उस एक व्यक्तिसे कहा जाता है । उसको 'अपवारित' नामसे कहा गया है । इस 'अपवारितम्' को भी सामाजिकको सुनाना अवश्य अभिप्रेत होता है । इसी बातको इस कारिकामें लिखते हैं—

अब वृत्त [की अभिव्यक्ति] के अन्य प्रकारोंको भी दिखलाते हैं—

[सूत्र १०] — **अन्य सबको जतलाने योग्य [वृत्त या बात] को 'प्रकाशम्' और केवल अपने हृदयमें स्थित [गोप्य बात] को 'स्वगतम्' [शैलीसे] कहा जाता है। [बहुतोंसे छिपाकर एक ही व्यक्ति पर प्रकट करनेकेलिए अन्योंकी ओरसे] मुख मोड़कर रहस्यका कथन करना 'अपवारितम्' कहा जाता है ।१२।**

यद् वृत्तमगोप्यतया अन्येषामात्मव्यतिरिक्तानामपि ज्ञाप्यं तत् प्रकाशत इति 'प्रकाशम्'। यत् पुनरन्येषां गोप्यतया स्वहृद्येव स्थितं तत् 'स्वगतम्'। परावृत्य अङ्ग-वलनेनाश्रावयितेभ्यः पराङ्मुखीभूय अन्यस्मै रहस्याख्या या तदपवार्यते बहूनां प्रच्छाद्यत इति 'अपवारितम्'।

आख्यायते इति आख्या। कर्मसाधनः। तेन वृत्तमपवारितम्। एवमुत्तर-त्रापि॥१२॥

[सूत्र ११]—त्रिपताकान्तरोऽन्येन जल्पो यस्तज्जनान्तिकम्।
आकाशोक्तिः स्वयं-प्रश्न-प्रत्युत्तरमात्रकम् ॥१३॥

जो बात गोप्य न होनेसे अपनेसे भिन्न अन्य लोगोंको भी बतलाने योग्य है उसको प्रकाशित किए जानेके कारण 'प्रकाशम्' कहते हैं। और जो [बात] अन्योंसे छिपाने योग्य होनेसे अपने मनमें ही रखनी होती है उसको 'स्वगतम्' कहते हैं। शरीरको घुमाकर जिनको सुनाना नहीं है उनकी ओरसे मुख मोड़कर किसी दूसरेसे रहस्यका कथन करना बहुतोंसे छिपाए जानेके कारण 'अपवार्यते इति अपवारितम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'अपवारितम्' कहलाता है।

जिसको कहा जाय वह 'आख्या' है। [यह कारिकामें आए हुए 'आख्या' शब्दकी व्युत्पत्ति है। इसके अनुसार आख्या शब्द] कर्ममें [प्रत्यय करके] सिद्ध होता है। इसलिए [कर्मभूत अर्थात् कहा जाने वाला] वृत्त 'अपवारित' [कहलाता] है। इसी प्रकार आगे [जल्प आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति] भी समझनी चाहिए॥१२॥

पिछली कारिकामें ग्रन्थकारोंने 'प्रकाशम्', 'स्वगतम्' और 'अपवारितम्' इन तीन नाटकीय परिभाषाओंकी व्याख्या की थी। उसी प्रसंगमें चौथा 'जनान्तिकम्' शब्द भी नाटकोंमें प्रयुक्त होता है। 'जनान्तिकम्' और 'अपवारितम्' शब्द एक-दूसरेसे सम्बद्ध किन्तु एक-दूसरे से विपरीत स्थितिके बोधक हैं। जब बहुसंख्यक अन्य सब लोगोंसे छिपाकर कोई बात किसी एक ही व्यक्तिपर प्रकट करनी होती है तब उसको 'अपवारितम्' कहते हैं। इस 'अपवारितम्' का लक्षण पिछली कारिकामें किया जा चुका है। 'जनान्तिकम्' शब्दका प्रयोग उससे विपरीत स्थितिमें होता है। जो बात किसी एक ही व्यक्तिसे छिपाकर अन्य बहुसंख्यक व्यक्तियोंपर प्रकट करनी होती है उसके प्रकट करनेकेलिए विशेष शैलीका अवलम्बन किया जाता है और उस विशेष शैलीको 'जनान्तिकम्' कहा जाता है। इस शैली-में 'त्रिपताक' अथवा 'त्रिपताकाकर' का प्रयोग किया जाता है। 'जनान्तिकम्' के समान 'त्रिपताक' शब्द भी नाट्य शास्त्रका पारिभाषिक शब्द है। कनिष्ठिकाके पास वाली 'अनामिका' उंगलीको अंगूठेसे दबाकर शेष तीन उंगलिया उठाकर जो हाथकी स्थिति बनती है उसको 'त्रिपाताकाकर' कहते हैं। इस प्रकार हाथको मुखके पास लगाकर एक विशेष व्यक्तिसे छिपाकर अन्योंको सुनानेकेलिए जो बात की जाती है उसको 'जनान्तिकम्' कहते हैं। इसीको आगे लिखते हैं—

[सूत्र ११]—त्रिपताक [अर्थात् जिसमें तीन उंगलियां उठी हुई हों इस प्रकारके] हाथको बीचमें लगाकर [एक व्यक्तिसे छिपाकर बहुसंख्यक] अन्योंके साथ जो वार्तालाप है

जल्प्यते इति जल्पो वृत्तमेव। ऊर्ध्वसर्वांगुलिर्वक्रानामिकः करस्त्रिपताकः। सोऽन्तरमश्राव्यं प्रति व्यवधानं यत्र। अन्येन सह जल्पो जनानामेकस्यैव गोप्यत्वात् बहूनामन्तिकं, श्राव्यतया निकटं, 'जनान्तिकम्'। इह यद् वृत्तमेकस्यैव गोप्यं बहूनामगोप्यं तज्जनान्तिकम्। तद्विपरीतमपवारितम्। प्रश्नश्च प्रत्युत्तरं चेति समाहारः। अपात्रकम्, रङ्गप्रविष्टद्वितीयपात्ररहितम्। रङ्गप्रविष्टपात्रेण स्वयमात्मनैव यः प्रश्नो यच्चोत्तरं तदाकाशे पात्राभावात् शून्ये उक्तिः 'आकाशोक्तिः'। उच्यते इति उक्तिः। प्रश्नोत्तरविषयोऽर्थः। क्वचित् स्वोत्तरार्थमनुभाषणच्छायया परकीयः प्रश्नः, क्वचित् स्वप्रश्नस्यानुभाषणच्छायया परकीयमुत्तरं इत्युभयमपि आकाशोक्तिरिति ॥१३॥

वह 'जनान्तिक' और बिना पात्रके स्वयंही प्रश्न तथा उत्तरका कथन 'आकाशोक्तिः' [कहलाता] है ॥१३॥

जो कहा जाता है वह 'जल्प' 'वृत्त' ही होता है। अनामिका उंगलीको झुकाकर और सब अंगुलियां उठी हों ऐसा हाथ 'त्रिपताक' [कहलाता] है। उसको अश्राव्य [अर्थात् जिस एक व्यक्तिको बात सुनाना अभीष्ट नहीं है उस एक व्यक्ति] के प्रति व्यवधान जिसमें बनाया जाय। [वह जल्प 'त्रिपताकान्तरः जल्पः' हुआ]। अन्योंके साथ [विशेष प्रकारका] वार्तालाप एकहीके प्रति गोप्य होने, और [बहुतोंके प्रति अगोप्य होनेसे] बहुतसे जनोंके लिए श्राव्य होनेसे 'अन्तिक' अर्थात् निकट होनेके कारण 'जनान्तिक' [कहलाता] है। [आगे 'अपवारितं' और 'जनान्तिक' का विशेष भेद दिखलाते हैं—] इनमेंसे जो बात एकही [व्यक्ति] से छिपाना हो बहुतोंसे गोप्य न हो वह 'जनान्तिक' [कहलाता] है। उसके विपरीत [अर्थात् बहुतोंसे गोप्य और एकपर ही प्रकाशनीय अर्थ] 'अपवारितम्' [कहा जाता] है। [कारिकामें आए हुए 'प्रश्नप्रत्युत्तरम्' पदमें] प्रश्न और प्रत्युत्तर इन दोनोंका समाहार है। 'अपात्रकम्' [पदका] रङ्गमें प्रविष्ट दूसरे पात्रसे रहित [यह भाव है]। रङ्गमें प्रविष्ट पात्रके द्वारा जब स्वयं अपने-आपही प्रश्न और प्रत्युत्तर किया जाता है वह आकाशमें अर्थात् दूसरा पात्र न होनेसे शून्यमें कथन होनेसे 'आकाशोक्तिः' [कहलाती] है। जो कहा जाय वह [अर्थ] 'उक्ति' है। अर्थात् प्रश्न और उत्तरका विषयभूत अर्थ [उक्ति पदसे अभिप्रेत है। इसके भी दो प्रकार होते हैं] कहीं स्वयं उत्तर देनेके लिए अनुभाषणके द्वारा दूसरेका प्रश्न, और कहीं अपने प्रश्नके [उत्तर रूपमें] अनुभाषण द्वारा दूसरेका उत्तर [आकाशोक्तिके रूपमें कहा जाता है]। ये दोनों ही आकाशोक्ति [कहलाते] हैं। [अनुभाषणच्छायाका अभिप्राय यह है कि उस परकीय प्रश्न या उत्तरको स्वयं कहके सुनाता है अर्थात् कहीं प्रश्नांश आकाशभाषित रूप होता है, और कहीं उत्तर भाग आकाशभाषित रूप होता है। इस 'आकाशभाषित' शब्द का प्रयोग भी नाटकों में पाया जाता है।] ॥१३॥

बारह तथा तेरह संख्याकी इन दोनों कारिकाओंमें नाटकीय भावाभिव्यक्तिकी पांच शैलियां दिखलाई हैं। इनमेंसे 'प्रकाशम्' तथा 'स्वगतम्' ये दोनों शब्द परस्पर सम्बद्ध शब्द है। जब 'स्वगतम्' रूपसे कहींपर कुछ बात कही जाती है तब उसके बाद फिर जहांपर गोपनीय बात समाप्त हो जाती है और वक्ता सबको सुनाने योग्य बात कहना प्रारम्भ करता है वहांपर 'प्रकाशम्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। हर जगह 'प्रकाशम्' शब्दका प्रयोग

नहीं होता है। क्योंकि नाटकका सारा भाग तो सर्वश्राव्य अर्थात् 'प्रकाशम्' होता ही है। उसकेलिए हर जगह 'प्रकाशम्' लिखनेकी आवश्यकता नहीं होती है। उस 'प्रकाशम्'के बीच जहाँ कुछ भाग ऐसा आ जाता है जिसे वक्ता स्वयं अपने तक ही सीमित रखना चाहता है उसके लिए 'स्वगतम्' शैलीका प्रयोग होता है। यद्यपि 'स्वगतम्' शब्दसे अपने मनमें कही जाने वाली "स्वगतं स्वहृदि स्थितम्" बातका ही ग्रहण होता है किन्तु वह बोली इतने उच्च-स्वरसे जाती है कि नाटक देखने वाले सामाजिक उसको सुन सकें। जहाँ कोई ऐसी बात कहनी होती है जिसको उस समय सामाजिकको भी सुनाना अभीष्ट नहीं होता है वहाँ उस बातको 'स्वगतम्' पदसे न कहकर 'कर्णे एवमिव' लिख कर कानमें कहलाया जाता है। 'स्व-गतम्' के रूपमें कही जाने वाली बात केवल अन्य पात्रोंसे गोपनीय होती है। सामाजिकोंसे नहीं। एक बार जब 'स्वगतम्' लिख दिया गया तब वह 'स्वगतम्' के रूपमें कही जाने वाली बात जहाँपर समाप्त होती है उसके बाद 'प्रकाशम्' पदका निर्देश करना आवश्यक होता है। इसलिए 'स्वगतम्' के समाप्त होनेके बाद 'प्रकाशम्' का उल्लेख नाटकोंमें सर्वत्र किया जाता है।

गोपनीय बातको कहनेका एक प्रकारका यह 'स्वगतम्' हुआ। इसके अतिरिक्त दो प्रकार और भी हैं। एक 'अपवारितम्' और दूसरा 'जनान्तिकम्'। इनमेंसे जब एक व्यक्तिसे छिपा कर अधिक व्यक्तियोंपर बातको प्रकट करना अभीष्ट होता है तब उस बातको 'जना-न्तिकम्' नामसे कहा जाता है। 'जनान्तिकम्' शब्दका अर्थ ही यह बतला रहा है कि बहुतसे 'जनों' के 'अन्तिक' अर्थात् समीप जो हो वह 'जनान्तिकम्' कहलाने योग्य है। इसलिए 'जनान्तिकम्' के रूपमें कही जाने वाली बात एक ही व्यक्तिसे गोपनीय और बहुतसे जनोंके लिए श्राव्य होनेके कारण उनके 'अन्तिक' अर्थात् 'निकट' होनेसे 'जनान्तिक' नामसे कही जाती है। इसके विपरीत जो बात बहुतोंसे छिपा कर एक ही व्यक्तिपर प्रकाशित करने योग्य हो उसको प्रगट करनेके लिए 'अपवारितम्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। यह शब्द भी नाटकों बहुत प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार गोपनीय बातको प्रकट करनेके लिए (१)'स्वगतम्' (२)'अपवारितम्' और (३) 'जनान्तिकम्' इन तीन नाटकीय अभिव्यक्ति-शैलियोंका निर्देश किया गया है। इन सभी शैलियोंके द्वारा अभिव्यक्त किए जाने वाले भाव सामाजिकोंके लिए श्राव्य ही होते हैं। इस-लिए इतने जोरसे अभिव्यक्त किए जाते हैं कि सामाजिक बिना किसी कठिनाईके उनको सुन सकें। केवल अभिनयकी मुद्राओंके द्वारा उनकी गोपनीयताका प्रदर्शन किया जाता है। आगे कही जाने वाली अथवा पूर्व कही जो बात सामाजिकको भी नहीं सुनानी होती है उसके लिए इनसे भिन्न (४) 'कर्णे एवमेव' कानमें कहलानेकी चौथी शैली और भी पाई जाती है उसका निर्देश यहाँ नहीं किया गया है। आगे १६वीं कारिका में उसका उल्लेख करेंगे यह 'एवमेव' वाली शैली नाटकोंमें बहुत कम मात्रामें विरल रूपसे ही प्रयुक्त होती है। एक नाटकमें एक बारसे अधिक इसका प्रयोग प्रायः नहीं पाया जाता है। (५) प्रकाशम् वाली पांचवी शैली मुख्य अभिव्यजना-शैली है। जो सारे नाटकों में आद्यन्त व्यापक रहती है ॥१३॥

अथ वृत्तस्य कर्तव्यगुणानाह—

[सूत्र ११]—स्वल्पपद्यं लघुगद्यं श्लिष्टावान्तरवस्तुकम्
सिन्धु-सूर्येन्दु-कालादिवर्णनाधिक्यवर्जितम् ॥१४॥

सुष्ठु प्रसन्नार्थं प्रसिद्धशब्दं अल्पं परिमितं पद्यं यत्र। गद्येन ह्यर्थः कथ्यमानः सुखावबोधो भवति। लघु हृद्यं परिमितं च गद्यं यत्र। कर्कशं बहुसमासं च गद्यं दुर्बोधत्वात् खेदमुपनयति। श्लिष्टानि पारम्पर्येण प्रधानफलसम्बद्धानि अवान्तराणि प्रस्तुतान्तरालवर्तीनि वस्तूनि यत्र। नाट्ये हि तदेवावान्तरं वृत्तमायोज्यं यत् पारम्पर्येण प्रधानफलसाधकम्। यथा रत्नावल्यां प्लवगसम्पातः सागरिकानुरागबीजस्य फलकस्य सम्प्राप्तिहेतुः। यथा वास्मदुपज्ञे नलविलासे कापालिक-विदूषकनियुद्धं राज्ञोनुरागमूलस्य दमयन्तीप्रतिकृतिदर्शनस्य हेतुः। सिन्धुर्नदी समुद्रो वा। सूर्येन्दुभ्यां तदुदयास्तौ गृह्येते। कालो वसन्तादिः प्रभातादिश्च। आदिशब्दात् गिरि-मधुपान-जलक्रीडादि। सिन्ध्वादिक हि काव्यकण्डूवशान्निष्फलं न वर्णनीयम्। सफलमप्येकेन द्वाभ्यां वा वृत्ताभ्याम्। अधिक्यन्तु रसमन्तरयतीति ॥१४॥

नाटकरचनाविषयक विशेष बातें—

अगली दो कारिकाओंमें ग्रन्थकारोंने नाटककी रचनामें ध्यान रखने योग्य कुछ विशेष बातोंका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

अब वृत्तके [अर्थात् नाटककी रचनाके अवश्य] करने योग्य गुणोंको कहते हैं—

[सूत्र ११]—सुन्दर और थोड़े पद्यों तथा सरल गद्यसे एवं परस्पर सम्बद्ध अवान्तर [कथा आदि] वस्तुओंसे युक्त, समुद्र, नदी, सूर्य-चन्द्र [के उदयास्त] और [वसन्त या प्रभात आदि] कालके अधिक वर्णनसे रहित [अर्थात् स्वल्प वर्णन युक्त नाटककी रचना करनी चाहिए यह बात नाट्य-रचनामें अवश्य-कर्तव्य अर्थात् विशेष ध्यान देने योग्य है ।१४।

सुन्दर अर्थात् सरल अर्थ और प्रसिद्ध शब्दों वाला, थोड़ा अर्थात् परिमित पद्य जिसमें हो [यह स्वल्पपद्यं का अर्थ हुआ]। क्योंकि गद्यके द्वारा कहा गया अर्थ जल्दी समझमें आ जाता है। 'लघु' अर्थात् मनोहर और परिमित गद्य जिसमें हो [यह 'लघुगद्यं' का अर्थ है]। कर्कश और अधिक समासों वाला गद्य कष्टदायक होता है श्लिष्ट अर्थात् परम्परासे प्रधान फल से ही सम्बन्ध रखने वाली अवान्तर अर्थात् प्रस्तुतके बीचमें प्रयुक्त वस्तुएँ जिसमें हों [यह 'श्लिष्टावान्तरवस्तुकम्' का अर्थ है]। नाटकमें उसी अवान्तर कथावस्तु की योजना करनी चाहिए जो परम्परया प्रधान फलकी साधक हो। जैसे रत्नावली [नाटिका] में बन्दरका आना, सागरिकाके [उदयनके प्रति] अनुरागके सूचक चित्रपटकी प्राप्तिका हेतु है। अथवा जैसे हमारे बनाए हुए नलविलासमें कापालिक और विदूषकका झगड़ा राजा [नल] के [दमयन्तीके प्रति] अनुरागके सूचक दमयन्तीके चित्रके दर्शनका हेतु है। सिन्धुका अर्थ नदी अथवा समुद्र है। सूर्य और इन्दु पदोंसे उनके उदय-अस्तका ग्रहण होता है। आदि शब्दसे पर्वत, मधुपान, जलक्रीडा आदि [का ग्रहण होता है]। केवल काव्यरचनाकी खुजली मिटाने के लिए समुद्र आदिका व्यर्थ वर्णन नहीं करना चाहिए। सार्थक होनेपर भी एक-दो श्लोकों

[सूत्र १२]—एकाङ्गिरसमन्याङ्गमद्भुतान्तं रसोर्मिभिः ।
अलङ्घितमलङ्कार-कथाङ्गैरगलद्रसम् ॥१५॥

एको नायकौचित्येनान्यतमो अङ्गी प्रधानरसो यत्र । अन्ये अङ्गिरसादपरे रसा अङ्गं गौणा यत्र । नाटकं हि सर्वरसं, केवलमेको अङ्गी, तदपरे गौणाः । अद्भुत एव रसो अन्ते निर्वहणे यत्र । यतः शृङ्गार-वीर-रौद्रैः स्त्रीरत्न-पृथ्वीलाभ-शत्रुक्षयसम्पत्तिः । करुण-भयानक-वीभत्सैः तन्निवृत्तिः । इति इयता क्रमेण लोकोत्तरासम्भाव्यफल-प्राप्तौ भवितव्यमन्ते अद्भुतेनैव । अपि च नाटकस्यासाधारणवस्तुलाभः फलत्वेन यदि न कल्प्यते तदानीं क्रियायाः फलमात्रं [1]किञ्चिदस्त्येवेति किं तत्रोपायव्युत्पादनक्लेशेन । 'रसोर्मिभी' रसाधिक्येन 'अलङ्घितं' अविच्छिन्नम् । न नाम रसपरतया कथाशरीरमन्तरयेत् ।

से ही करना चाहिए । क्योंकि लम्बा वर्णन रसको तिरोभूत कर देता है ।

इस कारिकामें 'स्वल्पपद्यं' शब्द विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है । वैसे 'स्वल्प' शब्द एक साधारण शब्द है । उसका अर्थ 'थोड़ा' होता है । इसलिए 'स्वल्पपद्य' का अर्थ 'थोड़े पद्यों वाला' यह होना चाहिए । किन्तु ग्रन्थकारने यहाँ उसकी जो व्याख्या की है उसमें उन्होंने 'स्वल्प' पदको सु + अल्प दो भागोंमें विभक्त कर 'सु' का अर्थ 'सुष्ठु प्रसन्नार्थं प्रसिद्धशब्दं', तथा 'अल्पं' का अर्थ परिमित किया है । इसलिए यह शब्द विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है ।

यहाँ तक चौदहवीं कारिकाकी व्याख्या समाप्त हो गई । किन्तु यह विषय अभी पूर्ण नहीं हुआ है । अगली कारिकामें भी इसी विषयका वर्णन किया गया है ।

[सूत्र १२]—जिसमें एक रस प्रधान और अन्य रस अप्रधान हों अन्तमें अद्भुत रस [का निवेश] हो किन्तु रसाधिक्यसे [कथाभाग] विच्छिन्न न होने पावे, साथ ही अलङ्कार या कथा आदि [के आधिक्य] से रसका विच्छेद भी न होने पावे [इस इन सब बातोंका ध्यान रखते हुए ही नाटककी रचना करनी चाहिए] । १५ ।

नायकके औचित्यके अनुसार कोई एक रस जिसमें प्रधान हो [यह 'एकाङ्गिरसं' का अर्थ है] । 'अन्य' अर्थात् प्रधान रससे भिन्न रस जिसमें अङ्ग अर्थात् गौण हो । नाटकमें [वैसे तो] सारे रस होते हैं किन्तु एक रस प्रधान और उससे भिन्न सब गौण होते हैं । अन्तमें अर्थात् निर्वहण-सन्धिमें अद्भुत-रस ही होना चाहिए । क्योंकि शृङ्गार, वीर, रौद्र रसोंके द्वारा स्त्रीरत्न अथवा राज्यादिका लाभ और शत्रुके विनाश आदिकी सिद्ध होती है । और करुण, भयानक तथा वीभत्सके द्वारा [प्रतिनायकको] उन [स्त्रीरत्न राज्य आदि प्राप्ति] की निवृत्ति होती है । इस लिए इस प्रकारसे [सभी रसोंका नाटकमें उपयोग होता है और]लोकोत्तर असम्भाव्य फल प्राप्ति [के दिलाने] में अन्तमें अद्भुत रस होना चाहिए । [इसकी सिद्धि के लिए दूसरा हेतु यह भी है कि] यदि असाधारण वस्तुकी प्राप्तिको नाटकका फल न माना जाय तो प्रत्येक क्रियाका कुछ-न-कुछ फल तो अवश्य होता ही है फिर उसके लिए उपायोंका अवलम्बन करनेसे क्या लाभ ? रसकी लहरोंसे अर्थात् रसके आधिक्यसे [जिसकी कथावस्तु] लंघित अर्थात् विच्छिन्न न हो । रस-प्रधान होकर कभी कथाके स्वरूपको विच्छिन्न न करे ।

---

१. न किञ्चित् ।

अलङ्काराः श्लेषोपमादयः। कथा वृत्तम्। अङ्गान्युपक्षेपादीनि, अङ्गभूता रसाश्च, तैरगलन् अत्रुटन् रसो यत्र। त एव श्लेषोपमादयो विधेया ये रसनिष्पत्ति-प्रयत्नेनैव निष्पद्यन्ते। वृत्तान्ते अङ्गानि उपक्षेपादीनि च तथा निबन्धनीयानि यथा रसमन्तरयन्ति। अङ्गभूता रसाश्च तथा नियोज्या यथा न नाङ्गिनं रसं तिरोदधत इति ॥१५॥

अथ वृत्तबन्धशिक्षामाह—

[सूत्र १३]—उक्तत्वाद् वक्ष्यमाणत्वाद् भूयः कार्याद् यदुच्यते।
तत् कर्णे श्रावयेद् येन न याति पुनरुक्तताम् ॥१६॥

उक्तं पूर्वं, वक्ष्यमाणं पुरः प्रकाश्यमानम्। प्रयोजनवशाद् भूयोऽपि यद् वृत्तमुच्यते तत् पुनरुक्तताभयात् पात्रस्य कर्णे कविः श्रावयेत्। तथा च दृश्यते 'कर्णे एवमेव' ॥१६॥

[सूत्र १४]—गोपुच्छकेशकल्पानि नाट्यवस्तूनि कल्पयेत्।
उदात्ता रञ्जका भावाः स्थापनीयाः पुरः पुरः ॥१७॥

गोपुच्छस्य च केशाः केचित् स्तोकमात्रयायिनः, केचिन्मध्यावधयः, केचिदन्तव्यापिनः। एवं प्रबन्धवस्तून्यपि। यथा रत्नावल्यां प्रमोदोत्सवो मुखसन्धावेव निष्ठितः। मुखोपक्षिप्तो बाभ्रव्यादिवृत्तान्तश्च निर्वहणारम्भे। रत्नावली प्राप्त्या-

---

अलङ्कार श्लेष उपमादि है। कथा अर्थात् वृत्तान्त। अङ्गसे उपक्षेप आदि अङ्गों तथा अप्रधान रसोंका ग्रहण होता है। उनसे [अर्थात् श्लेषादि अलङ्कार, अवांतर कथा और उपक्षेपादि अङ्गों अथवा अप्रधान रसों] के द्वारा जिसमें [प्रधान] रसका विच्छेद न हो। उन्हीं श्लेष उपमादिका प्रयोग करना चाहिए जो रस-सिद्धिके लिए किए जानेवाले प्रयत्नसे ही सिद्ध हो सकते हों। और कथाभागमें उपक्षेप आदि अङ्गोंकी रचना इस प्रकारसे करनी चाहिए कि जिससे वे रसको तिरोभूत न कर सकें। तथा अङ्गभूत अप्रधान रसोंको इस ढंगसे रखना चाहिए कि वे प्रधान रसको तिरोभूत न कर सकें ॥१५॥

अब कथाभागकी रचनाकी शिक्षाको कहते हैं—

[सूत्र १३]-पहले कहे हुए या आगे कहे जानेवाले [कथाभाग] को यदि कार्यवश फिर दुबारा कहा जाय तो उसको [कवि 'कर्णे एवमेव' लिखकर] कानमें कहलावे जिससे वह पुनरुक्त न हो।१६।

'उक्त' अर्थात् पहिले कहा हुआ और 'वक्ष्यमाण' अर्थात् आगे कहे जाने वाला जो अर्थ प्रयोजनवश दुबारा कहा जाता है उसको पुनरुक्तिसे बचानेकेलिए कवि पात्रके कानमें कहलावे। जैसा कि [नाटकोंमें] 'कर्णे एवमेव' [लिखा] देखा जाता हैं ॥१६॥

[सूत्र १४]—नाटकको वस्तुओंकी रचना गोपुच्छके केशोंके समान करे। और जो उदात्त तथा मनोरञ्जक भाव हों उनको आगे-आगे [मुख्यरूपसे] प्रस्तुत करे।१७।

गोपुच्छके बालोंमें कुछ थोड़ी दूर तक ही जाते हैं। कुछ बीच तक पहुँचते हैं। और कुछ अन्त तक फैले रहते हैं। इस प्रकार नाटकको वस्तुएँ भी [रखनी चाहिए]। जैसे रत्नावली [नाटिका] में प्रमदोत्सव मुखसन्धिमें ही समाप्त हो गया है। मुखसन्धिमें सूचित

दयश्च साररूपाः पदार्थाः अन्ते इति । उदात्ता उत्तमप्रकृतियोग्याः । अनुदात्ता अपि ये रञ्जका भावास्ते सकलस्यापि प्रबन्धस्य रसारोहार्थं पुरः पुरो निवेशनीया इति ॥१७॥

अथानिबन्धनीयमाह—

[सूत्र १५]—अयुक्तं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा ।
वृत्तं यत् तत् परित्याज्यं प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा ॥ १८ ॥

अयुक्तमनुचितं, विरुद्धं विपरीतम् । परित्याज्यमुपेक्षणीयम् । धीरललितस्य ह्यनुचितं परस्त्रीसम्भोगादि, विरुद्धं धीरोद्धतत्वादि । शृङ्गारस्य प्रत्यक्षमालिङ्गन-चुम्बनादि अनुचितं, बीभत्सस्तु विरुद्धः । अन्यथेति औचित्येनाविरोधेन वा । यथा नलविलासे धीरललितस्य नायकस्य दोषं विना सधर्मचारिणीपरित्यागोऽनुचित इति कापालिकप्रयोगेण निबद्धः । एवमन्यदप्यूह्यमिति ॥ १८ ॥

बाभ्रव्य आदिका वृत्तान्त निर्वहण-सन्धिके आरम्भमें [समाप्त हो गया है] और रत्नावलीकी प्राप्ति आदि सारभूत पदार्थ अंतमें [समाप्त हुए हैं] । उदात्त [भाव] अर्थात् उत्तम प्रकृतिके योग्य [भाव मुख्यरूपसे प्रस्तुत करने चाहिए] और अनुदात्त होनेपर भी जो रञ्जक भाव हैं वे भी सारे नाटकके रसके अधिरोहण [पोषण] केलिए आगे-आगे [प्रधान रूपसे] रखने चाहिए ॥१७॥

इस कारिकामें ग्रन्थकारने 'कर्णे एवमेव' को पुनरुक्तिके बचानेकेलिए प्रयुक्त किए जानेवाले भावाभिव्यक्तिके साधनके रूपमें प्रस्तुत किया है । किन्तु कहीं-कहीं उस समयकी सामाजिकसे गोप्य बातको अभिव्यक्त करनेकेलिए भी इस मार्गका अवलम्बन किया जाता है ।

नाटकमें परित्याज्य—

पिछली कारिकाओंमें नाटककी रचनामें ग्रहण करने योग्य विशेष बातोंकी ओर ध्यान दिलाया गया था । अब इस कारिकामें नाटकमें परित्याग करने योग्य बातोंका उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार दिखते हैं—

अब [नाटकमें] न रखने योग्य [बातोंको] कहते हैं—

[सूत्र १५] जो [बात] नायकके अथवा [प्रकृत] रसके लिए अनुचित या विपरीत हो उसको परित्याग कर देना चाहिए [नाटकमें प्रदर्शित नहीं करना चाहिए] अथवा अन्य प्रकारसे उसकी कल्पना कर लेना चाहिए [अर्थात् उसको बदल देना चाहिए] । १८ ।

अयुक्त अर्थात् अनुचित और विरुद्ध अर्थात् विपरीत [अर्थको] परित्याज्य अर्थात् उपेक्षा करने योग्य [समझना चाहिए] । जैसे धीरललित [नायक] केलिए परस्त्रीके साथ सम्भोग करना अनुचित है [इसलिए परित्याज्य है] । और धीरोद्धतत्वादि विरुद्ध है । [इसलिए धीरललित नायकके वर्णनमें उसमें धीरोद्धतत्वके गुण-स्वभाव आदिका चित्रण नहीं करना चाहिए । आगे रसकेलिए अनुचित तथा विरुद्धका उदाहरण देते हैं] प्रत्यक्ष दिखलाया हुआ आलिङ्गन-चुम्बन आदि शृङ्गारके लिए अनुचित, तथा बीभत्स [रसका प्रदर्शन शृङ्गाररसके] विरुद्ध है । अन्य प्रकारसे [कल्पना कर लेना चाहिए इसका अर्थ यह है कि] औचित्यके अनुसार अथवा जिससे वह विरोधी न रहे इस प्रकारसे [कल्पना करले] । जैसे नलविलासमें धीरललित नायककेलिए बिना दोषके सहधर्मिणीका परित्याग अनुचित है इसलिए कापालिकके प्रयोगके कारण [नलने दमयन्तीका परित्याग किया है] । इस रूपमें [अन्यथा कल्पना करके] वर्णित किया गया है । इसी प्रकार अन्य [स्थलोंपर भी] समझ लेना चाहिए ।

'धर्म-कामार्थसत्फलम्' इति सुगमत्वादुपेक्ष्य 'साङ्कोपायदशासन्धि' इत्यस्मादङ्कपदं लक्षयति—

[सूत्र १६]—अवस्थायाः समाप्तिर्वा छेदो वा कार्ययोगतः ।
अङ्कः सबिन्दु-दृश्यार्थः चतुर्यामो मुहूर्ततः ॥ १६ ॥

अवस्था वक्ष्यमाणाः प्रारम्भादिकाः पञ्च । तत्रान्यतमस्या अवस्थाया उपक्रम-निष्पत्तिभ्यां या समाप्तिः । असमाप्तायामप्यवस्थायां कार्यवशेन यो वा छेदः खण्डनं सोऽङ्कः । कार्यं दूराध्वगमनादि एकाह्नाघटमानं भूयस्त्वादेकाह्नाशक्याभिनयं

शकुन्तला नाटकमें दुष्यन्तके द्वारा शकुन्तलाकी विस्मृति और प्रत्याख्यान भी इसी प्रकारकी घटनाएँ हैं जिनकी अन्यथा कल्पना द्वारा कविने अपने नायकके चरितको चमका दिया है । महाभारतमें जहाँसे कि शकुन्तलाका आख्यान लिया गया है— दुष्यन्त एक अत्यन्त लम्पट प्रकृतिका राजा है । जो मधुकरके समान नए-नए पुष्पोंका रसास्वादन करनेका व्यसनी है । इसी प्रसङ्गमें उसने कण्वमुनिके आश्रममें उनकी अनुपस्थितिमें पहुँचकर शकुन्तलाके साथ सब कुछ किया और उसको अपने महलमें बुलानेका वचन देकरभी भूल गया । पर कालिदासने इसको दुष्यन्तका स्वाभाविक व्यापार न मानकर दुर्वासाके शापको उसका कारण माना है । कालिदासने अपनी इस प्रक्रिया द्वारा इसके कारण रूपमें दुर्वासाके शापकी कल्पना करके दुष्यन्तको न केवल लम्पटताके इस दोषसे ही बचा लिया है बल्कि शकुन्तलाका प्रत्याख्यान करवाकर उसे उच्चकोटिके आदर्शचरित्रके रूपमें चित्रितकर उसको धीरोदात्त नायकका रूप प्रदान कर दिया है ॥ १८ ॥

अङ्कलक्षण—

पांचवीं कारिकामें 'ख्याताद्यराजचरितं' आदिसे नाटकका लक्षण किया गया था । उसीकी विशेष व्याख्या आगे चल रही है । इसमेंसे केवल 'ख्याताद्यराजचरितं' इस प्रथम पदकी ही विस्तृत विवेचना १८ वीं कारिका तक की गई है । उस नाटक-लक्षणमें दूसरा पद 'धर्मकामार्थसत्फलम्' यह है । परन्तु यह पद बहुत सरल है इसलिए इसकी अलगसे विशेष व्याख्या न करके, अगले 'साङ्कोपायदशासन्धि' इत्यादिकी विशेष व्याख्या आगे प्रारम्भ करते हैं । इसमें सबसे पहला 'अङ्क पद है इसलिए इस कारिकामें' 'अङ्क' का लक्षण करते हैं ।

'धर्मकामार्थसत्फलम्' यह सरल [पद] है इसलिए उसको छोड़कर अगले साङ्कोपायदशासन्धि' इस [अगले विशेषण] मेंसे [प्रथम] 'अङ्क' पदका लक्षण करते हैं—

[सूत्र १६]—[कार्यकी प्रारम्भ आदि रूप] अवस्थाकी समाप्ति अथवा कार्यवश [असमाप्त अवस्थाका भी] विच्छेद [जो अगले अङ्ककी कथाके बीज अथवा] बिन्दुसे युक्त और [दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनटके] 'मुहूर्त' से लेकर चार प्रहर [बारह घण्टे] तकके दर्शनीय अर्थसे युक्त हो वह 'अङ्क' कहलाता है [यह अङ्कका लक्षण हुआ] । १६ ।

अवस्था [पदसे] आगे कहे जाने वाली प्रारम्भ [यत्न प्राप्त्याशा] आदि रूप पाँच हैं । उनमेंसे किसीभी एक अवस्थाका आरम्भ और पूर्णता द्वारा समाप्ति [अङ्ककी नियामिका होती है । उसको अङ्कमें दिखलाना चाहिए] अथवा असमाप्त अवस्थाका भी कार्यवशसे जो बीचमें विच्छेद अर्थात् समाप्ति कर दी जाय वह [भी] अङ्क [का नियामक] है । 'कार्य' पदसे यहाँ

वा। तद्वशादवस्थाया अन्तराले यश्छेदः क्रियते सोऽप्यङ्क इत्यर्थः। एतावदङ्क-लक्षणम्।

सबिन्दुरिति सह बिन्दुना वर्तते। विच्छिन्नविस्तृतार्थस्य उत्तराङ्कस्यानुसन्धानात्मा वृत्तसंक्षेप उत्तरत्र विस्तार्यमाणत्वादुदके तैलबिन्दुरिव 'बिन्दुः'। पूर्वोत्तरयोरङ्कयोरसम्बद्धार्थत्वं मा भूदिति पूर्वाङ्कस्यान्ते बिन्दुनिबन्धनीयः।

एक दिनमें न हो सकने वाले दूर-देशगमन आदि अथवा बहुत लम्बा होनेके कारण एक दिनमें जिसका अभिनय किया जाना सम्भव न हो [उसका ग्रहण होता है]। उसके कारण जो अवस्थाका बीचमें ही विच्छेद कर दिया जाता है वह भी 'अङ्क' [का नियामक] है यह अभिप्राय है। इतनाही अङ्कका लक्षण है।

[कारिकाके] 'सबिन्दुः' [अर्थात्] बिन्दुसे युक्त। [पूर्व अङ्कमें] विच्छिन्न विस्तृत अर्थका अगले अङ्कमें सम्बन्ध दिखलानेवाला कथाका सूक्ष्म भाग, आगे विस्तार पानेके कारण तैलबिन्दुके समान 'बिन्दु' [कहलाता] है। आगे-पीछे वाले अङ्क परस्पर असम्बद्ध न हो जायँ इसलिए पूर्व अङ्कके अन्तमें 'बिन्दु' की रचना करनी चाहिए।

अगला श्लोक 'तापसवत्सराजचरित' के तृतीय अङ्कके अन्तमें दिया गया है। श्लोकमें मुख्य रूपसे वृक्ष और छायाका वर्णन किया है। परन्तु उसमें नायक-नायिकाके व्यवहारका समारोप कर एक प्रकारका विशेष चमत्कार उत्पन्न कर दिया गया है। प्रातःकालके समय सूर्यमण्डल बिल्कुल क्षितिजका स्पर्श-सा करता हुआ होता है। इसलिए उस समय वृक्षोंकी छायाका परिमाण बहुत लम्बा होता है। अर्थात् छाया बहुत दूर तक फैली होती है। उसके बाद ज्यों-ज्यों सूर्य ऊपर चढ़ता जाता है त्यों-त्यों वृक्षकी छाया छोटी होती जाती है। अन्तको दोपहरके समय वह बिल्कुल वृक्षके नीचे इकट्ठी हो जाती है। और वृक्ष उस सारीकी-सारी छायाको अपने शरीरके भीतर समाविष्ट कर लेता है।

वृक्षच्छायाकी इन स्थितियोंको कविने मानिनी नायिकाके व्यवहारके सदृश दिखलाया है। मानिनी नायिका जैसे आरम्भमें अत्यधिक मान करके पतिसे रूठकर दूर चली जाती है इसी प्रकार वृक्षकी छायामें आरम्भमें अर्थात् प्रातःकालके समय दीर्घ परिमाणको ग्रहण कर दूर तक फैल जाती है। फिर जैसे मानिनी पश्चात्तापसे पीड़ित होकर लाघवको प्राप्त होती है अर्थात् मानको छोड़कर पतिके पास आती है इसी प्रकार ऊपर उठते हुए सूर्यका सन्ताप वृक्षकी छायाको अत्यन्त छोटा बना देता है। और अन्तमें जब नायिका सर्वात्मना नायककी वशवर्तिनी होकर उसकी गोदमें आ जाती है तब नायक उसको जैसे आलिङ्गन-पाशमें बाँध लेता है इसी प्रकार मध्याह्नमें वृक्ष प्रियाके समान अपने ही भीतर सम्पिण्डित छायाको सर्वात्मना अपना लेता है। यह इस श्लोकका भाव है। इस प्रकार इस श्लोकमें कविने वृक्ष और छायाके व्यवहारपर नायक-नायिकाके व्यवहारका आरोप कर जिस व्यवहारको सूचित किया है उसी प्रकारका व्यवहार नाटकके चतुर्थ अङ्कमें नायक-नायिकाका पाया जाता है। इसलिए अगले अङ्कके विषयका संक्षेपमें प्रतिपादक होनेसे इसको 'बिन्दु' के उदाहरण रूपमें यहाँ प्रस्तुत किया गया है। 'बिन्दु' पदका प्रयोग यहाँ 'तैल-बिन्दु' के सादृश्यसे किया जा रहा है। तेलका छोटासा बिन्दु जैसे पानीमें पड़नेपर बड़े आकार में फैलता जाता है इसी प्रकार 'बिन्दु' रूपमें कथित अर्थ अगले अङ्कमें विस्तृत रूपसे फैल जाता है इसीलिए उसको 'बिन्दु' कहते हैं। इसीका उदाहरण आगे देते हैं—

यथा तापसवत्सराजे—

आदौ मानपरिग्रहेण गुरुणा दूरं समारोपितां
पश्चात् तापभरेण तानवकृता नीतां परं लाघवम्।
उत्सङ्गान्तरवर्तिनीमनुगमात् सम्पिण्डिताङ्गीमिमां
सर्वाङ्गप्रणयं प्रियामिव तरुश्छायां समालम्बते॥"

इति तृतीयाङ्कसमाप्तौ उत्तराङ्ककार्यानुसन्धायको बिन्दुः।

यथा वा नलविलासे चतुर्थे स्वयम्बराङ्के नेपथ्ये वन्दी—

विन्यस्याभिनवोदये श्रियमयं राज्ञि प्रतापोज्झितो
द्यूतस्य व्यसनीव धूसरकरः सन्त्रुट्यदाशास्थितिः।
निद्रायद्दललोचनां कमलिनीं सन्त्यज्य मध्येवनं
क्रामत्यम्बरखण्डमात्रविभवो देशान्तरं गोपतिः।इति॥

जैसे तापस वत्सराज चरितमें—

प्रारम्भमें [छाया-पक्षमें प्रातःकाल और नायिका-पक्षमें मानके आदिमें] प्रबल मान [परिमाण और नखरों] को ग्रहण करके दूर तक फैली हुई [छाया पक्षमें दूर तक फैली हुई और नायिका पक्षमें नायकसे दूर भागी हुई], बादको तनुताको प्राप्त कराने वाले सन्ताप [नायिका पक्षमें पश्चात्ताप और छायापक्षमें सूर्यके चढ़ाव] के आधिक्यसे अत्यन्त लघुताको प्राप्त हुई, इसलिए [अनुगमात् अर्थात्] लौटकर अङ्गोंको समेटकर गोदमें समाई प्रियाके समान छायाको वृक्ष सब अङ्गोंसे प्रेम पूर्वक ग्रहण कर रहा है॥

यहाँ तृतीय अङ्ककी समाप्तिमें अगले अङ्कका सम्बन्ध जोड़ने वाला 'बिन्दु' रखा गया] है।

अथवा जैसे नलविलासके स्वयम्बराङ्क नामक चतुर्थ अङ्क [के अन्तमें] में नेपथ्यमें वन्दी [सन्ध्याकालमें सूर्यास्तका वर्णन करता हुआ निम्न श्लोक कह रहा है। इस श्लोकमें श्लेषसे नलकी अवस्थाका भी वर्णन किया गया है]।

[यहाँ 'गोपति' शब्द श्लिष्ट है। उसके दो अर्थ होते हैं एक राजा और दूसरा सूर्य। गो पृथिवीका नाम है। उसका पति अर्थात् राजा नल। और 'सूर्य' पक्षमें 'गवां किरणानां पतिः गोपति सूर्यदेवः' इसी प्रकार प्रथम पादमें आया हुआ 'राज्ञि'] राजा पद भी शिलष्ट है। उसका एक अर्थ नलका विरोधी राजा, और दूसरा अर्थ चन्द्रमा है। अभी जिसका उदय हुआ है इस प्रकारके राजा [अर्थात् नल पक्षमें अपने विरोधी राजाको] यह अर्थ होता है। और सूर्य पक्षमें चन्द्रमाको] अपनी लक्ष्मी [नल पक्षमें धन-सम्पत्ति और सूर्य पक्षमें तेज] देकर स्वयं प्रतापरहित, जुआ खेलनेके व्यसनी [जुआरी] के समान मलिन किरणों [जुआरी पक्षमें करका अर्थ हाथ होगा] वाला बनकर, और [सन्त्रुट्यदाशास्थितिः सूर्यके पक्षमें उसके अस्तोन्मुख हो जानेसे आशा अर्थात्] दिशाओंकी मर्यादाको विलोप करता हुआ [जुआरी पक्षमें जिसकी आशाकी स्थिति बिल्कुल समाप्त हो गई है अर्थात् अपनी जीतसे बिल्कुल निराश हो चुका है इस प्रकारका 'गोपतिः' अर्थात् राजा नल और] सूर्य [दोनों ही 'निद्रायद्दललोचनां' सूर्य पक्षमें] जिसकी पंखुड़ी-रूप आँखें मिची जा रही हैं इस प्रकारकी कमलिनीको [और नल पक्षमें सोती हुई दमयन्तीको। सूर्य पक्षमें मध्येवनं] जलके बीचमें [और नल पक्षमें जंगलमें]

इदं च पदमुपयोगापेक्षम् । तेन सर्वरूपकपर्यन्ताङ्केषु, एकाङ्केषु च रूपकेषु, समवकाराद्यङ्केषु च उपयोगाभावाद् बिन्दोरनिबन्धः ।

छोड़कर केवल आकाशका एकदेश [अर्थात् पश्चिम भाग] ही जिसका विभव रह गया है [नल पक्षमें 'अम्बर-खण्डमात्रविभवः', जिसके पास केवल एक वस्त्र मात्र ही सम्पत्ति शेष है] इस प्रकारका 'गोपतिः' [अर्थात् सूर्य और दूसरे पक्षमें राजा नल] देशान्तरको [अर्थात् सूर्य पक्षमें पाताल लोकको और नल पक्षमें अन्य स्थानको] जा रहा है ।

यह श्लोकका साधारण अर्थ है । इसमें वैतालिक सन्ध्याकालीन सूर्यास्तके दृश्यका वर्णन कर रहा है । पर उसमें अगले अङ्कमें दिखलाई जाने वाली सम्पूर्ण घटनाका बीज-रूपसे बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है । यह चतुर्थ अङ्क स्वयम्बराङ्क है । इसमें नलका दमयन्तीके साथ विवाहका दृश्य दिखलाया गया है । अगले अङ्कमें नलकी द्यूतक्रीड़ा आदिका वर्णन है । नल द्यूतक्रीड़ामें राज-पाट सब कुछ हारकर बनमें चले जाते हैं । दमयन्ती भी उनके साथ जाती है । राजा नल वहाँ भूखसे व्याकुल होकर अपनी स्थितिसे बिल्कुल निराश हो जाते हैं और अन्तमें बनमें जब दमयन्ती सो जाती है तो उसको अकेला छोड़कर कहीं और भाग जाते हैं । इस सब घटनाक्रमको अगले अङ्कमें दिखलाया गया है । किन्तु यहाँ कवि ने वैतालिकके द्वारा किए जाने वाले चतुर्थ अङ्कके इस अन्तिम श्लोकमें उस सारे घटनाक्रमको श्लेष द्वारा बड़े सुन्दर रूपमें व्यक्त कर दिया है ।

नल जुएमें हारकर नवीन सम्पत्ति प्राप्त करने वाले विजयी राजाको अपनी सम्पत्ति अर्पण कर और स्वयं प्रताप-रहित होकर द्यूतव्यसनीके समान मलिन हाथ और सम्पूर्ण आशाओंका परित्याग कर अत्यन्त निराश होकर केवल एक कपड़ेका टुकड़ा ही जिनका वैभव शेष रह गया है इस प्रकारके गोपति अर्थात् पृथिवीपाल बनकर 'निद्रायद्दललोचना' कमलिनीके समान दमयन्तीको वनमें अकेला सोता हुआ छोड़कर किसी अन्य देशको चले जाते हैं यह अर्थ भी श्लेष द्वारा इस श्लोकसे सूचित किया गया है । इस प्रकार संक्षेपमें अगले अङ्ककी कथाका सूचक होनेसे यह अङ्कके अन्तमें पढ़ा हुआ यह श्लोक 'बिन्दु' का सुन्दर उदाहरण बन पड़ा है ।

इस प्रकार 'सबिन्दुः' पदसे, पूर्व अङ्कके अन्तमें अगले अङ्कमें आने वाली कथाका सम्बन्ध सूचित करनेकेलिए 'बिन्दु' की रचना आवश्यक बतलाई गई है । जिस प्रकार पानीमें पड़ा हुआ तेलका बिन्दु फैलकर विस्तीर्ण हो जाता है इसी प्रकार अङ्कान्तमें 'बिन्दु' रूपसे जिस कथा-भागका संकेत किया जाता है वह कथा-भाग अगले अङ्कमें विस्तृत होकर फैल जाता है । इसीलिए अङ्कान्तमें किए जाने वाले इस संक्षिप्त संकेतकेलिए यहाँ 'बिन्दु' शब्दका प्रयोग किया गया है । यह बिन्दु प्रत्येक अङ्कके अन्तमें अवश्य हो यह आवश्यक नहीं है अपितु उपयोगकी अपेक्षासे ही उसकी रचना की जाती है । जहाँ उसका उपयोग नहीं हो सकता है वहाँ उसकी रचना आवश्यक नहीं है । जैसे नाटक आदिके अन्तिम अङ्कोंमें बिन्दुका कोई उपयोग नहीं हो सकता है क्योंकि उसके आगे तो फिर कोई नया अङ्क आना ही नहीं है जिसमें उसका विस्तार हो सके । इसलिए अन्तिम अङ्कमें 'बिन्दु' का सन्निवेश नहीं किया जाता है । इसी प्रकार एकाङ्की नाटकोंमें भी दूसरा कोई अङ्क न होनेसे 'बिन्दु' का कोई उपयोग नहीं होता है । इस बातको आगे लिखते हैं—

'दृश्यार्थः' इति दृश्या, रञ्जकत्वाद् दर्शनीया, अर्था नायकचरितोपभोगा यत्र। चरितासाक्षात्कारे हि प्रेक्षकाणामव्युत्पत्तिः। सम्भोगासाक्षात्कारे च किमनेन महाक्लेशेनेति वैरस्यं स्यात्। शापावसानविवाहादयोऽपि रञ्जकत्वात् साक्षात्कार्याः। यथा उर्वश्याः शापोद्भवस्य लताभावस्य नाशः। दृश्याविनाभाविनौ सूच्यौ-ऊह्यौ अप्यर्थौ क्वचिद् भवतः। एतदङ्कस्य स्वरूपम्।

यह [बिन्दु] पद उपयोगकी दृष्टिसे ही रखा गया है। इसलिए सारे रूपकोंके अन्तिम' अङ्कोंमें, एकाङ्की रूपकोंमें और समवकार आदिके अङ्कोंमें उपयोग न होनेसे 'बिन्दु' की रचना नहीं की जाती है।

अङ्कके लक्षणमें 'सबिन्दुः' के बाद अगला 'दृश्यार्थः' पद है। इसलिए अगले अनुच्छेदमें उसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'दृश्यार्थः' इससे [यह अभिप्राय है कि] दृश्य अर्थात् मनोरञ्जक होनेसे देखने योग्य अर्थ अर्थात् नायकके चरित और उपभोग जिसमें हों [वह 'दृश्यार्थः' हुआ। इसमें चरित और उपभोग दोनोंका साक्षात्कार आवश्यक है। क्योंकि] चरितका साक्षात्कार न होनेपर देखनेवालोंको [रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत् इस प्रकारकी] शिक्षा प्राप्त नहीं हो सकती है। और सुन्दर भोगका साक्षात्कार न होनेपर [नायकके द्वारा उठाए गए] इस महान् क्लेशसे क्या लाभ हुआ ऐसा अनुभव होनेसे [नाटक] नीरस हो जायगा। शापकी निवृत्ति और विवाह आदि भी रञ्जक होनेसे [अंकके भीतर] साक्षात् दिखलाने चाहिए। [अर्थात् उनका दिखलाना निषिद्ध नहीं है]। जैसे [विक्रमोर्वशीमें] उर्वशीके शापवश प्राप्त हुए लताभावकी निवृत्ति [दिखलाई गई] है। दृश्यके अविनाभूत होनेसे 'सूच्य' और 'ऊह्य' अर्थ भी कहीं [अङ्कमें] हो सकते हैं। यह अङ्कका स्वरूप है।

यहाँपर ग्रन्थकारने 'एतदङ्कस्य स्वरूपम्' कहा है। इसके पूर्व ३६ पृष्ठ पर एतावदङ्कलक्षणम्' यह लिख चुके हैं। अर्थात् अङ्कके लक्षणकी व्याख्या करते हुए एक जगह 'एतावदङ्कलक्षणम्' और दूसरी जगह 'एतदङ्कस्वरूपम्' यह लिखा है। इस दो प्रकारके लेखका विशेष प्रयोजन है। लक्षण दो प्रकारके माने गए हैं एक तटस्थ-लक्षण और दूसरा स्वरूप-लक्षण। जो स्वरूपके अन्तर्गत न होकर भी अन्यसे भेद कराने वाला हो उसको 'तटस्थ-लक्षण' कहते हैं। और जो स्वरूपके अन्तर्गत होकर अन्यसे व्यावृत्ति कराता है वह 'स्वरूप-लक्षण' कहलाता है। जैसे 'जन्माद्यस्य यतः' जिससे जगत्का जन्मादि अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है वह ब्रह्म या ईश्वर है। इसमें जगत्का जन्मादि ईश्वर या ब्रह्मके स्वरूपके अन्तर्गत न होनेपर भी व्यावर्तक होनेसे 'तटस्थ-लक्षण' कहलाता है। और 'सच्चिदानन्दं ब्रह्म' आदि ब्रह्मके 'स्वरूप लक्षण' होते हैं। इसी प्रकार यहाँ 'अवस्थायाः समाप्तिर्वा छेदो वा कार्ययोगतः' यह अङ्कका 'लक्षण' अर्थात् 'तटस्थ-लक्षण' है और 'सबिन्दुः दृश्यार्थः' यह अङ्कका 'स्वरूप' अर्थात् स्वरूप-लक्षण है। इस अभिप्रायसे ये दोनों पद लिखे गए हैं।

इस प्रकार 'अङ्क' के लक्षण तथा स्वरूपका प्रतिपादन करनेके बाद अगले चरणमें ग्रन्थकार 'अंक' के काल-परिमाणका निर्देश करते हैं। इसमें एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी [४८ मिनट] से लेकर चार पहर [१२ घण्टा] तक अंकका काल-परिमाण बतलाया है। अर्थात् एक अंकका विस्तार उतना ही होना चाहिए जिसका अभिनय इस समयके भीतर

'चातुर्यामो मुहूर्ततः' इति मुहूर्तादारभ्य यामचतुष्टयं यावत्। सर्वापकर्षेण घटिकाद्वयाभिनेयः। सर्वोत्कर्षेण त्रिंशद्घटिकाभिनेयः। मुहूर्तादप्यपकर्षे प्रयोगापरिपूर्णत्वेन, यामचतुष्टयादप्याधिक्ये आवश्यककर्मविरोधेन च प्रेक्षक-प्रयोक्तॄणां वैरस्यं स्यात्। एतदङ्कस्यापकृष्टमध्यमोत्कृष्टं कालमानमिति।

अमुना वृद्धसम्प्रदायायातेनाङ्कलक्षणेन वक्ष्यमाणनीत्या अङ्कसंख्यापरिमाणमुपपद्यते। ये तु वृद्धसम्प्रदायमवधूय अङ्कमध्येऽप्यवस्थां समापयन्ति तन्मतसंग्रहार्थं उत्तरार्धमेव लक्षणम्। अत्र पुनरङ्कसंख्यानियमकारणमपरमन्वेष्यमिति ॥१६॥

समाप्त हो सके। इसी बातको आगे कहते हैं—

'चतुर्यामो मुहुर्ततः' अर्थात् 'मुहुर्त' से लेकर चार पहर [जिसका अभिनय हो]। अर्थात् कमसे-कम [मुहूर्त भर] दो घड़ी [४८ मिनट] में अभिनय करने योग्य। और अधिकसे-अधिक [चार प्रहर] तीस घड़ी [बारह घण्टे] में अभिनय करने योग्य। मुहूर्तसे भी कम [प्रयोगसमय] होनेपर प्रयोगके अपूर्ण रह जानेसे, और चार पहरसे भी अधिक [अभिनय] होनेपर [सन्ध्या-वन्दन अदि] आवश्यक कार्योंमें विघ्न पड़नेसे देखने वालों और अभिनय करने वालों [दोनों] केलिए ही अरुचिकर हो जावेगा। यह [कालकी दृष्टिसे] अङ्कका कमसे-कम, मध्यम और सबसे अधिक काल-परिमाण कहा है।

यहाँ सबसे अधिक जो चार प्रहर अर्थात् बारह घण्टेका अभिनयका काल-परिमाण लिखा है वह केवल एकाङ्की रूपकोंमें ही लागू हो सकता है। अनेक अंकों वाले नाटक आदि में एक-एक अंकका अभिनय चार प्रहरमें समाप्त हो यह बात तो बिल्कुल असङ्गत है। अतः उसे केवल एकांकी रूपकों तक ही सीमित समझना चाहिए। मध्य काल-परिमाण यद्यपि यहाँ लिखा नहीं गया है किन्तु इनके बीचमें कहीं भी स्वयं समझा जा सकता है। इसलिए मध्यमका भी उल्लेख व्याख्याकारने कर दिया है। न्यूनतम परिमाण एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी या ४८ मिनटका माना गया है।

पूर्वाचार्योंके मतानुसार परम्परासे आए हुए इस अङ्क-लक्षणसे आगे कही जाने वाली अङ्कोंकी संख्याका परिमाण भी बन जाता है। जो लोग प्राचीन आचार्योंके मतकी उपेक्षा करके अङ्कके बीचमें भी अवस्थाकी समाप्ति कर देते हैं उनके मतका संग्रह करनेकेलिए उत्तरार्ध ही लक्षण है। और इस मतमें अङ्कसंख्याके नियमका कोई और कारण खोजना होगा ॥१६॥

नाटकोंकी अङ्क संख्याका विषय

इस कारिकामें अङ्कके लक्षणसे अङ्कोंकी संख्याके निश्चयकी बात कही है। उसका यह अभिप्राय है कि अवस्थाकी समाप्ति एक अङ्कमें हो करनी चाहिए, अथवा कार्यवश उसका विच्छेद जहाँ होता है वह अङ्क कहलाता है। अर्थात् अङ्ककी रचना अवस्थाओंके आधारपर की जाती है। नाटकमें प्रस्तुत कार्यकी १ आरम्भ, २ यत्न, ३ प्राप्त्याशा, ४ नियताप्ति और ५ फलागम ये पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं। उनका वर्णन आगे होगा। इनमेंसे समान्यतः एक-एक अवस्थाकी एक-एक अंकमें पूर्णता होनेपर नाटककी समाप्ति पांच अंकोंमें हो जानी चाहिए। यदि किसी अवस्थाकी पूर्तिमें दो अंक लग जाँय तो नाटकके ६ अंक हो सकते हैं। दो अवस्थाओंमें दो-दो अंक लग जाने पर सात या पाँचों अवस्थाओंमें दो-दो अंक लग जाने

अथाङ्कस्य लक्षणशेषं संख्यापरिमाणमाह—

[सूत्र १७]—आवश्यकाविरोध्यर्थः स्वल्पपात्रः सनिर्गमः ।
पञ्चसंख्योऽपकर्षेण दशसंख्यः प्रकर्षतः ॥२०॥

एकस्मिन्नङ्के तावदवान्तराणि बहूनि कार्याणि न निबन्धनीयानि । यत्रापि निबध्यन्ते तत्राप्यावश्यकस्य सन्ध्यावन्दन-भोजनादेरविरोधेन । सुष्ठु कार्योपयोगीनि अल्पानि संख्यया पात्राणि यत्र । तत्रोत्कर्षे दश, मध्यमगत्या अष्टौ, अपकर्षेण चत्वारि पञ्च वा पात्राणि । आधिक्ये तु पात्रसम्मर्देनैव अभिनयचतुष्टयं प्रेक्षकाणामविभावनीयं स्यात् । प्रभूतपुरुषसाध्यं पर्वतोद्धरणादि न रङ्गे दर्शनीयमित्युक्तं भवति । समवकारादौ तु बहुपात्रत्वेऽपि विशेषोपादानान्न दोषः ।'सनिर्गमः' इति निर्गमो रङ्गप्रविष्टपात्राणां स्वकार्याणि कृत्वा निष्क्रमो जवनिकया तिरोधानम् ।

पर अधिकसे-अधिक दस अंक तक रखे जा सकते हैं । इस प्रकार नाटकोंका कमसे-कम पाँच और अधिकसे-अधिक दस अंकोंके रखनेका विधान किया गया है । वह सब विधान अवस्थाओंको विभाजनका आधार मानकर ही किया गया है । इस बातका प्रतिपादन अगली कारिकामें करते हैं—

अब अङ्कके लक्षणके शेष भाग और संख्या-परिमाणको कहते हैं—

[सूत्र १७]—आवश्यक [सन्ध्या-वन्दन-भोजन आदि कार्यों] में बाधा न डालनेवाला जिसका [अभिनेय] अर्थ है [इस प्रकारका], सुन्दर और परिमिति-संख्या वाले पात्रोंसे युक्त, तथा [अन्तमें सारे पात्रोंके] बाहर चले जाने [को दिखलाने] वाला कमसे-कम पांच संख्या और अधिकसे-अधिक दस संख्या युक्त अङ्क होता है । [यह १६-२० दो कारिकाओंको मिला कर अङ्कका लक्षण बनता है] । २० ।

एक अङ्कमें बीचके बहुतसे कार्योंका समावेश नहीं करना चाहिए । जहाँ कहीं करना ही पड़े वहाँ भी आवश्यक सन्ध्या-वन्दन भोजनादि कार्योंमें बाधा न आने देना चाहिए । सुष्ठु, सुन्दर अर्थात् कार्यमें उपयोगी और संख्याकी दृष्टिसे 'अल्प'-कम-पात्र, जिसमें हो [वह 'स्वल्पात्रः' हुआ] । इसमें [अर्थात् प्रत्येक अङ्कमें]अधिकसे-अधिक दस, मध्यम रूपमें आठ और और कमसे-कम चार या पाँच पात्र होने चाहिए । अधिक [संख्या] होनेपर तो पात्रोंकी भीड़-भाड़के कारण ही चारों प्रकारके अभिनय देखनेवालोंको ठीक तरहसे नहीं दीख सकेंगे । इसका यह आशय भी हुआ कि बहुत अधिक पुरुषोंके द्वारा साध्य पर्वतका उठाना आदि कार्य रङ्गभूमिमें नहीं दिखलाने चाहिए । समवकार आदिमें तो अधिक पात्र होनेपर भी विशेष [अभिनयों] का ग्रहण हो सकने [में बाधा न होने] से दोष नहीं होता है । [अर्थात् समवकार आदिमें दससे अधिक पात्र भी अङ्कमें रखे जा सकते हैं] । 'सनिर्गम', अर्थात् रङ्गमें आए हुए पात्रोंका अपने कार्योंको करके बाहर चला जाना अर्थात् जवनिकाके पीछे चला जाना [जिसमें हो वह अङ्क कहलाता है] ।

समवकारादिमें दशसे अधिक पात्र होनेपर भी 'विशेषोपादान्न दोषः' अभिनयके विशेष रूपोंका ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं होता है यह बात जो यहाँ कही है उसका कारण यह है कि समवकारमें देवताओं अथवा दैत्यादिका अभिनय दिखलाया जाता है इसलिए उसका

'पञ्चसंख्यः' इति अत्यन्तस्तोकतायां पञ्चाङ्काः। सर्वोत्कर्षेण दश। मध्यमवृत्त्या षट, सप्त, अष्टौ, नव [1]इत्यङ्कसंख्याया भेदाः। यदा एकैकस्यामवस्थायां एकैकोङ्कस्तदा पञ्चाङ्काः। यदा तु कार्यवशेन काप्यवस्था उपक्रमोपसंहाराभ्यां छिद्यते तदा षट्। एक उपक्रमाङ्कः, एक उपसंहाराङ्कः। अपरावस्थाचतुष्टयस्य तु चत्वारः। एवं कृत्वा अष्टौ नव च। सर्वावस्थाभेदे तु दशेति।

यदापि कार्यबहुत्वात् काप्यवस्था त्र्यङ्का तदाप्युत्कर्षतो दशैव। एकस्याः कस्याश्चिदेकाङ्ककरणात्। एकस्यां चावस्थायामङ्कत्रयं दृश्यते। यथा वेणीसंहारे गर्भसन्धौ प्राप्त्याशावस्थालंकृते तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमा अङ्काः। न्यूनत्वे त्वङ्कानामेकाङ्कतापि स्यात्। तथा च पञ्च सन्धयो नोपसंह्रियेरन्। आधिक्ये पुनरनियतसंख्यत्वं स्यादिति मध्यमा वृत्तिराश्रीयते। नाटिका-प्रकरण्योस्तु चतुरङ्कत्वम्। कस्याश्चिदवस्थाया अवस्थान्तरे मिश्रणादिति ॥२८॥

मण्डप भी सामान्य नाट्य-मण्डपसे बहुत बड़ा बनता है। इसलिए उसमें अभिनय अव्यक्त नहीं होता है। मानव-चरितका अभिनय प्रदर्शित करनेकेलिए जो मध्यम मण्डप बनता है उसमें अधिक पात्रोंके आ जानेपर अभिनय अव्यक्त हो जाता है। इसलिए नाटकादिमें दस पात्रोंसे अधिक पात्रोंके एक साथ रङ्गभूमिमें आनेका निषेध है।

'पञ्चाङ्क' 'पाँच अङ्क वाला' इससे कमसे कम पाँच अङ्क हों [यह अभिप्राय है]। सबसे अधिक दस [अङ्क हो सकते हैं]। मध्यम दशामें छः, सात, आठ या नौ तक अङ्कोंकी संख्याके भेद हो सकते हैं। जब [पूर्वोक्त पांच अवस्थाओंमेंसे] एक-एक अवस्थाके लिए एक-एक अङ्क हो तब पाँच अङ्क हुए। जब कार्यवश किसी अवस्थाका उपक्रम और उपसंहार [अलग-अलग दो अङ्कोंमें] बँट जाता है तब छः अङ्क हो जाते हैं। एक उपक्रमाङ्क। दूसरा उपसंहाराङ्क। और शेष चारों अवस्थाओंके चार अङ्क [मिलकर छः अङ्क हो जाते हैं]। पाँचों [सभी] अवस्थाओंके [उपक्रम उपसंहार रूपमें अलग-अलग अङ्कोंमें] बँट जानेपर तो [मिलाकर] दस अङ्क हो सकते हैं।

और अब कार्यके आधिक्यके कारण किसी अवस्थामें तीन अङ्क हो जायँ तो भी [सब मिलाकर] अधिक-से-अधिक दस ही अङ्क होने चाहिए। [इसके लिए] किसी [अन्य] अवस्था में एक ही अङ्क करके [कुल संख्या दससे अधिक नहीं होनी चाहिए]। दस ही होने चाहिए। एक अवस्थामें तीन अङ्क भी पाए जाते हैं। जैसे 'वेणीसंहार' में प्राप्त्याशा [रूप तीसरी अवस्था] से युक्त 'गर्भसंधि' [नामक तृतीय संधि-भेद] में [नाटकके] तृतीय चतुर्थ और पञ्चम [तीन] अङ्क [लग गए हैं]। कम होनेपर तो एक अङ्क भी हो सकता है। किन्तु उससे पाँचों संधियोंका प्रदर्शन नहीं हो सकेगा। और [दससे भी] अधिक होनेपर संख्याकी कोई अवधि नहीं रहेगी इसलिए मध्यम मार्गका अवलम्बन करना उचित है। नाटिका और प्रकरणीमें तो चार अङ्क होने चाहिए। किसी अवस्थामें दूसरी व्यवस्थाका मिश्रण कर देनेसे [पाँचके स्थानपर चार अङ्क हो जावेंगे ॥२०॥

---

१. इत्यपङ्कसंख्या पञ्चभेदाः।

अथाङ्कानिबन्धनीयमाह—

[सूत्र १८]—अभिघातः प्रधानस्य नेतुर्ग्रथ्यो न कुत्रचित् ।
बन्धः पलायनं सन्धिर्योज्यो वा फललिप्सया ॥२१॥

अभिघातः शोणितहेतुः प्रहारः । प्रधानस्य मुख्यस्य । तेन पताका प्रकरी-नायकादीनां ग्रथ्यत एव । कुत्रचिदिति विष्कम्भकादावपि । सामान्योक्तावप्यभि-घातः परपरकृतः । तेन यदस्माभिः सत्यहरिश्चन्द्रे हरिश्चन्द्रेण देवतोपहारार्थं स्वयं स्वमांसोत्कर्तनं निबद्धं न तद् दोषाय ।

अङ्कोंमें अदर्शनीय तत्त्व—

पिछली दो कारिकाओंमें अङ्कका लक्षण करनेके बाद अब अगली कारिकामें ग्रन्थकार यह दिखलाना चाहते हैं कि अङ्कोंमें किन-किन बातोंको नहीं दिखलाना चाहिए । जिन बातों का अङ्कोंमें दिखलानेका निषेध है उनमें प्रधान नायकका 'अभिघात' सबसे मुख्य है । अभिघात शब्दका अर्थ 'रक्त-प्रवाहित कर देनेवाला प्रहार' किया गया है । प्रधान-नायकका अभिघात तो न केवल अङ्कोंमें अपितु विष्कम्भक आदिमें भी कहीं किसी प्रकार नहीं दिखलाना चाहिए । उसका बन्धन पलायान आदि भी सामान्य रूपसे नहीं दिखलाना चाहिए । किन्तु विशेष स्थिति में यदि बन्ध आदिके द्वारा विशेष फलकी सिद्धि हो तब उनको प्रदर्शित किया जा सकता है । इसी बातको इस कारिकामें निम्न प्रकार लिखा है—

अब अङ्कों में न रखने योग्य [अर्थों] को कहते हैं—

[सूत्र १८]—प्रधान नायकका अभिघात [शोणित-जनक प्रहार] कहीं भी [अर्थात् अङ्कमें तो नहीं ही दिखलाना चाहिए किन्तु उसके अतिरिक्त विष्कम्भक आदिमें भी] नहीं दिखलाना चाहिए । [प्रधान नायकका] बन्धन पलायन अथवा सन्धि [भी सामान्य रूप से नहीं दिखलाना चाहिए किन्तु] विशेष फलकी प्राप्तिकी इच्छासे प्रदर्शित किया जा सकता है । २१ ।

'अभिघात' अर्थात् रक्तको प्रवाहित करनेवाला प्रहार । प्रधान अथवा मुख्य [नायक] का [नहीं दिखलाना चाहिए] इस [कथन] से पताका-नायक और प्रकरी-नायक आदि [अमुख्य नायकों] का [अभिघात भी] ग्रथित किया ही जाता है [यह अभिप्राय है] । 'कुत्रचित्' इससे विष्कम्भक आदिमें भी [नहीं दिखलाना या वर्णित करना चाहिए यह अभि-प्राय है । अभिघात स्वकृत और परकृत दोनों प्रकारका हो सकता है । विशेष निर्देशके बिना] सामान्य रूपसे कथित होनेपर भी यहाँ परकृत [का ही ग्रहण करना चाहिए] । इसलिए हमने 'सत्यहरिश्चन्द्र' [नाटक] में देवताको उपहार रूपमें चढ़ानेकेलिए हरिश्चन्द्रके ही द्वारा स्वयं अपने मांसके काटनेका जो वर्णन किया है वह [परकृत अभिघात न होनेके कारण] दोषाधायक नहीं है ।

इसमें प्रधान-नायकके अभिघातका निषेध करते हुए वृत्तिग्रन्थमें पताका-नायक तथा प्रकरी नायकके अभिघातकी अनुमति दे दी गई है । इन पताका और प्रकरी-नायकोंके लक्षण आगे किए जावेंगे । किन्तु इस प्रकरणके अर्थको समझनेके लिए संक्षेपमें उनका ज्ञान आवश्यक है । 'व्यापि प्रासङ्गिककं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते' यह 'पताका' का लक्षण, और 'प्रासङ्गिक

परेणापि विपक्षेण कृतो निषिध्यते। तेन नागानन्दे गरुड़कृताभिघातस्य जीमूतवाहनस्य साक्षात्करणं परोपकाराय सत्त्वाधिक्येन विशेषतो रसपुष्टिमावहति। योऽपि चास्माभी रघुविलासे शक्तिसक्तवक्षसो लक्ष्मणस्य प्रवेशः कृतः, सोऽपि न दोषाय। सीताऽऽनयनलक्षणफलसम्बन्धेन रामस्य मुख्यत्वात्। 'बन्ध' इति परैर्ग्रहणम्। यथा वासवदत्तानृत्तवारे वत्सराजस्य। पलायनमपसरणम्। यदाहुः—'अशक्ये सर्वमुत्सृज्यापगच्छेत्'। दृष्टा हि जीवतः पुनरावृत्तिर्यथा सुयात्रोदयनयोः। इति। 'सन्धिः' सन्धानम्। तदुक्तम्—

> "प्रवृत्तचक्रेणाक्रान्तो राज्ञा बलवताऽबलः।
> सन्धिनोपनमेत् तूर्णं कोश-दण्डात्मभूमिभिः।" इति

फललिप्सयेति—बन्धनादीनि तावन्न योज्यानि। यदि च योज्यन्ते तदा पर्यन्ते विशिष्टं फलमवेक्ष्य, न पुनरेवमेवेति ॥२१॥

प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता' यह 'प्रकरी'का लक्षण है। अर्थात् प्रासङ्गिक किन्तु व्यापक चरित का नाम 'पताका' है जैसे राम-प्रबन्धोंमें सुग्रीवका चरित्र रामके बाद व्यापक चरित है। अतः उसका नायक सुग्रीव 'पताका-नायक' माना जाता है। इसके विपरीत एकदेशस्थ प्रासङ्गिक वृत्तको 'प्रकरी' कहा जाता है जैसे जटायुका वृत्तान्त रामायणमें 'प्रकरी' चरित है। उसका नायक जटायु 'प्रकरी-नायक' है। उसका अभिघात और बध तक भी दिखलाया जा सकता है और दिखलाया भी गया है।

[परकृत अभिघातमें भी] 'पर' शब्दसे शत्रुके द्वारा किया गया [अभिघात] ही निषिद्ध है। इस लिए नागानन्दमें गरुड़के द्वारा अभिघात किए हुए [रक्त प्रवाहित होते हुए] जीमूतवाहनके साक्षात्कारसे परोपकारके प्रबल उत्साहके कारण रसकी विशेष रूपसे पुष्टि होती है। [इस लिए वह दोषाधायक नहीं है]। और हमने भी रघुविलासमें जो छातीमें शक्ति लगे हुए लक्ष्मणका [रङ्गमञ्चपर] प्रवेश कराया है वह दोषाधायक नहीं है। क्योंकि सीताके वापस लाने रूप फल सम्बन्धके कारण राम मुख्य [नायक] है। [लक्ष्मण मुख्य-नायक नहीं है। अतः उनका अभिघात प्रदर्शित करना दोषाधायक नहीं है। कारिकामें आए हुए] 'बन्ध' [पदका अर्थ] दूसरों के द्वारा पकड़ा जाना है। जैसे वासवदत्ताकी नृत्यशालामें वत्सराजका [बन्धन दिखलाया गया है वह विशेष फलकी सिद्धिका जनक होनेसे दोषाधायक नहीं है]। पलायनका अर्थ [युद्धादिसे] हट जाना है। जैसाकि [उसके औचित्यको दिखलानेकेलिए] कहा गया है 'असमर्थ हो जानेपर सब कुछ छोड़कर चला जावे'। क्योंकि जीवित रहते फिर वापिस आना देखा जाता है। जैसे सुयात्र और उदयनका। [इस लिए जीवन-रक्षाके लिए अनिवार्य होनेपर पलायन भी उचित है]। 'सन्धि' अर्थात् मेल कर लेना। जैसाकि [उसका औचित्य दिखलाते हुए] कहा है—

[जिसका चक्र चल रहा है उस] प्रभावशाली बलवान् राजाके साथ दुर्बल राजा कोश दण्ड और अपनी भूमि आदिके द्वारा सधि कर ले।

'फललिप्सया' इसका यह अभिप्राय है कि [सामान्यतः] बन्ध आदिकी योजना नहीं करनी चाहिए किन्तु यदि योजनाकी ही जाय तो अन्तमें किसी विशेष फलको देखकर ही की जाय, ऐसे ही नहीं ॥२१॥

अथ विष्कम्भादीनां लक्षणकथनार्थं अङ्कावर्णनीयं विष्कम्भकादिभिर्वर्णनीयमित्याह—

[सूत्र १६]—दूराध्वयानं पुरोधो राज्य-देशादिविप्लवः ।
रतं मृत्युः समीकादि वर्ण्यं विष्कम्भकादिभिः ॥२२॥

दूराध्वयानमिति । मुहूर्तत्रिक-चतुष्कसाध्यं देशान्तरगमनं शक्यत्वादङ्केऽपि दर्श्यते । यत् पुनरधिककालसाध्यं तदशक्यत्वात् विष्कम्भकादिभिरेव वर्ण्यम् । विश्रान्तिस्थान-शयन-पान-भोजनादीनां बहूनामरञ्जकक्रियाणां प्रसङ्गात् । समवकारादौ तु दूराध्वयानदर्शनेऽपि न दोषः । दिव्यस्य गगनक्रमणसामर्थ्यात् ।

विष्कम्भकादि-प्रयोग—

नाटकादिमें 'दृश्य', 'सूच्य' तथा 'ऊह्य' तीन प्रकारके अर्थ होते हैं इस बातका उल्लेख वृत्तिकार ११ कारिकाके वृत्तिभागमें कर चुके हैं। इनमेंसे जिन अर्थोंको नाटकमें साक्षात् अभिनय द्वारा दिखलाया जाता है वे 'दृश्य' अर्थ कहलाते हैं। नाटकादिका अधिकांश भाग 'दृश्य' ही होता है। उसका नाम ही 'दृश्य-काव्य' है। किन्तु कुछ भाग ऐसा भी होता है जिसको अभिनय द्वारा दिखलाना न सम्भव हो सकता है और न कविको अभीष्ट हो सकता है। ऐसे अर्थोंको कवि अन्य रूपोंमे कहलवाकर सूचितमात्र करता है। उनको 'सूच्य' अर्थ कहते हैं। इन 'सूच्य' अर्थोंमे प्रायः दो प्रकारके अर्थ आते हैं, एक नीरस और दूसरे अति विस्तीर्ण एवं अनुपयोगी। रामादिके जीवनके मुख्यभागोंको ही अभिनय द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। छोटी-छोटी बातोंको अभिनय द्वारा दिखलानेसे नाटकका बहुत विस्तार हो जायगा इसलिए उन अर्थोंको पात्रोंके वार्तालाप द्वारा सूचित कराया जाता है। इसी प्रकार नीरस अर्थ-की भी सूचनामात्र दी जाती है। उन अर्थोंको 'सूच्य' अर्थ कहते हैं। और उनके लिए नाटकमें अङ्कोंसे भिन्न विशेष भागोंकी रचना की जाती है। उन भागोंका सामान्य नाम 'अर्थोपक्षेपक' है। ये 'अर्थोपक्षेपक' पाँच प्रकारके माने गए हैं। जिनको क्रमशः १. विष्कम्भक, २. प्रवेशक, ३. चूलिका, २. अङ्कास्य, और ५. अंकावतार कहते हैं। इन्हींके लक्षण करनेकेलिए ग्रन्थकार इन विष्कम्भक आदिके द्वारा सूचनीय अर्थोंकी चर्चा इस कारिकामे निम्न प्रकार करते हैं—

अब विष्कम्भक आदि [पाँच प्रकारके अर्थोपक्षेपकों] के लक्षण करनेकेलिए अङ्कोंमें अवर्णनीय [सूच्य-भाग] को विष्कम्भकादिके द्वारा वर्णन [अर्थात् सूचन] करना चाहिए इस बातको कहते हैं—

[सूत्र १६]—दूर देशको गमन, नगरावरोध, राज्य तथा देशादिका विप्लव, सम्भोग, मृत्यु, अङ्गच्छेद आदि [अङ्कोंमें न दिखलाने योग्य अर्थों] को 'विष्कम्भक' आदिके द्वारा वर्णन करना चाहिए। २२।

'दूर मार्गका गमन' इसका यह अभिप्राय है कि तीन-चार मुहूर्तमें जिसकी समाप्ति हो सके इस प्रकारका देशान्तर-गमन तो सम्भव होनेसे अङ्कमें भी दिखलाया जा सकता है। किन्तु जो अधिक कालमें समाप्त हो वह [अङ्कोंमें दिखलानेके] अशक्य होनेसे विष्कम्भक आदि के द्वारा ही वर्णित किया जाना चाहिए। क्योंकि उसमें ठहरनेका पड़ाव, शयन, पान, भोजन आदि बहुत-सी अरञ्जक क्रियाओंका समावेश होगा। समवकार आदिमें तो दूर मार्गकी यात्राके दिखलानेमें भी दोष नहीं है क्योंकि देवताओंमें आकाश-गमनकी सामर्थ्य होती है।

नगररोधोऽप्येवमेव, सेनायाः पर्णकुटी-यन्त्र-सुरङ्गादिदानव्यापाराणां च बाहुल्यात् । राज्य-देशादिभ्रंशोऽपि पतन-मरणादिसम्भवात् तथैव । रतमिति आलिङ्गन चुम्बनादि व्रीडादायित्वादेवमेव । तेन तदनुकूलानि रहःप्रवेश-वक्रोक्त्या-दीन्यङ्केऽपि दर्श्यन्ते । मृत्युः प्राणनिर्गम एव । समीकं हस्त-पादादिच्छेद एव । तेन नागानन्दे जीमूतवाहनस्य क्षणभाविनां इन्द्रियवैकल्यादीनां, रघुविलासे च रावणस्य विभीषणं प्रति साटोपं चन्द्रहासग्रहणस्याङ्केऽप्यविरोधः । आदिशब्दादपरमपि प्रभूतकाल-क्लेशसाध्यं व्रीडातङ्कदायि च गृह्यते । आदिशब्देन प्रवेशक-अङ्कास्य-चूलिकाङ्कावताराणां ग्रहणमिति ॥२२॥

नाटकमें 'दूराध्वयान' अर्थात् अधिक लम्बी यात्राको अङ्कों द्वारा दिखलानेका निषेध किया गया है । इसका कारण यह है कि अधिक लम्बी यात्रामें रास्तेमें ठहरनेकेलिए पड़ावों, उनमें होने वाले भोजन, पान शयन सभी व्यापारोंको दिखलाना आवश्यक होगा । वह सब एक तो अत्यन्त नीरस हो जायगा और दूसरे लम्बा भी अधिक हो जायगा । इसलिए नाटकमें उसको प्रत्यक्ष दिखलानेका निषेध कर अर्थोपक्षेपकोंके द्वारा सूचित मात्र करनेका विधान किया गया है । किन्तु 'समवकार' आदि रूपकभेदोंमें दूराध्वयानका अङ्कोंमें दिखलानेका भी निषेध नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि 'समवकार'में देवादिके चरित्रका प्रदर्शन किया जाता है । उन देवताओंमें आकाश-गमनकी सामर्थ्य होती है अतः उसमें बीचके पड़ाव, आदि सम्बन्धी व्यापारोंके दिखलानेकी आवश्यकता न रहनेसे न नीरसता आती है और न दीर्घता ।

नगरावरोध भी इसी प्रकार [नीरस व्यापारोंसे पूर्ण होनेके कारण दिखलाया नहीं जा सकता] है । [क्योंकि उसमें] सेनाके [ठहरनेकेलिए] पर्णकुटी [डेरा या झोंपड़ी] यन्त्र सुरंग लगाने आदि व्यापारोंको बाहुल्य होता है । राज्य-देशादिका विप्लवभी पतन-मरण आदि [अनेक प्रकारके नीरस और अशोभनीय व्यापारों] की सम्भावनासे पूर्ण होनेके कारण उसी प्रकारका [अर्थात् नाटकमें न दिखलाकर केवल सूचित करने योग्य] है । सम्भोग भी आलिङ्गन-चुम्बन आदि लज्जाजनक [व्यापारसे परिपूर्ण] होनेके कारण उसी प्रकारका [अर्थात् रङ्गमञ्चपर न दिखलाने योग्य] है । इसलिए उस [सुरत-सम्भोग] केलिए अनुकूल एकान्त-स्थानमें प्रवेश और वक्रोक्ति आदि तो अङ्कोंमें भी दिखलाए जाते हैं [किन्तु उसके आगे जहाँसे आलिङ्गन-चुम्बनादि प्रारम्भ होता है उस भागको व्रीडादायक होनेसे अङ्कोंमें रङ्गमञ्चपर दिखलाना निषिद्ध माना गया है] । मृत्युसे प्राण निकल जानेका ही ग्रहण होता है । 'समीकं' का अर्थ हाथ-पैर आदिका काटना ही है । इसलिए नागानन्दमें जीमूतवाहनका कुछ समय होने वाला इन्द्रिय-वैकल्य आदि, और रघुविलासमें रावणका विभीषणके प्रति क्रोध करके तलवारका ग्रहण [मृत्यु अर्थात् प्राणविमोचन अथवा समीक अर्थात् हाथ-पैरके छेदन तक न पहुँचनेसे, दिखलाया जानेपर] भी दोषाधायक नहीं है । ['समीकादि' में प्रयुक्त] 'आदि' शब्दसे प्रभूत काल और प्रभूत क्लेशसे साध्य तथा व्रीडादायक आदि अन्य अर्थोंका भी ग्रहण होता है । [और विष्कम्भकादिभिः में प्रयुक्त] 'आदि' शब्दसे प्रवेशक, अङ्कास्य, चूलिका और अङ्कावतार [रूप शेष चारों अर्थोपक्षेपकों] का भी ग्रहण होता है । [अर्थात् सूच्य अर्थ को इन पाँच प्रकारके अर्थोपक्षेपकोंके द्वारा ही सूचित करना चाहिए । साक्षात् रूपसे नहीं दिखलाना चाहिए] ॥२२॥

अथ प्रथमं विष्कम्भकं शुद्धाशुद्धभेदं लक्षयति—

[सूत्र २०]—अङ्कानर्हस्य वृत्तस्य त्रिकालस्यानुरञ्जिना ।
संक्षिप्य संस्कृतेनोक्तिरङ्कादौ मध्यमैर्जनैः ॥२३॥
शुद्धो विष्कम्भकस्तत्र सङ्कीर्णो नीच-मध्यमैः ।
अङ्कसन्धायकः शक्यसन्धानातीतकालवान् ॥२४॥

विष्कम्भकलक्षण—

पिछली कारिकामें ग्रन्थकारने नाटकके अङ्कोंमें जिन बातोंका साक्षात् रूपसे दिखलाना वर्जित है उनका उल्लेख किया था। इनमेंसे दूराध्वयान आदि कुछ कार्य प्रभूतकाल-साध्य या प्रभूत श्रमसाध्य होनेसे, कुछ कार्य व्रीडादायी होनेसे, और कुछ कार्य आतङ्कदायी होनेके कारण अङ्कानर्ह अङ्कोंमें साक्षात् रूपसे दिखलानेके अयोग्य माने गए हैं। परन्तु कथाभागकी सङ्गति बनाए रखनेके लिए इन भागोंकी भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इसलिए प्रेक्षकोंको इन कथाभागोंसे परिचित करानेकेलिए 'विष्कम्भक' आदि पाँच प्रकारके 'अर्थोपक्षेपकों' की रचनाकी व्यवस्था नाट्यशास्त्रमें की गई है। इन 'अर्थोपक्षेपकों में सबसे मुख्य 'विष्कम्भक' है। इसलिए अगली दो कारिकाओंमें ग्रन्थकारने 'विष्कम्भक' का लक्षण निम्न प्रकार किया है।

अब [पांचों 'अर्थोपक्षेपकों' में] सबसे पहले शुद्ध और अशुद्ध भेद वाले [दो प्रकारके] 'विष्कम्भक' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र २०]—[अब] उन [पांचों प्रकारके 'अर्थोपक्षेपकों'] मेंसे [भूत भविष्यत् और वर्तमान] तीनों कालोंके [अङ्कानर्ह] अङ्कोंमें न दिखलाने योग्य वृत्त [कथाभाग] को अङ्कके प्रारम्भमें संक्षिप्त करके मध्यम पात्रोंके द्वारा संस्कृतमें कहलानेको 'शुद्ध विष्कम्भक' [कहते हैं] और नीच तथा मध्यम पात्रोंके द्वारा [संस्कृत तथा प्राकृत भाषामें कहलानेका यत्न] सङ्कीर्ण [विष्कम्भक कहलाता] है। [शुद्ध और सङ्कीर्ण दोनों प्रकारका विष्कम्भक] अङ्क [के प्रतिपाद्य विषयकी सङ्गति] को जोड़ने वाला [अथवा दो अङ्कोंके बीचके कथाभागकी सङ्गतिको जोड़ने वाला 'अङ्कसन्धायकः' होता है] और जितने कालकी स्मृति सम्भव हो उतने अतीतकाल [की स्मृति कराने] वाला [शक्यसन्धानातीतकालवान्] होता है।२३-२४।

ग्रन्थकारने यह 'विष्कम्भक' का लक्षण किया है। लक्षणकी रचनाशैली कुछ अस्पष्ट-सी प्रतीत होती है। इसलिए उसको ठीक तरहसे समझनेकेलिए विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है। इस लक्षणमें निम्न बातें समाविष्ट की गई हैं—

१. विष्कम्भकमें अङ्कानर्ह अर्थात् जिसका नाटकके अङ्कोंमें दिखलाना उचित नहीं है उन्हीं बातोंका समावेश किया जाता है।
२. उस अङ्कानर्ह भागको मध्यमपात्रोंके द्वारा अथवा नीच और मध्यम दोनों प्रकार के पात्रों द्वारा कहलाया जाता है। केवल मध्यम पात्रोंके द्वारा कहलाया जाने पर 'शुद्ध विष्कम्भक' तथा नीच-मध्यम द्विविध पात्रों द्वारा कहलाए जानेपर 'संकीर्ण विष्कम्भक' होता है।
३. विष्कम्भकमें अर्थकी सूचना देने वाले पात्रोंकी भाषाका भी उल्लेख किया है

अरञ्जकं च, रञ्जकमपि एकदिनाशक्याभिनयं च, प्रेक्षकैःसाक्षादनुपलभ्यमानं 'अङ्कानर्हम्'। 'त्रिकालस्य' वृत्त-वत्स्र्यद्-वर्तमानकालस्य। अनुरञ्जिनेति असमस्तेन अदीर्घसमासेन च प्रसन्नेन। 'संक्षिप्य' विततमपि उत्तराङ्कसन्धानोपयोग्येव कृत्वा। संस्कृतेनेति शुद्धविष्कम्भकापेक्षम्। सङ्कीर्णे तु संस्कृतेनासंस्कृतेनापि च, नीचपात्रस्यापि तत्र भावात्।

अङ्कादाविति प्रथमेऽङ्के आमुखादूर्ध्वम्, अन्येषु पुनरारम्भे इति तावत् सर्वे समामनन्ति। कोहलः पुनरेतं प्रथमाङ्कादावेवेच्छति।

किन्तु उसमें केवल शुद्धविष्कम्भकके पात्रोंकी भाषा संस्कृत होती है। सङ्कीर्ण विष्कम्भकमें जो मध्यम पात्र हों वे ही संस्कृत बोलते हैं और नीच पात्र प्राकृत भाषाका ही अवलम्बन करते हैं। टीकामें तो इस भेदका उल्लेख किया गया है किन्तु मूलमें उसको उल्लेख न होनेसे अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है।

४. 'अङ्कसन्धायक:' तथा 'शक्यसन्धानातीतकालवान्' ये दो पद जो लक्षणमें रखे गए हैं वे अधिक अस्पष्ट हैं। 'अङ्कसन्धायक:' का अभिप्राय यह है कि विष्कम्भक दो अङ्कोंके बीचके कथाभागको जोड़कर कथासूत्रको अविच्छिन्न बनाता है। और 'शक्यासन्धानातीतकालवान्' का अभिप्राय यह है कि अतीतकालकी जिन घटनाओंका उल्लेख उसमें किया जाता है वे घटनाएँ बहुत अधिक पुरानी नहीं होनी चाहिए। केवल उतनी पुरानी हों जिनका स्मरण सामान्य रूपसे मनुष्यको रह सकता है।

५. पांचवीं बात यह है कि विष्कम्भककी रचना अङ्कके आरम्भमें ही की जाती है। अन्तमें या बीचमें नहीं। 'अङ्कादौ' का यह भी अभिप्राय है कि यह विष्कम्भक प्रथम अङ्कमें भी रखा जा सकता है। किन्तु वहाँ यह आमुखके बाद ही आ सकता है उसके पहले नहीं। अन्य अङ्कोंमें अंकके आरम्भमें होता ही है।

इन्हीं सब बातोंको लेकर व्याख्याकार इन श्लोकोंकी व्याख्या निम्न प्रकार करते हैं—

[अरञ्जक अर्थात्] नीरस, अथवा सरस होनेपर भी [अत्यन्त विस्तीर्ण होनेके कारण] जिसका अभिनय एक दिनमें करना सम्भव न हो [इसीलिए] प्रेक्षकोंको साक्षात् [अभिनय द्वारा] न दिखलाया जाने वाला [कथाभाग] अङ्कनार्ह [अंकमें न दिखलाने योग्य] है। तीनों कालका अर्थात् भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकालका। 'अनुरंजिना' [संस्कृतेन] इससे सर्वथा समास-रहित अथवा छोटे-छोटे समासों वाले सरल [प्रसन्न] संस्कृतके द्वारा। 'संक्षिप्य' अर्थात् विस्तीर्ण [कथाभाग] को भी अगले अंकका सम्बन्ध जोड़ने मात्र [संक्षिप्त] बना कर [कहलाना]। 'संस्कृतेन' [संस्कृत भाषाके द्वारा कहलाना]। यह केवल शुद्ध-विष्कम्भककी दृष्टिसे कहा गया है। सङ्कीर्ण [विष्कम्भक] में तो संस्कृत और [असंस्कृत अर्थात्] प्राकृतसे भी [अर्थात् दोनों भाषाओंके द्वारा वृत्त कहलाया जाता है] क्योंकि उसमें नीच पात्र भी होते हैं [वे संस्कृत नहीं बोल सकते हैं। अतः वे प्राकृत भाषामें भाषण करते हैं और जो मध्यम पात्र होते हैं वे संस्कृतभाषामें। इस प्रकार सङ्कीर्ण विष्कम्भकमें संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओंका उपयोग होता है]।

'अङ्कादौ' अङ्कके आरम्भमें इससे [यह अभिप्राय है कि] प्रथम अङ्कमें [आमुख अर्थात्] प्रस्तावनाके बाद, और शेष अङ्कोंमें अङ्कके आरम्भमें ही [विष्कम्भककी रचना होना चाहिए]

मध्यमैरिति अमात्य-सेनापति-वणिग्-विप्रादिभिः । न पुनर्देवी-कुमार-नायक-प्रतिनायकादिभिः । मध्यमत्वं चैषा राजापेक्षया । राजपरिजनापेक्षया तु तेऽपि प्रधानम् । जनैरिति पुम्भिः, स्त्रीभिः, स्त्री-पुंसैश्च, सामान्यवाचित्वात् । बहुवचनमतन्त्रम् । तेनैकेनापि स्वगतेनाकाशोक्त्या च निबध्यते । जनैरिति सामान्य-निर्देशादेव च शुद्धविष्कम्भे स्त्रिया अपि संस्कृतेनैव पाठः । शुद्धो नीचाप्रवेशात् । विष्कभ्नाति अनुसन्धानेन वृत्तमुपष्टम्भयति इति विष्कम्भकः ।

तत्रेति विष्कम्भादिषु पञ्चसु मध्यात् द्विभेदत्वेन विष्कम्भको निर्धार्यते । अथ सङ्कीर्णो नीचस्यापि प्रवेशात् । नीचा दास-चेट्यादयः । 'अङ्कसन्धायक' इति अङ्कस्य

यह बात [नाट्यशास्त्रके] सब [आचार्य] मानते हैं । किन्तु कोहल [नामक नाट्याचार्य] इसको केवल प्रथम अङ्कके आरम्भमें ही मानते हैं ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि भरत आदि अन्य सब नाट्याचार्योंके मतमें नाटकके किसी भी अङ्कमें आवश्यकतानुसार विष्कम्भकका प्रयोग किया जा सकता है । किन्तु केवल इतना ध्यान रखना है कि जब कभी भी विष्कम्भकका प्रयोग किया जाय वह सदा अङ्कके आरम्भमें ही होना चाहिए । बीचमें या अन्तमें नहीं । किन्तु कोहलाचार्यका मत इससे भिन्न है । उनका यह कहना है कि विष्कम्भकका प्रयोग केवल प्रथम अङ्कके आरम्भमें ही किया जा सकता है । अन्य अङ्कोंमें उसका प्रयोग नहीं हो सकता है । या फिर अङ्कके मध्य अथवा अन्तमें कहीं भी किया जा सकता है ।

'मध्यमैः' इस पदसे अमात्य सेनापति वणिक् विप्र आदिके द्वारा [यह अर्थ करना चाहिए] । महारानी, राजकुमार, नायक, 'प्रतिनायक' आदिके द्वारा [यह अर्थ] नहीं [लेना चाहिए] । इन [अमात्य सेनापति आदि] का [भी] मध्यमत्व राजाकी दृष्टिसे है । राजाके अन्य सेवकों की अपेक्षासे तो वे भी प्रधान हैं । 'जनैः' इस पदसे [पदके] सामान्य-वाचक होनेसे पुरुषोंके द्वारा, अथवा स्त्रियोंके द्वारा, अथवा स्त्री और पुरुष दोनोंके द्वारा यह अर्थ ग्रहण [करना चाहिए । इसमें] बहुवचन अविवक्षित है । [अर्थात् बहुतसे पात्र ही प्रयुक्त किए जायँ यह इस बहुवचनान्त 'जनैः' पदका अभिप्राय नहीं है] । इसलिए 'स्वगत' अथवा 'आकाशभाषितके रूपमें एक पात्रके द्वारा भी [अपेक्षित अर्थको कहला कर विष्कम्भकका] प्रयोग किया जाता है । 'जनैः' इस सामान्य निर्देशके कारण ही शुद्ध विष्कम्भकमें स्त्रियोंके द्वारा भी संस्कृतमें ही पाठ किया जाता है । [इसका अभिप्राय यह है कि सामान्य रूपसे स्त्रियोंके मुखसे प्राकृत भाषाका ही प्रयोग नाटकोंमें कराया जाता है किन्तु शुद्ध विष्कम्भकमें यदि कोई मध्यम स्त्री-पात्र हो तो उसको संस्कृतमें भाषण कराया जा सकता है] । शुद्ध [विष्कम्भक] नीच [पात्रों] का प्रवेश न होनेसे [ही शुद्ध कहलाता] है । [आगे विष्कम्भक शब्दका निर्वचन दिखलाते हैं] 'विष्कम्नाति' अर्थात् स्मृतिके द्वारा कथाभागको [जोड़कर] पुष्ट बनाता है इसलिए [उसको] 'विष्कम्भक' कहा जाता है [यह विष्कम्भक शब्दका अवयवार्थ है] ।

'तत्र' इससे 'विष्कम्भक' आदि पांच [अर्थोपक्षेपकों] के मध्यमेंसे [शुद्ध तथा संकीर्ण रूप] दो भेद वाला 'विष्कम्भक' अलग निर्धारण किया गया है [यह बात 'तत्र' पदसे सूचित की है । 'सप्तम्यास्त्रल्' सूत्रसे सप्तमीके अर्थमें त्रल्-प्रत्यय करके 'तत्र' शब्द बना है । और 'यतश्च निर्धारणम्' [जिससे किसी वस्तुको चुन कर अलग किया जाय उस निर्धारणमें सप्तमी

अङ्कार्थस्य सन्धायकः संसूचकः प्रथमाङ्कभावी। अङ्कयोरङ्कार्थयोः सन्धायकः पुनरङ्कद्वयान्तरालभावी। शक्यं सन्धानमनुस्मरणं यस्यासौ शक्यसन्धानः। स चासावतीतकालो वृत्तोऽर्थस्तद्वान् विष्कम्भको भवति। इह तावत् पुरुषप्रज्ञापेक्षया विष्कम्भकार्थकालो निबध्यते। रामयुधिष्ठिरादयो हि चिरातीतमप्यर्थमनुसन्दधतीति स तथैव निबध्यते। ये तु प्राकृताः स्तोककालमेवार्थमनुसन्दधते तदर्थस्तथैव निबन्धनीयः। कामफले तु नाटके वर्षैकवृत्तमेव निबध्यते। परतः संस्कारविच्छेदात्। वयोऽतिवृत्तेश्चेति ॥२३-२४॥

विभक्ति होती है। अतः यहाँ सप्तमी विभक्तिके द्वारा बने 'तत्र' पदसे निर्धारण—छाँटना—अलग करना सूचित होता है यह अभिप्राय है]। आगे सङ्कीर्ण [विष्कम्भकको] नीच [पात्रों] का भी प्रवेश होनेसे [सङ्कीर्ण विष्कम्भक] कहते हैं। नीच अर्थात् दास-दासी आदि। 'अङ्कसन्धायकः' इससे [दो अर्थ निकलते हैं। एक तो यह है कि] अङ्कका अर्थात् एक अङ्कके अर्थका सन्धायक अर्थात् संसूचक। इस प्रकारका [एक अङ्कका अर्थात् एक अङ्कसे सम्बद्ध अर्थका सूचक जो विष्कम्भक होता है वह] प्रथम अङ्कके आरम्भमें ही होता है। ['अङ्कसन्धायकः' का दूसरा अर्थ यह भी है कि] दो अङ्कोंका अर्थात् दो अङ्कोंके अर्थों का सन्धायक अर्थात् सम्बन्ध कराने वाला [जोड़ने वाला] वह दो अङ्कोंके बीचमें [अर्थात् उत्तरवर्ती अङ्कके आरम्भमें] होता है। [आगे 'शक्यसन्धानातीतकालवान्' पदका अर्थ उसको दो भागोंमें विभक्त करते हैं। पहले 'शक्यसन्धान' इस भागका अर्थ करते हैं] जिसका सन्धान अर्थात् अनुस्मरण हो सकता है [उतना अतीतकाल शक्यसन्धान हुआ]। इस प्रकारका [शक्यसन्धान] जो अतीतकाल अर्थात् अतीत कालमें हुआ कथाभाग उससे युक्त [अर्थात् उसको सूचित करने वाला] विष्कम्भक ['शक्यसन्धानातीतकालवान्' विष्कम्भक हुआ]। [इसमें पुरुषोंकी स्मरणशक्ति [प्रज्ञा] की अपेक्षासे विष्कम्भकके [अर्थात् कथाभाग] के कालको [शक्यसन्धानः जिसका स्मरण सम्भव हो सके इसके अनुसार] निबद्ध किया गया है। राम युधिष्ठिर आदि [प्रबल स्मरणशक्ति वाले उत्तम पात्र) बहुत पुराने अतीत अर्थको भी स्मरण कर सकते हैं इसलिए [विष्कम्भकमें उनके स्मरणसे सम्बन्ध रखनेवाली दीर्घकालीन बात भी कही जाती है वहाँ] उसको उसी प्रकारसे दिखलाया जाता है। और जो साधारण पुरुष थोड़ी देरकी ही बात स्मरण कर सकते हैं उनके लिए उसी प्रकारकी रचना करनी चाहिए। कामप्रधान फलवाले नाटकमें तो [विष्कम्भकके रूपमें] एक ही वर्षके वृत्तकी रचना की जाती है। उसके बाद [अर्थात् एक वर्षसे अधिककालके प्रेमके] संस्कारोंका विच्छेद हो जाता है और अवस्था बीत जानेसे भी। [शृङ्गार रसमें अधिक पुरानी बातोंका स्मरण व्यर्थ हो जाता है]। ॥२३-२४॥

'विष्कम्भक' के इस लक्षणमें ग्रन्थकारने 'शक्यसन्धानातीतकालवान्' इस विशेषण की व्याख्यापर विशेष बल दिया है। उतने दूरके अतीत कालके अर्थकाही वर्णन 'विष्कम्भक' द्वारा करना चाहिए, जिसका अनुसंधान अर्थात् स्मरण सम्भव हो। राम युधिष्ठिर आदि दीर्घकालीन अर्थको भी स्मरण कर सकते हैं, अतः उनके वृत्त में दीर्घकालीन घटना का भी वर्णन किया जा सकता है। सामान्य पुरुष स्वल्प कालके अर्थको स्मरण कर सकते हैं, उनके प्रसङ्ग में उसीके अनुसार विष्कम्भकमें वर्णन करना चाहिए। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

अथ विष्कम्भकलक्षणानुवादेन प्रवेशकं लक्षयति—

[सूत्र २१]—एवं प्रवेशको नीचैः परार्थैः प्राकृतादिना ।
एतौ प्रभूतकार्यत्वान्नाटकादिचतुष्टये ॥२५॥

एवमिति 'अङ्कानर्हस्य' इत्यादि सर्वं विष्कम्भकलक्षणमत्रातिदिश्यते । केवलमसौ नीचैरेव पात्रैः परार्थैर्मुख्यनायकादिकार्यनिष्ठैर्न पुनः स्वकृत्यैकतत्परैः । यथा—

"आणत्त म्हि भट्टदारियाए इत्यादि ।
[आज्ञप्तास्मि भर्तृदारिकया इत्यादि । इति संस्कृतम्]"

प्रवेशकका लक्षण—

अर्थोपक्षेपकोंमें विष्कम्भकके बाद दूसरा स्थान 'प्रवेशक' का आता है । विष्कम्भकके जो कार्य बतलाए गए हैं प्रायः वे ही सब कार्य 'प्रवेशक' के द्वारा भी सम्पन्न किए जाते हैं । फिर भी उन दोनोंको अलग-अलग माना गया है इसका कारण उनके स्वरूपमें कुछ भेदका होना है । इनका मुख्य भेद यह है कि प्रवेशकमें केवल नीच पात्रोंका प्रयोग होता है । और विष्कम्भकमें केवल मध्यम, या नीच और मध्यम दोनों प्रकारके पात्रोंका प्रयोग होता है । विष्कम्भकमें केवल नीच पात्रोंका प्रयोग नहीं होता है । इन भेदोंका परिचय आगे दिए जाने वाले लक्षणसे ही मिलेगा । अतः ग्रन्थकार आगे प्रवेशकका लक्षण निम्न प्रकार करते हैं—

अब विष्कम्भकके लक्षणका अनुवाद करते हुए प्रवेशकका लक्षण दिखलाते हैं—

[सूत्र २१]—इस प्रकार [अर्थात् अङ्कानर्ह अङ्कोंमें न दिखलाने योग्य त्रिकालवर्ती अर्थको सूचित करने वाला] दूसरोंके लिए कार्य करने वाले [अर्थात् स्वामी आदिकी आज्ञाके अनुसार कार्यमें नियुक्त] नीच पात्रों [दास-दासी आदि] के द्वारा [संस्कृतसे भिन्न] प्राकृत आदि [भाषाओंके प्रयोग] से [शक्यसन्धानातीतकालके अर्थको सूचित करने वाला] 'प्रवेशक' होता है । [इतना प्रवेशकका लक्षण हुआ] अधिक कार्य [के साधक] होनेके कारण नाटकादि चारमें [अर्थात् नाटक, नाटिका, प्रकरण और प्रकरणी इन चारमें], अनावश्यक या अङ्कानर्ह भागको संक्षिप्त करके सूचन करनेकेलिए विष्कम्भक और प्रवेशक इन दोनों अर्थोपक्षेपकों] का अवलम्बन किया जाता है ।२५।

इस प्रकार 'एवं' इस पदसे 'अङ्कानर्हस्य' इत्यादि विष्कम्भकका सारा लक्षण यहाँ [प्रवेशकमें] सम्बद्ध होता है [अन्यधर्मस्यान्यत्राभिसम्बद्धो अतिदेशः । अन्यके धर्मका अन्यत्र सम्बन्ध दिखलाना 'अतिदेश' कहलाता है । विष्कम्भकके सारे धर्मोंका प्रवेशकके साथ सम्बन्ध प्रदर्शन रूप 'अतिदेश' किया गया है । उन दोनोंमें अन्तर केवल इतना है कि] यह [प्रवेशक] केवल नीच और दूसरोंके कार्यमें लगे हुए अर्थात् मुख्य नायक आदिके कार्यमें संलग्न, न कि स्वयं अपने कार्यमें लगे हुए पात्रोंके द्वारा [प्रयुक्त होता है] जैसे—

जैसी कि स्वामिपुत्रीने आज्ञा दी है [तदनुसार मैं अमुक कार्य कर रही हूँ] इत्यादि [नीच पात्र चेटी आदि द्वारा प्रयुक्त प्रवेशकका उदाहरण है] ।

इस प्रकार विष्कम्भकसे प्रवेशकका एक भेद तो यह हुआ कि विष्कम्भकमें मध्यम पात्रोंका उपयोग भी होता है और नीच पात्रोंका भी प्रयोग हो सकता है । किन्तु प्रवेशक

नीचप्रयुक्तत्वादेव च ग्राम्यार्थप्रायेण प्राकृतेन, आदिशब्दात् शौरसेन्यादिना प्रवेशको भवति। अप्रत्यक्षानर्थान् सामाजिकहृदये प्रवेशयतीति प्रवेशकः। केचित् प्रवेशकं प्रथमांकस्यादौ नेच्छन्ति। एताविति विष्कम्भक-प्रवेशकौ। नाटकादिचतुष्टयं नाटक-प्रकरण-नाटिका-प्रकरण्यः। नाटकादौ हि परिमितोपायेन बहुषु मुख्यावान्तर-कार्येषु नृपादीनां तत्सहायानां चामात्यादीनां व्युत्पत्तिः क्रियते इति अत्रैव प्रभूतकार्य-व्युत्पादकौ विष्कम्भक-प्रवेशकौ। न व्यायोगादिषु एकांकेषु तावदल्पवृत्तत्वेनाल्प-कार्यत्वात्। बह्वङ्केष्वपि समवकारस्य परस्परासम्बद्धाङ्कत्वात्, अपरेषान्तु कतिपय-दिनवृत्तत्वादिति। अङ्कास्यादीनि तु स्वल्पसूच्यत्वेन यथासम्भवं रूपकान्तरेष्वपि भवन्ति ॥२५॥

में निश्चित रूपसे नीच पात्रोंका ही प्रयोग होता है। इसीसे दूसरा भाषाविषयक भेद भी आ जाता है। विष्कम्भकमें संस्कृत भाषा मुख्य रहती है किन्तु प्रवेशकमें प्राकृतभाषाका ही प्रयोग होता है। इसी बातको आगे लिखते हैं—

नीच [पात्रों] के द्वारा प्रयुक्त होनेके कारण ही ग्राम्य [अशिष्ट] अर्थसे युक्त प्राकृतके द्वारा, आदि शब्दसे [उनमें भी] शौरसेनी आदिके द्वारा प्रवेशक [का प्रयोग] होता है। [आगे प्रवेशक शब्दकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं] अप्रत्यक्ष अर्थोंको सामाजिकोंके हृदयमें प्रविष्ट कराता है इसलिए 'प्रवेशक' [कहलाता] है। कुछ [नाट्याचार्य] लोग प्रथम अंकके आदिमें इस [प्रवेशक] का प्रयोग नहीं मानते हैं। [यह विष्कम्भकसे इसका तीसरा भेद हुआ]। 'एतौ' अर्थात् विष्कम्भक और प्रवेशक। नाटकादि चारमें [रहते हैं। इसमें नाटकादि चार से] १ नाटक, २ प्रकरण, ३ नाटिका और ४ प्रकरणी [इन चारका ग्रहण करना चाहिए]। नाटकादिमें [अंक रूप] परिमित साधनोंके द्वारा मुख्य तथा अवान्तर [गौण] बहुत-से कार्योंका परिज्ञान राजा और उसके सहायक मन्त्री आदिको कराना होता है इसलिए इनमें ही विस्तृत अवान्तर कार्योंका परिचय करानेके लिए ये विष्कम्भ और प्रवेशक [प्रयुक्त] होते हैं। 'व्यायोग' आदि एकांकी [रूपक] में थोड़ा-सा ही कथाभाग होनेसे कम कार्य होनेके कारण [इन विष्कम्भक और प्रवेशकोंका प्रयोग] नहीं होता है। और अनेक अंकों वालोंमें भी 'समवकार' के अंकोंके परस्पर सम्बद्ध न होनेसे, तथा अन्योंमें कुछ दिनका ही वृत्तान्त होने से [प्रवेशक तथा विष्कम्भकको आवश्यकता नहीं होती है] यह अभिप्राय है। अंकास्यादि [शेष तीन अर्थोपक्षेपक] तो अल्प वृत्तके सूचन करने योग्य होनेके कारण यथासम्भव [आव-श्यकतानुसार] अन्य रूपकोंमें भी प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार इस लक्षणमें प्रवेशकके विष्कम्भक तथा अन्य अर्थोपक्षेपकोंसे जो भेद दिखलाए गए हैं वे मुख्य रूपसे निम्न प्रकार हैं—

१. विष्कम्भक में मध्यमपात्र भी प्रयुक्त होते हैं इसलिए संस्कृत भाषाका भी आश्रय लिया जाता है। किन्तु प्रवेशकमें केवल नीचपात्र ही होते हैं इसलिए उसमें केवल प्राकृत भाषाका ही उपयोग होता है।

२. विष्कम्भका प्रयोग अङ्कके आदिमें भी प्रस्तावनाके बाद किया जा सकता है किन्तु प्रवेशकका प्रयोग प्रथम अंकमें नहीं होता है।

३. अङ्कास्य आदि अन्य अर्थोपक्षेपकोंका प्रयोग नाटिकादिमें भी हो सकता है किन्तु

अथ अङ्कास्य-चूलिके लक्षयति—

[सूत्र २२]—अङ्कास्यमन्तपात्रेण छिन्नाङ्कमुखयोजनम् ।
वस्तुनः सूचनं चूला पात्रैर्नेपथ्यसंस्थितैः ॥२६॥

अन्तपात्रेणेति पूर्वस्याङ्कस्यान्ते स्त्री-पुंसान्यतरेण पात्रेण । छिन्नस्य असम्बद्धस्य उत्तराङ्कमुखस्य योजनमुपक्षेपो यस्तत् 'अङ्कास्यम्' अंकमुखम् । यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते—

"प्रविश्य सुमन्त्रः—भगवन्तौ वसिष्ठ-विश्वामित्रौ भवतः सभार्गवान् आह्वयेते इति ।

इतरे तु—क्व भगवन्तौ ?

सुमन्त्रः—महाराजदशरथस्यान्तिके ।

इतरे—तदनुरोधात् तत्रैव गच्छामः ।

इत्यङ्कसमाप्तौ—ततः प्रविशन्ति वसिष्ठ-विश्वामित्र-शतानन्द-जनक-परशुरामाः ।"

इत्यत्र पूर्वाङ्कान्ते एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्द-जनककथार्थविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनात् अङ्कास्यमिति ।

विष्कम्भक और प्रवेशकका प्रयोग एकांकी व्यायोगादि और परस्परासम्बद्ध अङ्कों वाले समकार तथा अल्पवृत्त वाले अन्य रूपकभेदोंमें नहीं किया जाता है ।

अब आगे 'अङ्कास्य' तथा 'चूलिका' दोनोंका लक्षण [एक ही कारिकामें] करते हैं—

[सूत्र २२]—[अङ्कके अन्तमें ही प्रविष्ट होने वाले] अन्तिम पात्रके द्वारा [पूर्व अङ्कसे असम्बद्ध] विच्छिन्न [अगले उत्तरवर्ती] अङ्कके आरम्भका सम्बन्ध जोड़नेसे 'अङ्कास्य' नामक अर्थोपक्षेपक होता है] और नेपथ्य स्थित पात्रोंके द्वारा वस्तुकी सूचना 'चूलिका' [कहलाती] है ।२६।

अन्तिम पात्रके द्वारा अर्थात् पूर्व अङ्कके अन्तमें [प्रविष्ट होने वाले] स्त्री या पुरुष किसी भी पात्रके द्वारा छिन्न अर्थात् [पूर्व अङ्कके साथ] असम्बद्ध अगले अङ्कके आरम्भ [मुख] की जो योजना अर्थात् उपक्षेप [बीजारोपण] करना वह 'अङ्कास्य' अर्थात् 'अङ्कमुख' [कहलाता] है । जैसे महावीर चरितके द्वितीय अङ्कके अन्तमें—

"प्रविष्ट होकर सुमन्त्र [कहते हैं कि]—महर्षि वसिष्ठ तथा विश्वामित्र, भार्गव [परशुराम] सहित आप दोनों [शतानन्द और जनक] को बुला रहे हैं ।

अन्य दोनों—[जनक और शतानन्द] वे दोनो कहाँ हैं [यह पूछते हैं] ?

सुमन्त्र—[उत्तर देते हैं]—महाराज दशरथके समीप हैं ।

अन्य दोनों—उनकी इच्छाके अनुसार हम सब वहीं जाते हैं ।

यह अङ्ककी [द्वितीय] समाप्तिमें [आया है] । उसके बाद [अगले अङ्कके आरम्भमें] वसिष्ठ विश्वामित्र शतानन्द जनक और परशुराम प्रविष्ट होते हैं ।"

इस उदाहरणमें पूर्ववर्ती द्वितीय अङ्कके अन्तमें ही प्रविष्ट होने वाले सुमन्त्र पात्रने शतानन्द और जनकके वार्तालाप रूप अर्थको विच्छिन्न करके [अगले तृतीय अङ्कमें वसिष्ठ विश्वामित्र आदिके साथ होने वाले जनक शतानन्दके वार्तालाप रूप] अङ्कके आरम्भकी सूचना दी है [इसलिए यह अङ्कास्यका उदाहरण है] ।

'वस्तुन' इति कस्यचिदर्थस्य सूचनमुपक्षेपः। 'पात्रैः' स्त्री-पुंसैः। 'नेपथ्य-संस्थितैः' यवनिकान्तरदेशस्थायिभिः। सा चूडेव चूलिका। रङ्गाभिनेयार्थस्य नेपथ्यपात्रोक्तेः शिखाकल्पत्वात्। यथा 'उत्तररामचरिते' द्वितीयाङ्कस्यादौ—

"स्वागतं तपोधनायाः। ततः प्रविशति तपोधना।"

अत्र नेपथ्यपात्रेण स्त्रिया वासन्तिकया आत्रेयीवस्तुनः सूचनात् चूलिका।

यथा वा 'नलविलासे' द्वितीयाङ्कस्यादौ—

"स्वागतं सपरिच्छदाय कलहंसाय। ततः प्रविशति कलहंसो मकरिकाप्रभृति-कश्च परिवारः।"

अत्र नेपथ्यपात्रेण पुंसा शेखरेण कलहंसादिवस्तुनः सूचनात् चूलेति।

यथा वा रत्नावल्यां—

"अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवौ
आस्थानीं समये समं नृपजनः सायन्तने सम्पतन्।
सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितु
प्रीत्युत्कर्षकृतो दशामुदयनस्येन्दोरिवोदीक्षते॥"

यह 'अङ्कास्य' का उदाहरण दिया है इसमें 'छिन्नाङ्क' पद विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। इसी पदके द्वारा अङ्कास्य और अङ्कावतारका भेद होता है। अङ्कास्यमें अगला अङ्क पूर्व अङ्कसे असम्बद्ध रूपमें प्रारम्भ होता है और अङ्कावतारमें पूर्व अङ्कके अंग रूपमें ही नया अङ्क आरम्भ होता है। यहां इन दोनोंका भेद है।

'वस्तुनः' अर्थात् किसी अर्थका 'सूचन' अर्थात् उपक्षेप करना। 'पात्रैः' अर्थात् स्त्री-पुरुषोंके द्वारा। 'नेपथ्यसंस्थितैः' अर्थात् यवनिकाके भीतर स्थित। 'चूडा' अर्थात् शिखाके समान होनेसे 'चूलिका' है। क्योंकि नेपथ्यकी उक्ति रङ्गमें अभिनय किए जानेवाले अर्थकी शिखाके समान होती है। जैसे उत्तररामचरितके द्वितीय अङ्कके आदिमें—

[नेपथ्यमें] तपोधनाका स्वागत है।" इसके बाद तपोधना प्रवेश करती है।"

इसमें नेपथ्यमें स्थित वासन्तिकका रूप स्त्रीपात्रके द्वारा आत्रेयी रूप वस्तुके सूचित होनेसे यह 'चूलिका' [का उदाहरण] है।

अथवा जैसे नलविलासके द्वितीय अङ्कके आदिमें [भी चूलिका दी गई है]—"सपरि-वार कलहंसका स्वागत है। इसके बाद कलहंस और मकरिका आदि परिवार प्रविष्ट होता है।"

इसमें नेपथ्यवर्ती 'शेखर' नामक पुरुषपात्रके द्वारा कलहंसादि वस्तुके सूचित होनेसे 'चूलिका है।

अथवा जैसे रत्नावलीमें—[प्रथम अङ्कमें]—

"अपनी समस्त प्रभाको अस्ताचलपर बिखेरकर, सूर्यके आकाशके पार चले जानेपर, सायंकालके समय सभा-मण्डपमें एक साथ प्रविष्ट होते हुए सारे राजा कमलोंकी कान्तिका हरण करने वाले [अर्थात् कमलोंके समान सुन्दर] और अत्यन्त आनन्द [प्रीत्युत्कर्ष] को प्रदान करने वाले [चन्द्रमाकी किरणोंके समान कमल-शोभापहारी और आह्लादकारक] सतत उदयशील चन्द्रमाके पादोंके समान आप 'उदयन' के [पादोंकों] चरणोंको सेवा [उपासना] करनेकेलिए देख रहे हैं।

इति नेपथ्यपात्रेण बन्दिना काननस्थस्योदयनवस्तुनः सागरिकां प्रति सूचनात् चूलिका ॥२६ ॥

अथाङ्कावतारं लक्षयितुमाह--

[सूत्र २३]--सोऽङ्कावतारो यत् पात्रैरङ्कान्तरमसूचनम् ।

पात्रान्तराभावेन यस्यैवाङ्कस्य पात्रैरविच्छिन्नार्थतया सूचनीयार्थस्याभावात् प्रवेशक-विष्कम्भक-सूचनारहितमङ्कान्तरं भवति, स द्वितीयाङ्कस्यावतारणादङ्कावतारः । यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमेऽङ्के--

"विदूषकः--तेन हि दुवे वि देवीए पेक्खागिहं गदुअ संगीदोवअरणं गहिअ तत्तभवदो दूदं विसज्जेथ । अथवा मुदंगसद्दो य्येव णं उत्थावइस्सदि ।

[तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागृहं गत्वा सङ्गीतोपकरणं गृहीत्वा तत्रभवन्तौ दूतं विसर्जयेताम् । अथवा मृदङ्गशब्द एव तमुत्थापयिष्यति इति । संस्कृतम्] ।"

इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणानन्तरं तान्येव सर्वाणि पात्राणि द्वितीयाङ्कमारभन्ते इति ।

अन्ये तु यत्राङ्के अन्याङ्कानां बीजलक्षणोऽर्थोऽवतार्यते तमङ्कावतारमामनन्ति । यथा रत्नावल्यां द्वितीयोऽङ्कः । तत्र हि--

---

यहाँ नेपथ्यवर्ती चारण रूप पात्रके द्वारा सागरिकाके प्रति उद्यानमें स्थित उदयन रूप वस्तुके सूचनसे चूलिका [बनती] है ।

इस प्रकार इस एक ही कारिकामें ग्रन्थकारने 'अङ्कमुख' और 'चूलिका' इन दो अर्थोपक्षेपकोंके लक्षण सुन्दरताके साथ प्रस्तुत किए हैं ॥ २६॥

अङ्कावतारका लक्षण--

अब [ग्रन्थकार] अङ्कावतारका लक्षण करनेकेलिए कहते हैं—

[सूत्र २३]--जो [पूर्व अङ्कके] पात्रोंके द्वारा [अन्य किन्हीं पात्रोंके आगमनकी विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपकोंके माध्यमसे] सूचना दिए बिना [पूर्व अङ्कोंके पात्रोंसे ही] दूसरे अङ्कका आरम्भ होता है उसको 'अङ्कावतार' कहते हैं ।

[नवीन अङ्कमें जानेवाले नए] दूसरे पात्रोंके न होनेके कारण और सूचनीय अर्थका अभाव होनेसे प्रवेशक, विष्कम्भक आदिके बिना ही जिस [पूर्ववर्ती] अङ्कके पात्रोंके द्वारा अविच्छिन्न रूपसे नए अङ्कका आरम्भ किया जाता है वह द्वितीय अङ्कका अवतारण कराने वाला होनेसे 'अङ्कावतार' कहलाता है । जैसे मालविकाग्निमित्र [नाटक] के प्रथम अङ्क [के अन्त] में [निम्न वाक्य आता है]--

"विदूषक--इसलिए आप दोनों देवीकी रङ्गशालामें जाकर और सङ्गीतके साजको सँभालकर [यहाँ हम लोगोंके पास] दूत भेज दीजिएगा । अथवा [दूत भेजनेकी आवश्यकता नहीं होगी क्योंकि आपके] मृदङ्गका शब्द ही हम सबको उठा [कर सङ्गीत सुननेकेलिए आपके पास पहुँचा] देगा ।"

[प्रथम अङ्कके अन्तमें] इस प्रकारका उपक्रम करके मृदङ्ग शब्दके श्रवणके बाद वे ही सब पात्र द्वितीय अङ्कका आरम्भ करते हैं ।

दूसरे आचार्य तो जिस अङ्कमें अन्य [सब] अङ्कोंके बीजभूत अर्थकी अवतारणा की

"ईदिसस्स कन्नगारयणस्स ईदिये य्येव वरे अहिलासेण भोदव्वं ।
[ईदृशस्य कन्यारत्नस्येदृश एव वरेऽभिलाषेण भवितव्यम् । इति संस्कृतम्]"
इत्यादिकोऽनुरागलक्षणः सर्वाङ्कानामर्थ इति । अयं च गर्भाङ्कोऽप्युच्यते । यदाहुः-

"अङ्कान्तरेव चाङ्को निपतति यस्मिन् प्रयोगमासाद्य ।
बीजार्थयुक्तियुक्तो गर्भाङ्को नाम विज्ञेयः ॥" इति

अथ विष्कम्भकादीनां विषयव्यवस्थामाह—

[सूत्र २४]—आद्यौ सूच्ये बहावन्ये क्रमादल्पे तरे तमे ॥ २७ ॥

तर-तम-प्रत्ययौ नान्तरीयकतया सन्निधानाच्चाल्पशब्दं प्रकृतिमाकर्षतः, तेनाल्पतरे अल्पतमे इत्यर्थः । छन्दोऽनुरोधाच्च प्रत्ययानुकरणनिर्देशः । 'अन्ये' अङ्कास्य-चूलिका-अङ्कावताराः । क्रमादिति लक्षणक्रमेण । 'बहौ', बहुकाले च सूच्ये आद्यौ विष्कम्भक-प्रवेशकौ । 'अल्पे' अल्पकाले चाङ्कास्यम्, अल्पतरे अल्पतरकाले च चूलिका, अल्पतमे अल्पतमकाले चाङ्कावतार इति ॥ २७ ॥

जाती है उसको 'अङ्कावतार' मानते हैं । जैसे रत्नावलीमें दूसरा अङ्क [इनके मतसे अङ्कावतार का उदाहरण बनता है] । क्योंकि उसमें—

"इस प्रकारके कन्यारत्नका इस प्रकारके वरमें ही अभिलाष होना चाहिए" ।

इत्यादिसे सब अङ्कोंका [बीजभूत] अनुराग रूप अर्थ [प्रदर्शित किया गया है] इस लिए [यह द्वितीयाङ्क ही अङ्कावतार माना जाता है] । इसीको [वे लोग] गर्भाङ्क' भी कहते हैं । जैसाकि [गर्भाङ्कका लक्षण करते हुए] लिखा है कि—

"जहां प्रयोग [के अवसर] को प्राप्त करके अङ्कके भीतर ही बीजार्थ और युक्ति सहित नवीन अङ्क [उससे अविच्छिन्न रूपसे] आरम्भ हो जाता है उसको 'गर्भाङ्क' नामसे समझना चाहिए ।

विष्कम्भकादिकी विषय-व्यवस्था—

पिछली कारिकाओंमें विष्कम्भक, प्रवेशक आदि पाँच प्रकारके अर्थोपक्षेपकोंका वर्णन किया था उनके विषयका उपसंहार करते हुए २७ वीं कारिकाके उत्तरार्द्ध-भागमें इनका प्रयोग कब-कब करना चाहिए इस विषयव्यवस्थाका निरूपण करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

अब विष्कम्भक आदिकी विषय-व्यवस्थाको कहते हैं—

[सूत्र २४]—बहुत और बहुकाल-व्यापी [अर्थके] सूचनीय होनेपर आदिके दो [अर्थात् विष्कम्भक और प्रवेशकका प्रयोग करना चाहिए] और अल्प, अल्पतर एवं अल्पतम [अर्थके सूचनीय] होने पर क्रमसे [अङ्कास्य, चूलिका और अङ्कावतार रूप] अन्य [अर्थोपक्षेपकोंका प्रयोग करना चाहिए] । २७ ।

[कारिकामें दिए हुए] तर, तम दोनों प्रत्यय [प्रकृतिके बिना न रह सकनेके कारण] अविनाभूत होनेसे और सन्निहित होनेके कारण 'अल्प' शब्दको प्रकृति रूपमें आकर्षित कर लेते हैं । इसलिए अल्पतर और अल्पतम यह अर्थ हो जाता है । [मूल कारिकामें] छन्दके अनुरोध के कारण [अल्पतर अल्पतम न कहकर केवल तर तम द्वारा] प्रत्ययके अनुकरणका निर्देश किया गया है । [कारिकामें आए हुए] 'अन्य' [पद] से अङ्कास्य, चूलिका और अङ्का-

अथ अङ्कानन्तरोद्दिष्टमुपायं व्याचष्टे—

[सूत्र २५]—बीजं पताका प्रकरी बिन्दुः कार्यं यथारुचि ।
फलस्य हेतवः पञ्च चेतनाचेतनात्मकाः ॥ २८ ॥

उपायस्वरूपापरिज्ञाने तद्विषयाणामारम्भादीनां स्वरूपपरिज्ञानासम्भव इति उपायस्वरूपं व्युत्पाद्यते। 'यथारुचि' इति नैषामौद्देशिको निबन्धक्रमः, सर्वेषामवश्यम्भावित्वं वा। 'फलस्य' मुख्यसाध्यस्य 'हेतव' उपायाः। इह हेतुर्द्विधा अचेतनश्चेतनश्च। अचेतनोऽपि मुख्यामुख्यभेदाद् द्विधा। मुख्यो बीजम्, तन्मूलत्वादितरेषाम्। अमुख्यस्तु कार्यम्। चेतनोऽपि द्विधा मुख्य उपकरणभूतश्च। मुख्यो

वतार [का ग्रहण होता है]। 'क्रमात्' इस पदसे लक्षणके क्रमसे [अङ्कास्य चूलिका अङ्कावतारका ग्रहण करना चाहिए। स्वेच्छया नहीं यह अभिप्राय है]। बहुत तथा बहुकाल व्यापी [अर्थके] सूचनीय होनेपर आदिके दो अर्थात् विष्कम्भक और प्रवेशक [प्रयुक्त होते हैं]। अल्प और अल्पकालीन [अर्थके सूचनीय] होनेपर अङ्कास्य, [उससे भी कम] अल्पतर और अल्पतर-कालीन [अर्थके सूचनीय] होनेपर चूलिका, तथा [उससे भी कम] अल्पतम और अल्पतम-कालीन [अर्थके सूचनीय] होनेपर अङ्कावतार [का प्रयोग किया जाना चाहिए] यह अभिप्राय है। २७॥

इस प्रकार इस कारिकाकी समाप्तिके साथ पाँचों अर्थोपक्षेपकोंका विषय-विवेचन समाप्त हो जाता है। पाँचवीं कारिकामें नाटकका जो लक्षण किया गया था उसकी ही व्याख्या आगे चल रही है। इसमें 'अङ्क' पद आया था उसकी व्याख्याके प्रसङ्गमें इन विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपकोंका निरूपण किया गया। उसके द्वारा नाटकके लक्षणमें आए हुए 'अङ्क' पदकी व्याख्या पूर्ण हो जाती है। नाटक-लक्षण वाली कारिकामें 'अङ्क' पदके बाद 'उपाय' पदका प्रयोग किया गया है। अत एव अङ्क पदकी व्याख्याके बाद 'उपाय' पदकी व्याख्या क्रम-प्राप्त है। इस लिए अगली कारिकामें 'उपाय' पदकी व्याख्या आरम्भ करते हैं।

इस कारिकामें पाँच प्रकारके उपाय बतलाए गए हैं। परन्तु पहिले उनके चेतन और अचेतन दो भेद किए हैं। उनमेंसे अचेतन उपायोंके भी मुख्य तथा अमुख्य दो भेद किए हैं। फिर चेतन उपायोंके भी मुख्य तथा उपकरणभूत दो भेद करके उनमेंसे उपकरणभूतके भी दो भेद कर दिए हैं। इस प्रकार उपायोंकी संख्या पाँच हो जाती है। इन पाँचों उपायों का वर्णन इस कारिकामें निम्न प्रकारसे किया है—

अब [नाटक-लक्षणमें] अङ्कके बाद कहे हुए 'उपाय' [पद] की व्याख्या [आरम्भ] करते हैं—

[सूत्र २४]—१. बीज, २. पताका, ३. प्रकरी, ४. बिन्दु और ५. कार्य [पताका प्रकरी और बिन्दु ये तीन चेतन तथा बीज एवं कार्यको दो अचेतन इस प्रकार] ये चेतन और अचेतनात्मक फलके हेतु पाँच ['उपाय' कहलाते] हैं [उनका] अपनी रुचिके अनुसार [प्रयुक्त] करे।२८।

उपायोंके स्वरूपको जाने बिना उनके सम्बन्धमें आरम्भादिके स्वरूपका परिज्ञान भी असम्भव है, इस लिए 'उपायों'के स्वरूपका परिचय करवाया जा रहा है। [कारिकामें आए

बिन्दुः, कार्यानुसन्धानरूपत्वात् । उपकरणभूतो द्विधा । (१) स्वार्थसिद्धियुतः परार्थसिद्धिपरः, (२) परार्थसिद्धिपरश्च । पूर्वः पताका, अन्यः प्रकरीति । अत्र चाचेतनचेतनानां मध्ये बीजबिन्द्वोर्मुख्यत्वम्, सर्वव्यापित्वादिति ॥२८॥

अथ बीजमाह—

[सूत्र २६]—स्तोकोद्दिष्टः फलप्रान्तो हेतुर्बीजं प्ररोहणात् ।

आदौ गभीरत्वादल्पनिक्षिप्तो मुख्यफलावसानश्च यो हेतुर्मुख्यसाध्योपायः, स धान्यबीजवद् 'बीजम्' । 'प्ररोहणात्' उत्तरत्र शाखोपशाखादिभिर्विस्तरणात् । इदं च आमुखानन्तरं निबध्यते । बीजं हि नाटकादीनामितिवृत्तार्थस्योपायः । आमुखं तु रूपकप्रस्तावनार्थं नटस्यैव वृत्तम् । याः पुनरत्र नाटकार्थस्पृशो नटोक्तयस्ताः प्रयोगपातनिकार्थमेव । अत एव आमुखोक्ता अपि बीजोक्तयः प्रविष्टनाटकपात्रेण पुनरुच्यन्ते । तथा च रत्नावल्याम्—

हुए] 'यथारुचि' इस [पद] से [यह सूचित किया है कि] कि औद्देशिक [अर्थात् जिस क्रमसे उनको यहाँ पढ़ा गया है उसी] क्रमसे [नाटकमें] उनका प्रयोग-क्रम [अपेक्षित] नहीं है । और न सब [पाँचों उपायों] का अपरिहार्यत्व [अपेक्षित] है । [अर्थात् कवि या नाटककार अपनी आवश्यकता और इच्छाके अनुसार उनमेंसे किन्हींका और किसी भी क्रमसे उपयोग कर सकता है] । 'फल' अर्थात् [नाटकके] मुख्य साध्यके 'हेतु' उपाय [कहलाते] हैं । ये हेतु [उपाय] दो प्रकारके होते हैं । एक 'अचेतन' और दूसरे 'चेतन' । [उनमेंसे] अचेतन [हेतु] भी मुख्य तथा अमुख्य भेदसे दो प्रकारका होता है । मुख्य [अचेतन हेतु] 'बीज' [कहलाता] है । क्योंकि अन्य सब उसके आश्रित होते हैं । अमुख्य [अचेतन हेतु] 'कार्य' कहलाता है । चेतन [हेतु] भी मुख्य और उपकरणभूत दो प्रकारका होता है । मुख्य [चेतन हेतु] कार्यानुसन्धान रूप होनेसे 'बिन्दु' [कहलाता] है । उपकरणभूत [चेतन हेतु भी] दो प्रकारका होता है । एक स्वार्थसिद्धियुक्त होनेके साथ परार्थसिद्धिपर, और दूसरा [केवल] परार्थसिद्धिमें तत्पर । [इनमेंसे] पहिला [अर्थात् स्वार्थसिद्धियुक्त होनेके साथ परार्थसिद्धिपर चेतन साधन] 'पताका' । और [केवल परार्थसिद्धिपर] दूसरा [चेतन साधन] 'प्रकरी' कहलाता है । इनमें से [भी] अचेतन तथा चेतन [साधनों और उपायों] मेंसे [क्रमशः] बीज और बिन्दुकी [नाटक की आख्यान-वस्तुमें] सर्वत्र व्यापक होनेसे मुख्यता है ॥२८॥

अब आगे [उपायोंमेंसे सर्वप्रथम] 'बीज' को कहते हैं—

[सूत्र २६]—[आरम्भमें] सूक्ष्मरूपसे कहा गया और [अन्तमें] फल रूपमें पर्यवसित होनेवाला [मुख्य अचेतन] हेतु [वृक्षके बीजके समान शाखा आदि रूपमें] विस्तृत हो जानेसे 'बीज' [कहलाता] है ।

[नाटकके] आरम्भमें, [गम्भीर] दुर्ज्ञेय होनेसे सूक्ष्म रूपमें बोया और मुख्य फलमें समाप्त होनेवाला जो हेतु, मुख्य-साध्यका उपाय है वह धान्यके बीजके समान होनेसे 'बीज' [कहलाता] है । [कारिकामें आए हुए] 'प्ररोहणात्' [पदका अभिप्राय] 'शाखा-प्रशाखा रूपमें फैल जानेसे' यह है । [नाटककी रचनामें] आमुख [प्रस्तावना] के बाद इस [बीज] को निबद्ध किया जाता है । बीज नाटकके इतिवृत्त [आख्यान-वस्तु] का उपाय [होता] है । [किन्तु] आमुख तो रूपकको प्रस्तुत करनेकेलिए नटका ही व्यापार [वृत्तम्] है । [अर्थात्

"द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥"

इत्याद्यामुखोक्तं यौगन्धरायणः पठति ।

आमुख-भागका नाटककी मुख्य आख्यान-वस्तु या इतिवृत्त कथा आदिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है] । इस [आमुख] में जो नाटकके मुख्य कथा-भाग [अर्थ] को स्पर्श करनेवाली नटोंकी उक्तियाँ होती हैं वे प्रयोगकी अवतरणिकाकेलिए ही होती हैं [मुख्य नाटकका अङ्ग नहीं होती हैं] । इसी लिए आमुखमें कही हुई बीजभूत उक्तियोंको [आमुखके बाद] प्रविष्ट हुआ नाटकका पात्र फिरसे दुहराता है । इसीलिए रत्नावलीमें—

"अनुकूलताको प्राप्त हुआ [अभिमुखीभूतः] दैव, अन्य द्वीपसे, सागरके बीचसे और दिशाओंके छोरसे भी अपने अभीष्ट अर्थको लाकर मिला देता है ।"

आमुखमें कहे हुए [नाटकके कथाभागको स्पर्श करनेवाले] इस [श्लोक] को [आमुख के बाद प्रविष्ट हुआ नाटकका पात्र] यौगन्धरायण फिर पढ़ता है ।

रत्नावलीके आमुखमें नटीने नटसे यह कहा था कि मेरी एक ही लड़की है तुमने बड़े दूर देशमें उसका सम्बन्ध पक्का कर दिया है । पता नहीं इतनी दूरसे आकर वह कब मेरी लड़कीका पाणिग्रहण करेगा । मैं तो इसी चिन्तामें मरी जा रही हूँ । इसलिए मेरा मन गाने-वानेको नहीं करता है । इसके उत्तरमें नटने इस श्लोकको कहा है । उसका भाव यह है कि तुम चिन्ता क्यों करती हो । भगवान्के अनुकूल होनेपर वे तो दूसरे द्वीपसे, समुद्रके मध्यसे और दिशाओंके छोरसे भी अभिमत अर्थोंको लाकर मिला देते हैं । तब यह कार्य भी पूर्ण होगा ही । क्योंकि मैंने भी तो भगवान्की प्रेरणासे ही यह सम्बन्ध पक्का किया है ।

इस प्रकार यह श्लोक मुख्य रूपसे नटीकी चिन्ताकी निवृत्तिकेलिए नटके द्वारा कहा गया है । किन्तु वह प्रकृत नाटककी कथावस्तुको स्पर्श कर रहा है । इस नाटककी नायिका रत्नावली सिंहलेश्वरकी पुत्री है । किसी ज्योतिषीने इस नाटकके नायक राजा उदयन और उनके मन्त्री यौगन्धरायणको बतलाया था कि सिंहलेश्वरकी पुत्री इस रत्नावलीके साथ जिसका विवाह होगा वह चक्रवर्ती साम्राज्यको प्राप्त करेगा । इस लिए उदयनकी ओरसे यौगन्धरायणने रत्नावलीका विवाह उदयनके साथ कर देनेका प्रस्ताव उसके पिताके सामने रखा । किन्तु उस समय उदयनकी रानी वासवदत्ता विद्यमान थी जो दूरके सम्बन्धमें रत्नावलीकी बहिन लगती थी । सिंहलेश्वरने यह सोचकर कि इस विवाहसे रत्नावलीकी बहिन वासवदत्ताको क्लेश होगा—उस प्रस्तावको अस्वीकार कर दिया । कुछ समय बाद यौगन्धरायणने वासवदत्ताके मर जानेका समाचार फैला देनेके बाद वही प्रस्ताव फिर सिंहलेश्वरके सामने रखा । इस बार वे सम्बन्ध करनेके लिए तैयार हो गए । उस प्रसङ्गमें रत्नावली सिंहलसे भारत आ रही थी । उसका जहाज़ डूब गया । वह जैसे-तैसे किसी काष्ठ के सहारे बचकर उधरसे आनेवाले व्यापारियोंके द्वारा यौगन्धरायणको प्राप्त हुई । यौगन्धरायणने उसे अपनी बहिन बतलाकर रक्षाके लिए राजमहलमें रानी वासवदत्ताके पास कुछ दिनोंके लिए रख दिया । यह कन्या सागरसे प्राप्त हुई थी इस लिए इसका नाम भी यौगन्धरायणने 'सागरिका' रख दिया था । कन्याको वासवदत्ताने अपने पास रख तो लिया किन्तु उसके अपूर्व रूप-लावण्यको देखकर वह बड़ी सशङ्क हो गई कि कहीं राजाकी दृष्टि

यथा वा 'सत्यहरिश्चन्द्रे'—

"सत्त्वैकतानवृत्तीनां प्रतिज्ञातार्थकारिणाम्।
प्रभविष्णुर्न देवोऽपि किं पुनः प्राकृतो जनः॥"

इत्यामुखोक्तं हरिश्चन्द्रः पठति।

यथा वा अस्मदुपज्ञ एव 'यादवाभ्युदये'—

उदयाभिमुख्यभाजां सम्पत्त्यर्थं विपत्तयः पुंसाम्।
ज्वलितानले प्रपातः कनकस्य हि तेजसो वृद्ध्यै॥

इति नाटकपात्रं गुप्तमन्त्रः पठति।

इस पर न पड़ जाय। इस लिए वह बड़े यत्न-पूर्वक राजा उदयनकी दृष्टिसे उसको बचाए रखनेका यत्न करती थी। किन्तु राजमहलमें रहकर यह कब तक सम्भव था। आखिर राजा के कानों तक उसके रूप-लावण्यकी चर्चा पहुँची ही। और फिर सब प्रकारके उपायोंका अवलम्बन करके राजाने उसका साक्षात्कार करने और अन्तमें उसके साथ विवाह करनेमें सफलता प्राप्त कर ही ली।

इस क्रमसे अनुकूल दैवने सिंहल नामक दूसरे द्वीपसे, समुद्रके मध्यसे और दिशाओं छोरसे रत्नावलीको लाकर उदयनके साथ सम्बद्ध कर ही दिया। इस प्रकार आमुखमें जो यह श्लोक केवल नटीकी सान्त्वनाके लिए कहा गया था वह नाटककी मुख्य कथा वस्तुका स्पर्श कर रहा है। इसलिए आमुखकी समाप्तिके बाद जब नाटकके पात्रके रूपमें उदयनके मन्त्री यौगन्धरायण रङ्गमञ्च पर प्रविष्ट होते हैं तो फिर वे इस श्लोकको दोहराते हैं। आमुखमें पढ़ा हुआ यह श्लोक मुख्य कथाभागका स्पर्श करनेवाला होनेपर भी केवल नटोक्तिमात्र था, नाटकका भाग नहीं। इसी लिए मुख्य नाटकसे सम्बद्ध करनेके लिए यौगन्धरायणके द्वारा उसका पुनः पाठ दिखलाया गया है। इसी प्रकारके और उदाहरण भी आगे देते हैं।

अथवा जैसे 'सत्यहरिश्चन्द्र' [नाटक] में—

केवल सत्त्व-प्रधान वृत्तियों वालों और प्रतिज्ञात अर्थको [निश्चित रूपसे] पूर्ण करने वालों [के मार्गमें बाधा डालने] के लिए दैव भी समर्थ नहीं होता है फिर साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या।

आमुखमें कहे हुए इस [श्लोक] को [नाटकके पात्रके रूपमें प्रविष्ट हुआ] हरिश्चन्द्र [फिर दुबारा] पढ़ता है।

अथवा जैसे हमारे ही बनाए हुए यादवाभ्युदय में—

उन्नतिकी ओर प्रगतिशील पुरुषोंकी विपत्तियाँ भी उनके अभ्युदय [सम्पत्ति] के लिए ही होती हैं। सोनेका प्रज्वलित अग्निमें पड़ना भी उसकी कान्तिको बढ़ानेवाला होता है।

[आमुखमें आए हुए कथा-स्पर्शी इस बीजभूत श्लोकको] गुप्तमन्त्र [नामका पात्र फिर] पढ़ता है।

ये तीनों श्लोक उस-उस नाटकके आमुखमें किसी अन्य रूपमें कहे गए हैं किन्तु उनके द्वारा मुख्य नाटकके आख्यान-वस्तुकी बीज रूपसे सूचना मिलती है। सूत्रधार भी मुख्य नाटकके आख्यान-वस्तुको संक्षिप्त रूपमें सूचित करनेकी दृष्टिसे ही उन श्लेषमय श्लोकोंका

तत्र बीजं क्वचिद् व्यापाररूपम्। यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावली-प्राप्तिहेतुरनुकूलदैवः सागरिकान्तःपुरनिक्षेपादिर्यौगन्धरायणव्यापारः।

क्वचित्तु व्यसननिवृत्तिफले रूपके व्यसनोपक्षेपरूपम्। यथा 'मायापुष्पके' शापः प्रविश्य वचनक्रमेणाह—

कैकेयी क्व पतिव्रता भगवती क्वैवंविधं वाग्विषं
धर्मात्मा क्व रघूद्वहः क्व गमितोऽरण्यं सजायानुजः।
क्व स्वच्छो भरतः क्व वा पितृवधान्मात्राधिकं दह्यते
किं कृत्वेति कृतो मया दशरथे वध्ये कुलस्य क्षयः॥

प्रयोग करता है। परन्तु आमुख भागमें प्रयुक्त इस प्रकारकी उक्तियोंको बीज नहीं माना जाता है। आमुखके बाद बीजका आरोपण होता है। इसी लिए आमुखकी समाप्तिके बाद मुख्य नाटकका जो पात्र रङ्गमञ्चपर आता है उसके द्वारा इस प्रकारकी उक्तियोंको पुनः कहलाकर नाटककार बीजका आरोपण करता है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

यह बीज रूप उपाय, नाटकोंके आख्यान-वस्तुके अनुसार विभिन्न रूपका होता है। नाटकका अवसान जिस रूपमें होना है उसीके अनुसार नाटकके आरम्भमें उसका बीजारोपण किया जाता है। इस प्रकारके चार उदाहरण ग्रन्थकार आगे प्रस्तुत करते हैं। इनमें से पहिला उदाहरण रत्नावली नाटिकासे दिया गया है। रत्नावली नाटिकामें जैसाकि पहिले कहा जा चुका है सागरसे प्राप्त हुई रत्नावलीको यौगन्धरायणने सागरिका नामकी अपनी बहिन कहकर उदयनके राजमहलमें वासवदत्ताके पास रख दिया है। यही इसका बीज भाग है। इसीके द्वारा वत्सराज उदयनको आगे चलकर रत्नावलीकी प्राप्ति हो सकी है। यह बीज यौगन्धरायणका व्यापार-रूप है। इसी बातको आगे लिखते हैं—

और वह बीज कहीं व्यापाररूप होता है। जैसे रत्नावली [नाटिकामें] वत्सराज [उदयन] को रत्नावलीकी प्राप्ति करानेवाला दैवकी अनुकूलतासे युक्त सागरिकाका अन्तःपुरमें [वासवदत्ताके समीप] रखने आदिका यौगन्धरायणका व्यापार।

इस प्रकार रत्नावलीमें यौगन्धरायणका व्यापार बीजभूत उपायके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। इसमें रत्नावलीकी प्राप्ति नाटकका अन्तिम फल अभीष्ट है इस लिए रत्नावली का अन्तःपुर-निक्षेप उसका जनक होनेसे 'बीज' है। जिस नाटकमें किसी विपत्तिकी निवृत्ति आख्यान-वस्तुका चरम फल अभीष्ट होता है उसमें उस विपत्तिका आरम्भ ही 'बीज' रूप उपायके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है। इसका उदाहरण आगे देते हैं।

कहीं, जहाँकि [नायकपर आनेवाली किसी] विपत्तिका निवारण ही [नाटकका मुख्य] फल है। उस नाटकमें विपत्तिका आरम्भ [बीज रूपमें प्रस्तुत किया जाता है]। जैसे 'माया-पुष्पक' [नाटक] में [श्रवणकुमारके वधके बाद उसके अन्धे माता-पिता द्वारा दशरथको दिया हुआ] शाप [मानव रूपमें] प्रविष्ट होकर वचनक्रमसे [नाटकके भावी आख्यान-वस्तुको] कहता है—

कहाँ तो पतिव्रता भगवती कैकेयी और कहाँ इस प्रकारका वाणीका विष [उगलना], कहाँ धर्मात्मा रामचन्द्र और कहाँ उसको स्त्री और भाईके साथ वनको भेजा जाना, कहाँ स्वच्छ-हृदय भरत और कहाँ पिताके वधके कारण मात्रासे भी अधिक अपरिमित सन्तापको

क्वचिद् व्यसनाभ्युदययोरुपक्षेपरूपम् । यथा 'तापसवत्सराजे' माणवकः —

"अमच्चो वि एवं सामिणा अप्पणो पडिकूलमायरंतेण दढं आयासिदो । पत्थुदं च णेण रुमण्णमिस्सेहिं सह संपधारिय सामिभत्तीए मदिविहवस्स य अणुरूवं" इत्यादि ।

[अमात्योऽप्येवं स्वामिना आत्मनः प्रतिकूलमाचरता दृढमायासितः । प्रस्तुतं चानेन रुमण्वन्मिश्रैः सह सम्प्रधार्य स्वामिभक्त्या मतिविभवस्य चानुरूपम् । इति संस्कृतम्] ।

क्वचिद् व्यसनोपनिपाते तन्निवृत्त्युपक्रमरूपम् । यथा मुद्राराक्षसे चाणक्यः—

"आः क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति ।
नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहलधूमलताम् ।
अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे ॥

इत्यादि नायक-प्रतिनायक-अमात्याद्याश्रयेण विचित्ररूपो बीजोपन्यास इति ।

[अथवा माताके द्वारा दुःखको] भोग रहा है । [मुझ शापके द्वारा] केवल दशरथके ही वध्य होने पर भी मैंने यह सारे कुलका विनाश क्यों कर डाला ।

कहीं व्यसन तथा अभ्युदय [अर्थात् पहले होनेवाले व्यसन या विपत्ति और उसके बाद प्राप्त होनेवाले अभ्युदयका प्रदर्शन जिस नाटककी कथा-वस्तुमें किया गया है उस प्रकार के नाटकमें] दोनोंका [बीज रूपमें] उपक्षेप [होता है] जैसे तापसवत्सराजचरितमें माणवक [प्रविष्ट होकर कहता है कि]—

इस प्रकार स्वामीने [वत्सराज उदयनने] स्वयं अपने प्रतिकूल आचरण करके अमात्य को भी अत्यन्त कष्ट दिया । किन्तु उस [अमात्य यौगन्धरायण] ने स्वामिभक्ति और अपने बुद्धि-वैभवके अनुरूप [दूसरे मन्त्री] रुमण्वान् मित्रके साथ विचार कर [कार्यका] आरम्भ कर दिया ।

कहीं [प्रारम्भमें नायकके ऊपर] विपत्तिके आने [की सम्भावना होने] पर उसकी निवृत्तिका उपक्रम [बीज रूपमें प्रस्तुत किया जाता है] जैसे मुद्राराक्षसमें चाणक्य [कहता है]—

अरे मेरे रहते यह कौन चन्द्रगुप्तको बलपूर्वक अभिभूत करना चाहता है ।

यह कौन मृत्युका अभिलाषी [बध्यः कः] नन्दकुल [का विनाश करनेवाली, उस] की काली नागिन रूप और [मेरे] प्रचण्ड कोपानलकी नीली धूमरेखा रूप मेरी शिखाको आज [नन्दकुलका नाश हो जानेपर] भी बँधने नहीं देना चाहता है ।

इत्यादि । [इस प्रकार] नायक-प्रतिनायक अमात्य आदिके आश्रयसे [नाटकके] बीजका आरोपण नाना प्रकारसे किया जा सकता है ।

मुद्राराक्षसमें राक्षस और मलयकेतु मिलकर चन्द्रगुप्तको राज्यच्युत करनेकी योजना बना रहे हैं । नन्दकुलका विनाश कर चाणक्यने ही चन्द्रगुप्तको राजा बनाया है । इसलिए जब उसे यह मालूम होता है कि मलयकेतुके साथ मिलकर नन्दकुलका पुराना मन्त्री राक्षस चन्द्रगुप्तको राज्यच्युत करना चाहता है तब उसने यह श्लोक कहा है । यही श्लोक मुद्राराक्षस नाटकका बीजभूत है । इसीके शाखा प्रशाखाओंके रूपमें आगे कथाभागमें चाणक्य तथा राक्षस दोनोंके प्रयत्नोंका परिचय मिलता है । उसका परिणाम अन्तमें राक्षसका चाणक्यको आत्म-समर्पण होता है ।

पताका-निरूपण—

इस कारिकाके पूर्वार्द्ध-भागमें बीजरूप प्रथम उपायका वर्णन किया गया है। अब उत्तरार्द्ध-भागमें पताका रूप दूसरे उपायका वर्णन प्रारम्भ करते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पाँच उपायोंको चेतन तथा अचेतन भेदसे दो भागोंमें विभक्त किया गया है। पाँचों साधनोंमेंसे बीज तथा कार्यरूप रूप दो उपायोंको अचेतन साधनोंमें और शेष पताका प्रकारी तथा बिन्दु रूप तीन उपायोंको चेतन साधनोंमें गिना जाता है। पिछले प्रकरणमें 'बीज' रूप अचेतन साधनका वर्णन किया था इस लिए सामान्यतः उसके बाद दूसरे अचेतन साधन 'कार्य'का वर्णन करना चाहिए था। किन्तु मूल कारिकामें 'बीज' के बाद 'पताका' का नामतः कथन या उद्देश्य किया गया है। इसलिए उद्देश-क्रमसे ही उनके लक्षण करना उचित मानकर 'बीज' के बाद 'पताका' का लक्षण किया गया है—पाँचों उपायोंका नामतः कथन या उद्देश करनेवाली कारिकामें जो बीजके बाद पताकाका नाम रखा गया है वह कदाचित् छन्दो-ऽनुरोधसे ही रखा गया है।

पताका शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ध्वजा है। परन्तु यहाँ वह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। ध्वजा रूप पताका अचेतन पदार्थ है। यहाँ पताका शब्दसे चेतन अर्थका ग्रहण किया गया है। इस लिए पताका शब्दका मुख्य प्रसिद्ध अर्थ यहाँ सङ्गत नहीं होता है। यहाँ नायकके कार्यकी सिद्धिमें सहायता देनेवाले किसी चेतन व्यक्तिके लिए 'पताका' शब्दका प्रयोग किया गया है। जैसे रामचन्द्र, के चरित्रमें सीतानयन आदि रूप कार्यकी सिद्धिमें उनके सहायक सुग्रीव रहे हैं इस लिए वे 'पताका' या 'पताका-नायक' कहलाते हैं। पताका जिस प्रकार प्रसिद्धि तथा प्राशस्त्यकी सूचिका होती है। इसी प्रकार पताका-नायक भी प्रधान-नायककी प्रसिद्धि तथा प्राशस्त्य आदिका सूचक होता है। इस लिए पताका के सदृश होनेसे उसको भी 'पताका' या 'पताका-नायक' कहा जाता है।

पताका और प्रकरी—

'पताका'के साथ ही दूसरा शब्द 'प्रकरी' भी इन पाँचों उपायोंकी गणनामें प्रयुक्त किया गया है। ये दोनों प्रधान-नायककी कार्यसिद्धिमें उसके प्रधान सहायक होते हैं। इन दोनोंमें परस्पर यह अन्तर होता है कि 'पताका-नायक'का अपना भी कुछ स्वार्थ होता है। और 'प्रकरी'का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता है। 'पताका-नायक' अपने स्वार्थकी सिद्धिके साथ-साथ प्रधान-नायकके कार्यकी सिद्धिमें सहायक होता है। किन्तु 'प्रकरी' अपने किसी स्वार्थकी अपेक्षा न रखकर निरपेक्ष-भावसे प्रधान-नायकका सहायक होता है। 'रामचरित'में सुग्रीव 'पताका-नायक' है और जटायु 'प्रकरी' का उदाहरण है। सुग्रीव बालिसे अपने राज्य और अपनी पत्नीको वापिस दिलानेके स्वार्थको सिद्ध कर रामका सहायक बना है। और जटायु निरपेक्ष-भावसे रामकी सहायता करता है। इस लिए स्वार्थसिद्धियुत होनेके कारण सुग्रीव 'पताका-नायक' और केवल परार्थसिद्धि-पर होनेके कारण जटायु 'प्रकरी-नायक' हैं। इसी अभिप्रायको लेकर आगे ग्रंथकार 'पताका' और 'प्रकरी' के लक्षण देते हैं। उनमेंसे भी पहिले वे पताकाका लक्षण करते हैं।

पताका और प्रकरी का दूसरा भेद—

पताका और प्रकरीका एक भेद तो यह हुआ कि पताका-नायकके साथ स्वार्थका

सम्बन्ध भी रहता है और प्रकरीके साथ स्वार्थसिद्धिका कोई प्रश्न नहीं रहता है। इनका दूसरा भेद दोनोंके चरित्रकी व्यापकताकी दृष्टिसे है। 'प्रकरी' का चरित्र बिलकुल एकदेशी और सीमित होता है। पताका-नायकका चरित्र उसकी अपेक्षा पर्याप्त बड़ा और अधिक देश-व्यापी होता है। पताकाका लक्षण करते हुए जो 'आ-विमर्शात्' पद दिया गया है उससे पताका-नायकके चरित्रकी व्यापकता ही प्रदर्शित की गई है। नाटकके कथाभागको पाँच भागोंमें बाँटकर उसमें पाँच प्रकारकी सन्धियोंका प्रयोग करनेका विधान किया गया है। इन सन्धियोंके नाम—१. मुख-सन्धि, २. प्रतिमुख-सन्धि, ३. गर्भ-सन्धि, ४. विमर्श-सन्धि और ५. निर्वहण-सन्धि रखे गए हैं। इनमें पताका-नायकका चरित्र मुख-सन्धिसे प्रारम्भ होकर 'आ-विमर्शात्' विमर्श सन्धितक व्याप्त हो सकता है। 'आ-विमर्शात्' पदमें आए हुए आङ्-उपसर्गके भी दो अर्थ हैं। एक 'मर्यादा' और दूसरा 'अभिविधि'। 'तेन विना मर्यादा' और 'तत्सहितो अभिविधिः'। आ-विमर्शात् पदमें यदि आङ्-उपसर्गको मर्यादार्थक मानें तो 'तेन विना' अर्थात् विमर्श सन्धिको छोड़कर अर्थात् गर्भ-सन्धि पर्यन्त पताका-नायक के चरित्रका क्षेत्र रहता है। और यदि आङ्-उपसर्गको 'अभिविधि' अर्थमें मानते हैं तो 'तेन सह अभिविधिः' इस लक्षणके अनुसार 'आविमर्शात्' पदसे विमर्श-सन्धिको भी सम्मिलित करके मुख, प्रतिमुख, गर्भ और विमर्श इन चारों सन्धियोंमें पताका-नायकका चरित्र व्यापक हो सकता है। परन्तु 'प्रकरी' का चरित्र बिलकुल एकदेशी होती है।

पताका अनिवार्य नहीं—

पताका और प्रकरी दोनोंके विषयमें एक बात यह और ध्यान रखने की है कि इन दोनोंमेंसे किसीकी भी स्थिति नाटकमें अनिवार्य नहीं है। इन दोनोंके बिना भी नाटककी रचना हो सकती है। इनकी आवश्यकता उसी दशामें है जब मुख्य-नायकको सहायककी आवश्यकता होती है। जिस नायकको इस प्रकारके सहायककी आवश्यकता नहीं होती उसके चरित्रको लेकर लिखे गए नाटक की रचना इनके बिना भी की जा सकती है।

पताका और पताका स्थान—

इस सम्बन्धमें एक बात और ध्यानमें रख लेनी चाहिए कि यह पताका शब्द कभी-कभी भ्रम उत्पन्न कर देता है। यह जो यहाँ पताकाका लक्षण किया जा रहा है वह प्रधान-नायकके सहायक पताका-नायकका लक्षण किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त चार प्रकारके पताका-स्थानोंका वर्णन भी आगे आयेगा। वे 'पताका-स्थान' इस पताकासे बिलकुल भिन्न वस्तु है। जहाँ केवल 'पताका' शब्दका प्रयोग किया जाता है वहाँ उससे 'पताका-नायक'का ही ग्रहण होता है। पताका-स्थानोंकी चर्चा जहाँ अभिप्रेत होती है वहाँ केवल पताका शब्दका प्रयोग न करके 'पताका-स्थान' शब्दका ही प्रयोग किया जाता है। इन दोनों के नामोंमें अत्यधिक साम्य होनेके कारण ही ग्रन्थकारने पताका-लक्षणके बाद ही 'पताका-स्थानोंका' भी वर्णन कर दिया है। वैसे साधारणतः इस स्थल पर उनके वर्णनका कोई प्रसङ्ग नहीं था।

इस विवरणको समझ लेने पर आगे कहे हुए पताका-लक्षणके समझनेमें सरलता होगी।

अथ पताकां निरूपयति—

[सूत्र २७]—आविमर्शं पताका चेच्चेतनः स परार्थकृत् ॥२६॥

स्वार्थाय प्रवृत्तो यो हेतुश्चेतनः परस्य प्रधानस्य प्रयोजनं सम्पादयति स प्रसिद्धि प्राशस्त्यहेतुत्वात् पताकेव 'पताका'। सुग्रीव-विभीषणादिर्हि रामादिनोपक्रियमाणो रामादेरात्मनश्चोपकाराय भवन्, रामादेः प्रसिद्धि प्राशस्त्यं च सम्पादयति। 'चेत्' इति यदि फलसाधने साहाय्यापेक्षाणां नायकानां वृत्तं निबध्यते, तदा पताका भवति। न तु स्वपराक्रमबहुमानिनामिति। एवं प्रकर्यपि। अविमर्शमिति यदा मर्यादायामाङ्, तदा मुख-प्रतिमुख-गर्भान्, यदा पुनरभिविधौ, तदा विमर्शमभिव्याप्य विरमति। तावत्येव पताकानायकस्य स्वफलसिद्धिर्निबध्यते। निर्वहणसन्धावपि तत्फले निबध्यमाने तुल्यकालयोरुपकार्योपकारकत्वाभावात्, न तेन प्रधानस्योपकारः स्यात्। सिद्धफलस्त्वसौ प्रधानफल एव व्याप्रियमाणो भूतपूर्वगत्या पताकाशब्दवाच्य इति ॥२६॥

अब [स्वार्थसिद्धिके साथ-साथ परार्थसिद्धि-पर उपकरणभूत चेतनसाधन रूप] पताका का निरूपण करते हैं—

[सूत्र २७]—[पताकाका होना अपरिहार्य नहीं है किन्तु] यदि वह चेतन [स्वार्थसिद्धि-सहित] परार्थकारी हो तो [मुखसन्धिसे लेकर] विमर्शसन्धि-पर्यन्त 'पताका' [नायक] हो सकता है। निर्वहणसन्धिमें उसकी स्थिति नहीं रहनी चाहिए] ।२६।

जो चेतन हेतु अपने स्वार्थके लिए प्रवृत्त होनेपर भी दूसरें अर्थात् प्रधान नायकके प्रयोजनको सिद्ध करता है वह [प्रधान-नायककी] प्रसिद्धि एवं प्राशस्त्यका हेतु होनेसे पताका के समान [गौण रूपसे] 'पताका' [कहलाता] है। सुग्रीव विभीषणादि रामादिके द्वारा उपकृत होकर रामादिके और अपने दोनोंके उपकारक होकर रामादिकी प्रसिद्धि और प्राशस्त्य को सिद्ध करते हैं [इसलिए 'पताका' कहलाते हैं]। 'चेत्' इस पदसे [यह बात सूचित की है कि] यदि फलसाधनमें सहायककी अपेक्षा रखने वाले नायकोंके चरित्रका वर्णन किया जाता है तब तो 'पताका' होता है किन्तु अपने ही पराक्रमको बहुत समझने वाले [नायकके चरित्र के वर्णन] में [पताका-नायक] नहीं होता है। इसी प्रकार 'प्रकरी' में भी समझना चाहिए। 'आ-विमर्श' इस पदमें जब आङ् 'मर्यादा' अर्थमें है तब ['तेन विना मर्यादा' उस विमर्श-सन्धिको छोड़कर] मुख प्रतिमुख और गर्भसन्धियोंमें, और जब 'अभिविधि' में [आङ्का प्रयोग माने तो 'तेन सह अभिविधिः' उस विमर्श सन्धिको भी सम्मिलित करके] विमर्श-सन्धि पर्यन्त पताका [नायकका चरित्र] समाप्त होता है। [अधिकसे अधिक] वहाँ तक ही पताकानायक के अपने फलकी सिद्धि हो जाती है। यदि निर्वहण-सन्धिमें भी उस [पताका-नायक] के फल का वर्णन किया जाय तो समान काल तक रहने वाले [प्रधान-नायक और पताका-नायकके चरित्रोंमें] उपकार्य-उपकारक भावके सम्भव न होनेसे उस [पताका-नायक] के द्वारा प्रधान-नायकका उपकार नहीं हो सकेगा। [विमर्श-सन्धि पर्यन्त ही] फलकी सिद्धि हो जानेपर तो [निर्वहणसन्धिमें] वह प्रधान-नायकके फलके लिए ही यत्न करता हुआ [अब पताका न रहनेपर भी] भूतपूर्व गतिसे 'पताका' शब्दसे कहा जाता है ॥२६॥

अथ पताकाप्रस्तावात् पताकास्थानकानां सामान्यलक्षणं भेदांश्चाह—

[सूत्र २८]—चिन्तितार्थात्परप्राप्ति-र्वृत्ते यत्रोपकारिणी ।
पताकास्थानकं तत्तु चतुर्द्धा मण्डनं क्वचित् ॥३०॥

'अर्थः' कर्म-करणव्युत्पत्त्या प्रयोजनमुपायश्च । अध्यवसितात् प्रयोजनादुपायाच्च अन्यस्य प्रयोजनस्योपायस्य च प्राप्ति र्यत्रेतिवृत्ते उपकारिणी, प्रधानफलोपकारिका तदितिवृत्तं पताकास्थानकम् । उपकारित्वमात्रसाम्यात् पताकास्थानस्य तुल्यं पताका-स्थानकम् । न पुनः पताकास्थानमेव । अत एव तु-शब्दः पताकास्वरूपात् व्यतिरेकं द्योतयति । मण्डनमिति एकमपि पताकास्थानकं नाट्य-काव्यालङ्करणं किं पुनर्द्वे त्रीणि चत्वारि वा । एतद्विहीनं रूपकं न कार्यमित्यर्थः । क्वचिदिति अन्तरा-न्तरा, न तु पताकावन्निरन्तरम् । अत एव पताकातो भिद्यते ॥३०॥

पताकास्थान—

इस प्रकार पताकाका प्रकरण होनेसे [उससे मिलते हुए] पताका स्थानके सामान्य लक्षण और उसके भेदोंको कहते हैं—

[सूत्र २८]—सोचे हुए अर्थ [अर्थात् प्रयोजन तथा उपाय] से दूसरे [प्रयोजन या उपाय रूप] अर्थकी [अनायास] प्राप्ति जहाँ इतिवृत्त [आख्यान-वस्तु] में उपकारिणी हो जाती है वह [नाटकमें निरन्तर न रहकर] कहीं-कहीं होने वाला चार प्रकारका 'पताकास्थान' [नाट्य रूप काव्यका शोभाजनक] सौन्दर्याधायक होता है ।३०।

'अर्थ' शब्दसे [अर्थ्यते इति अर्थः] इस प्रकारकी कर्ममें व्युत्पत्तिसे प्रयोजन, तथा [अर्थ्यते येन स अर्थः] इस प्रकारकी करण व्युत्पत्तिसे उपाय [दोनों 'अर्थ' कहलाते हैं] । निश्चित किये हुए प्रयोजन तथा उपायसे भिन्न प्रयोजन तथा उपायकी प्राप्ति जहाँ कथाभाग की उपकारिणी अर्थात् प्रधान फलकी [सिद्धिमें] उपकारिणी होती है वह कथाभाग [इतिवृत्त] 'पताकास्थानक' [कहलाता] है । [पहले कहे हुए पताका-नायकके समान प्रधानके] उप-कारकत्वमात्रकी समानताके कारण पताकाकी अर्थात् पताका-नायकके स्थान अर्थात् स्थितिके तुल्य होनेसे यह 'पताकास्थान' [कहलाता] है । [पताका नायक की स्थिति रूप न होनेसे] 'पताकास्थानीय' ही नहीं है । [अर्थात् पताकास्थान पताका स्वरूप नहीं किन्तु प्रधानोपकारकत्वकी समानताके कारण पताकाके तुल्य है] । इसीलिए [कारिकामें आया हुआ] तु-शब्द पताकाके स्वरूपसे [पताकास्थानके] भेदको सूचित करता है । 'मण्डनम्' इससे [एकवचन] से [यह सूचित किया है कि एक स्थानपर प्रयुक्त] । एक भी पताकास्थान नाट्य-काव्यका सौन्दर्याधायक हो जाता है फिर दो, तीन, चार [प्रकारके कहे जाने वाले अथवा अधिक स्थानोंपर प्रयुक्त हुए पताकास्थानों] का तो कहना ही क्या है । [नाटकमें विशेष रूपसे पताकास्थानका प्रयोग अवश्य करना चाहिए] इसके बिना रूपक [की रचना] को नहीं करना चाहिए यह अभिप्राय है । [कारिकामें आए हुए] 'क्वचित्' इस [पद] से [यह सूचित किया है कि नाटकमें] बीच-बीचमें [कहीं-कहीं ही पताकास्थानोंका प्रयोग करना चाहिए] पताका [नायक] के समान निरन्तर [उसकी उपस्थिति आवश्यक] नहीं [है] इसीलिए [पताका स्थान] पताका [नायक] से भिन्न [माना जाता है] ॥३०॥

अथ आद्यभेदमाह—

[सूत्र २६]—सहसेष्टार्थलाभश्च

'सहस' इत्याकस्मिकत्वेन सभ्यानां चमत्कारहेतुत्वमाह। यथा 'रत्नावल्यां' सागरिकायां पाशावलम्बनप्रवृत्तायां वासवदत्तेति मन्यमानो राजा पाशाद्विमोचयति, तदा तदुक्त्या सागरिकां प्रत्यभिज्ञायाह—

"कथं मे प्रिया सागरिका? अलमलमतिमात्रेण।" इत्यादि।

अत्रान्यत् प्रयोजनं चिन्तितं, वैचित्र्यकारि च प्रयोजनान्तरं सम्पन्नम्।

यथा वा 'नलविलासे', विदूषक-कापालिकनियुद्धनिवारणायोद्यतस्य राज्ञो दमयन्तीप्रतिकृतिलाभ इति।

अन्यस्मिन्नुपाये चिन्तिते सहसोपायान्तरप्राप्तिर्यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य शंखचूडादप्राप्तवध्यपटस्य कञ्चुकिना वासोयुगलार्पणमिति।

अब [चार प्रकारके पताकास्थानोंमेंसे] प्रथम भेदको कहते हैं—

[सूत्र २६]—सहसा [आकस्मिक रूपसे प्राप्त होनेके कारण सभ्योंके लिए चमत्कार-जनक] इष्ट वस्तुकी प्राप्ति [का वर्णन प्रथम प्रकारका पताकास्थान कहलाता है]।

'सहसा' इस [पद] से आकस्मिक रूपसे प्राप्त होनेके कारण सभ्योंके चमत्कारका हेतुत्व सूचित किया है। जैसे रत्नावलीमें [तृतीय अंकमें] सागरिकाके [अपने गलेमें] फाँसी लगानेमें प्रवृत्त होनेपर राजा उदयन उसको [अपनी मुख्य रानी] वासवदत्ता समझकर फाँसी से छुड़ाते हैं। उस समय उसकी उक्तिको सुनकर सागरिकाको पहिचान कर कहते हैं कि—

"अरे यह तो मेरी प्रिया सागरिका है। हटो हटो यह अतिसाहस मत करो।" इत्यादि।

यहाँ [राजा उदयनने वासवदत्ताको पाशसे छुड़ाने रूपमें] कुछ दूसरा ही प्रयोजन सोचा था किन्तु [सभ्योंके लिए और स्वयं राजाकेलिए भी] चमत्कार-जनक [आकस्मिक अचिन्तित रूपसे सागरिकाकी प्राप्ति रूप] कुछ और ही [प्रयोजन अर्थात्] कार्य हो गया।

अथवा जैसे नलविलासमें विदूषक और कापालिककी लड़ाईको बचानेकेलिए उद्यत [अर्थात् लड़ाई बचानेका प्रयत्न करते समय] राजा [नल] को [विदूषकके बगलमेंसे निकल कर गिरी हुई] दमयन्तीकी तस्वीरकी प्राप्ति।

इससे पूर्व कारिकामें आए हुए 'अर्थ' शब्दकी व्याख्या करते समय कर्म और करण रूप दो प्रकारकी व्युत्पत्ति मान कर 'अर्थ' शब्दके 'प्रयोजन' तथा 'उपाय' दो अर्थ किये थे। 'सहसेष्टार्थलाभश्च' इस प्रथम पताकास्थानके लक्षणमें भी 'अर्थ' शब्दके ये दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। इनमेंसे 'प्रयोजन' रूप अर्थको लेकर दो उदाहरण दे दिए। अब आगे 'उपाय' रूप अर्थको लेकर भी एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

अन्य उपायके सोचनेपर सहसा [अचिन्तित आकस्मिक रूपसे] अन्य उपायकी प्राप्ति [का उदाहरण] जैसे नागानन्दमें जीमूतवाहनको शंखचूड़से वध्यके [धारण करने योग्य] वस्त्रोंकी प्राप्ति न होनेपर [अकस्मात् आकर] कंचुकीके द्वारा [लाल रंगके] कपड़ेके जोड़ोंका समर्पण [इष्ट वस्तुकी पूर्ति करता है]।

अथ द्वितीयमाह—

[सूत्र ३०]—श्लिष्टसातिशया च वाक् ।

श्लिष्टा प्रकृतसम्बद्धा, सातिशया अत्यद्भुतार्था । यथा 'रामाभ्युदये' द्वितीयेऽङ्के सीतां प्रति सुग्रीवस्य सन्देशोक्तिः—

"बहुनात्र किमुक्तेन पारेऽपि जलधेः स्थिताम् ।
अचिरादेव देवि त्वामाहरिष्यति राघवः ॥"

अत्र 'पारेऽपि जलधः' इत्यतिशयोक्तिरपि सीतां प्रति तथैव वृत्तत्वात् प्रकृत-सम्बद्धा । अत्र चातिशयोक्तिमात्राच्चिन्तितात् प्रयोजनादपरं तथैव सीताहरणं प्रयोजनं सम्पन्नमिति सामान्यलक्षणम् ।

इस प्रकार प्रथम प्रकारके पताकास्थानके तीन उदाहरण ग्रन्थकारने यहाँ प्रस्तुत किए हैं । इन तीनों उदाहरणोंमें नायकके द्वारा अचिन्तित, अत्यन्त आकस्मिक रूपसे इष्ट प्रयोजन या इष्ट उपाय रूप इष्ट अर्थकी प्राप्ति हो गई है । इसलिए ये तीनों उदाहरण प्रथम प्रकारके पताकास्थानके हुए । अब द्वितीय प्रकारके पताकास्थानका वर्णन आरम्भ करते हैं । द्वितीय पताकास्थानमें सहसा इष्टकी प्राप्ति नहीं होती है किन्तु प्रकृत प्रकरणसे सम्बद्ध कोई ऐसी अद्‌भुत बात किसी पात्रके मुखसे निकल जाती है जिसका आगेके कथाभागमें अद्‌भुत प्रभाव दिखलाई देता है । इसीका वर्णन आगे करते हैं ।

अब द्वितीय [पताकास्थान] को कहते हैं—

[सूत्र ३०]—[श्लिष्टा] प्रकृत-सम्बद्ध और [सातिशया] अद्‌भुतार्थक वचन [द्वितीय प्रकारके पताकास्थान कहलाते हैं] ।

'श्लिष्टा' प्रकृत [प्रकरण] से सम्बद्ध और 'सातिशया' अर्थात् अत्यन्त अद्‌भुत अर्थ-वाली [वाणीका आकस्मिक प्रयोग द्वितीय प्रकारका पताकास्थान कहलाता है] । जैसे रामाभ्युदयमें द्वितीय अङ्कमें सीताके प्रति सुग्रीवकी [निम्नलिखित] सन्देशोक्ति [में पाया जाता है]—

"अधिक क्या कहा जाय, समुद्रके पार स्थित होनेपर भी हे देवी ! रामचन्द्रजी आपको शीघ्र ही ले आवेंगे ।"

यहाँ 'पारेऽपि जलधेः स्थिताम्' समुद्र-पार रहनेपर भी यह अतिशयोक्ति [के रूपमें ही कहा गया] भी सीताके प्रति उसी प्रकार घटित होनेसे प्रकृतसे सम्बद्ध है । और यहाँ अतिशयोक्तिमात्रसे विचारित प्रयोजनसे भिन्न उसी प्रकार [समुद्रपारसे] सीताका आहरण रूप प्रयोजन हो गया । यह [पताकास्थानका] सामान्य लक्षण [भी इसमें समन्वित हो जाता] है ।

इसी प्रकार की उक्ति भवभूतिके उत्तररामचरित्रमें भी पाई जाती है । वसिष्ठ का प्रजाको प्रसन्न रखनेका सन्देश पाकर रामचन्द्रजी अष्टावक्र मुनिसे कहते हैं—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥

अर्थात् लोकके आराधनके लिए प्रजाकी प्रसन्नताके लिए मुझे स्नेह, दया, सौख्य और यहाँ तक कि स्वयं जानकीको भी छोड़ देनेमें कोई कष्ट नहीं होगा । यहाँ यह बात तो अति-

अथ तृतीयमाह—

[सूत्र ३१] द्वयर्था च

'वाक्' इति इह, उत्तरत्र च सम्बध्यते। द्वयर्था श्लेषादिवशात् प्रस्तुतोपयोग्यर्थान्तरोपक्षेपिणी। यथा—

'प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोदीक्षते।'

अत्र हि सन्ध्यावर्णनप्रयोजनेन काव्यं प्रयुक्तं, सागरिकां प्रति उदयनाभिव्यक्तिलक्षणं प्रयोजनान्तरं सम्पादयति। तथा च सागरिका—

'अयं सो राया उदयणो, जस्स अहं तादेण दिण्णा।' इति।

[अयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता। इति संस्कृतम्]।

शयोक्ति रूपमें ही कही गई थी किन्तु उसके बाद शीघ्र ही रामचन्द्रने अपने स्नेह, दया और सौख्यके साथ जानकीका भी परित्याग कर दिया है।

इस द्वितीय पताकास्थानके लक्षणमें 'श्लिष्ट' पदका प्रयोग किया गया है किन्तु उसका अर्थ केवल 'प्रकृतसे सम्बद्ध' इतना ही है। यहाँ 'श्लिष्ट' पद दो अर्थके वाचक शब्दका ग्राहक नहीं है। अगले तृतीय पताकास्थानमें 'श्लिष्ट' अर्थात् द्वयर्थक पदके प्रयोग द्वारा चिन्तित अर्थ से भिन्न, प्रयोजन या उपाय रूप अन्य अर्थकी प्रतीति होती है। इस भेदके कारण तृतीय पताकास्थान पहिले और दूसरे दोनों पताकास्थानोंसे भिन्न है। पहिले और दूसरे किसी भी पताकास्थानमें 'श्लिष्ट' अर्थात् द्वयर्थक पदका प्रयोग नहीं होता है। तृतीय पताकास्थानका आधार द्वयर्थक शब्द ही होता है। इसी कारण उसको आगे भिन्न रूपमें कहते हैं।

अब तीसरे पताकास्थानको कहते हैं—

[सूत्र ३१] दो अर्थोंवाली [वाणीका प्रयोग करके चिन्तित अर्थसे अन्य अर्थकी प्रतीति जिसमें होती है वह तृतीय पताका-स्थान कहलाता है]।

[द्वितीय पताकास्थानके लक्षणमें कहा हुआ] 'वाक्' यह पद यहाँ [तृतीय पताकास्थान के लक्षणमें] और आगे [चतुर्थ पताकास्थानके लक्षणमें] भी सम्बद्ध होता है। 'दो अर्थवाली' अर्थात् श्लेषादिके कारण प्रस्तुतके उपयोगी दूसरे अर्थका बोध करनेवाली वाणी जैसे [रत्नावली नाटिकाके प्रथम अङ्कके प्रायः अन्तमें वैतालिक राजाकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि]—

"उदीयमान चन्द्रमाकी नयनानन्ददायिनी किरणोंके समान [राजा लोग उदयन राजाके चरणोंकी ओर] देख रहे हैं।"

यहाँ संध्या-वर्णनके प्रयोजनसे काव्यका [श्लोकका] प्रयोग किया गया है किन्तु वह सागरिकाके प्रति उदयन [राजा रूप अर्थ] की अभिव्यक्ति रूप दूसरे प्रयोजनको सम्पादित कर रहा है। इसी लिए [इस श्लोकको सुननेके बाद] सागरिका [कहती है कि]—

[अच्छा] ये वे राजा उदयन हैं जिन्हें पिताजीने मुझे [अपने संकल्प द्वारा] दिया था।

इस श्लोकमें सन्ध्याका वर्णन प्रकृत है। उसमें 'उदयनस्य' यह पद श्लिष्ट अर्थात् दो अर्थोंका बोधक है। सामान्य रूपसे उसे नवोदित चन्द्रमाके लिए प्रयुक्त किया गया है किन्तु उससे उदयन राजाका भी बोध हुआ है। अतः यह तृतीय पताकास्थान है।

अथ चतुर्थमाह—

[सूत्र ३२] अप्रकटे श्लिष्ट-स्पष्ट-प्रत्यभिधापि च ॥३१॥

अप्रकटे प्रत्युत्तरकारकेणाविज्ञातेऽर्थे केनचिदुपक्षिप्ते सति श्लिष्टमन्याभिप्रायप्रयुक्तमपि प्रस्तुतसम्बद्धं, स्पष्टं विशेषनिश्चयकारि, यत् प्रत्यभिधानं प्रत्युत्तरं, तद्रूपा च वागिति।

यथा मुद्राराक्षसे—

चाणक्यः—अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत ?

एवमस्फुटेऽर्थे उपक्षिप्ते—

[प्रविश्य] सिद्धार्थकः—अय्य गहिदो।

[आर्य गृहीतः। इति संस्कृतम्।]

इति प्रत्युत्तरं प्रस्तुतार्थसम्बद्धं विशेषनिश्चयकारि च।

अत एव पुनः—

अब चतुर्थ [पताकास्थान] को कहते हैं।

[सूत्र ३२]—अप्रकट [अर्थात् उत्तर देनेवाले व्यक्तियोंको भी अज्ञात] अर्थके उपस्थित होने पर [अन्य अभिप्रायसे कहा जानेपर भी प्रकृत प्रकरणमें] सुसम्बद्ध तथा [उस प्रस्तुत अप्रकट अर्थके विषयमें विशेष रूपसे निश्चय करानेवाला] स्पष्ट उत्तर भी [चतुर्थ प्रकारका पताकास्थान कहलाता है। ३१।

अप्रकट अर्थात् प्रत्युत्तर देनेवालेको अविदित अर्थको किसी [वक्ताके द्वारा] प्रस्तुत किए जानेपर श्लिष्ट अर्थात् अन्य अभिप्रायसे कथित होनेपर भी प्रकृत अर्थसे सम्बद्ध और स्पष्ट अर्थात् [उस प्रस्तुत अप्रकट अर्थके विषयमें] विशेष निश्चय करानेवाला जो उत्तर उस रूपकी वाणी [चतुर्थ प्रकारका पताकास्थान कहलाती है]।

जैसे मुद्राराक्षसमें—

"चाणक्य—क्या दुरात्मा राक्षस पकड़में आ सकेगा ?"

इस प्रकारके अप्रकट [अर्थात् उत्तर देनेवाले सिद्धार्थकको जिस बातका ज्ञान नहीं है, अर्थात् सिद्धार्थकने इस बातको नहीं सुना है उस प्रकारके] अर्थके प्रस्तुत होनेपर—

'[अन्य कार्यवश चाणक्यके पास आया हुआ] सिद्धार्थक [प्रविष्ट होकर कहता है] आर्य [आपका संदेश] ग्रहण कर लिया।"

सिद्धार्थकके प्रवेशके पहिले चाणक्यने स्वगत रूपमें 'अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत' यह वाक्य कहा था। सिद्धार्थकने उस वाक्यको नहीं सुना था। उसे इस बातका कोई ज्ञान नहीं था। किन्तु चाणक्यके इस वाक्यके उच्चारण करनेके साथ ही अन्य कार्यवश चाणक्यके पास आया हुआ सिद्धार्थक प्रविष्ट होकर कहता है 'आर्य गृहीतः'। तब इस वाक्यका चाणक्यके वाक्यके साथ सम्बन्ध बन जाता है और उससे चाणक्यको यह प्रतीत होता है कि 'आर्य दुरात्मा राक्षस पकड़ लिया गया समझो।'

[इस प्रकार सिद्धार्थक द्वारा कहा गया] यह प्रत्युत्तर प्रस्तुत [राक्षस ग्रहण रूप] अर्थसे सम्बद्ध तथा विशेष रूपसे [राक्षसके पकड़े जानेका] निश्चय करनेवाला [हो जाता] है।

चाणक्यः—[सहर्षमात्मगतम्] हन्त गृहीतो दुरात्मा राक्षसः । इति ।

इदं प्रत्युत्तरं सन्देश-ग्रहणज्ञापनप्रयोजनेन प्रयुक्तं, चाणक्यस्य राक्षसग्रहं निश्चाययति इति सामान्यलक्षणम् ।

प्रत्येकं चकारश्चतुर्णामपि नाटकं प्रति प्राधान्यख्यापनार्थं इति ॥३१॥

अथ प्रकरीलक्षणमाह—

[सूत्र ३३]—प्रकरी चेत् क्वचिद्भावी चेतनोऽन्यप्रयोजनः ।

'क्वचिद्भावी' वृत्तैकदेशव्यापी। अन्यस्य [1]मुख्यनायकस्य [प्रयोजनमेव] प्रयोजनं यस्य । स चेतनः सहकारी प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति प्रकरी । औणादिके इ-प्रत्यये संज्ञाशब्दत्वेन स्त्रीत्वम् । यथा रामप्रबन्धेषु जटायुः । 'चेत्' इत्यनेन पताकावदनवश्यम्भावित्वमाह । क्वचिद्भावित्वात् स्वार्थनिरपेक्षत्वाच्च पताकातो भेद इति ।

इसी लिए फिर [चाणक्य, सिद्धार्थकके इस कथनको अपने वाक्यके साथ जोड़कर और उसे राक्षसके पकड़नेमें अपनी सफलताका निश्चयकारक मानकर अपने मनमें प्रसन्न होकर कहता है कि—]

"चाणक्य—[सहर्ष अपने मनमें कहता है] बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि राक्षस पकड़में आ गया ।"

[यहाँ सिद्धार्थक द्वारा अन्य अर्थमें प्रयुक्त वाक्य रूप] यह उत्तर [चाणक्यके] संदेशको ग्रहण कर लेनेके सूचित करनेके प्रयोजनसे [सिद्धार्थकने] प्रयुक्त किया था किन्तु [वह] चाणक्य को राक्षसके पकड़े जानेका निश्चय कराता है । इस लिए [उसमें 'चिन्तितार्थ परप्राप्ति' यह पताकास्थानका] सामान्यलक्षण [समन्वित हो जाता] है ।

[पताकास्थानके पूर्वोक्त चारों लक्षणोंमें] प्रत्येकके साथ प्रयुक्त चकार नाटकके प्रति चारोंकी प्रधानताको सूचित करनेकेलिए है ॥ ३१ ॥

अब प्रकरीका लक्षण कहते हैं—

[सूत्र ३२]—यदि [स्वार्थानपेक्ष रूपसे केवल] अन्य [अर्थात् मुख्य नायक] के प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला चेतन [सहायक नाटकके अधिक भागमें व्यापक न होकर केवल] किसी एक देशमें होनेवाला ही हो तो उसे 'प्रकरी' कहा जाता है ।

[कारिकामें आए हुए] 'क्वचिद्भावी' [इसका अर्थ] कथाके एकदेशमें व्यापक [यह है]। 'अन्यस्य' अर्थात् मुख्य नायकका प्रयोजन ही जिस [सहायकका] का प्रयोजन है वह ['अन्य-प्रयोजनः' हुआ] । वह चेतन सहकारी प्रकर्षेण अर्थात् स्वार्थकी अपेक्षा न करता हुआ [निष्काम-भावसे मुख्य-नायकके कार्यको] करता है । इस लिए [अर्थात् प्रकर्षेण करोतीति प्रकरी इस व्युत्पत्तिके अनुसार] 'प्रकरी' [कहलाता] है । [प्र-उपसर्ग-पूर्वक कृ-धातुसे] औणादिक इ-प्रत्यय करने पर संज्ञा शब्द होनेसे स्त्रीत्व [सूचक ङीप्-प्रत्यय होकर प्रकरी पद बनता] है । जैसे राम-[चरितको लेकर लिखे गए] प्रबन्धोंमें जटायु [स्वार्थानपेक्ष चेतन सहायक, वृत्तके केवल एकदेशमें स्थित होनेसे 'प्रकरी' कहा जाता है] । 'चेत' इस [पद] से पताकाके समान [प्रकरीकी भी] अवश्यम्भाविताका निषेध सूचित होता है । [अर्थात् नाटकमें पताका और

---

1. अन्यस्य मुख्यनायकस्यैवं प्रयोजनं यस्य ।

अथ बिन्दुं लक्षयति—

[सूत्र ३४]—हेतोश्छेदेऽनुसन्धानं बहूनां बिन्दुराफलात् ॥३२॥

उपायानुष्ठानस्यावश्यकर्तव्यादिना व्यवधाने सति नायकप्रतिनायकामात्यादीनां यदनुसन्धानं ज्ञानमसौ ज्ञानविचारणफललाभोपायत्वाद् बिन्दुः। सर्वव्यापित्वाद्वा जले तैलबिन्दुरिव बिन्दुः। आफलादिति बीजवत् समस्तेतिवृत्तव्यापकत्वमाह। केवल बीजं मुखसन्धेरेव प्रभृति निबध्यते, बिन्दुस्तु तदनन्तरमिति।

इह तावन्नायकसहाय-उभयेभ्यस्त्रिधा फलसिद्धिः। तत्र सर्वेषां स्वव्यापारविच्छित्तावनुसन्धानात्मा बिन्दुर्निबध्यते। यथा च नायकेन प्रतिपक्षेतिवृत्तमनुसन्धीयते, तथा प्रतिपक्षेणापि नायकस्येतिवृत्तमनुसन्धीयते। अत एव बहूनामित्युपात्तम्।

प्रकरी दोनोंका चरित्र अपरिहार्य नहीं है]। केवल एक देशमें होनेके कारण [क्वचिद्भावित्वात्] और स्वार्थनिपेक्ष होनेसे [प्रकरी-नायकका] पताका-नायकसे भेद है।

पाँच उपायोंमेंसे बीज, पताका और प्रकरी इन तीन उपायोंका वर्णन हो गया। अब चौथे उपाय 'बिन्दु' का वर्णन प्रसङ्ग-प्राप्त है। उपायोंका चेतन अचेतन रूपमें जो दो प्रकार का विभाग किया गया था। उसमें पताका, प्रकरी तथा बिन्दु इन तीनको चेतन साधनोंके वर्गमें रखा था। उनमेंसे भी पताका और प्रकरी रूप दो चेतन साधनोंका वर्णन हो चुका अब तीसरे चेतन साधन 'बिन्दु' का वर्णन करते हैं।

अब बिन्दुका लक्षण करते हैं—

[सूत्र ३४]—[अन्य आवश्यक कार्योंके कारण] हेतु [अर्थात् उपायानुष्ठान] का विस्मरण हो जानेपर भी फिरसे स्मरण 'बिन्दु' [कहलाता] है। और वह [नायक प्रतिनायक अमात्य आदि रूप] बहुतोंका तथा फलप्राप्ति-पर्यन्त [सारे नाटकमें व्याप्त हो सकता] है।३२।

आवश्यक कर्तव्य आदिके द्वारा उपायानुष्ठानका [व्यवधान] विच्छेद हो जानेपर नायक, प्रतिनायक, अमात्यादिके द्वारा जो उसका पुनः स्मरण [रूप ज्ञान] वह ज्ञान और विचारके फल-प्राप्तिका उपाय होनेसे 'बिन्दु' [कहलाता] है। अथवा [नाटकमें] सर्वत्र व्यापक होनेसे [जलमें तैलका बिन्दु जैसे सारे जलमें फैल जाता है इस प्रकार सारे नाटकमें व्यापक होनेसे] जलमें तैल-बिन्दुके समान 'बिन्दु' [कहलाता] है। 'आफलात्' इस [पद] से बीजके समान [बिन्दुकी भी] सारे कथाभागमें व्याप्तिको सूचित किया है। [अर्थात् बीजके समान ही बिन्दु भी सारे नाटकमें अन्त तक विद्यमान रहता है। अन्तर] केवल [इतना है कि] बीज मुखसन्धिके आरम्भसे ही निबद्ध होता है और बिन्दु उसके बाद [आरम्भ होता है। किन्तु दोनों नाटकमें अन्त तक व्यापक रहते हैं यह दोनोंकी समानता है]।

यहाँ [नाटकमें]१ नायक [के द्वारा होने वाली]२ सहायक [के द्वारा] तथा३ उन दोनों से मिलकर तीन प्रकारकी फलसिद्धि होती है। [उनमें सबको ही अपने व्यापारका विच्छेद हो जाने पर पुनः स्मृति हो सकती है इसलिए नायक और उनके सहायक अमात्यादि] उन सब के ही [सम्बन्धसे] अपने-अपने विस्मृत व्यापारकी स्मृति रूप 'बिन्दु' की रचना होती है। [और न केवल नायक तथा उसके सहायकोंसे सम्बद्ध 'बिन्दु' की ही रचना होती है अपितु प्रतिनायकके सम्बन्धसे भी। क्योंकि] जैसे नायक, प्रतिनायकके वृत्त [चरित्र] का अनुसन्धान

नायकस्य बिन्दुर्यथा अस्मदुपज्ञे 'राघवाभ्युदये' पञ्चमेऽङ्के सुग्रीवचरितश्रवणेनातिपतिते सीतापहारदुःखे सीतां स्मृत्वा रामः—

कलत्रमपि रक्षितुं निजमशक्तमात्मान्वय—
प्रसूतमभिवीक्ष्य मामहह जातलज्जाज्वरः ।
प्रकाशयितुमक्षमः क्षणमपि स्वमास्यं जने ।
प्रयाति चरमोदधौ पतितुमेष देवो रविः ॥

इत्यनेन पुनः सीतापहारदुःखमानुसंहितमिति ।

[ध्यान] करता है इसी प्रकार प्रतिनायक भी नायकके चरित्रका ध्यान [अनुसन्धान] करता है [इसलिए प्रतिनायककी दृष्टि भी बिन्दुका विन्यास नाटकमें हो सकता है] । इसी लिए [कारिकामें] 'बहूनां' इस [पद] का ग्रहण किया गया है ।

'बिन्दु' का यह सामान्य लक्षण किया गया है । इस लक्षणके देखनेसे प्रतीत होता है कि नायक या उसके सहायक अमात्यादि अथवा प्रतिनायक और उसके सहायक अमात्यादिके अन्य आवश्यक कार्योंमें व्यापृत हो जानेसे कुछ समयके लिए मुख्य बीज रूप उपायकी विस्मृति या विच्छेद हो जानेके बाद उसकी जो पुनः स्मृति होती है उसको 'बिन्दु' कहते हैं । इस स्मृति या अनुसन्धानके बिना नाटकका कार्य आगे नहीं बढ़ सकता है इसलिए इसका होना आवश्यक है । एक नाटकमें एक ही जगह नहीं अनेक बार इसका उपयोग किया जाता है । उपायोंका चेतन-अचेतन रूप जो द्विविध विभाग किया गया था उसमें इस बिन्दुको चेतन उपायोंमें गिना गया था । पर यह बिन्दु स्वयं तो चेतन रूप नहीं है । चेतनका व्यापार रूप है । परन्तु उस स्मरण या अनुसन्धान रूप अचेतन व्यापारको चेतन रूपमें मानकर ही चेतन उपायोंके वर्गमें बिन्दुका अन्तर्भाव किया गया है । आगे बिन्दुके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

उनमेंसे नायकके बिन्दु [का उदाहरण] जैसे हमारे बनाए राघवाभ्युदय [नाटक] में पञ्चम अङ्कमें सुग्रीवके चरित्रके सुननेसे सीताके अपहरणके दुःखके [कुछ समयके लिए] विस्मृत हो जानेपर [फिर दुबारा] सीताको स्मरण करके राम [निम्न श्लोक कहते हैं]—

"अपनी स्त्रीकी रक्षा करनेमें भी असमर्थ मुझको अपने [सूर्यवंश] वंशमें उत्पन्न हुआ देखकर लज्जासे सन्तप्त [सूर्यदेव] क्षण भरको भी लोगोंको अपना मुख दिखलानेमें अक्षम हो जानेके कारण यह सूर्य देव पश्चिम सागरमें डूबने जा रहे हैं ।

इस [श्लोक] के द्वारा [कुछ देरके लिए विस्मृत हुए] सीतापहरणके दुःखको [रामचन्द्र] पुनः स्मरण करते हैं ।

इस प्रकार यह नायकके 'बिन्दु'का उदाहरण है । इसी प्रकारका दूसरा उदाहरण आगे 'तापसवत्सराज' चरितसे देते हैं । उसमें नाटकके नायक वत्सराज उदयन मृगया आदि व्यापारोंमें लग जानेसे कुछ समयके लिए अपनी रानी वासवदत्ताको भूल जाते हैं । इसी बीचमें राजाके मृगया-शिविरमें जहाँ कि वासवदत्ता ठहरी हुई थी आग लग जाने और रानीके उसी शिविरके भीतर जल जानेका समाचार राजाको मिलता है । उस समाचारको सुनकर राजाको पुनः वासवदत्ताकी स्मृति हो आती है । उसी प्रसङ्गमेंसे तापसवत्सराजचरितका श्लोक ग्रन्थकारने यहाँ उद्धृत किया है ।

यथा वा 'तापसवत्सराजचरिते' मृगयादिभिरन्यैश्चामात्यव्यापारैर्वत्सराजस्य विच्छिन्नेऽपि प्रियासमागमौत्सुक्यरूपे प्रयोजने, द्वितीयेऽङ्के राजा वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्याह—

रुमण्वन् ! मुञ्च मुञ्च,

क्षुद्राग्नेरमुतोऽपि धूमकलुषात् क्षिप्रस्थितेः सर्वतो
ज्वालाताण्डवकारिणः किमपरं भीतोऽस्मि भाग्यैर्मम ।
अन्तर्बद्धपदं न पश्यसि सखे शोकानलं तेन माम्
एवं वारयसि प्रियानुसरणात् पापः करोम्यत्र किम् ॥

इति वासवदत्तायामाग्रहविशेषात् तदेवानुसंहितम् । एवमत्रोत्तरेष्वप्यङ्केषु नायकस्य बिन्दुर्निबद्धोऽस्ति ।

एवं सहाय-उभय-विपक्षाणामपि स्वव्यापारानुसन्धानात्मा बिन्दुर्द्रष्टव्यः । ॥ ३२ ॥

अथवा जैसे तापसवत्सराजचरितमें मृगया आदि तथा अमात्योंके [द्वारा आयोजित] अन्य व्यापारोंके कारण वत्सराज [उदयन] को प्रिया [वासवदत्ता] के समागमके औत्सुक्य रूप प्रयोजनके विस्मृत हो जानेपर भी द्वितीय अङ्कमें राजा [वत्सराज उदयन शिविरमें] वासवदत्ताके जल जाने [के समाचार] को सुनकर कहते हैं—

"राजा—रुमण्वन् छोड़ो । मुझे [मत पकड़ो] छोड़ दो ।

वैसे भी धूमसे कलुषित, क्षणिक स्थितिवाले और चारों ओर ज्वालाओंका ताण्डव करनेवाले इस क्षुद्र अग्निसे मैं अपने भाग्यके दोषसे ही डर गया हूँ । और क्या [कहा जाय] हे मित्र ! रुमण्वन्] तुम मेरे हृदयके भीतर भरे हुए शोकानलको नहीं देख पा रहे हो इसी लिए [अग्निमें जलकर मरनेके द्वारा] प्रियाका अनुसरण करनेसे मुझे रोक रहे हो । मैं अभागा अब क्या करूँ ।

वासवदत्ताके प्रति विशेष आग्रह होनेसे [उसके अग्निमें जलकर मर जानेका समाचार सुनकर राजाको] उसीका स्मरण हो आया है [जिसको वे मृगया आदिके प्रसङ्गमें भूल गये थे] । इसी प्रकार [तापसवत्सराजके] अगले अङ्कोंसे भी नायकके 'बिन्दु' [अर्थात् अन्य आवश्यक कार्योंके प्रसङ्गसे कुछ समयकेलिए विस्मृत अर्थकी स्मृति] का निबन्धन किया गया है ।

यहाँ 'तदेवानुसंहितम्' में 'तत्' पदसे 'प्रियासमागमौत्सुक्य' का ग्रहण करना चाहिए । 'तदेव' में 'तत्' पद नपुंसक-लिङ्ग है इस लिए उससे न तो वासवदत्ताका ग्रहण हो सकता है और न आग्रहका ग्रहण हो सकता है । इस लिए यहाँ वासवदत्ताका स्मरण या आग्रहका स्मरण नहीं अपितु प्रियाके समागमके औत्सुक्यका स्मरण हुआ है ।

इसी भाँति [नायकके] सहाय, अथवा [नायक और सहाय] दोनों और विपक्ष [अर्थात् प्रतिनायक और उसके सहायक] का भी अपने [विस्मृत] व्यापारका स्मरण रूप 'बिन्दु' समझ लेना चाहिए । [अर्थात् उनके उदाहरण नाटकोंमेंसे स्वयं ढूँढ़ लेने चाहिए] ।

ऊपर २८वीं कारिकामें बीज, पताका, प्रकरी, बिन्दु तथा कार्य रूप पाँच उपाय कहे गए थे उनमें से बिन्दु-पर्यन्त चार उपायोंका विशेष विवेचन क्रमशः यहाँ तक कर दिया ।

अथ कार्यं विवृणोति—

[सूत्र ३५]—साध्ये बीजसहकारी कार्यम् ।

प्रधाननायक-पताकानायक-प्रकरीनायकैः साध्ये प्रधानफलत्वेनाभिप्रेते, बीजस्य प्रारम्भावस्थोपक्षिप्तस्य प्रधानोपायस्य, सहकारी सम्पूर्णतादायी सैन्य-कोश-दुर्ग-सामाद्युपायलक्षणो द्रव्य-गुण-क्रियाप्रभृतिः सर्वोऽर्थः, चेतनैः कार्यते फलमिति कार्यम् ।

अयमत्रोपायानां निबन्धसंक्षेपः ।

सहायानपेक्षाणां नायकानां वृत्ते बीज-बिन्दु-कार्याणि त्रय एवोपायाः । सहायापेक्षाणां तु पताका-प्रकरीभ्यां, अन्यतरया वा सह पञ्च चत्वारो वेति ।

अब अन्तिम उपाय 'कार्य' शेष रह जाता है । इसका लक्षण आदि करते हैं । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है चेतन और अचेतन वर्गमें जो उपायोंका द्विविध विभाग किया गया है उसमें सबसे प्रथम उपाय बीज तथा सबसे अन्तिम उपाय कार्य इन दो उपायोंको अचेतन उपायोंके वर्गमें रखा गया था । वैसे कार्यका जो लक्षण आगे किया जा रहा है उसमें भी कार्यको बीज का सहकारी बतलाया गया है । इस लिए इन दोनोंका परस्पर विशेष सम्बन्ध है ।

अब कार्यकी व्याख्या करते हैं—

[सूत्र ३५]—साध्य [अर्थात् प्रधान फलकी सिद्धि] में बीजका सहकारी [द्रव्य, गुण आदि अचेतन साधन] 'कार्य' [कहलाता] है ।

प्रधान-नायक, पताका-नायक या प्रकरीनायकोंके द्वारा साध्य अर्थात् प्रधान फल रूपसे अभिप्रेत, [विषय] में [बीजस्य अर्थात्] प्रारम्भावस्थाके रूपमें आरोपित बीज अर्थात् प्रधानोपाय रूप बीजका सहकारी अर्थात् [उसको] पूर्णता तक पहुँचानेवाला सैन्य, कोश, दुर्ग, सामादि उपाय रूप द्रव्य, गुण, क्रिया आदि सारा ही [अचेतन साधनभूत] अर्थ, चेतनों के द्वारा फल [साध्यकी सिद्धिमें विशेष रूपसे प्रवृत्त अर्थात् उपयुक्त] कराया जाता है । इस ['चेतनैः कार्यते फलमिति कार्यम्' इस व्युत्पत्ति] से 'कार्य' [कहलाता] है ।

यह पाँचों प्रकारके उपायोंका संक्षिप्त रूपमें वर्णन हुआ ।

ये पाँचों उपाय सर्वत्र अपरिहार्य नहीं हैं । किन्तु आवश्यकताके अनुसार ही उनका उपयोग किया जाता है । जिन नायकोंको सहायकोंकी विशेष आवश्यकता नहीं होती है और स्वयं अपने सामर्थ्यसे ही जो सारे कार्यको सिद्ध कर लेते हैं उनके चरित्रको लेकर लिखे गये नाटकोंमें 'पताका' तथा 'प्रकरी'का कोई उपयोग न होनेसे उनकी रचना नहीं की जाती है । उस दशामें इन नाटकोंमें तीन ही उपायोंका प्रयोग होता है । सहायककी आवश्यकता जिनको पड़ती है उनके चरित्रमें आवश्यकतानुसार केवल पताका या केवल प्रकरी किसी एक का उपयोग होनेपर चार, और दोनोंका उपयोग होनेपर पाँचों उपाय काममें आते हैं । इसी बातको ग्रंथकार अगली पंक्तिमें कहते हैं—

सहायककी अपेक्षा न रखनेवाले नायकोंके चरित्रमें बीज, बिन्दु और कार्य तीन ही उपाय [प्रयुक्त] होते हैं । और सहायकोंकी अपेक्षा रखनेवाले नायकों [के चरित्रमें] में तो पताका तथा प्रकरी दोनोंको मिलाकर पाँच, अथवा उन दोनोंमेंसे किसी [एकको बीजादि तीनके साथ] मिलाकर चार [उपायोंका प्रयुक्त किए जाते] हैं ।

अथामीषां मुख्यत्वव्यवस्थायां हेतुमाह--

[सूत्र ३५]—कार्यैस्तु मुख्यता ।

कार्यैः फलं प्रत्युपकारविशेषैः । पुनर्बीजादिनां मुख्यता बाहुल्यं प्राधान्यं वा निबन्धनीयम् । तत्र बीजबिन्द्वोस्तावन्मुख्यत्वमेव, सर्वव्यापित्वात् । पताका-प्रकरी-कार्याणां तु मुख्यफलं प्रत्युपयोगापेक्षया एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा मुख्यत्वमन्येषां चामुख्यत्वम् ।

तत्र पताकाया मुख्यत्वं यथा श्रीशूद्रक-विरचितायां मृच्छकटिकायां पूर्वोपकारोपगृहीतस्य आर्यकस्य ।

प्रकर्या यथा--वीरनागनिबद्धायां कुन्दमालायां सीतायास्तदपत्ययोश्च पालन-संयोजनाभ्यां स्वफलनिरपेक्षस्य बाल्मीकेः ।

उभयोर्यथा--रामप्रबन्धेषु सुग्रीव-विभीषण-जटायु-हनूमदङ्गदादीनां च । पताका-प्रकर्योरल्पत्वे अभावे वा सर्वत्र कार्यस्य मुख्यत्वम् ।

उपायोंकी मुख्यता के नियामक हेतु—

[पाँचों उपायोंके लक्षण आदि करनेके बाद] अब इनकी मुख्यता [और गौणत्व] की व्यवस्थामें हेतु बतलाते हैं—

[सूत्र ३५]—[फलके प्रति उपकार विशेष रूप] कार्योंके अनुसार मुख्यता [निर्धारित] होती है ।

कार्य अर्थात् फलोंके प्रति उपकार-विशेषके द्वारा बीजादि [उपायों] की मुख्यता अर्थात् बाहुल्य अथवा प्रधानत्वकी रचना करनी चाहिए । उन [पाँचों उपायों] मेंसे [अचेतन उपाय] बीज तथा [चेतन उपाय] बिन्दु इन दोनोंके [नाटकमें आदिसे अन्त तक] सर्वत्र व्यापक होनेसे मुख्यता ही होती है । पताका, प्रकरी और कार्य [इन तीनों उपायों] की तो मुख्य फलके प्रति उपयोगिताकी दृष्टिसे [कहीं] एककी [कहीं] दोकी अथवा [कहीं] तीनोंकी मुख्यता और शेषकी गौणता [अमुख्यता] होती है ।

उनमेंसे पताकाकी मुख्यता [का उदाहरण] जैसे श्री शूद्रक [कवि] विरचित मृच्छकटिक [नाटक] में पूर्व उपकारके कारण वशीभूत आर्यक [नामक पताकानायक] की [मुख्यता पाई जाती है] ।

प्रकरी [नायक] की [मुख्यताका उदाहरण] जैसे वीरनाग विरचित 'कुन्दमाला' [नाटक] में [रामद्वारा परित्यक्ता गर्भिणी] सीता और उसके [कुश लव दोनों] पुत्रोंका पालन तथा [उन दोनों पुत्रों सहित सीताका रामके साथ] संयोग कराने [रूप कार्य] के द्वारा अपने किसी फलकी अपेक्षा न रखनेवाले [इसलिए प्रकरी नायकके लक्षणसे युक्त] बाल्मीकिकी [मुख्यता पाई जाती है] ।

[पताकानायक तथा प्रकरीनायक] दोनोंकी [मुख्यताका उदाहरण] जैसे राम-प्रबन्धों में [अर्थात् रामके चरित्रको लेकर लिखे गए नाटकोंमें] सुग्रीव, विभीषण, जटायु, हनुमान अङ्गदादिकी [मुख्यता पाई जाती है] ।

पताका-नायक तथा प्रकरी-नायकके गौण होनेपर [अल्पत्वे] अथवा सर्वथा न होनेपर [अभावे वा] सदा कार्यकी ही मुख्यता रहती है ।

अथ पताकायाः प्रधानत्वे समर्थिते सन्धिप्रसङ्गं निरस्यति—

[सूत्र ३६]—पताकायाः प्रधानत्वेऽनुसन्धिः सूचनादिभिः ॥३३॥

पताकावृत्तस्य प्राधान्यनिबन्धेऽपि अनुसन्धि-मुख्यवृत्तसन्ध्यनुगतः सन्धिर्भवति। गौणः सन्धिरित्यर्थः। यद्यपि पताकायाः प्रधानत्वे मुख्येतिवृत्तवत् सन्धयः स्युस्तथापि तेऽनुसन्धयो मुख्यसन्ध्युपयोगित्वेन गौणत्वात्। अपरथा पताकावृत्तस्य प्रासङ्गिकत्वं न स्यात्। सन्धिसंख्यावृद्धिश्च स्यात्। अत एव ते सूचनादिभिर्भवन्ति। आदिशब्दात् क्वचिदूह्यन्ते, लेशतो निबध्यन्ते च। न च मुख्यसन्धिभ्यः पृथग् गण्यन्ते। अनुसन्धिरिति एकवचनमविवक्षितम्। मुख्य-निर्वाहयोरवश्यम्भावित्वात्। तेन द्विप्रभृतयोऽनुसन्धयो भवन्ति। यथा 'मयापुष्पके'—

दुर्गं भूमिरमात्य-भृत्य-सुहृदो दाराः शरीरं धनं,
मानो वैरिविमर्द-सौख्यममरप्रख्येण सख्योन्नतिः।
यस्मात् सर्वमिदं प्रियाविरहिणस्तस्याद्य शक्ता वयं,
न स्वेच्छासुलभैः पथोऽपि घटने शैलाभखण्डैरपि॥

[पाँचों साधनोंमेंसे पताकानायकका भी प्राधान्य कहीं हो सकता है यह बात अभी कही जा चुकी है। इस प्रकार] पताकाके प्रधानत्वका समर्थन करनेपर [उसके चरित्रमें आगे कहे जानेवाले] सन्धियोंकी भी प्राप्ति होती है, उसका निराकरण करते हैं—

[सूत्र ३६]—पताकाकी प्रधानता होनेपर [मुख्य सन्धि नहीं होते हैं किन्तु] सूचना आदिके द्वारा अनुसंधि [गौण संधि] होते हैं। ३३।

पताका [नायक] के प्राधान्यका वर्णन करनेपर भी [मुख्य संधि नहीं होते है किन्तु] 'अनुसंधि' अर्थात् मुख्य संधिके अनुगत संधि अर्थात् गौण संधि होते हैं यह अभिप्राय है। यद्यपि पताका [नायक] के प्रधान होनेपर मुख्य [नायक] के चरित्रके समान [उसमें भी मुख्य] संधि होने चाहिए फिर भी वे [मुख्य संधि न होकर] मुख्य संधिके उपयोगी [अङ्ग] होनेसे गौण होनेके कारण 'अनुसंधि' [कहलाते] हैं। अन्यथा [यदि पताका नायकके वृत्तमें प्रयुक्त संधिको मुख्य संधि ही माना जाय तो] पताका-नायकके चरित्रकी गौणता [प्रासङ्गिकत्व] नहीं बनेगी। इसलिए [गौण संधि होनेके कारण] वे [अनुसंधि] सूचना आदिके द्वारा प्रकाशित होते हैं। आदि शब्दसे [यह भी सूचित होता है कि] कहीं [उनकी] कल्पना की जाती है और कहीं अंशतः [अनुसंधिके रूपमें] रचना की जाती है। किन्तु मुख्य संधियोंसे अलग उनकी गणना नहीं की जाती है। 'अनुसंधिः' [पदमें प्रयुक्त] एकवचन अविवक्षित है। क्योंकि [पताका-नायकके चरितमें भी] मुख और निर्वहण रूप दो [अनुसंधियों] का होना आवश्यक है। इसलिए [एक संधि तो होता ही नहीं है] दोसे लेकर [तीन-चार आदि] अनुसंधि होते हैं। जैसे माया-पुष्पकमें—

जिन [रामचन्द्रजी] की कृपासे [हमको] दुर्ग, भूमि, अमात्य, मित्र, स्त्री, शरीर, धन, मान, शत्रु नाशका सुख और देव-कल्प [रामचन्द्रजी] के साथ मित्रता यह सब प्राप्त हुआ है, आज हम प्रियासे विरहित उनके लिए यथेष्ट रूपमें प्राप्त होनेवाले पर्वतके समान बड़े-बड़े शिलाखण्डोंसे [समुद्रके ऊपर पुल बनाकर] मार्गका निर्माण करनेमें भी समर्थ नहीं हो रहे हैं [यह लज्जा और दुःखकी बात है]।

अत्र मुखादिसन्धिनिबन्धनीयं रामेण सह मैत्र्यादिकमभ्यूह्यमुपकल्प्य सुग्रीव-वचनाद् रामशक्तिसम्पन्नाभ्युदयं निर्वहणस्यैव वृत्तमुपनिबद्धमिति ।

यथा वा राघवाभ्युदये—

> मित्रं दर्शनमात्रतोऽपि गणितः किष्किन्धमागत्य च,
> क्षुण्णः क्षुद्रमतिः स साहसगतिर्दत्ता सतारा मही ।
> इत्थं तेन वितन्वता न विहितं देवेन रामेण किं,
> तत् सत्यं मम तस्य कर्तुमुचितं प्राणैरपि प्रीणनम् ॥

अत्र 'मित्रम्' इत्यादिना मुखं, 'किष्किन्ध' इत्यादिना प्रतिमुखं, 'क्षुण्णः' इत्यादिना विमर्शः, 'दत्ता सतारा मही' इति निर्वहणं सुग्रीववचनात् प्रकाशितम् । उत्तरार्धेन तु मुख्यनायकानुयायित्वदर्शनादनुसन्धित्वं ख्यापितमिति ।

प्रकर्यास्तु प्राधान्येऽपि स्वल्पवृत्तत्वात् सन्ध्यनुसन्धिचिन्तैव नास्तीति ॥३३॥

यहाँ [अर्थात् इस उदाहरणमें] मुखसंधिमें वर्णनीय रामचन्द्रके साथ मैत्री आदि कल्पनीय अर्थकी सुग्रीवके वचनसे कल्पना करके, [अर्थात् उसका साक्षात् रूपसे वर्णन न करके] रामचन्द्रकी शक्तिसे प्राप्त अभ्युदय रूप निर्वहण [संधिमें वर्णन किए जाने योग्य] वृत्तका ही वर्णन किया है ।

इस प्रकार इसमें मुखसन्धि तथा निर्वहण संधिके अर्थकोंका दो अनुसंधियोंके रूपमें समावेश किया गया है । इसलिए यह दो अनुसंधियों के समावेशका उदाहरण है । आगे चार अनुसंधियोंके प्रयोगका उदाहरण राघवाभ्युदयसे देते हैं ।

अथवा जैसे 'राघवाभ्युदय' [नाटक] में [चार अनुसंधियोंका समावेश निम्न श्लोकमें पताका-नायक सुग्रीवके वृत्तांतमें पाया जाता है]—

[जिन रामचन्द्रजीने मुझको] देखते ही अपना मित्र मान लिया, [१ मुखसंधि], उसके बाद किष्किन्धामें आकर [२ प्रतिमुख संधि], क्षुद्रमति और साहसगति [अर्थात् धृष्टतापूर्वक परदारापहरण आदि अकार्य करनेवाले] उस दुष्ट [बालि] का नाश किया [३ विमर्श संधि], और [मेरी पत्नी] ताराके सहित पृथिवी [अर्थात् मेरा राज्य मुझको] प्रदान की [४ निर्वहण संधि] । इस प्रकार [मेरे हितके समस्त कार्य] करते हुए भगवान् रामचन्द्रजीने [मेरे लिए] क्या नहीं किया [अर्थात् सब कुछ किया, मेरे सारे मनोरथ पूर्ण कर दिए] । इसलिए यह बिल्कुल सत्य है कि मुझे अपने प्राणों [के मूल्य] से भी [अर्थात् प्राणोंको देकर भी] उनकी प्रसन्नताका सम्पादन करना चाहिए ।

यहाँ [अर्थात् इस उदाहरणमें] 'मित्रम्' इत्यादिसे मुख [संधि], किष्किन्धामें आकर इत्यादिसे प्रतिमुख [संधि], 'क्षुण्णः' [बालिको मारा] इत्यादिसे विमर्श [संधि], तथा 'दत्ता सतारा मही' ताराके साथ मेरा राज्य मुझको प्रदान किया इससे निर्वहण [संधि] [इन चार अनुसंधियों] को सुग्रीवके वचनसे प्रकाशित किया है । [श्लोकके] उत्तरार्द्धसे [अपना] मुख्य नायकका अनुयायित्व दिखलाकर [उन मुखादि संधियोंका] अनुसंधित्व [गौण संधित्व भी] सूचित किया है ।

प्रकरी [नायक] का तो प्राधान्य होनेपर भी [उसका] थोड़ासा ही वृत्त होनेके कारण [उसमें] संधि या अनुसंधि आदिकी चिन्ता ही नहीं होती है ॥ ३३ ॥

(३) अथ उपायानन्तरमुद्दिष्टां दशां लक्षयितुं तद्भेदानुद्दिशति—

[सूत्र ३७]—आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागमाः ।
नेतुर्वृत्ते प्रधाने स्युः पञ्चावस्था ध्रुवं क्रमात् ।।३४।।

'नेतुः', मुख्यं फलं प्रति बीजाद्युपायान् प्रयोक्तुः । 'अवस्थाः' प्रधानवृत्तविषये काय-वाङ्-मनसां व्यापाराः । 'ध्रुवम्' इति प्रधाने वृत्ते पञ्चानामवश्यम्भावमाह । तेन प्रासङ्गिके द्व्यादयो अनुसन्धिवद् गौणाश्च भवन्ति । नाटकलक्षणप्रस्तावान्नाटके, नाटकलक्षणानुसारिषु प्रकरण-नाटिका-प्रकरणीषु चायं नियमः । तेन व्यायोगादौ यथालक्षणं न्यूनावस्थत्वमपि न दोषाय । 'क्रमात्' इति उद्देशोक्तक्रमेणैव निबध्यन्ते, नोपायवत् क्रमाक्रमाभ्याम् । प्रेक्षापूर्वकारिणां हि प्रथममारम्भः, ततः प्रयत्नः, ततः सम्भावना, ततो निश्चयः, ततः फलप्राप्तिरित्ययमेव क्रम इति ।।३४।।

---

(३) पांच दशाओं का निरूपण—

पाँचवीं कारिकामें नाटकका लक्षण करते समय १ अङ्क और २ उपायके अनन्तर तीसरे 'दशा' शब्दका प्रयोग किया गया था । 'दशा' भी नाटकका एक मुख्य भाग है । इसलिए उपायोंका निरूपण कर चुकनेके बाद 'दशा' का निरूपण प्रारम्भ करते हैं । विष्कम्भक आदि पाँच अर्थोपक्षेपकोंका वर्णन करनेके बाद बीज आदि पाँच उपायोंका वर्णन किया गया था । उसी प्रकार अवस्थाओं और आगे कही जाने वाली सन्धियोंकी भी संख्या पाँच-पाँच है । इस समय पहले पाँच अवस्थाओंका वर्णन करते हैं ।

अब उपायोंके बाद उद्दिष्ट 'दशा' का लक्षण करनेकेलिए उसके भेदोंको गिनाते हैं ['उद्दिशति' नाममात्रेण कथयति]—

[सूत्र ३७]—नायकके मुख्य चरित्र [वृत्त] में १ आरम्भ, २ यत्न, ३ प्राप्त्याशा, ४ नियताप्ति और ५ फलागम ये पाँच अवस्थाएँ [इसी] क्रमसे और अवश्य होती हैं [इसमें पांच अवस्थाओंका उद्देशमात्र किया गया है । उनके लक्षण आगे करेंगे] ।३४।

'नेता' अर्थात् मुख्य फल [की प्राप्ति] के प्रति बीजादि उपायोंका प्रयोग करने वालोंके, [चरित्रमें पाँच अवस्थाएँ अवश्य होती हैं] । 'अवस्था' अर्थात् प्रधान चरित्रके विषयमें शरीर, वाणी तथा मनके व्यापार । 'ध्रुवम्' इस [पद] से प्रधान [नायक] के चरित्रमें [वृत्ते] पाँचों [अवस्थाओं] की अपरिहार्यता सूचित की है । इसलिए प्रासङ्गिक [अर्थात् पताका प्रकरी आदिके चरित्रमें] अनुसन्धियोंके समान दो आदि [अवस्थाएँ] भी हो सकती हैं और वे गौण हैं । नाटकके लक्षणका प्रकरण होनेसे नाटकमें तथा नाटकके लक्षणका अनुसरण करने वाले प्रकरण नाटिका तथा प्रकरणीमें भी यही नियम है [अर्थात् पाँचों अवस्थाओंका होना अनिवार्य है] । इसलिए व्यायोग आदिमें उनके लक्षणोंके अनुसार [पाँचों अवस्थाओंका प्रयोग न करके] न्यूनत्व [अर्थात् दो-तीन-चार अवस्थाओंका प्रयोग] भी दोषाधायक नहीं होता है । 'क्रमात्' इस [पद] से [यह सूचित किया है कि पाँचों अवस्थाएँ] इसी क्रमसे निबद्ध करनी चाहिए उपायोंके समान क्रम या व्यतिक्रमसे नहीं । बुद्धिमान् पुरुषोंके कार्यमें पहले आरम्भ, फिर उसके बाद प्रयत्न, उसके बाद सम्भावना, उसके बाद निश्चय और अन्तमें फलप्राप्ति यही क्रम रहता है । [इसलिए नाटकमें भी इसी क्रमसे अवस्थाओंका समावेश करना चाहिए] ।।३४।।

(१) अथारम्भं व्युत्पादयति—

[सूत्र ३८]—फलायौत्सुक्यमारम्भः

फलं मुख्यं साध्यम्। तदर्थमौत्सुक्यं उपायविषयं, अनेनोपायेन एतत् सिध्यतीति। स्मरणोत्कण्ठादि कर्म, तदनुगुणो व्यापारश्चोभयमारम्भः। उपायविषयमौत्सुक्यं, औत्सुक्यानुगुणो व्यापारश्चारम्भावस्थेत्यर्थः।

यथा वेणीसंहारे प्रथमेऽङ्के सहदेवं प्रति—

"भीमः—अथ भगवान् कृष्णः केन पणेन सुयोधनं प्रति सन्धिं कर्तुं प्रहितः।

सहदेवः—आर्य ननु पञ्चभिर्ग्रामैः।" इत्यादि।

यथा वा नलविलासे प्रथमेऽङ्के—"नेपथ्ये तूर्यध्वनिः।

कलहंसः—देव युगादिदेव-देवातायतन-सन्ध्यावलिपटहध्वनिरयम्॥

राजा– [स्वगतम्] अहो परमं शकुनम्। [पुनर्विमृश्य] प्रेषयाम्येतं कलहंसं दमयन्त्याः पार्श्वे। एषा च मकरिका विदर्भभाषा-वेषाचारकुशला सहैव यातु।" इत्यादीति।

पिछली कारिकामें पाँचों अवस्थाओंका 'उद्देश' अर्थात् नाममात्रसे कथन किया गया था। अब उनमेंसे एक-एक अवस्थाका क्रमसे लक्षण आदि करते हैं। उनमें सब पहले आरम्भ अवस्थाका लक्षण देते हैं।

(१) आरम्भावस्था—

अब आरम्भ [अवस्था] का विवेचन करते हैं—

[सूत्र ३८]—फल [की प्राप्ति] केलिए औत्सुक्य 'आरम्भ' [अवस्था कहलाती] है।

फल [का अर्थ] मुख्य साध्य [है]। उसके लिए उपाय-विषयक औत्सुक्य अर्थात् इस उपाय [के करने] से यह [फल] सिद्ध होगा इस प्रकारका स्मरण तथा उत्कण्ठादि कर्म, और उसके अनुकूल व्यापार दोनों आरम्भ [अवस्था होते] हैं। अर्थात् उपाय-विषयक औत्सुक्य, और औत्सुक्यके अनुरूप व्यापार [दोनों] आरम्भावस्था हैं यह अभिप्राय है।

जैसे वेणीसंहारके प्रथम अङ्कमें सहदेवके प्रति [भीम कहते हैं कि]—

"भीम—अच्छा भगवान् कृष्णको किन शर्तोंपर दुर्योधनके पास सन्धि करनेकेलिए भेजा है?

सहदेव—आर्य पाँच गाँवोंके द्वारा।" इत्यादि।

अथवा जैसे नलविलासके प्रथम अङ्कमें—

"नेपथ्यमें वाद्यध्वनि [सुनाई देता है]।

कलहंस—देव, युगादिदेवके मन्दिर [देवतायतन] के संध्याकालीन पूजनके समयके वाद्योंका यह ध्वनि है।

राजा—[स्वगत] अहो यह बड़ा अच्छा शकुन है। [फिर विचार कर] तब इस कलहंसको दमयन्तीके पास भेज दूँ। और विदर्भ देशकी भाषा वेष तथा आचार आदिको जानने वाली यह मकरिका [दासी] भी उसके साथ ही भेज दी जाय।" इत्यादि।

यह सब मुख्य फलकी प्राप्तिके लिए उपाय विषयक औत्सुक्य तथा तदनुरूप व्यापारके सूचक हैं। अतः ये आरम्भावस्थाका प्रदर्शन करते हैं।

एतासु चावस्थासु नायक-सहाय-प्रतिपक्ष-दैवव्यापाराणां अन्यतमस्य, द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां च एकस्यां, द्वयोस्तिसृषु चतसृषु पञ्चस्वपि च यथायथमुन्मीलने वृत्तिः। फलयोगस्तु मुख्यनायकस्यैव।

न च दैवात् कर्मणः प्रारम्भाद्युन्मीलने मानुषकर्माभावान्नाटकस्याव्युत्पत्तिहेतुत्वम्। दैव-मानुषव्यापारयोः परस्परापेक्षयैव शुभाशुभफलसाधकत्वात्। दैवादप्यर्थं पश्यन्तः पुण्यमुपचेतुं मानुषे कर्मणि प्रवर्तेरन्। उपभोगाच्च क्षीयमाणमननुकूलं दैवं प्रति विहितप्राणात्ययाः प्रतीक्षेरन्निति सर्वत्र दैवस्य मानुषव्यापारापेक्षत्वात् देवायत्तफलान्यपि रूपकाणि सामाजिकानां बुद्धिसंस्काराय निबन्धनीयानि। यथा पुष्पदूतिकं मृच्छकटिका चेति।

ये आरम्भावस्थाके लक्षण और उदाहरण ऊपरके अनुच्छेदोंमें दिखलाए हैं। अब अगले अनुच्छेदमें ग्रन्थकार यह दिखलाना चाहते हैं कि इन अवस्थाओंका प्रदर्शन नायकके व्यापार द्वारा भी हो सकता है और कहीं प्रतिनायक, सहायक तथा दैव-व्यापारके द्वारा भी सकता है। और वह केवल आरम्भावस्थामें ही नहीं अपितु सभी अवस्थाओंमें हो सकता है। कभी-कभी नायक, सहायक, प्रतिपक्ष और दैव-व्यापारोंमेंसे दो, तीन या चारों मिलकर किसी अवस्था विशेषका उन्मीलन कराते हैं। कभी ये चारों या इनमेंसे एक, दो, या तीन किसी एक अवस्थाका अथवा एकसे अधिक दो, तीन, चार या पाँचों अवस्थाओंका उन्मीलन कराते हैं। इसी बातको अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार दिया है—

इन [पाँचों] अवस्थाओंमें १ नायक, २ सहायक [पताका प्रकरी], ३ प्रतिनायक और ४ दैव [इन चारों व्यापारोंके] मेंसे किसी एक या दो या तीन अथवा चारोंका, किसी एक [अवस्थाके उन्मीलन] में, अथवा दो या तीन अथवा चार या पाँचों [अवस्थाओं] के उन्मीलन में आवश्यकतानुसार व्यापार होता है। [अवस्थाओंका प्रकाशन या उन्मीलन चाहे किसीके भी व्यापारसे हो किन्तु] फलकी प्राप्ति [सदैव] मुख्य नायकको ही होती है।

इन अवस्थाओंके प्रकाशनमें दैव-व्यापार भी कारण हो सकता है यह बात अभी इस अनुच्छेदमें कही है। दैव-व्यापार को पंचविध अवस्थाओंके प्रकाशनमें कारण माननेपर यह प्रश्न उठ सकता है कि नाटकका उद्देश मनोरञ्जनके साथ कर्तव्याकर्तव्यकी शिक्षा देना ही है। जब दैवको कारण मानेंगे तो उसपर मनुष्यका नियंत्रण न होनेके कारण दैवाश्रित कार्योंसे कोई शिक्षा नहीं मिलेगी। यह शङ्का उठाकर उसका समाधान अगले अनुच्छेदमें करते हैं—

दैवके व्यापारसे प्रारम्भ आदि [अवस्थाओं] के उन्मीलन होनेपर उसमें मानुष व्यापारका अभाव होनेसे नाटकको शिक्षा प्रदानका हेतु नहीं कहा जा सकेगा। यह बात नहीं समझनी चाहिए। [क्योंकि] दैव तथा मानुष-व्यापार दोनों एक-दूसरेकी सहायतासे ही शुभ और अशुभ फलके साधक होते हैं। [दूसरी बात यह भी है कि] भाग्यसे भी अर्थकी प्राप्ति देखकर [देखने वाले] पुण्यका सञ्चय करनेकेलिए मनुष्य-साध्य कार्यमें प्रवृत्त हो सकते हैं। और जीवनके संकटमें पड़ जानेपर भी [विहितप्राणात्ययाः] प्रतिकूल दैवके उपभोग द्वारा नष्ट होनेकी प्रतीक्षा कर सकते हैं। इसलिए दैवके सर्वत्र मानुष-व्यापारकी अपेक्षा रखनेसे दैवके अधीन ही जिनका फल है इस प्रकारके रूपक भी सामाजिकोंके बुद्धिकी शुद्धिकेलिए बनाने ही चाहिए। जैसे 'पुष्पदूतिक' तथा 'मृच्छकटिक' आदि [दैवायत्त फल वाले रूपक हैं]।

(२) अथ प्रयत्नमाह—

[सूत्र ३६]—प्रयत्नो व्यापृतौ त्वरा ।

मुख्यफलोपायव्यापारणे त्वरा, अनेनोपायेन विना फलं न भवतीति निश्चयेन परमौत्सुक्यं, प्रकर्षेण यत्नः प्रयत्नः । औत्सुक्यमात्रमारम्भः, परमौत्सुक्यं तु प्रयत्न इत्यर्थः ।

यथा रत्नावल्याम्—

"तह्वा वि नत्थि अन्नो दंसणोवाउ त्ति जह्वा तह्वा आलिहिय जधासमीहिदं करइस्सं ।

[तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा-तथा आलिख्य यथासमीहितं करिष्ये ।" इति संस्कृतम्] ।

इत्यादि ।

यथा वा नलविलासे तृतीयेऽङ्के—

"राजा—[सत्वरम्] मकरिके प्रभवसि राजपुत्रीमिह समानेतुम ?

मकरिका—अहं दाव पयतिस्सं । आगमणं उण दिव्वस्स आयत्तं ।

[अहं तावत् प्रयतिष्ये, आगमनं पुनर्दैवस्यायत्तम् । इति संस्कृतम्] ।

राजा—तर्हि यतस्व ।"

इत्यादि ।

उनसे भी सामाजिकोंको शिक्षा मिलती ही है] ।

(२) प्रयत्नावस्था—

अब प्रयत्न [के लक्षण आदि] को कहते हैं—

[सूत्र ३६]—[फलके उपायोंके] व्यापारमें शीघ्रता [करना] प्रयत्न कहलाता है ।

मुख्य फल [की प्राप्ति] के उपायोंको लागू करनेमें शीघ्रता अर्थात् इस उपायके बिना यह फल सिद्ध नहीं हो सकता है । इस प्रकारके निश्चयके कारण [उपायको प्रयुक्त करनेके लिए] अत्यन्त उत्सुकता, प्रकर्षेण यत्न [प्रयत्न इस व्युत्पत्तिके अनुसार] 'प्रयत्न' [कहलाता] है । [इसका अभिप्राय यह हुआ कि] केवल औत्सुक्य आरम्भ [अवस्थामें], और परम औत्सुक्य प्रयत्न [अवस्थामें परिगणित] होता है ।

जैसे रत्नावलीमें—

"फिर भी दर्शनका अन्य कोई उपाय नहीं है इसलिए जैसे-तैसे चित्र बनाकर ही अपनी इच्छाकी पूर्ति करता हूँ ।"

इत्यादि ।

अथवा जैसे नलविलासके तृतीय अङ्कमें—

"राजा—[शीघ्रतासे] मकरिके ! क्या तुम राजपुत्रीको यहाँ ला सकती हो ?

मकरिका—मैं [अपनी ओरसे पूरा] प्रयत्न करूँगी । किन्तु आना भगवान्के अधीन है ।

राजा—तो [शीघ्र ही] यत्न करो ।"

इत्यादि ।

ये दोनों उदाहरण मुख्य फलकी प्राप्तिके प्रति उपायोंका उपयोग करनेके विषयमें

(३) अथ प्राप्त्याशां विपञ्चयति—

[सूत्र ४०]—फलसम्भावना किञ्चित् प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः ॥३५॥

मात्रशब्देन फलान्तरयोगः प्रतिबन्धनिश्चयश्च व्यवच्छिद्यते। फलान्तरासम्बन्धात् अनिश्चितबाधकाभावाच्चोपायादीषत् प्रधानफलस्य या सम्भावना, न तु निश्चयः, सा प्राप्तेः प्रधानफललाभस्य आशा प्राप्त्याशा।

यथा वेणीसंहारे तृतीयेऽङ्के।

"भीमः—कृष्टा येन शिरोरुहेषु पशुना पाञ्चालराजात्मजा,
येनास्याः परिधानमप्यपहृतं राज्ञां गुरूणां पुरः।
यस्योरः स्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्,
सोऽयं मद्भुजपञ्जरान्तर्गतः संरक्ष्यतां कौरवा॥"

इत्यत्र दुःशासनवधादशेषकौरववधसम्भावनेन युधिष्ठिरस्य राज्यप्राप्तिसम्भवः।

यथा वा नलविलासे चतुर्थे स्वयम्बराङ्के—

"नलः—कलहंस! मकरिके! फलितः स एष वां प्रयासः।

कलहंसः—देव नावयोः प्रयासः किन्तु देवस्य स्वप्नः।

त्वरा या परम औत्सुक्यको प्रदर्शित कर रहे हैं। इसलिए ये प्रयत्नावस्थाके उदाहरणके रूप में यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं।

(३) प्राप्त्याशावस्था—

अब प्राप्त्याशा [रूप तृतीयावस्था] का विवेचन करते हैं—

[सूत्र ४०]—हेतुमात्रसे फलकी [प्राप्तिकी] कुछ सम्भावना [हो जाना] 'प्राप्त्याशा' [कहलाती] है। ३५।

मात्र शब्दसे [मुख्य फलके अतिरिक्त या मुख्य फलसे भिन्न] अन्य फलका सम्बन्ध तथा प्रतिबन्धके निश्चयका निवारण किया है। [उस हेतुके साथ] अन्य फलका सम्बन्ध न होनेसे और किसी अनिश्चित बाधकके अभावरूप उपायसे प्रधान फलकी [प्राप्तिकी] थोड़ी-सी सम्भावना, न कि निश्चय होना, प्राप्तिकी अर्थात् प्रधान फलकी प्राप्तिकी आशा होनेसे 'प्राप्त्याशा' [कहलाती] है।

जैसे वेणीसंहारके तीसरे अङ्कमें।

"भीम—जिस दुष्ट [पशुना] ने पाञ्चालराजकी पुत्रीके केशोंको खींचा था और जिसने राजाओं तथा गुरुओंके सामने उसके वस्त्रोंका भी अपहरण [करनेका यत्न] किया। जिसकी छातीका रक्त पीनेकी मैंने प्रतिज्ञा की थी वह [दुष्ट दुःशासन इस समय] मेरी भुजाओंके शिकंजेमें आ गया है। हे कौरवो! [तुम्हारी सामर्थ्य हो तो आकर अब] इसकी रक्षा कर लो।"

इसमें दुःशासनके वधसे समस्त कौरवोंके वधकी सम्भावना हो जानेसे युधिष्ठिरको राज्यप्राप्तिकी सम्भावना [प्रांप्त्याशा] हो गई है।

अथवा जैसे नलविलासके स्वयम्बराङ्क नामक चतुर्थ अङ्कमें—

"नल—हे कलहंस! हे मकरिके! तुम दोनोंका वह प्रयास सफल हो गया।

कलहंस—देव! हम दोनोंका प्रयास नहीं किन्तु आपका स्वप्न [सफल हुआ]।

नलः—समभूदिदानीं स्वप्नार्थप्राप्त्याशा।" इति ॥ ३५ ॥

(४) अथ नियताप्तिं स्पष्टयति—

[सूत्र ४१]—नियताप्तिरुपायानां साफल्यात् कार्यनिर्णयः ।

प्रधानफलहेतूनां प्रतिबन्धकाभावेन सकलसहकारिसम्पत्या कार्यस्य प्रधान-फलस्य निर्णयो भविष्यत्येवेति निश्चयो,नियता फलाव्यभिचारिणी आप्तिर्नियताप्तिः । यथा वेणीसंहारे—

"कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी,
राजा दुःशासनादे-र्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः,
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥"

इत्यादिना भीमार्जुनाभ्यामेकशेषदुर्योधनान्वेषणान्नियताप्तिर्दर्शिता ।

नल—अब स्वप्नके अर्थकी प्राप्तिकी आशा हो गई है ।" इत्यादि ॥३५॥

४ नियताप्ति अवस्था—

आरम्भ, यत्न, और प्राप्त्याशा रूप तीन अवस्थाओंका वर्णन कर चुकनेके बाद अब 'नियताप्ति' रूप चतुर्थ अवस्थाके लक्षणादिका अवसर प्राप्त होता है। अतः आगे उसका वर्णन प्रारम्भ करते है ।

अब नियताप्ति [के लक्षण आदि] को स्पष्ट करते है—

[सूत्र ४१]—उपायोंके सफल होजानेसे कार्य [की प्राप्ति] का निर्णय 'नियताप्ति' कहलाती है ।

प्रधान फलके हेतुओंके, प्रतिबन्धक [कारणों] का नाश [अभाव] हो जानेसे और [उसकी उत्पत्तिके] समस्त सहकारियोंके प्राप्त हो जानेके कारण कार्य अर्थात् प्रधान फलका निर्णय अर्थात् अवश्य होगा ही इस प्रकारका निश्चय, नियता अर्थात् फलकी अव्यभिचारिणी निश्चित प्राप्ति होनेसे [इस व्युत्पत्तिके अनुसार] नियताप्ति [कहलाती] है ।

जैसे वेणीसंहारमें—

"[हम पाण्डवोंके साथ] द्यूतका छल [करके हमारा राज्य अपहरण] करने वाला, लाखके घर [में बन्द करके हम सब] को जलाने वाला, दुःशासन आदिका वह अभिमानी राजा, सौ भाइयोंका गुरु [ज्येष्ठ भाई], अङ्गराज [कर्ण] का मित्र, द्रौपदीके केश और वस्त्रों का अपहरण करानेमें पटु और [अधिक क्या कहें] पाण्डव जिसके 'दास' हैं वह दुर्योधन अब कहाँ है, बतलाओ, हम दोनों [अर्थात् अर्जुन और भीम] क्रोधसे [उसे मारनेके लिए] नहीं केवल मिलनेके लिए आए हैं ।"

इत्यादि [वचन] से भीम तथा अर्जुनके द्वारा अकेले बचे हुए दुर्योधनका अन्वेषण किए जानेके कारण [पाण्डवोंको राज्यकी प्राप्तिका निश्चय हो जाने से । यह] नियताप्ति है ।

वेणीसंहारके पञ्चम अङ्कमें कर्ण आदि तक सब सेनापतियोंका बध हो जानेपर और दुर्योधनका जीवन भी सङ्कटमें पड़ जानेपर मूर्छित दुर्योधनको रथमें लेकर सारथि उसके रथ को भगा लाता है । ऐसी दशामें धृतराष्ट्र तथा गान्धारी दुर्योधनको समझा रहे हैं । उसी समय दुर्योधनको खोजते हुए भीम और अर्जुन उधर आ निकलते हैं । उसी प्रसङ्गमें यह

यथा वा राघवाभ्युदये षष्ठेऽङ्के —

"सुग्रीवः—[जाम्बवन्तं प्रति] भवतु यादृशस्तादृशो वा स पारदारिको राक्षसस्तथापि देवपादानां बध्यः।

रामः—[सीतापहारं स्मृत्वा सगर्वविशादम्] कपिराज ! प्रतिराजविक्रम-यामिनीतपनोदये भवति सहाये सति—

निहत्य दशकन्धरं सह विपक्षरक्षःकथा—
प्रथाभिरधिसङ्गरं जनकजां ग्रहीष्ये ध्रुवम् ।
शशाक न स रक्षितुं रघुपतिः परेभ्यः प्रिया—
मयं तदपि सम्भवी चिरमकीर्तिकोलाहलः ॥"

इति ।

भीमकी उक्ति है। इसको सुनकर कौरवपक्षके मुख्य सेनानायकोंके मारे जाने और दुर्योधनके अकेले ही शेष रह जानेसे अब पाण्डवोंकी राज्य-प्राप्ति प्रायः निश्चित हो जाती है। इसलिए ग्रन्थकारने इसे कार्यकी 'नियताप्ति' रूप चतुर्थी अवस्थाके उदाहरणके रूपमें यहाँ प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकारका नियताप्तिका दूसरा उदाहरण आगे अपने बनाए राघवाभ्युदय नाटक मेंसे प्रस्तुत करते हैं।

अथवा जैसे राघवाभ्युदयके षष्ठाङ्कमें—

सुग्रीव—[जाम्बवन्तके प्रति कहते हैं कि] हे अमात्य ! वह दूसरेकी स्त्रीका अपहरण करने वाला राक्षस [रावण] चाहे कैसा भी [बलवान् और विद्वान्] हो किन्तु [दूसरेकी स्त्री का अपहरण करने वाला होनेके कारण वह पापी है अत एव] देव पाद [श्री रामचन्द्रजी] के लिए बध्य ही है।

राम—[सीताके अपहरणके दुःखको स्मरण करके गर्व तथा विषादके सहित कहते हैं कि] हे कपिराज ! शत्रुओ [प्रतिराज] के विक्रम रूप यामिनी [रात्रि] के लिए सूर्यके समान [अर्थात् शत्रुओंके पराक्रमको नष्ट करने वाले] आपके सहायक होनेपर—

शत्रु राक्षसोंकी कथाओंकी परम्पराओंके साथ रावणको युद्धभूमिमें मार कर निश्चय ही मैं [जनकजा] सीताको प्राप्त कर लूँगा। फिर भी वह रघुपति दूसरोंसे अपनी प्रियाकी रक्षा करनेमें भी समर्थ नहीं हुआ इस प्रकारका अपकीर्तिका कोलाहल सदाके लिए हो ही जायगा।

यह।

यहाँ भी फलसिद्धिके बाधकोंका निराकरण और फल-प्राप्ति अर्थात् सीताके उद्धारके अभीष्ट साधनोंके उपस्थित हो जानेसे रामचन्द्रको सीताके उद्धार रूप फलकी प्राप्तिका निश्चय हो ही गया है। इसलिए यह भी 'नियताप्ति' रूप चतुर्थी अवस्थाकाके उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार यहाँ तक कार्यकी आरम्भ आदि पाँच अवस्थाओंमेंसे चार अवस्थाओंका लक्षण तथा उदाहरण आदि सहित विस्तार-पूर्वक विवेचन हो गया। अब एक 'फलागम' रूप अन्तिम अवस्था शेष रह जाती है। उसका निरूपण अगले श्लोकार्ध द्वारा प्रस्तुत करते हैं।

(५) अथ फलागमं निरूपयति—

[सूत्र ४२]—साक्षादिष्टार्थसम्भूति-र्नायकस्य फलागमः ॥३६॥

साक्षात् समनन्तरं, न तु दानादिभ्यः स्वर्गादिफलमिव जन्मान्तरभाविनी। इष्टस्याभिप्रेतस्य, अर्थस्य प्रयोजनस्य, सम्यक् पूर्णत्वेन, भूतिरुत्पत्तिः, फलस्यागमः आगमारम्भो न पुनरागतत्वम्। इह फलस्योत्पत्त्यावेशः पञ्चम्यवस्था। उत्पन्नस्य तु नायकेन यः सम्भोगस्तत् प्रबन्धस्य मुख्यं साध्यम्। अत एव फले साध्ये नायकस्य पञ्चावस्थाः सङ्गच्छन्ते।

'नायकस्य' इत्यनेन चावस्थान्तराणि सचिव-नायिका-विपक्ष-दैवादिव्यापारैरपि निबन्ध्यते इत्युक्तं भवति। तानि तु तथा निबद्धान्यपि फलतो नायक एव पर्यवस्यन्ति। अत एव रत्नावल्यां—'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ' इत्यादि स्वामिगत्वेनैव यौगन्धरायणेनोक्तम्। फलागमः पुनर्नायकस्यैव निबध्यते।

---

(५) फलागम अवस्था—

अब फलागम [रूप पञ्चमी अवस्था] का निरूपण करते हैं—

[सूत्र ४२]—नायकको साक्षात् [जन्मान्तरभावी फलके रूपमें नहीं अपितु इसी जन्म में कार्यके बाद] इष्ट अर्थकी प्राप्ति 'फलागम' [रूप पञ्चमी अवस्था कहलाती] है ॥३६॥

[कारिकामें आया हुआ] 'साक्षात्' [पद समन्तर] तुरन्त बादमें [होनेवाली इष्टार्थ प्राप्तिका सूचक है], न कि दानादिसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि फलके समान दूसरे जन्ममें प्राप्त होनेवाली [इष्टार्थ प्राप्तिका ग्रहण उससे होता है]। 'इष्ट' अर्थात् अभिप्रेत [चाहे हुए] 'अर्थ' अर्थात् प्रयोजनकः [सम्भूति अर्थात्] सम्यक् पूर्ण रूपसे [भली प्रकार] भूति अर्थात् उत्पत्ति। 'फलागम' [कहलाती] है। फलागम [इस पदमें] 'आगम' अर्थात् आरम्भ [का ग्रहण करना चाहिए] न कि [आगतत्व अर्थात् फलकी] सिद्धि। अर्थात् फलकी उत्पत्तिका आरम्भ पञ्चमी [फलागम रूप] अवस्था [से अभिप्रेत] है। और [पूर्ण रूपसे] उत्पन्न [फल] का जो नायकद्वारा उपयोग है वह प्रबन्धका मुख्य साध्य है। [अवस्था रूप नहीं]। इसलिए फलकी सिद्धिमें नायकको पाँच अवस्थाएँ [मानना] युक्तिसङ्गत है।

'नायकस्य' इस [पद] से [यह सूचित किया है कि फलागम रूप अन्तिम अवस्थाको छोड़कर] अन्य [चारों] अवस्थाएँ सचिव, नायिका, प्रतिनायक या दैव आदिके व्यापारोंके द्वारा भी आयोजित हो सकती हैं [किन्तु फलागम रूप अन्तिम अवस्था केवल नायकको ही प्राप्त होती है] यह अभिप्राय है। वे [प्रारम्भ आदि रूप चार अवस्थाएँ] उस प्रकारसे [अर्थात् नायकसे भिन्न सचिव, नायिका, प्रतिनायक तथा दैवादि द्वारा] निबद्ध होनेपर भी फल रूपमें [अन्तको] नायकमें ही पर्यवसित होती है [अर्थात् शेष चारों अवस्थाओंकी आयोजना चाहे किसीके भी प्रयत्नसे हो किन्तु अन्तमें उसका फल नायकको ही प्राप्त होना है]। इसीलिए रत्नावलीमें—'स्वामिकी वृद्धिके हेतुभूत इस कार्यमें' इत्यादि स्वामिगत रूपसे ही [फलका निर्देश करते हुए] यौगन्धरायणने कहा है। [अर्थात् रत्नावलीके आरम्भमें आरम्भावस्थाका आयोजन यद्यपि अमात्य यौगंधरायणने किया है किंतु उसका फल स्वामिगत ही निर्दिष्ट किया है]। फलागम [पञ्चमी अवस्था केवल] नायककी ही वर्णित की जाती है।

यथा वेणीसंहारे षष्ठेऽङ्के—

"भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक् चन्दनाभं मयाङ्गे,
लक्ष्मीरार्ये निषण्णा चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुबलमनुजां दग्धमेतद् रणाग्नौ,
नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप ! तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम्॥"

इत्यनेन दुर्योधनं हत्वा भीमसेनेन युधिष्ठिरराज्यसमर्पणफलयोगो दर्शितः।
यथा वा राघवाभ्युदये—

"वैदेहीं हृतवांस्तदेष महतः संख्ये विषह्य क्लमान्,
चक्रोत्पाटितकन्धरो दशमुखः कीनाशदासीकृतः।

फलागम रूप पञ्चमी अवस्थाके लक्षणकी व्याख्यामें 'साक्षात्' तथा 'फलागम' इन दो शब्दोंकी व्याख्यापर ग्रन्थकारने विशेष बल दिया है। 'साक्षात्' पदसे उन्होंने यह अर्थ लिया है कि इष्ट अर्थकी प्राप्ति दानादि कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि रूप फलके समान जन्मान्तरभाविनी न होकर 'साक्षात्' इसी जन्ममें और कर्मोंके अनन्तर ही होनी चाहिए। इसका कारण यह है कि यदि नाटकमें भी जन्मान्तरभाविनी फलप्राप्तिका वर्णन किया जाय तो फिर प्रेक्षकको कर्म और उसके फलका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूपसे गृहीत न हो सकनेसे उसे नाटकसे कर्तव्याकर्तव्यकी शिक्षा प्राप्त नहीं हो सकेगी। इसलिए फलप्राप्ति साक्षात् रूपमें ही अङ्कित होनी चाहिए।

दूसरा बल उन्होंने 'फलागम' पदकी व्याख्यापर दिया है। फलागम शब्दसे उन्होंने फलकी पूर्ण रूपसे प्राप्ति नहीं अपितु केवल फलप्राप्तिका आरम्भ यह अर्थ लिया है। इसका कारण यह है कि फलकी पूर्ण रूपसे प्राप्ति तो अवस्थाके भीतर नहीं आती है। वह तो अन्तिम साध्य है। यहाँ अन्तिम साध्यका नहीं अपितु केवल अवस्थाओंका वर्णन चल रहा है। इसलिए फलागम शब्दसे फलप्राप्तिका आरम्भ यह अर्थ ग्रन्थकारने लिया है। जो सर्वथा उचित है।

आगे फलागम रूप पञ्चमी अवस्थाके दो उदाहरण देते हैं।

जैसे वेणीसंहारके छठे अङ्कमें [भीम कह रहे हैं]—

[दुर्योधनके] शरीरको पृथिवीपर पटककर उसका यह रक्त मैंने चन्दनके समान अपने शरीरमें लगा लिया है। चारों समुद्रोंका जल जिसकी सीमा है इस प्रकारकी पृथिवीकेसाथ लक्ष्मीको आर्य [युधिष्ठिर] में स्थापित कर दिया है। [कौरवोंके] भृत्य, मित्र, योधागण, कुरुसेना और [दुर्योधनके] भाई सब इस रणाग्निमें भस्म हो गए। हे राजन् [युधिष्ठिर] ! आप जिस नामको बोल रहे हैं [धृतराष्ट्रके पुत्र] दुर्योधनका केवल एक वही [नाममात्र ही] शेष रह गया है।

इससे दुर्योधनको मारकर भीमसेनने युधिष्ठिरको राज्यार्पण रूप फलको प्रदर्शित किया है। [अतः यह फलागमका उदाहरण है]।

अथवा जैसे राघवाभ्युदयमें [राम कह रहे हैं कि]—

[रावणने] वैदेहीका अपहरण किया था इसलिए संग्राममें महान् कष्टोंको सहकर भी चक्रसे गर्दन काटकर उस रावणको यमराजके अर्पित कर दिया। किन्तु उस [सीता] के

प्राणान् यद्विरहेऽप्यहं विधृतवांस्तेन त्रपासुन्दरं,
वक्त्रं दर्शयितुं तथापि न पुरस्तस्या विलक्षः क्षमः ॥"

इति ।

इह च तावत् पुरुषकारमात्राभिनिवेशिनां दैवमपाकुर्वतां नास्तिकानां दैव-बहुमानव्युत्पत्तये पुरुषकारोऽप्यफलस्तदभावोऽपि सफल इति दर्शनीयम्। ततो दैवायत्तफले दरिद्रचारुदत्तादिरूपके पुरुषव्यापारस्य गौणत्वात् कथं प्रारम्भादयः स्युः ?

न, तत्रापि नायकस्य फलार्थित्वात्, फलस्य च प्रारम्भादिनान्तरीयकत्वात्। अनुप्तान्यपि हि सस्यानि वृष्टिसेकाप्यायितायां भुवि उच्छूनता-स्तम्बभवन-पुष्पोद्गम-क्रमेणैव फलन्ति ।

यद्यपि हि सेवाद्यशेषव्यापारविमुखः पुरुषो न व्याप्रियते, तथापि दैवप्रेरितो राजादिर्व्याप्रियत एव । स च राजादिगतो व्यापारः पुरुषगत एव । तद्व्यापारसाध्य-फलार्थित्वात् । अपरथा परतः प्राप्तमपि फलं नाङ्गीकुर्यादिति ॥३६॥

विरहमें भी जो मैं प्राणोंको धारण किए रहा इसलिए लज्जित हुआ मैं अपने लज्जासे युक्त [त्रपासुन्दरं] मुखको उसके [सीताके] सामने दिखलानेमें समर्थ नहीं हूँ ।

इसमें [फलागम रूप पञ्चमी अवस्थाका वर्णन है] ।

ऊपर यह बतलाया था कि प्रारम्भादि अन्य अवस्थाओंकी योजना दैवके व्यापारसे भी हो सकती है । किन्तु उसका फल नायकको ही प्राप्त होगा । इसीका समर्थन करते हुए आगे उसकी विशेष उपयोगिताका प्रतिपादन करते हैं ।

केवल पुरुषार्थको मानने वाले और दैवका तिरस्कार करने वाले नास्तिकोंको भी दैवमें श्रद्धा करानेके लिए [कहीं] पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जाता है और उसका अभाव [अर्थात् दैव] भी सफल हो जाता है यह बात यहाँ नाटकमें दिखलानी चाहिए । इसलिए केवल दैवके अधीन फल वाले 'दरिद्र-चारुदत्त' आदि रूपकोंमें पुरुषके व्यापारके गौण हो जानेसे आरम्भ आदि [अवस्थाएँ] कैसे हो सकती हैं [यह शङ्का यदि उठाई जाय तो]—

ठीक नहीं है । क्योंकि वहाँ भी नायकको फलकी कामना होती ही है । और फल आरम्भादिके बिना नहीं हो सकता है । [इसलिए उसमें भी आरम्भादि अवस्थाओंका समावेश हो सकता है] । बिना बोए हुए बीज भी [जब किसी प्रकार खेतमें पड़ जाते हैं तो वे] वर्षासे तर हुई भूमिमें फूलकर [अंकुर फूटकर] पौदा बन कर और फूल कर क्रमसे ही फलते हैं [इसी प्रकार बिना पुरुषार्थके केवल भाग्यके द्वारा बोए गए कर्म बीज भी प्रारम्भादि अव-स्थाओंके द्वारा ही फलको उत्पन्न करते हैं] ।

यद्यपि सेवा आदि समस्त व्यापारोंसे रहित [राजादि सदृश] पुरुष [स्वयं] किसी कार्यको नहीं करता है किन्तु दैवसे प्रेरित अथवा राजा आदि होनेपर [स्वयं भी दैव-प्रेरणाके अनुसार] व्यापार करता ही है । और राजादिगत वह [दैव प्रेरित व्यापार भी] पुरुषका ही व्यापार होता है । [क्योंकि उस दैवी-] व्यापार द्वारा होने वाले फलका प्रार्थी वह [राजादि] ही होता है । अन्यथा [यदि वह फलार्थी न हो तो] बादमें प्राप्त होनेवाले फलको भी स्वीकार न करें ॥३६॥

(४) अथ दशानन्तरमुद्दिष्टान् व्याख्यातुं सन्धीनुपक्षिपति—

[सूत्र ४३]—मुखं प्रतिमुखं गर्भाऽऽमर्श-निर्वहणान्यमी ।
सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः पञ्चावस्थानुगाः क्रमात् ॥३७॥

मुख्यस्य स्वतन्त्रस्य महावाक्यार्थस्यांशा भागाः, परस्परं स्वरूपेण चाङ्गैः सन्धीयन्ते इति सन्धयः । अवस्थाभिः प्रारम्भादिभिरनुगता, अवस्थासमाप्तौ समाप्यन्त इत्यर्थः । अवस्थानां च ध्रुवभावित्वात् सन्धयोऽपि नाटक-प्रकरण-नाटिका-प्रकरणीषु पञ्चावश्यम्भाविनः । समवकारादौ तु विशेषोपादानादूनत्वेऽपि न दोषः । क्रमादिति मुखाद्युद्देशक्रमेण अवस्थाक्रमेण च निबध्यन्ते । इह तावत् प्रबन्ध-निबन्धनीयोऽर्थोऽवस्थाभेदेन पञ्चभिर्भागैः परिकल्प्यते । एकैकशश्च भागो द्वादश-त्रयोदशेत्यादिरूपया अङ्गसंख्यया विभज्यते । प्रासङ्गिकवृत्तसन्धयस्तु मुख्यसन्ध्य-नुयायित्वादनुसन्धय एवेत्युक्तमेवेति ।३७।

(४) सन्धि-निरूपण—

५वीं कारिकामें निर्दिष्ट नाटक लक्षणमें 'अङ्क' 'उपाय' और 'दशा' के बाद 'सन्धियों' का उल्लेख किया गया है । अत एव दशाओंका निरूपण कर चुकनेके बाद अब सन्धियोंका निरूपण आरम्भ करते हैं । पाँच अर्थोपक्षेपक, पाँच अङ्ग और पाँच दशाओंके समान सन्धियों की संख्या भी पाँच ही है । यहाँसे आगे उन पाँचों सन्धियोंका निरूपण किया जायगा ।

अब 'दशा' के अनन्तर कहे हुए [सन्धियों] की व्याख्या करनेके लिए 'सन्धियों' का आरम्भ करते हैं—

[सूत्र ४३]—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण ये [पूर्वोक्त] पाँच अवस्थाओं का क्रमशः अनुगमन करने वाले मुख्य कथाके पाँच भाग 'सन्धि' कहलाते हैं ।३७।

मुख्य अर्थात् स्वतन्त्र महावाक्य [नाटकके कथाभाग] के अंश अर्थात् भाग, परस्पर अपने रूपसे और अङ्गोंके साथ मिलते हैं इसलिए 'सन्धि' [कहलाते हैं] । प्रारम्भ आदि [पाँच] अवस्थाओके साथ चलने वाले [हैं इसलिए] अवस्थाकी समाप्तिपर [सन्धि भी] समाप्त हो जाते हैं । यह ['अवस्थानुगाः' पदका] अभिप्राय है । [नाटकोंमें अवस्थाके लक्षणमें कहे गए 'ध्रुव' पदसे] अवस्थाओंके अपरिहार्य होनेसे [उनका अनुसरण करने वाले पाँचों] सन्धि भी नाटक, प्रकरण, नाटिका और प्रकरणीमें अपरिहार्य हैं । समवकार आदि [रूपकोंके अन्य भेदों] में तो [सन्धियोंकी संख्याका] विशेष रूपसे निर्देश होनेके कारण कम [संख्या] होने पर भी दोष नहीं है । [कारिकामें आए हुए] 'क्रमात्' इस [पद] से मुखादि रूपमें उद्देशके क्रमसे [अर्थात् जिस क्रमसे उनके नाम इस कारिकामें गिनाए गए हैं उसी क्रमसे] और अवस्थाओंके क्रमसे ही [सन्धियोंका] समावेश किया जाता है । यहाँ [नाटकमें] प्रबन्धमें वर्णनीय कथाभागको [प्रारम्भ आदि] अवस्थाओंके भेदसे पाँच भागोंमें विभक्त किया जाता है । और उनमेंसे प्रत्येक भाग बारह-तेरह आदि रूप अङ्गोंकी संख्यामें बाँटा जाता है । [ये ही पाँच सन्धि और बारह तेरह आदि सन्ध्यङ्ग कहलाते हैं] । प्रासङ्गिक [पताका आदि के] चरित्रके सन्धि तो मुख्य सन्धियोंके अनुगामी होनेके कारण 'अनुसन्धि' ही होते हैं यह बात पीछे कही जा चुकी है ॥३७॥

(१) अथ मुखं लक्षयितुमाह—

[सूत्र ४४]—मुखं प्रधानवृत्तांशो बीजोत्पत्ति-रसाश्रयः ।

प्रारम्भावस्थाभावित्वात् प्रधानवृत्तस्य भागो मुखमिव मुखम । 'बीजोत्पत्तेः' मुख्योपायोपक्षेपस्य, 'रसानां' च शृङ्गारादीनामाश्रयोऽवतरणं यत्र । प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशिः प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्ररससन्निवेशस्तावान मुखसन्धिरित्यर्थः ।

यथा 'रत्नावल्यां' प्रथमो ऽङ्कः । अत्र हि सागरिकाराजदर्शनरूपे अमात्य-प्रारम्भविषयीकृतेऽर्थराशौ अमात्ययौगन्धरायणस्य पृथिवीसाम्राज्यविजगीषो-र्वीरः, वत्सराजस्य वसन्तविभावः शृङ्गारः, पौरप्रमोदावलोकनादद्भुतः, ।तत उद्यानगमना-दारभ्य पुनः शृङ्गारः इति ।

यथा वा 'सत्यहरिश्चन्द्रे' प्रथमो ऽङ्कः । तत्र हि कुलपतिप्रारम्भविषयीकृते पृथिवी-सुवर्णदानाभ्युपगमरूपे अर्थराशौ राज्ञः प्रथमं महावराहदर्शने अद्भुतः, प्रहतहरिणीदर्शने करुणः, पुनराश्रमदर्शने अद्भुतः, हरिणीवधश्रवणक्रुद्धस्य कुलपते रौद्रः, ततः पृथिवीसुवर्णदानाभ्युपगमे राज्ञो दानवीर इति । रसप्राणो नाट्यविधि-रिति रसाश्रयत्वमुत्तरसन्धिष्वपि द्रष्टव्यमिति ।

---

(१) मुखसन्धि—

अथ मुख [संधि] का लक्षण करनेके लिए कहते हैं—

[सूत्र ४४] बीजकी उत्पत्ति तथा रसका आश्रयभूत मुख्य कथाभागका [मुखके समान सबसे पहिले दिखलाई देनेवाला] अंश 'मुखसंधि' कहलाता है ।

[कथाभागकी] प्रारम्भावस्थाके साथ होनेके कारण प्रधान वृत्तका [प्रारम्भिक] भाग मुखके समान [सबसे पहिले दृश्य होनेसे] 'मुख' [संधि कहलाता] है । बीजकी उत्पत्ति अर्थात् मुख्य उपायके [उपक्षेप] आरम्भका और शृङ्गारादि रसोंका आश्रय अर्थात् अवतरण जिसमें होता है [वह मुखसंधि कहलाता है] । अर्थात् [नाटकके] प्रारम्भका उपयोगी जितना अर्थराशि और प्रसक्तानुप्रसक्त अर्थात् परम्परित रूपसे विचित्र रसोंका [जितना] सन्निवेश [प्रारम्भके लिए उपयोगी है] वह सब मुखसंधि [के अंतर्गत] है ।

जैसे रत्नावलीमें प्रथम अङ्क [मुखसंधिका उदाहरण है] । क्योंकि उसमें अमात्य [यौगंधरायण]के आरम्भ [व्यापार] के विषयभूत सागरिकाके राजाके द्वारा देखे जाने रूप अर्थसमुदायमें पृथिवीके साम्राज्यको प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले अमात्य यौगंधरायणका वीररस, वसंत रूप [उद्दीपन] विभाव से युक्त वत्सराजका शृङ्गाररस, पुरवासियोंके प्रमोदके अवलोकनसे अद्भुत और उसके बाद उद्यानमें आनेसे लेकर फिर शृङ्गार [पाया जाता है] । इस प्रकार [मुखसंधिमें विचित्र रसाश्रयत्व पाया जाता है] ।

अथवा जैसे सत्यहरिश्चंद्रमें प्रथम अङ्क [मुखसंधिका उदाहरण है] । उसमें कुलपति के आरम्भके विषयभूत पृथिवी और सुवर्णदानके स्वीकार करने रूप अर्थसमुदायमें, राजाको प्रथम महावराहके दर्शन रूप अद्भुत, [उसके बाद] मारी गई हरिणीको देखनेपर करुण, उसके बाद आश्रमके देखनेपर अद्भुत, फिर हरिणीबध [के समाचार] को सुनकर क्रुद्ध हुए कुलपतिका रौद्र और फिर पृथिवी और सुवर्ण का दान करनेपर राजाका दानवीर [रस आया है । [इस प्रकार इस नाटकमेंभी मुखसंधिमें नाना रसोंका विचित्र सन्निवेश किया गया

(२) अथ प्रतिमुखं व्याचष्टे—

[सूत्र ४५]—प्रतिमुखं कियल्लक्ष्यबीजोद्घाटसमन्वितः ॥३८॥

'प्रधानवृत्तांश' इहोत्तरेषु च स्मर्यते। कियल्लक्ष्यस्य मुखसन्धौ गम्भीरत्वेन न्यस्तत्वादीषत् प्रकाशस्य बीजस्य प्रधानोपायस्य, उद्घाटेन प्रबलप्रकाशनेन, सम्यगनुगतः, प्रयत्नावस्थापरिच्छिन्नो यः प्रधानवृत्तांशः स मुखस्याभिमुख्येन वर्तत इति 'प्रतिमुखम्'।

"द्वीपादन्यस्मादपि" इत्यादिना ह्यमात्येन सागरिकाचेष्टितरूपं बीजं मुखसन्धौ न्यस्तं, वसन्तोत्सवकामदेवपूजादिना तिरोहितत्वादीषल्लक्ष्यम्। तस्य च सुसङ्गतारचित-राज-सागरिकासमागमेन द्वितीये अङ्के उद्घाट इति ॥३८॥

है। अत एव यहाँ भी मुखसंधि रसाश्रयः है]। नाट्यकी रचनाका प्राण ही रस है इसलिए [प्रतिमुख आदि] अगली संधियोंमें भी रसाश्रयत्व होना चाहिए।

(२) प्रतिमुखसन्धि—

अब प्रतिमुख [सन्धि] की व्याख्या करते हैं—

[सूत्र ४५]—[मुखसन्धिमें] सूक्ष्मरूपसे दिखलाई देने वाले [कियल्लक्ष्य] बीजके उद्घाटनसे युक्त प्रति-मुख [सन्धि] होता है। ३८।

[मुखसन्धिके लक्षणमेंसे] 'प्रधानवृत्तांशः' इस भागकी अनुवृत्ति यहाँ [इस प्रतिमुखके लक्षणमें] तथा आगे [गर्भ सन्धि आदिके लक्षणमें] भी आती है। ['इह उत्तरेषु च स स्मर्यते' इस वाक्यका यह अर्थ किया है]। 'कियल्लक्ष्यस्य' [पदका अभिप्राय यह है कि] मुखसन्धिमें गूढ रूपसे आरोपित किए गए, इसलिए सूक्ष्म रूपसे दिखलाई देने वाले बीजके अर्थात् प्रधान उपायके, उद्घाटन अर्थात् प्रबल रूपसे प्रकाशनसे, सम्यक् अर्थात् स्पष्टरूपसे अनुगत, प्रयत्नावस्थामात्रमें व्याप्त, प्रधान वृत्तका जो भाग होता है वह मुखके सामने आगे विद्यमान होनेसे 'प्रतिमुख' [प्रतिमुखसन्धि कहलाता] है।

प्रतिमुखसन्धिके लक्षणकी इस व्याख्यामें तीन बातें कही गई हैं। पहली बात तो यह कही है कि 'प्रधानवृत्तांशः' इस भागका सम्बन्ध मुखसन्धिके लक्षणसे यहाँ भी लाना चाहिए। दूसरी बात यह है कि मुखसन्धिमें बीजका सूक्ष्मरूपसे जो निवेश किया जाता है उसका प्रतिमुखसन्धिमें अधिक स्पष्ट रूपसे विकास उद्घाटन किया जाता है। और तीसरी बात यह है कि जैसे मुखसन्धि प्रारम्भावस्थाका अनुसरण करने वाला होता है। प्रारम्भावस्थाके समाप्त होनेके साथ ही मुखसन्धि समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार प्रतिमुखसन्धि प्रयत्न रूप द्वितीयावस्थाका अनुगामी होता है। द्वितीयावस्थाके समाप्त होनेके साथ समाप्त हो जाता है। आगे इसीका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

जैसे [रत्नावलीमें] 'द्वीपादन्यस्मादपि' इत्यादिसे अमात्य [यौगन्धरायण] के द्वारा सागरिकाका व्यापार रूप बीज [प्रथमाङ्कमें] मुखसन्धिमें [सूक्ष्मरूपसे] स्थापित किया था। वह वसन्तोत्सव, कामदेव-पूजनादिके द्वारा तिरोहित होनेके कारण थोड़ा-सा दिखलाई देता था। उसका सुसङ्गताके द्वारा कराए गए राजा और सागरिकाके समागमके द्वारा द्वितीयांकमें उद्घाटन [अधिक विस्तार] किया गया है। [अत एव द्वितीयांकका कथाभाग उस नाटकमें प्रतिमुखसन्धि कहलाता है] ॥३८॥

अथ गर्भं व्याख्यातुमाह—

[सूत्र ४६]—बीजस्यौन्मुख्यवान् गर्भो लाभालाभगवेषणैः ।

उत्पत्ति-उद्घाटनदशाद्वयाविष्टस्य बीजस्य औन्मुख्यं फलजननाभिमुख्यं तद्वान्। प्राप्त्याशया तृतीयावस्थया परिच्छिन्नो लाभालाभगवेषणैः पुनः-पुनः भवद्भिर्युक्तः प्रधानवृत्तांशो गर्भसन्धिः ।

यथा वेणीसंहारे तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमेष्वंकेषु । फलसाधकानां पाण्डवानां वृत्ते नेपथ्ये भीमसेनेन—

'कृष्टा येन शिरोरुहेषु पशुना' ।

इत्यादिना प्रतिज्ञानिर्वहणोपक्रमात् विजयानुगुण्यलाभेन बीजस्यौन्मुख्यं दर्शितम् । तथा—

'भगदत्तलुहिलकुम्भके' [भगदत्तरुधिरकुम्भकैः] ।

इत्यादिना राक्षसीमुखसूचितेन प्रधानयोधवधेन ।

'एशे खुधिट्ठज्जुण्णेणं केशेषु गिण्हिय दोणे वावायीइदि ।'

['एष खलु धृष्टद्युम्नेन केशेषु गृहीत्वा द्रोणो व्यापाद्यते' । इति संस्कृतम् ।]

इत्यादिना राक्षसमुखसूचितेन च सेनापतिवधेन। स्वबलक्षोभकारिणा कर्ण-

---

३ गर्भसन्धि—

अब गर्भ [संधि] की व्याख्या करनेके लिए कहते हैं—

[सू० ४६]—[मुख्य फलके] लाभ और अलाभ [अर्थात् कभी प्राप्तिकी आशा और कभी प्राप्तिकी निराशा] के अनुसंधानके द्वारा बीजकी फलोन्मुखतासे युक्त [कथाभाग] गर्भ [संधि कहलाता] है ।

[पहिले मुख तथा प्रतिमुख संधिमें कही हुई] उत्पत्ति तथा उद्घाटन रूप दो अवस्था से युक्त बीजका जो फल-जननके उन्मुख होना, उससे युक्त [तीसरा गर्भसंधि होता है । और वह] प्राप्त्याशा रूप तृतीयावस्थासे सीमित [अर्थात् तृतीयावस्थाके साथ आरम्भ और उसकी समाप्तिके साथ समाप्त होनेवाला] होता है । बार-बार होनेवाले लाभ तथा अलाभके अनुसंधानोंसे युक्त प्रधान कथाका भाग गर्भसंधि [कहलाता] है।

जैसे वेणीसंहारमें तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम अङ्कोंमें [गर्भसंधि निम्न प्रकार पाया जाता है] । फलके साधक पाण्डवोंके चरित्रमें नेपथ्यमें भीमसेनके द्वारा—

"कृष्टा येन शिरोरुहेषु" [तृतीय अङ्कके ४७वें श्लोकमें इसका अर्थ पीछे पृष्ठ पर देखो] ।

इत्यादिसे [भीमसेनके द्वारा अपनी] प्रतिज्ञाके पूर्ण करनेके उपक्रमसे विजयकी अनुकूलताकी प्राप्तिके द्वारा बीजकी फलोन्मुखताका प्रदर्शन किया है । और [उसी तृतीय अङ्कके प्रवेशकमें]—

"भगदत्तके रुधिरसे भरा हुआ घड़ा" इत्यादिके द्वारा राक्षसीके मुखसे सूचित कराए गए प्रधान-योधा [भगदत्त] के वधसे, और [उसी प्रवेशकमें]

"यह धृष्टद्युम्न बाल पकड़कर द्रोणको मार रहा है" इसके द्वारा राक्षसके मुखसे सूचित कराए गए सेनापतिके वधसे, तथा [उसी अङ्कमें] अपनी सेनामें अशांति पैदा करनेवाले कर्ण

श्वत्थाम्नोः कलहेन च दुर्योधनस्य विजयालाभलक्षणं पाण्डववृत्ते फलानुगुणं बीजस्यौन्मुख्यम् । तथा—

"आः शक्तिरस्ति वृकोदरस्य मयि जीवति वत्सस्य छायामप्याक्रमितुम् ।"

इति योद्धुं निष्क्रान्तेन दुर्योधनेन विजयान्वेषणरूपं औन्मुख्यम् । तथा—

"राज्ञो मानधनस्य कार्मुकभृतो दुर्योधनस्याग्रतः,
प्रत्यक्षं कुरुबान्धवस्य मिषतः कर्णस्य शल्यस्य च ।
पीतं तस्य मयाद्य पाण्डववधूकेशाम्बराकर्षिणः,
कोष्णं जीवत एव तीक्ष्णकरजक्षुण्णादसृग् वक्षसः ॥"

इत्यादिना भीमसेनेन दुःशासनवधात् विजयलाभरूपमौन्मुख्यम् । एवमत्र पुनः-पुनर्लाभालाभगवेषणैर्बीजस्यौन्मुख्यम् दर्शितम् । अत एव फलप्राप्तिसम्भावनारूपो गर्भसन्धिरुच्यते ।

तथा अश्वत्थामाके कलहसे, दुर्योधनकी पराजय रूप और पाण्डवोंके पक्षमें फलके अनुकूल बीज का औन्मुख्य [दिखलाया गया है] । तथा [चतुर्थ अङ्कमें]—

'आः! मेरे जीते रहते भीम, वत्स दुःशासनकी छाया तक छूनेकी शक्ति नहीं रखता है'

[यह कहकर] युद्धके लिए निकलते हुए दुर्योधनके द्वारा विजयान्वेषण रूप फलोन्मुखता [दिखलाई गई हैं] तथा—

"अभिमानी और धनुर्धारी राजा दुर्योधनके सामने, कौरव बन्धुओंके आगे, तथा कर्ण एवं शल्यके देखते-देखते आज मैंने पाण्डवोंकी बधू [द्रौपदीके] के केश तथा वस्त्रोंका अपहरण करनेवाले उस दुःशासनकी अपने तीक्ष्ण नाखूनों द्वारा फाड़ी गई छातीका गरम-गरम लहू उसके जीते हुए भी पी लिया ।"

इत्यादि [वाक्य] से भीमसेनके द्वारा दुःशासनके वधसे [पाण्डवोंके] विजयलाभ रूप फलकी उन्मुखता [दिखलाई गई है] । इस प्रकार यहाँ [वेणीसंहारमें] बार-बार [विजयके] लाभ और अलाभके अनुसंधान द्वारा बीजकी [फलके प्रति] उन्मुखता दिखलाई गई है । अत एव [यह] फलकी प्राप्तिकी सम्भावना रूप गर्भसंधि कहलाता है ।

वेणीसंहार वीररस-प्रधान नाटक है । उसमें पाण्डवोंका विजयलाभ मुख्य फल है । प्रथम अङ्कमें उसमें 'लाक्षागृहनलविषान्न' इत्यादि भीमसेनकी उक्तिसे जिस कौरववंशके नाश के बीजका आरोपण किया गया था उसका द्वितीय अङ्कमें अधिक उद्भेद होकर तृतीय चतुर्थ अङ्कोंमें उसके प्राप्तिकी आशा हो जाती है । इन अङ्कोंमें अनेक स्थानोंपर कौरवोंके प्रधान-पुरुषोंके वधकी सूचना मिलती है । यह पाण्डवोंकी विजयके अनुकूल जाती है । कहीं-कहीं दुर्योधन आदि कभी अपनी विजयके लिए प्रयत्नशील दिखलाई देते हैं । वह स्थल मुख्य फलकी प्राप्तिमें बाधक प्रतीत होते हैं । सब मिलकर लाभकी आशा अधिक रहती है । इसलिए इस भागमें प्राप्त्याशा रूप तृतीयावस्था और गर्भसन्धि रूप तृतीय सन्धिको ही निबद्ध किया गया है । इसी दृष्टिसे ग्रन्थकारने गर्भसन्धिके उदाहरणरूपमें उस भागको प्रस्तुत किया है ।

यह वीररस प्रधान नाटकमें गर्भसन्धिका प्रदर्शन कराया । इसी प्रकार शृङ्गार-प्रधान नाटकोंमें भी दिखलाया जा सकता है । इसी बातको आगे कहते हैं—

एवं शृङ्गारादिप्रधानेष्वपि रूपकेषु लाभालाभगवेषणानि दर्शनीयानि ।
इह गर्भसन्धौ अप्राप्त्यंशः प्रधानं फलसम्भावनात्मकत्वात् । अन्यथा फल-निश्चयात्मक एव स्यात् । अवमर्शसन्धौ तु प्राप्त्यंशः प्रधानं फलनिश्चयरूपत्वादिति विशेषः । इति ।

अथावमर्शमाह—

[सूत्र ४७]—उद्भिन्नसाध्यविघ्नात्मा विमर्शो व्यसनादिभिः ॥३६॥

बीजस्य उत्पत्ति-उद्घाट-फलोन्मुख्यैरुद्भिन्नं भवनाभिमुखं यत् साध्यं प्रधानफलं तद्विघ्नात्मा तत्प्रत्यूहसम्पातात्मा नियताप्तिचतुर्थ्यवस्थापरिच्छिन्नः प्रधानवृत्तांशः, विमृशति बलवदन्तरायहेतुसम्पातप्रत्यासन्नमपि साध्यं प्रति सन्देग्धि नेताऽस्मिन्निति 'विमर्शः' । नियतफलाप्त्यवस्थया व्याप्तत्वेऽप्यस्य सन्धेः सम्भावनानन्तरं सन्देहस्याप्राप्तावपि च फलं प्रति जनक-विघातकयोस्तुल्यबलत्वात् सन्देहात्मकत्वम् । 'विघ्नैरपि हन्यमानाश्च महात्मानो विशेषतो यतन्ते' इति तत्त्वतो नियत-

---

इसी प्रकार शृङ्गार-प्रधान रूपकोंमें भी [फलका] लाभालाभके अनुसन्धान दिखलाने चाहिएं ।

इस गर्भसंधिमें, उसके फलसम्भावना रूप होनेसे अप्राप्तिका अंश प्रधान रहता है । अन्यथा [गर्भसंधि न रहकर] फल-निश्चयात्मक [विमर्श-संधि] ही बन जाय । विमर्श-संधिमें प्राप्तिका अंश प्रधान रहता है । क्योंकि वह फल-निश्चय रूप होता है । यह [गर्भसंधि तथा विमर्श-संधिका] भेद है ।

४ विमर्श-सन्धि—

अब विमर्श [सन्धि] को कहते हैं—

[सूत्र ४७]—[बीजकी उत्पत्ति, उद्घाटन और फलोन्मुख्यके द्वारा] उद्भिन्न अर्थात् पूर्ण होनेके लिए प्रस्तुत जो साध्य, उसमें व्यसन आदिके द्वारा विघ्न-स्वरूप विमर्श [संधि] कहलाता है । ३६ ।

[मुख, प्रतिमुख तथा गर्भसंधियोंमें क्रमशः] बीजकी उत्पत्ति, उद्घाटन तथा फलोन्मुखताके द्वारा उद्भिन्न अर्थात् [सफल] होनेवाला जो साध्य, अर्थात् प्रधान फल, उसका विघ्न-स्वरूप अर्थात् उसमें विघ्नोपनिपात रूप नियताप्ति नामक चतुर्थी अवस्थासे परिच्छिन्न [अर्थात् चतुर्थी अवस्थाके उदयके साथ उदय और उसकी समाप्तिके साथ समाप्त होनेवाला मुख्य कथाका भागको जिसमें कि 'विमृशति' अर्थात् बलवान् विघ्नोंके आ जानेसे प्रत्यासन्न फलके प्रति भी नायक सन्देहमें पड़ जाता है । इसलिए [इसी व्युत्पत्तिलभ्य अर्थके कारण] 'विमर्श' [सन्धि कहा जाता] है । इस [विमर्श] सन्धिके नियताप्ति रूप [चतुर्थी] फलावस्थासे व्याप्त होनेपर भी और सम्भावना [अर्थात् उत्कट कोटिके निश्चय] के अनन्तर सन्देहका अवसर न होनेपर भी फलके प्रति जनक और उसके विघातक दोनोंके तुल्यबल होने के कारण [विमर्श-सन्धिकी] सन्देहात्मकता होती है । और [सन्देहात्मकता होते हुए भी] 'विघ्नोंसे बार-बार बाधित होनेपर भी महापुरुष और अधिक यत्न [फल प्राप्तिके लिए] करते हैं' इसलिए वास्तवमें वह नियताप्ति रूप ही होता है । 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' भले कार्योंमें अनेक विघ्न होते ही हैं । इसलिए विघ्नके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी समीपवर्ती

फलाप्तिरूपत्वम् । 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति' इति विघ्नहेतुसम्पातेऽपि, प्रत्यासन्नवर्तिनि फले न निवर्तनीयमिति च व्युत्पादयितुमवश्यमत्र सन्धौ विघ्न-हेतवो निबन्धनीयाः । 'व्यसनादिभिः' इति आदि-शब्दात् शापादिपरिग्रहः ।

तत्र व्यसनाद्विघ्नो यथा रामाभ्युदये पञ्चमेऽङ्के । रामः—

"प्रत्याख्यानरुषः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा,
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः ।
व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदः साक्षिणा,
रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये ! नोचितम् ॥"

अत्र रावणेन यन्मायारूपसीताव्यापादनं तद्रूपेण व्यसनेन सीताप्राप्तिविघ्नजो विमर्शः ।

यथा वा रघुविलासे षष्ठेऽङ्के । लक्ष्मणः—

"नाकीर्णा दशकन्धरी पलभुजां पत्युः शितैः पत्रिभिः,
दत्ता नापि विभीषणाय सुहृदे लङ्काधिपत्यस्थितिः ।
वैदेही विरहाग्निमग्नमनसो नार्यस्य सन्दर्शिता,
जातं जन्म वृथा हहा ! रणधुराधौरेयदोष्णो मम ॥"

[फल] की प्राप्तिसे निवृत्त नहीं होना चाहिए [कितने ही विघ्न आवें अपने प्रयत्नको नहीं छोड़ना चाहिए] इस बातकी शिक्षा [सामाजिकोंको] देनेकेलिए [विमर्श] सन्धिमें विघ्नोंके कारणोंको अवश्य प्रदर्शित करना चाहिए । [कारिकामें आए हुए] 'व्यसनादिभिः' में आदि शब्दसे शापादिका ग्रहण करना चाहिए । [अर्थात् प्रत्यासन्न फलकी सिद्धिमें जो विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं उसके व्यसन अर्थात् क्लेश या शापादि अनेक कारण हो सकते हैं । उनमें किसी भी कारणसे विघ्नोंकी उपस्थिति दिखलाई जा सकती है] ।

उनमेंसे संकट [व्यसन] के कारण विघ्न [की उपस्थितिका उदाहरण] जैसे रामा-भ्युदयमें पञ्चम अङ्कमें । राम [कहते हैं कि]—

'निर्दयी राक्षस [रावण] ने प्रत्याख्यान [अर्थात् उसकी प्रार्थनाको अस्वीकार] कर देनेसे उत्पन्न क्रोधके कारण तुम्हारे साथ उचित ही [व्यवहार] किया [अर्थात् रावणने तुम्हारे इन्कार कर देनेपर तुम्हारे साथ जो व्यवहार किया वह उसके क्रोधके अनुरूप ही था] । और तुमने भी उस [अत्याचार] को इस प्रकारसे सहन किया जिससे उच्च कुलकी स्त्रियाँ आज भी गर्वसे मस्तक ऊँचा करती हैं । किन्तु तुम्हारी विपत्तियोंको साक्षीरूपसे देखनेवाले [और उसका प्रतिकार न करनेके कारण] व्यर्थ ही धनुर्धारण करनेवाले अपने जीवनके लोभी रामने हे प्रिये ! अपने प्रेमके अनुरूप कार्य नहीं किया ।

यहाँ रावणके द्वारा बनावटी सीताको जो मार डाला गया था उस व्यसनसे सीताकी प्राप्तिमें विघ्न आ पड़नेसे यह व्यसन-जन्य विमर्श [संधि] है ।

अथवा जैसे रघुविलासके छठे अङ्कमें । लक्ष्मण [कह रहे हैं]—

"[मैं लक्ष्मण] राक्षसराज [पलभुजां पत्युः] के दश शिरोंके समुदायको तीक्ष्ण बाणोंके द्वारा काटकर गिरा नहीं पाया, न मित्रवर विभीषणको लङ्काके राजाका पद दिला पाया और न विरहाग्निसे संतप्त मनवाले आर्य रामचन्द्रको वैदेहीका दर्शन ही करा

अत्र लक्ष्मणस्य शक्तिभेदव्यसनेन फलप्राप्तिविघ्नजन्मा विमर्शः।

शापाद्यथा अभिज्ञानशाकुन्तले पञ्चमेऽङ्के दुर्वासःशापविमोहितत्वेन त्यक्तायां शकुन्तलायामन्तर्हितायां च, षष्ठेऽङ्के अंगुलीयकदर्शनेन समुपजातस्मृतौ राजनि दुर्वासःशापविघ्नजो विमर्शः।

दैवतो यथा विधिविलसिते पंचमेऽङ्के—

"कंचुकी—हा धिक् कष्टम्, नैवोल्लंघ्यः प्राक्तनः कर्मविपाकः।

वार्तापि नैव यदिहास्ति स राजचन्द्रः,
तेनोज्झिता विधिविमोहितचेतनेन।
देवा वने त्रिदशनाथविलासिनीभिः,
कर्तुं गता जगति सख्यमिति प्रवादः॥

अत्र सूदाचारावलम्बिनि नले दैवत्यक्तदमयन्ती-राज्यप्राप्तिविघ्नजो विमर्शः।

क्रोधाद्यथा वेणीसंहारे षष्ठेऽङ्के सिद्धकल्पेऽपि कार्ये क्रोधातिशयादपर्युषितां

पाया। इस लिए रणकी धुराको धारण करनेवाली मेरी भुजाओंका जन्म ही व्यर्थ हो गया।

यहाँ लक्ष्मणके शक्ति लग जानेके कारण उपस्थित व्यसनसे फलप्राप्तिमें विघ्न आ पड़नेसे उत्पन्न [व्यसन-जन्य] विमर्श [संधि] है।

इस प्रकार इन दोनों श्लोकों द्वारा ग्रंथकारने प्रत्यासन्न फलकी सिद्धिमें किसी आकस्मिक विघ्नके आ जानेसे व्यसन-जन्य संशय या विमर्शके उपस्थित हो जानेके उदाहरण दिए हैं।

शापसे उत्पन्न [विमर्श सन्धिका उदाहरण] जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल [नाटक] के पञ्चम अङ्कमें दुर्वासाके शापसे बेसुध होनेके कारण [दुष्यन्तके द्वारा] शकुन्तला का परित्याग कर देने और उसके अन्तर्हित हो जानेके बाद, षष्ठ अङ्कमें अँगूठीको देखकर राजाको उसका स्मरण आनेपर, दुर्वासाके शापरूप विघ्नसे उत्पन्न विघ्नजन्य विमर्श सन्धि है।

दैववश [विमर्शका उदाहरण] जैसे 'विधि-विलसित' [नाटकके] पंचमाङ्कमें—

कञ्चुकी—हा धिक्, बड़े दुःखकी बात है कि पूर्व जन्मके कर्मोंके फलसे बच नहीं सकते हैं।

जिस [के राजा बनने] की कोई बात [सम्भावना] भी नहीं थी वह अब [दैववशात् आज] राजराजेश्वर बन रहा है और [जो राज-राजेश्वर था] उसने भाग्यके कारण बुद्धि-भ्रष्ट हो जानेसे [जुएमें राजपाटको हारकर अन्तमें अपनी प्रियतमा दमयन्तीको] वनमें छोड़ दिया। फिर देवता लोग अप्सराओंके सहित वनमें उससे मित्रता प्राप्त करनेके लिए संसारमें [भूतलपर] पहुँचे, इस प्रकारका [नल-दमयन्तीका] कथानक लोकमें प्रसिद्ध है।

इसमें पाचकका काम करनेवाले नलके भीतर दैववश छोड़ी हुई दमयन्ती तथा राज्य-प्राप्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्नोंके कारण उत्पन्न विमर्श दिखलाया है।

क्रोधसे उत्पन्न [विमर्श का उदाहरण] जैसे वेणीसंहारके छठे अङ्कमें [कौरव-विजय रूप] कार्यके प्रायः सम्पूर्ण हो चुकनेपर भी भीमसेनके [आज यदि मैं दुर्योधनको नहीं मार लूँगा तो स्वयं प्राणत्याग कर दूँगा इस प्रकारकी] बासी न होनेवाली [अर्थात् दूसरे दिन

प्रतिज्ञामास्थितवति भीमसेने, दुर्योधने चान्तर्जलं निमग्ने यत्नान्वेषणैरप्यनुपलभ्य-
माने युधिष्ठिरो निर्वेदाद् विमृशन्नाह—

तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते,
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्ये च याते दिवम् ।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसात् स्वल्पावशेषे जये,
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥

अत्र भीमक्रोधात् कार्यविनिपाते सति जात इति क्रोधजप्रतिज्ञाविघ्नात्मा विमर्शः ।

एवमनेकहेतुजो विमर्शसन्धिः ॥३६॥

अथ निर्वहणसन्धिं निरूपयति—

[सूत्र ४८]—सबीजविकृतावस्थाः, नानाभावा मुखादयः ।
फलसंयोगिनो यस्मिन्, असौ निर्वहणो ध्रुवम् ॥४०॥

बीजस्य विकृतं विकार उत्पत्ति-उद्घाट-फलोन्मुख्यादिकः सह बीजविकृतैः

तक न टिकनेवाली, उसी दिन पूर्ण होनेवाली] प्रतिज्ञा कर लेनेपर, और दुर्योधनके जलके भीतर छिप जाने तथा प्रयत्न-पूर्वक खोज करनेसे भी न मिलनेपर अत्यन्त दुःखी होकर 'विमर्श' करते हुए युधिष्ठिर कहते हैं—

"भीष्म रूप महासागरको पार कर लेनेपर, जैसे-तैसे करके द्रोणाचार्य रूप अग्निको शान्त करनेके बाद, और कर्ण रूप भयंकर नागराजको नाश करने तथा शल्यके स्वर्ग सिधार जानेके बाद जबकि विजयका थोड़ा-सा ही काम शेष रह गया था ऐसे समय साहस ही जिसको प्रिय है इस प्रकारके भीमसेनने केवल [अपनी प्रतिज्ञा रूप] वाणीसे हम सबको संशयमें डाल दिया है । [अर्थात् यदि आज दुर्योधनका पता नहीं लग पाता है तो भीमसेन अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अपना प्राण त्याग कर देंगे । उस दशामें हम सबकी भी वही गति होगी] ।

यह [विमर्श] भीमके क्रोधके कारण कामके बिगड़ जानेपर उत्पन्न हुआ है, इसलिए क्रोध-जन्य प्रतिज्ञासे उत्पन्न विघ्न रूप विमर्श है ।

इस प्रकार अनेक प्रकारके हेतुओंसे 'विमर्श' उत्पन्न होता है । ॥३६॥

५ निर्वहण सन्धि—

अब आगे 'निर्वहण' सन्धिका निरूपण करते हैं—

[सूत्र ४८]—बीज और उसके [उद्घाटन फलोन्मुखता आदि] विकारों एवं [प्रारम्भ आदि रूप] अवस्थाओंके सहित [बिन्दु पताका आदि] नाना प्रकारके भाव [अर्थात् स्थायिभाव व्यभिचारिभाव आदि अथवा बिन्दु आदि उपाय] तथा मुख आदि [सन्धियाँ] जहाँ पहुँच कर [मुख्य] फलसे युक्त होते हैं वह 'निर्वहण' [नामक पंचम सन्धि कहलाता] है । और वह [रूपकोंके समस्त भेदप्रभेदोंमें ध्रुव अर्थात्] अपरिहार्य है ।४०।

बीजकी विकृति अर्थात् उत्पत्ति उद्घाटन, फलोन्मुखता आदि । बीज [उसकी] विकृति तथा आरम्भ आदि अवस्थाओंके सहित जो विद्यमान हों । [यह कारिकाके 'सबीज-

अवस्थाभिश्च प्रारम्भादिभिर्वर्तन्ते। नाना विचित्रा भावाः स्थायि-व्यभिचारि-सात्त्विकाः, अथवा भावयन्ति फलं साधयन्ति भावा, उपाया बिन्दु-पताका-प्रकरी-कार्याणि यत्र। सुखप्राप्तौ च फले रति-हास-उत्साह-विस्मय-स्थायिभावबाहुल्यं, धृति-गर्व-औत्सुक्य-मदादि-व्यभिचारिबाहुल्यं च मुखादीनाम्। दुःखहानौ तु फले क्रोध-शोक-भय-जुगुप्सा-स्थायिभावबाहुल्यं, आलस्यौग्र्यादि-व्यभिचारिबाहुल्यं च द्रष्टव्यम्। मुखादयो मुख-प्रतिमुख-गर्भ-विमर्शाः। फलेन मुखसाध्येन नायक-प्रतिनायक-नायिका-अमात्यादिव्यापाराः, सम्यगौचित्येन युज्यन्त सम्बध्यन्ते यस्मिन् प्रधानवृत्तांशे स फलागमावस्थया परिच्छिन्नो निर्वहणसन्धिः। ध्रुवमिति प्रारम्भस्य निर्वाहाविनाभावित्वात् सर्वरूपकेष्वस्यावश्यम्भावमाह। यथा रत्नावल्यामैन्द्र-जालिकप्रवेशात् प्रभृत्यासमाप्तेरिति।

केचित् तु मुखादयः सन्धयो, अवस्थाश्च यत्र पृथक्-पृथक् संक्षेपतः पुनरुल्लिङ्ग्यन्ते तं निर्वहणसन्धिमाहुः। यथा सत्यहरिश्चन्द्रे षष्ठेऽङ्के। देवः—

विकृतावस्थाः' पदका अर्थ हुआ। आगे कारिकाके 'नानाभावाः' पदका अर्थ करते हैं।] नाना प्रकारके अर्थात् विचित्र भाव अर्थात् स्थायि, व्यभिचारि तथा सात्त्विक [रूप भाव]। अथवा 'भावयन्ति' अर्थात् फलको सिद्ध करते हैं [इस व्युत्पत्तिके अनुसार फलोत्पत्तिके जो साधन होते हैं] वे 'भाव' [कहलाते] हैं। [और वे] बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य रूप उपाय ['भाव' कहलाते हैं। वे] जिसमें विद्यमान हों [वह निर्वहण-सन्धि होता है। यह कारिकामें आये हुए 'नानाभावाः' पदका अभिप्राय है] सुख-प्राप्ति रूप [फल वाले नाटक] में रति, हास, उत्साह, विस्मय आदि स्थायिभावोंका बाहुल्य रहता है। धृति, गर्व, औत्सुक्य, मद आदि व्यभिचारिभावोंका बाहुल्य मुखादि [सन्धियों] में रहता है। और दुःख-हानि रूप फल [वाले रूपकों]में क्रोध, शोक, भय, जुगुप्सा रूप स्थायिभावोंका बाहुल्य, तथा आलस्य, उग्रता, आदि व्यभिचारिभावोंका बाहुल्य [होता है ऐसा] समझना चाहिए। [कारिकामें आए हुए मुखादि पदका अर्थ करते हैं। मुखादि अर्थात् मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा विमर्श [रूप चार सन्धियाँ]। फलके साथ अर्थात् मुखसन्धिके साध्यके साथ, नायक, प्रतिनायक, नायिका, अमात्य आदिके व्यापार 'सम्यक्' अर्थात् उचित प्रकारसे जिसमें युक्त होते हैं, अर्थात् मुख्य कथांशके साथ सम्बद्ध होते हैं, फलागम रूप अवस्थासे युक्त वह निर्वहण-सन्धि कहलाता है। [कारिकामें आए हुए] 'ध्रुवं' इस पदसे प्रारम्भ किए हुए कार्यकी समाप्ति अवश्य होनी चाहिए, इसलिए समस्त रूपकोंमें इसकी [निर्वहण-सन्धिकी] सत्ता अवश्य होनी चाहिए यह सूचित किया।] निर्वहण-सन्धिका उदाहरण] जैसे रत्नावलीमें ऐन्द्रजालिकके प्रवेशसे लेकर समाप्तिपर्यन्त [का भाग निर्वहण-सन्धिका उदाहरण है]।

निर्वहण सन्धिका द्वितीय लक्षण—

कुछ लोग तो [निर्वहण-सन्धिका लक्षण इस प्रकार करते हैं कि] मुख आदि सन्धियाँ और अवस्थाएँ जिसमें संक्षेपसे अलग-अलग दुबारा कही जाती हैं उसको निर्वहण-सन्धि कहते हैं। जैसे सत्यहरिश्चन्द्र [नाटक] के छठे अङ्कमें ['आखेटो मुनिकन्यका' इत्यादि अगले श्लोकमें मुख-सन्धि आदिका दुबारा उल्लेख इस प्रकार किया गया है]—

सत्यहरिश्चन्द्र नाटककी रचना ६ अङ्कोंमें समाप्त हुई है। नाटकके प्रारम्भमें ही

आखेटो मुनिकन्यका कुलपतिः कीरः शृङ्गालोऽध्वगाः,
विप्रो म्लेच्छपतिर्मनुष्यमरणं लम्बस्तनी मान्त्रिकः।
उद्बद्धः पुरुषो वियच्चरवधूर्गोमायुनादः फणी,
सर्वं सत्त्वपरीक्षणोत्सुकरसैरस्माभिरेतत् कृतम् ॥

आखेट इत्यादिना मुखसन्धिनिबद्धाः, कीर इत्यादिना प्रतिमुखसन्धिभाविनः, अध्वगेत्यादिना गर्भसन्धिग्रथिताः, मनुष्येत्यादिना च विमर्शसन्धिसूत्रिताः, यथासंख्यं प्रारम्भाद्यवस्थानुगताः फलवन्तोऽर्था निर्वहणसन्धावेकवाक्यताऽऽपादनार्थं संक्षेपतः पुनरुपात्ता इति ॥४०॥

कुन्तल और कपिंजलके साथ राजा हरिश्चन्द्र घोड़ेपर चढ़े हुए वराहका आखेट करते हुए प्रविष्ट होते हैं, इसी मृगया-प्रसंगमें एक तपोवनके समीपमें राजाके बाणसे एक गर्भिणी हरिणी की हत्या हो जाती है। यह हरिणी आश्रमके कुलपतिकी कन्याकी पालतू हरिणी थी। राजा को उस हरिणीके वधसे बड़ा दुःख होता है। वे अपने साथियोंके साथ आश्रममें प्रवेश करते हैं। वहाँ कुलपति उनका स्वागत करते हैं। किन्तु इसी बीचमें कुलपतिको मालूम होता है कि उनकी कन्या अपनी प्रिय हरिणीके मारे जानेके कारण अनशन करके मरनेके लिए तैयार हो रही है। और उसके साथ उसकी माता भी अनशन करने जा रही है। कन्याका नाम वंचना और उसकी माताका नाम निकृति है। कन्या और पत्नीके अनशन तथा हरिणी के वधका समाचार जानकर कुलपति अत्यन्त क्रुद्ध हो उठते हैं, और राजाको बहुत खरी-खोटी सुनाते हैं। अन्तमें वे कहते हैं कि यह राजा अपना सर्वस्व दान करनेपर ही इस पापसे मुक्त हो सकता है। और राजा उसी समय अपना सर्वस्व दान कर देते हैं। यह मुख-सन्धि का कथाभाग है। आगे की राजा हरिश्चन्द्रके अपने बेचने आदिकी कथा अगले अङ्कोंमें चलती है, उस सारे कथाभाग का स्पर्श करनेवाले शब्दों द्वारा कथांशका निर्देश अगले श्लोकमें 'आखेटो मुनिकन्यका कुलपतिः' शब्दोंसे किया गया है।

इसी प्रकार श्लोकमें आए हुए कीरः शृगालो, अध्वगा आदि प्रत्येक शब्द नाटकके अगले अङ्कोंमें वर्णित कथानक तथा विशिष्ट पात्रोंसे सम्बन्ध रखता है। इन शब्दोंके द्वारा सारे नाटकके कथाभागकी संक्षेपमें बड़ी सुन्दरताके साथ एक तरहसे पुनरावृत्ति कर दी गई है। इसलिए यह दूसरे लक्षण के अनुसार निर्वहण सन्धिका उदाहरण है। श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) वह शिकार, मुनिकी पुत्री, कुलपति, (२) वह तोता और शृगाल, (३) वह पथिका, ब्राह्मण और म्लेच्छराज, (४) वह मनुष्यका मरण, लम्बस्तनी, मांत्रिक, उद्धत पुरुष, पक्षियोंका शब्द, शृगालोंकी आवाज, और सर्प यह सब आपकी [हरिश्चन्द्रकी] शक्तिकी परीक्षाके लिए हमने ही किया था।

[इसमें] आखेट इत्यादिसे मुखसन्धिमें निबद्ध [अर्थ], कीर इत्यादिसे प्रतिमुख सन्धिमें निबद्ध [अर्थ], अध्वगा इत्यादिसे गर्भ सन्धिमें ग्रथित [अर्थ] और मनुष्य इत्यादिसे विमर्श सन्धिमें वर्णित [अर्थ] क्रमशः प्रारम्भ आदि अवस्थाओंसे युक्त फलवान् अर्थ एकवाक्यता सम्पादनके लिए 'निर्वहण सन्धिमें संक्षेपसे फिर कहे गए हैं। [इसलिए निर्वहण सन्धिके दूसरे लक्षणके अनुसार यह उसका उदाहरण है] ॥४०॥

अथ 'दिव्याङ्गम्' इत्यत्र अङ्ग-शब्दोपात्तानि उपक्षेपादीनि अङ्गानि विपञ्चयितुं प्रथमं (१) मुखसन्धिगतान्युद्दिशति—

[सूत्र ४६]—उपक्षेपः परिकरः परिन्यासः समाहितिः ।
उद्भेदः करणं चैतान्यत्रैवाथ विलोभनम् ॥४१॥
भेदनं प्रापणं युक्ति-विधानं परिभावना ।
सर्वसन्धिष्वमूनि स्युः, द्वादशाङ्गं मुखं ध्रुवम् ॥४२॥

'अत्रैव' इति उपक्षेपादीनि करणान्तानि मुखसन्धावेव भवन्ति । तत्रापि उपक्षेप-परिकर-परिन्यासानां यथोद्देशक्रममादावेव, समाधानस्य तु रचनावशान्मध्यैकदेश एव, उद्भेद-करणयोस्तु उपान्त्ये निबन्धः ।

मुखसन्धिके द्वादश अङ्ग—

पाँचवीं कारिकामें ग्रन्थकारने नाटकका लक्षण करते समय उसमें पञ्च-सन्धियोंकी चर्चा की थी । उन पञ्च-सन्धियोंका विवेचन यहाँ तक समाप्त हो गया । अब आगे उन सन्धियों के अङ्गोंका वर्णन आरम्भ करते हैं । इन अङ्गोंकी संख्या प्रत्येक सन्धिमें अलग-अलग निर्धारित की गई है । मुखसन्धिमें १२ अङ्ग होते हैं । प्रतिमुखसन्धि, गर्भसन्धि तथा विमर्श सन्धि इन तीनों सन्धियोंमें तेरह-तेरह तथा निर्वहण सन्धिमें १४ अङ्ग माने गए हैं । इस प्रकार पाँचों सन्धियोंमें कुल मिलाकर अङ्गोंकी संख्या पैंसठ हो जाती है । आगे ग्रन्थकार क्रमशः पाँचों सन्धियोंके इन पैंसठ अङ्गोंका वर्णन करेंगे । उनमें सबसे पहिले मुखसन्धिके बारह भेदोंका उद्देश अर्थात् नाममात्रेण कथन करते हैं ।

अब [पाँचवीं कारिकामें नाटकके लक्षणमें आए हुए] 'दिव्याङ्गम्' इसमें अङ्ग शब्दसे गृहीत होने वाले 'उपक्षेप' आदि [पाँचों सन्धियोंको मिलाकर ६५] अङ्गोंका विवेचन करनेके लिए पहिले मुखसन्धिके [बारह] अङ्गोंका उद्देश [अर्थात् नाममात्रसे कथन] करते हैं—

[सूत्र ४६]—(१) उपक्षेप, (२) परिकर, (३) परिन्यास, (४) समाधान, (५) उद्भेद, (६) करण, ये [छः अङ्ग] इसमें ही [अर्थात् मुखसन्धिमें ही] होते हैं [अन्य सन्धियोंमें नहीं होते हैं] ।

[सूत्र ४६]—और (७) विलोभन, (८) भेदन, (९) प्रापण, (१०) युक्ति, (११) विधान तथा (१२) परिभावना ये [सात अङ्ग] सब सन्धियोंमें हो सकते हैं । [इस प्रकार] बारह अङ्गोंवाला मुखसन्धि [रूपकके समस्त भेदोंमें 'ध्रुव' अर्थात्] अवश्य होता है ।

'अत्रैव' इसका अभिप्राय यह है कि उपक्षेपसे लेकर करण पर्यन्त [छः अङ्ग] मुखसन्धिमें ही होते हैं [अन्य सन्धियोंमें नहीं होते हैं] । उनमें भी उपक्षेप, परिकर तथा परिन्यास [इन तीनों अङ्गों] का इस [उद्देशके] क्रमसे [सन्धिके] प्रारम्भमें ही सन्निवेश किया जाता है । समाधानका रचनाके अनुसार मध्यके [किसी] एक भागमें ही तथा उद्भेद एवं करणका [मुखसन्धिके] प्रायः अन्तमें [उपान्त्ये] ही सन्निवेश किया जाता है ।

कारिकामें आए हुए 'अत्रैव' पदसे यह कहा था कि उपक्षेपसे लेकर करण पर्यन्त छः अङ्ग मुखसन्धिमें ही होते हैं, अन्य सन्धियोंमें नहीं होते हैं । इनमेंसे करण नामक अङ्ग अन्य सन्धियोंमें तो होता ही नहीं है किन्तु मुखसन्धिमें भी उसका होना आवश्यक

उपक्षेपादीनि करणरहितानि युक्तिसहितानि षट् अत्रावश्यं भवन्ति। विलोभनादीनि तु सर्वसन्धिष्वपि भवन्ति। संविधानकवशात् तदर्थस्यान्यत्रापि सम्भवात्। बाहुल्यनिबन्धनापेक्षया त्वत्रोपादानम्। एवमन्यसन्धिष्वपि ज्ञेयम्।

भेदस्तु सर्वसन्धिष्वङ्कान्ते, प्रवेशक-विष्कम्भकान्ते च अवश्यं निबन्धनीयः। पात्रभेदरूपत्वात् तस्य। उपक्षेप-परिकर-परिन्यासेभ्योऽपराण्यङ्गानि वृत्तानुगुण्या- उद्देशक्रमातिक्रमेणापि निबध्यन्ते। आमुखस्य च नटवृत्तत्वेन इतिवृत्तानङ्गत्वात् तदनन्तरमङ्गानां निबन्धः। द्वादशाङ्गमिति सन्धिः। संविधानखण्डान्यङ्गानि सन्धिरूपस्य अङ्गिनोऽवयवत्वेन निष्पादकत्वात्।

नहीं है। उस करणको हटाकर उसके स्थानपर युक्तिको जोड़ देनेपर जो उपक्षेप आदि छः अङ्ग बनते हैं उनका मुखसन्धिमें होना अनिवार्य है इस बातको अगले अनुच्छेदमें कहते हैं—

करणको छोड़कर और युक्तिको मिलाकर उपक्षेपादि छः [अर्थात् (१) उपक्षेप, (२) परिकर, (३) परिन्यास, (४) समाधान, (५) उद्भेद तथा (६) युक्ति ये छः अङ्ग] यहाँ [अर्थात् मुखसन्धिमें] अवश्य होते हैं। विलोभनादि [शेष छः अङ्ग] तो सब ही सन्धियोंमें होते हैं। क्योंकि रचनाके अनुसार उनका कार्य 'अन्यत्र' [अर्थात् अन्य सन्धियोंमें] भी हो सकता है। [सब सन्धियोंमें सम्भव होनेपर भी] यहाँ [अर्थात् मुखसन्धिमें] उन [विलो-भनादि शेष छः अङ्गों] का ग्रहण बाहुल्यके कारणसे [अर्थात् मुखसन्धिमें विलोभनादि अङ्गों का अधिकतर प्रयोग होनेके कारण] किया गया है। इसी प्रकार अन्य सन्धियों [के अङ्गोंके विषय] में भी समझना चाहिए।

अर्थात् प्रतिमुखादि अन्य सन्धियोंमें कहे हुए अङ्गोंका प्रयोग भी उस-उस सन्धिसे भिन्न अन्य सन्धियोंमें भी हो सकता है। किन्तु अधिकतर प्रयोग उस-उस सन्धिमें ही होता है, इसलिए उनका ग्रहण उस-उस सन्धिमें विशेष रूपसे किया गया है।

भेद [नामक आठवें अङ्ग] को सब सन्धियोंमें, अङ्कके अन्तमें, प्रवेशक तथा विष्कम्भकों के अन्तमें अवश्य प्रयुक्त करना चाहिए। क्योंकि वह पात्र-परिवर्तन रूप होता है। उपक्षेप, परिकर तथा परिन्यास [इन तीन अङ्गों] को छोड़कर अन्य अङ्ग तो कथावस्तुकी अनुकूलताके अनुसार उद्देश-क्रमका परित्याग करके भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं। आमुखके नटवृत्तान्त-रूप होनेसे कथावस्तुका भाग न होनेके कारण [उसके बीचमें अङ्गोंका प्रयोग न करके] उसके बाद अङ्गोंका प्रयोग किया जाता है। 'द्वादशाङ्ग' इससे बारह अङ्गवाला सन्धि गृहीत होता है। सन्धिरूप अवयवीके अवयव रूपसे निर्माण करनेवाले होनेके कारण [उपक्षेपादि अङ्ग] रचना [संविधानक] के अङ्ग कहलाते हैं।

ऊपर जो हमने यह दिखलाया था कि मुखसन्धिके बारह अङ्ग, प्रतिमुख, गर्भ तथा विमर्शसन्धियोंमेंसे प्रत्येकमें तेरह-तेरह अङ्ग तथा निर्वहणसन्धिमें चौदह अङ्ग माने गए हैं। यह अङ्गसँख्या केवल उन-उन सन्धियोंमें बतलाए गए अङ्गोंकी दृष्टिसे कही गई है। किन्तु उन सन्धियोंमें, कहे हुए अपने अङ्गोंके अतिरिक्त अन्य सन्धियोंके अङ्गोंका प्रयोग भी हो सकता है। उनको मिला देनेपर यह संख्या वाला नियम नहीं रहता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अङ्गसंख्यानियमश्च सन्धिषूपात्ताङ्गापेक्षया। सन्ध्यन्तराङ्गानुप्रवेशे तु न संख्यानियमः। संख्यासंक्षेपश्चाङ्गानां परस्परान्तर्भावेन प्रतिसन्धिसुकरोऽपि प्राचीनैरकृतत्वात्, भणितिभंगिबाहुल्यस्य च चमत्कारकारित्वादस्माभिर्न कृतः। 'ध्रुवम्' इति मुखसन्धिः सर्वरूपकेष्ववश्यं भवति। निर्वहणमप्येवम्। आरम्भ-निर्वाहयोरवश्यम्भावित्वात्। प्रतिमुखादयस्तु व्यायोगादिषु यथालक्षणं भवन्ति, न भवन्ति च।

अङ्गानि च वृत्तविस्तरकारित्वादवश्यं निबन्धनीयानि। अपरथा 'रामस्य पत्नी रावणेन वनान्तादपहृता। रामेण च जटायुषः समुपलभ्य, सुग्रीवं सहायं वानराधिराज्यप्रतिपादनादधिगम्य, समुद्रसेतुबन्धमाधाय, निहत्य च रावणं प्रत्यानीता इत्यत्र प्रारम्भाद्यवस्थानिबन्धनीयैः पञ्चभिरपि सन्धिभिर्बीजाद्युपाययुक्तै-निबद्धे रूपके वृत्तसंक्षेपः स्यात्। तथा च न चमत्कारः। किं चारञ्जकमपि वृत्तं अङ्गवैचित्र्येण निबध्यमानं परां रक्तिमावहति। कार्यवशाच्च पुनरुच्यमानमपि वृत्तं अङ्गभङ्ग्या निबद्धमपुनरुक्तमिवाभाति। अयःशलाकाकल्पता च अङ्गसम्बद्धस्य वृत्तस्य न भवति। प्रत्येकशश्चाङ्गानां प्रयोजनं यथावसरं लक्षणे दर्शयिष्यामः ॥४१-४२॥

अङ्गोंकी संख्याका नियम [उन-उन] सन्धियोंमें गृहीत अङ्गोंकी दृष्टिसे ही होता है। अन्य सन्धियोंके अङ्गोंका अनुप्रवेश हो जानेपर तो यह संख्या-नियम नहीं रहता है। और प्रत्येक सन्धिमें [कुछ अङ्गोंका] एक-दूसरेमें अन्तर्भाव करके अङ्गोंकी संख्याका संक्षेप सम्भव होनेपर भी प्राचीन आचार्योंके द्वारा न किए जानेके कारण तथा कथन-शैलियोंके बाहुल्यके चमत्कारजनक होनेके कारण हमने नहीं किया है। 'ध्रुवम्' इस [पद]से [यह सूचित किया है कि] मुखसन्धि समस्त रूपकोंमें अवश्य होता है। इसी प्रकार निर्वहणसन्धि भी [रूपकके समस्त भेदोंमें अवश्य होता] है। [प्रत्येक रूपक अथवा प्रत्येक कार्यमें] आरम्भ और समाप्तिके अवश्यम्भावी होनेसे [प्रत्येक रूपकमें मुखसन्धि तथा निर्वहणसन्धिका होना अपरिहार्य है। अन्य सन्धियोंका सब रूपक भेदोंमें होना अपरिहार्य नहीं है] प्रतिमुख आदि [अन्य सन्धियाँ] तो लक्षणोंके अनुसार व्यायोग आदि [रूपक] भेदोंमें होती भी हैं और नहीं भी होती हैं।

[प्रत्येक सन्धिमें वर्णित] अङ्गोंके, कथावस्तुके विस्तारकारी होनेसे अङ्गोंकी रचना [रूपकोंमें] अवश्य करनी चाहिए। अन्यथा [रूपककी कथावस्तु बहुत संक्षेपमें समाप्त हो जानेके कारण चमत्कार-शून्य हो जावेगी। जैसे] (१) रामकी पत्नीको रावणने हरण कर लिया। (२) रामचन्द्रने जटायुसे [इस समाचारको] जानकर, (३) वानरोंके अधिराजपदको प्रदान करनेके द्वारा सुग्रीवको अपना सहायक बनाकर, (४) समुद्रपर सेतुबन्ध बनाकर और रावणको मारकर, (५) उसको लौटा लिया इस [रामायणकी कथा] में प्रारम्भादि अवस्थाओं के द्वारा विरचित तथा बीजादि उपायोंसे युक्त पाँचों सन्धियों [के प्रयोग] से [युक्त] रूपककी रचना करनेपर [भी] कथावस्तुका [अत्यन्त] संक्षेप हो जाता है। इसीलिए उसमें कोई चमत्कार नहीं रहता है। [इसके विपरीत] अरञ्जक [नीरस] कथावस्तु भी विभिन्न अङ्गों द्वारा [विस्तार-पूर्वक] वर्णित होनेपर अत्यन्त मनोरञ्जक बन जाती है। और कार्यवश [कहीं-कहीं] कथाभाग पुनरुक्त होनेपर भी अङ्गोंकी शैलीसे निबद्ध होनेपर पुनरुक्त-सी प्रतीत नहीं

अथ सकलकाव्यार्थः, प्रधानरसलक्षणं प्रयोजनं च, संक्षेपेणोपक्षिप्यत इति प्रथमं (१) 'उपक्षेपं' लक्षयति—

[सूत्र ५०]—बीजस्योप्तिरुपक्षेपः—

विस्तारिणः काव्यार्थस्य मूलभूतो भागो बीजमिव 'बीजम्'। तस्य उप्तिरावापमात्रं 'उपक्षेपः'। यथा रत्नावल्यां नेपथ्ये—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥

इत्यादिना यौगन्धरायणेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुः स्वव्यापारानुकूलदैवो बीजमुप्तम्॥

होता है। और अङ्गोंसे सम्बद्ध [अर्थात् अङ्गोंकी शैलीसे निबद्ध] कथावस्तु लोहेकी शलाकाके समान [एकदम सीधा अपरिवर्तनीय] नहीं रहता है [उसमें लचकीलापन आ जाता है जिससे कवि सौन्दर्याधानके लिए उसे आवश्यकतानुसार मोड़माड़ सकता है।] प्रत्येक अङ्गका अलग-अलग प्रयोजन उनके लक्षणमें यथावसर दिखलावेंगे।

इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने पञ्च-सन्धियोंमें कहे जानेवाले अङ्गोंकी उपयोगिताके विषय में सामान्यरूपसे प्रकाश डाला है। उसके अनुसार अङ्गोंका प्रयोजन कथावस्तुमें चमत्कार को उत्पन्न करना है। अङ्गोंके प्रयोगके बिना अत्यन्त सरस कथावस्तु भी नीरस बन जाती है। और अङ्गोंके यथोचित प्रयोगके द्वारा नीरस कथावस्तुमें भी चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है। इसलिए ग्रन्थकारने रूपकोंमें अङ्गोंके प्रयोगको अपरिहार्य माना है। उन्हींके द्वारा कथाका विस्तार और लचकीलापन आता है। और पुनरुक्ति आदि दोषोंका परिहार होता है। अत एव अङ्गोंका प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है ॥४१-४२॥

इन दो कारिकाओंमें मुखसन्धिके अङ्गोंका उद्देश अर्थात् नाममात्रसे कथन करनेके बाद अब ग्रन्थकार मुखसन्धिके बारहों अङ्गोंका अलग-अलग-अलग लक्षणादि आगे करेंगे। इनमें सबसे पहिले उपक्षेप रूप प्रथम अङ्गका लक्षण करते हैं—

(१) उपक्षेप—

[उपक्षेप रूप प्रथम अङ्गके द्वारा] समस्त काव्यका अर्थ और प्रधान रस रूप प्रयोजन संक्षेपमें [बीज रूपसे] उपक्षिप्त किया जाता है, इसलिए ['उपक्षिप्यतेऽनेन इति उपक्षेपः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार] सबसे पहिले 'उपक्षेप' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र ५०]—[कथावस्तुके] बीजका वपन करना 'उपक्षेप' [कहलाता] है।

[आगे चलकर] विस्तृत होनेवाले कथावस्तुका मूलभूत भाग [धान्यके] बीजके समान [होनेसे] 'बीज' [कहलाता] है। उसको डालना अर्थात् बोना [जिस अङ्गके द्वारा किया जाता है वह] 'उपक्षेप' [कहलाता] है।

जैसे रत्नावलीमें नेपथ्यमें [बीजका 'उपक्षेप' इस प्रकार किया गया है]—

दूसरे द्वीपसे भी, समुद्रके बीचसे भी और दिशाके छोरसे भी अनुकूल हुआ दैव अभिमत वस्तुको लाकर मिला देता है।

इत्यादि [कथन] के द्वारा [वत्सराज उदयनके मंत्री] यौगन्धरायणने वत्सराज [उदयन] को रत्नावली [नायिका] की प्राप्ति करानेवाले अपने व्यापारके अनुकूल दैव रूप

(२) अथ परिकरः—

[सूत्र ५१]—स्वल्पव्यासः परिक्रिया ।

उपक्षिप्तस्यार्थस्य सुष्ठु विशेषवचनैरल्पं विस्तारणं 'परिकरः'। यथा वेणीसंहारे भीमसेनः सहदेवमाह—

प्रवृद्धं यद्वैरं मम खलु शिशोरेव कुरुभिः,
न तत्रार्यो हेतुर्भवति न किरीटी न च युवाम् ।
जरासन्धस्योरःस्थलमिव विरूढं पुनरपि,
क्रुधा भीमः सन्धिं विघटयति यूयं घटयत ॥ इति ।

(३) अथ परिन्यासः—

[सूत्र ५२]—विनिश्चयः परिन्यासः—

उपक्षिप्य, विस्तारितस्यार्थस्य विशेषेण निश्चयः सिद्धतया हृदयेऽवस्थापनं परितो न्यसनं 'परिन्यासः'। यथा राघवाभ्युदये—

"मतिसागरः—देव मा शङ्किष्ठाः। प्रलयेऽपि हि किं विपरियन्ति मुनिभाषितानि ?

बीजका आधान किया है ।

(२) परिकर

'परिकर' [नामक मुखसन्धिके दूसरे अङ्गको कहते हैं]—

[सूत्र ५१]—[बीज रूपमें उपक्षिप्त अर्थका] स्वल्प विस्तार 'परिकर' [नामक, मुखसन्धिका कहलाता] है ।

[बीज रूपमें] उपक्षिप्त अर्थका [स्वल्पव्यासः अर्थात्] भली प्रकारसे विशेष वचनों द्वारा तनिक-सा विस्तार करना 'परिकर' [कहलाता] है । जैसे वेणीसंहारमें भीमसेन सहदेव से कहते हैं—

"मेरा कौरवोंके साथ बचपनसे ही जो वैर बन गया है उसमें न आर्य [अर्थात् युधिष्ठिर] कारण हैं, न अर्जुन और न तुम दोनों [अर्थात् नकुल और सहदेव ही कारण हैं] । क्रोधके कारण भीमसेन [अर्थात् मैं स्वयं] जरासंधके उरःस्थलके समान परिपक्व संधिको भी भङ्ग करने जा रहा है तुम लोग उसे [भले ही] जोड़ते रहो ।"

(३) परिन्यास—

[सूत्र ५२]—[उपक्षिप्त और तनिक विस्तारित अर्थका] विशेष रूपसे निश्चय परिन्यास [कहलाता] है ।

[बीज रूपमें] उपक्षिप्त करके फिर [परिकर अङ्ग द्वारा] विस्फारित अर्थका विशेष रूपसे निश्चय अर्थात् सिद्ध मानकर हृदयमें धारण करना [परितः] पूर्ण रूपसे [हृदयमें] स्थापित करना ['परितो न्यसनं परिन्यासः' इस विग्रहके अनुसार] 'परिन्यास' [कहलाता] है । जैसे 'राघवाभ्युदय'में—

मतिसागर—हे राजन् ! आप शङ्का न करें । क्या मुनियोंके वचन कभी प्रलयमें भी मिथ्या हो सकते हैं ?

जनकः—तत् किं भुजदण्डविक्रमाक्रान्तभारतखण्डत्रयस्य तस्यापि पराजयः सम्भाव्यते ?

मतिसागरः—[स्वगतम्] अहो दुरात्मनो राक्षसस्याज्ञैश्वर्यं, यदयं रहोऽपि देवस्तदभिधानमुच्चारयन् बिभेति। [प्रकाशम्] देव सम्भाव्यत इति किमुच्यते ? सिद्ध एव किं नाभिधीयते देवेन।" इति।

यथा वा वेणीसंहारे—

"चञ्चद्-भुजभ्रमित-चण्डगदाभिघात—
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानापविद्ध-घनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥" इति।

यथा वास्मदुपज्ञे रोहिणीमृगाङ्काभिधाने प्रकरणे प्रथमऽङ्के मृगाङ्कं प्रति—

"वसन्तः—कुमार मा शङ्किष्ठाः—

उन्मत्तप्रेमसंरम्भादारभन्ते यदङ्गनाः।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः॥"

अनुपक्षिप्तोऽर्थो न विस्तार्यते, अविस्तारितश्च न निश्चीयते इति त्रयाणामप्येषां उद्देशक्रमेणैव निबन्धः।

जनक—तो क्या अपने भुजदण्डके विक्रमके ही जिसने भारतके तीन खण्डोंको आक्रांत कर लिया है उस [रावण] की भी कभी पराजय हो सकती है ?

मतिसागर—[अपने मनमें 'स्वगत' कहते हैं] अहो दुष्ट राक्षसराजके शासनका कैसा प्रभाव है कि ये महाराज एकांतमें भी उसका नाम लेनेमें डरते हैं। [प्रकाशम्] हे राजन् [उसकी पराजय] सम्भव है ऐसा क्यों कहते हैं, सिद्ध ही है ऐसा आप क्यों नहीं कहते हैं। इसमें [विस्तारित अर्थका 'विशेषेण निश्चयः' अर्थात् सिद्धतया कथन होनेसे यह 'परिन्यास' नामक तीसरे अङ्गका उदाहरण है]।

अथवा जैसे वेणीसंहारमें—

हे देवि ! अपनी चञ्चल भुजाओंसे घुमाई हुई भयङ्कर गदाके प्रहारसे तोड़ी हुई दुर्योधन की दोनों जङ्घाओंके गाढ़े जमे हुए प्रचुर रक्तसे रँगे हुए हाथोंसे ही यह भीम तुम्हारे बालोंको बाँधेगा। इसमें [विस्तारित अर्थका सिद्धवत् कथन होनेसे यह 'परिन्यास' का उदाहरण है]।

अथवा जैसे हमारे बनाए हुए 'रोहिणीमृगाङ्क' नामक प्रकरणमें प्रथमाङ्कमें मृगाङ्कके प्रति वसन्त [कहता है]—

वसंत—कुमार ! आप [किसी प्रकारकी] शङ्का न करें।

उन्मत्त प्रेमके आवेगमें स्त्रियाँ जो [प्रणय-व्यापार] आरम्भ करती हैं उसमें बिघ्न डालनेका साहस ब्रह्मा भी नहीं कर सकता है।

[संक्षिप्त रूपमें बीजके समान] उपक्षिप्त किए बिना अर्थका विस्तार नहीं किया जा सकता है और विस्तार किए बिना निश्चय नहीं किया जा सकता है इस लिए [उपक्षेप परिकर तथा परिन्यास] इन तीनों [अङ्गों] का उद्देशक्रमसे [अर्थात् इसी क्रमसे] सन्निवेश करना चाहिए।

(४) अथ समाहितिः—

[सूत्र ५३]—पुनर्न्यासः समाहितिः ॥४३॥

संक्षिप्योपक्षिप्तस्य बीजस्य स्पष्टताप्रतिपादनार्थं पुनर्न्यासो भणितिवैचित्र्यं, सम्यग् आसमन्तात् धानं पोषणं 'समाहितिः'।

यथा वेणीसंहारे—

"[नेपथ्ये]—भो भो द्रुपद-विराट-वृष्ण्यन्धक-सहदेवप्रभृतयोऽस्मदक्षौहिणीपतयः कौरवचमूप्रधानाश्च योधाः श्रूयताम्—

यत् सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं,
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता।
तद् द्यूतारणिसम्भृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः,
क्रोधज्योतिरिदं महत् कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते॥" इति।

'स्वस्था भवन्ति' इति यद्बीजं, तदिदानीं प्रधाननायकतगतत्वेन सम्यक् पोषं नीतिमिति ॥४३॥

---

(४) समाधान—

अब [चतुर्थ अङ्ग] 'समाधान' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५३]—[संक्षेपमें उपक्षिप्त बीजका] दुबारा [अधिक स्पष्ट रूपसे] आधान 'समाधान' [कहलाता] है। ४३।

[उपक्षेप रूप प्रथम अङ्गमें] संक्षेपसे उपक्षिप्त बीजको और अधिक स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन करनेके लिए फिरसे कथन करना अर्थात् विचित्र भाषणशैलीसे [दुबारा] कथन करना, 'सम्यग्' भली प्रकारसे और 'आ समन्तात्' पूर्ण रूपसे स्थापित करना [इस विग्रहके अनुसार] 'समाधान' [समाहिति कहलाता] है।

जैसे वेणीसंहारमें—

"नेपथ्यमें—हे द्रुपद, विराट्, वृष्णी, अन्धक और सहदेव आदि हमारी अक्षौहिणी सेनाके सेनापतियो! और कौरवोंकी सेनाके प्रधानाधिकारियो! [आप सब लोग कान खोलकर] सुनलें कि—

[बारह वर्ष वनवास तथा एक वर्षके अज्ञातवासका जो व्रत हम पाण्डवोंने लिया है वह कहीं भङ्ग न हो जाय इस प्रकार] सत्यव्रतके भङ्गसे डरनेवाले [युधिष्ठिर] ने [अब तक अपनी] जिस [क्रोधाग्नि] को यत्न-पूर्वक दबाए रखा था और शान्त-स्वभाव वाले [युधिष्ठिर] ने कुलकी शान्तिकी कामनासे जिसको भूलनेका भी यत्न किया, द्यूतकी अरणियोंसे उत्पन्न और द्रौपदीके केश तथा वस्त्रोंके खींचे जानेसे नरपशु [दुःशासन] के द्वारा उद्दीप्त किया हुआ युधिष्ठिरकी वह भयानक क्रोधाग्नि आज कुरुकुल रूप वनमें [उसको भस्म कर देनेके लिए] प्रदीप्त हो रहा है।

इसमें ['स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' मेरे जीवित रहते कौरव कहीं] 'स्वस्थ हो सकते हैं' [अथवा कौरव स्वर्गको भावें] इस रूपमें जिस बीजका आधान किया गया था वह इस समय प्रधान नायक [युधिष्ठिर] गत रूपसे पूर्ण रूपसे परिपुष्ट हो गया है। [इस लिए यह 'परिन्यास'का उदाहरण है] ॥४३॥

(५) अथोद्भेदः—

[सूत्र ५४]—स्वल्पप्ररोह उद्भेदः—

आमुखानन्तरमुप्तस्य बीजस्य स्वल्पप्ररोहः, किञ्चित् फलानुष्ठानानुकूल्य-प्रदर्शनं धान्यस्योच्छूनतेव 'उद्भेदः'। बीजस्योद्घाटनमंकुरकल्पम्, उद्भेदः पुनरंकुरकल्पादुद्घाटनाद् भूमिन्यस्तधान्योच्छूनतेव प्राचीनावस्था इत्ययं मुखसन्धेरेवाङ्गम्। न पुनरुद्घाटरूपत्वात् प्रतिमुखसन्धेः। यथा वेणीसंहारे--

"नाध पुणो वि तए आगच्छिय अहं समासासइदव्वा।"

[नाथ पुनरपि त्वयागत्याहं समाश्वसयितव्या। इति संस्कृतम्]

इस प्रकार यहाँ तक मुखसन्धिके उपक्षेप, परिकर परिन्यास तथा समाधान रूप चार अङ्गोंका वर्णन हो चुका है। अब उद्भेद नामक पञ्चम अङ्गका वर्णन आरम्भ करते हैं। उद्भेद-शब्दसे मिलता-जुलता दूसरा उद्घाट-शब्द है। इस शब्दका प्रयोग प्रतिमुखसन्धिके लक्षणके प्रसङ्गमें पहिले किया जा चुका हैं। "प्रतिमुखं कियल्लक्ष्यबीजोद्घाटसमन्वितः" प्रतिमुखसंधिके इस लक्षणमें 'बीजोद्घाट' की चर्चा की गई थी। यहाँ मुखसंधिके पञ्चम भेद का नाम 'उद्भेद' है। इसमें भी बीजके 'स्वल्पप्ररोह' की चर्चा की गई है। इससे कभी यह प्रश्न हो सकता है कि इस 'उद्भेद' और 'उद्घाट' में क्या अन्तर है। इस लिए इस 'उद्भेद' रूप मुखसंधिके अङ्गकी व्यवस्थाके प्रसङ्गमें ही ग्रंथकारने प्रतिमुखसंधिके 'उद्घाट' से 'उद्भेद' का यह अन्तर दिखलाया है कि जैसे बीजको भूमिमें बोनेके बाद पहिले बीज फूलता है तब उसके बाद बीज फूटकर उसमेंसे अंकुर निकलता है। उसी प्रकार बीजको फूलनेवाली अवस्थाके समान यहाँ नाट्य बीजका जो स्वल्प विस्तार होता है वह 'उद्भेद' कहलाता हैं। और धान्य बीजकी अंकुरावस्थाके समान जो और अधिक विस्तार होता है वह 'उद्घाट' कहलाता है। इस प्रकार 'उद्भेद' अङ्ग, 'उद्घाट' की अपेक्षा पूर्ववर्ती अङ्ग है। इसी लिए वह मुखसन्धिका अङ्ग है। और 'उद्घाट' उसके बादकी अंकुर कल्प अवस्था हैं। इस लिए वह 'उद्भेद' के बादकी और प्रतिमुखसन्धिकी अवस्था है। 'उद्भेद' और 'उद्घाट' के इस भेदको ग्रन्थकार 'उद्भेद' की व्याख्यामें आगे दिखलाते हैं।

(५) उद्भेद—

अब उद्भेद [नामक मुखसन्धिके पञ्चम अङ्गका लक्षण कहते हैं]—

[सूत्र ५४]—[बीजका] थोड़ा-सा विस्तार उद्भेद [नामक अङ्ग कहलाता] है।

आमुखके बाद बोए गए [कथावस्तुके] बीजका तनिक-सा विस्तार अर्थात् थोड़ी-सी फलकी अनुकूलताका प्रदर्शन, धान्यकी उच्छूनता [फूलने] के समान [होनेसे] 'उद्भेद' [कहलाता] है। [प्रतिमुख सन्धिमें कहा जानेवाला] बीजका 'उद्घाट' [धान्यबीजके] अंकुरके समान हैं। और उद्भेद अंकुर कल्प उद्घाटसे पूर्ववर्ती धान्यके फूलनेके समान उससे पहिली अवस्था है। इस लिए यह [उद्भेद] मुखसंधिका ही अङ्ग है। न कि 'उद्घाट' रूप होनेसे प्रतिमुखसंधिका। [अर्थात् प्रतिमुखसंधिके 'उद्घाट'से मुखसंधिका 'उद्भेद' अङ्ग बिलकुल भिन्न तथा उससे पूर्ववर्ती अवस्था रूप है।]

जैसे वेणीसंहारमें—

"हे नाथ! आप फिर भी आकर मुझे आश्वासन देवें।

इति द्रौपद्याभिहितो भीमः प्रत्याह--

"अयि किमद्याप्यलीकाश्वासनाभिः ?

भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।

अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥"

इति कुरुनिधनारम्भरूपस्य बीजार्थस्यायमुद्भेदः । इति ।

अन्ये तु गूढभेदनमुद्भेदनमामनन्ति । यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य कुसुमायुध-व्यपदेश-निगूढस्य 'अस्तापास्त' इत्यादिना वैतालिकवचसा सागरिकां प्रत्युद्भेदः ।

यथा वा राघवाभ्युदये—

"सीता—[समन्तादवलोक्य रामं च सविशेषं निर्वर्ण्य स्वगतम्] कथमयमनङ्गोऽप्यङ्गमास्थाय चापारोपणं द्रष्टुमायातः । प्रसीद भगवन्ननङ्ग ! प्रसीद । तथा कुर्या यथा राम एव चापारोपणाय प्रभवति ।

लवङ्गिका—[अंगुल्या रामं दर्शयन्ती] जं भट्टिदारिया इत्तियं कालं मणोरहगोअरं कयवदी तं संपयं दिट्ठिगोयरं करेदु ।

[यं भर्तृदारिका इयन्तं कालं मनोरथगोचरं कृतवती, तं साम्प्रतं दृष्टिगोचरं करोतु । इति संस्कृतम्] ।

द्रौपदीके इस प्रकार कहनेपर भीमने उत्तर दिया कि—

"अरे अब भी और मिथ्या आश्वासन देनेसे क्या लाभ [मैं तो यही कहता हूँ कि]—तिरस्कार सहन करनेकी लज्जाके कारण मलिनमुख भीमको तुम अब कौरवोंका नाश किए बिना दुबारा नहीं देखोगी [अर्थात् अब मैं कौरवोंका समूल विनाश करनेके बाद ही दुबारा तुम्हारे पास आऊँगा । उससे पहले नहीं] ।"

इसमें कौरवोंके विनाशके आरम्भ रूप बीजका 'उद्भेद' [स्वल्पप्ररोह] है ।

इस प्रकार ग्रन्थकारने मुखसन्धिके 'उद्भेद' नामक पञ्चम अङ्गका लक्षण प्रस्तुत किया । किन्तु अन्य व्याख्याकार 'उद्भेद'का लक्षण अन्य प्रकारसे करते हैं । उनके मतमें किसी गूढ़ अर्थका प्रकट होना 'उद्भेद' कहलाता है । इस मतको ग्रन्थकार आगे दिखलाते हैं ।

दूसरे [आचार्य] तो [किसी] गूढ [रहस्य] के प्रकट होनेको 'उद्भेदन' कहते हैं । जैसे रत्नावलीमें [अनङ्ग पूजनके अवसरपर] कुसुमायुधके नामसे छिपे हुए वत्सराज [उदयन] का 'अस्तापास्त' इत्यादि [श्लोक] से वैतालिकाके वचनसे सागरिकाके प्रति [उदयनके रूपमें वत्सराजका] प्रकट होना । [उद्भेद कहा जा सकता है] ।

अथवा जैसे राघवाभ्युदयमें—

"सीता—[चारों ओर देखकर और रामचन्द्रकी ओर विशेष रूपसे देखती हुई अपने मनमें स्वगत कहती है] अच्छा यह [अनङ्ग] कामदेव भी शरीर धारण करके धनुषके आरोपणको देखनेके लिए आ गया है । कृपा करो, भगवन् अनङ्ग ! कृपा करो, जिससे रामचन्द्र ही धनुषके चढ़ानेमें समर्थ हो सकें [अन्य कोई समर्थ न हो सके] ।

लवङ्गिका—[अङ्गुलीसे रामको दिखलाती हुई] हे स्वामिपुत्रि ! जिनको आप अब तक मनोरथका विषय बनाए हुए थीं उनको अब दृष्टिका विषय बना लो [अर्थात् देख लो] ।

सीता—[ससम्भ्रमं स्वगतम्] कथमहं राममेव अनङ्गमज्ञासिषम् ?"

इत्यनङ्गभ्रान्त्या निगूढस्य रामस्य लवङ्गिकावचसा उद्भेदः ॥

(६) अथ करणम्—

[सूत्र ५५]—करणं प्रस्तुतक्रिया ।

अवसरानुगुणस्यार्थस्य प्रारम्भः करणम् । यथा वेणीसंहारे—

"सहदेवः—आर्य गच्छामो वयं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुम् ।

भीमः—एते च वयमुद्यता एवार्यस्याज्ञामनुष्ठातुम् ।"

इत्यनेन अनन्तराङ्कप्रस्तूयमान-संग्रामारम्भणात् 'करणम्' ।

यथा वा यादवाभ्युदये द्वितीयाङ्कोपान्त्ये—

"कंसः—[सप्रसादम्] साधु अमात्य साधु । अयमेव संग्रहोपायो नान्यः । तत् तर्हि व्रज त्वं सामग्रीकरणाय ।"

इत्यनेन अनन्तराङ्कप्रस्तूयमान-मल्लरङ्गभूमिप्रारम्भात् करणमिति ।

अन्ये तु विपदां शमनं करणमाहुः । शमनं चाशीर्वादवशेन अन्यथा वा ।

सीता—[आदर-पूर्वक अपने मनमें] अच्छा मैं रामचन्द्रजीको ही कामदेव समझ रही थीं !"

इस प्रकार कामदेवके भ्रममें छिपे हुए रामचन्द्रका लवङ्गिकाके वचनसे [सीताके प्रति प्रकट होना] उद्भेद है ।

उद्भेदके दूसरे लक्षणके अनुसार ये दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं ।

(६) करण—

अब करण [नामक मुखसन्धिके षष्ठ अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५५]—प्रस्तुत [कार्यका अनुष्ठान] करण [कहलाता] है ।

अवसरके अनुकूल अर्थका आरम्भ करना 'करण' [कहलाता] है ।

जैसे वेणीसंहारमें—

"सहदेव—हे आर्य, हम गुरुजनोंकी अनुमतिसे अपने पराक्रमके अनुसार [युद्ध] करनेके लिए जा रहे हैं ।

भीम—और ये हम भी आर्यकी आज्ञाका पालन करनेके लिए तैयार ही हैं ।"

इस [संवाद] से अगले अङ्कमें प्रस्तुत किए जाने वाले संग्रामका आरम्भ करनेसे यह 'करण' [का उदाहरण] है ।

अथवा जैसे यादवाभ्युदयमें द्वितीय अङ्कके प्रायः अन्तमें [उपान्त्ये]—

"कंस—[प्रसन्न होकर] शाबाश मन्त्रिवर शाबाश, यही [कृष्णके] पकड़नेका उपाय है दूसरा नहीं । इस लिए सामग्री तैयार करनेके लिए जाओ ।"

इस [कथन] से अगले अङ्कमें प्रस्तुत किए जानेवाले मल्लयुद्धका अखाड़ा बनानेका आरम्भ करनेसे यह 'करण' [नामक मुखसंधिका षष्ठ अङ्ग है] ।

अन्य [आचार्य] तो विपत्तियोंके शमनको 'करण' कहते हैं । वह शमन आशीर्वादके रूपमें अथवा अन्य प्रकारसे [दोनों प्रकारसे] हो सकता है ।

यथा वेणीसंहारे भीमं प्रति द्रौपदी—

"जं असुरसमराभिमुहस्स हरिणो मङ्गलं, तं तुम्हाणं भोदु। इति।

[यदसुरसमराभिमुखस्य हरेर्मङ्गलं, तद् युष्माकं, भवतु। इति संस्कृतम्]।

(७) अथ विलोभनम्—

[सूत्र ५६]—विलोभनं स्तुतेर्गार्ध्यम्

स्तुते-र्गुणवदेतदिति श्लाघातः प्रस्तुते कृत्ये गार्ध्यं—अभिलाषस्थिरीकरणं विलोभनम्।

यथा वेणीसंहारे 'चञ्चद्भुज' इत्यादि श्लोकानन्तरं—

"द्रौपदी—नाध किं दुक्करं तए परिकुविएण ? ता अणुगिण्हंतु एदं ववसिदं देवदाउ।

[नाथ ! किं दुष्करं त्वया परिकुपितेन ? तदनुगृह्णन्तु एतद् व्यवसितं देवताः। इति संस्कृतम्]

इत्यनेन सुयोधनवधस्य गुणवत्त्वख्यापनाद् भीमस्य गार्ध्यपदं विलोभनम्। इदं च परिन्यासानन्तरमेव निबध्यते। सन्ध्यन्तरसाधारण्याय चोक्तक्रमेणोद्देशः॥

जैसे 'वेणीसंहार' में भीमके प्रति द्रौपदी [कहती है]—

असुरोंसे युद्धके लिए जाते हुए विष्णुको जो मङ्गल प्राप्त हुआ था वह तुमको भी [प्राप्त] हो।

(७) विलोभन—

विलोभन—अब विलोभन [नामक सत्तम अङ्गको कहते हैं]—

[सूत्र ५६]—स्तुतिके द्वारा [वस्तुके प्रति] अभिलाष विलोभन [कहलाता] है।

स्तुतिसे अर्थात् यह [वस्तु] गुणवान् है इस प्रकारकी प्रशंसाके कारण प्रस्तुत कार्य के विषयमें अभिलाषका स्थिर हो जाना 'विलोभन' [कहलाता] है।

जैसे 'वेणीसंहार' में 'चञ्चद्भुजभ्रमित' इत्यादि श्लोकके बाद द्रौपदी [कहती है]—

"हे नाथ आपके प्रकुपित होनेपर क्या दुष्कर है ? [अर्थात् सब कुछ सहज साध्य है]। इसलिए देवतागण तुम्हारे इस निश्चयको अनुगृहीत करें।"

इससे सुयोधनके वधकी गुणवत्ताको सूचित करके भीमसेनके [उसके प्रति] अभिलाष को पुष्ट करना 'विलोभन' है।

इसका सन्निवेश [मुखसन्धिके चतुर्थ अङ्ग] 'परिन्यास' के अनन्तर [पञ्चम अङ्गके रूपमें] ही होता है। [परन्तु उद्देशवाली कारिकामें इसे परिन्यासके बाद नहीं रखा है। ६ अङ्गोंके बाद सातवें अंगके रूपमें रखा गया है। इसका यह कारण है कि] अन्य सन्धियोंमें भी होनेके कारण उक्त क्रमसे [अर्थात् अन्य सन्धियोंमें होनेवाले अङ्गोंके आरम्भमें] कथन किया गया है।

इसका यह अभिप्राय है कि यह जो 'विलोभन' अङ्ग यहाँ दिखलाया है इसका स्थान साधारणतः मुखसन्धिके परिन्यास अङ्गके बाद होता है। इसलिए मुखसन्धिके अङ्गोंमें 'परिन्यास' अङ्गके बाद इसको गिनाना चाहिए था। किन्तु ४१वीं कारिकामें परिन्यासके बाद

(८) अथ भेदनम्—

[सूत्र ५७]—भेदनं पात्रनिर्गमः ॥४४॥

रङ्गप्रविष्टानां पात्राणां निर्गमो रङ्गान्निःसरणं येन तद् भेदनम्। पात्राणां यथास्वं प्रयोजनवशादितश्च इतश्च गन्तुमन्यार्थोऽप्यभिप्राय उद्यमो वा रङ्गान्निर्गममापादयन् भेदनमुच्यते। यथा 'वेणीसंहारे' भीमो द्रौपद्या संग्रामापायशङ्किन्या शरीरानपेक्षे पराक्रमे निषिद्धः प्रत्याह—

"भीमः—सुक्षत्रिये—

अन्योऽन्यास्फालभिन्न-द्विपरुधिर-वसा-सान्द्रमस्तिष्कपङ्के,
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठी-रसदशिवशिवातूर्य-नृत्यत्कबन्धे,
संग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः॥" इति॥

एतेन हि संग्रामविचरणे पाण्डवानां पाण्डित्यख्यापनेन संग्रामावतरणाभिप्रायः सहदेवस्य, आत्मनश्च संघातभेदनार्थ एवोपदर्शित इति भेदोऽङ्गम्।

इसको न कराके करणके अनन्तर उसकी गणना कराई है। इसका कारण यह है कि करण तकके ६ अङ्ग केवल मुखसन्धिमें ही होते हैं। आगे गिनाए गए शेष छः अङ्ग मुखसन्धिके अतिरिक्त अन्य सन्धियोंमें भी होते हैं। यह बात पीछे कह चुके हैं। यह विलोभन अङ्ग मुखसन्धिके अतिरिक्त अन्य सन्धियोंमें भी हो सकता है। इसलिए उसका नाम परिन्यासके बाद न रखकर अन्य सन्धियों में भी होनेवाले अङ्गोंके साथ रखा गया है।

(८) भेदन—

अब भेदन [नामक मुखसन्धिके अष्टम अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५७]—पात्रोंका [रङ्गभूमिसे] बाहर जाना 'भेदन' [कहलाता] है।४४।

रङ्गभूमिमें प्रविष्ट हुए पात्रोंका निर्गम अर्थात् रङ्गभूमिसे बाहर जाना जिससे होता है वह 'भेदन' कहलाता है। किसी प्रयोजनवश पात्रोंका इधर-उधर जानेका अभिप्राय या उद्योग भी रङ्गभूमिसे निर्गमका हेतु होनेसे 'भेदन' कहलाता है। जैसे 'वेणीसंहार' में—युद्धमें अनिष्टकी आशङ्का करनेवाली द्रौपदीके द्वारा शरीरचिन्ताको छोड़कर पराक्रम करनेके लिए मना किए जानेपर भीमसेन कहते हैं—

"भीम—हे सुक्षत्रिये!

एक-दूसरेके साथ संघर्षमें कटे हुए और हाथियोंके रुधिर एवं वसा [चर्बी] से भरे हुए सिरोंकी कीचड़में डूबे हुए रथोंके ऊपर होकर पदाति सैनिक जिसमें पराक्रम दिखला रहे हैं, गरम-गरम रुधिरके पानकी गोष्ठीमें शृगाल तथा शृगालियोंकी अमङ्गल-ध्वनिका वाद्य [तूर्य] जिसमें बज रहा है और [कबन्ध अर्थात् सिर कटे हुए] रुण्ड जिसमें नाच रहे हैं इस प्रकारके अनोखे संग्राम-सागरके जलके भीतर घुसकर विचरण करनेमें पाण्डव लोग निपुण हैं। [इसलिए इस विषयमें तुम किसी प्रकारकी चिन्ता मत करो]।"

इसके द्वारा संग्रामके भीतर विचरण करनेमें पाण्डवोंके पाण्डित्यको सूचित करके सहदेवके संग्राममें अवतीर्ण होनेके अभिप्रायको और [शत्रुओंके] संघातको भेदन करनेके अपने

अन्ये तु भेदं प्रोत्साहनमाहुः । यथा 'वेणीसंहारे'—

"द्रौपदी—नाथ ! मा खु जण्णसेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणवेक्खिदसरीरा परिक्कमिस्सध, यदो अप्पमत्तसंचरणीयाइं रिउबलाइं सुणीयंति ।

[नाथ मा खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनपेक्षितशरीराः परिक्रमिष्यथ यतोऽप्रमत्तसञ्चरणीयानि रिपुबलानि श्रूयन्ते । इति संस्कृतम् ।]

"भीमः—अयि सुक्षत्रिये ! 'अन्योऽन्यास्फालभिन्न—"

इत्यादिना विषण्णाया द्रौपद्याः क्रोधोत्साहबीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद् भेदः इति ।

अन्ये तु संहतानां प्रतिपक्षाणां बीजफलोत्पत्तिनिरोधकानां विश्लेषकं भेदरूपमुपायं 'भेदनं' मन्वते इति ॥४४॥

(६) अथ प्रापणम्—

[सूत्र ५८]—प्रापणं सुखसम्प्राप्तिः

सुखस्य सुखहेतोश्च सम्यगन्वेषणादाप्तिः प्रापणम् । यथा वेणीसंहारे—

"कञ्चुकी—[प्रविश्य] कुमार एष खलु भगवान् वासुदेवः पाण्डवपक्षपातामर्षितेन कुरुराजेन संयमितुमारब्धः । ततः स महात्मा दर्शितविश्वरूपतेजःसम्पातमूर्छितमवधूय कुरुबलमस्मत्सेनासन्निवेशमनुप्राप्तः । अतो देवः कुमारमविलम्बितं

अभिप्रायको प्रदर्शित किया है इसलिए यह 'भेदन' नामक अङ्ग है ।

अन्य [आचार्य] तो प्रोत्साहनको भेद' कहते हैं । जैसे वेणीसंहारमें—

"द्रौपदी-नाथ याज्ञसेनीके अपमानसे उद्दीप्तक्रोध होकर कहीं अपने शरीर [की रक्षाकी] ओरसे असावधान होकर युद्धभूमिमें न घूमने लगना । क्योंकि शत्रु-सेनामें सावधान होकर ही जाना चाहिए ऐसा सुनते हैं ।

भीम—हे सुक्षत्रिये ! [तुम डरती क्यों हो] 'अन्योऽन्यास्फाल' [इत्यादि पिछले श्लोकमें कहे हुए संग्रामके भीतर विचरण करनेमें पाण्डव लोग बहुत निपुण हैं। इसलिए तुम चिन्ता न करो] ।

इत्यादि [कथन] से, विषण्ण मनवाली द्रौपदीको क्रोध तथा उत्साहके बीजके अनुरूप ही प्रोत्साहन किए जानेसे यह 'भेद' [नामक अङ्ग] है ।

अन्य [आचार्य] तो बीजकी फलोत्पत्तिका अवरोध करनेवाले संहत शत्रुओंके फोड़ने वाले भेदरूप उपायको ही 'भेदन' [नामक सन्ध्यङ्ग] मानते हैं ॥४४॥

इस प्रकार 'भेदन' नामक अष्टम अङ्गकी चार प्रकारकी व्याख्या उपस्थित की है । अब आगे मुखसन्धिके नवम अङ्ग 'प्रापण'का लक्षण आदि करते हैं ।

(६) प्रापण—

अब प्रापण [नामक, मुखसन्धिके नवम अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५८]—सुखकी सम्प्राप्ति प्रापण [नामक अङ्ग कहलाती] है ।

सुख तथा सुखके कारणकी भली प्रकार अन्वेषणसे होनेवाली प्राप्तिको 'प्रापण' [नामक सन्ध्यङ्ग कहा जाता] है । जैसे वेणीसंहारमें—

"कञ्चुकी—[प्रविष्ट होकर] कुमार पाण्डवोंके प्रति पक्षपातके कारण क्रुद्ध होकर कुरुराजने इन भगवान् वासुदेवको पकड़ना चाहा । तब वे महात्मा अपने विश्वरूपके प्रदर्शित

द्रष्टुमिच्छति ।"

अयं ह्यर्थो भीमसेनस्य कुरुभिः सह सन्धिभेदमापादयंश्चान्तः सुखयतीति । तथा भणितिवैचित्र्यार्थमङ्गानि कवय एकस्मिन्नपि सन्धावावर्तयन्ति । यथा वेणी-संहारे इदमेवाङ्गं पुनर्निबद्धम् । तथाहि—

"चेटी—[द्रौपदीमुद्दिश्य सानन्दम्] भट्टिणि ! परिकुविदो विअ कुमारो लक्खीयदि ।

[भर्त्रि ! परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते । इति संस्कृतम्] ।

द्रौपदी—एवं ता अवधीरणा वि मं एसा समासासेदि । ता इध य्येव उवविसिअ सुणामो दाव नाधस्स ववसिदं ।

[एवं तावदवधीरणापि मामेषा समाश्वासयति । तदत्रैवोपविश्य शृणुमः तावत् नाथस्य व्यवसितम् । इति संस्कृतम्] ।

भीमः— मथ्नमि कौरवशतं समरे न कोपाद्,
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू,
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

द्रौपदी—[सहर्षम्] असुदपुरवं ईदिसं वयणं, ता पुणो वि भण ।

[अश्रुतपूर्वं ईदृग् वचनम् । तत् पुनरपि भण । इति संस्कृतम्] ।"

करनेके तेजसे मूर्छित कौरव बलको छोड़कर अपनी सेनाके शिविरमें चले आए । इसलिए देव आपको [कुमारको] तुरन्त देखना चाहते हैं । [अर्थात् आपको तुरन्त बुला रहे हैं] ।"

कौरवोंके साथ सन्धि [के प्रयत्न] को समाप्त करनेवाला यह अर्थ भीमसेनके अन्तः-करणको प्रसन्न करता है [इसलिए यह प्रापण नामक अङ्ग है] ।

उक्ति-वैचित्र्यके सम्पादनार्थ कविगण एक ही सन्धिमें भी अङ्गोंको दुहरा देते हैं । जैसे वेणीसंहारमें [मुखसन्धिमें ही] इस [प्रापण नामक] अङ्गको ही दुबारा [इस प्रकारसे] निबद्ध किया गया है । जैसे कि—

"चेटी—[द्रौपदीको लक्ष्य करके आनन्दपूर्वक कहती है] हे स्वामिनि ! कुमार [भीमसेन] कुपितसे दिखलाई देते हैं ।

द्रौपदी—यदि यह बात है तो [मेरे प्रति उनकी] यह उपेक्षा भी मुझको सान्त्वना प्रदान करती है । इसलिए हम दोनों यहीं बैठकर नाथके निश्चयको सुनें ।

भीम—यदि आप [सहदेव आदि] के राजा साहब [युधिष्ठिर] किसी शर्तपर [कौरवों के साथ] सन्धि कर लें तो क्या मैं क्रुद्ध होकर युद्धभूमिमें सौ कौरवोंका नाश नहीं करूँगा । अथवा दुःशासनकी छातीका रक्त पीना छोड़ दूँगा । या गदासे दुर्योधनकी जंघाओंको चूर्ण नहीं करूँगा । [अर्थात् युधिष्टिर भले ही कौरवोंके साथ सन्धि कर लें, पर मैंने तो जो कुछ प्रतिज्ञा कर ली है उसको पूरा करके ही रहूँगा । सन्धिके कारण अपनी प्रतिज्ञाको कभी भी न छोड़ूँगा] ।

द्रौपदी—[सहर्ष] इस प्रकारका [आनन्द-दायक] वचन पहिले कभी नहीं सुना था इसलिए [इसको] फिर-फिर कहिए ।"

इति द्रौपद्या अभिप्रेतार्थप्राप्तिरिति ॥

(१०) अथ युक्तिः—

[सूत्र ५६]—युक्तिः कृत्यविचारणा ।

विचारणा गुणदोषविवेकतः कार्यपर्यालोचनम् । यथोदात्तराघवे—

"लक्ष्मणः—

किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं,
मात्रा स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ?
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु,
माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ।"

इयं च युक्ति स्थानान्तरभाविन्यपि तापसवत्सराजे उपक्षेप-परिकरान्तरे निबद्धा दृष्टेति । राघवाभ्युदये तथैवास्माभिर्ग्रथिता । तत्र हि—

"मतिसागरः—यत् पुरा भट्टारकेण सागरबुद्धिना विभीषणाय कथितं यथा—

इससे द्रौपदीके अभिप्रेत अर्थकी प्राप्ति कही है [इसलिए यह 'प्रापण' नामक सन्ध्यङ्ग का उदाहरण है]।

(१०) युक्ति—

अब युक्ति [नामक, मुखसन्धिके दशम अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५६]—कार्यका विचार करना युक्ति [नामक दशम अङ्ग कहलाता] है ।

विचारणा अर्थात् गुण-दोषके विवेचन द्वारा कार्यका पर्यालोचन करना ।

जैसे 'उदात्तराघव' में—

"लक्ष्मण [कहते हैं]—

क्या वह भरत [राज्यके] लोभसे पराभूत हो गए जिससे [रामको वनवास दिलानेका] यह कार्य किया है । अथवा क्या मेरी मझली माता [कैकेयी] ही मानमें स्त्रीके समान लघुता को प्राप्त हो गई थीं । [जिसके कारण उन्होंने यह नीच कार्य करवाया]। अथवा मेरी सोची हुई ये दोनों ही बातें मिथ्या हैं क्योंकि ये मेरे बड़े भाई [गुरु अर्थात् भरत] आर्यके [अर्थात् रामचन्द्रके] अनुज हैं । [अर्थात् रामचन्द्रजीके अनुज और मेरे गुरु भरत कभी ऐसा अनुचित कार्य नहीं कर सकते हैं] और माता [कैकेयी] पिताजीकी पत्नी हैं [इस लिए वे कभी इस गर्हित पापको नहीं कर सकती हैं । इस लिए इन दोनोंके विषयमें सोचना अनुचित है । तब फिर यह कार्य हुआ कैसे, इसका समाधान करते हैं कि] मालूम होता है कि यह अनुचित कार्य दैवने ही किया है ।"

इस प्रकार कार्यकी विचारणारूप होनेसे यह 'युक्ति' नामक अङ्गका उदाहरण है ।

यह युक्ति [नामक अङ्ग मुखसंधिमें] अन्य स्थानपर होनेवाली [अर्थात् दशम स्थानपर पठित] होनेपर भी 'तापसवत्सराजचरित' में 'उपक्षेप' तथा 'परिकर' के बीचमें [द्वितीय स्थानपर] निबद्ध किया हुआ देखा जाता है । इसलिए 'राघवाभ्युदय' में हमने भी उसी प्रकार [उपक्षेप तथा परिकरके बीचमें] ग्रथित कर दिया है । वहाँपर —

"मतिसागर—स्वामी सागरबुद्धिने जो पहले कभी विभीषणसे कहा था कि—

'सीतानिमित्तको दाशरथितो रावणवध' इति। तस्यार्थस्य तदेतच्चापारोपणं बीजमुपस्थितम्। कथितं च मे करङ्कनाम्ना लङ्काचारिणा चरेण यथा—'भूमण्डलस्येव रावणस्यापि सीतायां प्रेम अस्त्येव, किन्तु दोर्दर्पाच्चापारोपणे नायातः'। [विमृश्य] तन्नूनमसौ पश्चादपि सीतामपहरिष्यति।" इति।

(११) अथ विधानम्—

[सूत्र ६०]—विधानं सुख-दुःखाप्तिः

द्वयोः सुख-दुःखयोरेकत्र अनेकत्र वा पात्रे प्राप्तिः। एकस्यैव वा सुखस्य दुःखस्य वा प्राप्तिः, विधानम्। एकत्रपात्रे सुख-दुःखयोः प्राप्तिर्यथा—मालतीमाधवे—

"माधवः— यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभावम्,
आनन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत्।
तत्सन्निधौ तदधुना हृदयं मदीयं,
अङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते॥

इत्यनेन सानुरागमालत्यवलोकनान्माधवस्य सुख-दुःखाप्तिः।

अनेकत्र यथा तापसवत्सराजे काञ्चनमालया ज्ञातिगृहवार्ताविशेषापदेशात् वासवदत्ताया वियोगदुःखेऽपहृते राजा स्मित्वाऽऽह—

'सीताके कारण दशरथ-पुत्रके द्वारा रावणका वध होगा'। उस बातका बीजरूप यह चापारोपण [का प्रसङ्ग] आ गया है। और लङ्कामें विचरण करनेवाले करङ्क नामक गुप्तचर ने मुझसे कहा भी है कि—'भूमण्डलके [अन्य सब राजाओंके] समान रावण भी सीताको चाहता ही है किन्तु अपनी भुजाओंके दर्पके कारण चापारोपणमें नहीं आया है'। [कुछ सोचकर] तो निश्चय ही यह बादको सीताका अपहरण करेगा। यह [भी कार्यकी विचारणा रूप होनेसे युक्ति नामक अङ्गका उदाहरण है]।

(११) विधान

अब विधान [नामक, मुखसन्धिके ग्यारहवें अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६०]—सुख-दुःखकी प्राप्ति 'विधान' [कहलाती] है।

सुख तथा दुःख दोनोंकी एक पात्रमें अथवा अनेक पात्रोंमें प्राप्ति। अथवा सुख और दुःखमेंसे किसी एककी ही प्राप्ति [दोनों ही] विधान [नामक अङ्गके भीतर समाविष्ट हो जाते] हैं। एक ही पात्रमें सुख-दुःख दोनोंकी प्राप्ति [का उदाहरण] जैसे 'मालतीमाधव' में माधव [कहता है]—

"माधव—जो [मेरा हृदय मालतीकी उपस्थितिमें] विस्मयसे कुण्ठित, अन्य समस्त भावोंसे शून्य, अमृतमें डुबकी लगानेसे आनन्द-निमग्न-सा हो रहा था वही मेरा हृदय इस समय [मालतीके वियोगकालमें] अङ्गारोंसे जला हुआ-सा वेदनामय हो रहा हैं।"

इससे अनुरक्ता मालतीको देखकर माधवको सुख और [उसके वियोगमें] दुःखकी प्राप्ति [एक ही पात्रमें पाई जाती है]।

भिन्न-भिन्न पात्रोंमें [सुख और दुःखकी प्राप्तिका उदाहरण] जैसे 'तापसवत्सराज' में पितृगृहके समाचार विशेषके बहानेसे काञ्चनमाला द्वारा वासवदत्ताके वियोग दुःखको छिपाने पर राजा मुस्कराकर कहते हैं—

"दृष्टिं प्रेमभरालसां मयि मुहुर्विन्यस्य लज्जावती,
कालस्याहमिहासहेत्यविरतं प्रत्यर्पयन्ती मनः ।
जाता देवि तदा ममापनयने हेतुस्त्वमेवाधुना
किं सन्देशनवीभवत्कुलगृहोत्कण्ठाधिकं ताम्यसि ॥"

अत्र च वासवदत्तायाः प्रवासाभ्युपगमाद् दुःखम् । वत्सराजस्य चाविदित-प्रवासवृत्तान्तस्य सुखम् ।

एकस्य सुखस्य प्राप्तिर्यथा रत्नावल्याम्—

"कञ्चणमाले पइट्ठावेहि असोयमूले भयवंतं पज्जुन्नं । [इत्युपक्रमे]
[काञ्चनमाले प्रतिष्ठापयाशोकमूले भगवन्तं प्रद्युम्नम् । इति संस्कृतम्]
राजा—कुसुमसुकुमारमूर्ति-र्दधती नियमेन तनुतरं मध्यम् ।
आभासि मकरकेतोः पार्श्वस्था चापयष्टिरिव ॥
इत्यारभ्य, 'वासवदत्ता राजानं पूजयति' इति यावत् ।
एकस्य दुःखस्य यथास्मदुपज्ञे निर्भयभीम-नाम्नि व्यायोगे—
"भीमः—
अन्यायैकजुषः शठव्रतजुषो येऽस्माकमत्र द्विषः,
ते नन्दन्ति मदं वहन्ति महतीं गच्छन्ति च श्लाघ्यताम् ।

"मेरी ओर बार-बार प्रेमभरी दृष्टि डालती हुई, लज्जायुक्त, और 'मैं अधिक विलम्बको सहन नहीं कर सकती हूँ' इस प्रकार [अपना] मन समर्पित करती हुई, हे देवि ! उस समय तुम ही मेरे हटानेका कारण बनी तो फिर संदेशसे पितृगृहकी उत्कण्ठाके नवीन हो जानेसे इस समय क्यों दुःखी हो रही हो ?"

यहाँ वासवदत्ताके प्रवास स्वीकार करनेके कारण दुःख है । और प्रवासका वृत्तांत न विदित होनेके कारण वत्सराजको सुख है । [इस प्रकार भिन्न-भिन्न पात्रोंमें अलग-अलग सुख-दुःखकी प्राप्तिरूप विधानका यह उदाहरण है] ।

एक सुखकी प्राप्ति [का उदाहरण] जैसे रत्नावलीमें—

"काञ्चनमाले ! अशोकके नीचे भगवान् कामदेव [प्रद्युम्न] को स्थापित करो । [इसके प्रसङ्गमें]—

राजा—कुसमोंके समान सुकुमार देहवाली और व्रत-पालनके कारण और भी अधिक क्षीण मध्यसे युक्त तुम मकरकेतु [कामदेव] के पास रखी हुई चापयष्टिके समान प्रतीत होती हो [शोभित होती हो] ।

यहाँसे लेकर 'वासवदत्ता राजाकी पूजा करती है' यहाँ तक केवल एक सुखकी प्राप्ति का वर्णन होनेसे यह विधान नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

केवल दुःखकी प्राप्ति [का उदाहरण] जैसे हमारे बनाये 'निर्भयभीमसेन' नामक व्यायोगमें [भीम कहते हैं]—

भीम—केवल अन्यायपर आरूढ़, दुष्टताका व्रत धारण किए हुए, यहाँ हमारे जो शत्रु हैं, वे आनन्द कर रहे हैं, गर्व धारण किए फिरते हैं और सब जगह प्रशंसा प्राप्त कर रहे हैं । और [हम] जो न्यायका अवलम्बन कर रहे हैं और अत्यन्त सरलताको धारण

ये तु न्यायपराः परार्जवधरास्ते पश्यतामी वयं
नीचैः कर्मकृतः पराभवभृतस्तप्राश्च वर्तामहे ॥"

सुखस्य सुखहेतोश्च अन्वेषणरूपा 'प्राप्तिः'। सन्निहितसुखात्मकं च एकपात्रगतसुखात्मकं च विधानमिति भेदः।

(११) अथ परिभावना--

[सूत्र ६१]--विस्मयः परिभावना ॥ ४५ ॥

जिज्ञासातिशयेन किमेतदिति कौतुकानुबन्धो विस्मयः, परिभावना। यथा नागानन्दे—

"[मलयवतीं दृष्ट्वा] नायकः—

स्वर्गस्त्री यदि तत्कृतार्थमभवच्चक्षुःसहस्रं हरेः,
नागी चेन्न रसातलं शशभृता शून्यं मुखेऽस्याः स्थिते।
जातिर्नः सकलान्यजातिजयिनी विद्याधरी चेदियं,
स्यात् सिद्धान्वयजा यदि त्रिभुवने सिद्धाः प्रसिद्धास्ततः॥"

किए हैं सो वे हम देखो [रसोइया आदिके] नीच कर्मको कर रहे हैं और तिरस्कार प्राप्त कर रहे हैं।

मुखसन्धिके 'प्रापण' नामक अङ्गकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उसमें भी 'प्रापणं सुखसम्प्राप्तिः' सुख-सम्प्राप्तिको ही उसका लक्षण बतलाया गया था। यहाँ 'विधान' अङ्गमें सुखप्राप्तिको विधान अङ्गका लक्षण बतलाया है। तब इन दोनोंमें परस्पर क्या भेद है यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है। इस लिए ग्रन्थकारने अगली पंक्तिमें इन दोनोंके भेदको इस प्रकार प्रदर्शित किया है कि—

सुख और सुखके कारणका अन्वेषण जिसमें किया जाय वह 'प्राप्ति' [अर्थात् प्रापण नामक अङ्ग] है। और [अन्वेषण रूप नहीं किन्तु] सन्निहित सुख स्वरूप तथा एक पात्र गत 'सुखात्मक' विधान होता है यह ['प्रापण' तथा विधान इन दोनों अङ्गोंका] भेद है।

(१२) परिभावना—

अब परिभावना [नामक, मुखसन्धिके बारहवें अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६१]—विस्मय [का नाम] 'परिभावना' है।

जिज्ञासाके अतिशयके कारण 'यह क्या है' इस प्रकारका आग्रह, विस्मय [कहलाता] है। वही 'परिभावना' [नामक अङ्ग कहा जाता] है। जैसे नागानन्दमें—

"[मलयवतीको देखकर] नायक [जीमूतवाहन कहता है कि]—

[यह मलयवती] यदि स्वर्गकी स्त्री है तो इन्द्रके सहस्रों नेत्र कृतार्थ हो गए [समझो], यदि यह नाग जातिकी स्त्री है तो इसके मुखके विद्यमान रहते पाताललोक चन्द्रमासे शून्य नहीं [कहा जा सकता] है। यदि यह विद्याधरी है तो निश्चय ही हमारी [विद्याधर] जाति अन्य जातियोंसे श्रेष्ठ है। और यदि यह सिद्धवंशमें उत्पन्न हुई है तो अब सिद्ध लोग त्रिभुवन में प्रसिद्ध हो जावेंगे [यह समझो]।

इसमें मलयवतीके सौन्दर्यातिशयको देखकर जीमूतवाहन अपने विस्मयको प्रकट कर रहा है अतः यह 'परिभावना' नामक अङ्गका उदाहरण है।

यथा वा रोहिणीमृगाङ्काभिधाने प्रकरणे प्रथमेऽङ्के—

"मृगाङ्कः [सोत्कण्ठम्]—

सा स्वर्गलोकललनाजनवर्णिका वा,
दिव्या पयोधिदुहितुः प्रतियातना वा।
शिल्पश्रियामथ विधेः पदमन्तिमं वा,
विश्वत्रयीनयनसङ्कटनाफलं वा॥

एतानि मुखसन्धेर्द्वादशाङ्गानि॥ ४५॥

[२] अथ प्रतिमुखसन्ध्यङ्गान्युद्दिशति—

[सूत्र ६२]—विलासो धूननं रोधः सान्त्वनं वर्णसंहृतिः।
नर्म नर्मद्युतिस्तापः स्युरेतानि यथारुचि॥४६॥
पुष्पं प्रगमनं वज्रमुपन्यासोपसर्पणम्।
पञ्चावश्यमथाङ्गानि प्रतिमुखे त्रयोदश॥४७॥

अथवा जैसे रोहिणीमृगाङ्क नामक प्रकरणके प्रथम अङ्कमें—

"मृगाङ्क [उत्कण्ठापूर्वक कहता है]—

वह [रोहिणी] क्या स्वर्गलोककी स्त्रियोंकी [वर्णिका] चित्रित करनेवाली लेखनी [या 'वर्णका' कस्तूरी] है। अथवा सागरकी पुत्री लक्ष्मीकी दिव्य प्रतिकृति [प्रतियातना तस्वीर] है। अथवा विधाताके रचना-कौशलकी चरम सीमा है अथवा तीनों लोकोंके [समस्त प्राणियोंके] नेत्रोंकी रचनाका फल है।"

इसमें रोहिणीके सौन्दर्यातिशयके कारण उत्पन्न विस्मयको मृगाङ्कने प्रकट किया है। इसलिए यह मुखसन्धिके 'परिभावना' नामक बारहवें अङ्गका उदाहरण है।

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकारने मुखसन्धिके बारह अङ्गोंके लक्षण तथा उदाहरण दिखलाकर उनका विस्तारपूर्वक विवेचन कर दिया है। इसलिए अब इसका उपसंहार करते हुए अगली पंक्ति लिखते हैं—

ये बारह मुखसन्धि अङ्ग होते हैं॥४५॥

[२] प्रतिमुखसन्धिके तेरह अङ्ग—

अब इसके आगे प्रतिमुखसन्धिके [तेरह] अङ्गोंका उद्देश [नाममात्रेण कथन] करते हैं—

[सूत्र ६२]—(१) विलास, (२) धूनन, (३) रोध, (४) सान्त्वन, (५) वर्णसंहार, (६) नर्म, (७) नर्मद्युति और (८) ताप ये [आठ अङ्ग प्रतिमुखसन्धिमें] यथारुचि रखे जा सकते हैं। [अर्थात् उनका रखा जाना अपरिहार्य नहीं है। कथावस्तुकी उपयोगिताके अनुसार उनको रखा भी जा सकता है और नहीं भी रखा जा सकता है]।४६।

[सूत्र ६२]—(९) पुष्प, (१०) प्रगमन, (११) वज्र, (१२) उपन्यास और (१३) उपसर्पण ये पाँच [अङ्ग प्रतिमुखसन्धिमें] आवश्यक हैं। इस प्रकार प्रतिमुखसन्धिमें कुल तेरह अंग होते हैं।४७।

'यथारुचि इति वृत्तवैचित्र्यानुरोधेनात्र भवन्ति, न भवन्ति च। पुष्पादीनि पुनः पञ्चावश्यं प्रतिमुखसन्धौ भवन्त्येव। त्रयोदशाप्येतानि प्रतिमुख एव सुतरां निर्बन्धमर्हन्ति। उद्देशक्रमश्च निबन्धेषु नापेक्षणीय इति ॥४६-४७॥

(१) अथ विलासः—

[सूत्र ६३]—विलासो नृ-स्त्रियोरीहा,

नृ-स्त्रियोः परस्परमीहा रत्यभिलाषः।

यथाभिज्ञानशाकुन्तले मुखसन्धावुपलब्धायां नायिकायां प्रतिमुखे तद्विषयो राज्ञो विलासः। तत्र हि राजा आह—

"कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते॥

[स्मितं कृत्वा] एवमात्माभिप्रायसम्भावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विप्रलभ्यते। कुतः—

'यथारुचि' इसका यह अभिप्राय है कि कथावस्तुकी विचित्रताके अनुसार [ये आठ अङ्ग प्रतिमुखसन्धिमें] होते भी हैं और नहीं भी हो सकते हैं। [अर्थात् उनकी स्थिति अपरिहार्य नहीं है]। शेष पुष्प आदि पाँच [अङ्ग] तो प्रतिमुखसन्धिमें अवश्य होते ही हैं। ये तेरहों अङ्ग प्रतिमुखसन्धिमें ही सन्निविष्ट होते हैं [अन्य सन्धियोंमें प्रयुक्त नहीं होते हैं]। इनकी रचनामें उद्देशक्रम अपेक्षित नहीं होता है। [अर्थात् जिस क्रमसे यहाँ गिनाए गए हैं उसी क्रमसे इनकी रचना हो यह आवश्यक नहीं है] ॥४६-४७॥

इस प्रकार ४६-४७ दो कारिकाओंमें प्रतिमुख सन्धिके तेरह अङ्गोंके नाम गिनाकर तथा उनमेंसे पाँचकी अनिवार्य स्थिति एवं आठकी ऐच्छिक स्थितिका उल्लेख करके अब उनके लक्षण आदि क्रमशः आरम्भ करेंगे। इनमें सबसे प्रथम अङ्ग 'विलास' है। इसलिए सबसे पहिले उसीका लक्षण करते हैं।

(१) विलास—

अब [प्रतिमुखसन्धिके अङ्गोंमेंसे प्रथम अङ्ग] 'विलास' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६३]—स्त्री और पुरुषकी [परस्पर सम्मिलनकी] इच्छा 'विलास' [नामक, प्रतिमुखसन्धिका प्रथम अंग कहलाती] है।

पुरुष तथा स्त्रीकी परस्पर [सम्मिलनकी] इच्छा अर्थात् रतिकी कामना [विलास नामक अङ्गके रूपमें कही जाती] है।

जैसे अभिज्ञानशाकुन्तलमें मुखसन्धिमें [प्रथम अङ्कमें नायिका] शकुन्तलाके प्राप्त हो जानेपर प्रतिमुखसन्धिमें [द्वितीय अङ्कमें] उसके विषयमें राजाका [रति विषयक] अभिलाष विलास। उसमें राजा [दुष्यन्त अपने इस अभिलाषको व्यक्त करते हुए] कहते हैं—

"प्रिया [शकुन्तला इस समय] भले ही प्राप्त न हो किन्तु मेरा मन तो उसके भावको देखकर विश्वस्त है [कि वह मुझे प्रेम करती है इसलिए जल्दी या देरसे वह मुझको अवश्य प्राप्त होगी]। क्योंकि कामदेवके कृतार्थ न होनेपर भी [अर्थात् सम्भोगाभिलाषके पूर्ण न होने पर भी] दोनों ओरका प्रेम स्वयं रति [एक अपूर्व आनन्द] को प्रदान करता है।

[फिर मुस्कराकर राजा कहता है]—इस प्रकार अपने मनके अभिप्रायके अनुसार

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत् प्रेरयन्त्या तया,
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव ।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि तत् सासूयमुक्ता सखी,
सर्वं किल तत् मत्परायणमहो कामः स्वतां पश्यति ॥"

इत्यादिना राज्ञो रतिसमीहा ।

यथा वा नलविलासे तृतीयाङ्के—

"दमयन्ती—[राजानमवलोक्य स्वगतम्] कहमेस सयं भयवं पंचबाणो ? अहवा वरायस्स अणंगस्स कुदो ईदिसो अंगसोहग्गप्पब्भारो ? ता कदत्थो दमयन्तीयाए अंगचंगिमा ।" इति ।

[कथमेष स्वयं भगवान् पञ्चबाणः ? अथवा वराकस्यानङ्गस्य कुत ईदृशोऽङ्गसौभाग्यप्राग्भारः ? तत् कृतार्था दमन्त्या अंगचाङ्गिमा । इति संस्कृतम्] ।

यथा वास्मदुपज्ञे कौमुदीमित्राणन्दनाम्नि प्रकरणे तृतीयेऽङ्के—

"मित्राणन्दः—प्रिये !

वक्त्रं शीतरुचि-र्वचांसि च सुधा दृष्टिश्च कादम्बरी,
बिम्बोष्ठः पुनरेष कौस्तुभमणिः मूर्तिश्च लक्ष्मीस्तव ।

इष्टजनकी चित्तवृत्तिकी कल्पना करके प्रेमी जन स्वयं अपनेको धोखा देते हैं । क्योंकि [अपने मनकी भावनाके अनुसार वे यह समझने लगते हैं । कि]—

[उनकी प्रेमपात्रने] दूसरी ओर दृष्टि डालते हुए भी जो मधुरताके साथ देखा [वह शायद मेरी ओर ही देखा था], नितम्बोंके भारके कारण जो विलासपूर्वक धीरे-धीरे गमन किया, और [सखीके द्वारा] जाओ नहीं इस प्रकार रोके जानेपर जो नाराज होकर [उस सखी को] फटकारा था कहा था वह सब मेरे ही कारण था । आश्चर्य है कि काम [या कामी पुरुष अपने प्रेम पात्रके सारे कार्योंमें अपना सम्बन्ध] ही देखता है ।"

इत्यादिसे राजा [दुष्यन्त] की रतिकी इच्छा [प्रदर्शित की गई है । अतः यह प्रतिमुखसन्धिके विलास नामक प्रथम अङ्गका उदाहरण है] ।

अथवा जैसे नवविलासके तृतीय अङ्कमें—

"दमयन्ती—[राजाको देखकर स्वगत अपने मनमें कहती है]—अच्छा यह तो स्वयं भगवान् कामदेव [आ गए] हैं । अथवा [वह कामदेव तो शरीर रहित अनङ्ग है] उस विचारे अनङ्गके पास इतने देहसौभाग्यकी सम्पत्ति कहाँ हो सकती है । [इसलिए यह कामदेव नहीं है] । इसलिए [निश्चय ही ये राजा नल हैं] तब तो दमयन्तीका [अर्थात् मेरा] अङ्ग-सौन्दर्य कृतार्थ हो गया ।

इसमें राजा नलके प्रति दमयन्तीकी रतिका प्रदर्शन होनेसे यह भी 'विलास' नामक प्रतिमुखसन्धिके प्रथम अङ्गका उदाहरण है ।

अथवा जैसे हमारे बनाये हुए 'कौमुदी-मित्राणन्द' नामक प्रकरणमें तृतीय अङ्कमें—

मित्राणन्द—प्रिये !

[तुम्हारा] मुख चन्द्रमा, [तुम्हारी] वाणी अमृत, [तुम्हारी] दृष्टि कादम्बरी [मदिरा], [तुम्हारा] अधरोष्ठ कौस्तुभमणि और तुम्हारी मूर्ति लक्ष्मी रूप है । [इस सबको देखकर ऐसा

श्रद्धालुर्युगपद् विलोकितुमयं स्वापत्यजातं चिरात्,
एकस्थं विरचय्य कुन्दरदने त्वामर्णवः सूतवान्।

प्रतिमुखस्य चादावेवेदमङ्गं निबन्धनीयम्। य एव मुखे रस उपक्षिप्यते तस्यैव स्थायी, विभावानुभावव्यभिचारिभिः पोषणीयः। कामफले च रूपके मुखसन्धावुपक्रान्तः शृङ्गारः प्रतिमुखे विलासेन स एव विस्तार्यते। विलासप्रकाशकान्येव चेतराण्यङ्गानि निबन्धनीयानि।

प्रतीत होता है कि] अपनी सारी सन्तानोंको एक साथ देखनेके लिए उत्सुक [श्रद्धालु] सागर ने बहुत दिनोंके बाद उन सबको एक साथ मिलाकर तुमको उत्पन्न किया है।

इस श्लोकमें मित्राणन्दकी कौमुदीके प्रति रतिका वर्णन किया गया है। इसलिए यह भी प्रतिमुखसन्धिके विलास नामक प्रथम अङ्ग का उदाहरण है।

इस [विलास नामक] अङ्गको प्रतिमुख-सन्धिके प्रारम्भमें ही निबद्ध करना चाहिए। [इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि] जिस रसका मुखसन्धिमें उपक्षेप किया गया है उसीके स्थायिभावको [प्रतिमुखसन्धिमें] विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके द्वारा सम्पुष्ट किया जाना चाहिए। कामफलवाले रूपकमें मुखसन्धिमें शृङ्गार-रसका उपक्षेप होता है। इसलिए प्रतिमुखसन्धिमें विलासके द्वारा उसीका विस्तार किया जाता है। और विलासके प्रकाशक ही [प्रतिमुख-सन्धिके] अन्य अङ्गोंकी रचना करनी चाहिए।

'विलासो नृ-स्त्रियोरीहा' इस लक्षणके अनुसार पुरुष और स्त्रीकी इच्छा या रतिका प्रदर्शित करना 'विलास' कहलाता है। यह 'विलास' नामक अङ्ग प्रतिमुखसन्धिका प्रथम अङ्ग है। इसलिए प्रतिमुखसन्धिके आरम्भमें उसको निबद्ध करना चाहिए। वेणीसंहार नाटकके रचयिता भट्टनारायणने अपने नाटककी रचना करते समय नाट्यके नियमोंका पालन कठोरताके साथ करनेका यत्न किया है। इसलिए उन्होंने अपने नाटकके द्वितीय अङ्कमें प्रतिमुखसन्धिके आरम्भमें दुर्योधन तथा भानुमतीके विलासका वर्णन बहुत विस्तारके साथ किया है। किन्तु उत्तरवर्ती सभी आलोचकोंने भट्टनारायणके इस कार्यको अनुचित ठहराया है। इसका कारण यह है कि वेणीसंहार वीररस-प्रधान नाटक है। उसमें इतने अधिक विस्तारके साथ शृङ्गाररसका प्रदर्शन उचित नहीं है। इससिए 'अकाण्डे प्रथनम्' नामक रसदोषके उदाहरणके रूपमें सर्वत्र वेणीसंहारका यह प्रकरण ही प्रस्तुत किया गया है। यहाँ भी ग्रन्थकारने उसके अनौचित्यकी ओर सङ्केत किया है। उन्होंने इस अनौचित्यका कारण यह बतलाया है कि मुखसन्धिमें जिस रसका उपक्षेप किया जाय, उसीका पोषण प्रतिमुखसन्धिमें विलास आदि अङ्गोंके द्वारा किया जाना चाहिए। शृङ्गाररस-प्रधान नाटकोंमें मुखसन्धिमें शृङ्गाररसका उपक्षेप किया जाता है, इसलिए प्रतिमुखसन्धिमें विलास नामक अङ्गके द्वारा उसका ही पोषण किया जाना उचित है। किन्तु वीररस प्रधान नाटकमें, मुखसन्धिमें जब वीररसका उपक्षेप किया गया है तब प्रतिमुख-सन्धिमें विलास नामक अङ्गके द्वारा उसका ही पोषण होना चाहिए। वीरसरस-प्रधान नाटकके प्रतिमुखसन्धिमें शृङ्गाररसका पोषण प्रधान रसके विपरीत हो जाता है अतः दोषाधायक है। इसलिए वेणीसंहारका यह प्रकरण अनुचित है। ग्रंथकारका यह भी कहना है कि यद्यपि प्रतिमुखसंधिके विलास अङ्गका लक्षण 'नृ-स्त्रियोरीहा' किया गया है किन्तु उसका अभिप्राय केवल सम्भोगकी इच्छा या शृङ्गार-भावना ही

वीरादिरसप्रधानेष्वर्थफलेषु रूपेषु पुनरुत्साहादिसम्पद्विषयो नृ-स्त्रियोरीहा-व्यापारो विलासः। यस्तु वेणीसंहारे भानुमत्या सह दुर्योधनस्य दर्शितो रत्य-भिलाषरूपो विलासः, स नायकस्य तादृशेऽवसरे ऽनुचितः। यदाह—

सन्धि-सन्ध्यङ्गघटनं रसबन्धव्यपेक्षया।
न तु केवलशास्त्रार्थस्थितिसम्पादनेच्छया ॥इति।

(२) अथ धूननम्—

[सूत्र ६४]–धूननं साम्न्यनादरः।

साम्नि अनुनये अनादरो मनागनादृतिः। नञोऽल्पार्थत्वात्।

यथा पार्थविजये चित्रसेनेन संयते दुर्योधने सति—

युधिष्ठिरः—"वत्स भीमसेन!

अयं स कालः शूराणां खिन्नानां यत्र बन्धुषु।
आपद्गतपरित्राणम्, अपूर्वोऽनुनयक्रमः॥

नहीं अपितु प्रकृत रसके अनुकूल स्त्री-पुरुषकी इच्छा यह अर्थ करना चाहिए। वीररस-प्रधान नाटकमें 'विलास' अङ्गमें वीररसके अनुकूल स्त्री-पुरुषोंकी इच्छाका वर्णन कर वीररसको सम्पुष्ट करना चाहिए। और उसीके अनुकूल अन्य अङ्गोंकी भी रचना करना चाहिए। भट्ट-नारायणने इस सिद्धान्तको नहीं समझा है, इसीलिए वे इस प्रकारकी भूल कर बैठे हैं। इसी बातको ग्रंथकार अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकार लिखते हैं—

वीर आदि रसप्रधान अर्थवाले रूपकोंमें तो उत्साह आदिका पोषण करनेवाला स्त्री-पुरुषका इच्छा रूप व्यापार विलास [पदसे गृहीत] होता है। इसलिए 'वेणीसंहार' में जो सुयोधनके साथ भानुमतीका रत्यभिलाष दिखलाया है वह उस प्रकारके [युद्धकी तैयारी करने योग्य] समयमें नायकके लिए अनुचित है। जैसाकि [ध्वन्यालोककारने] कहा है कि—

संधि तथा संधियोंके अङ्गोंकी रचना रसप्रयोगके अनुसार करनी चाहिए। केवल शास्त्रकी मर्यादाकी रक्षाकी इच्छासे ही नहीं करनी चाहिए।

इस वचनसे ऐसा भ्रम हो सकता है कि शास्त्र-स्थिति और रस-स्थितिमें विरोध हो सकता है। वेणीसंहारकारने शास्त्र-स्थितिका पालन करनेकी इच्छासे ही दुर्योधन और भानु-मतीके रत्यभिलाषका वर्णन प्रतिमुखसन्धिके विलास अङ्गमें किया है। किन्तु यहाँ ग्रन्थकारने यह दिखलाया है कि वेणीसंहारकारने शास्त्र-स्थितिको ही नहीं समझा है। उन्होंने जो रत्य-भिलाषका वर्णन किया है वह शास्त्रीय मर्यादाके अनुकूल नहीं प्रनिकूल किया गया है।

(२) धूनन

अब धूनन [नामक प्रतिमुखसन्धिके द्वितीय अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६४]—शांति-वचनोंका अनादर करना धूनन [कहलाता] है।

साम अर्थात् अनुनय [वचनों] में अनादर अर्थात् थोड़ी-सी अनास्था [धूनन कहलाता है]। नञ्के अल्पार्थक होनेसे [मनागनादृतिः यह अर्थ किया है]।

जैसे 'पार्थविजय' में चित्रसेनके द्वारा दुर्योधनके पकड़ लिए जानेपर—

युधिष्ठिर [कहते हैं]—हे वत्स भीमसेन!

यह वह समय [आ गया] है जबकि अपने बंधुओंसे नाराज हुए शूरोंका आपत्तिमें पड़े

भीमसेनोऽपि दुर्योधनं प्रति युधिष्ठिरस्यानुनयमगृह्णन्नाह—
"कोऽयमनेकविधापकारकारिणः कौरवानुद्दिश्यार्यस्यार्द्रभावः ?" इति ।
केचिद् धूननमरतिमाहुः । तच्च रोधेनैव संगृहीतमिति ।

(३) अथ रोधः—

[सूत्र ६५]—रोधोऽर्तिः—

अर्तिः खेदो व्यसनमिष्टरोधाद् रोधः । यथा देवीचन्द्रगुप्ते—
"राजा [चन्द्रगुप्तमाह]—
त्वद्दुःखस्यापनेतुं सा शतांशेनापि न क्षमा ।
ध्रुवदेवी—[सूत्रधारीमाह]—
हञ्जे इयं सा ईदिसी अज्जउत्तस्स करुणापराहीणदा ।
[हञ्जे ! इयं सा ईदृशी आर्यपुत्रस्य करुणापराधीनता । इति संस्कृतम्]
सूत्रधारी—देवि पंडति चंदमंडलाउ वि चुडुलीउ किं एतु करिम्ह !
[देवि ! पतन्ति चन्द्रमण्डलादपि उल्काः । किमत्र कुर्मः । इति संस्कृतम्]
राजा—त्वय्युपारोपितप्रेम्णा त्वदर्थे यशसा सह ।
परित्यक्ता मया देवी जनोऽयं जन एव मे ॥

हुए [बंधुओं] की रक्षा करने रूप [उनको मनानेका] कोई अपूर्व अनुनय प्रकार [प्रदर्शित किया जाता] है ।"

[युधिष्ठिरके द्वारा इस प्रकार दुर्योधनको छुड़ानेके लिए प्रेरित किए जाने पर] भीमसेन भी दुर्योधनके प्रति युधिष्ठिरके अनुनयको अस्वीकार करते हुए कहते हैं—

अनेक प्रकारसे अपकार करनेवाले कौरवोंके प्रति आपकी यह दया कैसी है ?"

इसमें भीमसेन युधिष्ठिरके शान्तिवचन या अनुनयका तनिक अनादर-सा करते हैं अतः यह 'धूनन' नायक अङ्गका उदाहरण है ।

कोई [आचार्य] अरति [खेद या दुःख] को 'धूनन' कहते हैं । [किन्तु यह उचित नहीं है । क्योंकि] वह तो रोध [नामक अगले अङ्ग] में ही संगृहीत हो जाता है ।

(३) रोध—

अब रोध [नामक प्रतिमुखसंधिके तृतीय अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६५]—अरति [का नाम] 'रोध' है ।

अरति अर्थात् खेद या दुःख [प्रकट करना] इष्टके अवरोधके कारण 'रोध' [कहलाता] है । जैसे देवीचन्द्रगुप्तमें राजा [चंद्रगुप्तसे कहता है]—

"वह तुम्हारे दुःखको शतांशमें भी दूर करनेमें समर्थ नहीं है ।

ध्रुवदेवी [सूत्रधारीसे कहती है]—

अरे ! आर्यपुत्रकी यह कैसी करुणा-पराधीनता है।

सूत्रधारी—देवि ! चन्द्रमण्डलसे भी उल्कापात होता है । इसमें हम क्या करें ।

राजा—तुममें अपने प्रेमको स्थिर करनेवाले मैंने तुम्हारे लिए यशके साथ-साथ देवी का भी परित्याग कर दिया । और यह [प्रजा] जन तो मेरे [प्रजा] जन ही हैं [उनके परित्यागकी तो बात ही क्या है] ।

ध्रुवदेवी — अहं पि जीविदं परिच्चयंती पढमयरं य्येव तुमं परिचइस्सं।"
[अहमपि जीवितं परित्यजन्ती प्रथमतरमेव त्वां परित्यक्ष्यामि।
इति संस्कृतम्]

अत्र स्त्रीवेषनिह्नुते चन्द्रगुप्ते प्रियवचनैः स्त्रीप्रत्ययात् ध्रुवदेव्या गुरुमन्यु-सन्तापरूपस्य व्यसनस्य सम्प्राप्तिः।

यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे—

"राजा—देवि ! अवलम्बस्व मद्वचनम्। अत्रैव तिष्ठ। अशिक्षितपादचारा न शक्यति भवती क्रमितुं दर्भाङ्कुरविधुरासु वनवसुन्धरासु।

सुतारा—जं भोदि तं भोदु। अहं गमिस्सं।

[यद् भवति तद् भवतु। अहं गमिष्यामि। इति संस्कृतम्]

राजा—[कुलपतिं प्रति] भगवन् !

त्यजन् हेम्नो लक्षं चतुरुदधिकाञ्चीं च वसुधां,
सुधाम्भोभिः स्नानादपि समधिकां प्रीतिमभजम्।
सवत्सामेतां तु प्रवसनपरां वीक्ष्य दयितां,
इदानीं मन्येऽहं ज्वलदनललीढं वपुरदः॥ इति।

ध्रुवदेवी—मैं भी अपने जीवनका परित्याग करती हुई उससे पहले ही तुमको छोड़ दूँगी।

यहाँ चंद्रगुप्तके स्त्री-वेषमें छिपे होनेसे ध्रुवदेवीको [उसमें वास्तविक] स्त्री होनेके विश्वासके कारण [अपनेसे अन्य स्त्रीके प्रति राजाकी आसक्तिको देखकर] अत्यंत दुःख और संताप रूप व्यसनकी प्राप्ति हो रही है [इस लिए रोध नामक अंगका उदाहरण है]।

ध्रुव स्वामिनी मगध नरेश रामगुप्त की पत्नी हैं। रामगुप्त बड़ा कापुरुष है। शत्रुके दबावसे वह अपनी प्रियतमाको शत्रुको देनेके लिए तैयार हो गया था। चन्द्रगुप्त इस अपमान को सहन नहीं कर सका। उसने स्वयं स्त्रीका वेष धारणकरके शत्रुके पास जाकर अपमानका बदला लेनेका निश्चय किया। इस प्रसङ्गमें स्त्री-वेषमें उपस्थित उसी चन्द्रगुप्तके साथ राजा रामगुप्तका वार्तालाप हो रहा है। ध्रुव स्वामिनीको यह रहस्य पता नहीं है। इसलिए वह स्त्री बेषधारी चन्द्रगुप्तको दूसरी स्त्री समझकर दुःखी हो रही है। इसीलिए इसे रोधके उदा-हरण रूपमें प्रस्तुत किया गया है।

अथवा जैसे 'सत्यहरिश्चंद्र' में—

राजा—देवि ! मेरी बात मान जाओ। तुम यहीं रहो। [आज तक] कभी पैदल न चलनेके कारण तुम कुश-अंकुरोंसे भरी हुई वनभूमियोंमें नहीं चल सकोगी।

सुतारा—चाहे जो हो मैं तो [अवश्य] चलूँगी।

राजा—[कुलपतिके प्रति] भगवन् !

लाखों स्वर्ण-मुद्राओं, और चारों समुद्र रूप काञ्चीको धारण करनेवाली वसुन्धरा का परित्याग करते हुए मैंने सुधा-सलिलसे स्नान करनेकी अपेक्षा भी अधिक आनन्दका अनुभव किया था। किंतु बच्चेके सहित इस प्रियतमा रानीको [वनमें पैदल] चलनेको उद्यत देखकर इस समय मुझे ऐसा लग रहा है मानो मेरा यह सारा शरीर आगसे आलिंगित हो रहा है।

इस श्लोकमें राजा हरिश्चन्द्र जब अपना राज-पाट सब-कुछ देकर जा रहे हैं उस

(४) अथ सान्त्वनम्—

[सूत्र ६६]—सान्त्वनं साम

क्रुद्धस्यानुकूलम् । यथा रामाभ्युदये द्वितीयेऽङ्के—

मारीचः—नायमनुवृत्तिवचसामवसरः । परिस्फुटं विज्ञाप्यते—

दाराणां व्रतिनां च रक्षणविधौ वीरोनुयोज्यानुजं,
वीराणां खर-दूषण-त्रिशिरसामेको वधं यो व्यधात् ।
तस्याखण्डिततेजसः कुलजने न्यक्कार आविष्कृतः,
कुण्ठः सङ्गरदुर्मदस्य भवतः स्याच्चन्द्रहासोऽप्यसिः ॥

रावणः—आः प्रतिपक्ष-पक्षपातिन् क्षुद्र राक्षसापसद किं बहुना—

तवैव रुधिराम्बुभिः क्षतकठोरकण्ठस्रुतैः,
रिपुस्तुतिभवो मम प्रशममेतु क्रोधानलः ।
सुरद्विपशिरः- स्थलीदलनदष्टमुक्ताफलः,
स्वसुः परिभवोचितं पुनरसौ विधास्यत्यसिः ॥

(इति खड्गमाकर्षति ।)

समय रानी सुतारा और पुत्रको भी साथ चलनेके लिए उद्यत देखकर जिस दुःख और सङ्कट में पड़ गए थे उसका चित्रण किया गया है। इस लिए यह प्रतिमुखसन्धिके 'रोध' नामक तृतीय अङ्गका उदाहरण है। 'रोध' का लक्षण 'अर्ति' है। अर्थात् खेद या व्यसन, दु.ख, सङ्कट को रोध कहा गया है।

(४) सान्त्वन—

अब 'सान्त्वन' [नामक प्रतिमुख-संधिके चतुर्थ अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६६]—शान्ति-वचन [का नाम] 'सान्त्वन' है।

क्रुद्धको मनाना [साम कहलाता है] जैसे रामाभ्युदयमें द्वितीय अङ्कमें—

"मारीच—यह खुशामद करनेका अवसर नहीं है। [मैं तो] स्पष्ट रूपसे बतलाए देता हूँ कि—

जिस वीर [रामचन्द्र] ने स्त्री [सीता] और तपस्वियोंकी रक्षाका भार छोटे भाई [लक्ष्मण] को सौंपकर खर, दूषण और त्रिशिरा आदि वीरोंका अकेले ही वध कर डाला था। उसकी पत्नीके अपमान या मारनेके लिए निकला हुआ तुम्हारा चंद्रहास नामक खड्ग भी कुण्ठित हो जायगा।

रावण—अरे शत्रुके पक्षपाती नीच, दुष्ट राक्षस अधिक क्या कहूँ—

[रामको मारनेकी बात तो जाने दे पहिले] तेरे ही कठोर कण्ठसे निकले हुए रुधिर जलसे [तेरे द्वारा की गई] शत्रुकी स्तुतिसे उत्पन्न मेरा क्रोधानल शांत हो ले। देवताओंके हाथी [ऐरावत] के गण्डस्थलके विदारणके कारण जिसमें मुक्ताफल लग गए हैं इस प्रकारकी [मेरी] यह तलवार, बहिन [शूर्पणखा] के अपमानके अनुरूप [रामचंद्रके वध रूप कार्य को] बादको करेगी [अर्थात् पहिले तुझ मारीचको, जो शत्रु की स्तुति कर रहा है समाप्त कर लूँ तब फिर रामचंद्रको मारनेका कार्य बादको कर लूँगा]।

ऐसा कहकर [रावण मारीचके मारनेके लिए अपनी] तलवारको खींचता है।

प्रहस्तः—[पादयोर्निपत्य] प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजः। नेदमनुरूपं स्वामिनः। देव !

लोकत्रयक्षयोद्वृत्तप्रकोपाग्रेसरस्य ते।
ईदृशश्चन्द्रहासस्य भृत्येष्वनुचितः क्रमः॥

[पुनः क्रमादाह] देव प्रसीद प्रणयादतिक्रमोऽयं न वामतया।

इति मारीचं प्रति क्रुद्धस्य रावणस्य प्रहस्तविहितोऽयमनुनयः सान्त्वनम्। वज्रमप्यत्र प्रसङ्गात् प्रयुक्तम्। "कुण्ठः सङ्गरदुर्मदस्य भवतः स्याच्चन्द्रहासो ऽप्यसिः, इत्यस्य प्रत्यक्षनिष्ठुरत्वात्।

(५) अथ वर्णसंहृतिः—

[सूत्र ६७]—पात्रौघो वर्णसंहृति ॥४८॥

पृथक् स्थितानां पात्राणामोघः कार्यार्थं मीलनम्। वर्ण्यन्ते इति वर्णाः, तेषां नायक-प्रतिनायक-नायिका-सहायादिपात्राणां संहृतिरेकत्रकरणम्। यथा रत्नावल्याम्—

राजा—राजा सुसङ्गते ! क्वासौ, क्वासौ [इत्यत आरभ्य]—

इस प्रकार यहाँ तक रावणके कोपका वर्णन किया है। इसके अगले भागमें प्रहस्त, मारीचके प्रति रावणके इस कोपका शमन करनेका यत्न करते हुए कहता है—

प्रहस्त—[पैरोंमें गिरकर] प्रसन्न हों महाराज, प्रसन्न हों ! यह कार्य आपके अनुरूप नहीं है। देव !

तीनों लोकोंका नाश करनेमें समर्थ प्रकोपवालोंमें अग्रगण्य ! इस प्रकारका आपके चंद्रहास [तलवार] का भृत्योंपर प्रहार उचित नहीं है।

[उसके आगे फिर कहता है] देव ! प्रसन्न हों। प्रेमके कारण ही यह [मर्यादाका] अतिक्रमण [मारीचने] किया है, विरोधी होकर नहीं।

इस प्रकार मारीचके प्रति क्रुद्ध हुए रावणके प्रति प्रहस्तका अनुनय सान्त्वन [अङ्गका उदाहरण] है। इसमें प्रसङ्गतः [अगले अङ्ग] 'वज्र'का भी प्रयोग किया गया है। [प्रत्यक्ष निष्ठुर वचनका प्रयोग 'वज्र' कहलाता है। सो इस प्रसंगमें] युद्धके दुरभिमानी तुम्हारी चन्द्रहास [नामक] तलवार भी कुण्ठित हो जायगी, इस [मारीचके कथन] के प्रत्यक्ष ही निष्ठुर होनेसे [यह 'वज्र' का भी उदाहरण है।

(५) वर्णसंहार—

अब 'वर्णसंहृति' [नामक प्रतिमुखसंधि के पञ्चम अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६७]—[अनेक] पात्रोंका समुदाय [इकट्ठा हो जाना] 'वर्णसंहृति' [नाम अङ्ग कहलाता] है।

अलग-अलग स्थित पात्रों का 'ओघ' अर्थात् किसी कार्यकेलिए एक साथ सम्मिलित [वर्णसंहृति कहलाता है]। जिनका वर्णन किया जाय वे [पात्र] 'वर्ण' हैं। उन 'वर्णों' अर्थात् नायक, प्रतिनायक, नायिका सहाय आदि पात्रोंका, संहृति अर्थात् इकट्ठा होना [वर्णसंहृति कहलाता है] है। जैसे रत्नावलीमें—

राजा—सुसंगते वह कहां है, कहां है। [यहांसे लेकर]—

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवम् ॥ इति यावत् ।

अत्र राज-सागरिका-विदूषक-सुसङ्गतानामेकत्र योजनम् ।

अन्ये तु वर्णानां ब्राह्मणादीनां यथासम्भवं द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वा एकत्र मीलनं वर्णसंहारमाचक्षते । यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

परिषदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित
सह नृपतिभिरन्यैर्लोमपादश्च वृद्धः ।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकस्ते ॥ इति ।

एके तु वर्णितार्थतिरस्कारं वर्णसंहारमामनन्ति । उदाहरन्ति च यथा वेणीसंहारे कञ्चुकिना रथकेतनपतने निवेदिते भानुमती—

"अंतरीयदु दाव एदं समत्थबंभणाणं वेयज्झुणि-मंगलुग्घोसेण । इति"

[अन्तरीयतां तावदेतत् समस्तब्राह्मणानां वेदध्वनिमंगलोद्घोषेण । इति संस्कृतम्] ॥४८॥

यह [साक्षात्] लक्ष्मी है और इसका हाथ पारिजातका पल्लव है। अन्यथा [इससे] स्वेदके बहानेसे अमृतद्रव कैसे टपक रहा है।

इस [सारे प्रसंग] में राजा, सागरिका, विदूषक तथा सुसंगता [आदि अनेक पात्रों] का एक साथ सम्मिलन हो गया है [अतः यह वर्णसंहृति नामक अंगका उदाहरण है]।

अन्य [व्याख्याकार] तो वर्णों अर्थात् ब्राह्मणादिका यथासम्भव दो-तीन या चार [वर्णों] के एक साथ इकट्ठे होनेको 'वर्णसंहृति' कहते हैं। जैसे महावीरचरितके तृतीय अङ्कमें—

सीता-स्वयम्वरमें रामचन्द्रजीके द्वारा धनुष तोड़ दिए जानेके बाद परशुरामजीके आ जानेपर उनके साथ संघर्षका प्रसङ्ग चल रहा है। परशुरामजी रामचन्द्रपर अत्यन्त अप्रसन्न हैं और उनको मार देनेका भय दिखला रहे हैं। उस समय अन्य सब लोग इकट्ठे होकर परशुरामजीको मनानेका यत्न कर रहे हैं। इसी प्रसङ्गमेंसे यह श्लोक यहाँ उद्धृत किया गया है। उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अनेक वर्णोंके प्रयोजनवश एकत्र हो जानेसे यह वर्णसंहारका उदाहरण है। श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

यह ऋषियोंका समुदाय, यह [भरतके मामा केकय देशके राजा] वृद्ध युधाजित्, और अन्य राजाओंके साथ ये बूढ़े लोमपाद तथा निरन्तर यज्ञ करने वाले एवं पुराने ब्रह्मवादी जनकोंके राजा [सीरध्वज] ये सब आपके अविरोधी होकर आपसे याचना कर रहे हैं [अतः अबकी बार आप रामचन्द्रको क्षमा करदें]।

अन्य लोग वर्णित अर्थके तिरस्कारको 'वर्णसंहार' मानते हैं। और उसके उदाहरण रूपमें वेणीसंहार [के द्वितीय अङ्क] में कञ्चुकीके द्वारा [दुर्योधनके] रथकी ध्वजा के पतन [रूप अशकुन] की सूचना मिलनेपर भानुमती आके निम्न वचनको उदाहरण रूपमें प्रस्तुत करते हैं—

भानुमती—इस [अपशकुन] को समस्त ब्राह्मणोंके [द्वारा किए जाने वाले] वेद-ध्वनि के घोष द्वारा शमन कर दो ॥४८॥

(६) अथ नर्म—

[सूत्र ६८]—क्रीडार्थं हसनं नर्म

यथा रत्नावल्याम्—

"विदूषकः—[कर्णं दत्वा ससम्भ्रमं राजानं हस्ते गृहीत्वा] भो वयस्स ! पला-यम्ह। एदस्सिं लकुचपायवे किं पि महाभूदं परिवसदि। यदि मे न पत्तियसि ता अग्गदो भविय सयं य्येव आयन्नेहि।

[भो वयस्य ! पलायामहे। एतस्मिन् लकुचपादपे किमपि महाभूतं परिवसति। यदि मां न प्रत्येषि तदाग्रतो भूत्वा स्वयमेवाकर्णय। इति संस्कृतम]।

राजा—[आकर्ण्य] वयस्य सारिकेयम्। इति।"

तथा—

"विदूषक:—भो मा पंडिच्चगव्वमुव्वहह। एदं देअह वक्खाणइस्सं जा एसा आलिहिदा, सा कण्णगा दंसणीया य।

[भो मा पाण्डित्यगर्वमुद्वह। इद देवाय व्याख्यास्यामि या एषाऽऽलिखिता सा कन्यका दर्शनीया च। इति संस्कृतम्]।

राजा—वयस्य यद्येवं अवहितैः श्रोतव्यम्। अस्त्यवकाशो न कुतूहलस्य।'

तथा—

"सुसङ्गता—सहि जस्स कए तुवं आगदा सो अयं पुरदो चिट्ठदि।

[सखि यस्य कृते त्वमागता सोऽयं पुरतस्तिष्ठति। इति संस्कृतम]।

---

(६) नर्म—

इस प्रकार यहाँ तक प्रतिमुख-सन्धिके पाँच अङ्गोंका वर्णन हो गया। अब आगे प्रतिमुख-सन्धिके छठे अङ्ग 'नर्म' का वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

अब 'नर्म' [नामक छठे अंगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६८]—मनोरञ्जन [क्रीडार्थं] केलिए हास्य करना 'नर्म' [कहलाता] है।

जैसे रत्नावलीमें—

विदूषक—[कान लगाकर सुनते हुए और भयके मारे राजाका हाथ पकड़कर विदूषक राजासे कहता है कि—] हे मित्र, चलो यहाँसे भाग चलें क्योंकि इस कटहलके पेड़पर कोई भयङ्कर महाभूत रहता है। यदि तुम मेरे ऊपर विश्वास नहीं करते हो तो अपने-आप आगे बढ़कर सुन लो [देखो इसपर भूत बोल रहा है कि नहीं]।

राजा—[सुनकर] अरे मित्र ! यह तो मैना [बोल रही] [भूत कहाँ] है।

यहाँ विदूषकका वचन मनोरञ्जन मात्रके लिए है इसलिए यह 'नर्म' या हास्य मजाक का उदाहरण है। रत्नावलीसे इसी प्रकारका एक और उदाहरण आगे देते हैं—

विदूषक—अरे मित्र, पाडित्यका गर्व मत करो। मैं तो इसकी ऐसी व्याख्या करता हूँ कि यह जो चित्रमें अङ्कित है वह कन्या है और दर्शनीया है।

राजा—यदि ऐसी बात है तो तनिक सावधान होकर सुनना चाहिए [कि यह क्या कहती है। क्योंकि इस कन्याकेलिए] हमें उत्सुकता होना स्वाभाविक है।

सुसङ्गता—सखि ! जिसके लिए तुम आई हो वह सामने ही उपस्थित है।

सागरिका--[सासूयम्] सुसंगदे ! कस्स कए अहं आगदा ?

[सुसंगते ! कस्य कृते अहमागता ? इति संस्कृतम्]।

सुसंगता--अयि अप्पसंकिदे ! णं चित्तफलहयस्स, ता गिरह एदं।" इति।

[अयि आत्मशङ्किते ! ननु चित्रफलकस्य। तद् गृहाणैनम्। इति संस्कृतम्]।

एता विदूषक-सुसङ्गतयो राज-सागरिकाक्रीडार्थं हासोक्तयः। अनेकशोऽप्येकमेवाङ्गं निबद्ध्यत इति त्रिधोदाहृतम्।

यथा वा नलविलासे--

"विदूषकः--[लम्बस्तनीं विलोक्य सभयकम्पम्] भो रायं अहं एदाउ ट्ठाणा उट्ठिस्सं। [भो राजन् ! अहमेतस्मात् स्थानादुत्थास्यामि। इति संस्कृतम्]।

राजा--किमिति।

विदूषकः--जइ एसा थूलमहिसी कडिअडं नच्चावेंती ममोवरि पडेदि, ता धुवं मं मारेदि॥

[यद्येषा स्थूलमहिषी कटितटं नर्तयन्ती ममोपरि पतेत्, तथा ध्रुवं मां मारयेत्। इति संस्कृतम्]।"

तथा--

"राजा--लम्बस्तानि इदमासनमास्यताम्।

विदूषकः--भोदी लंबत्थणीए दुब्बलं खु एदं आसणं। ता तुमए सावहाणाए उववेसिदव्वं। [भवति ! लम्बस्तन्यै दुर्बलं खल्वेतदासनम्। तत् त्वया सावधानयोपवेष्टव्यम्। इति संस्कृतम्]।"

सागरिका--[क्रोध-पूर्वक] सुसङ्गते ! मैं किसके लिए आई हूँ।

सुसङ्गता--अरे अपने आप शङ्का कर लेने वाली, चित्रफलके लिए [आई हो न] इस [चित्र] को पकड़ो [यह तुम्हारे सामने ही रखा है]।"

ये सब विदूषक तथा सुसङ्गताकी [क्रमशः] राजा तथा सागरिकाके मनोरञ्जनके लिए हास्योक्तियाँ हैं [अतः 'नर्म' नामक' अङ्गके उदाहरण हैं] एक ही अङ्गका अनेक बार भी प्रयोग किया जा सकता है। इसके लिए तीन उदाहरण दिए हैं।

अथवा जैसे नलविलासमें--

"विदूषक--[लम्बस्तनीको देखकर भयसे काँपते हुए] हे राजन् ! मैं तो इस स्थानसे उठता हूँ।

राजा--क्यों किसलिए [उठते हो] ?

विदूषक--यदि यह मोटी भैंस कमर नचाती हुई मेरे ऊपर गिर पड़ी तो मुझको मार ही डालेगी।"

तथा--

"राजा--हे लम्बस्तनि ! इस आसन [कुर्सी] पर बैठो।

विदूषक--भगवति ! लम्बस्तनीके लिए यह आसन दुर्बल है इसलिए तुम इसपर सावधान होकर बैठना।

ये सब हास्योक्तियाँ नर्म नामक अङ्गके उदाहरण रूपमें प्रस्तुत की गई हैं।

तथा—

"विदूषक :—भोदि ! किं अइदुब्बला सि ।
[भवति ! किमतिदुर्बलासि । इति संस्कृतम्] ।
लम्बस्तनी—मग्गपरिस्समेण । [मार्गपरिश्रमेण । इति संस्कृतम्] ।
विदूषक :—भो कलहंसा कित्तिएहिं गोणेहिं मुदेहिं एसा इध संपत्ता ?
[भो कलहंस ! कियद्भि-र्गोभि-र्मृतैरेषात्र सम्प्राप्ता । इति संस्कृतम्] ।
[कलहंसो विहस्याधोमुखस्तिष्ठति ॥" इति ॥

(७) अथ नर्मद्युति :—

[सूत्र ६६]—दोषावृत्तौ तु तद्युतिः ।

दोषावृत्यै दोषाच्छादनाय यत् पुनर्हसनं हास्यहेतुर्वाक्यं सा तस्य नर्मणो द्योतनं नर्मद्युतिः । यथा रत्नावल्याम्—

"विदूषकः—भोः ! अज्ज वि एसा चउव्वेई विय बंभणो रिचाउ पढिउं पयत्ता ।
[भो ! अद्याप्येषा चतुर्वेदीव ब्राह्मण ऋचः पठितुं प्रवृत्ता । इति संस्कृतम्] ।
राजा—वयस्य किमप्यन्यचेतसा मया नावधारितम् । तत् किमनयोक्तम् ?
विदूषक :—भो ! एदं एदाए पढिदं—
दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरूई परव्वसो अप्पा ।
पियसहि ! विसमं पिम्म मरणं सरणं नु वरमेकम् ॥
[भोः ! इदमेतया पठितम्—
[दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि ! विषमं प्रेम मरणं शरणं नु वरमेकम् ॥ इति संस्कृतम्] ।

तथा—

"विदूषक—भगवति ! [कहिए] आप दुर्बल कैसे हो रही हैं ?
लम्बस्तानी—मार्गकी थकावटसे ।
विदूषक—अरे कलहंस [रास्तेमें] कितनी गौएँ मार कर ये यहाँ तक आई हैं ।
[कलहँस हंसते हुए मुख नीचा कर लेता है ।]"
यह सब हास्य-परक वचन हैं । इसलिए यह भी नर्मका उदाहरण है ।

(७) नर्मद्युति—

अब 'नर्मद्युति' [नामक प्रतिमुख-सन्धिके सप्तम अंगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६६]—दोषके छिपानेके लिए [हास्य वचनोंका प्रयोग होने पर तद्युति अर्थात्] नर्मद्युति [नामक अंग माना जाता] है । जैसे रत्नावली में—

विदूषक—अरे यह [सारिका] तो अब भी चतुर्वेदी ब्राह्मणके समान ऋचाओंका पाठ करे जा रही है ।

राजा—हे मित्र मेरा ध्यान दूसरी ओर था, मैं समझा नहीं कि इसने क्या कहा ।

विदूषक—अरे इसने यह कहा है कि—

दुर्लभ जनके साथ प्रेम हो गया है, भारी लज्जा हो रही है किन्तु आत्मा भी परवश है । प्रिय सखि ! प्रेम बड़ा कठिन है अब तो केवल मरण ही एक शरण है ।

राजा—भो महाब्राह्मण ! कोऽन्य एवं ऋचामभिज्ञः ?

अत्र मौर्ख्यदोषं छादयितुं यद् विदूषकेणोक्तं तद् राज्ञो हास्यहेतुत्वान्नर्म-द्युतिः ।

अन्ये तु नर्मजां धृतिं नर्मद्युतिमाहुः । यथा रत्नावल्याम्—

सुसंगता—सहि ! अदक्खिन्ना दाणि सि तुवं जा एवं भट्टिणो हत्थावलंबिया वि कोवं न मुंचसि ।

[सखि ! अदाक्षिण्या इदानीं त्वमसि या एवं भर्तुर्हस्तावलम्बितापि कोपं न मुञ्चसि । इति संस्कृतम्]।

सागरिका—[सभ्रूभंगमीषद्विहस्य] सुसंगदे ! इयाणिं पि न विरमसि ।" इति ।

[सुसंगते ! इदानीमपि न विरमसि । इति संस्कृतम्] ।

एते च नर्म-नर्मद्युती अङ्गे कामप्रधानेष्वेव रूपकेषु निबन्धमर्हतः । कैशिकी-प्राधान्येन तेषां हास्योचितत्वादिति ।

(८) अथ तापः—

[सूत्र ७०]—अपायदर्शनम् तापः

यथा पार्थविजये—

"कञ्चुकी—भो भो लोकपालाः परित्रायध्वम् ।

राजा—हे महाब्राह्मण [तुमको छोड़कर] और कौन इन ऋचाओंको समझ सकता है ।

यहाँ [अपनी] मूर्खताके दोषको छिपानेकेलिए विदूषकने जो-कुछ कहा है वह राजाके हास्यका हेतु होता है । [इसलिए नर्मद्युति अंगका उदाहरण है] ।

अन्य लोग तो नर्म [मजाक] से उत्पन्न धृति [आनन्द] को नर्मद्युति कहते हैं । जैसे रत्नावलीमें—

सुसंगता—सखि ! तुम बड़ी दाक्षिण्य-रहित हो जो स्वामीके इस प्रकार हाथ पकड़ने पर भी क्रोध नहीं छोड़ती हो ।

सागरिका—[भौंहें टेढ़ी करके तनिक हँसकर] सुसंगते ! तू अब भी नहीं मानती है ।

यह नर्मद्युतिका उदाहरण है । क्योंकि इसमें सुसंगताके हास्यवचनसे सागरिकाको एक प्रकारके विशेष आनन्द या धैर्यकी प्राप्ति हो रही है । इसलिए जो लोग नर्मजा धृतिको 'नर्मद्युति' कहते हैं उनकी दृष्टिसे यह नर्मद्युतिका उदाहरण होता है ।

ये नर्म तथा नर्मद्युति नामक दोनों अंग काम-प्रधान रूपकोंमें ही निबद्ध किए जा सकते हैं । क्योंकि उन [काम-प्रधान रूपकों] के कैशिकी-प्रधान होनेसे उनमें हास्य उचित हो सकता है ।

(८) ताप—

अब 'ताप' [नामक प्रतिमुखसंधिके अष्टम अंगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ७०]—किसी इष्टजनके [अपाय अर्थात्] विनाशका दर्शन [तापजनक होनेसे] 'ताप' [कहलाता] है । जैसे पार्थविजयमें—

कञ्चुकी—हे हे लोकपालो ! रक्षा करो ।

एषा वधू भरतराजकुलस्य साध्वी,
दुर्योधनस्य महिषी प्रियसङ्गरस्य।
विस्मृत्य पाण्डु-धृतराष्ट्र-पितामहादीन्,
गन्धर्ववीरपशुभिः परिभूयते स्म॥

युधिष्ठिरः--[श्रुत्वा दुर्योधनान्तःपुरे महतीमपायशंकामाविष्कुर्वन्नाह] वत्स! स्वगोत्रपरिभवाविष्कारनिष्ठुरः शब्दः। अद्याप्यभ्रान्त एवासि। कः कोऽत्र, चापम्। [इति चापारोपणमभिनयन सम्भ्रमादुत्तिष्ठति] इति।

केचित्तु स्थानेऽस्य अनुनयारत्यो र्ग्रह-निग्रहरूपं 'शमनं' पठन्ति। यथा पार्थविजये--

"भीमः--आः क एष मयि स्थिते भरतकुलं परिभवति? अतः परं न मर्षयामि" इति।

अत्र 'अयि वत्स! स्वगोत्र' इत्यादि पूर्वदर्शितेन युधिष्ठिरसंरम्भेण भीमस्यानुनयग्रहणम्।

अरतिनिग्रहो यथा वेणीसंहारे—

यह भारतके राजवंशकी साध्वी बधू, और युद्धप्रेमी दुर्योधनकी रानी, पाण्डु धृतराष्ट्र और पितामह [भीष्म] आदिको भुलाकर [अर्थात् उनकी शक्ति आदिकी ओर ध्यान न देकर] दुष्ट गन्धर्व वीरों द्वारा अपमानित की जा रही है।

युधिष्ठिर—[सुनकर, और दुर्योधनके अन्तःपुरमें किसी भारी विनाशकी शंका समझकर कहते हैं कि] हे वत्स [भीम]! अपने वंशके अपमानका कठोर अप्रिय शब्द [सुनाई दे रहा] है। तुम अब तक स्थिर बैठे हुए हो। कौन, यहाँ कौन है? धनुष-धनुष [जल्दी धनुष लाओ] इस प्रकार [कहते हुए और] धनुष चढ़ानेका अभिनय करते हुए जल्दीसे उठते हैं।

इसमें दुर्योधनके अंतःपुरमें होनेवाले विनाशको देखकर युधिष्ठिरकी व्यग्रताका वर्णन किया गया है। अतः यह 'ताप' नामक अङ्गका उदाहरण है।

कुछ लोग इस ['ताप' नामक अंग] के स्थानपर अनुनयके ग्रहण और अरतिके निग्रह रूप 'शमन' को [प्रतिमुख संधिके अंगोंमें] पढ़ते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि वे लोग 'ताप' को प्रतिमुखसन्धिका अङ्ग न मानकर 'शमन' को उसका अङ्ग मानते हैं। और इस शमनकी व्याख्या दो प्रकारकी करते हैं। एक अनुनयका ग्रहण, और दूसरी अरतिका निग्रह, इन दोनोंको वे 'शमन' कहते हैं।

जैसे पार्थविजयमें [अनुनयग्रहणका उदाहरण]—

"भीम—अरे, यह कौन है जो मेरे रहते भरतकुलका अपमान करना चाहता है। इससे अधिक मैं सहन नहीं करूँगा।

इस [उदाहरण] में "हे वत्स! अपने गोत्रके पराभवका-सा अप्रिय शब्द सुनाई दे रहा है" इत्यादि पूर्वदर्शित [वाक्यमें दिखलाए हुए] युधिष्ठिरके क्रोधको देखकर भीम [युधिष्ठिरके] अनुनयका ग्रहण करते हैं [इसलिए यह अनुनय ग्रहण रूप शमनके प्रथम भेदका उदाहरण है]।

अरति-निग्रह [नामक शमनके दूसरे भेदका उदाहरण] जैसे वेणीसंहारमें—

"सखी--जइ एवं ता कहेहिं जेण म्हे पडिट्ठावयंतीउ पसंसाए देवदाणं संकित्तणेण दुव्वादिपरिग्गहेण पडिहणिस्सामो !"

[यद्येवं तदा कथय येन वयं प्रतिष्ठापयन्त्यः प्रशंसया देवतानां संकीर्तनेन दूर्वादिपरिग्रहेण प्रतिहनिष्यामः । इति संस्कृतम्]।

पुनः स्वावसरे

"भानुमती--[अर्घपात्रं गृहीत्वा सूर्याभिमुखं स्थित्वा] भयवं अम्बरमहासरेक्कसहस्सवत्त ! दिसावहुमुखमंडण कुंकुमविसेसय ! सयलभुवणरयणप्पईव ! ज्ज इह सिविणयदंसणे जं किंचि अच्चाहिदं, तं भयवदो पणामेण सभादुणो अय्यउत्तस्स कुसलपरिणामं भोदु त्ति ।"

[भगवन् ! अम्बरमहासरैकसहस्रपत्र ! दिग्वधूमुखमण्डलकुंकुम विशेषक ! सकलभुवनरत्नप्रदीप ! अद्येह स्वप्नदर्शने यत् किञ्चिदत्याहितं, तद् भगवतः प्रणामेन सभ्रातुरार्यपुत्रस्य कुशलपरिणामं भवतु ।" इति संस्कृतम्]।

अत्र दुःस्वप्नोद्भूताया अरतेर्निग्रहः । इति ।

(९) अथ पुष्पम्—

[सूत्र ७१]—पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ४९ ॥

पूर्वं स्वयमन्येन वा केनचित् प्रयुक्तं वचनमपेक्ष्य यद् विशेषयुक्तं वचनं प्रयुज्यते तेन अन्येन वा, तत् पूर्वस्माद्विशेषवत् । तच्च वाक्यं पुष्पमिव पुष्पम् । केशरचनायाः पुष्पमिव पूर्ववाक्यालंकारकारित्वात् । यथा 'विलक्षदुर्योधने'—

"सखी–यदि ऐसी बात है तो कहो, जिससे हम लोग प्रतिष्ठापना, प्रशंसा, देवताओंके संकीर्तन तथा दूर्वादिके ग्रहणके द्वारा [उस दुःस्वप्न] का प्रतिविधान करें ।

वेणीसंहारके द्वितीय अङ्कमें भानुमतीके मुखसे दुःस्वप्नकी बात सुनकर उसकी सखी उस अरतिके शमनकी चर्चा कर रही है । अतः यह अरति निग्रहका उदाहरण है । आगे स्वयं भानुमती द्वारा किए जानेवाले अरति-निग्रहका उल्लेख करते हैं ।

फिर अपना अवसर आनेपर—

"भानुमती—[अर्घपात्र लेकर और सूर्यके सामने खड़े होकर] हे भगवन् ! आकाश रूप महासरोवरके अद्वितीय कमल ! दिग्वधूके मुख-मण्डलके कुंकुम-बिन्दु ! और समस्त भुवनोंके [प्रकाशित करनेवाले] रत्नदीप ! आज स्वप्न-दर्शनमें जो-कुछ महाभय [अत्याहितं महाभीतिः] उपस्थित हुआ वह आपको प्रणाम करनेसे, भाइयों सहित आर्यपुत्रके लिए कुशल परिणामका जनक हो ।

इसमें दुःस्वप्नसे उत्पन्न अरतिका निग्रह [स्वयं भानुमती कर रही है । अतः शमनका उदाहरण है] ।

(९) पुष्प—

अब 'पुष्प' [नामक प्रतिमुखसंधिके नवम अंगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ७१]—विशेषतासे युक्त वाक्य 'पुष्प' [नामक अंग होता है]—

पहिले स्वयं ही, अथवा किसी दूसरेके द्वारा कहे गए वाक्यकी अपेक्षासे जो विशेषतायुक्त वचन [बादको] उसीके द्वारा अथवा अन्य [वक्ता] के द्वारा प्रयुक्त किया जाता है । पूर्व

"भीष्मः—

एतत् ते हृदयं स्पृशामि यदि वा साक्षी तवैवात्मजः,
सम्प्रत्येव तु गोग्रहे यदभवत् तत् तावदाकर्ण्यताम्।
एकः पूर्वमुदायुधैः स बहुभिर्दृष्टस्ततोऽनन्तरं,
यावन्तो वयमाहवप्रणयिनस्तावन्त एवार्जुनाः।"

अत्रोत्तरार्धं विशेषवद्वाक्यम्।

यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे—

"वसुभूतिः—[सरोषं राजानं प्रति]—

न नाम स्युः स्वर्ण-क्षिति-सुत-कलत्राणि यतिनां,
तदस्मै यद्दत्तं तदिह निखिलं भस्मनि हुतम्।
विहाय व्यामोहं विमृश विमृशाद्यापि नृपते!
तपोव्याजच्छन्नं किमपि नियतं दैवतमिदम्॥

कुलपतिः-[सोपहासम्] अरे मुखर! सचिवापसद! चिराद् यथार्थमभिहितवानसि। दुस्तप-तपःकरकलितस्वर्गापवर्गशर्मणो मर्त्यापदेशेन दैवतान्येव मुनयः।"

वाक्यकी अपेक्षा विशेषता-युक्त वह वाक्य पुष्पके समान [होनेसे] 'पुष्प' कहलाता है। पुष्प जिस प्रकार केशरचनाका अलङ्कार होता है इसी प्रकार [विशेषवत् उत्तर वाक्य] पूर्व-वाक्य का शोभा-धायक होता है। जैसे 'विलक्षदुर्योधन' में—

"भीष्म [दुर्योधनसे कह रहे हैं]—

यह मैं तुम्हारे हृदयका स्पर्श करके [तुम्हारी शपथ खाकर कह रहा हूँ] अथवा तुम्हारा ही पुत्र इसका साक्षी हो सकता है। कि अभी गौओंको पकड़ते समय जो-कुछ हुआ उसको पहिले सुन लो। पहिले [युद्धके आरम्भ होते समय] शस्त्र उठाए हुए [हम] बहुतसे लोगोंने उस अकेले [अर्जुन] को देखा था और उसके बाद [जब युद्धमें गर्मी आई तो] हम लोग जितने ही [उसके साथ] युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले थे [उनमेंसे प्रत्येकके साथ युद्ध करनेके लिए प्रस्तुत] उतने ही अर्जुन दिखलाई देते थे।"

इसमें [श्लोकका] उत्तरार्द्ध [पूर्वार्द्धका विशेषक होनेसे] 'विशेषवत्' है।

अथवा जैसे सत्यहरिश्चन्द्रमें—

"वसुभूति [क्रोधमें आकर राजाके प्रति कहते हैं]—

संन्यासियोंके पास सोना, पृथिवी, पुत्र, कलत्रादि नहीं होने चाहिए इसलिए आपने इस [कुलपति साधु] को जो कुछ [अपना राज्य और स्वर्ण आदि] दिया है वह सब भस्ममें डाली आहुतिके समान व्यर्थ है। इसलिए [मेरी प्रार्थना है कि इस] व्यामोहको तोड़कर [कि यह कोई महात्मा है] हे राजन्! आप अब भी विचार कीजिए [इसके चक्करमें मत पड़िए] यह तो तपस्वीके वेषमें छिपा हुआ निश्चय ही कोई देवता है [जो आपकी परीक्षा लेनेकेलिए आया हुआ प्रतीत होता है]।

कुलपति—[उपहास करते हुए] अरे वाचाल! नीच मन्त्री! बहुत देर बाद तूने ठीक बात कही है। दुष्कर तपरूपी हाथके द्वारा स्वर्ग और अपवर्ग सुखको प्राप्त करनेवाले मुनिगण [सचमुच] देवता ही होते हैं।

अत्र वसुभूतिवाक्यादुत्तरवाक्यं समर्थकत्वेन विशेषवदिति ॥ ४६ ॥

(१०) अथ प्रगमनम्—

[सूत्र ७२]—प्रगमः प्रतिवाक्-श्रेणिः

प्रश्नप्रतिपन्थिनी वाक् प्रतिवाक्। तस्याः श्रेणिः। अपकर्षतो द्वे प्रतिवचने, उत्कर्षतो बहून्यपि। यथा वेणीसंहारे—

"भानुमती—अय्यउत्त ! अदिमत्तं मे संका बाधदि। ता अणुमन्नेदु मं अज्जउत्तो। [आर्यपुत्र ! अतिमात्रं मां शंका बाधते। तदनुमन्यतामामार्यपुत्रः। इति संस्कृतम्]

राजा—अयि देवि !

किं नो व्याप्तदिशां प्रकम्पितभुवामक्षौहिणीनां फलं,
किं द्रोणेन किमंगराजविशिखैरेवं यदि क्लाम्यसि।
भीरु ! भ्रातृशतस्य मे भुजवनच्छायासुखापाश्रिता,
त्वं दुर्योधनकेसरीन्द्रगृहिणी शंकास्पदं किं तव ॥

इसमें वसुभूतिके वाक्यके बादका [कुलपतिका] वाक्य [पूर्व वाक्यके अर्थका] समर्थक होनेसे 'विशेषवत्' है [इसलिए यह भी 'पुष्प' नामक अंगका उदाहरण है]।

पहिले उदाहरणमें पूर्व वाक्य तथा उत्तर वाक्य दोनोंके वक्ता भीष्म थे। इसमें दोनों के वक्ता अलग-अलग हैं यह भेद है।

(१०) प्रगमन—

अब 'प्रगमन' [नामक प्रतिमुख सन्धि के दशम अंगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ७२]—प्रश्नोत्तर-परम्परा [का नाम] 'प्रगम' है।

प्रश्नकी विरोधिनी [अर्थात् प्रश्नको समाप्त करने वाली उत्तर रूप] वाणी 'प्रतिवाक्' [कहलाती] है। उसकी श्रेणी [अर्थात् परम्परा 'प्रतिवाक्-श्रेणि' हुई। उसीको प्रगमन अङ्ग के नामसे कहते हैं। उस परम्परामें] कम-से-कम दो प्रतिवचन हों। अधिक तो बहुत भी हो सकते हैं। [उसका उदाहरण] जैसे वेणीसंहारमें—

"भानुमती—आर्यपुत्र ! [स्वप्न-दर्शनके कारण] मुझे [अनिष्टकी] शंका बहुत सता रही है। इसलिए आप मुझे [व्रतोपवासादि द्वारा उस अनर्थके प्रतिविधान करनेके लिए] अनुमति प्रदान करें।

राजा—अयि देवि !

[यदि तनिकसे अशुभ स्वप्नके दीख जानेसे तुम इस प्रकार डर जाती हो तो फिर] चारों दिशाओंमें व्याप्त, और पृथिवीको कम्पित कर सकने वाली हमारी अक्षौहिणी सेनाओं का क्या फल है ? यदि तुम इस प्रकार दुःखी हो रही हो तो [हमारे महारथी आचार्य] द्रोण [के रहने] से क्या लाभ हुआ ? और अंगराज [कर्ण] के [शक्तिशाली] बाणोंका क्या उप-योग हुआ ? [अर्थात् इन लोगोंके रहते हमारा कोई किसी प्रकारका भी अनिष्ट सम्भव नहीं है इसलिए तुमको घबड़ाने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है] हे भीरु ! तुम मेरे सौ भाइयों के भुज-समूहकी छायामें बैठी हुई दुर्योधन रूप मृगराजकी पत्नी हो, तुम्हारे लिए डरनेका क्या कारण हो सकता है। [इसलिए तुम बिल्कुल मत डरो। हमारा कोई अनिष्ट नहीं होगा]।

भानुमती—अय्याउत्त ! न हु मे किंचि संका तुम्हेसु सन्निहिदेसु। इति।

[आर्यपुत्र ! न हि मे काचिच्छंका युष्मासु सन्निहितेषु। इति संस्कृतम्]

यथा वा नलविलासे तृतीयेऽङ्के—

"दमयन्ती—[भुजमवलम्बिते राजनि क्रमादाह-] जई एवं मुंच मे पाणिं।

[यद्येवं मुंच मे पाणिम्। इति संस्कृतम्]।

राजा—कथमपराधकारी मुच्यते ?

दमयन्ती—किं एदिणा अवरद्धं।

[किमेतेनापराद्धम्। इति संस्कृतम्]।

राजा—एतेन मत्प्रतिकृतिमालिख्य अहमियति विरहानले पातितः।

दमयन्ती—[स्मित्वा] जइ एवं ता अहं पि ते पाणिं गहिस्सं। तव पाणि-लिहिदेन पडेण अहं पि एतावत्थसरीरा जादा। इति

[यदि एवं तदाहमपि ते पाणिं ग्रहीष्ये। तव पाणिलिखितेन पटन अहमेत-दवस्थशरीरा जाता। इति संस्कृतम्]।

(११) अथ वज्रम्—

[सूत्र ७३]—वज्रं प्रत्यक्षकर्कशम्।

यन्निष्ठुरत्वात् प्रत्यक्षरूक्षं वाक्यं यच्च पूर्वप्रयुक्तस्यान्यवाक्यस्य अनुष्ठानस्य वा प्रध्वंसकं तद् वज्रमिव वज्रम्। यथा वेणीसंहारे—

भानुमती—हे आर्यपुत्र [सचमुच ही] आपके समीप रहने पर मेरे लिए कोई शंका [का स्थान] नहीं है।"

इसमें दुर्योधन तथा भानुमतीके प्रश्नोत्तरके रूपमें प्रतिवाक्-श्रेणि दिखलाई गई है। इसलिए यह 'प्रगम' नामक अङ्गका उदाहरण है।

अथवा जैसे नलविलासमें तृतीय अंकमें—

"दमयन्ती—यदि ऐसी बात है तो मेरा हाथ छोड़ दो।

राजा—अपराधीको कैसे छोड़ा जा सकता है ?

दमयन्ती—इसने क्या अपराध किया है ?

राजा—इसने मेरी तस्वीर बनाकर मुझे इस प्रकारके विरहानलमें डाल दिया है।

दमयन्ती—तो फिर मैं भी तुम्हारा हाथ पकड़ूँगी। तुम्हारे हाथके द्वारा लिखे गए पटके कारण मेरे शरीरकी यह हालत हो गई है।

इसमें नल-दमयन्तीके उत्तर-प्रत्युत्तरकी परम्परा होनेसे यह भी 'प्रगम' अङ्गका उदा-हरण है।

(११) 'वज्र'

अब 'वज्र' [नामक प्रतिमुख सन्धिके ग्यारहवें अंगका लक्षण आदि कहते हैं]—

प्रत्यक्ष रूपसे कर्कश [प्रतीत होने वाला वचन] 'वज्र' [कहलाता] है।

जो वाक्य कठोर होनेके कारण स्पष्ट रूपसे ही रूक्ष है और पूर्व कहे हुए वाक्य अथवा [पूर्व किए हुए] कार्यका विनाश कर देता है वह वज्रके समान [कठोर और कार्य-विध्वंसक] होनेसे 'वज्र' [कहलाता] है। जैसे वेणीसंहारमें—

"अश्वत्थामा—[कर्णमुद्दिश्य] रे रे राधागर्भभारभूत सूतापसद !
कथमपि न निषिद्धो दुःखिना भीरुणा वा,
द्रुपदतनयपाणिस्तेन पित्रा ममाद्य ।
तव भुजबलदर्पाध्मायमानस्य वामः,
शिरसि चरण एष न्यस्यते वारयैनम ॥"

यथा वा कृत्यारावणे द्वितीयेऽङ्के—

"रावण—विदेहराजपुत्रि !
विक्रमेण मया लोकाः, त्वया रूपेण निर्जिताः ।
सब्रह्मचारिणमतो भजमानं भजस्व माम् ॥

सीता—हदास ! अप्पा दाव तए न निज्जिदो, का गणणा लोएसु ।"
[हताश आत्मा तावत् त्वया न निर्जितः, का गणना लोकेषु । इति संस्कृतम्]
अनेन प्रत्यक्षकर्कशेन वाक्येन रावणवचनं प्रध्वस्तम् ।

यथा वा रघुविलासे—

"रामः—[विराधवेशं रावणं प्रति साक्षेपम्]—
युद्धश्राद्धमयाः सकुट्टिमतटीशाणानिशाताश्रयाः,
देवीमप्यनलम्भविष्णव इमे त्रातुं पृषत्का यदि ।
मथ्नन्तः पृथुपुंखपत्रपवनैर्धम्मिल्लमाल्यश्रियं
निर्भिद्यः कथमिद्धकीकशघनां पौलस्त्यकण्ठाटवीम् ॥"

"अश्वत्थामा—[कर्णको लक्ष्य करके] अरे राधाके गर्भके भारभूत नीच सूत !

[यह ठीक है कि] दुःखी अथवा [तेरे कहनेके अनुसार] भीरू मेरे उन पिता [द्रोणाचार्य] ने किसी कारणसे आज द्रुपदतनय [धृष्टद्युम्न] के [अपना शिरको काटनेके लिए उद्यत] हाथको नहीं रोका, [उसे जाने दे] पर ले भुजबलके दर्पसे फूलने वाले तेरे सिरपर यह मैं अपना बांया पैर रखता हूँ [तेरे भीतर सामर्थ्य हो तो] इसको रोक [के दिखला] ।

यह वज्रके समान प्रत्यक्ष-कर्कश वचन 'वज्र' नामक अङ्गका उदाहरण है ।

अथवा जैसे 'कृत्यारावण' के द्वितीय अङ्कमें—

रावण—हे जानकि !

मैंने अपने पराक्रमसे, और तुमने अपने रूपसे लोकोंको जीत लिया है [इसलिए हम दोनों सहाध्यायी है] इसलिए अपने चाहने वाले अपने सब्रह्मचारी [सहाध्यायी मुझ रावण] को [तुम भी] प्रेम करो ।

सीता—अरे नीच ! तूने तो अपने [आत्मा] आपको ही नहीं जीत पाया है, लोकों [के जीतने] की तो बात ही कहाँ हैं ?

इस प्रत्यक्ष-कर्कश वाक्यसे रावणका वचन [प्रध्वस्त] कट जाता है । [इसलिए यह 'वज्र' नामक अङ्गके दूसरे भेदका उदाहरण हुआ ।] ।

अथवा जैसे रघुविलासमें [कार्य-विध्वंस रूप वज्रके तृतीय भेदका उदाहरण]—

[विराधवेष-धारी रावणके प्रति राम कहते हैं]—

युद्धकी श्रद्धासे भरे हुए पक्के फर्श वाली पहाड़की तटी रूप शाण [पर घिसने]

यथा वात्रैव—

वैनतेयः—[रामं प्रति] अजितेन्द्रियः खलु दुरात्मा रावणो न क्षाम्यति कलितसौभाग्यसाराणां परदाराणाम्। तदियमार्या वैदेही क्वचिदपि गोपयितुमुचिता।

लक्ष्मणः—अजितेन्द्रियः खलु दुरात्मा सूर्यहासो न क्षाम्यति पापीयसां पुंसाम्। तदियमार्या वैदेही न क्वचिदपि गोपायितुमुचिता।" इति।

अनेन वैनतेयवचनं प्रध्वस्तमिति।

(१२) अथोपन्यासः—

[सूत्र ७४]—उपपत्तिरुपन्यासः—

कंचिदर्थं विधातुं या उपपत्ति-र्युक्तिःस उपन्यासः। यथा कृत्यारावणे—

"रावणः—सीते आरुह्यतां पुष्पकम्।

सीता—हृतास ! अवि मरिस्सं न पुण आरुहिस्सं।

[हताश ! अपि मरिष्यामि न पुनरारोक्ष्यामि। इति संस्कृतम्]।

रावणः—आः ! किं बहुना यावत् करेण दृढपीडितमुष्टियन्त्रमुत्खाय चन्द्रकिरणद्युतिचन्द्रहासेन त्वत्पुरो बटुशिरःकमलोपहार आरभ्यते। समधिरोह शिवाय तावत्।

से तीव्र धार वाले यदि मेरे ये बाण देवी [सीता] की रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सकें तो अपने दीर्घ पुंख पत्रोंकी हवासे [रावणके] केशोंकी शोभा को नष्ट करते हुए अत्यन्त कठोर एवं सघन रावणके शिरोंके झुण्डको ये बाण कैसे काटेंगे।

अथवा जैसे यहाँ [रघुविलासमें] ही [इसका एक और उदाहरण]—[अजितेन्द्रिय]

"वैनतेय—[रामके प्रति] दुष्ट रावण बड़ा कामी है वह दूसरोंकी सुन्दर स्त्रियोंको सहन नहीं करता है। इसलिए इन आर्या वैदेहीको कहीं छिपाकर रखना ही उचित है।

लक्ष्मण—[तो फिर हमारा या चन्द्रहास नहीं अपितु] सूर्यहास [खड्ग] भी बड़ा दुष्ट और [अजितेन्द्रिय अपने] वशमें न रहने वाला है। वह पापी पुरुषों को क्षमा नहीं करता है। इसलिए इन आर्या वैदेहीको कहीं छिपानेकी आवश्यकता नहीं है।

इस [लक्ष्मण-वचन] से वैनतेयके वचनका काट हो जाता है।

(१२) उपन्यास—

अब 'उपन्यास' [नामक प्रतिमुख सन्धिके १२वें अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ७४]—[किसी कार्यके लिए] युक्तिको प्रस्तुत करना 'उपन्यास' [कहलाता है]।

किसी कार्यको करनेके लिए जो युक्ति वह 'उपन्यास' है। जैसे कृत्यारावणमें—

रावण—हे सीते ! पुष्पक विमानपर चढ़ जाओ।

सीता—अरे नीच, मैं मर भले ही जाऊँ पर चढ़ूँगी नहीं।

रावण—अच्छा, अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं—तो ले मैं ज़ोरसे मूठको पकड़ कर चन्द्र-किरणोंके समान द्युति वाली तलवारको निकालकर तेरे सामने इन बटुओं [तपस्वी ब्रह्मचारियों] के शिरों-रूपी कमलों [को काट कर] उपहार देना आरम्भ करता हूँ। भला चाहो तो चढ़ जाओ।

सीता—वरं अत्तणो सरीरस्स अच्चाहिदं, न उण तवोधणाणं । इय अधिरुहामि मंदभाइणी । हा अज्जपुत्त ! [इति रुदती आरोहं नाटयति] इति ।

[वरमात्मनः शरीरस्य अत्याहितं, न पुनस्तपोधनानाम् ।

इयमधिरोहामि मन्दभागिनी । हा आर्यपुत्र ! इति संस्कृतम्]

यथा वा रघुविलासे—

विराधवेषो रावणः—[रामं प्रति] आगन्तवो यूयं, अहं पुनराकलितविपिनकुहरो वनेचरदेशीयः । प्रभूतान्तरायं सम्परायं च रावणप्रमुखेभ्यो रक्षोभ्यः सम्भावयामि भवताम् । वधूवागुरानियन्त्रितमनसश्च कुत एव योद्‌धुमलम्भविष्णवः । तदियमार्या वैदेही किमपि वनकुहरमलंकुरुताम् ।"

इयमपहारार्थिना रावणेन सीतामेकाकिनीं कर्तुं युक्तिर्दर्शिता । इति ।

(१३) अथानुसर्पणम्—

[सूत्र ७५]—नष्टेष्टेहा ऽनुसर्पणम् ॥ ५० ॥

पूर्वमुपलब्धस्य पुनरन्तरितस्य इतिवृत्तवशादभिलषितस्यार्थस्य ईहा अन्वेषणं अनुसर्पणम् । यथा पार्थविजये द्वितीयेऽङ्के द्रौपदी युधिष्ठिरमुद्दिश्याह—

"द्रौपदी—महाराय इमाहिं य्येव दिवसपरिवत्तणगणणाहि किणीभदपाभवुव्वेयदुक्खस्स मे हिययस्स पम्हुट्ठो विय अणज्जदुस्सासणेण अत्तणो केसग्गहावमाणवुत्तंतो ।

सीता—अपने शरीरको भयमें डाल देना अच्छा है किन्तु तपस्वियोंको [संकटमें डालना उचित] नहीं । अच्छा मैं मंदभागिनी चढ़ती हूँ । हा आर्यपुत्र ! [ऐसा कहकर रोती हुई वैदेही पुष्पक विमानपर] आरोहणका अभिनय करती है ।"

अथवा जैसे रघुविलासमें [उपन्यासका दूसरा उदाहरण]—

"विराध वेषधारी रावण [रामके प्रति कहता है] आप लोग [बाहरसे] आए हुए हैं । और मैं इस वनकी कुहरोंको छाना हुआ लगभग वनचर हूँ । इसलिए मैं रावण आदि राक्षसों के द्वारा [आपके मार्गमें] अनेक विघ्नों तथा युद्धोंकी सम्भावना करता हूँ । [उस समय] स्त्री के झंझटमें आपका मन उलझा होनेसे आप उनके साथ लड़नेमें कैसे सफल हो सकेंगे । इसलिए इन आर्या वैदेहीको वनकी किसी गुफामें रख दीजिए ।

सीताके अपहरणके चाहनेवाले रावणने सीताको अकेला करनेके लिए यह युक्ति दिखलाई है [अतः यह भी 'उपन्यास' अङ्गका उदाहरण है] ।

(१३) अनुसर्पण—

अब 'अनुसर्पण' [नामक प्रतिमुखसंधिके तेरहवें अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ७४]—विस्मृत हुए इष्ट अर्थका पुनः अनुसंधान 'अनुसर्पण' [कहलाता] है ।५०।

पहिले [एक बारके अनुभव द्वारा] प्राप्त हुए, फिर [किसी कारणसे] विस्मृति द्वारा लुप्त हुए, अभिलषित अर्थका कथाप्रसंगके वशसे फिर दुबारा अनुसंधान [या स्मृति] अनुसर्पण [नामक अङ्ग कहलाता] है ।

जैसे पार्थविजयके द्वितीय अङ्कमें द्रौपदी युधिष्ठिरसे कहती है—

[महाराज आभिरेव दिवसपरिवर्तनगणनाभिः किणीभूतपरिभवोद्वेगदुःखस्य मे हृदयस्य प्रस्मृत एवानार्यदुःशासनेन स्वात्मनः केशग्रहापमानवृत्तान्तः। इति संस्कृतम्]।

अथ प्रागनुभवाद् दृष्टं निष्प्रतीकार-कालहरणात् प्रस्मृतं नष्टमिति ब्रुवती पुनस्तमनुस्मरतीति ॥ ५० ॥

एतानि प्रतिमुखसन्धेरंगानि त्रयोदशेति ॥

[३] अथ गर्भसन्धेरंगानि व्याख्यातुमुद्दिशति—

[सूत्र ७६]—संग्रहो रूपमनुमा प्रार्थनोदाहृतिः क्रमः।
उद्वेगो विप्लवश्चैतद् गुणतः कार्यमष्टकम् ॥५१॥
आक्षेपोऽधिबलं मार्गो सत्याहरण-तोटके।
पञ्चैतानि प्रधानानि गर्भेऽङ्गानि त्रयोदश ॥५२॥

'गुणतः' इति गुणभावेन, गुणमुपकारमपेक्ष्य वा। तेन फलोद्भेददर्शनार्थं संग्रहोऽवश्यं निबन्धनीयः। आक्षेपादीनि तु मुख्यानीति ॥५१-५२॥

(१) अथ संग्रहः

[सूत्र ७७]—संग्रहः साम-दानादिः

साम-दाने दण्ड-भेदयोरुपलक्षणम्। आदिशब्देन मायेन्द्रजालादिसंग्रहः।

यथा रत्नावल्याम्—

हे महाराज ! इन्हीं दिनोंके परिवर्तनोंको गिनते हुए मैं, हृदयमें गाँठ-सी डाल देने वाले [घाव या बार-बारकी रगड़से शरीरके किसी स्थानपर जो कडी गाँठ-सी बन जाती है उसको किण कहते हैं] दुःशासनके द्वारा किए गए अपने बालोंके खींचे जानेके अपमानके वृत्तांतको भूल गई थी।

यहाँ [इस कथनमें] पहिले [केशग्रहणके कालमें] अनुभव द्वारा प्राप्त और प्रतिकार के बिना ही कालके व्यतीत होनेके कारण भूले हुए [दुःख] को इस प्रकार कहती हुई [द्रौपदी] उसको फिर स्मरण करती है। [अतः यह 'अनुसर्पण' का उदाहरण है]।

ये प्रतिमुखसंधिके तेरह अङ्ग हैं ॥

(३) गर्भसन्धिके तेरह अङ्ग—

अब गर्भसन्धिके अंगोंकी व्याख्या करनेके लिए उनके नाम गिनाते हैं।

[सूत्र ७६]—१. संग्रह, २. रूप, ३. अनुमा, ४. प्रार्थना, ५. उदाहृति, ६. क्रम, ७. उद्वेग, ८. और ९. विप्लव। ये आठ [अंग] गौण रूपमें [या विशेष प्रयोजनवश प्रयुक्त] करने चाहिए। ५१।

९. आक्षेप, १०. अधिबल, ११. मार्ग, १२. असत्याहरण और १३. तोटक। ये पाँच अंग गर्भसंधिमें प्रधान [अंग] हैं। इस प्रकार [गर्भसंधिके] तेरह अंग [होते] हैं। ५२।

(१) संग्रह—

[सूत्र ७७]—[सबसे पहिले] 'संग्रह' नामक गर्भसंधिके अंगका लक्षण करते हैं]— साम दान आदि [के प्रयोगको] 'संग्रह' [कहा जाता] है। जैसे रत्नावलीमें—

"राजा—वयस्य न खलु किञ्चित् त्वयि न सम्भाव्यते।" इति साम।

संकेतादिवार्तां श्रुत्वा कटकवितरणं तु दानम्।

[भेदो] यथा रघुविलासे पञ्चमेऽङ्के क्रमात् पवनवेषो राक्षसः प्राह—

"राक्षसः—प्रसीदतु देवः।

रावण—गृहाण प्रसादम्। [पुनः प्रतीहारं प्रति] वराहतुण्ड! समादिश कुमारं कुम्भकर्णं यथा पवनं किष्किन्धाराज्ये त्वरितमभिषिञ्च।"

एष दौत्यार्थमागतवतो बालितनयस्य क्षोभार्थं कृतको हनुमत्पितुः सुग्रीवाद् भेदः प्रयुक्तः।

यथा वात्रैव चतुर्थेऽङ्के रावणः—

"यायावरेण किमनेन वनेचरेण,
मां स्थावरं वरमुपास्व कुरङ्गकाक्षि।
किं वा स्तुवे तव पुरश्चतुरस्थितीनां,
वैदग्ध्यसौरभवती भवती प्रकाण्डम्॥

सीता—को वा जाजावरो को वा थावरु त्ति विवेगं लक्खणनारायपद्धई वाविकरिस्सइ। [को वा यायावरः को वा स्थावर इति विवेकं लक्ष्मणनाराचपद्धतिराविष्करिष्यति। इति संस्कृतम्]।

रावणः [सरोषं चन्द्रहासं परामृश्य]—

"राजा—हे मित्र! तुम्हारे लिए कोई बात असम्भव नहीं है।" यह साम है।

[उसके बाद उसी द्वितीयाङ्कमें] संकेतादिकी बात सुनकर कटकका देना, दान [अंगका प्रयोग] है।

[भेद-प्रयोगका उदाहरण] जैसे रघुविलासमें पञ्चमाङ्कमें [वार्तालापके] क्रमसे हनुमान के पिता] पवनका वेष धारण किए हुए [मायावी] राक्षस कहता है—

"राक्षस—हे महाराज! आप प्रसन्न हों।

रावण—[हमारे] प्रसादको ग्रहण करो। [फिर प्रतिहारसे] हे वराहतुण्ड! कुमार कुम्भकर्णको [मेरी ओरसे] आज्ञा दो कि पवनकुमारको शीघ्र [जाकर] किष्किन्धाके राज्यपर अभिषिक्त करे।"

इसमें [रामकी ओरसे] दूत बन कर आए हुए अंगदके क्षोभके लिए हनुमानके पिता [पवनकुमार] का सुग्रीवसे यह बनावटी भेद दिखलाया गया है।

अथवा जैसे यहीं [अर्थात् रघुविलासमें ही] चतुर्थ अङ्कमें रावण [कहता है]—

"रावण—हे मृगके समान नेत्रों वाली सीते। सर्वदा मारे-मारे फिरने वाले [अतिशयेन याति इति यायावरः] इस [रामचन्द्रके पास रहने] से क्या लाभ है। सदा स्थिर [एक स्थान पर] रहने वाले मुझको अपना वर बना लो। तुम्हारे सामने मैं [अपनी] क्या बड़ाई करूँ, तुम तो स्वयं चतुरोंकी स्थितिमें अत्यन्त समझदार प्रसिद्ध हो।

सीता—कौन मारा-मारा फिरने वाला या कौन स्थिर रहने वाला है इस बातको तो लक्ष्मणके बाणोंकी पंक्ति ही प्रकट करेगी।

रावण—[क्रोधपूर्वक तलवारको पकड़ता हुआ]

प्रेमावनद्धहृदयः सर्वं लंकेश्वरः सुदति ! सोढा ।
सोढा न चन्द्रहासः पुनरयमुल्लुण्ठवृत्तानाम् ।"

एष सीताक्षोभार्थं रावणेन दण्डः प्रयुक्तः ।

मायाप्रयोगश्चात्रैव कृतकलक्ष्मणसुग्रीवानयन-रावणसीताघटनादिको निबद्ध इति ।

(२) अथ रूपम्—

[सूत्र ७८]—रूपं नानार्थसंशयः ।

नानारूपाणामर्थानां संशयोऽनवधारणं रूपमिव रूपम् । अनियतो ह्याकारो रूपमुच्यते । मुखसन्ध्यंगाद् युक्तेः कृत्यविचाररूपत्वेन नियताकाराया अस्य भेदः ।

यथा कृत्यारावणे रामो जटायुषमप्रत्यभिजानन्नाह—

"गिरिरयममरेन्द्रेणाद्य निलूनपक्षः,
कृतरिपुरसुरेशैः शातितो वैनतेयः ।
अपरमिह मनो मे नः पितुः प्राणभूतः,
किमुत बत स एष व्यपेतायुर्जटायुः ॥" इति ।

अन्ये त्वधीयते—'रूपं वितर्कवद् वाक्यम्' इति ।

हे सुन्दर दाँतों वाली सीते ! प्रेमसे आबद्ध हृदय होनेके कारण लंकेश्वर [अर्थात् मैं रावण] तो सब कुछ [अर्थात् तुम्हारी उचित-अनुचित सब बातें] सह लेगा किन्तु [यह ध्यान रखो कि] लुटेरों [अर्थात् राम लक्ष्मण] के आचरणोंको यह तलवार सहन नहीं करेगी ।"

सीताको डरानेके लिए रावणने यह दण्डका प्रयोग किया है ।

और इसी [रघुविलासमें] में लक्ष्मण सुग्रीव आदिके बनावटी आनयन और सीता रावणके बनावटी सम्मिलनके वर्णन द्वारा मायाका प्रयोग किया गया है ।

(२) रूप—

अब 'रूप' [नामक गर्भसन्धिके द्वितीय अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

अनेक प्रकारके अर्थोंका संशय [वर्णन करना] 'रूप' [कहलाता] है ।

अनेक प्रकारके अर्थोंका [एक जगह] संशय अर्थात् [किसी एकका] निश्चय न कर सकना रूप [अर्थात् अनियताकार] के समान होनेसे 'रूप' [कहलाता] है । अनियत आकारको 'रूप' कहा जाता है । कार्यके विचार-रूप और नियत आकार वाले 'युक्ति' [नामक] मुख-सन्धिके अङ्गसे [अनियत आकार होनेके कारण] इस [गर्भसन्धिके 'रूप' नामक अंग] का भेद [स्पष्ट] है । [इस 'रूप' नामक अंगका उदाहरण] जैसे कृत्यारावणमें [रावणके द्वारा मारे गए] जटायुको न पहिचान सकने पर राम कहते हैं—

क्या आज देवराज इन्द्रने इस पर्वतके पंख काट डाले हैं ? अथवा दैत्योंके राजाने वैरके कारण गरुडको काट कर डाल दिया है । मेरे मनमें एक और बात भी आती है कि अथवा ये हमारे पिताजीका प्राणभूत [घनिष्ट मित्र] मरे हुए जटायु हैं ।

इसमें मृत जटायुको देखकर नाना प्रकारके अर्थोंका संशय दिखलाया गया है इसलिए यह 'रूप' नामक अङ्गका उदाहरण है ।

दूसरे लोग—'वितर्क युक्त वाक्य 'रूप' है' इस प्रकार ['रूप' का लक्षण] पढ़ते हैं ।

यथा रत्नावल्यां राजा क्रमादाह—

"प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शंकिता,
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो,
रमयतितरां संकेतस्था तथापि हि कामिनी॥

कथं चिरयति वसन्तकः ? किं खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्याः।"

इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्यानुगुण्येनैव देवीशंकया वितर्काद् रूपमिति।

अन्ये तु—'चित्रार्थं रूपकं वचः' इति पठन्ति।

यथा वेणीसंहारे सुन्दरकेण चित्रसंग्रामवर्णनमिति।

(३) अथ अनुमानम्—

[सूत्र ७६]—अनुमा निश्चयो लिंगात्।

लिंगाद्धेतोर्नान्तरीयकस्य लिंगिनो निश्चयोऽनुमानम्। निश्चयरूपत्वेन च ऊह-रूपाया युक्तेर्भिद्यते। यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकामण्डपशिलातलमव-लोक्य वत्सराजः—

[उसका उदाहरण] जैसे रत्नावलीमें क्रमसे राजा कहता है—

भयभीत होनेके कारण मुखकी ओर प्रेमपूर्वक [निर्भय होकर] देख नहीं पाती है गले में आलिंगन करती हुई भी आनन्दमग्न होकर जोरसे स्तनोंको नहीं चिपटाती है। प्रयत्नपूर्वक पकड़ने पर भी बार-बार मैं जाती हूँ यह कहती है। फिर भी संकेतवश आई हुई कामिनी अत्यन्त आनन्द प्रदान करती है।

वसन्तक [विदूषक न जाने] देर क्यों कर रहा है [अभी तक आया नहीं] ? कहीं यह समाचार देवी [वासवदत्ता] को मालूम तो नहीं हो गया।"

इस [कथन] से रत्नावलीके साथ समागमके अनुकूल ही देवी [वासवदत्ता] की शंका से वितर्क होनेके कारण 'रूप' [अङ्गका यह उदाहरण] है।

अन्य [आचार्य] तो—

'विचित्र अर्थ वाला रूप [कहलाता] है।' यह ['रूप'का लक्षण] बतलाते हैं [पठन्ति]।

जैसे वेणीसंहारमें [पंचम अङ्कमें] सुन्दरके संग्रामका विचित्र रूपसे वर्णन करता है [वह 'रूप' नामक अङ्गका उदाहरण है]।

(३) अनुमान—

अब 'अनुमान' [नामक गर्भसन्धिके तृतीय अंगका लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ७६]—लिंगके द्वारा [लिंगीका] निश्चय 'अनुमान' [कहलाता] है।

लिंग अर्थात् हेतुके द्वारा उससे अविनाभूत [नित्य सम्बद्ध] लिंगी [अर्थात् साध्य] का निश्चय करना 'अनुमान' [कहलाता] है। निश्चय रूप होनेके कारण ही ऊह रूप 'युक्ति' [नामक मुखसन्धिके अङ्ग] से इसका भेद है।

जैसे भास-विरचित स्वप्न वासवदत्तमें शेफालिका-मण्डपके शिलातलको देखकर वत्स-राज [उदयन कहते हैं]—

"पादाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम् ।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता ।।"

पूर्वार्द्धं लिंगम् । उत्तरार्द्धमनुमानम् ।

यथा वा यादवाभ्युदये षष्ठे गर्भाङ्के रुक्मिणीमवलोक्य कृष्णः—

"अस्यां मृगीदृशि दृशोरमृतच्छटायां,
देवः स्मरोऽपि नियतं वितताभिलाषः ।
एतत् समागममहोत्सवबद्धतृष्णाम्—
आहन्ति मामपरथा विशिखैः कथं सः ।।" इति

(४) अथ प्रार्थना—

[सूत्र ८०]—प्रार्थना भावयाचनम् ।।५३।।

भावानां साध्यफलोचितानां रति-हर्ष-उत्सवादीनां याचनं प्रार्थना ।

यथा देवीचन्द्रगुप्ते चतुर्थेऽङ्के चन्द्रगुप्तः—

"प्रिये माधवसेने ! त्वमिदानीं मे बन्धमाज्ञापय ।

कण्ठे किन्नरकण्ठि ! बाहुलतिकापाशः समासज्यतां,
हारस्ते स्तनबान्धवो मम बलाद् बध्नातु पाणिद्वयम् ।
पादौ त्वज्जघनस्थलप्रणयिनी सन्दानयेन्मेखला,
व त्वद्-गुणबद्धमेव हृदयं बन्धं पुनर्नार्हति ।।"

"फूल पैरोंसे कुचले हुए हैं और यह शिलातल गर्म हो रहा है। [इससे प्रतीत होता है कि] निश्चय ही यहाँ कोई [स्त्री] बैठी हुई थी जो मुझको देखकर सहसा चली गई है।"

इसमें पूर्वार्द्ध [भाग] लिंग है, और उत्तरार्द्ध [भाग] अनुमान है।

अथवा जैसे यादवाभ्युदयके छठे [अङ्कके] गर्भाङ्कमें कृष्ण [कहते हैं]—

नेत्रोंके लिए अमृतके समान [आल्हाद-दायिनी] इस मृगनयनीके विषयमें निश्चय ही कामदेवका उत्कट अभिलाष है। अन्यथा इसके समागमके महोत्सवके लिए उत्सुक मुझको [अपना प्रतिद्वन्द्वी और बाधक समझकर] यह अपने बाणों से क्यों मार रहा है ?"

इसमें कामदेवके बाणोंके प्रहार रूप लिंगसे कामदेवके नायिकाके प्रति अभिलाष रूप लिंगीका अनुमान किए जानेसे यह 'अनुमान' रूप अङ्गका उदाहरण है।

(४) प्रार्थना—

अब प्रार्थना [नामक गर्भसन्धिके चतुर्थ अंगका लक्षणआदि करते हैं]—

[सूत्र ८०]—भावोंकी याचना प्रार्थना [कहलाती] है।

साध्य फलके अनुरूप रति, हर्ष, उत्सव आदि भावोंकी याचना प्रार्थना [कहलाती] है।

जैसे देवीचन्द्रगुप्तके चतुर्थ अङ्कमें चन्द्रगुप्त [कहता है]—

[प्रिये माधवसेने ! तुम अब मेरे बन्धनकी आज्ञा [अपने अङ्गोंको इस प्रकार] दो—

हे किन्नरके समान [मधुर] कण्ठ वाली [प्रिये] ! अपनी बाहुलताका पाश मेरे गलेमें डालो। तुम्हारे स्तनोंका बान्धव [स्तनोंके साथ रहने वाला] हार जबरदस्ती मेरे दोनों हाथोंको बाँध ले। तुम्हारे जघनस्थलका आलिंगन करने वाली मेखला मेरे पैरोंको जकड़ ले। किन्तु पहिले ही तुम्हारे गुणोंसे बंधे हुए हृदयको दुबारा बाँधनेकी आवश्यकता नहीं है।

अत्र रते प्रार्थना ।

तथा कृत्यारावणे चतुर्थेऽङ्के सीताहरण-भ्रातृदुःखाच्च दुःखितो विफलान्वेषणो लक्ष्मणः—

"तदपि नामायमस्मद्वृत्तान्तस्य प्रतिक्षणमुपचीयमान-नायकव्यसनभाजोऽभ्युदयावसानः संहारो नाटकस्येव भवेत् ।"

अत्राभ्युदयात्मक उत्सवो लक्ष्मणेनार्थितः ।

केचिदभ्यर्थनामात्रं प्रार्थनामाहुः । यथा रघुविलासे कृतकहनूमत्पितृवेषो राक्षसः [रावणं प्रति]—

"यद् भग्नं विपिनं धनुर्धरकलादक्षो यदक्षो हतः,
शिक्षां लंघयतः क्षपाचरपते र्यन्मूर्ध्नि दत्तं पदम् ।
यद् वेश्मानि परःशतानि शिशुना क्षुण्णानि कापेयतः,
तत् क्षन्तव्यमशेषमेष पुरतस्ते देव ! बद्धोऽञ्जलिः ॥ इति ।

केचित् तु प्राक्तनमिदं चाङ्गं न मन्यन्ते ॥ ५३ ॥

(५) अथोदाहृतिः—

[सूत्र ८१]—उदाहृतिः समुत्कर्षः ।

इसमें रमणकी प्रार्थना है ।

और कृत्यारावणके चतुर्थ अंकमें सीताहरण तथा भाईके दुःखसे दुःखित [सीताके] अन्वेषणमें असफल लक्ष्मण [कहते हैं]—

"फिर भी क्या प्रतिक्षण बढ़ने वाली विपत्तियोंसे युक्त नायक वाले नाटकके उपसंहार के समान हमारा भी अभ्युदयमें पर्यवसान होगा ।"

यहाँ लक्ष्मणने अभ्युदयात्मक उत्कर्षकी कामना-प्रार्थना की है । [अतः यह 'प्रार्थना' नामक अंगका उदाहरण है] ।

कुछ लोग अभ्यर्थनामात्र [अर्थात् प्रत्येक प्रकारकी याचना] को 'प्रार्थना' कहते हैं । जैसे रघुविलासमें हनुमानके पिता [अर्थात् पवनकुमार] का बनावटी वेष धारण करनेवाला राक्षस [रावणके प्रति कहता है]—

[मेरे पुत्र हनुमानने लंकामें आकर] जो उद्यान उजाड़ा, और धनुर्धरोंकी कलामें दक्ष अक्षकुमारोंको मारा, और शिक्षाका उल्लंघन करनेवाले राक्षसराजके सिरपर जो पैर रखा, तथा वानरभावके कारण [कापेयतः] मेरे बच्चेने जो सैकड़ों घर जला डाले, हे देव ! उस सबको क्षमा करें । मैं [उसका पिता] आपके सामने यह मैं हाथ जोड़ता हूँ ।

इसमें पवनकुमारका वेष धारण किए हुए मायावी राक्षस, जो रावणसे हनुमानको क्षमा करनेकी याचना कर रहा है उसको भी 'प्रार्थना' अङ्ग कहा जा सकता है ।

कोई [आचार्य] तो इससे पहिले [अर्थात् अनुमानको] और इसको [अर्थात् प्रार्थना] को अंग नहीं मानते हैं ।

(५) उदाहृति—

अब 'उदाहृति' [नामक गर्भसंधिके पञ्चम अंगका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ८१]—[किसीके] समुत्कर्ष [का वर्णन] 'उदाहृति' [कहलाता] है—

लोकप्रसिद्धवस्त्वपेक्षया यः समुत्कर्षः समुत्कृष्टोऽर्थः स उत्कर्षाहरणा-दुदाहृतिः। यथा रत्नावल्याम्—

"राजा—अहो महदाश्चर्यम्—

मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लक्ष्यं च तथापि मे।
कामेनेदं कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः॥

अत्रेतरधन्विभ्यो मन्मथस्य युगपत् सर्वैः शरैः स्वभावचपल-दुर्लक्ष्यमनोवेधेन समुत्कर्षः।

(६) अथ क्रमः—

[सूत्र ८२]—क्रमो भावस्य निर्णयः।

भावस्य पराभिप्रायस्य, अथवा भाव्यमानस्यार्थस्य ऊह-प्रतिभादिवशा-न्निर्णयो यथावस्थितरूपनिश्चयः 'क्रम'। बुद्धिस्तत्र क्रमते, न प्रतिहन्यते इत्यर्थः।

यथा देवीचन्द्रगुप्ते—

"चन्द्रगुप्तः—[ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वगतमाह] इयमपि देवी तिष्ठति। यैषा—

रम्यां चारतिकारिणीं च करुणां शोकेन नीता दशां,
तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चान्द्री कला।
पत्युः क्लीवजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतो,
लज्जा-कोप-विषाद-भीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यति॥"

लोकप्रसिद्ध [सामान्य] वस्तुओंकी अपेक्षा [किसी वस्तुका] जो समुत्कर्ष है वह उत्कर्ष का आहरण [करनेवाला] होनेसे 'उदाहृति' [कहलाता] है। जैसे रत्नावलीमें—

"राजा—अरे! अहो! बड़े आश्चर्यकी बात है कि—

मन तो स्वभावतः ही चञ्चल और न दिखलाई देनेवाला है। फिर भी कामदेवने मेरे उस मनको एक साथ ही अपने सारे बाणोंसे विद्ध कर दिया है।"

यहाँ स्वभावतः चञ्चल और न दिखलाई देनेवाले मनको एक साथ ही सारे बाणोंसे वेध देनेके कारण अन्य धनुर्धारियोंकी अपेक्षा कामदेवका उत्कर्ष [वर्णित होनेसे यह 'समुत्कर्ष' नामक अंगका उदाहरण] है।

(६) क्रम—

अब 'क्रम' [नामक गर्भसंधिके षष्ठ अंगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ८२]—भावका निश्चय 'क्रम' [कहलाता] है—

भाव अर्थात् दूसरेके अभिप्रायका, अथवा ऊहा, प्रतिभा आदिके द्वारा भाव्यमान [विचार आदिमें निमग्न] अर्थके यथावस्थित रूप आदिका निश्चय 'क्रम' [कहलाता] है। उसके विषयमें बुद्धि क्रमण करती है [चलती है।] प्रतिहत नहीं होती है [इसलिए उसको 'क्रम' कहते हैं]। जैसे देवी चन्द्रगुप्तमें—

"चन्द्रगुप्त—[ध्रुवदेवीकी ओर देखकर] यह देवी भी बैठी हैं जो—

तत्काल आए हुए राहुके शिरके द्वारा कवलितकी हुई चन्द्रमाकी कलाके समान शोक के कारण रम्य होने पर भी दुःखदायिनी करुण अवस्थाको प्राप्त, पतिके पुरुष होने पर भी नपुंसकों-जैसे इस आचरणसे लज्जा, कोप, विषाद, भय अरतिसे ग्रस्त दुःखी हो रही है।

अत्र ध्रुवदेव्यभिप्रायस्य चन्द्रगुप्तेन निश्चयः।

तथा रत्नावल्याम्—

> ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
> द्वयोर्दृष्ट्वालापं कलयति कथामात्मविषयाम्।
> सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं,
> प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातंकविधुरा॥

अत्र राज्ञा भाव्यमानायाः सागरिकायाः स्वरूपावस्थानिर्णयः कृतः।

अन्ये तु—'क्रमः सञ्चिन्त्यमानाप्तिः' इत्याहुः। यथा रत्नावल्याम्—

वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषतो विदूषकेणोपवने योजनम्।

अन्ये तु भविष्यदर्थतत्त्वोपलब्धिं क्रममिच्छन्ति। यथा वेणीसंहारे—

"कृपः—राजन् दुर्योधन! महान् खलु द्रोणपुत्रेण वोढुमध्यवसितः समरभारः। भवता च कृतपरिकरोऽयमुच्छेत्तुं लोकत्रयमपि समर्थः। किं पुनरेतद् युधिष्ठिर-बलम्।" इति।

(७) अथोद्वेगः—

[सूत्र ८३]—उद्वेगो भीः

चौर-नृप-अरि-नायिकादिभ्यो भयमुद्वेगः। यथा अमात्यशंकुकविरचिते चित्रोत्पलावलम्बितके प्रकरणे पञ्चमेऽङ्के—

यहाँ ध्रुवदेवीके अभिप्रायका चन्द्रगुप्तके द्वारा निश्चय [होनेसे 'क्रम' का उदाहरण] है।

इसी प्रकार रत्नावलीमें—

"सब लोगोंको [मेरा वत्सराजके प्रति प्रेम] विदित हो गया है ऐसा समझ कर [सागरिका] सबसे मुख छिपाती है, [कहीं] दो जनोंको बात करते देखकर यह समझती है कि ये लोग मेरे विषयमें ही बात कर रहे हैं। सखियोंके मुस्करानेपर और भी अधिक शर्मा जाती है। इस प्रकार प्रिया [सागरिका] प्रायः हृदयमें बैठे हुए भयसे पीड़ित रहती है।"

इसमें राजाने भाव्यमान सागरिकाके स्वरूप तथा अवस्थाका निर्णय किया है [इस लिए यह भी 'क्रम' नामक अङ्गका उदाहरण है]।

अन्य लोग तो—'सञ्चिन्त्यमान अर्थकी प्राप्तिको 'क्रम' कहते हैं। जैसे रत्नावलीमें सागरिकाके समागमको चाहने वाले वत्सराजको उपवनमें विदूषकके द्वारा [सागरिकाके साथ] मिला देना। [योजना सञ्चिन्त्यमान अर्थकी प्राप्ति रूप होने से 'क्रम' अङ्ग है)।

अन्य लोग आगे होने वाले अर्थतत्त्वके ज्ञानको 'क्रम' कहते हैं। जैसे वेणीसंहारमें—

"कृप—हे राजन् दुर्योधन! द्रोणके पुत्र [अश्वत्थामा] ने महान् युद्धके भारको ग्रहण करनेका निश्चय किया है। आपके द्वारा [सेनापति पदपर] अभिषिक्त किए जानेपर वह तीनों लोकोंका नाश करनेमें भी समर्थ हो सकता है। इस युधिष्ठिरकी सेनाकी तो बात ही क्या है।

(७) उद्वेग—

अब 'उद्वेग' [नामक गर्भसन्धिके सप्तम अङ्गका लक्षण आदि करते हैं।]—

[सूत्र ८३[—भय [का नाम] 'उद्वेग' है।

चौर, राजा, शत्रु अथवा नायिका आदिसे भय 'उद्वेग' [कहलाता] है। जैसे अमात्य

"[नेपथ्ये सचीत्कारम्] गिण्हेध ले गिण्हेध वेढेध ले वेढेध। [सर्वे सभयमवलोकयन्ति]।

[गृह्णीत रे गृह्णीत वेष्टध्वं रे वेष्टध्वम्। इति संस्कृतम्]।

स्थविर :—हा धिक् कष्टं, दस्यवः सम्पतन्ति। किमत्र शरणं प्रपद्येमहि।"

अत्र नायिका-सखी-स्थविरादीनां राजगृहभङ्गेन विद्रुतानां दस्युभ्यो भयम्॥

तथा मृच्छकट्यां सार्थवाहचारुदत्तस्य चौर्याभिशापजं नृपाद् भयम्।

तथा वेणीसंहारे पञ्चमेऽङ्के [नेपथ्ये कलकलानन्तरम्]—

"भो भो दुर्योधनानुजीविनः कौरवभटाः किमिदमस्मद् भयादयथायथं सञ्चरन्ति भवन्तः।

धृतराष्ट्र :—[साशंकम्] सञ्जय ! ज्ञायतां किमेतदिति।

सञ्जय :—[उत्थाय नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] तात ! महाराज !

प्राप्तावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः।

सर्वे-(साशंकम्) कश्च कश्च--

सञ्जयः--स कर्णारिः स च क्रूरो वृककर्मा वृकोदरः॥

गान्धारी—जाद किं संपदं अवलंवणं इति।

[जात किं साम्प्रतमवलम्बनम्। इति संस्कृतम्]

एतदरिभयम्। तथा रत्नावल्याम्--

शंकुक विरचित 'चित्रोत्पलावलम्बितक' नामक प्रकरणके पञ्चमांकमें—

"[नेपथ्यमें चीत्कार करते हुए] पकड़ो रे पकड़ो, बांधो रे बांधो। [सब लोग भयभीत होकर देखने लगते हैं]।

वृद्ध—हाय डाकू आ रहे हैं। यहाँ किसकी शरण में जाँय।"

इसमें राजगृहके भंग हो जानेसे भागे हुए नायिका, सखी तथा स्थविर आदि को डाकुओं से भय [वर्णित हुआ है अतः यह 'उद्वेग' नामक अङ्गका उदाहरण] है।

इसी प्रकार मृच्छकटिकमें सार्थवाह चारुदत्तको चौर्यके अभिशापसे उत्पन्न राजासे भय [उद्वेगका उदाहरण है]।

इसी प्रकार वेणीसंहारमें पञ्चम अङ्कमें—

"[नेपथ्यमें कोलाहलके अनन्तर] अरे रे दुर्योधनके अनुयायी कौरव वीरो ! हमारे भयके मारे तुम इधर-उधर क्यों भाग रहे हो ?

धृतराष्ट्र—[सशंक होकर] सञ्जय ! देखो तो क्या बात है।

सञ्जय—[उठ कर और नेपथ्यकी ओर देख कर] तात महाराज !

आपको इधर-उधर पूछते हुए एक रथपर बैठे हुए दोनों आ गए हैं।

सब लोग—[भयभीत होकर] कौन कौन ?

सञ्जय--वह कर्णका शत्रु [अर्जुन] और वह भेड़ियाके समान कर्म वाला भीम।

गान्धारी--अरे बेटा ! अब क्या सहारा हो सकता है ?

यह शत्रुभय [का उदाहरण] है।

इसी प्रकार रत्नावलीमें--

सागरिका—वरं दाणिं अहं सयं य्येव अत्ताणयं उब्बधैय उवरदा। न उण जाणिदसंकेदवुत्तंताए देवीए सुसंगदा विय परिभूद म्हि। ता जाव इध असोए गदुअ जहासमीहिदं करिस्सं।"

[वरमिदानीमहं स्वयमेवात्मानमुद्बध्योपरता । न पुनर्ज्ञातसंकेतवृत्तान्तया देव्या सुसंगतेव परिभूतास्मि । तद् यावदत्राशोके गत्वा यथासमीहितं करिष्ये। इति संस्कृतम्]।

अत्र नायिकातो भयम्।

(८) अथ विद्रव :—

[सूत्र ८४]—द्रवः शंका

भय-त्रासकारिणो वस्तुनो या शंकाऽपायकारकत्वसम्भावना सा द्रवति श्लथीभवति हृदयमनयेति 'द्रवः'। उपनतं भयमुद्वेगः। तत्सम्भावना तु विद्रवः।

यथा कृत्यारावणे षष्ठेऽङ्के शान्तिगृहस्थे रावणे—

"[नेपथ्ये] हा अज्जउत्त ! परित्तायाहि परित्तायाहि।

[हा आर्यपुत्र ! परित्रायस्व, परित्रायस्व। इति संस्कृतम्]।

प्रतिहारी—[श्रुत्वा ससम्भ्रममात्मगतम्] अम्मो भट्टिणी चिअकंदहि। [प्रकाशम्] भट्टा अंतेउरे महंतो कलयकलो सुणीयदि।

[अहो भर्त्री एवाक्रन्दति। भर्तः ! अन्तःपुरे महान् कलकलः श्रूयते। इति संस्कृतम्]।

रावणः—ज्ञायतां किमेतत्।" इति।

सागरिका—अच्छा हो कि अब मैं स्वयं अपने-आप फाँसी लगा कर मर जाऊँ ताकि संकेत [मिलन] के समाचारको जान जाने वाली रानी [वासवदत्ता] के द्वारा सुसंगताके समान अपमानित न होना पड़े। इसलिए इस अशोकके पास जाकर अपनी इच्छाकी पूर्ति करती हूँ।

यह नायिकासे भय [का उदाहरण] है।

(८) विद्रव—

अब 'विद्रव' [नामक गर्भसन्धिके अष्टम अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ८४]—शंका 'द्रव' [नामसे कही जाती] है।

भय या त्रास उत्पन्न करने वाली वस्तुसे जो शंका अर्थात् विनाश या अनिष्ट करने की सम्भावना, वह, जिससे हृदय द्रवित अर्थात् शिथिल होता है [इस व्युत्पत्तिके अनुसार] 'द्रव' [कहलाती] है। [आगे 'उद्वेग' नामक पूर्वोक्त अङ्गसे इस 'द्रव' का भेद दिखलाते हैं]। आ जाने वाला भय 'उद्वेग' [कहलाता] है और [आगे आने वाले भयकी] सम्भावना 'द्रव' [नामसे कही जाती] है। [यह उद्वेग' तथा 'द्रव' इन दोनों अङ्गोंका भेद है]।

जैसे कृत्यारावणमें षष्ठांकमें रावणके शान्तिगृहमें बैठे होनेपर—

"[नेपथ्यमें] हा आर्यपुत्र ! बचाओ बचाओ।

प्रतीहारी—[सुनकर भयभीत होकर अपने मनमें] अरे यह तो स्वामिनी ही चिल्ला रही है। [प्रकाशमें] हे स्वामिन् ! अन्तःपुरमें बड़ा कोलाहल सुनाई दे रहा है।

रावण—[जाकर] देखो यह क्या बात है।

अत्र रावणस्य शंका ।

ये त्वत्र शंकां त्रासरूपं ससम्भ्रममंगमाहुः तद् विद्रव-उद्वेगाभ्यां गतार्थमिति ।

(६) अथाक्षेपः—

[सूत्र ८५]—आक्षेपो बीजप्रकाशनम् ॥ ५४ ॥

प्राप्त्याशावस्थानिबद्धस्य बीजस्य मुखकार्योपायस्य प्रकाशनं प्रकर्षेणाविर्भावनं आक्षेपः । यथा वेणीसंहारे सूतः—

"दत्त्वा द्रोणेन पार्थादभयमपि न संरक्षितः सिन्धुराजः,
क्रूरं दुःशासनेऽस्मिन् हरिण इव कृतं भीमसेनेन कर्म ।
दुःसाध्यामप्यरीणां लघुमिव समरे पूरयित्वा प्रतिज्ञां,
नाहं मन्ये सकामं कुरुकुलविमुखं दैवमेतावतापि ॥"

अत्र पाण्डवानां राज्यप्राप्तिरूपकार्योपायस्यौन्मुख्याविष्करणं कृतम् ।

यहाँ रावणको [भयकी] शंका है [इसलिए यह 'विद्रव' नामक अङ्गका उदाहरण] है।

जो लोग यहाँ त्रास रूप शंकाको ससम्भ्रम [गर्भसन्धिका १४वां] अङ्ग कहते हैं [वह उचित नहीं है क्योंकि] वह 'विद्रव' अथवा 'उद्वेग' के ही अन्तर्गत हो जाता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि किन्हीं आचार्योंने गर्भसन्धिके इन तेरह अङ्गोंके अतिरिक्त 'सम्भ्रम' को भी गर्भसन्धिका चौदहवाँ अंग माना है । किन्तु ग्रन्थकार उनके इस मतसे सहमत नहीं है । 'सम्भ्रम' को गर्भसन्धिका अंग मानने वालोंने उसका लक्षण, त्रास रूप शंका को 'सम्भ्रम' कहते हैं इस प्रकार किया है । ग्रन्थकारका कहना यह है कि यदि त्रास अर्थात् भयको 'सम्भ्रम' माना जाय तो वह तो 'उद्वेगो भीः' इस लक्षण वाले उद्वेगके अन्तर्गत हो जाता है । और यदि शंकाको 'ससम्भ्रम' कहा जाय तो वह 'विद्रवः शंका' इस लक्षण वाले 'विद्रव' अङ्गके अन्तर्गत हो जाता है । इन दोनोंसे अतिरिक्त उसको अलग कोई अस्तित्व नहीं बनता है । अतः सम्भ्रम' को अलग चौदहवाँ अङ्ग मानना उचित नहीं है ।

(६) आक्षेप—

अब 'आक्षेप' [नामक गर्भसन्धिके नवम अङ्गके लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ८५]—बीजके प्रकाशन [करने] को 'आक्षेप' कहते हैं । ५४ ।

[गर्भसन्धिके अन्तर्गत] प्राप्त्याशाकी अवस्थामें निबद्ध, मुख्यकार्यके उपायभूत बीजका प्रकाशन अर्थात् प्रकर्षेण अच्छी प्रकारसे आविर्भावन 'आक्षेप' [कहलाता] है । जैसे वेणीसंहार में सूत [कहता है]—

द्रोणाचार्यने अभय-दान करके भी अर्जुनसे सिन्धुराज [जयद्रथ] की रक्षा नहीं कर पाई । इस दु.शासनके विषयमें भी [सिंहसदृश] भीमसेनने हरिणके समान क्रूर कर्म कर डाला [अर्थात् सिंह जिस प्रकार हरिणको अनायास ही मार डालता है इसी प्रकार भीमसेनने दुःशासनको समाप्त कर दिया] । इस प्रकार शत्रुओं [अर्थात् पाण्डवों] की दुःसाध्य प्रतिज्ञाओं को भी युद्धभूमिमें झटपट पूर्ण करके भी मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कुरुकुलका विरोधी दैव अभी पूर्ण मनोरथ नहीं हो पाया है [अभी वह कुछ और भी खेल दिखलावेगा] ।

यहाँ पाण्डवोंके राज्य-प्राप्ति रूप कार्यके उपाय [शत्रुके प्रमुख पुरुषोंके वध] का मुख्य रूपसे प्रकाशन [किया गया] है [अतः यह 'आक्षेप' नामक नवम अङ्गका उदाहरण है] ।

अथवा बीजस्य हृदयभूमिनिगूढत्वादभिप्रायस्य बहिष्करणमाक्षेपः। यथा रत्नावल्यां, वासवदत्तायामेव सागरिकेति राज्ञा विदूषकेण च परिगृहीतायां तदुक्तिषु–

"प्रिये सागरिके !

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ,
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि ! रभसा निःशंकमालिङ्गय माम्,
अङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥"

इत्यादिषु राज्ञा स्वाभिप्रायबहिष्प्रकाशनम्। केचिदेतदङ्गं न मन्यन्ते इति॥५४॥

(१०) अथाधिबलम्—

[सूत्र ८६]—अधिबलं बलाधिक्यम् ।

परस्परवञ्चनप्रवृत्तयोर्यस्य बुद्धिसाहाय्यादिबलाधिक्येन यत्कर्म इतरमभिसन्धातुं समर्थं तत्कर्म बलविषये अधिकबलयोगादधिबलम् ।

यथा रत्नावल्याम्—

"किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न वा,
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम् ?
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्गतो,
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे ॥"

अथवा बीज अर्थात् हृदय रूप भूमिसे छिपे हुए अभिप्रायका बाहर प्रकाशित करना 'आक्षेप' [कहलाता] है। जैसे रत्नावलीमें राजा तथा विदूषकके द्वारा वासवदत्ताको ही सागरिका समझ लेनेपर उनकी उक्तियोंमें [राजा कहता है]—

"प्रिये सागरिके !

तुम्हारा मुख चन्द्रमा [के समान], तुम्हारे नेत्र नील-कमल रूप, तुम्हारे हाथ कमलके सदृश, तुम्हारी दोनों जाँघें कदलीके भीतरी भागके समान, तुम्हारी बाहुएँ मृणालके तुल्य हैं। इस प्रकार सर्वाङ्गोंसे आह्लादकारिणि [हे प्रिये] ! आओ, आओ, जल्दीसे निशङ्क भावसे गाढ़ालिङ्गन द्वारा कामावेगसे सन्तप्त हुए मेरे अङ्गोंको शान्त करो।"

इत्यादिमें राजा द्वारा अपने अभिप्रायका प्रकाशन किया गया है।

(१०) अधिबल—

अब [गर्भसन्धिके] 'अधिबल' [नामक दशम अङ्गका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ८६]—बलके आधिक्यको 'अधिबल' कहते हैं।

एक-दूसरेको धोखा देनेमें लगे हुए दो व्यक्तियोंमें बुद्धि अथवा सहायकों आदिके बलके आधिक्यके कारण जिसका कार्य दूसरेको धोखा देनेमें समर्थ हो जाता है उसका वह कार्य बलादिके विषयमें अधिक बल सम्पन्न होनेसे 'अधिबल' [नामक अङ्ग कहलाता है]।

जैसे रत्नावलीमें—

क्या [तुम्हारा मुख चन्द्रमाके समान] कमलोंकी कान्तिको नष्ट नहीं करता है ? अथवा क्या [चन्द्रमाके समान ही] नेत्रोंको आनन्द प्रदान नहीं करता है ? अथवा दर्शनमात्रसे ही [चन्द्रमाके समान तुम्हारा मुख झषकेतन अर्थात्] कामको नहीं बढ़ाता है जो यह दूसरा

इति पाठानन्तरं राज्ञा वासवदत्ताया मुखोद्घाटने प्रत्यभिज्ञानम्। अत्र सागरिकावेषं धारयन्ती विदूषकबुद्धिदौर्बल्याद् वासवदत्ता राजानमभिसन्धत्ते।

कपटस्यान्थाभावमन्ये अधिबलमाहुः। यथा रत्नावल्याम्—

"राजा—एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किञ्चिद्विज्ञापयामि—

आताम्रतामपनयामि विलक्ष एषः,
लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि! मूर्ध्ना।
कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे
हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात्॥ इति।

अत्र वासवदत्तां प्रति राज्ञो वञ्चनं विफलं जातम्।

एके तु सोपालम्भं वाक्यमधिबलमिच्छन्ति। यथा वेणीसंहारे पञ्चमेऽङ्के धृतराष्ट्रमुद्दिश्य

"भीमसेनः—अलमिदानीं मन्युना।

कृष्टा केशेषु कृष्णा नृपसदसि वधूः पाण्डवानां नृपैर्यैः
सर्वे ते क्रोधवह्नौ कृशशलभकुलावज्ञया येन दग्धाः।

चन्द्रमा [आकाशमें] उदय हो रहा है। यदि [उसको] अमृतका गर्व हो [और उसीके कारण तुम्हारे मुखके सामने उदय होनेका दुस्साहस कर रहा हो तो] वह [अमृत] भी तो तुम्हारे अधर-बिम्बमें विद्यमान ही है।

इस पाठके बाद राजाके द्वारा [सागरिका समझी हुई] वासवदत्ताके मुखको खोलनेपर वासवदत्ताका पहिचानना। यहाँ सागरिकाका वेष धारण किए हुए वासवदत्ता विदूषककी मूर्खता [बुद्धिदौर्बल्यात्] से राजाको धोखेमें डाल देती है।

दूसरे लोग कपटके अन्यथाभाव [अर्थात् परिवर्तन] को 'अधिबल' कहते हैं। जैसे रत्नावलीमें [इस ऊपरवाली घटनाके बाद ही]—

"राजा—इस प्रकार अपराधके प्रत्यक्ष देख लिए जानेपर भी कुछ प्रार्थना करना चाहता हूँ [और रह प्रार्थना यह है कि]—

हे देवि! [अपने सागरिका-प्रेम रूप इस अपराधके कारण] लज्जित मैं लाक्षा द्वारा सम्पादितकी हुई तुम्हारे चरणोंकी रक्तताको अपने सिरसे दूर कर ही रहा हूँ [अर्थात् तुम्हारे चरणोंपर सिर रखकर अपने इस अपराधकी क्षमा माँग रहा हूँ किन्तु] यदि मेरे ऊपर अत्यन्त दया हो जाय तो कोपके कारण उत्पन्न हुई मुख-रूप चन्द्रमाकी रक्तताको भी [चुम्बनादि द्वारा] दूर करनेमें समर्थ हो सकता हूँ।"

यहाँ वासवदत्ताके प्रति [खुशामद द्वारा] धोखा देनेका राजाका प्रयत्न विफल हो गया। [अर्थात् वासवदत्ता उसकी बातोंसे प्रसन्न नहीं हुई]।

कुछ लोग उपालम्भ युक्त वाक्यको 'अधिबल' कहते हैं। जैसे वेणीसंहारके पाँचवें अङ्कमें धृतराष्ट्रको लक्ष्यमें रखकर भीमसेन [कहते हैं कि]—

भीमसेन—अब दुःख करनेकी आवश्यकता नहीं है।

जिन राजाओंने पाण्डवोंकी वधू द्रौपदीके बालोंको पकड़कर राज-सभामें घसीटा था उन सबको क्षुद्र पतङ्गके समान जिसने अपनी क्रोधाग्निमें भस्मसात् कर दिया वह मैं [यह

तात ! त्वां श्रावयेऽहं न खलु भुजबलश्लाघया नापि दर्पात्
पुत्रैः पौत्रैश्च कर्मण्यतिगुरुणि कृते तात ! साक्षी त्वमेव ॥" इति ।

(११) अथ मार्गः—

[सूत्र ८७]—मार्गस्तत्त्वार्थशंसनम् ।

परमार्थस्य वचनं सामान्येनोच्यमानं प्रकतार्थेन यत् सम्बध्यते तन्मार्गः ।

यथा मुद्राराक्षसे—

"राजा—[प्रविश्य स्वगतमाह] राज्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्तिदुःखितस्य नृपतेर्महदप्रीतिस्थानम् । कुतः—

परार्थानुष्ठाने जडयति नृपं स्वार्थपरता,
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः ।
परार्थश्चेत् स्वार्थादभिमततरो हन्त बलवान्,
परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः ॥

अपि च दुराराध्या लक्ष्मीरात्मवद्भी राजभिः । कुतः—

तिक्तादुद्विजते मृदौ परिभवत्रासान्न सन्तिष्ठते,
मूर्खं द्वेष्टि न गच्छति प्रणयिता मत्यन्तविद्वत्स्वपि ।
शूरेभ्योऽभ्यधिकं बिभेत्युपहसत्येकान्तभीरूनहो,
श्रीलब्धप्रसरेव वेशवनिता दुःखोपचर्या भृशम् ॥" इति ।

सब समाचार आपको] इसलिए सुना रहा हूँ कि हे तात ! पुत्रों और पौत्रोंके द्वारा किए जाने वाले किसी भी बड़े कार्यमें आप ही साक्षी हो सकते हैं [इसलिए यह सब समाचार आपको सुनाया है] अपने भुजबलकी प्रशंसाकेलिए अथवा अभिमानवश होकर नहीं [सुनाया है] ।

भीमसेनका यह सोपालम्भ वचन इस लक्षणसे 'अधिबल' अङ्गका उदाहरण होता है ।

(११) मार्ग—

अब 'मार्ग' [नामक गर्भसन्धिके ग्यारहवें अंगका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ८६]—तत्त्वार्थको कथन करना 'मार्ग' [कहलाता] है ।

वास्तविक बातका सामान्य रूपसे कथन होनेपर भी प्रकृत प्रकरणके साथ [उसके विशेष रूपसे] सम्बद्ध होनेपर 'मार्ग' [नामक अंग कहलाता] है । जैसे मुद्राराक्षसमें—

"राजा—[प्रविष्ट होकर स्वगत कहते हैं] राजधर्मका पालन करनेके कारण राजाके लिए राज्य [शासनका सञ्चालन] बड़े सङ्कटका कारण होता है । क्योंकि—

[यदि राजा अपने स्वार्थको प्रधानता देता है तो] स्वार्थपरता राजाको दूसरोंका कार्य करनेसे रोकती है । [यदि दूसरेके लिए] अपने स्वार्थको छोड़ देता है तो निश्चय ही राजा [अयथार्थः] राजा नहीं रहता है । और यदि स्वार्थकी अपेक्षा परार्थताको प्रधानता दी जाय तो दूसरेके अधीन हो जानेपर बलवान् [राजा] भी आनन्दका भोग कैसे कर सकता है ।

और जितेन्द्रिय राजाओंके द्वारा भी लक्ष्मीकी आराधना बड़ी कठिन है । क्योंकि—

[अत्यन्त] तीक्ष्ण प्रकृति [के राजा] से [लक्ष्मी] घबड़ाती है और कोमल प्रकृतिके पास [दूसरोंके द्वारा] अपमानित होनेके भयसे नहीं टिकती है । मूर्खोंसे द्वेष करती है, और अधिक विद्वानोंके पास भी नहीं रहती है । शूरोंसे भी बड़ा डरती है, और अत्यन्त भीरुओंका भी उपहास

यथा वा रघुविलासे चतुर्थेऽङ्के—रावणः—[सविषादम्]

"लंकेश्वरे त्रिदशदर्पहरे विरागो, रागस्तु, काननचरे जनकात्मजायाः ।
सौन्दर्य-विक्रम-कला-विभवानपेक्षः प्रेम्णां विचारविमुखः खलु कोऽपि पन्थाः ॥"

एतत् तत्त्वार्थकथनं सामान्येनोक्तमपि प्रकृतेन सम्बध्यत इति ।

(१२) अथ असत्याहरणम्—

[सूत्र ८८]—असत्याहरणं छद्म

यथा मालविकाग्निमित्रे यज्ञोपवीतबद्धांगुष्ठो विदूषकः ।

"विदूषकः—[प्रविश्य ससम्भ्रममाह] परित्तायदु परित्तायदु भवं ।
[परित्रायतां परित्रायतां भवान् । इति संस्कृतम्] ।

राजा—किमेतत् ?

विदूषकः—भो ! सप्पेण म्हि दट्ठो ।
[भो ! सर्पेणास्मि दष्टः । इति संस्कृतम्] ।
[सर्वे विदूषकं दृष्ट्वा विषण्णाः ।]

राजा—कष्टं क्व भवान परिभ्रान्तः ?

विदूषकः—देवं पेक्खिस्सं ति आचारपुप्फस्स कारणा पमदवणं गदु म्हि । तहिं च असोयत्थवग्गस्स पसारिदे अग्गहत्थे कोडरविणिग्गदेण सप्परूपेण कालेण म्हि लंभिदो । इमाणि दुवेदाढावणाणि ।

करती है । इस प्रकार लब्ध-प्रसरा प्रौढ़ा वेश्याके समान लक्ष्मी बड़ी कठिनतासे वशमें आती है ।

यहाँ तत्त्वार्थका प्रकृतसे सम्बद्ध रूपमें कथन किया गया है इसलिए यह 'मार्ग' नामक अंगका उदाहरण है । अथवा जैसे रघुविलासके चतुर्थ अङ्कमें रावण विषाद-पूर्वक [कहता है]—

देवताओंके भी दर्पका अपहरण करनेवाले लङ्काके अधीश्वर [मुझ रावण] के प्रति सीताका वैराग्य है [अर्थात् मुझ रावणको तो नहीं चाहती है] और वन-वनमें भटकनेवाले [रामचन्द्र] के प्रति राग है । निश्चय ही प्रेमका मार्ग सौन्दर्य, विक्रम, कला और वैभवकी उपेक्षा करनेवाला और अविचारशील होता होता है ।

यह यथार्थ बातका कथन सामान्य रूपसे उक्त होनेपर भी प्रकृतसे सम्बद्ध है ।

(१२) असत्याहरण—

अब असत्याहरण [नामक गर्भसन्धिके ग्यारहवें अङ्गका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ८७]—छल 'असत्याहरण' [कहलाता] है ।

जैसे मालविकाग्निमित्र यज्ञोपवीतसे अंगूठेको बांधे हुए विदूषक [आकर घबड़ाते हुए कहता है—] बचाइए आप मुझे बचाइए । राजा—अरे यह क्या हुआ ?

विदूषक—अरे साँपने डस लिया है । [सब विदूषकको देखकर खिन्न हो जाते हैं] ।

राजा—तुम कहाँ घूम रहे थे ?

विदूषक—तुम्हारे पास आ रहा था इसलिए आचारार्थ पुष्प लेनेके लिए प्रमदवनमें गया था । वहाँ अशोकका गुच्छा लेनेके लिए हाथ बढ़ाते ही कालके समान साँपने पकड़ लिया । दे दो दाँत [लगे] हैं ।

[देवं प्रेक्षिष्ये इत्याचारपुष्पस्य कारणात् प्रमदवनं गतोऽस्मि। तत्र चाशोकस्तबकस्य प्रसारिते हस्ताग्रे कोटरविनिर्गतेन सर्परूपेण कालेनास्मि लब्धः। इमौ द्वौ दंष्ट्राव्रणौ॥ [इति संस्कृतम्]।"

अत्र राजप्रसादपरीक्षार्थं विदूषकेण केतकीकण्टकक्षतस्य असत्या सर्पदंशता प्रकाशितेति।

(१३) अथ तोटकम्—

[सूत्र ८६]—तोटकं गर्भितं वचः॥५५॥

क्रोध-हर्षादिसम्भूतावेगगर्भितं वचनं तोटयति भिनत्ति हृदयमिति तोटकम्। यथा रामाभ्युदये चतुर्थेऽङ्के—

"इन्द्रजित्—तात! किमिदमनुचितमारब्धं तातेन, यदयमकाण्ड एव कुम्भकर्णः प्रतिबोध्यते। किमत्र न कश्चित् क्षुद्रतापसोपमर्दाय सम्भावितस्तातेन। अपि च—

रक्षोवीराः दृढोरःप्रतिफलनदलत्कालदण्डप्रचण्डाः,
दोर्दण्डाकाण्डकण्डूविषमनिकषणत्रासितक्ष्माधरेन्द्राः।
याताः कामं न नाम स्मृतिपथमपथप्रस्थितेन्द्रानुसारी,
स्वर्वासिक्लिष्टदृष्टः कथमहमपि ते विस्मृतो मेघनादः॥
एतत् क्रोधादावेग वचनम्।

यथा वा रघुविलासे चतुर्थेऽङ्के रावणः—

इसमें राजाके प्रेमकी परीक्षा लेनेके लिए विदूषकने केतकीके काँटोंके चिह्नोंको झूठमूठ सर्पदंशके रूपमें प्रकाशित किया है [अतः यह 'असत्याहरण' का उदाहरण है]।

(१३) तोटक—

अब तोटक [नामक गर्भसन्धिके तेरहवें अङ्गका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ८८] [किसी विशेष भावसे] गर्भित वचन 'तोटक' [कहलाता] है।५५।

क्रोध, हर्ष, आदिसे उत्पन्न आवेग युक्त वचन, हृदयका तोटन अर्थात् भेदन करता है इसलिए 'तोटक' [कहलाता] है।

[तोटकका उदाहरण] जैसे रामाभ्युदयमें चतुर्थ अङ्कमें—

"इन्द्रजित्—हे तात्! आपने यह क्या अनुचित काम आरम्भ कर दिया कि बिना बात के ही कुम्भकर्णको जगा रहे हैं। क्या आपने यहाँ किसी औरको क्षुद्र तापसका उपमर्दन करनेके लिए समर्थ नहीं समझा। और—

जिनके पुष्ट वक्षःस्थलोंपर पड़कर कालका दण्ड भी खण्ड-खण्ड हो जाता है इस प्रकारके प्रचण्ड, और भुजदण्डोंमें अचानक उठी हुई खुजलीके निवारणकेलिए खुजलाकर जो पर्वतोंको भी हिला डालते हैं इस प्रकारके [शक्तिशाली] राक्षस वीरोंकी ओर आपका ध्यान नहीं गया तो कोई बात नहीं है, किन्तु [अपथप्रस्थित अर्थात्] भागते हुए इन्द्रका भी पीछा करने वाले और स्वर्गलोकके रहने वाले जिसको भयभीत होकर देखते है इस प्रकारके मेघनाद को आप कैसे भूल गए [जो इस कुम्भकर्णको जगाने लगे]?

यह [मेघनादका] क्रोधके कारण आवेगमय वचन है।

अथवा जैसे रघुविलासमें चतुर्थ अंकमें, रावण—

'वक्त्राणि हे ! हसत गायत तारतारं,
नेत्राणि ! चुम्बत विहस्य च कर्णपालीः ।
दोर्वल्लयः ! कुरुत ताण्डवडम्बरं च,
श्रीरावणं ननु विदेहसुता रिरंसुः ॥"

इदं हर्षादावेगगर्भं वचनम् । एतानि गर्भसन्धेस्त्रयोदशाङ्गानि ॥५५॥

[४] अथामर्शसन्धेरंगानि व्याख्यातुमुद्दिशति—

[सूत्र ९०]—द्रवः प्रसंगः सम्फेटोऽपवादश्छादनं द्युतिः ।
खेदो निरोधः संरम्भो भवेयुर्गुणतो नव ॥५६॥
शक्ति-प्ररोचना-दान-व्यवसायास्तु मुख्यतः॥
त्रयोदशांगान्यामर्शे

द्रवादीनि नव प्रयोजनमपेक्ष्य गौणतया बध्यन्ते । शक्त्यादीनि चत्वारि पुनः प्राधान्येन ।

(१) अथ द्रवः—

[सूत्र ९१]—द्रवः पूज्यव्यतिक्रमः ॥५७॥

व्यतिक्रमो मार्गाच्चलनम् । यथा रत्नावल्यां सन्निहितं भर्तारमवगणय्य विदूषकस्य सागरिकायाश्च वासवदत्तया बन्धनमिति ॥५७॥

"रावण—अरे [मेरे दश] मुखो ! तुम लोग [प्रसन्न होकर खूब] हँसो और गाओ । हे नेत्रो ! तुम प्रसन्नतासे [फैल-फैल कर] कानोंका चुम्बन करो [कानों तक फैल जाओ] । हे भुजवल्लियो ! तुम खूब नाचो क्योंकि आज वैदेही रावणके साथ रमण करना चाहती है ।"

यह [रावणका] हर्षसे आवेगमय वचन है ।

ये गर्भसन्धिके तेरह अङ्ग हुए ॥५५॥

[४] आमर्श सन्धिके तेरह अङ्ग—

अब आमर्श सन्धिके अङ्गोंकी व्याख्या करनेके लिए उनके नाम गिनाते हैं—

[सूत्र ८९]—१ द्रव, २ प्रसंग, ३ सम्फेट, ४ अपवाद, ५ छादन, ६ द्युति, ७ खेद, ८ निरोध, और ९ संरम्भ ये नौ [विमर्शसन्धिके] गौण अङ्ग हैं ।५६।

[सूत्र ८९]—१० शक्ति, ११ प्ररोचना, १२ दान और १३ व्यवसाय ये चार मुख्य अङ्ग हैं । इस प्रकार आमर्श सन्धिमें तेरह अंग होते हैं ।

द्रव आदि नौ अंग प्रयोजनके अनुसार गौण रूपसे निबद्ध किए जाते हैं, और शक्ति आदि चार मुख्य रूपसे निबद्ध होते हैं ।

(१) अब 'द्रव' [नामक विमर्शसन्धिके प्रथम अङ्गका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ९०]—पूज्योंको व्यतिक्रम करना 'द्रव' [कहलाता] है ।

व्यतिक्रम अर्थात् मार्गसे हट जाना । जैसे रत्नावलीमें सामने उपस्थित भर्ता [वत्सराज उदयन] की उपेक्षा करके वासवदत्ताके द्वारा विदूषक तथा सागरिकाको बंधवाना ।५७।

(२) अथ प्रसंग :--

[सूत्र ६२]--प्रसंगो महतां कीर्तिः

कीर्तिः संशब्दनम्। यथा वेणीसंहारे षष्ठेऽङ्के—

युधिष्ठिरः—[मुखं प्रक्षाल्य उपस्पृश्य च] एष तावज्जलाञ्जलि-गाङ्गेयाय गुरवे प्रपितामहाय शान्तनवे। अयमपि पितामहाय विचित्रवीर्याय। [सास्रम्] तातस्य अधुनावसरः। अयमपि तत्रभवते स्वर्गस्थिताय गुरवे सुगृहीतनाम्ने पित्रे देवाय पाण्डवे।" इत्यादि।

केचिदप्रस्तुततार्थवचनं प्रसंगमिच्छन्ति। यथा वेणीसंहारे षष्ठेऽङ्के—

"युधिष्ठिरः—[द्रौपदीं प्रति]

स कीचकनिषूदनो बक-हिडिम्ब-किर्मीरहः,
मदान्धमगधाधिपद्विरदसन्धिभंगाशनिः।
गदा-परिघशोभिना भुजयुगेन तेनान्वितः।
प्रियस्तव ममानुजोऽर्जुनगुरुर्गतोऽस्तं किल॥"

अत्र मायातपस्विना राक्षसेन व्यलीकभीमबधकथनात् युधिष्ठिरस्याप्रस्तुतः शोकः।

---

(२) अब प्रसंग [नामक विमर्श सन्धिके द्वितीय अङ्गका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ६१]--महान् [पूर्वज] लोगोंका कीर्तन करना 'प्रसंग' [नामक अङ्ग कहलाता] है।

कीर्ति अर्थात् कथन करना। जैसे वेणीसंहारके छठे अङ्कमें--

"युधिष्ठिर—मुखको धोकर और आचमन करके [अपने पूर्वजोंको जलाञ्जलि देते हुए क्रमशः उनका कीर्तन करते हुए कहते हैं] सबसे पहले यह जलाञ्जलि गंगातनय पूज्य प्रपितामह शान्तनुकेलिए है। यह दूसरी जलाञ्जलि पितामह विचित्रवीर्यकेलिए है। [रोते हुए] अब पिताजीकी बारी आती है। अच्छा यह [तीसरी जलाञ्जलि] स्वर्गलोकवासी पूज्य और सुगृहीतनामा पिता पाण्डुकेलिए है।" इत्यादि।

इस वचनमें जलाञ्जलि देते समय युधिष्ठिर द्वारा अपने पूर्वज महापुरुषोंके नामोंका कीर्तन किया गया है अतः यह 'प्रसंग' नामक आमर्शसन्धिके द्वितीय अङ्गका उदाहरण है।

कोई लोग अप्रस्तुत अर्थके कथनको 'प्रसंग' मानते हैं। जैसे वेणीसंहारके छठे अंकमें-

"युधिष्ठिर—[द्रौपदीके प्रति]—

कीचकको मारने वाला, बकासुर, हिडिम्ब और किर्मीर [आदि राक्षसोंका] नाश करने वाला, मदमत्त मगधराज [जरासन्ध] रूप हाथीकी सन्धियोंको भग्न करने वाला, वज्र और गदा तथा परिघ [नामक अस्त्रों] से शोभित उन [अपूर्व शक्तिशाली] भुजाओंसे युक्त, तुम्हारा प्रिय, मेरा छोटा भाई और अर्जुनका ज्येष्ठ भ्राता [अर्थात् भीमसेन, इन मुनिजी महाराजके कथनके अनुसार] समाप्त हो गया है।

यहाँ बनावटी तपस्वी [दुर्योधनके पक्षपाती] राक्षसने झूठ-मूठ भीमके मारे जानेकी बात कहकर युधिष्ठिरको अप्रासंगिक शोकमें डाल दिया है [अतः यह प्रसंग नामक अङ्गका उदाहरण है]।

(३) अथ सम्फेटः—

[सूत्र ६३]—सम्फेटः क्रोधजं वचः ।

परस्परं क्रोधजन्मोत्तर-प्रत्युत्तररूपः संलापः सम्फेटः । यथा वेणीसंहारे—

"भीमः—भो कौरवराज ! कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना । मैवं विषादं कृथाः पर्याप्ताः पाण्डवाः समराय अहमसहाय इति ।

पञ्चानां मन्यसे ऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधन !
दंशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सवः ॥

इत्थं श्रुत्वा असूयात्मिकां निक्षिप्य कुमारे दृष्टिं उक्तवान् धार्तराष्ट्रः—

कर्ण-दुःशासनबधात् तुल्यावेव युवां मम ।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रियसाहसः ॥"

इत्येतद् भीम-दुर्योधनयोरन्योन्यं रोषभाषणम् ।

यथा वा यादवाभ्युदये सप्तमेऽङ्के—

"बलभद्रः—[स्वगतम्] कथमुपहसति नारदः । भवतु [प्रकाशम्]—

वृद्धोक्षस्य नृपस्य तस्य नियतं को नाम मल्लो युधि,
व्याधत्त किल यस्य विक्रमचणः पक्षं मुनिर्नारदः ।

---

(३) अब सम्फेट [नामक विमर्शसंधिके तृतीय अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ६२]—क्रोधपूर्ण भाषण 'सम्फेट' [कहलाता] है ।

जैसे वेणीसंहारमें—

"भीम—हे कौरवराज [दुर्योधन] ! बन्धुओंके नाशको देखकर दुःखी होनेकी आवश्यकता नहीं है । तुम यह दुःख मत करो कि पाण्डव लोग युद्ध करनेके लिए [पर्याप्त] बहुत से हैं और मैं अकेला हूँ ।

हम पाँचोंमेंसे जिसके साथ युद्ध करना तुम सहज समझो कवचादि धारण करके और शस्त्र लेकर उसीके साथ तुम युद्धका आनन्द ले सकते हो ।

ऐसा सुनकर [भीम तथा अर्जुन] दोनों कुमारोंकी ओर असूयापूर्वक देखकर दुर्योधन कहता है कि—

[अर्जुनने कर्णका और तुमने दुःशासनका बध किया है । ये दोनों ही मेरे प्रिय थे इसलिए] कर्ण और दुःशासनका बध करनेवाले होनेके कारण तुम दोनों ही मेरे लिए एक-जैसे [अप्रिय] हो, फिर भी, अप्रिय होनेपर भी साहसी तुम ही युद्धके लिए मुझे प्रिय मालूम पड़ते हो ।"

यह भीम तथा दुर्योधनका एक-दूसरेके प्रति रोष-भाषण है [अतः यह 'सम्फेट'नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

अथवा जैसे यादवाभ्युदयमें सप्तम अङ्कमें—

बलभद्र—[अपने मनमें] अच्छा नारद हमारी हँसी उड़ा रहे हैं । [प्रकाशम्]—

बूढ़े साँडके समान उस राजाके साथ युद्ध करनेवाला प्रतिमल्ल कौन हो सकता है जिसका पक्ष स्वयं नारद मुनि ले रहे हैं [यह व्यङ्ग्योक्ति है] फिर भी कंसका विनाश करनेमें

कंसध्वंसकृतश्रमौ मधुरिपोर्बाहू तथाप्याहवे,
क्षामस्थामलवानुरूपमचिरादाधास्यतः किञ्चन ॥

नारदः [सरोषमिव]--

कंसांसभित्तिमदमर्दनकेलिचञ्चो-
श्चक्रस्फुलिङ्गगणसंगपिशंगबाहुः ।
सम्पूरयिष्यति हरेरपि गाढरूढ-
संग्रामदोहदमसौ मगधाधिनाथः ॥ इति ।

(४) अथापवादः—

[सूत्र ६४]—अपवादः परीवादः ।

परीवादः स्वपरदोषोद्घट्टनम् । यथा पुष्पदूतिके पञ्चमेऽङ्के--

"ब्राह्मणः--मार्जिता हि ब्राह्मणस्य मुखमधुरः कालपाशः । तथाहि—

हतः पुत्रो हतो भ्राता हतो मार्जितया पिता ।
तथाप्येतां स्वगोत्रघ्नीं निन्दामि च पिबामि च ॥" इति ।

परिश्रम कर चुकनेवाले मधुरिपु कृष्णके दोनों बाहु दुर्बल या प्रबल जो कुछ हैं उसके अनुरूप युद्धमें कुछ-न-कुछ शीघ्र ही दिखलावेंगे ।

नारद [क्रोधपूर्वक]—

कंसके स्कंधोंकी भित्तिका मर्दन करनेमें चतुर, चक्रकी चिनगारियोंके संसर्गसे [समुदायसे] पीतबाहु [अर्थात् कृष्णका सुदर्शन चक्र भी जिसके हाथोंमें केवल चिनगारियाँ उत्पन्न कर सकता है अधिक उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता इस प्रकारका] यह मगधराज, कृष्णकी भी प्रबल युद्ध-कामनाको पूरा कर देगा ।

यह नारद तथा बलभद्रके रोष-वाक्य एक-दूसरेके प्रति कहे गये हैं अतएव यह भी 'सम्फेट'का दूसरा उदाहरण है ।

(४) अब अपवाद [विमर्शसन्धिके चतुर्थ अङ्गका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ६३]--[किसीकी] निन्दा करना 'अपवाद' [कहलाता] है ।

निन्दा करना अर्थात् अपने या दूसरेके दोषका प्रकट करना । जैसे पुष्पदूतिकके पञ्चम अङ्कमें--

"ब्राह्मण—मार्जिता [अर्थात् शकर मिला हुआ दही] ब्राह्मणके लिए मुखमें मधुर लगने वाला कालपाश है । इसलिए--

इस मार्जिता [शकर मिले हुए दही] ने यद्यपि अपने पुत्र [घृत] को मार डाला [अर्थात् दही से घी उत्पन्न होता है इसलिए घी दहीका पुत्र है । किन्तु जब दहीको शकर मिलाकर खानेके काममें ले लिया जाय तो उससे घी कैसे निकल सकता है इसलिए 'मार्जिता' शकर मिले दहीने अपने पुत्रको नष्ट कर दिया यह कहा है] भ्राता [तक्र मट्ठे] को भी मार दिया है और पिता [दूध] को भी नष्ट कर दिया है फिर भी अपने वंशका नाश करने वाली इस 'मार्जिता' की निन्दा करता हुआ भी मैं उसको पी रहा हूँ ।

इसमें मार्जिता शकर मिले दहीकी निन्दा होनेसे यह 'अपवाद' नामक अङ्गका उदाहरण है ।

अत्र स्वदोषोद्घट्टनम् ।

तथा रघुविलासे सप्तमेऽङ्के रावणं प्रति मारीचः—

"खण्डय न्यायतेजोभिः शूर ! कौलीनदुर्दिनम् ।
अनीति-धूमरी हन्ति यशश्चूताग्रमञ्जरीः ॥"

अत्र परदोषोद्घट्टनमिति ।

(५) अथ छादनम्—

[सूत्र ९५]—छादनं मन्युमार्जनम् ॥५८॥

मन्युरपमानो येन मार्ज्यते तत् छादनम् । यथा रत्नावल्याम्—

"सागरिका—दिट्ठया पज्जलिदो भयवं हुयासणे अज्ज करिस्सदि मे सयलदुक्खवसाणं त्ति ।

[दिष्ट्या प्रज्वलितो भगवान् हुताशनोऽद्य करिष्यति मे सकलदुःखावसानमिति । इति संस्कृतम्]"

अन्ये तु—कार्यार्थमसह्यस्याप्यर्थस्य सहनं छादनमामनन्ति । यथा श्रीशुक्तिवासकुमारविरचिते अनंगसेना-हरिनन्दिनि प्रकरणे नवमेऽङ्के, राजपुत्रचन्द्रकेतुना दत्तं कर्णालंकारयुगलं नायिकया माधव्या नायकस्य प्रेषितम् । नायकेन हरिनन्दिना पुष्पलकनामानं ब्राह्मणं राजबन्धनान्मोचयितुं तन्मात्रेऽतिसृष्टम् ।

इसमें [वक्ताने] अपने दोषका [अर्थात् निन्दा करते हुए भी पीनेका] उद्घाटन किया है ।

और रघुविलासके सातवें अङ्कमें रावणके प्रति मारीच [कहता है]—

"हे शूर [रावण] ! न्यायके तेजोंके द्वारा अयश-रूपी दुर्दिन [मेघाच्छन्नं तु दुर्दिनम्] का नाश करो [अर्थात् सीताको मुक्त करके अपने न्यायका परिचय देकर तुम्हारा जो अपयश सीताहरणके कारण हो रहा है उसको दूर करो] अनीतिकी धूमरी यशो रूप आम्रकी उत्तम मञ्जरीका नाश कर देती है । [इसलिए अनीतिके मार्गको छोड़ दो] ।

इसमें [वक्ता] दूसरेके दोषका उद्घाटन [कर रहा] है ।

(५) अब 'छादन' [नामक विमर्श सन्धिके पञ्चम अङ्गका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ९४]—अपमानका परिमार्जन 'छादन' [कहलाता] है ॥५८॥

मन्यु अर्थात् अपमानका मार्जन जिसके द्वारा किया जाय वह 'छादन' [नामक अङ्ग कहलाता] है ।

जैसे रत्नावली में—

"सागरिका—सौभाग्यसे प्रज्वलित हुआ अग्नि आज मेरे सारे दुःखोंको समाप्त कर देगा ।"

अन्य लोग तो विशेष प्रयोजनके कारण असह्य अर्थको भी सह लेनेको 'छादन' मानते हैं ।

जैसे—श्री शुक्तिवासकुमारके बनाए हुए 'अनंगसेना-हरिनन्दी नामक प्रकरणके नवम अङ्कमें, राजपुत्र चन्द्रकेतुके द्वारा दिए हुए कानोंके अलंकारके जोड़ेको नायिका माधवीने नायकके पास भेजा था । नायक हरिनन्दीने पुष्पलक नामक ब्राह्मणको राजबन्धनसे मुक्त करानेके लिए उसे उसकी [पुष्कलक ब्राह्मणकी] माताको दान कर दिया । उस [कर्णाभरण

तत्प्रत्यभिज्ञाय च स ब्राह्मणः पौरेषु प्रकाशितचौर्यो राजाज्ञया वध्यस्थानं नेतुमारब्धः। तन्मात्रा चागत्य हरिनन्दिने निवेदितम्। हरिनन्दिना च ब्राह्मणरक्षार्थं चौर्यमात्मनोऽङ्गीकृत्य अयशो विसोढमिति।

अन्ये त्वस्य स्थाने च्छलनमवमाननरूपमाहुः। यथा रामाभ्युदये सीतायाः परित्यागेनावमानं च्छलनम्।

अपरे तु छलनं सम्मोहमिच्छन्ति। यथा वेणीसंहारे षष्ठेऽङ्के—

"युधिष्ठिरः—[अश्रूणि मुञ्चन् चार्वाकमाह]—

सर्वथा कथय ब्रह्मन् संक्षेपाद् विस्तरेण वा।
वत्सस्य किमपि श्रोतुमेतद् दत्तमुरो मया॥

राक्षसः—श्रूयताम्—

तस्मिन् कौरव-पार्थयोर्गुरुगदाघोरध्वनौ संयुगे।

द्रौपदी—[लब्धसंज्ञा] अयि तदो किम ?

[अयि ततः किम ? इति संस्कृतम्]।

राक्षसः—[आत्मगतम्] कथं पुनरनया लब्धा संज्ञा। अपहराम्यस्याः प्राणान्। [प्रकाशम्]—

सीरी तत्क्षणमागतश्चिरमभूत् तस्याग्रतः संगरः।

कञ्चुकी—नूनं तत्कृतोऽत्र कश्चिदपचारो भविष्यति।

का उपयोग किए जानेपर उस] को पहिचान कर नगरवासियोंमें चोरीका आरोप घोषित कर राजाकी आज्ञासे ब्राह्मणको वध्य स्थानकी ओर ले जाया जाने लगा। तब ब्राह्मणकी मासाने आकर हरिनन्दीसे कहा। हरिनन्दीने ब्राह्मणकी रक्षाके लिए स्वयं चोरी करनेके अपराधको स्वीकृत कर अपयशको सहन किया। यह ['छादन' नामक अङ्गका उदाहरण है।]

अन्य लोग इस [छादनके] के स्थानपर अवमान रूप 'छलन' [अङ्ग] को मानते हैं [छादनको अंग नहीं मानते हैं]। जैसे रामाभ्युदयमें सीताके परित्यागसे किए गए अपमानको ['छलन' नामक अंग] कहते हैं।

अन्य लोग सम्मोहको छलन कहते हैं। जैसे वेणीसंहारके छठे अङ्कमें—

"युधिष्ठिर—[रोते हुए चार्वाकसे कहते हैं]—

हे ब्रह्मन् ! संक्षेपसे या विस्तारसे जैसे चाहें आप कहिए। वत्स [भीम] के किसी भी समाचारको सुननेके लिए मैंने अपना हृदय तैयार कर लिया है।

राक्षस—अच्छा सुनिए।

द्रौपदी—[होशमें आकर] अच्छा तब फिर क्या हुआ ?

राक्षस—[स्वगत] अच्छा यह तो फिर होशमें आ गई। अभी इसके प्राणोंका अपहरण करता हूँ। [प्रकाशम् कहता है]—

उसी समय बलरामजी वहाँ आ गए और उनके सामने बहुत देर तक [भीम तथा दुर्योधनका] युद्ध होता रहा।

कञ्चुकी—निश्चय ही उनके द्वारा किया गया कोई अनिष्ट इसमें उपस्थित होगा।

राक्षसः—

आलम्ब्य प्रियशिष्यतां तु हलिना संज्ञा रहः सा कृता
यामासाद्य कुरूत्तमः प्रतिकृतं दुःशासनारौ गतः ॥ इति

अत्र तापसेन व्यामोहः कृतः ॥५८॥

(६) अथ द्युतिः—

[सूत्र ६६]—तिरस्कारो द्युतिः

यथा कृत्यारावणे मन्दोदरीं प्रति अंगदः—

"मा गास्तिष्ठ पुनर्व्रज क्षणमितो गत्वा पुनः स्थीयतां,
यत्रास्ते भुजवीर्यदर्पितमदो विद्रावणो रावणः।
मद्बाहुद्वयपञ्जरान्तरगता मूढे किमाक्रन्दसि,
सिंहस्यांकमुपागतामिव मृगीं कस्त्वां परित्रास्यते ॥"

तर्जनोद्वेजने द्युतिं केचिदिच्छन्ति। अपरे तु तर्जनाधर्षणे द्युतिं मन्यन्ते। तदेतन्मतद्वयमप्यर्थाभेदात् संगृहीतम्। एवमन्यदपि साक्षात् पारम्पर्येण वा न्यक्कार-परं वाक्यं द्युतिरेव।

(७) अथ खेदः—

[सूत्र ६७]—खेदः श्रमः काय-मनोद्भवः।

यथा विक्रमोर्वश्यां पुरूरवाः—

राक्षस—बलरामजीने अपने प्रिय शिष्य [दुर्योधन] का पक्ष लेकर चुपचाप कोई ऐसा संकेत किया जिसको प्राप्त कर कुरुराज [दुर्योधन] ने दुःशासनको मारने वाले [भीमसेन] से [दुःशासनके वधका] बदला ले लिया [अर्थात् भीमसेनको मार डाला]।"

यहाँ तापस [वेषधारी राक्षस] ने व्यामोह उत्पन्न कर दिया है।

(६) अब 'द्युति' [नामक आमर्श सन्धिके छठे अङ्गका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ६५]—तिरस्कार करना 'द्युति' [कहलाता] है]—

जैसे कृत्यारावणकेमें मन्दोदरीके प्रति अङ्गद [कहता है]—

"मत जाओ, ठहरो, अच्छा फिर चलो, तनिक इधर चल कर खड़ी हो जाओ, जहाँ पर भुजाओंके पराक्रमके अभिमानसे चूर यह [शत्रुओंको] भयभीत करने वाला रावण [खड़ा] है। अरी मूर्खे ! मेरी दोनों भुजाओंके पञ्जरमें पड़ी हुई तू चिल्ला किस लिए रही है। सिंहके पञ्जेमें फंसी हुई हरिणीके समान अब कौन तुझको बचा सकता है ?"

कोई लोग डाटने-फटकारने [तर्जन-उद्वेजन] को 'द्युति' कहते हैं। दूसरे लोग डाटने और घसीटनेको 'द्युति' कहते हैं। इन दोनों मतोंमें अर्थका भेद न होनेसे [इसी द्युति-लक्षणके भीतर] संग्रह हो गया है। इसी प्रकार साक्षात् या परम्परासे अन्य अपमान-परक वाक्य भी 'द्युति' ही माने जाते हैं।

(७) खेद—

अब 'खेद' [नामक अमर्श सन्धिके सप्तम अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ६६]—शारीरिक या मानसिक श्रम 'खेद' [कहलाता] है।

जैसे विक्रमोर्वशीमें पुरूरवा [कहते हैं]—

"अहो श्रान्तोऽस्मि। भवतु अस्यास्तावद् गिरिनद्यास्तीरे स्थितस्तरंगवातं सेविष्ये।" इत्यादि। अत्र कायिकः।

तथा रघुविलासे सप्तमेऽङ्के रावणः—[सखेदम्]—

"हुं शक्रः स जितो जितो धृत-धृतः कैलासशैलोऽप्यरे!
क्रान्तं क्रान्तमिदं जगत् [1]प्रतिभुजग्रस्तासिकैर्बाहुभिः।
यारब्धा प्रति बन्धुबन्धनकथा लंकापतेर्जीवतः,
कर्णेषु प्रथते किमन्तमनया नीतं न विस्फूर्जितम्॥"

अत्र मानसः।

तथा कृत्यारावणे लक्ष्मणः—

"मार्गाः कण्टकिनः प्रतप्तसिकतापांशूत्करा लंघिताः,
क्रान्ताः शृङ्गवतां निकामपरुषाः स्थूलोपला भूमयः।
भ्रान्तं दृप्तमृगेन्द्रनादजनितत्रासैः समं दन्तिभिः?
पीतं च द्विपदानराजिकलुषव्यासंगतिक्तं पयः॥"

अत्रोभयजः। यद्यपि श्रमोद्वेगवितर्कादयो व्यभिचारिमध्ये लक्षयिष्यन्ते, तथापि रसविशेषपुष्टयर्थं सन्ध्यंगावसरे लक्ष्यन्ते। इति।

(८) अथ विरोधः—

[सूत्र ६८]—विरोधः प्रस्तुतज्यानिः

"अरे बड़ा थक गया हूँ। अच्छा चलो इस पहाड़ी नदीके किनारे बैठकर तरंगोंकी वायुका सेवन करूँ।" इत्यादि। इसमें शारीरिक [श्रम दिखलाया गया है]।

और रघुविलासके सप्तम अङ्कमें रावण [खेदपूर्वक कहता है]—

"हाँ उस इन्द्रको तो बार-बार जीता था। अरे! उस कैलास पर्वतको भी बार-बार उठाया ही था। और प्रत्येक भुजामें तलवार पकड़कर इस सारे जगत्को अनेक बार आक्रान्त किया ही है किन्तु आज रावणके जीते-जी उसके बन्धुओंको पकड़नेका जो यह प्रसंग प्रारम्भ हुआ है और कानोंमें पहुँच रहा है उसने क्या उस सारे दर्पका नाश नहीं कर दिया है।

इसमें [रावणके] मानसिक [खेदका वर्णन है]।

और कृत्यारावणमें लक्ष्मण [कहते हैं]—

"काँटो और जलती हुई बालू तथा धूल कूड़ा-करकटसे भरे हुए मार्गोंमें चलना पड़ा। पहाड़ोंकी अत्यन्त कठोर और बड़े-बड़े पत्थरोंसे भरी हुई भूमियोंको पार करना पड़ा। मत्त सिंहोंके गर्जनसे भयभीत हुए हाथियोंके साथ वनोंमें घूमना पड़ा और हाथियोंके मदके कलुषित सम्पर्कके कारण तिक्त पानी पीना पड़ा।"

इसमें [शारीरिक और मानसिक] दोनों प्रकारका [खेद पाया जाता है]।

यद्यपि श्रम-उद्वेग वितर्क आदिके लक्षण व्यभिचारिभावोंके प्रसंगमें किए जावेंगे फिर भी रसकी विशेष पुष्टिके लिए सन्धियोंके अङ्गोंके प्रसंगमें यहाँ भी उनके लक्षण कर दिए गए हैं।

(८) अब विरोध [नामक विमर्शसन्धिके अष्टम अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ९७]—प्रस्तुत अर्थकी हानि 'विरोध' [कहलाता] है।

---

१. प्रतिभट।

प्रस्तुतस्य कार्यस्य ज्यानिः अत्ययो विरोध इव 'विरोधः'। यथा कृत्यारावणे सप्तमेऽङ्के—

"कञ्चुकी—[लक्ष्मण-विभीषणौ प्रति] कुमार ! एतत्।

उभौ—किम्।

कञ्चुकी—आः इदम्।

उभौ—आर्य ! कथय कथय।

कञ्चुकी—का गतिः ? श्रूयताम्। आर्या खलु सीता रावणाज्ञया किंकरोपनीतं भर्तुर्मायाशिरोऽवलोक्य सखीभिराश्वास्यमानापि निवृत्तप्रयोजना 'नाहमात्मानं क्लेशयामि' इत्युक्त्वा—

सर्वे—किं कृतवती ?

कञ्चुकी—यन्न शक्यते वक्तुम्।

शशिन इव कला निशावसाने[1] कमलवनोदरमुत्सुकेव हंसी।
पतिमरणरसेन राजपुत्री स्फुरितकरालशिखं विवेश वह्निम्॥"

अत्र सीताप्रत्यानयनस्य प्रस्तुतस्य विरोधः।

अन्ये तु खेद-विरोधौ न मन्यन्ते। विद्रव-विचलने तु पठन्ति। तत्र विद्रवो बन्ध-वधाध्यवसायादिः। यथा छलितरामे—

प्रस्तुत कार्यकी हानि अर्थात् नाश विरोधके समान होनेसे 'विरोध' [कहलाता] है। जैसे कृत्यारावणके सप्तम अङ्कमें—

"कञ्चुकी—[लक्ष्मण तथा विभीषणके प्रति कहता है]—कुमार ! यह।

दोनों—क्या ?

कञ्चुकी—अरे यह।

दोनों—आर्य ! कहिए-कहिए [क्या बात है]।

कञ्चुकी—क्या करूँ। अच्छा सुनो। आर्या सीताने रावणकी आज्ञासे नौकर द्वारा लाए गए [स्वामी] रामचन्द्रके [कटे हुए] बनावटी सिरको देखकर, सखियोंके द्वारा आश्वासन दिए जानेपर भी 'अब [मेरे] जीनेका प्रयोजन समाप्त हो गया' ऐसा कहकर—

सब लोग—क्या किया ?

कञ्चुकी—जिसको कहा नहीं जा सकता है।

रात्रिकी समाप्तिपर चन्द्रमाकी कलाके [समाप्त हो जानेके] समान, उत्सुका हँसीके कमल वनोंके भीतर [समा जाने] के समान, पतिके मरणके रससे राजपुत्री सीता भयंकर ज्वालाएँ जिनमेंसे निकल रही हैं इस प्रकारकी अग्निमें प्रविष्ट हो गई।"

इसमें सीताके प्रत्यानयन रूप प्रस्तुत कार्यका विरोध है। [इसलिए यह आमर्श सन्धिके 'विरोध' नामक अष्टम अंगका उदाहरण है]।

अन्य लोग तो खेद और विरोध [इन दोनों अङ्गों] को नहीं मानते हैं [उनके स्थान पर] 'विद्रव' तथा 'विचलन' [अङ्गों] को मानते हैं। उनमेंसे बध अथवा बन्धनके निश्चयको 'विद्रव' कहते हैं। जैसे 'छलितराम'में—

---

१. दिनावसाने।

"येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितं,
बाल्याद् येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम् ।
युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितांसस्थलो,
मूर्च्छाघोरतमःप्रवेशविवशो बध्वा लवो नीयते ॥" इति ।

बधाध्यवसायस्तु मृच्छकटिकायां चारुदत्तविषयः । तथा रत्नावल्याम्—

"पुनर्वासवदत्ता—अज्जउत्त ! णं खु अत्तणो कारणा भणामि एसा मए णिग्घिणहिअयाए संपदा सागरिया विवज्जदि । इति ।

[आर्यपुत्र ! ननु खल्वात्मनः कारणात् भणाम्येषा मम निर्घृणहृदयया: सम्पत् सागरिका विपद्यते । इति संस्कृतम्] ।"

अत्र सागरिकाया बन्ध-वधाग्निर्भिर्विद्रवः ।

तथा वेणीसंहारे—

"युधिष्ठिरः—कः कोऽत्र । सनिषङ्गं धनुरुपनीयताम् । कथं न कश्चित् परिजनः । भवतु वा, बाहुयुद्धसम्भावनाविहस्तमेनं दुरात्मानं गाढमालिङ्ग्य ज्वलितज्वलनमभिपतामि ।" इति ।

अत्र सम्भ्रमात्मको विद्रवः । इति ।

शौर्य-कुल-विद्या-रूप-सौभाग्यादिसम्भवमात्मविकत्थनं तु विचलनम् ।

यथा वेणीसंहारे पञ्चमेऽङ्के—

"तात ! अम्ब !

"जिस [लव] ने सामवेदका पाठ करते हुए [ब्रह्मचारियोंका] मुख बन्द करके उनको बड़ा तंग किया । जिसने बचपनके कारण उनके अक्षसूत्र और वलय आदिको छीनकर फिर देकर क्रीड़ाएँ कीं, तुम्हारे हृदयके समान [अत्यन्त प्रिय] बाणोंसे जिसका कन्धा भरा हुआ है और मूर्च्छासे गहन अन्धकारमें पहुँच जानेके कारण विवश उस लवको [तुम्हारे सैनिक] बाँधकर लिए जा रहे हैं ।"

[यह बन्धनाध्यवसायका उदाहरण है] बधके अध्यवसायका [उदाहरण] जैसे 'मृच्छकटिक'में चारुदत्तके विषयमें [पाया जाता है] । और जैसे 'रत्नावली'में—

[वासवदत्ता फिर कहती है ।] आर्यपुत्र ! मैं अपने कारण ही कहती हूँ कि मुझ निर्दयाकी सम्पत्ति सागरिका [इस अग्निमें जलकर] मरी जा रही है ।

इसमें सागरिकाके बन्ध तथा बध आदि [दोनों] के होनेके कारण 'विद्रव' [अङ्ग पाया जाता] है । और 'वेणीसंहार'में—

"युधिष्ठिर—अरे ! यहाँ कौन है ? तूणीर सहित धनुष लाओ । अरे, कोई नौकर नहीं जान पड़ता है । अच्छा रहने दो । बाहुयुद्धकी सम्भावनाके कारण [अस्त्रसे रहित] खाली हाथ वाले इसको जोरसे पकड़कर प्रज्वलित अग्निमें कूदा पड़ता हूँ ।"

इसमें सम्भ्रम रूप 'विद्रव' है ।

शौर्य, कुल, विद्या रूप, सौन्दर्य आदिके कारण अपनी प्रशंसा करना 'विचलन' [कहलाता] है । जैसे 'वेणीसंहार'के पञ्चम् अङ्कमें—

"हे तात ! हे मातः !

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते,
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य,
प्रणमति चरणौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम् ॥

अपि-च तात !

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा ।
भंक्त्वा सुयोधनस्योरू भीमोऽयं शिरसार्चति ॥" इति ।

अत्र स्वगुणाविष्करणात् विचलनमिति ।

(९) अथ संरम्भः—

[सूत्र ९९]—संरम्भः शक्तिकीर्तनम् ॥५९॥

संरब्धानामुत्तर-प्रत्युत्तरेण आत्मशक्तिभाषणं संरम्भः ।
यथा वेणीसंहारे दुर्योधनं प्रति क्रमाद्—

"भीमः—अन्यच्च मूढ !

शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत् परित्याजितोऽसि,
भ्रातुर्वक्षःस्थलविघटने यच्च साक्षीकृतोऽसि ।
आसीदेतत् तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य,
क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनी-कुञ्जरे भीमसेने ॥

तुम्हारे पुत्रोंने जिसके ऊपर सारे शत्रुओंको विजय करनेकी आशा लगाई हुई थी, और जिसके अभिमानके कारण सारे संसारको तृणके समान तिरस्कृत किया था, उस राधा-सुत [कर्ण] को युद्धभूमिमें मारनेवाला यह मध्यम पाण्डव [अर्जुन] आपके दोनोंके चरणोंमें प्रणाम करता है ।

हे तात ! और भी [सुनिए]—

समस्त कौरवोंका नाश कर डालनेवाला, दुःशासनके रक्तसे मत्त हुआ एवं दुर्योधनकी जंघाओंको तोड़कर यह भीम [भी] आपको शिरसे नमस्कार करता है ।"

इसमें अपने गुणोंके प्रकट करनेके कारण यह 'विचलन' [अङ्गका उदाहरण] है ।

(९)—अब संरम्भ [नामक आमर्शसन्धिके नवम अङ्गके लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ९९]—[अपनी] शक्तिका कथन करना 'संरम्भ' [नामक अङ्ग कहलाता] है ।५९।

आवेश भरे दो जनोंका उत्तर-प्रत्युत्तर द्वारा अपनी-अपनी शक्तिका कथन करना 'संरम्भ' [कहलाता] है । जैसे 'वेणीसंहार' में दुर्योधनके प्रति भीम क्रमसे [कहते हैं]—

"मूर्ख ! और भी [सुन]—

स्त्रियोंके समान [अपने सम्बन्धियोंका नाश देखकर] तुझे जो रुलाया गया, और भाई [दुःशासन] की छातीको फाड़ने [और उसका रक्तपान करने] में जो तुझको साक्षी बनाया गया । तेरे कुल रूप कमलिनीके लिए हाथीके समान [विनाशक] भीमसेनके क्रुद्ध होनेपर भी तेरे अब तक जीवित रहनेका यही कारण था [अन्यथा तुझे न जाने कबका मार दिया जाता] ।

राजा—दुरात्मन् ! भरतकुलापसद ! पाण्डवपशो ! नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः । किन्तु

द्रक्ष्यन्ति न चिरात् सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणीकाभीमभूषणम् ॥"

इत्यादीति ।

असंरब्धस्यापि दृश्यते । यथा वेणीसंहारे युधिष्ठिरः—

"नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ।
बध्यतां केशपाशस्ते स चास्याकर्षणक्षमः ॥" इति ॥

सम्फेटे क्रोधेन भाषणमात्रं संरम्भे तु बलकीर्तनमित्यनयोर्भेद इति ॥५६॥

(१०) अथ शक्तिः—

[सूत्र १००]—क्रुद्धप्रसादनं शक्तिः

क्रुद्धस्य प्रसादनं अनुकूलनं बुद्धि-विभवादिशक्तिकार्यत्वेन सा शक्तिः । यदि वा क्रुद्धस्य द्विषतः प्रकर्षेण सादनं विनाशनं शक्तिः । यथा रत्नवल्याम्—

राजा—

राजा—अरे नीच ! भरतकुलकलंक ! पाण्डवपशो ! मैं तेरे समान आत्मश्लाघामें निपुण तो नहीं हूँ किन्तु—

तेरे बान्धव लोग शीघ्र ही, मेरी गदासे टूटी हुई छातीकी अस्थियोंकी मालासे भयंकर भूषणोंसे युक्त तुझको युद्धभूमिमें सोता हुआ देखेंगे ।

इत्यादिमें [संरब्धोंके शक्ति-कीर्तनके कारण 'संरम्भ' का उदाहरण है] ।

क्रोधावेशके बिना भी [शक्ति-ख्यापन] देखा जाता है । जैसे वेणीसंहारमें—

"युधिष्ठिर—प्रतिज्ञाके अङ्ग भंग होनेके भयसे वह [भीमसेन] आज तुम्हारे केशपाशको और जिसने उसका आकर्षण किया था उन दोनोंको [क्रमशः] बाँधे तथा मारेगा । [इसमें 'बध्यतां' पद बधार्थक तथा बन्धनार्थक दोनों धातुओंसे समान रूपमें ही बनता है । अतः उसके दोनों अर्थ लगते हैं] ।

यह वचन युधिष्ठिरने क्रोधावेशके बिना ही कहा है । अतः दूसरे प्रकारके 'संरम्भ' अङ्गका उदाहरण है । आगे इसी आमर्श सन्धिके सम्फेट नामक तृतीय अङ्गके साथ इस 'संरम्भ' नामक नवम अङ्गका भेद दिखलाते हैं ।

'सम्फेट' [अङ्ग] में केवल क्रोधसे भाषण मात्र होता है और 'संरम्भ' में शक्तिका कीर्तन होता है यह इन दोनोंका भेद है ॥५६॥

(१०) अब 'शक्ति' [नामक अमर्श सन्धिके दशम अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १००] क्रुद्धको प्रसन्न करना 'शक्ति' [कहलाता] है ।

क्रुद्धको प्रसन्न करना अर्थात् अनुकूल करना, बुद्धि या वैभव आदि शक्तिका कार्य होनेसे वह [क्रुद्ध प्रसादन] 'शक्ति' [कहलाता] है । अथवा क्रुद्ध हुए शत्रुका [प्रसादन अर्थात् प्रकर्षेण सादन] अत्यन्त विनाश 'शक्ति' [कहलाता] है ।

[पहले प्रकारका उदाहरण] जैसे रत्नावलीमें—राजा—

"सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्या भृशं,
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः।
प्रत्यासत्तिमुपागता मम तथा देवी रुदत्या यथा,
प्रक्षाल्येव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतो यथा॥"

तथा कृत्यारावणे सप्तमांकस्य पूर्वार्द्धे—

"कष्टं भोः कष्टम्—
रामेण प्रलयेनेव महासत्त्वेन लीलया।
पातितोऽयं दशशिराः शृङ्गवानिव पर्वतः॥" इति।

अत्र विरोधिनो रावणस्य विनाशनमिति।

एके तु विरोधप्रशमनं शक्तिमामनन्ति। यथोत्तरचरिते—

"लवः—विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघनः,
तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम्।
झगित्यस्मिन् दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा,
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः॥" इति।

एतदप्यत्रैवान्तर्भूतम्। प्रसादने प्रसत्तेरपि भावात्। अस्ति चात्र लवस्य क्रुद्धस्य मनःप्रसत्तिरिति।

"बहाने बनाकर शपथोंके द्वारा, प्रिय वचनोंके द्वारा, सर्वथा चित्तके अनुसार अनुगमन करनेके द्वारा, अत्यन्त लज्जाके [अनुभव या प्रकाशन] द्वारा, पैरोंपर पड़कर और बार-बार सखियोंके कहनेपर भी प्रिया [वासवदत्ता] उस प्रकार प्रसन्नताको प्राप्त नहीं हुई जैसी कि स्वयं रोती हुई उसने आँसुओंसे मानो क्रोधको धोकर बहा दिया हो [अर्थात् वासवदत्ताके इन आँसुओंने मानो उसका सारा क्रोध बहा दिया हो।]"

यह प्रथम प्रकारके प्रसादन रूप शक्ति अङ्गका उदाहरण है। दूसरे लक्षणके अनुसार शक्ति अङ्गका उदाहरण आगे देते हैं—

और जैसे 'कृत्यारावण'के सप्तमांकके पूर्वार्द्ध में—

"अरे! बड़े दुःखकी बात है कि—

प्रलयके समान महा-शक्तिशाली रामचन्द्रने शृङ्गोंसे युक्त पर्वतके समान इस दश शिरोंवाले रावणको अनायास ही गिरा दिया।"

इसमें विरोधी रावणका विनाश कहा गया है [अतः यह दूसरे लक्षणके अनुसार शक्ति नामक अङ्गका उदाहरण है]।

कुछ लोग विरोधके प्रशमको 'शक्ति' कहते हैं। जैसे 'उत्तरचरित'में—

"लव—[रामचन्द्रजीके आजानेसे चन्द्रकेतुके साथ होनेवाले युद्धमें हम दोनों अर्थात् लव और चन्द्रकेतुका] विरोध शान्त हो गया और आनन्द प्रदान करने वाला प्रेम [रस] उत्पन्न हो रहा है। वह उद्दण्डता [जो मेरे अब भीतर थी] न जाने कहाँ चली गई, और विनय मुझे [उसके सामने] विनम्र बना रही है। इनको देखकर न जाने क्यों मैं तुरन्त ही परवश-सा हो गया हूँ अथवा तीर्थोंके समान महापुरुषोंका कुछ अनिर्वचनीय प्रभाव होता है।

इसमें यह [विरोध-विश्रान्ति] भी इसी [क्रुद्ध-प्रसादन] में अन्तर्भूत हो जाती है। प्रसादन

प्रकृताभिप्रायविरुद्धाचरणहेतुरभिप्रायो भावान्तरमङ्गं अत्रान्य मन्यन्ते।

यथा तापसवत्सराजे षष्ठेऽङ्के—यौगन्धरायणस्य वासवदत्तां मरणाध्यवसायान्निवर्तयितुं भावः। तद्विरुद्धा चिताविरचनक्रिया अभिप्रायान्तरात् कृतेति भावान्तरम्। तत्र हि—

"यौगन्धरायणः—भद्र विनीतक ! रचय चिताम्।" इति।

अन्ये तु शक्तेः स्थाने आज्ञां पठन्ति। युक्तायुक्तमविचार्य क्रोधाद् यदाज्ञापनं सा आज्ञा। यथा कृत्यारावणे त्रिजटया दारुणिकभिधाना राक्षसी पृष्टा—

त्रिजटा—दारुणिए किं तुमं भणासि।

[दारुणिके ! किं त्वं भणसि। इति संस्कृतम्]।

दारुणिका—अय्ये तियडे ! अवि नाम अप्पडिहृदा आणा मम सरीरे निवडिस्सइ न उण ईदिसं अकज्जं करइस्सं।

[अयि त्रिजटे ! अपि नाम अप्रतिहृता आज्ञा मम शरीरे निपतिष्यति न पुनरीदृशमकार्यं करिष्यामि। इति संस्कृतम्]।

त्रिजटा—तहा वि तुमं दारुणिअ त्ति वुच्चसि।

[तथापि त्वं दारुणिका इत्युच्यसे। इति संस्कृतम्]

(पुनः क्रमान्नेपथ्ये—)

में [प्रसत्ति] प्रसन्नताके भी आ जानेसे। और यहाँ क्रुद्ध लवके मनकी प्रसत्ति अर्थात् प्रसन्नता हैं। [अतः यह क्रुद्ध प्रसादन रूप शक्तिके भीतर ही आ जाता है। उसका अलग लक्षण करने की आवश्यकता नहीं है]।

अन्य लोग प्रकृत अभिप्रायके विरुद्ध आचरणके हेतुभूत अभिप्राय-रूप भावान्तरको इसके स्थान पर अङ्ग मानते हैं। जैसे तापसवत्सराजके षष्ठ अङ्कमें यौगन्धरायणका वासवदत्ताको मरणसे बचानेका अभिप्राय है। किन्तु उसके विपरीत चिता बनानेकी क्रिया दूसरे अभिप्रायसे कराई है। इसलिए वह भावान्तर [अङ्ग] का उदाहरण है। जैसे कि—

वहाँ [यौगन्ध रूपण कहते हैं]

"यौगन्धरायण—हे भद्र विनीतक ! चिता बना दो। यह [यौगन्धरायणका वचन उनके प्रकृत अभिप्रायके विपरीत होनेसे भावान्तरका उदाहरण है]।

अन्य लोग शक्तिके स्थानपर आज्ञा [नामक अङ्ग] को रखते हैं। उचित-अनुचितका विचार किए बिना क्रोधसे जो आग दे देना है उसको आज्ञा [अङ्ग] कहते हैं। जैसे कृत्यारावणमें त्रिजटा दारुणिका नामकी राक्षसीसे पूछती है।

त्रिजटा—हे दारुणिके ! तुम क्या कह रही हो ?

दारुणिका—हे आर्ये त्रिजटे ! [रावणकी] अप्रतिहत आज्ञा मेरे शरीरपर भले ही गिरे [अर्थात् रावण भले ही मुझे जान से मरवा डाले] किन्तु मैं इस प्रकारका अनुचित कार्य नहीं करूँगी।

त्रिजटा—फिर भी लोग तुमको दारुणिका [नामसे] कहते हैं।

फिर क्रमसे नेयथ्यमें—

"हा तियडे ! एसा दे पियसही सीदा भत्तुणो मायासिरदंसणुप्पत्तीमरण-निच्छया अग्गिं पविसिउकामा। [हा त्रिजटे एषा ते प्रियसखी सीता भर्तुर्माया-शिरोदर्शनोत्पत्तिमरणनिश्चया अग्निं प्रवेष्टुकामा]।

त्रिजटा—हा हदम्हि मंदभाइणी मा दाणि दिव्वेण भत्तुणो आणा संपादीयदि। [हा हतास्मि मन्दभागिनी। मा इदानीं दैवेन भर्तुराज्ञा सम्पाद्यते]।

एतस्मादवसीयते सीताव्यापादनाय क्रोधाद् रावणेन दारुणिकायै आज्ञा दत्तेति।

सर्वसन्धिष्वपि मतान्तराणि वृद्धोक्तत्वात् भणितिभेदाद् वैचित्र्यस्य रञ्जकत्वाच्च प्रमाणान्येव। अत एव सर्वसन्धिष्वप्यंगसंख्याकरणमुदाहरणपरमिति मन्तव्यमिति।

अथ प्ररोचना—

[सूत्र १००]—भावसिद्धिः प्ररोचना।

निर्वहणसन्धौ भाविनोऽर्थस्य सिद्धिः सिद्धत्वेनोपक्रमणं प्रकर्षेण रोच्यते दीप्यतेऽनया रूपकार्थं इति प्ररोचना। यथा वेणीसंहारे—

पाञ्चालकः—['अहं च देवेन चक्रपाणिना' इत्युपक्रम्य] कृतं सन्देहेन—

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णात्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम्।

हा त्रिजटे ! तुम्हारी यह प्रिय सखी सीता स्वामी [रामचन्द्रके] बनावटी शिरको देखनेके कारण देनेके निश्चय करके अग्निमें प्रविष्ट होना चाहती है।

त्रिजटा—अरे मैं अभागिनी मरी। भगवान् करे इस समय स्वामी [रावण] की आज्ञापूर्ण न हो सके।

इस [संवाद] से प्रतीत होता है कि रावणने दारुणिकाको सीताको मार डालनेकी आज्ञा दी थी। [इसलिए यह 'आज्ञा' नामक अङ्गका उदाहरण है। क्योंकि वह आज्ञा क्रोधा-वेशमें ही दी गई है।

सभी संधियोंमें [अङ्गोंके विषयमें] अन्य-अन्य [लक्षण प्रस्तुत करनेवाले] मत वृद्धों द्वारा कथित होनेसे और वर्णन-शैलीके भेदसे उत्पन्न वैचित्र्यके मनोरञ्जक होनेके कारण प्रमाणभूत [मान्य] ही है। इसीलिए सभी संधियोंमें अङ्गोंकी गणना केवल उदाहरण-परक समझनी चाहिए। [अर्थात् उसी प्रकारके अन्य अङ्ग भी हो सकते हैं। वह संख्या निश्चित नहीं है यह समझना चाहिए]।

अब 'प्ररोचना' [नामक विमर्शसंधिके दशम अङ्गके लक्षण आदि करते हैं]—

आगे होनेवाली सिद्धि [का कथन] 'प्ररोचना' [कहलाती] है।

निर्वहण संधिमें आगे होनेवाले अर्थकी सिद्धि, अर्थ या उसको सिद्ध ही मानकर कथन करना जिसके द्वारा रूपकका विषय प्रकर्षसे प्रकाशित या दीप्त होता है [इस व्युत्पत्तिके अनु-सार] 'प्ररोचना' [कहलाती] है। जैसे 'वेणीसंहार'में—

पाञ्चालक—[मुझे देव चक्रपाणि कृष्ण ने यहाँसे लेकर] संदेहकी कोई आवश्यकता नहीं है [इस लिए]—

रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥

अत्र युधिष्ठिरराज्याभिषेकस्य द्रौपदीकेशसंयमनस्य च भाविनोऽपि सिद्धत्वेन कल्पनम् ।

यथा वा राघवाभ्युदये सप्तमेऽङ्के—

सीताया वदनं विकाशमयता रामस्य शोकानलः
शान्तिं यातु सगीतयश्चलभुजैर्नृत्यन्तु शाखामृगाः ।
सन्धानाय विभीषणः प्रयततां लंकाधिपत्यश्रियः
सौमित्रेर्दशकण्ठ-कण्ठविपिनं कालः कियांश्छिन्दतः ॥ इति ।

अन्ये तु सत्कारादेशनं प्ररोचनामाहुः । यथा वेणीसंहारे—

युधिष्ठिरः—[पुरुषमवलोक्य] भद्र उच्यतां सहदेवः क्रुद्धस्य वृकोदरस्यापर्युषितां दारुणां प्रतिज्ञामुपलभ्य प्रणष्टस्य मानिनः कौरवनाथस्य पदवीमवेक्षितुमतिनिपुणमतयः, तेषु तेषु स्थानेषु परात्मवेदिनश्चारा, मन्त्रिणः सचिवाश्च भक्तिमन्तः पटुपटहव्यक्तघोषणाः सुयोधनसञ्चारवेदिनः प्रतिश्रुतधन-पूजा-प्रत्युपक्रियाः सञ्चरन्तु समन्तपञ्चकमिति । धन-पूजाप्रतिश्रवणप्रचोदिताः प्रत्युपकारे वर्तिष्यन्ते दुर्योधनप्रतिलम्भवार्तायै । इति ।

आप [अर्थात् युधिष्ठिर] अपने राज्याभिषेकके लिए आप रत्नोंके कलशोंको जलसे भरवावें, और द्रौपदीके बहुत दिनोंसे खुले हुए केशपाशको बाँधनेका उत्सव करे । क्योंकि तीक्ष्ण कुठारसे दीप्त करवाले क्षत्रिय रूप वृक्षोंको काटनेवाले परशुराम और क्रोधान्ध भीमके संग्राममें आ जाने पर [विजयमें] क्या संदेह है ?

इस [पाञ्चालकके कथन] में आगे होनेवाले युधिष्ठिरके राज्याभिषेक तथा द्रौपदीके केशबंधन रूप अर्थको सिद्ध-सा मान लिया गया है । [अतएव यह 'प्ररोचना' नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

अथवा जैसे राघवाभ्युदयके सप्तम अङ्कमें—

सीताका मुख प्रसन्नतासे खिल उठे, रामचंदजीकी शोकानल शांत हो जाय, वानर लोग गीत गाते हुए और हाथ हिलाते हुए नाचें, और विभीषण लङ्काकी राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करने का प्रयत्न आरम्भ कर दे, क्योंकि लक्ष्मणको रावणके कण्ठोंके वनको काटनेमें कितनी देर लगनी है [तनिक देरमें काट डालेंगे] ।

इसमें आगे होनेवाली बातोंको सिद्धवत् वर्णन किया गया है । इसलिए यह 'प्ररोचना' अङ्गका उदाहरण है ।

अन्य लोग सत्कारकी आज्ञाको 'प्ररोचना' कहते हैं । जैसे 'वेणीसंहार'में—

युधिष्ठिर—[पुरुषकी ओर देखकर] भद्र सहदेवसे कहो कि क्रुद्ध भीमकी बासी न होनेवाली [अर्थात् आज ही पूरी होनेवाली दुर्योधनके वधकी] प्रतिज्ञाको सुनकर छिप गए हुए अभिमानी कौरवराजके स्थानका पता लगानेके लिए उन-उन स्थानोंपर अपने और शत्रुपक्षके पहिचाननेवाले गुप्तचर, मंत्री और भक्तिमान् सचिव और तीव्र पटह वाद्य द्वारा स्पष्ट रूपसे घोषणा धन पूजा आदि पुरस्कारकी सूचना प्राप्त, दुर्योधनके गमनागमन [के स्थानों] को

अन्ये त्वस्य स्थाने युक्तिं पठन्ति। युक्तिश्च सविच्छेदोक्तिः। यथा पुष्पदूतिके—

"समुद्रदत्तः—

भर्ता तवाहमिति कष्टदशाविरुद्धं,
पुत्रस्तवैष कुत इत्यनुदारतैषा।
शस्त्रं पुरः पतति किं करवाणि हन्त,
व्यक्तं विरौमि यदि साभ्युपपत्स्यते माम्॥" इति।

(१२) अथादानम्—

[सूत्र १०१]—फलसामीप्यमादानम्।

मुख्यफलस्य दर्शनमादानम्। यथा नागानन्दे—

[नायकमुद्दिश्य] गरुडः—

नागानां रक्षिता भाति गुरुरेष यथा मम।
तथा सर्पाशनाकांक्षा व्यक्तमद्यापनेष्यति॥

अत्र नागरक्षालक्षणस्य मुख्यफलस्य सामीप्यनिबन्ध इति।

(१३) अथ व्यवसायः—

[सूत्र १०२]—व्यवसायोऽर्थ्यहेतुयुक्॥ ६०॥

जाननेवाले लोगोंको समंत-पञ्चकके चारों ओर भेज दें। बदलेमें धन पूजा आदिके आश्वासन से प्रेरित होकर दुर्योधनको पकड़वानेके [लिए] समाचार देनेको तैयार हो जावेंगे।

इसमें दुर्योधनका पता लगानेवालोंको सत्कार धन आदिका प्रलोभन देनेका जो वचन दिया गया है वही 'प्ररोचना' है।

अन्य लोग तो इस [प्ररोचना] के स्थानपर युक्ति [अङ्ग] को पढ़ते हैं। जैसे पुष्पदूतिक में समुद्रदत्त [कहता है]—

"मैं तुम्हारा स्वामी हूँ यह [कहना इस] कष्टदशाके विपरीत है। यह तुम्हारा पुत्र है [यह कहा जाय] तो फिर यह अनुदारता क्यों? शस्त्रका प्रहार होनेवाला है अब क्या करूँ, यदि स्पष्ट रूपसे रोता-चिल्लाता हूँ तो वह मुझको जान लेगी।"

(१२) अब 'अवदान' [नामक विमर्शसंधिके बारहवें अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १०१] फलका समीप दीखना 'आदान' कहलाता है।

मुख्य फलका [समीप] दीखना 'आदान' कहलाता है। जैसे नागानन्दमें नायकको लक्ष्य करके गरुड़ [कहते हैं]—

"नागोंके रक्षक ये [जीमूतवाहन] मेरे गुरुसे प्रतीत होते हैं इसलिए अब साँपोंको खाने की [मेरी] इच्छा निश्चय ही समाप्त हो जायगी।"

इसमें नागोंकी रक्षा रूप मुख्य कार्यके सामीप्यका वर्णन किया गया है। [अत एव यह 'आदान' नामक इस अङ्गका उदाहरण है]।

(१३) अब 'व्यवसाय' [नामक विमर्शसंधिके तेरहवें अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १०२]—अर्थनीय फलके हेतुका योग 'व्यवसाय' [कहलाता] है।६०।

'युगिति' योजनं युक्। अर्थनीयफलस्य हेतुस्तद्योगो व्यवसायः। यथा रत्नावल्याम्—

"ऐन्द्रजालिकप्रवेशादारभ्य—'एक्को उण खेडओ तए अवस्सं पेक्खिदव्वो' [एकः पुनः खेलकस्त्वयावश्यं प्रेक्षितव्यः] इति यावत्। अत्र हि यौगन्धरायणेन यदंगीकृतं तन्निष्पादकहेतुसमागमः।

अन्ये तु 'व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः' इति पठन्ति। यथा वेणीसंहारे—

नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभंगभीरुणा।
बध्यते केशपाशस्ते स चास्याकर्षणक्षमः॥ इति।

एतच्च 'संरम्भः शक्तिकीर्तनम्' इत्यनेनैव संगृहीतमिति।

केचिदन्यतमाङ्गानङ्गीकारेण द्वादशाङ्गमेवैतं सन्धिमिच्छन्ति। एवं गर्भसन्धिमपीति।

एतान्यवमर्शसन्धेस्त्रयोदशाङ्गानि।

अथ निर्वहणसन्धेरङ्गानि लक्षयितुमुद्दिशति—

[सूत्र १०३]—सन्धि-निरोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम्।
उपास्तिः कृतिरानन्दः समयः परिगूहनम् ॥६१॥

'युक' अर्थात् योजन। अर्थनीय फलका जो हेतु उसका योग 'व्यवसाय' [कहलाता] है। जैसे रत्नावलीमें—ऐन्द्रजालिकके प्रवेशसे लेकर 'मेरा एक खेल आपको अवश्य देखना चाहिए' यहाँ तक [अर्थनीय फलका योग होनेसे व्यवसाय अङ्गका उदाहरण है]। इसमें यौगंधरायणने [उदयन तथा वासवदत्ताका सम्बंध करानेका] जो निश्चय किया था उसके सम्पादक हेतुका समागम हो रहा है [अत एव यह 'व्यवसाय' नामक अङ्गका उदाहरण है]।

अन्य लोग तो "अपनी शक्तिका कथन करना 'व्यवसाय' [कहलाता] है" ऐसा लक्षण करते हैं। जैसे वेणीसंहारमें—

"प्रतिज्ञाका भङ्ग न होने पावे इस भयसे वह वीर [भीमसेन] निश्चय ही आज तुम्हारे केशपाशको बाँधेगा और जिस [दुःशासन] ने इसको खींचा था उसको मारेगा।"

यहाँ 'बध्यते' यह पद बधार्थक तथा बंधार्थक दोनों धातुओंसे समान रूपमें ही बनता है इसलिए उसका एक पक्षमें बाँधना और दूसरे पक्षमें मारना दोनों ही अर्थ होते हैं।

[कुछ लोग 'व्यवसाय'का 'व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः' ऐसा लक्षण करते हैं] किन्तु यह "शक्तिका कथन करना संरम्भ [अङ्ग कहलाता] है" इस [संरम्भ अङ्ग] के भीतर ही आ जाता है [अतः व्यवसायका यह लक्षण उचित नहीं है]।

कुछ लोग [विमर्शसंधिके तेरह अङ्गोंमेंसे] किसी अङ्गको न मानकर इस संधिके बारह अङ्ग ही मानते हैं। इसी प्रकार गर्भसंधिमें भी [बारह अङ्ग ही मानते हैं]।

ये अवमर्शसंधिके तेरह अङ्ग हैं ॥ ६० ॥

निर्वहण सन्धिके चौदह अङ्ग—

अब निर्वहणसंधि के अङ्गोंके लक्षण करनेकेलिए उनके नाम गिनाते हैं—

[सूत्र १०३ क]—(१) संधि, (२) निरोध, (३) ग्रथन, (४) निर्णय, (५) परिभाषण, (६) उपासना, (७) कृति, (८) आनन्द, (९) समय, (१०) परिगूहन ।६१।

भाषणं काव्यसंहार-पूर्वाभाव-प्रशस्तयः ।
चतुर्दशाङ्गो निर्वाहः,
विशेषानुपादानात् सर्वाण्यप्येतानि प्रधानानि ॥६१॥

(१) अथ सन्धिः—

[सूत्र १०४]—सन्धिर्बीजफलागमः ॥६२॥

मुखसन्धौ न्यस्तस्य प्रारम्भावस्थाविषयीकृतस्य बीजस्य उद्घाटौन्मुख्याद्यै-विकारैः फले फलागमावस्थायामागमनं ढौकनं सन्धिः । यथा रत्नावल्याम्—

वसुभूतिः—[अग्निविद्रवानन्तरं सागरिकां निर्वर्ण्य] बाभ्रव्य ! सुसदृशीयं राजपुत्र्याः ।

बाभ्रव्यः—ममाप्येवमेव मनसि । इति ।

अत्र मुखे यदुप्तं बीजं तन्निकटीभूतमिति । इदमङ्गमवश्यं निबन्धनीयम् ॥६२॥

(२) अथ निरोधः—

[सूत्र १०५]—निरोधः कार्यमीमांसा ।

नष्टस्य कार्यस्य युक्तये यदन्वेषणं तन्निरुद्धवस्तुविषयत्वान्निरोधः । यथा छलित-रामे लक्ष्मणेन बद्ध्वा आनीतो लवो यज्ञार्थं सीताप्रतिकृतिमुपकल्पितां रामसदसि दृष्ट्वा स्वगतमाह—

[सूत्र १०३ ख]—(११) भाषण, (१२) काव्योपसंहार, (१३) पूर्वभाव तथा (१४) प्रशंसा, निर्वहण [संधि] के ये चौदह अङ्ग होते हैं ।

[अन्य संधियोंके समान इनमें गौण और मुख्यका] भेद न किए जानेसे ये सभी मुख्य अङ्ग हैं [इनमें कोई भी अङ्ग गौण नहीं है] । ६१ ।

(१) अब 'संधि' [नामक निर्वहणसंधिके प्रथम अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १०४]—बीजका फल रूप तक पहुँचना 'संधि' [नामक अङ्ग कहलाता] है ।६२।

मुखसंधिमें आरोपित प्रारम्भावस्था बीजरूपका, उद्घाटन-औन्मुख्य आदि विकारोंके द्वारा फल अर्थात् फल-प्राप्तिकी अवस्थामें आ जाना अर्थात् पहुँच जाना 'संधि' [नामक अङ्ग कहलाता] है । जैसे रत्नावलीमें—

"वसुभूति—[अग्निदाहके उपद्रवादिके बाद सागरिकाको देखकर] हे बाभ्रव्य ! यह तो राजपुत्रीके समान मालूम होती है ।

बाभ्रव्य—मेरे मन में भी यही बात है ।

यहाँ मुखसंधिमें जिस [सागरिका प्राप्ति रूप] बीजका वपन किया गया था वह [प्राप्तिके अत्यन्त] निकट पहुँच गया है । इस अङ्गकी रचना अवश्य ही करनी चाहिए ।६२।

(२) अब 'निरोध' [नामक निर्वहणसंधिके द्वितीय अंगका लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र १०५]—कार्यका विचार करना 'निरोध' [कहलाता] है ।

विनष्ट कार्यके बनानेके लिए जो अनुसंधान करना वह निरुद्ध [विनष्ट] वस्तु-विषयक होनेसे 'निरोध' [कहलाता] है । जैसे छलितराममें [अश्वमेधयज्ञका घोड़ा पकड़नेके कारण] लक्ष्मण द्वारा बाँधकर लाया हुआ लव, रामके सभा-भवनमें यज्ञके लिए बनाई हुई सीताकी सुवर्णमयी प्रतिमाको देखकर अपने मनमें कहता है—

"लवः--अये कथमियमम्बा राजद्वारमागता । [उत्थाय सहसोपसृत्याञ्जलिं बद्ध्वा] अम्ब ! अभिवादये । [निरूप्य] कथमियं काञ्चनमयी । [अपसृत्योपविशति, सर्वे परस्परमवलोकयन्ति] ।

रामः--[दृष्ट्वा] वत्स ! किमियं तव माता ।

लवः--राजन् ! ज्ञायते सैवेयमस्मज्जननी, किन्त्वेषा देवी भूषणोज्ज्वला ।

[रामः सबाष्पं हस्ते गृहीत्वा समीपे उपवेशयति] ।

लक्ष्मणः--[सास्रम्] आयुष्मन् ! किन्नामधेया सा देवानां प्रियस्य जननी ।

लवः--तां खलु मातामहो अस्माकमभिधत्ते सीतेति ।

लक्ष्मणः--[सबाष्पं रामस्य पादयोर्निपत्य] आर्य ! दिष्ट्या वर्धसे, सपुत्रा जीवत्यार्या ।"

अत्र नष्टस्य सीताजीवनकार्यस्य युक्त्या मीमांसेति ।

(३) अथ ग्रथनम्—

[सूत्र १०६]—ग्रथनं कार्यदर्शनम् ।

कार्यं मुख्यफलम् । ग्रथ्यते सम्बध्यते व्यापारेण मुख्यफलमनेनेति ग्रथनम् ।

यथा वेणीसंहारे—

"भीमसेनः—पाञ्चालि ! न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना । तिष्ठतु तिष्ठतु स्वयमेवाहं संहरामि ।" इति ।

"लव—अरे, ये माताजी राजाके द्वारपर कैसे आई ? [उठकर और सहसा पास जाकर और हाथ जोड़कर—हे माताजी ! नमस्ते ! [देखकर] अरे यह तो सोनेकी है । [हटकर बैठ जाता है । सब लोग एक-दूसरेको देखने लगते हैं ।

राम--[देखकर] हे वत्स ! क्या ये तुम्हारी माताजी हैं ।

लव—हे राजन् ! ऐसा मालूम होता है कि ये हमारी वे माता ही हैं । किन्तु यह देवी तो भूषण धारण किए हुए है ।

[रामचंद्र रोते हुए हाथ पकड़कर लवको पास बिठालते हैं] ।

लक्ष्मण—[रोते हुए] आयुष्मन् ! तुम्हारी माताजीका क्या नाम है ?

लव—उनको हमारे नानाजी सीता कहते हैं ।

लक्ष्मण—[रोते हुए रामचंद्रके पैरोंपर गिरकर] आर्य, भाग्यसे आपकी वृद्धि है । आर्या [सीता] पुत्र सहित जीवित हैं ।"

यहाँ सीताके जीवनरूप विनष्ट हुए कार्यकी युक्ति द्वारा मीमांसा की है । [अतः यह निरोध नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

(३) अब 'ग्रथन' [नामक निर्वहण संधिके तृतीय अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १०६]—कार्यका दिखलाई देना 'ग्रथन' [कहलाता] है ।

कार्य अर्थात् मुख्य फल । जिस व्यापारके द्वारा मुख्य फल ग्रथित अर्थात् सम्बद्ध होता है वह 'ग्रथन' [अङ्ग] है । जैसे वेणीसंहारमें—

"भीमसेन—हे पाञ्चालि ! मेरे जीवित रहते दुःशासनके द्वारा खींचे गए केशोंको अपने हाथसे मत बाँधना । ठहरो-ठहरो, मैं स्वयं अभी बाँधता हूँ ।"

अत्र द्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्य व्यापारेण ग्रथनमिति।

(४) अथ निर्णयः—

[सूत्र १०७]—निर्णयोऽनुभवख्यातिः !

ज्ञेयेऽर्थे सन्दिहानं अप्रतिपद्यमानं वा प्रति यदनुभवस्यानुभूतस्यार्थस्य निर्णयार्थं कथनं तत् ज्ञेयार्थनिर्णयात् निर्णयः। यथा यादवाभ्युदये समुद्रविजयं प्रति—

"वसुदेवः—[सप्रमोदम्] देव ! मया कंसप्रतिभयेन कृष्णं गोकुले गोपयता यो महान् क्लेशोऽनुभूतस्तस्य फलमिदानीमभूत्। किन्तु लोकपरिज्ञानभयेन यन्मया देवपादानामपि न विज्ञप्तं तत्र देवेन क्षन्तव्यम्।"

अत्र वसुदेवेन स्वानुभूतं कृष्णगोपनक्लेशं समुद्रविजयो बोधितः।

यथा वा पुष्पदूतिके प्रकरणे—

'किन्नामनक्षत्रोऽयं बालकः' इति समुद्रदत्तेन पृष्टः सेनापतिः 'विशाखानक्षत्रोऽयं बालकः' इत्याह।

समुद्रदत्तः श्रुत्वा पूर्वानुभूतं नन्दयन्तीसमागमं स्मरन्नाह—'तदा किल नन्दयन्त्या पृष्टेन मया कथितं यथा—

एतौ तौ प्रतिदृश्येते चारुचन्द्रसमप्रभौ।
ख्यातौ कल्याणनामानौ उभौ तिष्यपुनर्वसू॥

तदाधानाद् दशमं जन्मनक्षत्रमिति ज्योतिःशास्त्रसमर्थविदो यद् ब्रुवते तदुपपन्नमेवेति।

इसमें द्रौपदीके केशोंके बाँधनेक रूप कार्यका व्यापार द्वारा ग्रथन किया है।

(४) अब 'निर्णय' [नामक निर्वहणसंधिके चतुर्थ अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १०७]—अनुभवका कथन करना 'निर्णय' [कहलाता] है।

जानने योग्य अर्थके विषयमें संदेहयुक्त या अज्ञानयुक्त व्यक्तिके प्रति जो निर्णयके लिए अनुभूत अर्थका कथन करना है वह, ज्ञेय अर्थका निर्णय करनेवाला होनेसे 'निर्णय' [कहलाता] है। जैसे यादवाभ्युदयमें समुद्रविजयके प्रति वसुदेव कहते हैं—

"वसुदेव—[आनन्दके साथ] देव कंसके भयके कारण कृष्णको गोकुलमें छिपाकर रखने में मैंने जो कष्ट उठाए उनका फल आज प्राप्त हो गया। किन्तु लोगोंको मालूम हो जानेके भय से जो मैंने आपको भी नहीं बतलाया उसके लिए आप क्षमा करें।"

यहाँ वसुदेवने अपने अनुभूत कृष्णके छिपानेके क्लेशकी समुद्रविजयको सूचना दी।

अथवा जैसे पुष्पदूतिक [नामक] प्रकरणमें—"यह बालक किस नक्षत्रमें उत्पन्न हुआ है" इस प्रकार समुद्रदत्तके द्वारा पूछे जानेपर सेनापति—"यह बालक विशाखा नक्षत्रमेंका है" यह कहते हैं। इसको सुनकर समुद्रदत्त पूर्वानुभूत नन्दयंतीके समागमको स्मरण करते हुए कहते हैं कि "उस समय नंदयंतीके द्वारा पूछे जानेपर मैंने उससे कहा था कि—

चन्द्रमाके समान सुन्दर कांति वाले और प्रसिद्ध सुन्दर नामवाले ये दोनों तिष्य और पुनर्वसूके समान दिखलाई देते हैं।

उसको ध्यानमें रखनेसे ज्योतिःशास्त्रके पण्डित जो यह कहते हैं कि इनका जन्म-नक्षत्र दशम है सो ठीक ही है।"

(५) अथ परिभाषा—

[सूत्र १०८]—परिभाषा स्वनिन्दनम् ॥ ६३ ॥

स्वापराधोद्घट्टनं परिभाषा । यथा तापसवत्सराजचरिते वासवदत्तां प्रति—

"राजा—[सास्रम्] देवि ! किं ब्रवीषि—

यथा तथा धृतप्राणं निःस्नेहं निरपत्रपम् ।
आनन्दामृतवर्षिण्या दृष्ट्याप्यनुगृहाण माम् ॥

यथा वा नलविलासे दमयन्तीं प्रति नलः—

"न प्रेम निहितं चित्ते न चाचारः सतां स्मृतः ।
त्यजता त्वां वने देवि ! मया दारुणमाहितम् ॥"

यथा वा राघवाभ्युदये रामः [स्वगतम्]

"वैदेहीं हृतवांस्तदेष महतः संख्ये विषह्य क्लमान्,
चक्रोत्पाटितकन्धरो दशमुखः कीनाशदासीकृतः ।
प्राणान् यद्विरहेऽप्यहं विधृतवांस्तेन त्रपापांसुरं,
वक्त्रं दर्शयितुं तथापि न पुरस्तस्या विलक्षः क्षमः ॥"

एषु वत्सराज-नल-रामचन्द्राणां स्वापराधोद्घट्टनमिति । एतदङ्गं रञ्जकत्वादत्रावश्यं निबन्धनीयम् ।

---

(५) अब 'परिभाषण' [नामक निर्वहण संधिके पञ्चम अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

अपनी निन्दा करना 'परिभाषण' [कहलाता] है । ६३ ।

[सूत्र १०८]—अपने अपराधको प्रकाशित करना 'परिभाषा' [अङ्ग कहलाता] है । जैसे तापसवत्सराज चरितमें वासवदत्ताके प्रति [राजा उदयन कहते हैं]—

"राजा—[रोते हुए] देवि ? क्या कहती हो—

स्नेहरहित और निर्लज्ज, जैसे-तैसे अपने प्राण धारण करनेवाले मुझको तुम अपनी आनंदामृतको बरसानेवाली दृष्टिसे अनुगृहीत करो ।"

अथवा जैसे नलविलासमें नल दमयंतीके प्रति [कहते हैं]—

"मैंने [तुमको वनमें सोता छोड़कर जाते समय] न तुम्हारे प्रेमका मनमें विचार किया और न सज्जन-पुरुषोंके आचारका । हे देवि ! तुमको वनमें छोड़कर मैंने अत्यंत निष्ठुरताका कार्य किया था ।"

अथवा जैसे रामाभ्युदयमें राम [स्वगत कहते हैं]—

"इस [रावण] ने वैदेहीका अपहरण किया था इसलिए युद्धमें नाना प्रकारके क्लेशोंको उठाकर चक्रसे गले काटकर उस रावणको यमराजका दास बना दिया । किन्तु तुम्हारे वियोग में भी जो मैं प्राण धारण किए रहा इस लज्जाके कारण मैं अपने मलिन मुखको तुम्हारे सामने दिखला नहीं पाता हूँ ।"

इन [तीनों उदाहरणों] में [क्रमशः] वत्सराज, नल और रामचंद्र अपने-अपने अपराधों को प्रकाशित करते हैं [इसलिए ये 'परिभाषण' नामक अङ्गका उदाहरण हैं] ।

मनोरञ्जक होने के कारण इस अङ्गकी रचना अवश्य ही करनी चाहिए ।

कुछ लोग 'आपसमें बातचीतको परिभाषण' कहते हैं । इसमें भी यही [वत्सराज,

एके तु 'परिभाषा मिथो जल्पः' इति पठन्ति ।

अत्रापीदमेवोदाहरणमिति ॥६३॥

(६) अथोपास्तिः—

[सूत्र १०६]—सेवोपास्तिः ।

सेवा पर-प्रसत्तिहेतुर्व्यापारः । यथा वेणीसंहारे—

"भीमः—[द्रौपदीमपुसृत्य] देवि पाञ्चालतनये ! दिष्ट्या वर्धसे रिपुकुलक्षयेण ।"

अनेन, भीमेन द्रौपद्याः प्रसादितत्वात् पर्युपास्तिः ।

यथा वा रघुविलासे—

"रामः [सविनयं सीतां प्रति]—

प्राणान् यद्विरहेऽप्यहं विधृतवान् देवि ! प्रियप्राणित-
स्तत् क्षन्तव्यमशेषमेष समयः स्मेराक्षि ! नैव क्रुधाम् ।
सौमित्रेः कपिभर्तुरस्य च मनःप्रीत्यै तदेहि प्रिये,
हस्तिस्कन्धमलंकुरुष्व ननु ते पूर्णः प्रतिज्ञावधिः ।"

अत्र रामस्य सीताप्रसत्तिहेतुर्व्यापारः ।

अन्ये त्वस्य स्थाने प्रियहिताचरणजनितां प्रसत्तिं प्रसादमङ्गमाहुः । यथा तापसवत्सराजे गृहीतपञ्चालाधिपतिं रुमण्वन्तं यौगन्धरायणं च प्रति—

नल तथा रामचंद्र तीनोंकी उक्तियाँ] उदाहरण हैं । ६३ ।

(६) अब 'उपास्ति' [नामक निर्वहणसंधिके षष्ठ अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र १०६]—सेवा [का ही नाम] 'उपास्ति' [उपासना] है ।

सेवा अर्थात् दूसरेको प्रसन्न करनेवाला व्यापार [उपासना उपास्ति कहलाता है] जैसे वेणीसंहारमें—

"भीम—[द्रौपदीके पास जाकर] हे देवि पाञ्चालतनये ! सौभाग्यसे शत्रुकुलके नाशसे तुम्हारी वृद्धि हो रही है ।"

इसके द्वारा भीमके द्रौपदीको प्रसन्न करनेसे यह पर्युपासन [का उदाहरण] है ।

अथवा जैसे रघुविलासमें—

"राम [विनयपूर्वक सीताके प्रति]—

हे देवि ! तुम्हारे विरहमें भी अपने जीवनका प्रेमी मैं जो प्राण धारण किए रहा उस सबको क्षमा करो । हे स्मेराक्षि ! यह समय क्रोधका नहीं है । लक्ष्मण और इस वानरराज [सुग्रीव] के मनको प्रसन्न करनेके लिए आओ हाथीकी पीठको अलंकृत करो । तुम्हारी प्रतिज्ञा की अवधि समाप्त हो चुकी है ।"

यहाँ सीताको प्रसन्न करनेवाला रामका व्यापार है [अतः यह भी 'उपास्ति' नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

अन्य लोग तो इस [उपास्ति] के स्थानपर प्रिय तथा हितके किए जानेके कारण [होनेवाली मनकी] प्रसन्नता रूप 'प्रसाद' को अङ्ग कहते हैं । जैसे तापसवत्सराजमें पाञ्चालाधिपतिके पकड़ लिए जानेके बाद रुमण्वान् और यौगंधरायणके प्रति —

"राजा—साधु सचिवाग्रेसर ! साधुः—
श्लाघ्या धीर्धिषणस्य रावणवशं यातः सुराणां पतिः,
सर्वं वेत्त्युशना रसातलमहाकालान्धकारे बलिः ।
इत्यस्माननपेक्ष्य वैरिविजयप्राप्तौजसोः के वयं,
स्तोतारः स्वयमेव वेत्तु युवयोर्लोकस्तयोश्चान्तरम् ॥"

अत्र वत्सराजस्यामात्याभ्यां प्रियहिताचरणजनिता प्रसत्तिरिति ।

(७) अथ कृतिः—

[सूत्र ११०]—कृतिः क्षेमम् ।

लब्धस्य परिपालनं क्षेमः । यथा रत्नावल्याम्—

"वासवदत्ता—अय्यउत्त दूरे से णादिउलं । ता तधा करेसि जधा बंधुअणं न सुमरेदि । [आर्यपुत्र दूरेऽस्या ज्ञातिकुलम् । तत् तथा कुर्याः यथा बन्धुजनं न स्मरति । इति संस्कृतम्] ।"

अनेन लब्धाया रत्नावल्याः स्थिरीकरणम् ।

अन्ये पुनरस्य स्थाने प्राप्तस्य प्रातिकूल्यशमनं द्युतिमाहुः । यथा मुद्राराक्षसे—

"चाणक्यः—अमात्य राक्षस ! अपीष्यते चन्दनदासस्य जीवितम् ?

राजा—साधु [शाबाश] सचिवोंमें अग्रगण्य साधु [शाबाश]—

बृहस्पतिकी बुद्धि बड़ी श्लाघनीय मानी जाती है किन्तु [वे जिन इंद्र के मंत्री हैं वह] इन्द्र [अपने शत्रु] रावणके वशमें फँस गया । [लोग कहते हैं] शुक्राचार्य सब-कुछ जानते हैं किन्तु [वे जिनके मंत्री हैं वह] बलि पातालके महाअंधकारमें पड़ा है । इसलिए हमारी अपेक्षा के बिना ही वैरी [पाञ्चालराज] पर विजय प्राप्त कर लेनेके कारण अपरिमित पराक्रमशील आप दोनोंकी प्रशंसा करनेवाला मैं कौन होता हूँ, संसार स्वयं ही तुम्हारा और उन दोनों [अर्थात् बृहस्पति तथा शुक्राचार्य] के अंतरको समझले । [अर्थात् तुम दोनोंकी प्रतिभा बृहस्पति तथा उशना से कहीं अधिक है इसमें कोई संशय नहीं है ।"

इसमें [रुमण्वान् तथा यौगंधरायण] दोनों अमात्योंके द्वारा किए गए [वैरिविजय तथा सागरिका संयोजन रूप] प्रिय तथा हितके कारण वत्सराजकी प्रसन्नता [का वर्णन] है [अतः यह प्रसाद रूप अङ्कका उदाहरण है] ।

(७) अब 'कृति' [नामक निर्वहणसंधिके सप्तम अङ्गके लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ११०]—क्षेमको कृति कहते हैं ।

प्राप्तकी रक्षा करना 'क्षेम' [कहलाता] है । जैसे रत्नावलीमें—

"वासवदत्ता—आर्यपुत्र ! इस [सागरिका] के घरके लोग [माता-पिता] बहुत दूर रहते हैं । इसलिए आप ऐसा यत्न करें जिससे इसको बंधुजनोंकी याद न आवे ।"

इस [कथन] से प्राप्त रत्नावलीको स्थिर किया जा रहा है । [अतः यह लब्ध-परिपालन रूप 'क्षेम' अङ्गका उदाहरण है] ।

अन्य लोग तो इस [लब्ध-परिपालन रूप क्षेम] के स्थानपर प्राप्तके प्रतिकूलताके शमन रूप द्युतिको [अङ्ग] मानते हैं । जैसे मुद्राराक्षसमें—

"चाणक्य—अमात्य राक्षस ! क्या आप चंदनदासके जीवन [की रक्षा] को चाहते हैं ?

राक्षसः—भो विष्णुगुप्त ! कुतः सन्देहः।

चाणक्यः—अगृहीतशस्त्रेण भवता नानुगृह्यते वृषल इत्यतः सन्देहः। तद्यदि सत्यमेव चन्दनदासस्य जीवितमिष्यते गृह्यतामिदं शस्त्रम्।

राक्षसः—विष्णुगुप्त ! मा मैवम्। अयोग्या वयमस्य। विशेषतस्त्वया गृहीतस्य ग्रहणे।

पुनर्बहु प्रशस्य राक्षसं चाणक्य आह—

चाणक्यः—किमनेन ? भवतः शस्त्रग्रहणमन्तरेण न चन्दनदासस्य जीवितमस्ति।

राक्षसः—नमः सर्वकार्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहाय। न का गतिः। एष गृह्णामि।"

एतल्लब्धस्य राक्षसस्य साचिव्यग्रहणवामताप्रशमनाद् द्युतिः।

अपरे तु क्रोधादेः प्राप्तस्य शमनं द्युतिमामनन्ति। यथा वेणीसंहारे—

"भीमसेनः—राजपुत्रि ! अलं मामवलोक्य त्रासेन—

कृष्टा येनासि राज्ञां सदसि नृपशुना तेन दुःशासनेन।
स्त्यानान्येतानि तस्य स्पृश मम करयोः पीतशेषाण्यसृञ्जि।

राक्षस—हे विष्णुगुप्त ! [इसमें] क्या संदेह है ?

चाणक्य—शस्त्रको [मंत्रिपद को] ग्रहण करके आप वृषल [चंद्रगुप्त] को अनुगृहीत नहीं कर रहे हैं इसलिए संदेह है। इसलिए यदि सचमुच ही चंदनदासके जीवनको [बचाना] चाहते हैं तो इस शस्त्र [मंत्रिपद] को स्वीकार करो।

राक्षस—हे विष्णुगुप्त ! न-न, ऐसी बात मत करो। हम इसके योग्य नहीं हैं। और विशेषकर तुम्हारे द्वारा ग्रहण किए [शस्त्र या मंत्रिपद] के ग्रहणमें। [हम बिलकुल ही अयोग्य हैं]।

फिर अनेक प्रकारसे राक्षसकी अत्यंत प्रशंसा करके चाणक्य कहता है—

चाणक्य—इस सबसे क्या लाभ ? [सीधी-सी बात यह है कि] तुम्हारे शस्त्र ग्रहण [मंत्रिपदको स्वीकार] किए बिना चंदनदासका जीवन नहीं [बच सकता] है।

राक्षस—[मित्रकी रक्षाके लिए अनिष्ट कार्य भी स्वीकार ही करना पड़ता है इसलिए] सब कार्योंको स्वीकार करनेके हेतुभूत मित्र-स्नेहको नमस्कार है। और कोई मार्ग नहीं है। इसलिए इस [मंत्रिपद] को स्वीकार करता हूँ।

यह प्राप्त हुए राक्षसके सचिव पदके स्वीकार करनेमें विरोधका शमन है इसलिए द्युति [नामक अंगका उदाहरण] है।

अन्य लोग तो प्राप्त होनेवाले क्रोध आदिके शमनको 'द्युति' कहते हैं।

जैसे वेणीसंहारमें—

"भीमसेन—हे देवि ! मुझको देखकर डरो मत।

जिस नरपशु दुःशासनने राजाओंकी सभाके बीच तुमको [बाल पकड़कर] खींचा था, उसके; पीनेसे बचे हुए और हाथोंमें जमे हुए इस रक्तको छूकर देखो ! और हे प्रिये ! मेरी गदासे जिसकी जंघाएँ तोड़ डाली गई हैं उस प्रकारके कौरवोंके राजा [दुर्योधन] के

कान्ते राज्ञः कुरूणामतिसरसमिदं मद्गदाचूर्णितोरोः,
अङ्गेऽङ्गेऽसृङ् निषिक्तं तव परिभवजस्यानलस्यास्तु शान्त्यै ॥"

अत्र भीमेन द्रौपद्याः क्रोधोपशमः ।

तथा रत्नावल्याम्—

"देव श्रूयताम् । इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धेनादिष्टा । योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति ।" इत्यादेरारभ्य—

परिज्ञातायाः स्वभगिन्याः सम्प्रति करणीये देवी प्रमाणम् ।" इति यावत् ।

अनेन स्वाजन्यावगमात् वासवदत्तायाः सागरिकां प्रति ईर्ष्या-कोपस्य शमनमिति ।

(८) अथानन्दः—

[सूत्र १११]—आनन्दो वाञ्छितागमः ।

प्रकारशतैर्वाञ्छितस्यार्थस्य सामस्त्येन आगमः प्राप्तिः, आनन्दहेतुत्वात् आनन्दः ।

यथा रत्नावल्याम्—

"वासवदत्ता—[राजानमुपेत्य] अज्जउत्त पडिच्छ एदं ।
[आर्यपुत्र ! प्रतीच्छताम् । इति संस्कृतम्] ।

राजा—[हस्तौ प्रसार्य] को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते ?

विदूषकः—ही ही भो जयदु भवं । णं पुहवी इदाणिं हत्थे भूद य्येव पिय-

---

बिलकुल ताजे रक्तको मैंने अपने प्रत्येक अंगमें मला हुआ है उससे तुम्हारे अपमानसे जन्य ताप की शांति होगी ।"

इसमें भीम के द्वारा द्रौपदीके क्रोधका शमन है [अतः द्युति का उदाहरण है] ।

और रत्नावलीमें—

"हे देव ! सुनिए । इस सिंहलेश्वरकी पुत्रीके विषयमें सिद्धने कहा था कि जो कोई इसका पाणिग्रहण करेगा वह सार्वभौम राजा बनेगा ।" यहाँसे लेकर—

"अब पहिचानी हुई अपनी बहिनके विषयमें क्या करना चाहिए इस विषय में आप ही प्रमाण है ।" यहाँ तक ।

इस [प्रसंग] से [रत्नावलीको] अपनी बहिन जानकर सागरिकाके प्रति वासवदत्ताकी ईर्ष्या तथा क्रोधका शमन पाया जाता है [इसलिए यह द्युतिका उदाहरण है] ।

(८) अब आनन्द [नामक निर्वहणसंधिके अष्ट अंगका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १११]—वाञ्छित अर्थकी प्राप्ति 'आनन्द' [नामक अंग कहलाता] है ।

सैकड़ों प्रकारोंसे वाञ्छित अर्थात् चाहे हुए अर्थका सम्पूर्ण रूपसे आगम अर्थात् प्राप्ति आनन्दका कारण होनेसे 'आनन्द' [कहलाता] है । जैसे रत्नावलीमें—

"वासवदत्ता—[राजाके पास जाकर] आर्यपुत्र ! इस [रत्नावली] को ग्रहण कीजिए ।

राजा—[हाथ फैलाकर] देवीके प्रसादका कौन आदर नहीं करता है ? [इसलिए मैं देवीका प्रसाद समझकर रत्नावलीको स्वीकार करता हूँ] ।

विदूषक—ही-ही अरे आपकी विजय हो । [ज्योतिषियोंके कथनके अनुसार रत्नावली

वयस्सस्स इति ।

[ही ही भो । जयतु भवान् ननु पृथिवीदानीं हस्ते भूतैव प्रियवयस्यस्य ।
इति संस्कृतम् ।]"

(९) अथ समयः—

[सूत्र ११२]—समयो दुःखनिर्वासः ।

दुःखनिर्गमयुक्तः कालः समयः । यथा मृच्छकट्यां चारुदत्तं, पालकस्य राज्ञ आज्ञया बध्यत्वेन चाण्डालगोचरगतं, तत्क्षणप्राप्तराज्यस्य आर्यकस्याज्ञया शार्वलिक आह—

"शार्वलिकः—अपयात अपयात जाल्माः । [दृष्ट्वा सहर्षम्] ध्रियते चारुदत्तः सह वसन्तसेनया । सम्पूर्णाः खल्वस्मत् स्वामिनो मनोरथाः ।

दिष्ट्या भो ! व्यसनमहार्णवादगाधा-
दुत्तीर्णे गुणवृत्तया सुशीलवत्या ।
त्वामेव प्रियतमया युतं समीक्षे,
ज्योत्स्नाढ्यं शशिनमिवोपरागमुक्तम् ।"

अत्र चारुदत्तस्य दुःखापगम इति ।

(१०) अथ परिगूहनम्—

[सूत्र ११३]—अद्भुताप्तिः परिगूहनम् ॥६४॥

का पाणिग्रहण कर लेनेके कारण] अब समझो कि सारी पृथिवी ही प्रिय वयस्कके हाथमें आ गई ।

इसमें सागरिका रूप वाञ्छित अर्थकी प्राप्ति हो जानेसे राजाको अत्यंत आनन्द हुआ। इस प्रकार यह आनन्द नामक अंगका उदाहरण है ।

(९) अब 'समय' [नामक निर्वहणसंधिके नवम अंगका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ११२]—दुःख [के दिनों] का निकल जाना 'समय' [कहलाता] है ।

दुःखके निकल जानेवाला काल 'समय' [नामक अंग कहलाता] है । जैसे मृच्छकटिकमें राजा पालककी आज्ञासे वध किए जाने योग्य चारुदत्तके चाण्डालोंके हाथमें पहुँच जानेपर [सहसा हुई राज्यक्रांतिमें 'पालक' को हटाकर 'आर्यक' के राजा बन जाने पर] उसी समय राज्यके ऐश्वर्य [अर्थात् राजसिंहासन को] प्राप्त करनेकाले 'आर्यक' की आज्ञासे 'शार्वलिक' कहता है—

"शार्वलिक—हटो चाण्डालो हटो । [देखकर हर्षपूर्वक] सौभाग्यसे वसंतसेनाके सहित चारुदत्त जीवित हैं । अब हमारे स्वामीके सब मनोरथ पूर्ण हो गए ।

सौभाग्यवश गुणों से परिपूर्ण तथा सुन्दर शील स्वभाववाली [अपनी प्रियतमा वसंत-सेना] के सहित [आर्य चारुदत्त] अपार दुःखसागरको पार कर चुके हैं अब मैं ग्रहणसे मुक्त चंद्रिकायुक्त चंद्रमाके समान तुमको [भी अपनी] प्रियतमासे युक्त देखना चाहता हूँ ।"

यहाँ चारुदत्तके दुःखकी समाप्ति हो जानेसे [यह 'समय' अंगका उदाहरण है] ।

(१०) अब 'परिगूहन' [नामक निर्वहणसंधिके दशम अंगका लक्षण आदि करते हैं] ।

[सूत्र ११३]—अद्भुत अर्थकी प्राप्ति 'परिगूहन' [कहलाता] है ।

विस्मयस्थायिभावात्मकस्य अद्भुतरसस्य प्राप्तिरुपगूहनम् । यथा रामाभ्युदये रामेण प्रत्याख्याता सीता ज्वलनं प्रविष्टा । तदनन्तरं—

नेपथ्ये कलकलः—

धूमव्रातं वितानीकृतमुपरि शिखादोर्भिरभ्रंलिहाग्रैः,
विभ्रद् भ्राजिष्णु रत्नं ततमुरसि तथा चर्म चामूरवं च ।
भूयस्तेजः प्रतानैर्विरहमलिनतां क्षालयन्नङ्कभाजो,
देव्याः सप्तर्चिराविर्भवति विफलयन् वाञ्छितान्यन्तकस्य ॥"

ततः प्रविशति पटाक्षेपेण सीतामादाय वह्निः । सर्वे दृष्ट्वा ससम्भ्रममुत्थाय आश्चर्यं आश्चर्यम् । नमो भगवते हुताशनाय इति प्रणमन्ति ।"

अत्राग्निप्रविष्टसीताप्रत्युज्जीवनात् अद्भुतप्राप्तिः ।

यथा वा रघुविलासे—

"मध्येऽम्भोधि बभूव विंशतिभुजं रक्षो दशास्यं पुन-
स्तत् पाताल-मही-त्रिविष्टपभटांश्चक्राम दोर्विक्रमैः ।
मर्त्यस्तस्य पुनर्मृणालतुलया चिच्छेद कण्ठाटवीं,
वैराग्यस्य च विस्मयस्य च पदं रामायणं वर्तते ॥

विस्मय जिसका स्थायीभाव है इस प्रकारके अद्भुत रसकी प्राप्ति 'परिगूहन' [कहलाता] है । जैसे रामाभ्युदयमें रामके द्वारा [प्रत्याख्यान अर्थात्] अस्वीकार कर दिए जानेके बाद सीता अग्निमें प्रविष्ट हो जाती है । उसके बाद—

"नेपथ्यमें कोलाहल [और उसके साथ निम्न वचन सुनाई देते हैं]—

आकाशको चुम्बन करनेवाली ज्वालारूप बाहुओंसे धूमसमूहको वितान बनाकर, छाती पर चमकते हुए रत्नको तथा मृगचर्मको धारण किए हुए अपने तेज:समुदायके द्वारा सीतादेवीके विरहकी मलिनताको दूर करते हुए से गोदमें बैठी हुई सीतादेवीकी विरहजन्य मलिनताको दूर करते हुए बह्निदेव कालके मनोरथको विफल करके [सीता सहित] प्रकट हो रहे हैं ।

उसके बाद सीताको लिए हुए, पटाक्षेपसे वह्निदेव प्रविष्ट होते हैं । सब लोग देखकर आदरपूर्वक खड़े होकर—आश्चर्य है, आश्चर्य है । भगवान् अग्निदेवको नमस्कार है । यह कहकर प्रणाम करते हैं "

यहाँ अग्निमें प्रविष्ट हुई सीताके फिर जीवित हो जानेसे अद्भुत रसकी प्राप्ति है [अतः यह 'परिगूहन' नामक अंगका उदाहरण है] ।

अथवा जैसे रघुविलासमें—

"बीस भुजाओं और दश शिरों वाला राक्षस [रावण] समुद्रके बीचमें था किन्तु उसने भुजाओंके बलसे पाताल, पृथिवी और स्वर्ग सबको आक्रांत कर लिया था । फिर एक मनुष्यने उसके कण्ठोंके समुदाय को मृणालके समान [अनायास ही] काट डाला । इस प्रकार रामायण [संसारके बल-वैभव आदि की व्यर्थताको दिखलानेके कारण] वैराग्य और विस्मय स्थान है ।"

[यहाँ भी अद्भुत रसका वर्णन होनेसे 'परिगूहन' अङ्ग माना जाता है] ।

पुष्पदूतिके तु निर्णयवर्जितानि सन्ध्यादीन्यंगानि परिगूहनान्तानि एकस्मिन्नेव श्लोके दृश्यन्ते। तथाहि—

"समुद्रदत्तः—स्वप्नोऽयं।
सेनापतिः—न हि!
समुद्रदत्तः—विभ्रमो नु मनसः? [१ सन्धिः]
सेनापतिः—शान्तम्!
समुद्रदत्तः—तदेषा त्रपा। [२ निरोधः]
सेनापतिः—जाया ते। [३ ग्रथनम्]
समुद्रदत्तः—कथमङ्कबालतनया? [४ परिभाषणम्]
सेनापतिः—पुत्रस्तवायं।
समुद्रदत्तः—मृषा। [५ द्युतिः]
सेनापतिः—आलम्बाय न एष वेत्ति नियतं सम्बन्धमेतद्गतम्। [६ प्रसादः]
समुद्रदत्तः—केनैतद् घटितं विसन्धि [७ आनन्दः]
सेनापतिः—विधिना। [८ समयः]
समुद्रदत्तः—[सुतरूपं दृष्ट्वा] सर्वं समायुज्यते। [९ परिगूहनम्] इति।६४।

पुष्पदूतिकमें तो [निर्वहणसंधिके अब तक वर्णित इन दस अङ्गोंमेंसे] एक निर्णय को छोड़कर संधिसे लेकर परिगूहन पर्यन्त [नौ अङ्ग] एक ही श्लोकमें दिखलाई देते हैं। जैसे—

'समुद्रदत्त—क्या यह स्वप्न है?
सेनापति—नहीं।
समुद्रदत्त—तो क्या मनका भ्रम है? [यहाँ तक संधि नामक प्रथम अङ्ग हुआ]
सेनापति—नहीं-नहीं [शांतम्]।
समुद्रदत्त—तो क्या यह लज्जा है? [यह निरोध नामक द्वितीय अङ्ग हुआ]
सेनापति—यह आपकी स्त्री है। [यह ग्रथन नामक तृतीय अङ्ग हुआ]
समुद्रदत्त—तो इसकी गोदमें छोटा बच्चा कैसे है?
[यह परिभाषण नामक चतुर्थ अङ्ग हुआ]
सेनापति—यह आपका पुत्र है।
समुद्रदत्त—झूठ! [यह पाँचवाँ द्युति नामक अङ्ग हुआ]
सेनापति—[इस पुत्रके] ग्रहण करनेके लिए यह निश्चय ही इसके साथ अपने सम्बंध को नहीं जानता है। [यह छठा प्रसाद अङ्ग हुआ]
समुद्रदत्त—इस टूटे सम्बन्धको किसने जोड़ दिया? [यह सातवाँ आनन्द अङ्ग है]
सेनानति—दैवने। [यह आठवाँ अंग समय हुआ]
समुद्रदत्त—[पुत्रके रूपको देखकर] सब कुछ हो सकता है।
[यह 'परिगूहन' नामक नवम अंग हुआ]

इस प्रकार एक ही श्लोकमें निर्वहण संधिके नौ अंगोंका इकट्ठा समावेश इस श्लोकमें दिखलाया गया है। श्लोकके रूपमें इस संवादको इस प्रकार लिखा जायगा—

(११) अथ भाषणम्—

[सूत्र ११४]—भाषणं सामदानोक्तिः ।

साम्नो वचनं ददतश्च वचनम् । आभ्यामुपलक्षणपरत्वात् प्रियं हितं च गृह्यते ।

"यथा मृच्छकट्याम्—आर्यकराजाज्ञया शार्वलिकश्चारुदत्तमाह—

त्वद्यानं यः समारुह्य गतस्ते शरणं पुरा ।
पशुवद् वितते यज्ञे हतस्तेनाद्य पालकः ॥

चारुदत्तः—शार्वलिक ! किं योऽसौ राज्ञा पालकेन घोषादानीय निष्कारणं कूटागारे बन्धने बद्ध आर्यकनामा त्वया मोचितः ?

शार्वलिकः—सत्यम् । सिंहासनाधिरोहे अनुष्ठितमात्रे च तेन तव सुहृदा राज्ञा आर्यकेण उज्जयिन्यां च वेलातटे तुभ्यं राज्यमतिसृष्टम् । तत् प्रतिमान्यतां प्रथमः सुहृत्-प्रणयः । [पुनर्वसन्तसेनामाह] आर्ये वसन्तसेने ! राजा तवोपरि तुष्टो भवतीं वधूशब्देन अनुगृह्णाति ।

वसन्तसेना—अज्ज सव्वलिय कयत्थ म्हि ।

[आर्य शार्वलिक ! कृतार्थास्मि । इति संस्कृतम्] ।

[पुनश्चारुदत्तमाह—आर्य ! किमस्य भिक्षोः क्रियताम् ?

स्वप्नोऽयं, न हि, विभ्रमो नु मनसः, शान्तं, तदेषा त्रपा
जाया ते, कथमंकबालतनया, पुत्रस्तवायं, मृषा ।
आलम्बाय न एष वेत्ति नियतं सम्बन्धमेतद्गतम्
केनैतद् घटितं विसन्धि, विधिना, सर्वं समायुज्यते ॥६४॥

(११) अब 'भाषण' [नामक निर्वहणसंधिके ग्यारहवें अंगका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ११४] साम-दानके वचन 'भाषण' [कहलाते] हैं ।

सामका वचन और देते हुए [दान] का वचन [भाषण कहलाता है] । इनके उपलक्षणमात्र होनेसे इनसे प्रिय तथा हित [वचनका ग्रहण होता है । जैसे मृच्छकटिकमें आर्यक राजाकी आज्ञासे शार्वलिक चारुदत्तसे कहता है—

"जो तुम्हारे रथपर चढ़कर [राजा बननेसे पहिले छिपनेके लिए] तुम्हारी शरणमें आया था उस [आर्यक] ने [पहिले राजा] पालकको विस्तृत यज्ञमें पशुके समान मार डाला ।

चारुदत्त—शार्वलिक ! क्या जिसको राजा पालकने अहीरों की बस्ती से लाकर बिना कारण ही तहखानेमें कैद कर दिया था उस आर्यकको तुमने छुड़ा दिया ।

शार्वलिक—हाँ [ठीक है] । और सिंहासन पर बैठनेके साथ ही तुम्हारे उस मित्र राजा आर्यकने उज्जयिनीमें वेलाके किनारे तुम्हें राज्य प्रदान किया है । इसलिए मित्रकी इस प्रथम इच्छाको स्वीकार करो ।

[फिर वसंतसेनासे कहता है] आर्ये वसंतसेने ! राजा तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होकर तुमको वधू पद [अर्थात् चारुदत्तकी वधू पद] से सम्बोधित करते हैं ।

वासवदत्ता—आर्य शार्वलिक ! मैं अनुगृहीत हूँ ।

चारुदत्तः—भिक्षो ! किं तव बहुमतम् ?

भिक्षुः—अणिच्चत्तणं पेक्खिय पव्वजा बहुमाणे संवुत्ते ।

[अनित्यत्वं प्रेक्ष्य प्रव्रज्याबहुमानः संवृत्तः] ।

चारुदत्तः—सखे दृढोऽस्य निश्चयः । तत् पृथिव्यां सर्वविहारेषु कुलपतिः क्रियताम् ।

शार्वलिकः—एवमेतत् ।

चारुदत्तः—प्रियं नः ।

वसन्तसेना—संपदं जीविद म्हि ।

[साम्प्रतं जीवितास्मि । इति संस्कृतम्] ।

शार्वलिकः—स्थावरकस्य किं क्रियताम् ?

चारुदत्तः—सुभृत्योऽयमदासोऽस्तु ।

शार्वलिकः—एवं, यथा आह आर्यः ।"

अत्र साम्ना दानेन अन्यैश्च प्रियहितैरुक्तिः । अनयोः पृथगप्युक्तिर्निबध्यते । इदप्यङ्गमवश्यं निबन्धनीयमिति ।

(१२) अथ पूर्वभावः—

[सूत्र ११५]—प्राग्भावः कृत्यदर्शनम् ।

यथा रत्नावल्याम्—

"योगन्धरायणः—एवं विज्ञाय भगिन्याः सम्प्रति करणीये देवी प्रमाणम् ।

[शार्वलिक]–[फिर चारुदत्तसे कहता है] आर्य ! इस भिक्षुका क्या किया जाय ?

चारुदत्त—हे भिक्षो ! कहिए आप क्या चाहते हैं ?

भिक्षु—[संसारकी] अनित्यताको देखकर मुझे वैराग्य हो गया है ।

चारुदत्त—हे मित्र ! इसका यह निश्चय दृढ़ है । इसलिए पृथिवीके सब बिहारोंका इनको कुलपति बना दो ।

शार्वलिक—यह ठीक है ऐसा ही होगा ।

चारुदत्त—यही हमें प्रिय है ।

वसंतसेना—अब मैं जीवित हुई [अब मेरी जानमें जान आई] ।

शार्वलिक—स्थावरकका क्या किया जाय ?

चारुदत्त—इस उत्तम सेवकको दासतासे मुक्त कर दो ।

शार्वलिक—जैसा आर्य कहते हैं वैसा ही होगा ।

इसमें सामसे, दानसे और अन्य प्रकारोंसे प्रिय उक्तियाँ हैं । इन दोनोंका अलग-अलग कथन भी किया जाता है । इस अंगको भी अवश्य ही निबद्ध करना चाहिए ।

(१२) अब 'पूर्वभाव' [नामक निर्वहणसंधिके बारहवें अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ११५]—कार्य [अर्थात् मुख्य फल] का दर्शन [करना या कराना] प्राग्भाव [या पूर्वभाव कहलाता] है । जैसे रत्नावली में—

"यौगंधरायण—इस सबको जानकर अब अपनी बहिनकेलिए क्या करना चाहिए इसमें आप ही प्रमाण हैं ।

वासवदत्ता—फुडं य्येव किन्न भणासि पडिवाहेदि से रयणमालं ति ।
[स्फुटमेव किन्न भणसि प्रतिपादयास्मै रत्नावलीमिति ।
इति संस्कृतम्] ।"

अत्र 'वत्सराजाय रत्नावली दीयताम्' इति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्राया-नुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनम् ।

यथा वा यादवाभ्युदये—

"युधिष्ठिरः—देव ! कृष्णोऽयं भारतार्धचक्रवर्ती नवमो वासुदेव इति मुनयः शंसन्ति ।

समुद्रविजयः—जाने भारतार्धराज्ये कृष्णमभिषेक्तुं मामुत्साहयति महाराजः ।

युधिष्ठिरः—एतदेव देवस्य जरासन्धवधप्रयासफलम् ।" इति ।

अत्र युधिष्ठिराभिमतं कृष्णराज्याभिषेककार्यं समुद्रविजयेन दर्शितम् ।

मुखसन्ध्याद्युक्तवाक्यसदृशवाक्यदर्शनम् पूर्ववाक्यं अंगमस्य स्थाने केचि-दामनन्ति ।

यथा मुद्राराक्षसे—

"चाणक्यः [पुरुषं प्रति]—इदं च वक्तव्यो विजयो दुर्गपालः । अमात्यराक्षस-दर्शनप्रीतो देवश्चन्द्रगुप्तः समाज्ञापति, विना हस्तिभ्यः क्रियतां सर्वबन्धनमोक्ष इति । अथवा अमात्यराक्षसे नेतरि किं हस्तिभिः प्रयोजनम् ?

वासवदत्ता—स्पष्ट रूपसे क्यों नहीं कहते हो कि रत्नावली इन [उदयन] को दे दो ।"

यहाँ यौगंधरायणके अभिप्रायके भीतर अनुप्रविष्ट 'रत्नावलीको वत्सराजको दे दो' इस [मुख्य] कार्यका वासवदत्ताके द्वारा वर्शन है [अतः यह पूर्वभावका उदाहरण है] ।

अथवा जैसे यादवाभ्युदयमें—

"युधिष्ठिर—देव ! मुनि लोग कहते हैं कि वसुदेवके नवम पुत्र यह कृष्ण भारतके आधे भागके चक्रवर्ती राजा होंगे ।

समुद्रविजय—जान पड़ता है कि कृष्णको आधे भारतके राज्यपर अभिषिक्त करनेके लिए महाराज मुझको उत्साहित कर रहे हैं ।

युधिष्ठिर—यही आपके जरासंधके वध करानेके प्रयासका फल है ।"

यहाँ युधिष्ठिरके अभिमत कृष्णके राज्याभिषेक कार्यको समुद्रविजयने दिखलाया है [इसलिए यह पूर्वभाव अङ्गका उदाहरण है] ।

कुछ लोग इस [पूर्वभाव अङ्ग] के स्थानपर मुखसंधि आदिमें कहे गए वाक्यके सदृश वाक्यके [पुनः] दर्शन रूप पूर्ववाक्य नामक अङ्गको मानते हैं ।

जैसे मुद्राराक्षसमें—

"चाणक्य—[पुरुषके प्रति] और दुर्गपाल विजयसे यह भी कहो कि अमात्य राक्षसके दर्शनसे प्रसन्न हुए देव चन्द्रगुप्त आज्ञा देते हैं कि हाथियोंको छोड़कर शेष सभी बंधन वालों को मुक्त कर दो । अथवा अमात्य राक्षसके नेता हो जाने पर अब हाथियोंकी भी क्या आव-श्यकता है ?

विना वाहनपोताभ्यां मुच्यतां सर्वबन्धनम् ।
पूर्णप्रतिज्ञेन मया केवलं बध्यते शिखा ॥"

अत्र मुखे यदुपक्षिप्तम्—'बध्यः को नेच्छति शिखां मे' इति तदेव भंग्यन्तरेण उपन्यस्तमिति ।

उद्देशोक्तसंज्ञातः संज्ञान्तरेण यल्लक्षणविधानं सर्वत्र तच्छन्दोनुरोधादिति ।

(१३) अथ काव्यसंहारः—

[सूत्र ११५]—वरेच्छा काव्यसंहारः ।

ईप्सितं दातुमभिलाषो वरेच्छा । तज्जनितो 'भूयः किं ते प्रियमुपकरोमि' इति प्रश्न इत्यर्थः । स च ग्रहीतरि अप्रतीच्छति, प्रतीच्छति च सम्पादयितुर्भूयसीमिच्छां दर्शयितुं निबध्यते । तत्र सति सर्वस्मिन्नेवेप्सिते सम्पन्ने प्रस्तुतं काव्यमेव संह्रियते इति 'काव्यसंहारः' ।

यथा 'कृत्यारावणे' सीतारक्षणे रामस्य प्रिये हिते च महति कर्मणि कृतेऽपि असन्तुष्यन् अग्निराह—

वाहन तथा पोत [जहाज] को छोड़कर अन्य सबके बंधनोंको खोल दिया जाय । प्रतिज्ञापूर्ण हो जानेके कारण केवल मैं अब अपनी चोटी को बाँधता हूँ ।"

इसमें मुखसंधिमें जो यह जो कहा था कि 'बधके योग्य कौन व्यक्ति मेरी शिखाको बंधने नहीं देना चाहता है' उसीको प्रकारान्तरसे फिर कहा गया है [इसलिए यह पूर्ववाक्य रूप अङ्गका उदाहरण है] ।

निर्वहण-सन्धिके चौदह अंगोंके नाम गिनाते समय पूर्वभाव नामसे बारहवें अंगका निर्देश किया गया था । 'प्राग्भाव' नामके किसी अंगका उल्लेख उद्देश-कारिकाओंमें नहीं किया गया था । किन्तु यहाँ लक्षण करते समय 'पूर्वभाव' का लक्षण न करके 'प्राग्भाव' का लक्षण किया गया है । यह 'प्राग्भाव' 'पूर्वभाव' का ही दूसरा नाम है । श्लोकमें 'पूर्वभाव' शब्दका प्रयोग छंदकी दृष्टिसे ठीक नहीं बैठता था इसलिए ग्रंथकारने उनके स्थानपर 'प्राग्भाव' शब्दका प्रयोग कर दिया है । इसी बातको ग्रंथकार अगली पंक्तिमें लिखते हैं—

उद्देश [काल] की संज्ञाको छोड़कर अन्य नामसे लक्षणका कथन करना सर्वत्र छन्दके अनुरोधसे किया गया है ।

(१३) अब 'काव्यसंहार' नामक निर्वहणसंधिके तेरहवें अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ११५] वर [प्रदान करने] की इच्छा काव्यका उपसंहार [कहलाता] है ।

अभीष्ट वरको प्रदान करनेका अभिलाष वरेच्छा [कहलाता] है । उससे उत्पन्न 'तुम्हारा और कौनसा प्रिय कार्य करूँ' इस प्रकारका प्रश्न [काव्यसंहार कहलाता है] यह अभिप्राय है । वह (१) गृहीताके द्वारा ग्रहण न करनेपर और (२) अथवा स्वीकार करने पर देनेवालेकी और अधिक इच्छाको दिखलानेके लिए [दो कारणोंसे] निबद्ध किया जाता है । उस [वर प्रदानके] होनेके बाद समस्त कामनाओंके पूर्ण हो जानेसे काव्य ही समाप्त हो जाता है इसलिए [इसको] 'काव्यसंहार' [कहा जाता] है ।

जैसे कृत्यारावणमें रामके प्रिय तथा हित सीतारक्षण रूप महान् कार्यके कर चुकनेपर

"अग्निः—वत्स ! उच्यतां किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?
रामः—भगवन् ! अतः परमपि प्रियमस्ति ? इति ।"
यथा वा 'यादवाभ्युदये'—
"युधिष्ठिरः—देव ! किमतःपरं प्राथ्यते यदूनाम् ?
समुद्रविजयः—[साश्चर्यम्] किमतः परमपि प्रार्थनीयमस्ति ?
त्रातो घोषभुवां विधृत्य मधुजित्, कंसः क्षयं लम्भितः,
सम्प्रत्येव विनिर्मितं मगधभूभर्तुः कबन्धं वपुः ।
पादाक्रान्तमजायतार्धभरतं तद् ब्रूहि नः किं परं ?
श्रेयोऽस्मादपि पाण्डवेश ! पुनरप्याशास्महे यद्वयम् ॥"

अनयोरप्रतिगृहीते वरे काव्यसंहारः ।

तथा इन्दुलेखायां नाटिकायां राज्ञी नायिकामिन्दुलेखामाह—

"ईदिसीए तुह इमाए कुलाणुसरिसीए सीलसंपत्तीए संमुहीकदस्स मे हिदयस्स उववन्नो य्येव समुचिदाए पडिवत्तीए अयं अवसरो, ता मम य्येव पियं करिती वरेसु जं ते समी हिदं ।

[ईदृश्या तवानया कुलानुसदृश्या शीलसम्पत्त्या सम्मुखीकृतस्य मे हृदयस्य उपपन्न एव समुचितया प्रतिपत्त्या अयमवसरस्तत् ममैव प्रियं कुर्वन्ती वृणुष्व यत् ते समीहितम् । इति संस्कृतम्] ।

नायिका—ईदिसस्स देवीपसायस्स न दाव अधियं सरिसं किं पि भविस्सदि, जं वरइस्सं । तधा वि को देवीए पसादाणं पज्जतकामो ? ता पियदंसणं मे पसादीकरेदु देवी ।

भी संतुष्ट न होकर अग्नि [रामसे] कहता है—

"अग्नि—वत्स ! कहो तुम्हारा और क्या प्रिय करूँ ?
राम—भगवन् ! क्या इससे भी अधिक प्रिय हो सकता है ।"
[यह वरको स्वीकार न करनेके रूपमें 'काव्यसंहार'की रचना की गई है] ।
अथवा जैसे यादवाभ्युदयमें—
"युधिष्ठिर—देव ! यदुवंशियोंकेलिए इससे अधिक और क्या चाहते हैं ?
समुद्रविजय—[आश्चर्य-सहित] क्या इससे भी अधिक प्रार्थनीय हो सकता है ?

अहीरोंके यहाँ रखकर कृष्णकी रक्षा कर ली, कंसका नाश कर दिया और अभी मगधराज [जरासंध] के शरीरको [सिर काटकर] कबंध [धड़मात्र] बना दिया, आधा भारत देश अपने अधीन हो गया, तो हे पाण्डवराज ! बतलाइए कि इससे अधिक और क्या कल्याण हो सकता है जिसकी हम कामना करें ?"

इन दोनों [उदाहरणों] में वरके स्वीकार न करनेमें 'काव्यसंहार' हुआ हैं ।

और इन्दुलेखा नाटिकामें रानी नायिका इन्दुलेखासे कहती है—

"रानी—तुम्हारी अपने कुलके अनुरूप इस प्रकारकी शील-सम्पत्तिसे प्रसन्न हुए मेरे हृदयमें उपयुक्त विश्वाससे यह अवसर प्राप्त हुआ है इसलिए मेरे ही प्रिय कार्यको करती हुई जो तुम्हारी इच्छा हो वह वर माँग लो ।

[ईदृशस्य देवीप्रसादस्य न तावदधिकं सदृशं किमपि भविष्यति यद्वरिष्यामि। तथापि को देव्याः प्रसादानां पर्याप्तकामः ? तत् प्रियदर्शनां मे प्रसादीकरोतु देवी। इति संस्कृतम्]।

राज्ञी—बाढं पडिवादिदा।

[बाढं प्रतिपादिता। इति संस्कृतम्]।

नायिका—महंतो पसादो। [स्वगतम्] संपदं पमज्जिय भुजिस्सभावं पिय-दंसणाए इच्छा-गुरूव-नेहस्स अणुसरिसं ववहरिस्सं।

[महान् प्रसादः। साम्प्रतं प्रमार्ज्य भुजिष्यभावं प्रियदर्शनाया इच्छा-गौरव-स्नेहस्यानुसदृशं व्यवहरिष्ये। इति संस्कृतम्]।

अत्र वरस्य प्रतिग्रहः। इति।

इदमङ्गमवश्यं निबन्धनीयं प्रशस्तिनान्तरीयकत्वादिति।

(१४) अथ प्रशस्तिः—

[सूत्र ११६]—प्रशस्तिः शुभशंसना॥ ६५॥

जगतः कल्याणशंसना प्रशस्तिः। तच्च नायकस्तदन्यो वा पठति। यथा कृत्यारावणे—

"रामः—तथापीदमस्तु—

यथायं मम सम्पूर्णश्चिन्तितार्थो मनोरथः।
एवमभ्यागतो रङ्गः सर्वपापैः प्रमुच्यताम्॥

अपि च—

नायिका—इस प्रकारके देवीके प्रसादसे अधिक और कुछ नहीं हो सकता है जिसका मैं वरण करूँ। फिर भी देवीके प्रसादसे किसको तृप्ति होती है इसलिए [मैं यह वर माँगती हूँ कि] देवी प्रियदर्शनाको मुझे प्रसाद रूपमें प्रदान करें।

रानी—अच्छा दे दी।

नायिका—बड़ी कृपा है। [अपने मनमें] अब प्रियदर्शनाके दासीभावको दूर करके [उसके साथ उसकी] इच्छा, गौरव और स्नेहके अनुरूप [इसके साथ] व्यवहार करूँगी।"

इसमें वरको स्वीकार किया गया है।

इस [काव्यसंहार रूप] अङ्गको [अगले] प्रशस्ति [नामक अङ्ग] से अविनाभूत होनेके कारण अवश्य ग्रथित करना चाहिए।

(१४) अब 'प्रशस्ति' [नामक निर्वहणसंधिके चौदहवें अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ११६]—कल्याणकी कामना प्रशस्ति [कहलाती] है।

संसारके कल्याणकी कामना 'प्रशस्ति' [कहलाती] है। उसको नायक अथवा कोई अन्य [पात्र] पढ़ता है। जैसे कृत्यारावणमें—

"राम—फिर भी यह हो कि—

जिस प्रकार विचारित अर्थके विषयमें मेरा यह मनोरथ पूर्ण हुआ इसी प्रकार [नाट्यावलोकनार्थं] आए हुए सब सामाजिक सब प्रकारके दुःखों [पापैः] से मुक्त हो जावे।

और भी—

निरीतयः प्रजाः सन्तु सन्तः सन्तु चिरायुषः ।
प्रथन्तां कवयः काव्यैः सम्यग् नन्दन्तु मातरः ।"

यथा वा यादवाभ्युदये—

"युधिष्ठिरः—तथापि किमपि ब्रूमो वयम्—

कल्याणं भूर्भुवः स्वः प्रसरतु, विपदः प्रक्षयं यान्तु सर्वाः,
सन्तः श्लाघां भजन्तामपचयमयतां दुर्मतिर्दुर्जनानाम् ।
धर्मः पुष्णातु वृद्धिं सकलयदुमनः कैरवा रामचन्द्रः,
प्राप्य स्वातन्त्र्यलक्ष्मीं मुदमथ वहतां शाश्वतीं यादवेन्द्रः ॥"

इयं चावश्यं निबन्धनीया । तथा इतिवृत्तान्तर्भूता चेयम् । तेनास्याः पृथग्-गणने चतुःषष्टिरपि अङ्गसंख्या भवति ।

सन्धि-निरोध-ग्रथन - पूर्वभाव - काव्यसंहार - प्रशस्तिभ्योऽन्यांगानां शेष-सन्धिष्वपि कार्यवशतो निबन्धः । अत्रापि च स्वेच्छया नियोगः । एतानि निर्वहण-सन्धेश्चतुर्दशाङ्गानि ।

सर्वसन्धीनां चांगानि इतिवृत्ताविच्छेदार्थमुपादीयन्ते । इतिवृत्तस्याविच्छेदश्च रसपुष्ट्यर्थः । विच्छेदे हि स्थाय्यादेस्त्रुटितत्वात् कुतस्त्यो रसास्वादः ? ततो रस-विधानैकतानचेतसः कवेः प्रयत्नान्तरानपेक्षं यदंगमुज्जृम्भते, तदेवोपनिबद्धं सहृदयानां

प्रजागण [अतिवृष्टिरनावृष्टिः मूषकाः शलभाः शुकाः । प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥ इन छः प्रकार की] ईतियोंसे रहित हो, सज्जन लोग चिरायु हों और कवि-गणोंके काव्योंकी अभिवृद्धि हो, तथा माताएँ पूर्णरूपसे आनन्दित हों । [यह जगतकी कल्याण कामना प्रशस्ति कहलाती है] ।"

अथवा जैसे यादवाभ्युदयमें—

"युधिष्ठिर—फिर भी हम कुछ कहते हैं कि—

भूः भुवः स्वः [सब लोकों] में कल्याणका प्रसार हो, सारी विपत्तियोंका विनाश हो, सज्जन पुरुषोंकी प्रशंसा हो, और दुर्जनोंकी दुर्मतिका ह्रास हो, धर्म वृद्धिको प्राप्त हो, सब यादवोंके मनोरूप कैरवोंको आह्लादित करनेवाले चन्द्रके समान यादवेन्द्र स्वातन्त्र्य लक्ष्मीको प्राप्त कर चिरस्थायी आनन्दको प्राप्त हों ।"

इस [प्रशस्ति नामक अङ्ग] की रचना अवश्य ही करनी चाहिए । और यह कथावस्तु के अन्तर्गत भी होती है इसलिए इसकी गणना न करनेपर [पूर्वोक्त ६५ अङ्गोंके स्थानपर केवल] अङ्गों की संख्या केवल चौंसठ रह जाती है ।

[निर्वहणसंधिके] १. संधि, २. निरोध, ३. ग्रथन, ४. पूर्वभाव, ५. काव्यसंहार और ६. प्रशस्ति, इन [छ] अङ्गोंको छोड़कर अन्य अङ्गोंका कार्यवशसे शेष संधियोंमें भी प्रयोग हो सकता है । और यहाँ [अर्थात् निर्वहण संधिमें] भी अपनी इच्छाके अनुसार प्रयोग हो सकता है । ये चौदह निर्वहणसंधिके अङ्ग हैं ।

सभी संधियोंके अङ्ग कथाभागके अविच्छेदके लिए ही निबद्ध किए जाते हैं । और कथावस्तुका अविच्छेद रसकी परिपुष्टिके लिए होता है । [कथावस्तुका] विच्छेद हो जानेपर तो स्थायिभाव आदिका भी विच्छेद हो जानेसे रसका आस्वादन कैसे हो सकेगा ? इसलिए

हृदयमानन्दयति। अङ्गानि च स्थायि-विभावानुभाव-व्यभिचारिरूपाणि द्रष्टव्यानि। अमीषां च स्वसन्धौ सन्ध्यन्तरे च योग्यतया निबन्धः। योग्यतां च रसनिवेशैक-व्यवसायिनः प्रबन्धकवयो विदन्ति, न पुनः शब्दार्थग्रथनवैचित्र्यमात्रोन्मदिष्णवो मुक्तककवयः।

तेन एकमप्यंगं रसपोषकत्वादेकस्मिन्नपि सन्धौ द्विस्त्रिर्वा निबध्यते। यथा वेणीसंहारे सम्फेट-विद्रवौ पुनः-पुनर्दर्शितौ वीर-रौद्ररसावुद्दीपयतः। रत्नावल्यां च विलासः पुनः-पुनरुक्तः शृङ्गारमुल्लासयति। अतः परमपि निबन्धस्तु वैरस्यमावहतीति।

तथांगद्वयेन साध्यं यदा एकनैव सिद्धयति तदेकमेव निबध्यते। यथा श्री-भीमदेवसूनोः वसुनागस्य कृतौ प्रतिमानिरुद्धे परिकरार्थस्य उपक्षेपेणैव गतत्वात् न तन्निबन्धः।

एवमंगत्रयेणापि। यथा भेज्जलविरचिते राधाविप्रलम्भे रासकांके परिकर-परिन्यासयोरुपक्षेपेणैव गतत्वान्न तन्निबन्धः। एवं परस्परान्तर्भावे चतुरङ्गोऽपि क्वापि सन्धिर्भवति।

रसके विधानमें ही सर्वात्मना लगे हुए कविके अन्य प्रयत्नकी अपेक्षाके बिना [स्वाभाविक रूप से] जो अङ्ग उद्भूत होता है उसकी रचना ही सहृदयोंको आनन्द प्रदान करती है [कृत्रिम रूपसे प्रयत्नपूर्वक सन्निविष्ट अङ्गोंकी रचना उस प्रकार आह्लाददायिनी नहीं होती है]। अङ्ग स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि रूप होते हैं। इनका अपनी सन्धिमें [अर्थात् जिस-जिस सन्धिमें उनके नाम गिनाए गए हैं उस-उस सन्धिमें] तथा अन्य संधियोंमें योग्यताके कारण ही सन्निवेश किया जाता है, और उनकी योग्यताको केवल रसका सन्निवेश करनेमें तत्पर प्रबन्ध-काव्योंके निर्माता कवि ही समझते हैं। केवल शब्द और अर्थकी रचना-वैचित्र्यसे ही उन्मत्त हो जानेवाले मुक्तक [निर्माता] कवि नहीं समझ सकते हैं।

इसलिए [अर्थात् योग्यता के आधारपर ही] रसका परिपोषक होनेपर एक ही अङ्ग एक ही सन्धिमें दो या तीन बार भी निबद्ध किया जाता है। जैसे वेणीसंहारमें सम्फेट तथा विद्रव अङ्गके बार-बार प्रदर्शित किए जाकर वीर तथा रौद्र रसको पुष्ट कर रहे हैं। और रत्नावलीमें विलास नामक अङ्ग बार-बार निबद्ध होकर शृंगाररसको परिपुष्ट करता है। इससे अधिक [अर्थात् जहाँ तक उससे रसका परिपोष होता है उससे अधिक या दो-तीन बार से अधिक] रखनेपर तो विरसताको प्रकट करनेवाला हो जाता है [इसलिए किसी अङ्गका अत्यधिक सन्निवेश नहीं करना चाहिए]।

[इसके विपरीत] जब दो अङ्गोंके द्वारा साध्य कार्य एक ही अङ्गके द्वारा हो सकता हो तब एक हीकी रचना की जाती है। जैसे श्री भीमदेवके पुत्र वसुनागकी प्रतिमानिरुद्ध रचनामें [मुखसंधिके] परिकर [अंगके] के कार्यकी उपक्षेप [अंग] के द्वारा ही सिद्धि हो जाने से उस [परिकर] की अलग रचना नहीं की गई है।

इसी प्रकार तीन अंगोंके द्वारा [साध्य कार्य जब एक ही अंगके द्वारा सिद्ध हो सकता है तब उस अंगके अतिरिक्त शेष दो अंगोंकी रचना नहीं की जाती है]। जैसे भेज्जल विरचित राधाविप्रलम्भ नामक रासकांकमें परिकर तथा परिन्यास [इन दो अंगों] के उपक्षेपके द्वाराही

अत्रान्तरे च केचिदेकविंशतिं सन्ध्यन्तराणि स्मरन्ति—

साम भेदस्तथा दण्डो दानं च वध एव च ।
प्रत्युत्पन्नमतित्वं च गोत्रस्खलितमेव च ॥
साहसं च भयं चैव भी-र्माया क्रोध एव च ।
ओजः संवरणं भ्रान्तिस्तथा हेत्वधारणम् ॥
दूतो लेखस्तथा स्वप्नश्चित्रं मद इति स्मृतः । इति ।

एषु च केषांचित् सामादीनां स्वयमंगरूपत्वात्, केषांचिन्मत्यादीनां व्यभिचारिरूपत्वात्, दूत-लेखादीनामितिवृत्तरूपत्वात्, अन्येषामुपक्षेपाद्यन्तर्भावाच्च न पृथग् लक्षण-प्रयासः । तथाहि गर्भसन्धौ साम-दानादिरूपसंग्रहोऽङ्गम् । मत्यादयो व्यभिचारिषु लक्षयिष्यन्ते । दूत-लेखादीनामितिवृत्तरूपता दृश्यते । तथा उदात्त-राघवे हेत्वधारणात्मा उपक्षेपः । प्रतिमानिरुद्धे स्वप्नरूपः । रामाभ्युदये भयात्मा । वेणीसंहारे क्रोधात्मा । एवमन्येष्वप्यंगेष्वन्तर्भावः कीर्तनीय इति ॥६५॥

इति श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितायां
स्वोपज्ञनाट्यदर्पणविवृतौ नाटकनिर्णयः प्रथमो विवेकः ॥ १ ॥

गतार्थ हो जानेसे उन दोनोंकी रचना नहीं की गई है। इस प्रकार एक-दूसरेके भीतर अङ्गोंका समावेश हो जानेपर [कभी-कभी] केवल चार अङ्गोंका भी [कोई] सन्धि हो जाता है।

अन्य आचार्योंके मतका खण्डन—

इस प्रसंगमें [हमारे प्रतिपादित पाँच संधियोंके अतिरिक्त] कुछ लोग २१ संधियाँ और मानते हैं। [उनके नाम निम्न प्रकार हैं]—

१. साम, २. भेद, ३. दण्ड, ४. दान, ५. बध, ६. प्रत्युत्पन्नमतित्व, ७. गोत्रस्खलित ८. साहस, ९. भय, १०. धी अर्थात् बुद्धि, ११. माया, १२. क्रोध, १३. ओज, १४. संवरण, १५. भ्रान्ति, १६. हेत्ववधारण, १७. दूत, १८. लेख, १९. स्वप्न, २० चित्र तथा २१ मद।

[इन २१ संधियोंको भी कुछ लोग मानते हैं] किन्तु इनमेंसे साम आदि कुछके स्वयं अंग रूप होनेसे, मति आदि किन्हींके व्यभिचारिभावरूप होनेसे, दूत लेख आदिके कथावस्तु रूप होनेसे, और अन्योंके उपक्षेप आदि रूप होनेसे उनके अलग लक्षण करनेका प्रयत्न हमने नहीं किया है। जैसेकि गर्भसंधिमें साम, दान रूप संग्रह नामक अंग आया है। मति आदिके लक्षण व्यभिचारिभावोंमें किए जावेंगे। दूत लेख आदि कथा-भाग रूप ही होते हैं। और उदात्त राघवमें उपक्षेप [अंग] हेत्वधारण रूप है। प्रतिमानिरुद्धमें [उपक्षेप अग] स्वप्न रूप है। रामाभ्युदयमें [उपक्षेप] भय रूप है। और वेणीसंहारमें क्रोधरूप [उपक्षेप] है। [अतएव इन अनेक संधियोंके उपक्षेपमें अन्तर्भूत हो जानेसे उनको भी अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है] इसी प्रकार अन्य अगोंमें भी [इन २१ संधियोंका] अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए। [अतः इन संधियोंको मानना उचित नहीं है]।

श्री रामचन्द्र गुणचन्द्रविरचित स्वनिर्मित नाट्यदर्पण की
विवृतिमें नाटक-निर्णय-नामक प्रथम विवेक पूर्ण हुआ ॥ १ ॥

अथ द्वितीयो विवेकः

अथ द्वितीयो विवेकः

अथ 'नाटकं प्रकरणं च' इत्यतो नाटकं लक्षयित्वा प्रकरणं लक्ष्यते—

अथ नाट्यदर्पण-दीपिकायां द्वितीयो विवेकः ।

विवेक-सङ्गति

प्रथम विवेकके आरम्भमें तीसरी तथा चौथी कारिकामें ग्रन्थकारने बारह प्रकार के रूपकोंका उद्देश्य अर्थात् नाममात्रेण कथन किया था । उनमें सबसे पहिला स्थान 'नाटक' का और उसके बाद दूसरा स्थान 'प्रकरण' का था। इसलिए प्रथम विवेकके शेष भागमें नाटकके लक्षण आदिका विस्तारपूर्वक विवेचन किया था। मुख्यरूपसे नाटकका ही विवेचन होनेसे प्रथम विवेकका नाम ग्रन्थकारने 'नाटक-निर्णय' रखा है। रूपकोंमें नाटक ही सबसे मुख्य है इसलिए उसके लक्षण आदिका विस्तारपूर्वक विवेचन करनेमें एक पूरा विवेक (अध्याय) लगाया गया है । अब इस द्वितीय विवेकमें प्रकरण आदि शेष ग्यारह प्रकारके रूपक-भेदोंका विवेचन किया जाएगा। इसलिए ग्रन्थकारने इस 'विवेक' का नाम 'प्रकरणाद्येकादशरूपकनिर्णयः' रखा है। इन शेष एकादश रूपकोंमें प्रथम और सबसे मुख्य स्थान 'प्रकरण' का है । इसलिए इस विवेकका आरम्भ प्रकरणके निरूपणसे ही करते हैं।

[सूत्र ११७] 'नाटकं प्रकरणं च' इस **[रूपक भेदोंका उद्देश्य अर्थात् नाममात्रसे करने वाली कारिकामें गिनाए हुए रूपकभेदों] मेंसे [प्रथम विवेकमें प्रथम रूपक भेद] नाटकका लक्षण करके [द्वितीय रूपक भेद] अब 'प्रकरण' का लक्षण करते हैं—**

'प्रकरण' का लक्षण

'प्रकरण' का लक्षण करते हुए ग्रन्थकार मुख्य रूपसे 'नाटक' से उसके भेदोंका प्रदर्शन करेंगे। 'समानासमानजातीयव्यवच्छेदो हि लक्षणार्थः' इस नियमके अनुसार समान-जातीय तथा असमान-जातीयसे भेद करना ही 'लक्षण' का प्रयोजन है। इसलिए 'प्रकरण' का लक्षण करते समय उनके समान-जातीय 'नाटक' से भेद दिखलाना आवश्यक है । इस भेद-प्रदर्शनके द्वारा ही 'प्रकरण' का लक्षण पूर्ण बनता है। अतः 'प्रकरण' का लक्षण करने वाली इन दो कारिकाओंमें 'नाटक' से उसका भेद दिखलाते हुए ही 'प्रकरण' का लक्षण किया गया है।

'नाटक' से 'प्रकरण' का मुख्य भेद कथावस्तुके स्वरूपके विषयमें है। 'नाटक' की आख्यानवस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है। किन्तु 'प्रकरण' की आख्यान-वस्तुमें कल्पनाकी प्रधानता रहती है। नाटक 'ख्याताद्यराजचरितं' पूर्ववर्ती इतिहास-प्रसिद्ध राजाओंके चरित को प्रस्तुत करता है किन्तु 'प्रकरण' 'कल्प्यनेतृ-फल-वस्तूनाँ' कल्पित नेता, फल तथा वस्तु के आधारपर स्थित होता है। इनका दूसरा भेद यह है कि 'नाटक' राजचरितपर अव-लम्बित होता है तो 'प्रकरण' वणिक्, विप्र, अथवा सचिव चरित्रोंके आधारपर निर्मित

[सूत्र ११७] प्रकरणं वणिग्-विप्र-सचिवस्वाम्यसङ्करात् ।
मन्दगोत्राङ्गनं दिव्यानाश्रितं मध्यचेष्टितम् ॥ १[६६]॥
दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्तं क्लेशाढ्यं तच्च सप्तधा ।
कल्प्येन - फल-वस्तूनामेक-द्वि-त्रि-विधानतः ॥२ [६७]॥

होता है । वणिक्, विप्र अथवा सचिवमेंसे कोई भी 'प्रकरण' का नायक हो सकता है । किन्तु एक 'प्रकरण' में इनमेंसे एक ही नायक होगा । इन तीनोंमेंसे 'सचिव' पदका अर्थ 'राज्यचिन्तक' किया गया है । राज्यचिन्तकमें मुख्य रूपसे 'अमात्य' आता है किन्तु मुख्य अमात्यके अधीन ही सेनाविभाग भी रहता है और सेनापति भी राज्यकी चिन्ता करने वाला प्रमुख अधिकारी है इसलिए उसका भी ग्रहण इस पदसे किया जा सकता है । इस प्रकार सेनापति तथा अमात्य दोनोंका ग्रहण 'सचिव' पदसे होता है । इनमेंसे सेनापति तथा अमात्य ये दोनों धीरोदात्त नायक माने जाते हैं । और विप्र तथा वणिक् ये दोनों धीरप्रशान्त नायक माने जाते हैं । अर्थात् 'प्रकरण'में मुख्य रूपसे धीरोदात्त तथा धीरप्रशान्त नायक ही होते हैं । धीरोद्धत आदि नहीं । कोई-कोई प्राचीन आचार्य अमात्यको धीरप्रशान्त नायक मानते हैं । और 'प्रकरण' को धीरप्रशान्त-नायक वाला रूपक मानते हैं । किन्तु ग्रन्थकार इस सिद्धान्तसे सहमत नहीं है । उनके मतमें अमात्य धीरोदात्तनायक होता है । विप्र और वणिक् धीरप्रशान्त नायक होते हैं । इसलिए 'प्रकरण' का नायक धीरोदात्त भी हो सकता है और धीरप्रशान्त भी ।

'नाटक' और 'प्रकरण' का तीसरा भेद यह है कि 'नाटक'में दिव्य पात्र भी नायकके सहायक-रूपमें उपस्थित हो सकते हैं । किन्तु 'प्रकरण' में दिव्य पात्रोंका प्रवेश नहीं हो सकता है । नाटक 'दिव्याङ्गम्' और 'प्रकरण' 'दिव्यानाश्रितम्' है । अर्थात् 'नाटक' में अंग-रूपमें, नायकके सहायक रूपमें, दिव्य पात्रोंका उपयोग हो सकता है । 'प्रकरण' में नहीं । इसका मुख्य कारण 'प्रकरण' का 'क्लेशाढ्यम्' क्लेश-प्रधान होना है । दिव्य पात्र सुख-प्रधान होते हैं । और 'प्रकरण' के पात्र दुःखाढ्य होते हैं । इसलिए 'प्रकरण' में दिव्य पात्रोंका प्रवेश उचित नहीं माना गया है । 'नाटक' और 'प्रकरण' के इन मुख्य भेदोंको ध्यानमें रखते हुए ही ग्रन्थकार दो कारिकाओंमें 'प्रकरण' का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

वणिक्, विप्र तथा सचिव इनमेंसे अलग-अलग किसी एक नायकसे युक्त, मन्द [मध्यम] कुलकी नायिका वाला, दिव्य पात्रोंका आश्रय न लेनेवाला, मन्द-चेष्टाओंसे युक्त—॥१[६६]॥

दास, श्रेष्ठी और विटोंसे परिपूर्ण, एवं क्लेश-प्रधान [रूपक] 'प्रकरण' [कहलाता] है । और वह नेता, फल, तथा वस्तुओंमेंसे एक-दो अथवा तीनके कल्पित होनेके विधान के अनुसार सात प्रकारका होता है ॥ २ [६७] ॥

इस ६४ वीं कारिकाके अन्तमें ग्रंथकारने नेता, फल तथा वस्तुके कल्पित होनेके आधारपर 'प्रकरण' के सात भेद दिखलाए हैं । नायक, फल तथा वस्तु इन तीनके कल्पित होनेके आधारपर 'प्रकरण' के जो सात भेद बनाए गए हैं वे, उनमें एक, दो, या तीनोंकी कल्पनाके कारण बन जाते हैं । तीनोंमेंसे किसी एकके कल्पित होनेके कारण तीन भेद होंगे । फिर दो-दो के कल्पित होनेपर भी तीन भेद बनेंगे । इस प्रकार छः भेद हुए । और

प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते नेता फलं वस्तु वा समस्त-व्यस्ततयाऽत्रेति 'प्रकरणम्'। प्रसिद्धत्वात् लक्ष्यमनूद्य लक्षणं विधीयते। वाणिजः क्रय-विक्रयकृतः। विप्राः षट्-कर्माणः। सचिवो राज्यचिन्तकः। अयं वणिग्-विप्रयोर्मध्यपात्यपि धीरोदात्त-धीर-प्रशान्तौ प्रकरणे नेतारौ भवत इति प्रतिपादनार्थं पृथगुपात्तः। यस्त्वमात्यं नेतारमभ्यु-पगम्य धीरप्रशान्तनायकमिति 'प्रकरणं' विशेषयति स वृद्धसम्प्रदाय-वन्ध्यः।

सातवाँ भेद उन तीनोंके कल्पित होनेपर बनेगा। इस प्रकार 'प्रकरण' के सात भेद हो जाते हैं। इसको और अधिक स्पष्ट करनेकेलिए इन भेदोंको निम्न प्रकार दिखलाया जा सकता है :

एकके कल्पित होनेपर तीन भेद :

१. केवल नायकके कल्पित होनेपर प्रथम भेद।

२. केवल फलके कल्पित होनेपर द्वितीय भेद।

३. केवल आख्यान-वस्तुके कल्पित होनेपर तृतीय भेद।

दो-दो के कल्पित होनेपर तीन भेद :

४. नायक और फलके कल्पित होनेपर चतुर्थ भेद।

५. नायक और वस्तुके कल्पित होनेपर पञ्चम भेद।

६. फल और वस्तुके कल्पित होनेपर षष्ठ भेद।

तीनोंके कल्पित होनेपर एक भेद :

नायक, फल, तथा वस्तु तीनोंके कल्पित होनेपर सप्तम भेद।

इस प्रकार 'प्रकरण' के सात भेद दिखलाए माने गए हैं। इनमेंसे जहाँ नायक, फल, तथा आख्यान-वस्तु तीनों कल्पित होते हैं वह 'प्रकरण' सर्वथा कल्पित होता है। जहाँ एक या दोकी कल्पना की जाती है वहाँ शेष दो या एक भाग इतिहासाश्रित होते हैं यह समझना चाहिए। कवि जिस भागकी कल्पना करता है वही 'प्रकरण' का मुख्य भाग होता है। 'प्रकरण' का चमत्कार उसी भागमें निहित होता है। 'प्रकरण' की इसी कल्पनाकी प्रधान-ताको दिखलानेकेलिए ग्रन्थकार 'प्रकरण' पदका निर्वचन करते हुए इन कारिकाओंकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं—

जिसमें नायक, फल, अथवा आख्यानवस्तु अलग-अलग [एक-एक अथवा दो-दो] अथवा सब [अर्थात् तीनों] प्रकृष्ट रूपसे किए जाते अर्थात् कल्पित किए जाते हैं वह 'प्रकरण' [कहलाता] है। [यह 'प्रकरण' शब्दका निर्वचन होता है। उससे ही 'प्रकरण' की कल्पना-प्रधानता सूचित होती है]। लक्ष्य [अर्थात् 'प्रकरण]' के प्रसिद्ध होनेसे [कारिकाके आरम्भ में सबसे पहले प्रयुक्त 'प्रकरण' इस पदसे] उसका अनुवाद करके [कारिकाओंके शेष भाग में] लक्षण किया गया है। [आगे लक्षणभागमें आए हुए वणिक् आदि पदोंकी व्याख्या करते हैं] क्रय-विक्रय करने वाले वाणिक् [कहलाते] हैं। [१ अध्ययन २ अध्यापन, ३ यजन, ४ याजन, ५ दान देना और ६ प्रतिग्रह अर्थात् दान लेना इन] छः कर्मोंको करने वाले 'विप्र' [कहलाते] हैं। राज्यकी चिन्ता करने वाला 'सचिव' [कहलाता] है। यह [सचिव] वणिक् तथा विप्रके अन्तर्गत हो जानेपर भी [अर्थात् क्षत्रिय राजा होता है और शूद्र सेवक। वे दोनों सचिव नही होते हैं। इसलिए वणिक् या विप्रमेंसे ही सचिव होता है अतः उन दोनोंके मध्यपाती होनेपर भी], धीरोदात्त [सचिव] अथवा धीरप्रशांत [विप्र]

यदाहुः—

'सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ' इति।

'असंकरात्' इति व्यक्तिभेदेन वणिगादयो नेतारः। न पुनरेकस्यामेव प्रकरणव्यक्तौ समवकारादिवत् त्रयोऽपि।

'प्रकरण' के नेता होते हैं इस बातके प्रतिपादनकेलिए अलग कहा गया है। जो 'अमात्य' को नायक मानकर धीरप्रशांत-नायक वाला रूपक 'प्रकरण' होता है इस प्रकार ['प्रकरण' को] विशेषित करते हैं वे वृद्ध-सम्प्रदायको नहीं समझते हैं। [अर्थात् वे प्राचीन आचार्योंकी परम्पराके विपरीत बात करते हैं। क्योंकि प्राचीन आचार्योंके मतानुसार अमात्य या सचिव धीरप्रशांत नहीं अपितु धीरोदात्त नायक होता] है।"

जैसा कि कहा भी है—

सेनापति और अमात्य धीरोदात्त [नायक] माने जाते हैं।

इस अनुच्छेदमें 'विप्राः षट्कर्माणः।' यह जो लिखा गया है वह मनु आदि स्मृतिकारोंकी व्यवस्थाके आधारपर लिखा गया है। 'मनुःस्मृति' में ब्राह्मणोंके छः कर्म निम्न प्रकार गिनाए गए हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ मनुः

आगे कारिकामें आए हुए 'असंकरात्' पदकी व्याख्या करते हैं। उसका आशय यह है कि यद्यपि 'प्रकरण' में विप्र, अमात्य तथा वणिक् तीनों नायक हो सकते हैं किन्तु उनका संकर नहीं होना चाहिए। अर्थात् एक 'प्रकरण' में इनमेंसे एक ही नायक होना चाहिए। एक ही 'प्रकरण' में तीनों नायक नहीं हो सकते हैं। 'समवकार' आदिमें तो एक ही 'समवकार' में अनेक नायक भी हो सकते हैं। किन्तु एक 'प्रकरण' में अनेक नायक नहीं हो सकते हैं। यह बात ग्रन्थकारने 'असंकरात्' पदसे सूचित की है। इसी बातको अगली पंक्तिमें लिखते हैं—

'असंकरात्' इस [पद] से [यह सूचित किया है कि 'प्रकरण' में] व्यक्तिभेदसे [अर्थात् अलग-अलग 'प्रकरण' में अलग-अलग] वणिक् आदि नायक हो सकते हैं। 'समवकारदि के समान एक ही 'प्रकरण' [रूप व्यक्ति] में तीनों [नायक] नहीं [हो सकते हैं]।

आगे कारिकाके 'मन्दगोत्राङ्गनम्' पदका अर्थ करते हैं। इस पदकी दो प्रकारकी व्याख्या की गई है। पहली व्याख्यामें 'मन्द' पदको 'गोत्र' पदका विशेषण मान कर 'मन्द गोत्रा' अर्थात् नीचकुलोत्पन्ना वेश्यादि 'प्रकरण' की नायिका होती है यह अर्थ किया है। और दूसरी व्याख्यामें पहले 'गोत्र' पदका 'अंगना' पदके साथ समास करके, फिर 'मन्द' पद को 'गोत्रांगना' पदका विशेषण बनाया है। इस प्रक्रियासे 'मन्दा' अर्थात् निकृष्ट आचरण वाली 'गोत्रांगना' अर्थात् 'स्ववंशोत्पन्ना' अर्थात् नायकके समान गोत्रकी नायिका 'प्रकरण' में होती है यह अर्थ किया है। अर्थात् 'प्रकरण' में कहीं नीचकुलजा वेश्या आदि और कहीं स्वकुलोत्पन्ना, और कहीं दोनों प्रकारकी नायिकाएँ होती हैं। इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने 'प्रकरण' के लक्षणमें लिखा है :

'नायिका कुलजा क्वापि, वेश्या क्वापि, द्वयं क्वचित्'। सा० द० ६-२२६।

'मन्दगोत्रा' मन्दकुला, अंगना नायिका यत्र। यद्वा 'मन्दा' मन्दवृत्ता, गोत्रांगना यत्र। अत एवात्र नायिकौचित्येन नायकोऽपि मन्दगोत्र एव। एवं च पुष्पदूतिके अशोकदत्तादिशब्दाकर्णनेन समुद्रदत्तस्य नन्दयन्त्यां या व्यलीकशंकोपनिबद्धा, सा न दोषाय। परपुरुषसम्भावनाया निर्वहणं यावदत्रोपयोगात्। अपरथा उत्तमप्रकृतीनां श्वशुरेण वध्वाः, पुत्रे दूरे स्थिते निर्वासनं, निर्वासितायाश्च शबरसेनापतिगृहेऽवस्थानमनुचितमेव।

'मन्दगोत्रा' अर्थात् मध्यम कुलकी 'अंगना' अर्थात् नायिका जिसमें हो। अथवा 'मन्दा' अर्थात् मध्यम आचरण वाली 'गोत्राङ्गना' अर्थात् कुलजा नायिका जिसमें हो [वह 'प्रकरण' कहलाता है]। इसीलिए नायिकाकी अनुरूपताके कारण नायक भी मध्यम कुल का ही होता है। इसलिए 'पुष्पदूतिक' में 'अशोकदत्त' आदिके शब्दको सुन कर 'समुद्रदत्त'की 'नन्दयन्ती' के चरित्रके विषयमें जो शंका वर्णित की गई है वह दोषाधायक नहीं है। क्योंकि यहाँ निर्वहण सन्धि-पर्यन्त परपुरुष [के साथ 'नन्दयन्ती' के सम्बन्ध] की सम्भावनाका उपयोग [दिखलाई देता] है। अन्यथा उत्तमप्रकृति वाले लोगोंमें पुत्रके बाहर दूर गए होने पर श्वशुरके द्वारा पुत्रबधूका घरसे निष्कासन, और निकाल दिए जानेपर [पुत्रबधू का] शबर-सेनापतिके घरमें रहना [जो कि इस 'पुष्पदूतिक' 'प्रकरण' में दिखलाया गया है वह] अनुचित ही हो जाएगा [उसकी संगति तब ही लगती है जब उसके नायक तथा नायिका आदिको उत्तम-प्रकृतिका न मान कर मध्यम-प्रकृति माना जाए]॥

इसका अभिप्राय यह है कि उत्तम प्रकृतिकी नायिकाके प्रति कभी परपुरुष-सम्बन्ध की शंका आदि नहीं की जा सकती है। 'पुष्पदूतिक' की नायिका 'नन्दयन्ती' के प्रति उसके श्वशुरको परपुरुष सम्बन्धकी शंका उत्पन्न हो गई थी इसलिए उसने पुत्रबधूको घर से निकाल दिया था। इसपर यह शंका होती है कि जैसे 'पुष्पदूतिक' की नायिकाके चरित्र के विषयमें शंका हो गई थी, इसी प्रकार 'वेणीसंहार' में दुर्योधनको भी अपनी पत्नी भानुमती के चरित्रके विषयमें शंका हो गई थी। तो क्या भानुमती और दुर्योधनकी गणना भी मध्यम प्रकृतिके नायक नायिकामें की जानी चाहिए? अथवा उनको उत्तम वर्गके नायक-नायिकामें ही गिनना चाहिए। इस शंकाका ग्रन्थकार यह समाधान करते हैं कि 'वेणीसंहार' में जो भानुमतीके प्रति शंकाका वर्णन किया गया है वह अनुचित है। वे दोनों उत्तम प्रकृतिके नायक-नायिका हैं। अत एव भानुमतीके चरित्रके प्रति शंकाका वर्णन नाटककारको नहीं करना चाहिए था।

वेणीसंहारके द्वितीय अंकमें इस घटनाका उल्लेख किया गया है। दुर्योधनकी रानी भानुमतीने युद्धके प्रारम्भ होनेके पूर्व एक दिन रातको एक बहुत बुरा स्वप्न देखा था। उसकी शान्तिकी व्यवस्था करानेकेलिए वह एकान्तमें अपनी सखियोंको उस स्वप्न को सुना रही है। इसी बीचमें दुर्योधन उस स्थानपर पहुँच जाता है और छिपकर उनकी बातें सुनने लगता हैं। स्वप्नमें भानुमतीने यह देखा था कि किसी नेवलेने सौ साँपों को मार डाला है। यह सौ संख्या कौरवोंके साथ सम्बद्ध हो जाती है इसलिए उसे सौ भाइयों सहित दुर्योधनके अनिष्टकी शंका हो गई थी। इसी स्वप्नको वह सखियोंको सुना रही है। उसमें नेवलेके लिए 'नकुल' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसको सुन कर दुर्योधनको माद्रीपुत्र

उत्तमप्रकृतीनां राज्ञां तु कुलस्त्रियां व्यलीकसम्भावना दुर्योधनस्येव भानुमत्या-मनुचितैव ।

वणिगमात्यविप्राश्च स्ववर्गापेक्षयैवोत्तमाः, न राजापेक्षया। एतदर्थमेव च मन्दशब्देन गोत्रं विशेषितम्। प्रकरणे हि नायको व्युत्पाद्यश्च मध्यमप्रकृतिरेव।

नकुलके साथ भानुमतीके अनुचित सम्बन्धकी आशंका हो गई है। उस प्रसंगके शब्द जिन्होंने दुर्योधनके मनमें इस प्रकारकी शंकाको उत्पन्न किया निम्न प्रकार है—

"भानुमती—ततोऽहं तस्यातिशयितदिव्यरूपिणो नकुलस्य दर्शनेनोत्सुका जाता हृतहृदया च। तदुज्झित्वा तदासनस्थानं लतामंडपं प्रवेष्टुमारब्धा।

दुर्योधनः—[सवैलक्ष्यमात्मगतम्] किं नामातिशयितदिव्यरूपिणो नकुलस्य दर्शनेनोत्सुका जाता हृतहृदया च। तत्किमनया पापया माद्रीसुतानुरक्तया वयमेवं विप्रलब्धाः। [सोत्प्रेक्षम् इयमस्मत् २-१० इति पठित्वा] मूढ दुर्योधन ! कुलटाविप्र-लभ्यमात्मानं बहुमन्यमानोऽधुना किं वक्ष्यसि। [किं कण्ठे २-६ इति पठित्वा दिशोऽ-वलोक्य] अहो एतदर्थमेवास्याः प्रातरेव विविक्तस्थानाभिलाषः सखीजनकथासु च पक्षपातः। दुर्योधनस्तु मोहादविज्ञातबन्धकीहृदयसारः क्वापि परिभ्रान्तः। आः पापे! मत्परिग्रहपांसुले—

तद् भीरुत्वं तव मम पुरः साहसानीदृशानि,
श्लाघा सास्मद्वपुषि विनयव्युत्क्रमेऽप्येष रागः।
तच्चौदार्यं मयि जडमतौ चापले कोऽपि पन्थाः,
ख्याते तस्मिन् वितमसि कुलेऽजन्यकौलीनमेतत् ॥ २-११

सखी—ततस्ततः ?

भानुमती—ततः सोऽपि मामनुसरन्नेव लतागृहं प्रविष्टः।

उभे—ततस्ततः ?

भानुमती—ततस्तेन सप्रगल्भप्रसारितकरेणापहृतं मे स्तनांशुकम्।

उभे—ततस्ततः ?

भानुमती—तत आर्यपुत्रस्य प्रभातमंगलतूर्यरवमिश्रेण वारविलासिनीजन-संगीतरवेण प्रतिबोधितास्मि।

इस प्रकरणमें भानुमतीके स्वप्न-दर्शनके वृत्तान्तका जो वर्णन किया गया है उससे दुर्योधनको भानुमतीके चरित्रके विषयमें शंका हो जाना स्वाभाविक था। किन्तु अन्तमें जब उसको यह मालूम हुआ कि यह स्वप्नका वर्णन है तब स्वयं ही उसकी शंका का निवारण भी हो गया। किन्तु ग्रन्थकारका कहना यह है कि उस उत्तम प्रकृतिके नायक-नायिकाके विषयमें इस प्रकारकी शंकाका होना भी उचित नहीं है। इसलिए कविका यह वर्णन अनुचित है। इसी बातको वे आगे लिखते हैं—

उत्तम प्रकृतिके राजाओंमें तो, कुलस्त्रीके प्रति भानुमतीके विषयमें दुर्योधन द्वाराकी गई शंकाके समान, दुश्चरित्रताकी सम्भावना [का वर्णन] भी अनुचित ही है। [अत एव 'वेणीसंहार' का यह प्रसंग अनुचित ही है]।

वणिग् अमात्य और विप्र अपने-अपने वर्गकी दृष्टिसे ही उत्तम हो सकते हैं। राजाकी

'दिव्यानाश्रितम्' इति दिव्यैरनाश्रितम् । नाटके हि अंगत्वेन दिव्यो भवति । प्रकरणे तु तथाभावोऽपि नेष्टः । तस्य सुखबाहुल्येनाल्पदुःखत्वात् । अपरथा दिव्यत्वमेव हीयते ।

मध्यं सर्वोत्तम-हीनप्रकृत्ययोग्यं चेष्टितं विहार-व्याहार-वेष-सम्भोगादिको व्यापारो यत्र । तेन कल्पितवृत्तत्वेऽप्यस्य न राजोचितान्तःपुरादिसम्भोगः । कञ्चुकि-प्रभृतिभृत्यवर्गो वा । न चाधमपात्रसम्भोगादिर्वा निबन्धनीयः । तथा च वेश्यायां नायिकायां विनयरहितमपि चेष्टितं निबध्यते । यथा विशाखदेवकृते 'देवीचन्द्रगुप्ते' माधवसेनां समुद्दिश्य कुमारचन्द्रगुप्तस्योक्तिः—

आनन्दाश्रुजलं सितोत्पलरुचोराबध्नता नेत्रयोः,
प्रत्यंगेषु वरानने पुलकिषु स्वेदं समातन्वता ।
कुर्वाणेन नितम्बयोरुपचयं सम्पूर्णयोरप्यसौ,
केनाप्यस्पृशताऽप्यधोनिवसनग्रन्थिस्तवोच्छ्वासितः ॥ इति ॥

अपेक्षासे नहीं । इसके लिए भी 'मन्द' शब्दसे 'गोत्र'को विशेषित किया है । अर्थात् 'मन्दगोत्राङ्गनं' पदमें जो 'मन्द' पदको 'गोत्र' पदका विशेषण बनाया गया है उसका यह भी अभिप्राय है कि वणिक् अमात्य विप्र आदि, राजाकी अपेक्षासे मन्द गोत्र वाले ही होते हैं] । 'प्रकरण'में नायक और [व्युत्पाद्यः अर्थात् जिनकी शिक्षाके लिए 'प्रकरण' की रचना की गई है वे] सामाजिक दोनों मध्यम श्रेणीके ही होते हैं ।

आगे कारिकामें आए हुए 'दिव्यानाश्रितं' पदकी व्याख्या करते हैं—

'दिव्यानाश्रितम्' इसका यह अर्थ है कि दिव्यपात्रोंसे रहित । 'नाटक'में तो अंग रूपसे [अर्थात् नायकके सहायक रूपमें] दिव्य पात्र [उपस्थित] होता है किन्तु 'प्रकरण'में तो उस प्रकारकी [अर्थात् नायकके अंगरूपमें] स्थिति भी इष्ट नहीं है । उस [दिव्यपात्र] के सुखप्रधान होनेके और अल्पदुःखयुक्त होनेके कारण [क्लेशाढ्य अर्थात् दुःखप्रधान 'प्रकरण'में उनकी स्थिति संगत नहीं बनती है] । अन्यथा [अर्थात् यदि दिव्य पात्रोंको सुखप्रधान और अल्प दुःखवाला न माना जाय तो उनकी] दिव्यता ही नष्ट हो जावेगी ।

आगे कारिकामें आए हुए 'मन्दचेष्टितम्' पदकी व्याख्या करते हैं—

मध्य अर्थात् सर्वोत्तम अथवा सबसे निकृष्ट प्रकृतिके अयोग्य, चेष्टित अर्थात् विहार, [व्याहार अर्थात्] भाषण, वेष और सम्भोगादि व्यापार जिसमें हो [वह मध्यचेष्टित 'प्रकरण' होता है] । इसलिए आख्यान-वस्तुके कल्पित होनेपर भी इसमें राजाओंके समान अन्तःपुर आदिका भोग, कञ्चुकी प्रभृति भृत्यवर्ग, अथवा अधमपात्रोंका-सा सम्भोगादिका वर्णन नहीं करना चाहिए । [अपितु सब कुछ मध्य स्थितिके अनुरूप ही होना चाहिए] । इसीलिए वेश्या के नायिका होनेपर शिष्टता-रहित बातोंका भी वर्णन हो जाता है । जैसे विशाखदेवके बनाए हुए 'देवीचन्द्रगुप्त'में माधवसेना [वेश्या] को लक्ष्यमें रखकर कुमार चन्द्रगुप्तको [शिष्टतासे रहित निम्नलिखित] उक्ति है—

शुभ्र-कमलके समान कान्ति वाली आँखोंमें, आनन्दाश्रुओंको उत्पन्न करने वाले, और हे वराङ्गने ! तुम्हारे रोमाञ्च-युक्त सारे अंगोंमें स्वेदोत्पादन करदेनेवाले, एवं भरे हुए नितम्बों-की वृद्धि करा देने वाले, किसी [प्रेमी] ने स्पर्श किए बिना ही तुम्हारे नीचे पहननेके वस्त्रकी नारेकी गाँठको खुलवा डाला है ।

व्युत्पाद्योऽपि च प्रकरणे मध्यमप्रकृतिरेव । नेतृचरितस्यापि तथाभूतत्वादिति ।

'दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्तम्' इति । 'दासो' जीवितावधि वेतनक्रीतो, बाल्यात् प्रभृति पोषितो वा । 'श्रेष्ठी' वणिक्प्रधानम् । 'विटो' धूर्तः । तत्र कञ्चुकिस्थाने दासः । अमात्य-स्थाने श्रेष्ठी । विदूषकस्थाने विटः । उपलक्षणं चैतत्, तेनापरमपि चाटुकार-सहाया-दिकं[1] वणिगाद्यौचित्येन निबन्धनीयम् ।[2] 'क्लेशाढ्यम्' इति दुःखदीप्तम् । अपाय-शतान्तरितफलत्वादिति एतावल्लक्षणम् ।

तच्चेति, उक्तलक्षणं 'प्रकरणं' सप्तभेदम् । 'इनो' नायकः । 'फलं' मुख्यसाध्यम् । 'वस्तु' फलसाधका उपायाः । एतेषां एक-द्वि-त्रिविधानेन सप्तभेदं 'प्रकरणम्' । तत्र नेतुः प्रकल्पने तदितरयोश्चाकल्पने एको भंगः । एवं फल-वस्तुनोरपि । एवमेककल्पविधाने त्रयो भंगाः । तथा नायक-फलयोः, नायक-वस्तुनोः, फलवस्तुनोर्वा कल्पने शेषस्यैकस्य चाकल्पने त्रयो द्विकभंगाः । नायक-फल-वस्तूनां त्रयाणामपि समुदितानामपि कल्पने एको भंगः । एवं सर्वमेलनेन[3] सप्तधा प्रकरणमिति ॥ १-२ [६६-६७] ॥

यह कुमारचन्द्रगुप्तका वचन विनय-रहित या शिष्टता-रहित है । उत्तम प्रकृतिके पात्रों में इस प्रकारके वचनोंका प्रयोग उपयुक्त नहीं होता है । किन्तु यहाँ वेश्या माधवसेनाके नायिका होनेके कारण ही इस प्रकारके वचनके प्रयोगकी संगति लगाई जा सकती है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

नायकके चरित्रके भी [उस प्रकारके अर्थात्] मध्यम-प्रकृतिका होनेके कारण 'प्रक-रण'में [व्युत्पाद्य अर्थात्] सामाजिक भी मध्यम-प्रकृतिके ही होते हैं ।

आगे कारिकामें आए हुए 'दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्तम्' की व्याख्या करते हैं—

'दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्तम्' [इसका यह अभिप्राय है कि] जीवन-पर्यन्तके लिए वेतनसे क्रय किया हुआ अथवा बचपनसे पाला हुआ 'दास' होता है । वणिकोंका प्रधान, अथवा प्रधान वणिक् 'श्रेष्ठी' कहलाता है । 'विट' [का अर्थ] धूर्त है । उनमेंसे [नाटकके] कञ्चुकीके स्थानपर [प्रकरणमें] 'दास' [को समझना चाहिए] । अमात्यके स्थानपर श्रेष्ठी और विदू-षकके स्थानपर विट [का उपयोग] होता है । [दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्तं] यह [वचन] उपलक्षण रूप है । इसलिए वणिक् आदि [नायकों] के औचित्यके अनुसार चाटुकार [चापलूस] सहायक आदि अन्य [पात्रों] का भी वर्णन करना चाहिए । 'क्लेशाढ्यम्' इसका 'दुःख-प्रधान' यह अर्थ है । क्योंकि उसका फल सैकड़ों कष्ट भोगनेके बाद प्राप्त होता है । [इसलिए 'प्रकरण' दुःख-प्रधान रूपक होता है] । यहाँ तक [अर्थात् ६७वीं कारिकाके पूर्वार्द्ध भाग तक प्रकरणका] लक्षण कहा है [आगे उसके भेद दिखलाते हैं] ।

आगे ६७वीं कारिकाके उत्तरार्ध भागकी व्याख्या करते हैं । इसमें 'कल्प्येन-फल-वस्तूनां' इस पदमें 'कल्प्येन' का पदच्छेद 'कल्प्य+इन' यह किया जाना चाहिए । इस प्रकार का पदच्छेद करके ही उसका अर्थ आगे दिखलाते हैं—

और 'वह' अर्थात् पूर्वोक्त लक्षणवाला 'प्रकरण' सात प्रकारका होता है । 'इन' [शब्दका अर्थ] नायक है । फल [शब्दका अर्थ] मुख्य साध्य है । और फलके साधक उपाय 'वस्तु' [कहलाते] हैं । इनमेंसे एक, दो, या तीनके [कल्पित होनेके] विधानसे 'प्रकरण'के सात

---

१. वणिगाद्यौ विधव प्र० । २. क्लेशाद्यं प्र० । ३. सर्वमीलनेन ।

अथ नायिकायोगद्वारेण भेदसंख्यानमप्याह—

[सूत्र ११८]—कुलस्त्री गृहवार्तायां पण्यस्त्री तु विपर्यये ।
विटे पत्यौ द्वयं तस्मादेकत्रिंशतिधाऽप्यदः ॥ ॥ [३]६८॥

गृहवार्तायां गार्हस्थ्योचितपुरुषार्थसाधके वृत्ते कुलजैव स्त्री नायिकात्वेन वणिगादीनां निबन्धनीया। यथा 'पुष्पदूतिके'। विपर्यये तु गार्हस्थ्योचितपुरुषार्थवर्णने वेश्यैव नायिकात्वेन निबन्धनीया यथा 'तरङ्गदत्ते'। उभययोगस्य विट एव विधानादनयोरप्यवधारणम्। विटे गीत-नृत्य-वाद्यविचक्षणे द्यूत-पान-वेश्यादिषु प्रसक्ते कलाकुशले मूलदेवादौ पत्यौ नायकत्वेन[1] विवक्षिते वेश्या कुलस्त्री चेति द्वयं तदुचितगार्हस्थ्यपुरुषार्थापेक्षया निबन्धनीयम्। अस्य तु विटत्वादेव पण्यस्त्रीप्रधानम्। कुलस्त्री तु पितृ-पितामहाद्यनुरोधाद् गौणम्। विटस्य पतित्वानुवादाद् वणिगाद्यन्तर्भूतोऽपि 'प्रकरणे' विटो नेता लभ्यते। वेश्या-कुलजाभ्यां संकीर्णत्वादयं भेदोऽशुद्धः। पूर्वौ तु शुद्धौ स्त्रीसंकराभावात्। शुद्धभेदयोरपि विटः ससहाय एकः। संकीर्णे तु बहवः। केचित् तु वणिग्नेतृकमपि धूर्तसंकुलत्वान्मृच्छकटिकादिकं संकीर्णं मन्यन्ते।

भेद हो जाते हैं। उनमेंसे नायकके कल्पित, और शेष दोनों [अर्थात् फल और वस्तु] के कल्पित न होनेपर एक भेद होता है। इसी प्रकार फल और वस्तुमें भी [एकके कल्पित और शेष दोके कल्पित न होनेपर एक-एक भेद होता है]। इस प्रकार एकको कल्पनाके विधानसे तीन भेद बनते हैं। इसी प्रकार (१) नायक और फल, (२) नायक और वस्तु तथा (३) फल और वस्तु इन दो-दो के कल्पित, और शेष एकके अकल्पित होनेपर दो-दो वाले तीन भेद होते हैं। नायक, फल और वस्तु तीनोंके एक साथ कल्पित होनेपर एक भेद बनता है। इस प्रकार सबको मिलाकर 'प्रकरण' के सात भेद हो जाते हैं ॥ [१-२] ६६-६७ ॥

इस प्रकार ६७ वीं कारिकाके उत्तरार्द्धमें नायक आदिके कल्पित होनेके आधारपर 'प्रकरण' के सात भेद दिखलाए हैं। आगे कुलस्त्री, वेश्या तथा दोनों प्रकारकी नायिकाओं के वर्णित होनेपर इन सातों प्रकारके 'प्रकरणों' के तीन-तीन भेद और भी बन सकते हैं। इसलिए 'प्रकरण' के २१ भेद हो जाते हैं। इन भेदोंको अगली कारिकामें दिखलाते हैं—

अब नायिकाके भेदोंके द्वारा ['प्रकरण' के] भेदोंकी संख्याको भी कहते हैं—

[सूत्र ११८]—गृहस्थोचित वृत्तमें कुलस्त्री, इसके विपरीत वृत्तमें वेश्या और विट [धूर्त] के, पति [रूपमें वर्णित] होनेपर [कुलस्त्री और वेश्या] दोनों [नायिकाएँ हो सकती हैं।] इसलिए ['प्रकरण' के पूर्वोक्त सात भेदोंमेंसे प्रत्येकके तीन-तीन भेद हो जानेसे सब मिलकर] यह इक्कीस प्रकारका भी हो सकता है [३] ६८।

गृहवार्तामें अर्थात् गृहस्थोचित पुरुषार्थके साधक वृत्त [कथा] में वणिग् आदि [नायकों] की कुलजा स्त्री ही नायिका रूपमें रखनी चाहिए। जैसे 'पुष्पदूतिक' में। इसके विपरीत अर्थात् गृहस्थ धर्मके उचित पुरुषार्थका वर्णन न होनेपर वेश्याको ही नायिका रूपमें प्रस्तुत करना चाहिए। जैसे 'तरंगदत्त' में। [कुलजा और वेश्या] दोनोंके योग का विटके साथ ही [अर्थात् विटके पति होनेपर] ही विधान होनेसे इन [कुलजा तथा

---

१. विवक्षते।

एषु च भेदेषु नायकवृत्तानुरूप एव व्युत्पाद्यः । अत्र हि वणिगमात्यविप्राद्युचिता त्रिवर्गप्राप्तिः, तदर्जने स्थैर्य-धैर्यादि, व्यापदि मूढता, कुलस्त्रीवृत्तं, वेश्यासुसम्भोगचातुर्यं, विट-दूतयोः स्वरूपं, नायिकारागापरागलिंगानि, हृदयग्रहणप्रयोगश्च, नायकयोरपरागकारणानि, चतुरोत्तममध्यमप्रकृतेर्नायकस्य, उत्तममध्यमप्रकृतेर्नायिकायाश्च स्वरूपम्, सामाद्युपायप्रयोगश्च व्युत्पाद्यानामुपदिश्यते । 'तस्मादिति' यतः शुद्ध-संकीर्णभेदत्रयरूपं सप्तभेदं 'प्रकरणं', 'तस्मादेकविंशतिधाप्यदः' एतत् 'प्रकरणम्' । चतुर्दश शुद्धाः, सप्त संकीर्णाः प्रकरणभेदाः । नायिकायाः कल्पिताकल्पितत्वेनान्येऽपि भेदाः संभवन्ति । परमदृष्टत्वादुपेक्षिताः ॥ [३] ६८ ॥

वेश्या] दोनोंका भी अवधारण [अर्थात् गृहवार्तामें केवल कुलजा ही, और उससे भिन्नमें केवल वेश्या ही नायिका हो सकती है इस प्रकारका नियम] है । 'विट' अर्थात् गीत-नृत्य और वाद्यमें निपुण द्यूत, पान और वेश्यादिके सेवनमें तत्पर कला-कुशल मूलदेवादि जैसे पतियोंके नायक रूपमें विवक्षित होनेपर वेश्या और कुलजा दोनों अपने-अपने योग्य गृहस्थोचित पुरुषार्थकी [और उससे भिन्न पुरुषार्थकी] अपेक्षासे [नायिका रूपमें] वेश्या और कुलजा दोनोंकी रचना करनी चाहिए । इस [विट रूप पति] के धूर्त होनेके कारण ही वेश्या प्रधान है और कुलस्त्री तो पिता पितामह आदिके अनुरोधसे [रखी हुई होनेके कारण] गौण होती है । विटके पति रूपमें कथन करनेसे वणिग् आदिके अन्तर्गत होने पर भी विट नायक हो सकता है यह बात निकलती है । [अर्थात् विट 'प्रकरण' का नेता तो हो सकता है किन्तु वह पूर्वोक्त वणिग् अमात्य या विप्रोंमेंसे ही कोई होगा । उनसे अलग नहीं] । वेश्या तथा कुलजा [दोनों प्रकारकी नायिकाओं] से संकीर्ण होनेके कारण यह भेद अशुद्ध भेद है । पहले दोनों [अर्थात् जिसमें केवल कुलजा अथवा केवल वेश्या ही नायिका हो वे] स्त्रीके संकर न होनेके कारण शुद्ध भेद हैं । शुद्ध भेदोंमें भी सहायकोंके सहित एक विट होता है । संकीर्णमें तो अनेक होते हैं । कोई लोग वणिक् जिसका नायक है इस प्रकार के 'प्रकरण' को भी धूर्तोंसे व्याप्त होनेके कारण संकीर्ण मानते हैं । जैसे मृच्छकटिक आदि ।

इन भेदोंमें नायकके वृत्तके अनुसार ही सामाजिक [व्युत्पाद्य] होते हैं । इसमें वणिक्, अमात्य, विप्र आदिके उचित [धर्म अर्थ काम रूप] १ त्रिवर्गकी प्राप्ति, २ उसके प्राप्त करनेकेलिए अपेक्षित स्थिरता, धैर्य आदि, ३ आपत्तिकालमें मूढता, ४ कुल-स्त्रियोंका आचार, ५ वेश्याओंके भली प्रकार सम्भोगका चातुर्य, ६ विट तथा विदूषकके स्वरूप ७ नायिकाके अनुराग तथा अपरागके लिंग, ८ हृदयको वशमें करनेके प्रयोग, १० नायक-नायिका दोनों के परस्पर अपरागके कारण, ११ चतुर उत्तम मध्यम प्रकृतिके नायक, तथा उत्तम मध्यम अधम प्रकृतिकी नायिकाके स्वरूपोंका और १२ सामादि उपायोंके प्रयोग का उपदेश सामाजिकोंको दिया जाता है । 'तस्मात्' इससे [यह अभिप्राय है कि] क्योंकि [पूर्वोक्त] सात भेदोंसे युक्त 'प्रकरण' के [एक केवल कुल स्त्रीके नायिका] होनेपर और दूसरा केवल पण्यस्त्रीके नायिका होनेपर] दो शुद्ध और एक संकीर्ण [अर्थात् जिसमें दोनों प्रकारकी नायिकाएँ हों इस प्रकार] तीन भेद हो सकते हैं । इसलिए यह 'प्रकरण' ७ × ३ = २१ प्रकारका भी हो सकता है । उनमेंसे चौदह शुद्ध और सात संकीर्ण भेद होंगे । नायि-

अथाकल्प्यस्वरूपम्[1] निरूपयति—

[सूत्र ११९]—अत्राकल्प्यं पुरा क्लृप्तं यद्वाऽनार्षमसद्गुणम् ।

अत्र 'प्रकरणे' अकल्प्यं अनुत्पाद्यं यत् तत् पूर्वकविकृतकाव्यादौ क्लृप्तं सत् समुद्रदत्ततच्चेष्टितादिवद् ग्राह्यम् । अथवा यदत्राकल्प्यं तत् पूर्वर्षिप्रणीतशास्त्रव्यतिरिक्त-बृहत्कथाद्युपनिबद्धं मूलदेव-तच्चरितादिवदुपादेयम् । 'असद्गुणम्' इति । यदत्राकल्प्यं पूर्वकविकल्पितं बृहत्कथाद्युपनिबद्धं वा चरित्रमपि तदसद्गुणं, पूर्वकविकाव्ये बृहत्कथादौ चासन्तो गुणाः रसपुष्टिहेतवो भणितिविशेषादयो यत्र । यद्यप्यत्र प्राक्तनं निबद्ध्यते तत्रापि कविना रसपुष्टिहेतुरधिकावापो विधेय इत्यर्थः । अत एवार्षस्य वर्जनम् । तत्र ह्यभूतगुणावापे श्राद्धलोकस्य जुगुप्सा स्यादिति ॥

अपवादभूतं कृत्यमुक्त्वा उत्सर्गमतिदिशति—

कार्योंके कल्पित और अकल्पित होनेसे और भी अधिक भेद हो सकते हैं । परन्तु [लक्ष्यग्रन्थोंमें] न पाए जानेसे उनका यहाँ वर्णन नहीं किया है [उनकी उपेक्षा कर दी है] ॥ [३]६८ ॥

अब 'अकल्प्य' [अर्थात् जिसमें नायिकादिकी कल्पना नहीं की जाती है उन] के स्वरूपको कहते हैं—

[सूत्र ११९]—जिसकी कल्पना पहिले [अन्य काव्योंमें] की जा चुकी है अथवा अनार्ष ग्रन्थोंमें वर्णित किन्तु [असद्गुणम् अर्थात्] नवीन गुणोंसे युक्त [नायकादि यहाँ 'प्रकरण' में] अकल्पित हो सकते हैं ।

यहाँ अर्थात् 'प्रकरण' में जो अकल्पित अर्थात् [कविके द्वारा स्वयं] अनुत्पादित होता है वह पूर्व कवियोंके बनाए काव्योंमें कल्पित समुद्रदत्तादिके चरित्रके समान [यहाँ 'प्रकरण' में] ग्रहण किया जाता है । अथवा जो यहाँ अकल्पित होता है वह पूर्ववर्ती ऋषि-प्रणीत शास्त्रादिसे भिन्न बृहत्कथादि [अनार्ष ग्रन्थों] में उपनिबद्ध मूलदेवचरित्र आदिके समान उपादेय होता है । [किन्तु विशेषता यह होती है कि वह] 'असद्गुण' अर्थात् पूर्वकवि-कल्पित अथवा बृहत्कथादिमें वर्णित, जो चरित्र यहाँ [प्रकरणमें] अकल्पित रूपमें लिया जाता है वह भी, उसमें जो गुण वहाँ [पूर्व कविके पात्रमें] नहीं होते हैं उस प्रकारके अपूर्व गुणों से युक्त होता है । अर्थात् पूर्व कवियोंके काव्योंमें और बृहत्कथादिमें जो गुण उसमें नहीं दिखलाए गए हैं इस प्रकारके रसके परिपोषक अपूर्व वचन-विशेषादि रूप गुण जिसमें हों इस प्रकारका ['प्रकरण' होना चाहिए] इसमें जो कुछ पुरानी बात कही जाए उसमें भी रस की परिपुष्टिकेलिए कविको नई बात और बढ़ा देनी चाहिए । यह अभिप्राय है । इसीलिए यहाँ [अनार्ष पदसे] आर्ष [चरित्रों] का निषेध किया गया है । क्योंकि उन [आर्ष चरित्रों] में नवीन गुणोंका वर्णन होनेपर श्रद्धालु लोगोंको घृणा हो जाएगी ॥

[इस प्रकार 'प्रकरण' के लक्षणमें नाटकसे भिन्न] अपवादभूत कार्योंको कह कर अब [नाटकके समान ही जो-जो बातें 'प्रकरण' में भी पाई जाती है उन] उत्सर्गभूत [सामान्य बातों] का ['प्रकरण' में] अतिदेश करते हैं—

---

१. कल्पस्वरूपं ।

[सूत्र १२०]—शेषं नाटकवत् सर्वं कैशिकीपूर्णतां विना ॥ [४] ६६॥

उक्ताद् वणिक्-विप्र-सचिव-स्वाम्यादिकाल्लक्षणाच्छेषं अपरमभिनेयप्रबन्धोचितं फल-अङ्क-उपाय-दशा-संधि-संध्यंग-प्रवेशक-विष्कंभक-अंकावतार-अंकमुख-चूलिकावृत्तिभेद-रसादिकं यथा नाटके लक्षितं तथात्रापि सर्वमौचित्यानतिक्रमेणायोज्यम्। वृत्तिचतुष्टयस्यातिदेशेऽपि कैशिकीबाहुल्यं न निबन्धनीयम्। क्लेशप्राचुर्येण शृङ्गार-हास्ययोरल्पत्वात्। यथा मृच्छकटी-पुष्पदूतिक-तरंगदत्तादिषु। यत्पुन-र्भवभूतिना मालतीमाधवे कैशिकीबाहुल्यमुपनिबद्धं, [1]तन्न वृद्धाभिप्रायमनुरुणद्धीति।

तदयं संक्षेपः—यस्य पूर्वप्रसिद्ध एवार्थे कुतूहलं असौ मुनिप्रणीतशास्त्रप्रसिद्ध-चरितेन नाटकेन राजादिरुत्तमप्रकृतिर्व्युत्पाद्यते[2]। यस्य पुनरुत्पाद्येऽर्थे कुतूहलमसौ वणिगादिभिर्मध्यमप्रकृतिः 'प्रकरणेन'। दुर्मेधसां हि न्याय्ये वर्त्मनि प्रवृत्यर्थं कवयोऽभिनेयप्रबन्धान् ग्रथ्नन्तीति ॥ [४] ६६ ॥

अथ प्रकरणानन्तरोद्दिष्टां नाटिकां लक्षयितुमाह—

[सूत्र १२०]—कैशिकीकी पूर्णताको छोड़कर शेष सब नाटकके समान 'प्रकरण' में भी होता है। [४] ६६।

[प्रकरणके लक्षणमें विशेष रूपसे कहे हुए] वणिक् विप्र, अथवा अमात्यके नायकत्वादि रूप विशेष लक्षणके अतिरिक्त अभिनेय प्रबन्धके योग्य अन्य १ फल, २ अंक, ३ उपाय, ४ दशा, ५ सन्धि, ६ सन्ध्यंग, ७ प्रवेशक, ८ विष्कम्भक, ९ अंकावतार, १० अंकमुख, ११ चूलिका, १२ वृत्तिभेद और १३ रसादिक सब जैसे नाटकोंमें कहे गए हैं उसी प्रकार औचित्यका अतिक्रमण न करते हुए यहाँ ['प्रकरण' में] भी प्रयुक्त करने चाहिए। [इस सामान्य नियमसे सात्वती आरभटी कैशिकी भारती आदि] चारों वृत्तियोंकी प्राप्ति होनेपर भी ['प्रकरण' में] कैशिकीके बाहुल्यका प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि उसमें क्लेशका आधिक्य होनेसे शृङ्गार और हास्यका अवसर कम होता है [इसलिए 'प्रकरण' में कैशिकी वृत्तिका अधिक प्रयोग उचित नहीं होता है]। जैसे मृच्छकटिक, पुष्पदूतिक और तरंगदत्त आदि [प्रकरणों] में [कैशिकी वृत्तिका अधिक प्रयोग नहीं किया गया है]। भवभूतिने जो अपने मालती माधव ['प्रकरण'] में कैशिकीका प्रचुर प्रयोग किया है वह वृद्ध-सम्प्रदाय [अर्थात् पूर्व आचार्योंके मत] के अनुकूल नहीं है।

इसका सारांश यह हुआ कि—जिनकी पूर्वप्रसिद्ध चरित आदिमें ही अभिरुचि होती है उन राजादि उत्तम प्रकृतिके लोगोंको मुनियोंके बनाए हुए शास्त्रादिमें प्रसिद्ध चरित वाले नाटकादिके द्वारा ही व्युत्पत्ति कराई जाती है। और जिनको कल्पित अर्थमें अभिरुचि होती है उन मध्यम प्रकृति वाले वणिक् आदिको 'प्रकरण' के द्वारा [व्युत्पत्ति कराई जाती है]। क्योंकि मन्दबुद्धियोंको उचित मार्गमें प्रवृत्त करानेकेलिए ही कविजन अभिनेय [नाटकादि] प्रबन्धोंकी रचना करते है ॥ [४] ६६ ॥

३. तृतीय रूपक भेद 'नाटिका' का लक्षण

अब 'प्रकरण' में अन्तर कही हुई 'नाटिका' का लक्षण करनेकेलिए कहते हैं—

---

१. तत्र। २. ह्युत्पाद्यते।

[सूत्र १२१]—चतुरंका बहुस्त्रीका नृपेशा स्त्री-मही-फला ।
कल्प्यार्था कैशिकीमुख्या पूर्वरूपद्वयोत्थिता ।। [५] ७०।।
अख्याति-ख्यातितः कन्या-देव्योर्नाटी चतुर्विधा ।

'चतुरंक'इति अवस्थात्रयसमाप्तिपरिच्छिन्नास्त्रयोऽङ्काः । कस्याश्चिदवस्थायाः प्रभूतरसेऽवस्थान्तरे समावेशेन युगपदवस्थाद्वयसमाप्त्या अंकविच्छेदे चत्वारोऽङ्काः । अल्पं हि वृत्तं नाटिकायामतो वृत्तसंक्षेपार्थमवस्थायाः समावेशः ।

बहुस्त्रीकता च कैशिकीमुख्यत्वेन शृङ्गाररसबाहुल्यात् । अत एव ललिताभिनयात्मिकाः । स्त्रियश्च देवी-दूती-सखी-चेटी-कन्यकादयः । नृपः कैशिकीप्रधानत्वाद् धीरललितो राजा ईशो नेता यस्याम् । अत एवात्र प्रकरणोद्भवत्वेऽपि सर्वो राजोचितो व्यवहारः । नायकानुसारित्वात् सर्वव्यवहारस्य । 'स्त्री-महीफला' इति स्त्रीलाभपुरःसरराज्यप्राप्तिफला । 'कल्प्यार्था' इति कर्म-करणव्युत्पत्तिभ्यां 'अर्थः' फलमुपायाश्च ।

[सूत्र १२१ क]—चार अंकों वाली, अनेक स्त्री पात्रों, राजा रूप नायक, और स्त्री अथवा पृथिवी [की प्राप्ति रूप] फल वाली, कल्पित अर्थ प्रधान, कैशिकी बहुल, पूर्वकथित दोनों रूपकों [अर्थात् 'नाटक' और 'प्रकरण'] से उत्पन्न, 'नाटिका' होती है । [यह 'नाटिका'का लक्षण हुआ] । [५] ७० ।।

[सूत्र १२१ ख]—कन्या और देवी [दो प्रकारकी इसकी नायिकाएँ होती हैं उन दोनों] के [भी] अप्रसिद्ध तथा प्रसिद्ध होनेसे [दो-दो भेद हो जाते हैं । इस प्रकार कुल मिलाकर] 'नाटिका'के चार भेद होते हैं ।

['नाटक'में साधारणतः 'कार्य'की पाँच 'अवस्थाएँ' बतलाई गई हैं और उनमेंसे प्रत्येक 'अवस्था'का वर्णन एक-एक अंकमें पूरा होनेके कारण 'नाटक'में कम-से-कम पाँच अंक आवश्यक माने गए हैं किन्तु 'नाटिका'में चार ही अंक बतलाए हैं । इसका उपपादन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि—

'चतुरंक' इससे तीन अवस्थाओंकी समाप्तिसे युक्त तीन अंक और किसी एक अवस्था का प्रधानभूत अन्य अवस्थामें समावेश कर एक साथ दो अवस्थाओंकी समाप्ति वाला एक [चौथा] अंक, इस प्रकार चार अंक होते हैं । 'नाटिका'में कथावस्तु कम होनेके कारण कथावस्तुके संक्षेपकेलिए ही एक अवस्थाका [किसी दूसरी अवस्थामें] समावेश कहा गया है ।

[नाटिकामें] कैशिकीकी प्रधानताके कारण शृंगाररसकी प्रमुखता होनेसे बहुत स्त्रियाँ [आवश्यक] होती हैं । इसी कारण [वे स्त्रियाँ] ललित अभिनय वाली होती हैं । [नाटिकाकी] स्त्रियाँ देवी, दूती, सखी, चेटी, और कन्या आदि होती हैं । ['नृपेशा'में] नृप [शब्द] से धीरललित राजा, [का ग्रहण होता है] वह जिसमें स्वामी अर्थात् नायक हो [वह 'नृपेशा' नाटिका होती है] । इसीलिए [नाटिकाके] 'प्रकरण'से उद्भूत होनेपर भी उसमें सारा व्यवहार राजाके योग्य ही होता है । क्योंकि सारा व्यवहार नायकके अनुरूप ही उचित होता है । "स्त्री-महीफला" इससे [यह बात सूचित की है कि] स्त्रीलाभ पुरःसर राज्यप्राप्ति [नाटिकाका] फल होता है । 'कल्प्यार्था' इसमें ['अर्थ्यते इति अर्थः' इस प्रकारकी कर्मपरक

तेन द्वावप्यत्रोत्पाद्यौ ।

'कैशिकी' वक्ष्यमाणलक्षणा, सा 'मुख्या' प्रधानं यस्याम् । मुख्यत्वं च शेषवृत्त्यपेक्षया बाहुल्यम् । तत एव गीत-नृत्त-वाद्य-हास्यादीनां शृङ्गाराङ्गानां प्राचुर्यम् । पूर्वरूपद्वयं 'नाटकं' 'प्रकरणं' च । तस्मादुत्थितमुत्थानं यस्याम् । कैशिकीप्राधान्याच्च यत् स्त्रीप्रायं कामफलं 'नाटकं', 'प्रकरणं' च किञ्चित् , तदिह ग्राह्यम् । अन्येषामनुरूपत्वाभावात् । एतद्द्वयोत्थितत्वेन चावस्था-सन्धि-सन्ध्यंग-बीज-बिन्दु-पताका-प्रकरी-पताकास्थानक-अंक-प्रवेशक-विष्कम्भक-इतिवृत्तभेदादीनि,उभयभेदसाधारणानि लभ्यन्ते । तत्र 'नृपेशा' इति नाटकधर्मः । तत एव नायकोऽकल्पितः । 'कल्प्यार्था' इति प्रकरणधर्मः । एतावल्लक्षणम् ॥ [५] ७० ॥

'अख्याति-ख्यातितः' इति । इह नाटिकायां नायिकाया द्वयं कन्या देवी चेति युगपत् । अपरिणीता कन्या । अन्तःपुरसंगीतकभेदभिन्ना । परिणीता तु देवी । तयोः

व्युत्पत्ति तथा 'अर्थ्यते अनेनेति अर्थः' इस प्रकारकी करण-परक व्युत्पत्ति हो सकती है । इसलिए] कर्म और करण-परक [द्विविध] व्युत्पत्तियोंके कारण फल और उपाय दोनों 'अर्थ' होते हैं [अर्थात् कर्म व्युत्पत्तिके अनुसार फलको 'अर्थ' कहा जाता है और करण व्युत्पत्तिके अनुसार 'उपाय' को 'अर्थ' कहा जा सकता है ।

इसलिए [नाटिकामें फल और उपाय] ये दोनों कल्पित होते हैं । [यह अभिप्राय है] ।

'कैशिकी' का लक्षण आगे किया जायगा । वह जिसमें मुख्य अर्थात् प्रधान हो [यह 'कैशिकीमुख्या' का अर्थ है] । अन्य [भारती आरभटी और सात्त्वती] वृत्तियोंकी अपेक्षा [कैशिकीका] बाहुल्य ही [उसकी] मुख्यता है । इसीलिए [नाटिकामें] गीत, नृत्त, वाद्य और हास्य आदि शृंगारके अंगोंकी प्रचुरता रहती है । पहिले कहे हुए जो दो रूपकभेद अर्थात् नाटक और प्रकरण उनसे जिसकी उत्पत्ति होती है [वह नाटिका होती है यह 'पूर्वरूपद्वयोत्थिता' पदका अर्थ है] । कैशिकीकी प्रधानता होनेके कारण जो कोई नाटक अथवा प्रकरण स्त्री-बहुल और कामफल वाला हो उसका ही [नाटिकाकी प्रकृतिके रूपमें] ग्रहण करना चाहिए । अन्य [नाटक या प्रकरण] के [नाटिकाके स्वरूपके] अनुकूल न होनेसे [अन्य प्रकार के नाटकादिको नाटिकाकी प्रकृति नहीं माना जा सकता है] । इन [नाटक तथा प्रकरण] दोनोंसे उत्थित होनेके कारण अवस्था, सन्धि, सन्ध्यंग, बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, पताकास्थानक, अंक, प्रवेशक, विष्कम्भक, और कथावस्तुका भेद आदि 'नाटक' तथा 'प्रकरण' दोनोंसे मिलते-जुलते ही [नाटिकामें] लिए जाते हैं । नाटिकामें 'नृपेशा' [अर्थात् राजा नायक होता है] यह नाटकका धर्म है । इसीलिए नायक कल्पित नहीं होता है । और 'कल्प्यार्था' यह 'प्रकरण'का धर्म है । ['अर्थ' शब्दसे व्युत्पत्तिभेद द्वारा फल और उपाय दोनोंका ग्रहण होता है यह बात अभी कह चुके हैं । इस कारण नाटिकामें फल और उपाय दोनों कल्पित होते हैं । यह 'कल्प्यार्था' पदका अभिप्राय है । इस प्रकार नाटिकामें 'नाटक' तथा 'प्रकरण' दोनोंके धर्म पाए जाते हैं इसलिए नाटिकाको 'पूर्वरूपद्वयोत्थिता' कहा है] इतना ही [नाटिकाका] लक्षण है [आगे उसके भेद कहे हैं । लक्षणभाग यहाँ समाप्त हो गया है] ॥ [५] ७०॥

'अख्याति-ख्यातितः' इसका यह अभिप्राय है कि—इस नाटिकामें कन्या और देवी दोनों एक साथ नायिकाएँ होती हैं । अपरिणीता [स्त्री] 'कन्या' होती है । और वह अन्तःपुरके

प्रत्येकं प्रसिद्धि-अप्रसिद्धिभ्यां चतुर्भेदत्वान्नाटिकापि चतुर्विधा। तत्र[1] 'देव्यप्रसिद्धा कन्या प्रसिद्धा इत्येकः। देव्यप्रसिद्धा कन्यकाप्यप्रसिद्धेति द्वितीयः। देवी प्रसिद्धा कन्या त्वप्रसिद्धेति तृतीयः। देवी प्रसिद्धा कन्यापि प्रसिद्धेति चतुर्थः। उभयोः प्रसिद्धत्वेऽपि च कल्पितार्थत्वं नाटिकायाः। अन्यथासंविधानकरचनात्। नाटयति नर्तयति व्युत्पाद्यमनांसीति अचि, गौरादेराकृतिगणत्वाच्च ङ्यां 'नाटी'। अल्पवृत्तत्वादल्पार्थे 'कपि' नाटिका इत्यपीति। स्त्रीप्रधानत्वात् सुकुमारातिशयत्वाच्च[2] स्त्रीलिंगसंज्ञानिर्देशः। एवं प्रकरण्यामपीति॥

अथ [3]नाटिकागतं कर्तव्यमुपदिशति—

[सूत्र १२२]—अत्र मुख्याकृतो योगः पर्यन्ते नेतुरन्यथा॥ [६] ७१॥
प्रेमार्द्रो वर्ततेऽन्यस्यां नेता मुख्याभिशंकितः।

संगीत आदि भेदोंके कारण अनेक प्रकारकी होती है। विवाहिता [स्त्री] 'देवी' होती है। उन दोनोंकी प्रसिद्धि तथा अप्रसिद्धिके कारण [नायिकाके] चार भेद हो जानेसे नाटिका भी चार प्रकारकी होती है। उनमेंसे (१) देवी अप्रसिद्ध हो और कन्या प्रसिद्ध हो यह पहला भेद हुआ। (२) देवी अप्रसिद्ध हो और कन्या भी अप्रसिद्ध हो यह दूसरा भेद हुआ। (३) देवी प्रसिद्ध हो किन्तु कन्या अप्रसिद्ध हो यह तीसरा भेद हुआ। (४) देवी प्रसिद्ध हो और कन्या भी प्रसिद्ध हो यह चौथा भेद हुआ। [देवी और कन्या] दोनोंके प्रसिद्ध होनेपर भी [नाटिकामें उनके चरित्र आदि रूप] संविधानककी रचना [प्रसिद्ध कथाकी अपेक्षा] कुछ अन्य ही प्रकारसे कर देनेसे नाटिका 'कल्प्यार्था' हो जाती है। [आगे नाटिका शब्दकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं। यह शब्द नट नर्तने धातुसे बना है। उसके अनुसार] जो सामाजिकों [व्युत्पाद्यों] के मनोंको नचाती है [आह्लादित करती है] इस विग्रहमें अच्-प्रत्यय करके [षिद्गौरादिभ्यश्च सूत्रमें] गौरादि गणके आकृति गण होनेसे ङीष् प्रत्यय होनेपर 'नाटी' [यह पद सिद्ध] होता है। [यह नाटी पद नाटिकाका पर्यायवाचक शब्द ही है। नाटी पदसे अल्पार्थमें कप्-प्रत्यय करके 'नाटिका' पद बन जाता है। इस बातको आगे कहते हैं] अल्प कथावस्तु होनेके कारण अल्पार्थमें कप्-प्रत्यय होकर 'नाटिका' यह भी [रूप बनता है]। [नाटिका और नाटी पदोंमें जो स्त्रीलिंगका प्रयोग किया गया है उसका उपपादन करते हैं] स्त्री-प्रधान होनेके कारण और सौकुमार्यका अतिशय होनेके कारण स्त्रीलिंगकी संज्ञाके द्वारा निर्देश किया गया है। इसी प्रकार 'प्रकरणी' [इस पद] में भी [स्त्रीलिंगके पदका प्रयोग समझ लेना चाहिए]।

अब नाटिकामें [आख्यान-वस्तुकी रचना किस प्रकार करनी चाहिए इस] कर्तव्यका उपदेश करते हैं—

[सूत्र १२२]—उस [नाटिका] में, अन्तमें [अर्थात् निर्वहण-सन्धिमें] नायकका मुख्य नायिका द्वारा अन्य [कन्या] के साथ योग कराया जाना चाहिए। [और उसके पूर्व] नायक प्रेमासक्त होकर भी मुख्य नायिकासे डरता हुआ-सा अन्य [कन्याके साथ प्रणय-व्यापार] में प्रवृत्त होता है।

१. देव्यचसिप्र। २. सुकुमारातिनयत्वाच्च। ३. नायकागत प्र।

'अत्र' नाटिकायां 'मुख्या' नृपवंशजत्व-गम्भीरत्व-परिणीतत्वादिभिः प्रधानं नायिका, तद्वशादन्तःपुरसंगीतकसम्बन्धेन श्रुति-दर्शनाभ्यामासन्नया 'अन्यया' 'कन्यया' 'योगः' सम्बन्धो नायकस्य 'पर्यन्ते' निर्वहणसन्धौ दर्शयितव्यः ॥ [६] ७१ ॥

नेता च तल्लाभादर्वाक् प्रवर्धमानानुरागो मुख्यातश्चकितहृदयः कन्यायामुपवनादिषु संकेतस्थानेषु संघटते ।

कृत्यान्तरमपि दर्शयति—

[सूत्र १२३]—देवी दक्षाऽपरा मुग्धा समा धर्मा द्वयोः पुनः ॥[७] ७२॥

क्रोध-प्रसाद-प्रत्यूह-रति-च्छद्मादि भूरिशः ।

देवी दक्षा चतुरा निबन्धनीया । अपरा तु कन्या मुग्धा चातुर्यवर्जिता । धर्माः पुनः क्षत्रियवंशजत्व-नय-विनय-लज्जा-महत्त्व-गाम्भीर्यादयः, तुल्या द्वयोः देवी-कन्ययोर्निबन्धनीयाः ॥ [७] ७२ ॥

तथा कन्यानुरागपरिज्ञाने देव्या राजनि क्रोधः । राज्ञा च तस्याः प्रसादनम् । देव्या च राज्ञः कन्यासमागमे विघ्नः । राज-कन्ययोः परस्परं रतिः । सर्वेषामान्योन्यं वञ्चनम् । आदि शब्दादन्यदपि श्रृंगारांगं भूयो भूयो निबन्धनीयमिति ।

इस नाटिकामें राजवंशमें उत्पन्न होनेके कारण, गम्भीरत्वके कारण और परिणीता होनेके कारण, मुख्या नायिका ही प्रधान होती है। उसके द्वारा अन्तःपुरके संगीत आदिके सम्बन्धसे श्रवण या दर्शन द्वारा प्राप्त दूसरी कन्याके साथ नायकका सम्बन्ध अन्तमें अर्थात् निर्वहण सन्धिमें दिखलाना चाहिए। ॥ [६] ७१ ॥

और उसके [अर्थात् निर्वहण सन्धिके] पहिले तो नायक [अन्य कन्याके प्रति क्रमशः] अनुरागकी वृद्धि होनेपर भी मुख्य नायिकासे डरता हुआ-सा ही उपवन आदिमें कन्यासे मिलता है।

अब [नाटिकामें] करने योग्य अन्य बात भी दिखलाते हैं—

[सूत्र १२३]—देवीको चतुरा रूपमें, और [अन्य अर्थात्] कन्याको मुग्धा रूपमें [दिखलाना चाहिए]। दोनोंके [कुलजत्वादि] धर्म समान [दिखलाने चाहिए]। ७ [७२] ॥

[और नाटिकाकी आख्यानवस्तुके बीचमें] क्रोध, प्रसाद, विघ्न, रति और छल आदिका प्रचुर-प्रयोग दिखलाना चाहिए।

देवी दक्षा अर्थात् चतुरा रूपमें प्रदर्शित करनी चाहिए। और दूसरी कन्या तो मुग्धा अर्थात् चातुर्यरहित [दिखलानी चाहिए]। क्षत्रियवंशजत्व, नय, विनय, लज्जा, महत्त्व, गाम्भीर्य आदि धर्म दोनों अर्थात् देवी तथा कन्यामें समान रूपसे दिखलाने चाहिए।

कन्याके [प्रति राजाके] अनुरागका ज्ञान होनेपर राजाके प्रति देवीका क्रोध, और राजाके द्वारा उस [देवी] को प्रसन्न करनेका यत्न [दिखलाना चाहिए]। देवीके द्वारा राजाके कन्याके साथ समागममें विघ्न उपस्थित करना, राजा और कन्याका परस्पर अनुराग, और सबका एक दूसरेको धोखा [देकर कार्य सिद्ध करनेका प्रयत्न नाटिकामें दिखलाना चाहिए]। आदि शब्दसे श्रृंगारके अंगभूत अन्य धर्मोंको भी बार-बार ग्रथित करना चाहिए।

अथ नाटिकालक्षणातिदेशेन 'प्रकरणीं' लक्षयति—

[सूत्र १२४]—एवं प्रकरणी किन्तु नेता प्रकरणोदितः ॥ [८] ७३ ॥

एवं नाटिकोक्त-चतुरंकत्वादिलक्षणानुसारेण 'प्रकरणी' ग्रथनीया। किन्तु नेता प्रकरणोक्तो वणिगादिः। तेन वणिगाद्युचित एव वेष-संभोगादिः सर्वोऽप्यत्र व्यवहारः। स्त्र्यपि तज्जात्यनुरूपैव। फलमपि महीलाभस्य वणिगादेरनुचितत्वात् स्त्रीप्राप्तिपुरःसरं द्रव्यलाभादिकं द्रष्टव्यम्।

कैशिकीबहुलत्वं च नाटकधर्मः। प्रकरणस्याल्पकैशिकीत्वात्। कल्प्यार्थत्वं वणिगादिनायकत्वं च प्रकरणधर्मः। तथा नाटकप्रकरणोत्थितत्वेऽपि नाटिका-प्रकरणिकयोः नाटकोक्तनायकानुसारेण[1] नायिकाव्यपदेशः। नायकानुसारित्वात् सर्वव्यवहाराणाम्। प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते अस्यामर्थः इति 'प्रकरणी'। अल्पार्थे कपि 'प्रकरणिका'। एते च द्वे अपि मुख्यरूपकद्वयसंकरनिष्पन्नत्वात् संकीर्णभेदरूपे। एवमन्येऽपि संकरभेदा रूपकद्वय-त्रयादि-सांकर्येण सम्भवन्ति परमदृष्टत्वादरञ्जकत्वाच्च न ते लक्ष्यन्ते इति। नाटिकायां च राज्ञां, प्रकरणिकायान्तु वणिगादीनां विलासप्रधानं धर्मार्थाविरोधि वृत्तं नाटक-प्रकरणयोरिव व्युत्पाद्यम् ॥८।७३॥

४. चतुर्थ रूपक भेद 'प्रकरणी' का निरूपण

इस प्रकार यहाँ तक नाटिकाके लक्षणका निरूपण कर अब आगे ग्रन्थकार 'प्रकरणी' के लक्षणका निरूपण आरम्भ करते हैं।

अब 'नाटिका' के लक्षणके 'अतिदेश' द्वारा [अन्यके धर्मका अन्यके साथ सम्बन्ध दिखलाना 'अतिदेश' कहलाता हैं] 'प्रकरणी' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १२४]—इसी प्रकार [अर्थात् नाटिकाकी रचनाके समान ही] 'प्रकरणी' [की रचना करनी चाहिए] किन्तु उसमें, 'प्रकरण' में कथित [वणिक् आदि ही] नायक होना चाहिए ॥ [८] ७३ ॥

इसी प्रकार अर्थात् नाटिकामें कहे चतुरंकत्वादि लक्षणोंके अनुसार 'प्रकरणी' की रचना करनी चाहिए। किन्तु [इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि प्रकरणीमें] 'प्रकरण' में कहे हुए वणिक् आदिमेंसे ही [कोई] नायक होना चाहिए। इसलिए वणिक् आदिके योग्य ही वेष और सम्भोग आदि सारा व्यवहार यहाँ दिखलाना चाहिए। स्त्री नायिका भी उसी जातिके अनुरूप होनी चाहिए। पृथिवीलाभ रूप फलके वणिक् आदिकेलिए अनुचित होनेसे स्त्रीप्राप्ति सहित द्रव्यलाभादि फल भी ['प्रकरण' के समान ही] होना चाहिए।

['नाटिका' के समान 'प्रकरणी' में भी नाटक और 'प्रकरण' दोनोंके धर्मोंका समावेश होता है जिनमेंसे] कैशिकीका बाहुल्य नाटकका धर्म है। क्योंकि 'प्रकरण' में कैशिकी की न्यूनता होती है। ['प्रकरणी' में कैशिकी-बाहुल्य रहता है वह धर्म नाटकसे लिया जाता है 'प्रकरण' से नहीं] कल्पित अर्थका होना और वणिगादिका नायकत्व ये दोनों 'प्रकरण' के धर्म [प्रकरणीमें आते] हैं। नाटक और 'प्रकरण' से उत्थित होनेपर भी 'नाटिका' और 'प्रकरणी' दोनोंमें, नाटक [और प्रकरण] में कहे हुए नायकों के अनुसार ही नायिकाका व्यवहार होना चाहिए। क्योंकि सारे व्यवहार नायक के अनुसार ही उचित होते हैं।

१. नायिकानुसारेम नायक व्यपदेशः

अथ पूर्णदशा-संधीनि रूपकाणि लक्षयित्वा न्यूनदशा-सधीनि निरूप्यन्ते। तत्रापि मनुष्यनायकप्रत्यासत्त्या प्रथमं 'व्यायोगं' लक्षयति—

[सूत्र १२५]—एकाहचरितैकांको गर्भामर्शविवर्जितः ।
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो नियुद्धस्पर्धनोद्धतः ॥ [९] ७४ ॥
स्वल्पयोषिज्जनः ख्यातवस्तुर्दीप्तरसाश्रयः ।
अदिव्यभूपतिस्वामी व्यायोगो नायिकां विना ॥[१०]७५॥

एकदिवसनिवर्तनीयकार्य एक एव अङ्को यत्र। एकाहचरितत्वाच्चैकाङ्कत्व-

['प्रकरण' के समान ही 'प्रकरणी' का निर्वचन आगे दिखलाते हैं] जिसमें [आख्यान-वस्तुरूप] अर्थ भली प्रकारसे किया अर्थात् कल्पित किया जाता है वह 'प्रकरणी' कहलाती है [यह 'प्रकरणी' शब्दका अवयवार्थ हुआ]। अल्पार्थमें कप्-प्रत्यय करके 'प्रकरणिका' [पद भी बन जाता है]। [नाटिका और प्रकरणी] ये दोनों ही [नाटक तथा प्रकरण रूप] मुख्य दो रूपकों के संकरसे उत्पन्न होनेके कारण संकीर्णभेद रूप हैं। इसी प्रकार दो रूपकों या तीन रूपकों के संकरसे उत्पन्न अन्य संकर भेद भी हो सकते हैं। किन्तु [लक्ष्य ग्रन्थोंके रूपमें] न पाए जानेसे और मनोरञ्जक न होनेसे हमने उनके लक्षण नहीं किए हैं। 'नाटक' और 'प्रकरण' के समान ही नाटिकामें राजाओंके और 'प्रकरणिका' में वणिगादिके, धर्म एवं अर्थके अविरोधी विलास-प्रधान वृत्तका वर्णन करना चाहिए ॥ [८] ७३ ॥

५. पञ्चम रूपकभेद 'व्यायोग' का निरूपण

इस प्रकार नाटक, प्रकरण, नाटिका और प्रकरणी इन चार रूपकभेदोंका निरूपण कर चुकनेके बाद अब पञ्चम भेद 'व्यायोग'के लक्षणका अवसर आता है। यहाँ तक जिन चार रूपका भेदोंका निरूपण किया गया है उन सबमें सम्पूर्ण दशाओं और सन्धियों-का वर्णन था। किन्तु यहाँसे आगे जिन रूपकभेदोंका वर्णन किया जाएगा उनमें दशा तथा सन्धि दोनों न्यून संख्यामें रहेंगी। इसी भेदको दिखलाते हुए ग्रन्थकार आगे 'व्यायोग'-का लक्षण आदि करते हैं।

पूर्ण दशाओं और पूर्ण सन्धियोंसे युक्त [१ नाटक, २ प्रकरण, ३ नाटिका और ४ प्रकरणी इन चार] रूपकोंके लक्षण कर चुकनेके बाद अब न्यून दशा और सन्धियोंसे युक्त [रूपक भेदों] का निरूपण [प्रारम्भ] करते हैं। उनमें से भी ['व्यायोग' में नाटकादि पूर्वोक्त चार रूपकभेदोंके समान] मनुष्य नायकका सम्बन्ध होनेसे पहले 'व्यायोग'का निरूपण करते हैं—

[सूत्र १२५ क]—एक दिनके वृत्तान्तको दिखलाने वाले और एक ही अंक से युक्त, गर्भ तथा विमर्श सन्धियोंसे रहित, स्त्रीसे भिन्न निमित्तसे संग्राम जिसमें दिखलाया गया हो, मल्लयुद्ध और स्पर्धासे दीप्त।—[९] ७४।

[सूत्र १२५ ख]—बहुत कम स्त्री पात्रों वाला, प्रसिद्ध कथा-वस्तु तथा दीप्त रसोंसे सम्पन्न, अदिव्य [देवता तथा राजा आदिसे भिन्न सेनापति अमात्यादि रूप] नायकसे युक्त रूपक 'व्यायोग' [कहलाता] है। किन्तु उसमें नायिका नहीं होती है। [१०] ७५।

एक दिनमें ही कार्यकी समाप्तिको प्रदर्शित करने वाला, एक ही अंक जिसमें हो [वह रूपकभेद 'व्यायोग' कहलाता है। यह व्यायोगका मुख्य लक्षण है]। एक ही दिनके

मस्य। दीप्तरस-नायकयुक्तत्वात् गर्भविमर्शविवर्जनम्। दीप्तरसो हि कालक्षेपासहिष्णुतया विनिपातानां शंकया च प्रारम्भ-प्रयत्नानन्तरं फलागम एव यतते।

एवमीहामृगनायका[1] अपि। डिम-समवकारनायकास्तु बहुतरफलार्थित्वेन प्राप्त्याशायुक्ता दीप्तरसत्वेन च विनिपाताशङ्किनो निर्विमर्शकाः। भाण-प्रहसनयोर्नायकस्याधमत्वाद्, उत्सृष्टिकाङ्के शोकार्थत्वाद्, वीथ्यां चासहायत्वात्, सर्वेषामल्पवृत्तत्वाच्च प्रारम्भानन्तरं फलागमनिबन्धः। नाटकादिनायकस्य तु प्रेक्षापूर्वकारित्वेनार्तिसहत्वात् हित-बहुफलकर्तव्यारम्भित्वेन विनिपातप्रत्ययापाकरणाच्च सर्वावस्थासम्भवेन पञ्चापि सन्धयो भवन्त्येव।

वृत्तान्तका वर्णन होनेसे इसमें केवल एक ही अंक होता है। दीप्तरस [रौद्र वीर आदि रसप्रधान] नायकसे युक्त होनेके कारण [ही] गर्भ तथा अवमर्श सन्धियोंका निषेध किया गया है। दीप्तरस वाला [नायक] कालक्षेपको [अर्थात् कार्यसिद्धिमें विलम्बको] सहन नहीं कर सकता है [जल्दबाज होता है] और काम बिगड़ जानेके डरसे [कालक्षेप किए बिना] प्रारम्भ और प्रयत्न [रूप दो अवस्थाओं] के अनन्तर ही फलको प्राप्त करनेका यत्न करता है। [इसलिए इसमें गर्भ तथा विमर्श सन्धियोंका अवसर नहीं आता है]।

सन्धि तथा अवस्थाओंकी न्यूनताका उपपादन

इसी प्रकार 'ईहामृग' [नामक रूपकभेद] के नायक भी [कालक्षेपको सहन नहीं कर सकते हैं इसलिए उसमें भी गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होती हैं]। 'डिम' और 'समवकार' के नायक तो प्रचुर फलकी कामना वाले होनेसे 'प्राप्त्याशा' [अवस्थावाली 'गर्भ सन्धि] से युक्त तो होते हैं किन्तु दीप्तरस [जल्दबाज] होनेसे विनिपात [कार्य विनाश] की शंकासे युक्त होनेके कारण 'विमर्श' रहित होते हैं। [इसलिए 'डिम', 'समवकार' आदि रूपकभेदों में 'गर्भसन्धि' होता है किन्तु 'विमर्शसन्धि' नहीं होता है]। 'भाण' और 'प्रहसन' [नामक रूपकभेदों] के नायकोंके अधम होनेसे, और 'उत्सृष्टिकांक' में शोकका प्राधान्य होनेसे, तथा 'वीथी' आदि [रूपकभेदोंमें नायकके] सहायक-विहीन होनेसे, और इन सभीके स्वल्पवृत्तवाला होनेसे प्रारम्भ [अवस्था] के बाद ही [बीच की यत्न, प्राप्त्याशा आदि तीन अवस्थाओं को छोड़कर] फलप्राप्ति [रूप पञ्चमावस्था] का वर्णन किया जाता है। नाटकादिके नायक तो विचारपूर्वक कार्य करने वाले, कष्टसहिष्णु, हितकर और बहुफल वाले कार्यके आरम्भ होनेसे, और विनिपातके कारणों [अर्थात् बाधाओं] के निराकरणमें समर्थ होनेसे [नाटकादिमें] सारी अवस्थाओंका सम्भव होनेसे पाँचों सन्धि होते ही हैं।

इस प्रकार इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने विभिन्न रूपक भेदोंके नायकोंकी मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए दीप्त स्वभाव वाले नायक जल्दबाज होते हैं और कार्यमें कोई विघ्न न आ जाय इस दृष्टिसे तुरन्त ही फल प्राप्तिका यत्न करते हैं इसलिए उस प्रकारके नायकों से युक्त 'व्यायोग' आदि रूपकभेदोंमें एक, दो या तीन अवस्थाओंको छोड़कर शेष दो तीन या चार अवस्थाओं और उसीके अनुसार दो, तीन या चार सन्धियोंका प्रयोग किया जाता है। नाटकादि प्रारम्भिक चार रूपकभेदोंमें ही पाँचों अवस्थाओं तथा पाँचों सन्धियों का उपयोग होता है। अन्तके शेष रूपकभेदों में सारे सन्धियों और सारी अवस्थाओंका

---

१. नायिका।

अत्र च गर्भावमर्शसन्धिप्रतिषेधे एतत्सन्धिपरिच्छेदिके प्राप्त्याशा-नियताप्ती अवस्थे अपि प्रतिषिद्धे एव। एवमपरेष्वपि[1] रूपकेषु तत्तत्सन्धिनिषेधे तत्तत्सन्धि-परिच्छेदिकावस्थापि निषिद्धैव द्रष्टव्येति।

अस्त्रीति अस्त्र्यर्थसंग्रामसंयुक्तश्च। यथा जामदग्न्यजये परशुरामेण सहस्रार्जुनवधः कृतः। नियुद्धं बाहुयुद्धम्। स्पर्धनं शौर्य-विद्या-कुल-धन-रूपादिकृतः संहर्षः। ताभ्यामुद्धतो दीप्तः।

प्रयोग नहीं होता है। इनमेंसे 'व्यायोग'में 'गर्भ' और 'विमर्श' को छोड़कर केवल तीन सन्धियों और तीन अवस्थाओंका ही प्रयोग होता है। 'डिम', 'समवकार' आदिमें विमर्श सन्धिको छोड़कर शेष चार सन्धियों और चार अवस्थाओंका उपयोग होता है। 'भाण' तथा 'प्रहसन' 'उत्सृष्टिकांक' तथा 'वीथी' इन चारोंमें केवल आदि और अन्तकी दो अवस्थाओं और दो सन्धियोंका ही उपयोग होता है। बीच की तीन अवस्थाओं तथा तीन सन्धियोंका उपयोग नहीं होता है। इन बारह प्रकारके रूपक भेदोंकी सन्धि तथा अवस्था आदिके प्रयोगकी दृष्टिसे स्थिति निम्न प्रकार बनती है—

रूपक भेद	प्रयुक्त अवस्था सन्धि	वर्जित अवस्था सन्धि
१. नाटक	पाँचों अवस्था तथा सन्धियाँ	
२. प्रकरण	पाँचों अवस्था तथा सन्धियाँ	
३. नाटिका	पाँचों अवस्था तथा सन्धियाँ	केवल चार अंकों में
४. प्रकरणी	पाँचों अवस्था तथा सन्धियाँ	केवल चार अंकों में
५. व्यायोग	तीन अवस्था तथा सन्धियाँ	गर्भ, विमर्श रहित
६. ईहामृग	तीन अवस्था तथा सन्धियाँ	गर्भ, विमर्श रहित
७. समवकार	चार अवस्था तथा सन्धियाँ	विमर्श वर्जित
८. डिम	चार अवस्था तथा सन्धियाँ	विमर्श वर्जित
९. भाण	आदि अन्त की दो सन्धि-अवस्था	प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श रहित
१०. प्रहसन	भाणवत्	भाणवत्
११. उत्सृष्टिकांक	भाणवत्	भाणवत्
१२. वीथी	भाणवत्	भाणवत्

यहाँ [अर्थात् व्यायोगमें] गर्भ तथा विमर्श सन्धिका निषेध होनेसे इन सन्धियों को व्याप्त करने वाली 'प्राप्त्याशा' और 'नियताप्ति' रूप अवस्थाओंका भी निषेध समझना चाहिए। इसी प्रकार अन्य रूपकोंमें भी उस-उस सन्धिका निषेध होनेपर उस-उस सन्धि को व्याप्त करने वाली अवस्थाको भी निषिद्ध ही समझना चाहिए।

'अस्त्री' इत्यादिसे स्त्रीको छोड़कर अन्य निमित्तसे संग्रामयुक्त हो [यह सूचित किया है] जैसे 'जामदग्न्यजय' [नामक व्यायोगमें] परशुरामने सहस्रार्जुनका वध किया है। 'नियुद्ध' का अर्थ बाहुयुद्ध है। शौर्य, विद्या, कुल, धन और रूपादिके कारण होनेवाला संहर्ष 'स्पर्धा' [कहलाता] है। उन दोनों [अर्थात् नियुद्ध तथा स्पर्धा] से उद्धत अर्थात् दीप्त [व्यायोग होता है]।

---

१. मुरत्वपि।

स्वल्पस्त्रीपात्रत्वं च कैशिकीरहितत्वात्। एतेन पुरुषपात्रबाहुल्यं लभ्यते। ख्यातं प्रसिद्धं वस्तु नायकोपायलक्षणं यस्य। दीप्तानां वीर-रौद्रादीनां रसानामाश्रयः। अत-एवात्र गद्यं पद्यं चौजोगुणयुक्तम्। तथा दिव्यभूपतिवर्जितं सेनापत्यमात्यादि-दीप्तरसनायकसम्पन्नः। केचिदस्य द्वादशनेतृकत्वमाम्नासिषुः। विशेषेण आ समन्ताद् युज्यन्ते कार्यार्थं संरभन्तेऽत्रेति 'व्यायोगः'। 'नायिकां विना' इत्यनेन नायिकायास्तदुचितस्य च दूत्यादेः परिजनस्य निषेधः। तेन नायकपरिच्छदभूताश्चेट्यादयो भवन्त्येव। अत्र च मन्त्रि-सेनापत्यादीनां युद्धादिबहुलं वृत्तं व्युत्पाद्यमिति॥ [९-१०] ७४-७५॥

अथ क्रमप्राप्तं समवकारं लक्षयति—

[सूत्र १२६]—विज्ञेयः समवकारः ख्यातार्थो निर्विमर्शकः।

उदात्तदेव-दैत्येशो वीथ्यङ्गी वीर-रौद्रवान्॥[११]७६॥

संगतैरवकीर्णैश्चार्थैः त्रिवर्गोपायैः पूर्वप्रसिद्धैरेव क्रियते निबध्यते इति 'समवकारः।' ख्यातार्थ इति बृहत्कथादिप्रसिद्धनायक-उपाय-त्रिवर्गफलो विमर्शसन्धि-विवर्जितश्च।

[व्यायोगमें] स्त्री पात्रोंकी अल्पता कैशिकी रहित होनेके कारण होती है। इससे पुरुष पात्रोंका आधिक्य सूचित होता है। जिसमें नायक तथा उपाय रूप 'वस्तु' ख्यात अर्थात् प्रसिद्ध हो। वीर रौद्र आदि दीप्त रसोंका आश्रय हो। इसीलिए इसमें गद्य और पद्य दोनों ओज गुणसे युक्त होने चाहिए। और [व्यायोग] दिव्य [अर्थात् देवता रूप नायक] और राजाओं [रूप नायकों] से भिन्न, दीप्त रसोंके अनुरूप सेनापति अमात्यादि नायकोंसे युक्त होना चाहिए। कोई लोग इसमें बारह प्रकारके नायक बतलाते हैं। [आगे 'व्यायोग' शब्द का निर्वचन कर उसका अवयवार्थ दिखलाते हैं] जिसमें 'विशेष' रूपसे 'आ समन्तात्' अर्थात् सब ओरसे युक्त होते हैं अर्थात् कार्यकेलिए प्रयत्न करते हैं। वह 'व्यायोग' [कहलाता] है [यह 'व्यायोग' पदका अवयवार्थ या निर्वचन है]। 'नायिकां विना' इस पदसे नायिका और उसके योग्य दूती आदि परिजनोंका निषेध किया गया है। इसलिए नायकके सेवकादि के रूपमें चेटी आदि होती ही हैं [उनका निषेध नहीं समझना चाहिए। इस सबका फलितार्थ यह हुआ कि] इसमें [अर्थात् व्यायोगमें] सेनापति अमात्य आदिका युद्ध-प्रधान चरित्र प्रदर्शित करना चाहिए॥ [९-१०] ७४-७५॥

६. षष्ठ रूपकभेद 'समवकार' का निरूपण

['व्यायोग' नामक पञ्चम रूपकभेदके निरूपणके बाद] अब 'समवकार' [नामक षष्ठ रूपकभेद] का अवसर प्राप्त होनेसे उसका निरूपण करते हैं—

[सूत्र १२६]—प्रसिद्ध आख्यान वस्तुके आधारपर ग्रथित, विमर्श-सन्धिसे रहित उदात्त प्रकृतिके देव-दैत्य आदि नायकों वाला, वीर या रौद्ररस प्रधान, वीथीके अंगोंसे युक्त [रूपकभेदको] 'समवकार' समझना चाहिए। [अर्थात् 'समवकार' के लक्षणमें इन सब बातोंका समावेश होता है]॥ [११] ७६॥

[कारिकाकी व्याख्या आरम्भ करते हुए ग्रन्थकार सबसे पहले 'समवकार' पदका निर्वचन कर उसका अवयवार्थ दिखलाते हैं]। कहीं मिले हुए और कहीं बिखरे हुए त्रिवर्ग

'उदात्त' इति उदात्तत्वं महत्त्व-गाम्भीर्यादि। दैव-दैत्यानां हि धीरोद्धतत्वं मर्त्यापेक्षयैव, स्वजात्यपेक्षया तु धीरोदात्तत्वमपि।

अत्र च तत्तद्देव-दैत्यभक्तानां इष्टदेवतादि-कर्मप्रभावादिकीर्तनात् महती प्रीतिर्यात्राजागरादि-प्रेक्षाकरण-तदनुष्ठितोपायादिषु प्रवृत्तिश्च भवतीति देव-दैत्यौ नेतारौ। एवमन्येष्वपि अमनुष्यनेतृकेषु वाच्यम्। वीथ्यङ्गानि व्याहारादीनि वक्ष्यमाणानि। तद्वान्। वीर-रौद्रवान् इत्यतिशायने मतुः। तेनात्र[1] त्रिशृङ्गारत्वेऽपि वीर-रौद्रौ प्रधानम्। देव-दैत्यानामुद्धतत्वेन शृङ्गारस्य च्छायामात्रत्वेन निबन्धनादिति ॥ [११] ७६ ॥

के पूर्व-प्रसिद्ध उपायोंके द्वारा जिसको किया अर्थात् बनाया जाता है वह 'समवकार' कहलाता है। [अर्थात् समवकार शब्द सम अव उपसर्ग पूर्वक कृ-धातु से निष्पन्न होता है]। 'ख्यातार्थ' से [यह अभिप्राय है कि] बृहत्कथा आदिमें प्रसिद्ध नायक, उपाय तथा त्रिवर्ग-रूप फलसे युक्त, तथा विमर्श-सन्धिसे रहित होना चाहिए।

['उदात्तदेव-दैत्येशो' में] 'उदात्त' इससे महत्त्व गाम्भीर्यादिको उदात्तत्व समझना चाहिए। देवों और दैत्योंका धीरोद्धतत्व मनुष्योंकी अपेक्षासे होता है। अपनी-अपनी जाति की अपेक्षासे तो [देवों तथा दैत्यों दोनोंमें] धीरोदात्तत्व भी होता है। यहां [संसारमें या समवकारमें] उन-उन देवों तथा दैत्योंके भक्तोंमें अपने-अपने इष्टदेव आदि, उनके कर्म तथा प्रभाव आदिके कीर्तनसे अत्यन्त आनन्द [प्रीति] यात्रा, जागरण, [प्रेक्षाकरण अर्थात्] दर्शन या झाँकी बनाना आदि और उनके द्वारा किए गए उपायोंके अनुष्ठान आदिमें प्रवृत्ति होती है इसलिए देव और दैत्योंको यहां [अर्थात् समवकारमें] नायक माना गया है। इस प्रकार मनुष्योंसे भिन्न नायकों वाले अन्य रूपकभेदोंमेंके विषयमें भी समझना चाहिए। ['वीथ्यङ्गवान्' इस पदमें निर्दिष्ट] 'वीथी' के 'व्याहारादि' अंग जो आगे कहे जाने वाले हैं उनसे युक्त [होना चाहिए]। 'वीर-रौद्रवान्' इसमें अतिशायन अर्थमें मतु-प्रत्यय है। इसलिए [समवकारमें अगली ७७ वीं कारिकामें कहे हुए (१) धर्मफलक, (२) अर्थफलक, तथा (३) कामफलक] तीनों प्रकारके शृङ्गारके होनेपर भी, वीर और रौद्र प्रधान [रस] होते हैं। क्योंकि देव और दैत्योंके उद्धत होनेके कारण उनके शृङ्गारका [समवकारमें] छायामात्र रूपसे ही वर्णन होता है। [इसलिए शृङ्गाररस उसमें प्रधान नहीं होता है। वीर या रौद्ररस ही समवकारमें प्रधान रस होते हैं] ॥ [११] ७६ ॥

इस प्रकार 'समवकार'का सामान्य लक्षण इस कारिकामें दिया है। ७७ से ८० तक अगली चार कारिकाओंमें उसके सम्बन्धमें अन्य अनेक बातोंका वर्णन करेंगे। इनमें 'समवकार'के द्वादश नायक और तीन अंक बतलाए गए हैं। द्वादश नायकोंकी संख्याका उपपादन दो प्रकारसे किया गया है। एक मत तो यह है कि समवकारके जो तीन अंक होते हैं इनमें से प्रत्येकमें चार-चार नायक होते हैं। इस प्रकार तीनों अंकोंमें मिलाकर बारह नायक हो जाते हैं। प्रत्येक अंक में जो चार-चार नायक कहे गए हैं उनमें नायक-प्रतिनायक और उन दोनोंके सहायक ये चारों नायक माने जाते हैं। तभी चार नायक बनते हैं। दूसरे मतमें 'समवकार'के प्रत्येक अंकमें बारह-बारह नायक होते हैं। यह बारह संख्या भी इसी प्रकार नायक-प्रतिनायक और उनके अनुरूप सहायकोंको मिलाकर पूरी होगी।

१. श्रङ्गारत्वेऽपि।

अथ कृत्यान्तरमुपदिशति—

[सूत्र १२७]—अत्र द्वादश नेतारः फलं तेषां पृथक् पृथक् ।
अंकास्त्रयः त्रिश्रृंगाराः त्रिकपटा त्रिविद्रवाः ॥ [१२]७७ ॥
षड्-युग्मैकमुहूर्ताः स्युः निष्ठितार्थाः स्वकार्यतः ।
महावाक्ये च सम्बद्धाः क्रमाद् द्वि-एकैकसन्धयः॥[१३]७८॥

'अत्र' समवकारे नायका द्वादश। तत्र[1] प्रत्यङ्कं द्वादश। यदि वा[2] प्रत्यङ्कं नायक-

'समवकार'को अगली कारिकामें 'त्रिश्रृंगार' तीन प्रकारके श्रृंगारोंसे युक्त कहा गया है। वैसे तो रसके प्रसंगमें श्रृंगारके सम्भोगश्रृंगार और विप्रलम्भश्रृंगार केवल ये दोनों ही भेद किए गए हैं। किन्तु यहाँ तीन प्रकारके श्रृंगाररसोंकी चर्चा की गई है। यहाँ श्रृंगार के ये तीन भेद फलकी दृष्टिसे किए गए हैं। (१) धर्मप्रधान श्रृंगार (२) अर्थप्रधान श्रृंगार और (३) कामप्रधान श्रृंगार। इस प्रकार श्रृंगारके तीन भेद करके 'समवकार'को 'त्रिश्रृंगारः' कहा गया है। श्रृंगारके ये तीनों भेद 'समवकार'के तीनों अंकोंमेंसे प्रत्येक अंकमें होने चाहिए। एक-एक अंकमें एक-एक भेदका निबन्ध नहीं करना चाहिए यह बात भी आगे कहेंगे।

'समवकार'के तीनों अंकोंकी रचनाके विषयमें भी यह बात विशेष रूपसे निर्दिष्ट की गई है कि उनकी रचना इस प्रकारसे होनी चाहिए कि उनमेंसे प्रत्येक अंक अपनेमें परिपूर्ण हो। उसको अपने अर्थकी पूर्णताके लिए दूसरे अंकके सहारेकी आवश्यकता न हो। इसके साथ ही अन्तमें तीनों अंकोंकी एकवाक्यता या परस्पर सम्बन्ध भी प्रतीत हो सके। इसके लिए यह मार्ग बतलाया गया है कि प्रथम अंकके आरम्भमें आमुखके बाद तीनों अंकोंके अर्थके उपक्षेपक बीजका निबन्धन करना चाहिए। उसके बाद तीनों अंकोंको इस प्रकारसे बनावें कि उनका आख्यानवस्तु उसी अंकमें समाप्त हो जाय। किन्तु अन्तमें तृतीय अंकमें फिर इस प्रकारकी रचना करनी चाहिए कि जिससे उसका आख्यानभाग अपनेमें परिपूर्ण हो किन्तु साथ ही तीनों अंकोंके अर्थका परस्पर सम्बन्ध बन सके। इन्हीं सब बातोंको ७७-७८ अगली दो कारिकाओंमें इस प्रकार कहा गया है—

अब आगे [समवकारमें] किए जाने वाले अन्य कार्योंका उपदेश करते हैं—

[सूत्र १२७ क]—इस [समवकार] में बारह नायक होते हैं। उनका फल अलग-अलग होता है। तीन प्रकारके श्रृंगार, तीन प्रकारके कपट और तीन प्रकारके विद्रवसे युक्त तीन अङ्क होते हैं। [१२] ७७॥

[सूत्र १२७ ख]—[समवकारके तीनों अंक क्रमशः] छः मुहूर्त, दो मुहूर्त और एक मुहूर्त वाले [अर्थात् इतने समयमें जिनका अभिनय हो सके इस प्रकारके]। स्वयंमें परिपूर्ण अर्थवाले, और महावाक्य [अर्थात् स्वयंमें परिपूर्ण होनेपर भी एकवाक्यतायुक्त अर्थात् परस्पर] में सम्बद्ध, तथा क्रमशः दो, एक और एक सन्धि वाले होने चाहिए [अर्थात् प्रथम अंकमें मुख प्रतिमुख रूप दो सन्धियाँ, द्वितीय अंकमें केवल एक गर्भसन्धि तथा तृतीय अंकमें केवल एक निर्वहण सन्धिकी रचना होनी चाहिए]। [१३] ७८।

इस 'समवकार'में बारह नायक होते हैं। उनमेंसे प्रत्येक अंकमें बारह [नायक] होते

१. प्रत्येकं। २. प्रत्येकं।

प्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चत्वारश्चत्वारः। ततः सर्वसंख्यया द्वादश द्वादश इति मध्यमा वृत्तिः। तेन क्वचिन्न्यूनाधिक्येऽपि न दोषः। 'तेषाम्' इति द्वादशानां नायकानां पृथग्भूतानि फलानि बध्यन्ते। यथा 'पयोधिमन्थने' हरि-बलिप्रभृतीनां लक्ष्म्यादि-लाभाः। अत एव सहायका अपि सुग्रीवादिवन्नायकत्वेन व्यपदिश्यन्ते। 'त्रय' इति त्रयोऽङ्का भवन्ति शृङ्गारत्रयादिविशिष्टाः न त्वेकैक एकस्मिन्नंके शृङ्गारादीनामेकैक-भावादिति। मुहूर्तो घटिकाद्वयम्। तत्र प्रथमः षण्मुहूर्तः। द्वितीयो द्विमुहूर्तः। तृतीय एकमुहूर्तः। एके तु प्रत्यकं यथोदितद्विगुणं कालमानमाहुः।

'निष्ठितार्थाः' अंकार्थसाध्यफलस्य अंकान्तरार्थासम्बद्धत्वेन स्वस्मिन्नेव परि-समाप्तार्थाः। महावाक्ये च परिपूर्णप्रबन्धार्थसाध्ये फले सम्बद्धाः। सकलप्रबन्धसाध्य-फलोपायभूतार्थास्त्रयोऽङ्का इत्यर्थः।

इह तावदामुखानन्तरं संक्षेपेणांकत्रयार्थोपक्षेपकं बीजं निबन्धनीयम्। तद-नन्तरमंकद्वयं अवान्तरवाक्यार्थेन परस्परविच्छिन्नमायोज्यम्। तृतीयस्त्वंकस्तथा

हैं [यह एक मत है]। अथवा प्रत्येक अंकमें १ नायक, २ प्रतिनायक, और उन दोनों के सहायक इस प्रकार चार-चार, और फिर [तीनों अंकोंके चार-चार नायकोंको] सब मिलाकर बारह [नायक] होते हैं यह मध्यम मार्ग है। इसलिए किसी अंकमें कम और अधिक [नायकों-की संख्या] होनेपर भी दोष नहीं होता है। 'तेषाम्' अर्थात् उन बारहों नायकोंके फल अलग-अलग वर्णित होते हैं। जैसे 'पयोधिमन्थन' में विष्णु और बलि आदि [नायकों] के लक्ष्मी आदिकी प्राप्ति आदि रूप [अलग-अलग] फल [दिखलाए गए] हैं। इसलिए [सब नायकोंके अलग-अलग फलोंका निबन्धन होनेसे] सुग्रीव आदिके समान सहायक भी नायक रूपसे कहे जाते हैं। 'त्रय' तीन, इससे तीनों प्रकारके शृंगारोंसे विशिष्ट तीन अंक होते हैं यह अभिप्राय है। न कि एक-एक अंकमें एक-एक शृंगारादि होता है [इसका अर्थ यह हुआ कि 'समवकार'के प्रत्येक अंकमें तीनों प्रकारके शृंगार, तीनों प्रकारके कपट, और तीनों प्रकारके विद्रव, दिख-लाए जाने चाहिए। एक-एक अंकमें एक-एक प्रकारके शृंगार, कपट और विद्रवका प्रदर्शन नहीं करना चाहिए]। मुहूर्तसे दो घड़ी [कालका ग्रहण होता] है। उन ['समवकार'के तीन अंकों]मेंसे प्रथम [अंक] छः मुहूर्तका, द्वितीय [अंक] दो मुहूर्तका और तृतीय [अंक] एक मुहूर्तका होना चाहिए [यह कारिकामें आए हुए षड्युग्म-एकमुहूर्ताः स्युः' इसका अर्थ है]। इसका अभिप्राय यह है कि इतने कालमें तीनों अंकोंका अभिनयादि रूप अर्थ समाप्त हो जाना चाहिए। कोई [व्याख्याकार] तो प्रत्येक अंकमें इस कालसे दुगना कालका परिमाण मानते हैं।

[कारिकामें आए हुए] 'निष्ठितार्थाः' इससे उस अंककी कथामें साध्य फलका दूसरे अंकसे सम्बन्ध न होनेसे अपनेमें ही अर्थकी समाप्ति हो जाय यह अभिप्राय है। [अर्थात् 'समवकार'के तीनों अंकोंमेंसे प्रत्येक अंकके कथाभागकी समाप्ति उसमें हो जानी चाहिए] फिर भी महा-वाक्यमें [अर्थात् सम्पूर्ण समवकारमें] पूर्ण प्रबन्धके कथासे साध्य फलमें परस्पर सम्बद्ध होने चाहिए। अर्थात् सम्पूर्ण प्रबन्धसे साध्य फलके उपायभूत अर्थ वाले तीनों अङ्क होने चाहिए यह अभिप्राय है।

[इस प्रयोजनकी सिद्धिके लिए समवकारके अङ्कोंकी रचना इस प्रकारसे करनी चाहिए कि] सबसे पहले आमुखके अनन्तर संक्षेपमें तीनों अङ्कोंके अर्थका उपक्षेप करने

निबन्धनीयो यथा अवान्तरवाक्यार्थविच्छिन्नः सर्वाङ्गार्थसम्बद्धार्थश्च भवति। एवं हि पूर्वापरानुसन्धानावधेयधियो व्यवहितार्थानुसन्धानावहितबुद्धयश्च त्रिवर्गसिद्ध्युपाय-व्युत्पत्त्याऽनुगृहीता भवन्ति।

अङ्कान्तरार्थानुसन्धायी च परस्परासम्बद्धाङ्कत्वादत्र न बिन्दुर्निबध्यते। 'क्रमाद्' इति प्रथम-द्वितीय-तृतीयक्रमेण अङ्का द्वि-एक-एकसन्धयः। तत्र प्रथमेऽङ्के मुख-प्रतिमुखे, द्वितीये गर्भः, तृतीये निर्वहणमिति॥ [१२-१३] ७७-७८॥

अथ शृङ्गारादीनि व्याख्यातुमाह—

[सूत्र १२८]—शृङ्गारस्त्रिविधो धर्मकामार्थफलहेतुकः।
वञ्च्य-वञ्चक-दैवेभ्यः, सम्भवी कपटस्त्रिधा॥[१४] ७९॥
जीवाजीवोभयोत्थः स्याद् विद्रवस्त्रिरमीषु तु।
प्रत्येकमंकेष्वेकैकः पद्यं च स्रग्धरादिकम्॥ [१५] ८०॥

वाले बीजकी रचना करनी चाहिए। उसके बाद [प्रथम तथा द्वितीय] दोनों अङ्कोंको [स्वयंमें समाप्त हो जाने वाले] अवान्तर वाक्यार्थके रूपमें एक-दूसरेसे विच्छिन्न रूपमें ग्रथित करना चाहिए। [उसके बाद] तृतीय अङ्ककी रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि [प्रथम और द्वितीय अङ्क रूप] अवान्तर वाक्योंके अर्थमें विच्छिन्न होनेपर भी सब अङ्कोंके अर्थसे सम्बद्ध अर्थ वाला हो जाय। इस प्रकार पूर्वापर अर्थरूपको ग्रहण करनेमें और व्यवहित अर्थके अनुसन्धान करनेमें समर्थ बुद्धिवाले [सामाजिक, धर्म अर्थ काम रूप] त्रिवर्गकी सिद्धिके उपायोंके परिज्ञानके द्वारा अनुगृहीत होते हैं।

यहाँ [समवकारमें अङ्कोंके] परस्पर असम्बद्ध होनेके कारण, दूसरे अङ्कके अर्थोंको जोड़नेवाले 'बिन्दु' की रचना इसमें नहीं की जाती है। 'क्रमाद्' [द्वि-एक-एकसन्धयः इस कारिका भागमें] क्रमसे, इससे प्रथम द्वितीय तृतीयके क्रमसे अङ्क, क्रमशः दो एक और एक सन्धि वाले होते हैं। उनमेंसे प्रथम अङ्कमें मुख और प्रतिमुख[दो सन्धि], द्वितीयमें गर्भसन्धि, और तृतीय [अङ्क] में निर्वहण सन्धि होता है। [इस प्रकार तीनों अङ्कोंमें क्रमशः दो एक तथा फिर एक सन्धि होता है। विमर्श सन्धि समवकारमें नहीं होता है यह बात ७६वीं कारिकामें ही 'निर्विमर्श' पदसे कही जा चुकी है॥ [१२-१३] ७७-७८॥

इन दोनों कारिकाओंमेंसे ७७वीं कारिकामें समवकारके तीनों अङ्कोंको त्रिशृङ्गार, त्रिकपट और त्रिविद्रवसे युक्त कहा गया था। किन्तु इन पदोंका अर्थ वहाँ स्पष्ट नहीं किया गया था। इसलिए अगली दो कारिकाकोंमें इन तीनों शब्दोंके अर्थको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है। इसमें 'त्रिशृङ्गार' पदसे धर्म, अर्थ और काम हेतुक तथा तत्फलक तीन प्रकारके शृङ्गारोंका, त्रिकपट पदसे वञ्च्योत्थ, वञ्चकोत्थ तथा दैवोत्थ तीन प्रकारके कपटोंका, तथा जीव अजीव और उभयसे उत्थित तीन प्रकारके विद्रवोंका ग्रहण होता है इसी बातको ग्रन्थ-कार अगली दोनों कारिकाओंमें दिखलाते हैं—

[सूत्र १२९ क]—**धर्म काम और अर्थ जिसके (१) फल तथा (२) हेतु हैं वह [त्रिशृङ्गार] तीन प्रकारका शृङ्गार होता है। [इसी प्रकार] वञ्च्य, वञ्चक तथा दैवसे उत्पन्न होने वाला कपट [भी] तीन प्रकारका होता है। [१४] ७९।**

धर्म-काम-अर्थाः फलं हेतवश्च यस्य । तत्र पत्नीसंयोगरूपस्य शृङ्गारस्य परदारवर्जनादिको धर्मः फलम् । दानादिकस्तु धर्मः स्त्र्यादिलाभस्य हेतुः । काम-शृङ्गारशब्दाभ्यां स्त्री-पुंसयो रतिः, तद्धेतुश्च स्त्री-पुंसादिगृ ह्यते । तत्र स्त्री-पुंसादिरूपशृङ्गारस्य रतिरूपः कामः फलम् । रतिरूपस्य शृङ्गारस्य स्त्री-पुंसादिरूपः कामो हेतुः । अत्र च कामशृङ्गारे स्त्री परस्त्री कन्या च ग्राह्या । न पुनः स्वदारा वेश्या वा । यथा शक्रस्याहल्या । स्वदाराऽऽदौ हि धर्मस्याप्यनुप्रवेशेन केवलस्यैव कामस्य फल-हेतुभावो न स्यात् ।

अर्थो राज्य-सुवर्ण-धन-धान्य-वस्त्रादिः । तत्र पण्यादियोषितां, केषांचित् सुभगानां पुंसां चार्थफलः शृङ्गारः । वेश्यादिषु च पुंसामर्थहेतुकः शृङ्गारः । देवादीनामपि गन्धर्व-यक्षादिरूपाणां राज्याद्यर्थसमीहा भवत्येव । तदाराधकानां चार्थप्राप्तिः । अत्र च पक्षे कारणे कार्योपचाराद् देवानामर्थशृङ्गारो द्रष्टव्यः । अथवा अर्थो अर्थनीयं परोपकार-प्रतिज्ञानिर्वाहादिकम् । तच्च देवादीनामपि भवत्येवेति ।

[सूत्र १२९ ख]—जीव अजीव और [जीवाजीव] उभयसे उत्पन्न होने वाला विद्रव [भी] तीन प्रकारका होता है । इनमेंसे प्रत्येक अङ्कमें एक-एक [अर्थात् एक शृङ्गार, एक कपट और एक विद्रव] की रचना करनी चाहिए । और [समवकारमें] स्रग्धरादिक वृत्त होना चाहिए । [१५] ८० ।

धर्म, काम और अर्थ जिसके फल [अर्थात् साध्य] तथा हेतु [अर्थात् साधक] हैं [वह धर्म-कामार्थफलहेतुकः हुआ] । उनमेंसे पत्नी-संयोग रूप शृंगारका परदारवर्जन रूप धर्म-फल होता है । और दानादि रूप धर्म उस स्त्री [स्वपत्नी] के लाभका हेतु होता है । [इस प्रकार स्वपत्नी-संयोग रूप शृंगारका फल भी धर्म होता है, और उसका हेतु भी धर्म होता है] । काम और शृंगार शब्दोंसे स्त्री-पुरुषकी रति [रूप फल] और उसके हेतु स्त्री और पुरुष दोनोंका ग्रहण होता है । उनमेंसे स्त्री-पुरुष रूप शृंगारका रति रूप काम फल है । और रति रूप शृंगारका स्त्री-पुरुषादि रूप काम हेतु है । और इस काम-शृंगारमें 'स्त्री' पदसे परस्त्री अथवा कन्याका ही ग्रहण करना चाहिए । अपनी पत्नी अथवा वेश्याका ग्रहण नहीं करना चाहिए । जैसे इन्द्र की अहल्या । अपनी स्त्री आदिमें तो धर्मका भी सम्बन्ध होनेसे केवल कामका फलभाव या हेतुभाव नहीं बन सकता है । [इसलिए काम-शृंगारमें 'स्त्री'से परस्त्री या कन्याका ही ग्रहण करना चाहिए यह अभिप्राय है] ।

[अर्थ-शृंगार शब्दमें] 'अर्थ' से राज्य, सुवर्ण, धन, धान्य वस्त्रादि [का ग्रहण होता है] । यहाँ वेश्याओं और किन्हीं सुन्दर पुरुषोंका अर्थफलक शृंगार होता है । और वेश्यादिके विषयमें पुरुषोंका अर्थहेतुक शृंगार होता है । [अर्थात् वेश्यादिको शृँगारके द्वारा अर्थ-रूप फलकी प्राप्ति होती है इसलिए उनका शृंगार अर्थफलक होता है । और पुरुषोंको अर्थ द्वारा शृंगारकी प्राप्ति होती है अतः उनका वेश्या विषयक शृंगार अर्थहेतुक शृंगार होता है] गन्धर्व यक्षादि रूप देवताओंको भी राज्य आदि अर्थकी इच्छा होती है । और उनके आराधकोंको अर्थकी प्राप्ति होती है । इस पक्षमें कारणमें कार्यका उपचार मानकर देवताओंका अर्थ-शृंगार समझना चाहिए । अथवा परोपकार प्रतिज्ञा निर्वाह आदि अर्थनीय 'अर्थ' कहलाता है । और वह देवादिकोंमें भी होता है । [इसलिए उनका शृंगार अर्थ-शृंगार कहलाता है] ।

सत्य-सा प्रतीत होने वाला मिथ्या प्रकल्पित प्रपञ्च कपट [कहलाता] है । वह

मिथ्याप्रकल्पितः सत्यानुकारी प्रपञ्चः कपटः। स च यत्र वञ्चनीयः सापराधः स वञ्च्योत्थो वञ्चकस्य वञ्चनेच्छायां सत्यां कपटः। वञ्चकबुद्ध्यभावे सापराधेऽपि वञ्च्ये वञ्चनायाः सम्पत्ययोगात्[1]। तेन वञ्च्योत्थः कपटो वञ्चकाविनाभाव्येव। अत एव उभयजश्चतुर्थो न भवति।

यत्र तु वञ्च्यापराधं विना वञ्चकबुद्ध्यैव केवलया कपटो भवति स वञ्चकसम्भवी। यत्र तु द्वयोस्तुल्यफलाभिधानवतोः काकतालीयन्यायेन एक उपचीयते ऽपरोऽपचीयते स वञ्च्यापराधाभावेन वञ्चकस्य च वञ्चनाबुद्ध्ययोगेन च दैवसम्भवीति।

विद्रवन्ति त्रस्यन्ति जना यस्मादिति विद्रवोऽनर्थः। 'त्रिः' इति प्रकारत्रययुक्तः। तत्र जीवोत्थो हस्त्यादिजः। अजीवोत्थः शस्त्रादिजः। जीवाजीवोत्थो नगरोपरोधजः। तत्र हस्त्यादेः शस्त्रादेश्च व्यापारादिति।

अमीषु तु शृङ्गार-कपट-विद्रवाणां त्रिषु भेदेषु मध्ये एकैको भेदोऽङ्केषु पृथक् पृथग् निबन्धनीयः। तत्र प्रथमेऽङ्केऽन्यतमः कपट उपाये, विद्रवो व्यापत्तिसम्भावनायां, शृङ्गारः फलांशे। एवं द्वितीये तृतीये च। प्रथमे चाङ्के शृङ्गारः कामशृङ्गार एव। रञ्जनायां साधकतमस्य[3] प्रथममुपादानात्। अत एव प्रहासोऽप्यत्र निबध्यते। 'पद्य'

---

(१) जहाँ वञ्चनीय [पुरुष] अपराधी होता है और वञ्चकको धोखा देने की इच्छा होती है वहाँ वञ्चयोत्थ कपट कहलाता है। (२) वञ्च्य [पुरुष] के अपराधी होनेपर भी वञ्चक को उस प्रकारका ज्ञान न होनेपर वञ्चना बन ही नहीं सकती है इसलिए वञ्चयोत्थ कपट वञ्चक [में वञ्चन करनेकी बुद्धि] का अविनाभावी है। इस कारण [वञ्च्य-वञ्चक] दोनों से उत्पन्न चतुर्थ भेद नहीं होता हैं।

यहाँ तक वञ्च्योत्थ कपटका वर्णन किया। अब आगे वञ्चकोत्थ कपटका वर्णन करते हैं—

जहाँ वञ्च्य [जिसको धोखा दिया जा रहा है उस] के अपराधके बिना ही केवल वंचककी [वञ्चना] बुद्धिसे ही कपट होता है वह वञ्चकोत्थ कपट कहलाता है। [आगे दैवोत्थ कपटका लक्षण करते हैं] जहाँ तुल्य फल और तुल्य कारण [अभिधान] होनेपर भी काकतालीय-न्यायसे अकस्मात् एकको वृद्धि हो जाती है और एकका ह्रास होता है वहाँ वञ्च्य [ह्रास वाले] का अपराध न होने और वञ्चक [वृद्धि वाले] में वञ्चनाबुद्धि न होनेके कारण वह दैवोत्थ कपट होता है।

[आगे कारिकामें आए हुए तीन प्रकारके विद्रवोंका वर्णन करते हैं]। जिससे लोग विद्रुत होते हैं अर्थात् भयभीत होते हैं उस अनर्थको 'विद्रव' कहते है। वह तीन प्रकारका होता है। [१ जीवोत्थ, २ अजीवोत्थ और ३ जीवाजीवोत्थ]। उनमेंसे हस्ती आदिके द्वारा उत्पन्न होने वाला [अनर्थ] जीवोत्थ है। शस्त्रादिसे होने वाला अजीवोत्थ है। और नगरोपरोध आदिसे उत्पन्न जीवाजीवोत्थ है। उस [नगरोपरोधजन्य अनर्थ] में हस्ती आदि और शस्त्रादि दोनोंका व्यापार होनेसे [उस प्रकारके अनर्थको जीवाजीवोत्थ अनर्थ कहा जाता है।

[अमीषु तु] इससे शृङ्गार, कपट और विद्रवोंके तीन-तीन भेदोंमेंसे एक-एक भेद अङ्कोंमें अलग-अलग निबद्ध करना चाहिए। उनमेंसे प्रथम अङ्कमें [तीनों प्रकारके कपटोंमेंसे]

---

१. सम्भवायोगात्। २. उपाये। ३. तनस्य।

च स्रग्धरादिकम्'। आदिशब्दाद् बह्वक्षरं शार्दूलाद्योजोगुणयुक्तं गृह्यते, न पुनर्गायत्र्यादि। तेन हि बह्वर्थाभिधाने क्लिष्टता स्यात्। केचित् पुनरल्पाक्षरं गायत्र्यादिकं अर्धसम-विषमादिकं चात्र पद्यं मन्यन्ते। अनेन च गद्यस्यात्र न निषेधः पद्यवैशिष्ट्य-विधानार्थत्वादिति।

समवकारे च संक्षिप्तः सहास्यः शृङ्गारः, कपटो विद्रवो देवासुरवैरनिमित्तं, सम्प्रहारादिकं च दिव्यप्रभावसाध्यम्। लौकिकीभिरुपपत्तिभिर्हीनं माया-इन्द्रजाल-प्लुत-लंघन-उच्छेद्य-पुस्तावपातादिबहुलया आरभट्या वृत्त्या सर्वमपि प्रहसन-कपट-विद्रवादि कुतूहलिनां परां तुष्टिमुत्पादयितुं व्युत्पाद्यते। यदाहु :—

शूरास्तु वीर-रौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।
बाला मूर्खाः स्त्रियश्चैव हास्य-शोक-भयादिषु॥

परितुष्यन्तीति वाक्यशेष इति॥ [१४-१५] ७६-८०॥

कोई एक कपट उपाय [के रूप] में, [कार्यमें] आपत्तिकी सम्भावना रूपमें एक विद्रव, और फल रूपमें [कोई एक] शृङ्गार दिखलाना चाहिए। इसी प्रकार द्वितीय तथा तृतीय अङ्कोंमें [भी एक कपट उपाय रूपमें, आपत्तिकी सम्भावना रूपमें एक-एक प्रकारका विद्रव, और फल रूपमें एक-एक प्रकारके शृङ्गारका वर्णन करना चाहिए। किन्तु इस बातका विशेष रूपसे ध्यान रखना चाहिए कि] प्रथम अङ्कमें काम-शृङ्गार ही रखा जाय। मनोरञ्जनामें उस [काम-शृङ्गार] के साधकतम होनेसे उसका प्रथम ग्रहण किया जाता है। इसी कारण इसमें प्रहासकी रचना भी की जाती है। पद्यमें स्रग्धरा आदि [लम्बे पद्य ही समवकारमें प्रयुक्त करने चाहिए] आदि शब्दसे अधिक अक्षरों वाले और ओजो गुणयुक्त शार्दूलविक्रीडित आदि [वृत्तों] का ग्रहण होता है। [अल्प अक्षरोंवाले] गायत्री आदि [छन्दों] का ग्रहण नहीं होता है। उस [गायत्री आदि अल्पाक्षर छन्दों) के ग्रहण करनेसे लम्बे अर्थका वर्णन करनेमें कठिनाई होगी। [इसलिए स्वल्पाक्षर छन्दोंका ग्रहण समवकारमें नहीं करना चाहिए]। कोई लोग स्वल्पाक्षर गायत्री आदि और अर्धसम तथा विषम आदि छन्दोंका इसमें ग्रहण मानते हैं। इस [पद्योंका विशेष रूपसे नाम लेने] से यहाँ गद्यका निषेध [अभिप्रेत] नहीं है। पद्योंके आधिक्यका विधान करनेके लिए ही [स्रग्धरादिका] विधान होनेसे।

समवकारमें हास्य सहित संक्षिप्त शृङ्गार, और देवों तथा असुरोंके वैरके कारण होने वाला कपट, विद्रव तथा दिव्य प्रभावसे साध्य युद्धादिक [का वर्णन पाया जाता] है। लौकिक युक्तियोंसे रहित [अर्थात् लौकिक उपायोंसे सिद्ध न होने वाला] माया, इन्द्रजाल, उछलना-कूदना [उच्छेद्य अर्थात् नष्ट करने योग्य] शत्रुके पुतले आदिका गिराना आदि, जिसमें मुख्य रूपसे किया जाता है इस प्रकारकी आरभटी वृत्तिसे सम्पादित प्रहसन, कपट, विद्रव आदि सभी कुछ कौतूहलोत्सुक जनताको अत्यन्त आनन्द प्रदान करते हैं [इसलिए उनका वर्णन किया जाता है]। जैसा कि कहा भी है कि—

शूर लोग वीर रौद्र रसोंमें, मल्लयुद्ध और युद्धोंमें [आनन्द अनुभव करते हैं] और बालक, मूर्ख तथा स्त्रियाँ हास्य, शोक, भय आदिमें [आनन्दका अनुभव करते हैं]।

'प्रसन्न होते हैं' यह वाक्य शेष है [अर्थात् इस वाक्यको ऊपरसे जोड़ लेना चाहिए] ॥ [१४-१५] ७६-८० ॥

अथ भाणस्य क्रमप्राप्तो लक्षणावसरः—

[सूत्र १२६]—भाणः प्रधानशृङ्गार-वीरो मुख-निर्वाहवान् ।
एकाङ्को दशलास्याङ्गः प्रायो लोकानुरञ्जकः ॥ [१६] ८१॥

भण्यते व्योमोक्त्या नायकेन स्वपरवृत्तं प्रकाश्यतेऽत्रेति 'भाणः'। शौर्य-सौभाग्य-वर्णना बाहुल्येनात्र वीरशृङ्गारयोः प्राधान्यम्। शृङ्गाराङ्गत्वाद् हास्योऽप्यत्राङ्गतया वर्णनीयः। तथा मुख-निर्वहणसन्धिसम्पूर्ण एकाहनिवर्तनीयत्वादेकाङ्कः। दश चात्र लास्याङ्गानि निबध्यन्ते। तानि चैतानि यथा च—

गेयपदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका।
प्रच्छेदकं[1] त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं[2] द्विगूढकम् ॥
उत्तमोत्तमकं चैवमुक्त-प्रत्युक्तमेव च। इति।

प्रायेण लोकस्य पृथग्जनस्य विट-वेश्यादिवृत्तात्मकत्वाद् रञ्जनात्मकः। विट-धूर्त-कुट्टन्यादिचेष्टितं राजपुत्रादीनामपि चातुर्यार्थं ज्ञेयमेवेति प्रायोग्रहणमिति ॥ [१६] ८१ ॥

---

७. सप्तम रूपक भेद 'भाण' का लक्षण—

अब क्रमसे भाणका लक्षण करनेका अवसर आता है [इसलिए भाणका लक्षण करते हैं।

[सूत्र १२६] शृङ्गार या वीर रस प्रधान, मुख सन्धि तथा निर्वहण [दो ही सन्धियों] से युक्त, दश लास्याङ्गोंसे पूर्ण, एक अङ्क वाला, और प्रायः साधारण जनोंका मनोरञ्जन करनेवाला [रूपकभेद] 'भाण' [कहलाता] है ॥ [१६] ८१॥

जिसमें नायक [अन्य किसी पात्रके रङ्गभूमिमें उपस्थित न होनेसे] आकाशोक्ति द्वारा अपने और दूसरेके वृत्तको कहता या प्रकाशित करता है। वह ['भण्यते यत्रेति भाणः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार] 'भाण' कहलाता है। इसमें शौर्य या सौभाग्यका अधिक वर्णन होनेके कारण वीर तथा शृङ्गारका प्राधान्य होता है। शृङ्गारका अङ्ग, होनेसे हास्यरसका भी इसमें अङ्ग रूपसे वर्णन होना चाहिए। और एक ही दिनमें पूर्ण [होनेवाले कथाभागसे युक्त] होनेसे एक अङ्क वाला, तथा मुख और निर्वहण [दो ही] सन्धियोंसे युक्त ['भाण' होता है]। इसमें दश लास्याङ्गोंका भी वर्णन होता है। वे [दस लास्यांग] निम्न प्रकार कहे गए हैं—

१ गेयपद, २ स्थित, ३ पाठ्य, ४ पुष्पगण्डिका, ५ प्रच्छेदक, ६ त्रिगूढ, ७ सैन्धव नामक द्विगूढक, ८ उत्तमोत्तमक, ९ उक्त और १० प्रत्युक्त [ये दश लास्याङ्ग कहे गए हैं। [इन सबका प्रयोग भाणमें होता है]।

[कारिकामें आए हुए 'प्रायो लोकानुरञ्जकः' इस भागकी व्याख्या करते हैं] प्रायः लोकका अर्थात् विट् धूर्त, और वेश्या आदिके वृत्तसे युक्त साधारण लोगोंके मनोरञ्जनका कारण होता है [उच्च कोटिके लोगोंके मनोरञ्जनका कारण नहीं होता है]। विट, धूर्त कुट्टिनी आदिका चरित्र चातुर्यकी शिक्षाके लिए राजपुत्रादिको भी जानना चाहिए इसलिए [कारिकामें] 'प्रायः' पदका ग्रहण किया गया है ॥ [१६] ८१ ॥

---

१. एक त्रिमूढं। २ द्विमूढकं।

अथ कर्तव्योपदेशेन नायकमुद्दिशति—

[सूत्र १३०]—एको विटो वा धूर्तो वा वेश्यादेः स्वस्य वा स्थितिम् ।
व्योमोक्त्या वर्णयेदत्र वृत्तिर्मुख्या च भारती ॥ [१७]८२ ॥

एको द्वितीयपात्ररहितः । विटः पल्लवकः, धूर्तश्चौरः द्यूतकारादिः, वेश्यादेः पण्यस्त्री-कुलटा-शम्भल्यादेः । स्वस्यात्मनो वा स्थितिं चरितं व्योमोक्त्या रङ्गाप्रविष्ट-द्वितीयपात्रसम्बन्धिवचनानुवादेन वर्णयेदङ्गविकारैः सामाजिकानवगमयेत् । अत्र भाणे । भारती चात्र वृत्तिः प्रभूततया प्रधानम् । वीर-शृङ्गारयोः प्रधानत्वेऽपि व्योमोक्त्या वाचिक एवात्राभिनयो न सात्त्विकाङ्गिकाविति, न सात्त्वती कैशिकी वा प्रधानम् । अत्र विटादीनां परवञ्चनात्मकं वृत्तं प्रेक्षकाणामवञ्चनीयत्वापादनार्थं व्युत्पाद्यत इति । अत्र केचित् विटाकल्पितं वृत्तं, नायकं च विटमेव मन्यन्ते ॥ [१७] ८२ ॥

अथ प्रहसनस्य समयः—

[सू० १३१]—वैमुख्यकार्यं वीथ्यङ्गि ख्यातकौलीनदम्भवत् ।
हास्याङ्गि भाणसन्ध्यङ्क-वृत्ति प्रहसनं द्विधा ॥[१८] ८३॥

अब [नायकके] कर्तव्यके प्रदर्शन द्वारा नायकका वर्णन करते हैं—

[सूत्र १३०]—एक विट या धूर्त [नायक] वेश्यादिको अथवा अपना स्थितिको 'आकाशभाषित' के द्वारा इसमें वर्णन करता है और इसमें भारती वृत्तिकी प्रधानता होती है ॥ [१६] ८२॥

एक अर्थात् दूसरे पात्रसे रहित विट अर्थात् [पल्लवक अर्थात्] वेश्यासक्त और धूर्त चोर जुआरी आदि [भाणका नायक होता है] । वेश्यादि अर्थात् बाजारू औरत, कुलटा [छिनाल, व्यभिचारिणी स्त्री] और [शम्भली अर्थात्] कुट्टिनी, दूती आदिके [चरितको], अथवा अपनी स्थितिको या चरितको रंगमें प्रविष्ट न होने वाले द्वितीय पात्रके वचनोंका अनुवाद करके [अर्थात् रंगमें अनुपस्थित किसी अन्य पात्रके साथ वार्तालापके रूपमें किए जाने वाले] आकाशभाषितके द्वारा वर्णन करे, और अङ्ग विकारोंके द्वारा सामाजिकोंको उसे समझावे । 'अत्र' इसमें अर्थात् भाणमें । और प्रचुरमात्रामें होनेसे इस [भाण] में भारती वृत्ति प्रधान होती है । वीर और शृङ्गार रसोंकी प्रधानता होनेपर भी आकाश-भाषित [के रूपमें ग्रथित] होनेसे वाचिक ही अभिनय होता है । सात्त्विक या आङ्गिक नहीं । इसलिए सात्वती अथवा कैशिकी वृत्तिकी प्रधानता [भाणमें] नहीं होती है । इसमें विट आदि का दूसरोंको ठगने वाला चरित्र भी, प्रेक्षक ठगे न जा सकें इस प्रकारकी शिक्षा देनेकेलिए, दिखलाया जाता है । कुछ लोग इस [भाण] में कथाभागको [सर्वथा] विट द्वारा कल्पित तथा नायक [सदा] विट ही होना चाहिए ऐसा मानते हैं ॥[१७]८२॥

अष्टम रूपक भेद—प्रहसनका लक्षण—

अब 'प्रहसन' का [लक्षण करनेका] अवसर आता है—

[सूत्र १३१]—[पाखण्डियों आदिके प्रति] उदासीनताको उत्पन्न करानेवाला, वीथीके अङ्गोंसे युक्त, प्रसिद्ध जनापवाद और मिथ्या दम्भसे युक्त, और भाणके समान [मुख निर्वहण

---

१. रतिः ।

वैमुख्यं बहुमानाभावः कार्यं प्रयोजनं यस्य। प्रहसनेन हि पाखण्डिप्रभृतीनां चरितं विज्ञाय विमुखः पुरुषो न भूयस्तान् वञ्चकानुपसर्पति। वीथ्यङ्गै र्व्याहारादिभिर्यथायोगं संयुक्तं च विधेयम्। कौलीनं जनवादः तत् ख्यातं प्रसिद्धम्। दम्भश्च आत्मन्यतथ्यसाधुत्वारोपणरूपः ख्यातोऽत्र विधेयः। यथा शाक्यानां स्त्रीसम्पर्को[1] गर्हणीयो न चौर्यम्। एवं दम्भोऽपि। हास्यो रसो अङ्गी मुख्यो यत्र। भाणवच्च सन्धी मुखनिर्वहणे। एकोऽङ्कः भारती वृत्तिश्च निबन्धनीया। हास्यरसप्राधान्येऽप्यत्र न कैशिकी वृत्तिः। निन्द्यपाखण्डि-प्रभृतीनां शृङ्गारस्यानौचित्येनाभावात् केवलहास्यविषयत्वमेव। अत एव लास्याङ्गान्यत्र अल्पान्येवेति। 'द्विधा' द्विप्रकारकं शुद्धं सङ्कीर्णं चेति॥ [१८] ८३॥

अथ नायककथनद्वारेण शुद्धमाह—

[सूत्र १३२]—निन्द्यपाखण्डि-विप्रादेरश्लीलासभ्यवर्जितम्।
परिहासवचःप्रायं शुद्धमेकस्य चेष्टितम् ॥[१९] ८४॥

निन्द्याः शीलादिना गर्हणीयाः, पाखण्डिनः शाक्य-भगवत्तापसादयः, विप्रा

रूप दो] संधियों [एक] अङ्क, तथा [भारती] वृत्ति वाला हास्यप्रधान [रूपकभेद] 'प्रहसन' [शुद्ध तथा संकीर्ण भेदसे] दो प्रकारका होता है। [१८] ८३।

[पाखण्डियों आदिके प्रति] वैमुख्य अर्थात् आदरका अभाव [उसका उत्पादन] जिसका कार्य अर्थात् प्रयोजन है। प्रहसनके द्वारा पाखण्डी आदिके चरितको समझकर, मनुष्य उन ठगोंके पास फिर नहीं जाता है [इसलिए प्रहसनको पाखण्डियोंके प्रति वैमुख्यकारी कहा गया है]। व्यवहारादि वीथ्यङ्गोंसे युक्त [प्रहसनको] बनाना चाहिए। कौलीन अर्थात् लोकापवाद। वह जिसमें ख्यात अर्थात् प्रसिद्ध हो। और अपनेमें झूठे साधुत्वके प्रदर्शन रूप दम्भको इसमें प्रकाशित करना चाहिए। जैसे बौद्धोंमें स्त्री-सम्पर्क निन्दनीय है चोरी नहीं [इस प्रकार का जनापवाद रूप कौलीन प्रसिद्ध है]। इस प्रकार [अतथ्य साधुत्व प्रदर्शन रूप] दम्भ भी [प्रसिद्ध करना चाहिए]। हास्यरस जिसमें अङ्गी अर्थात् मुख्य हो [इस प्रकारका प्रहसन होता है]। भाणके समान मुख तथा निर्वहण नामक दो ही संधि [इस प्रहसनमें भी होते हैं]। एक ही अंक, और भारती वृत्ति [भी भाणके समान ही] निबद्ध करनी चाहिए। हास्य रसकी प्रधानता होनेपर भी इसमें कैशिकी वृत्ति नहीं होती है। क्योंकि निन्दनीय पाखण्डी आदिमें शृङ्गाररसका अनौचित्य होनेसे उनमें केवल हास्य-विषयत्व ही होता है। इसीलिए [प्रहसनमें शृङ्गारकी प्रधानता न होनेके कारण] इसमें थोड़े ही लास्यांगोंका वर्णन होता है। वह दो प्रकारका अर्थात् शुद्ध और सङ्कीर्ण दो प्रकारका होता है ॥[१८]८३॥

अब नायकके कथन द्वारा शुद्ध [प्रहसन] को कहते हैं—

[सूत्र १३२]—निन्दा योग्य पाखण्डी ब्राह्मण आदि किसी एकका अश्लीलता तथा असभ्यतासे रहित परिहास वचनोंसे पूर्ण चेष्टित [जिसमें हो वह] शुद्ध प्रहसन कहलाता है। [१९] ८४।

निन्दनीय अर्थात् गर्हित आचार वाले, पाखण्डी अर्थात् बौद्ध और ब्राह्मण तपस्वी आदि [ग्रंथकार जैन हैं इसलिए उन्होंने बौद्ध तथा भगवत्तापस अर्थात् ब्राह्मण तापस आदि

---

१. म्पको।

जातिमात्रोपजीविनो द्विजन्मानः। आदिशब्दादन्यस्याप्येवंविधस्य दुष्टस्यैकस्यैव कस्यचिच्चेष्टितं वृत्तं, अश्लीलेन ग्राम्येण जुगुप्सा-अमङ्गलहेतुना च, असभ्येन[1] च व्रीडाकारिणा रहितम्। परिहासप्रधानवचनबहुलं च। एतदभिधायि रूपकमपि चोपचाराद्[2] शुद्धं प्रहसनम्। द्वितीयवेश्या[3]दिचरितसाङ्कर्यरहितत्वादिति ॥ [१९] ८४॥

अथ सङ्कीर्णम्—

[सूत्र १३३]—सङ्कीर्णमुद्धताकल्प-भाषाचार-परिच्छदम्।
बहूनां बन्धकी-चेट-वेश्यादीनां विचेष्टितम् ॥[२०]८५॥

बहूनां चरितैः सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम्। अत्युल्बणवेषव्यवहाराचारपरिजनम्। उद्धतत्वं च सतामनुचितत्वात्। बन्धकी स्वैरिणी, चेटो दासः, वेश्या पण्यस्त्री। आदिशब्दात् शम्भली-धूर्त-वृद्ध-षण्ढ-पाखण्डि-विप्र-भुजग-चार-भटादयो विकृतवेष-भाषाचारा गृह्यन्ते। विगर्हणीयं हास्यजनकं चेष्टितमनुष्ठानम्। एकस्य बन्धक्यादेः कस्यचित् द्वारेण यत्रानेक एवंविध एव प्रकर्षेण हस्यते तत् सङ्कीर्णचरितविषयत्वात् सङ्कीर्णम्। शुद्धे तु पाखण्ड्यादेरेकस्यैव चरितं प्रहस्यते इति पूर्वस्माद् भेदः।

दोनोंको निन्द्य पाखण्डी कहा है] विप्र [विद्यादि ब्राह्मणोचित गुणोंसे रहित होनेपर भी] केवल जातिसे जीविका-निर्वाह करने वाले द्विज। 'आदि' शब्दसे इस प्रकारके किसी अन्य एक ही दुष्टके जुगुप्सा और अमङ्गल जनक अश्लीलता अर्थात् ग्राम्यतासे और व्रीडाजनक असभ्यता [रूप अश्लीलता] से रहित व्यापारका वर्णन [प्रहसनमें होना चाहिए]। परिहास प्रधान वचन अधिक मात्रामें पाए जाते हैं। इस लिए इस [इस परिहास प्रधानवचन] को कहने वाला रूपक भी उपचारसे 'शुद्ध' 'प्रहसन' कहलाता है। वेश्यादि किसी द्वितीयके चरित का सङ्कर न होनेसे [इस प्रकारका प्रहसन 'शुद्ध' कहलाता है ॥[१९]८४॥

अब संकीर्ण प्रहसनका लक्षण करते हैं—

[सूत्र १३३]—अत्यन्त उद्धत वेष, भाषा, आचार और परिजनोंसे युक्त, वेश्या तथा स्वैरिणी [व्यभिचारिणी स्त्री] आदि बहुतोंके चरित्रसे युक्त [प्रहसन] सङ्कीर्ण [प्रहसन कहलाता] है। [२०] ८५।

बहुतोंके चरितसे व्याप्त होनेके कारण [इस प्रकारका प्रहसन] संकीर्ण कहलाता है। [वेष, भाषा, आधार आदिका] उद्धतत्व [उस प्रकारके वेष आदिके] सज्जनोचित न होनेके कारण [कहा जाता] है। बन्धकी अर्थात् स्वैरिणी, चेट अर्थात् दास, वेश्या, बाजारू स्त्री। 'आदि' शब्दसे शम्भली [छिनाल], धूर्त, वृद्ध, हिजड़ा, पाखण्डी, ब्राह्मण, भुजग, [वेश्याओंके सेवक], चार तथा भाट आदि विकृत वेष, भाषा और आचार वालोंका ग्रहण होता है। [आगे 'विचेष्टितं' शब्दका अर्थ करते हैं] विशेष रूपसे गर्हणीय अर्थात् हास्यजनक चेष्टितं अर्थात् व्यापार [अनुष्ठान]। बन्धकी आदिमेंसे किसी एकके द्वारा जहाँ इस प्रकारके अन्य अनेक लोगोंका उपहास किया जाता है वह सङ्कीर्ण चरितोंका विषय होनेसे सङ्कीर्ण [प्रहसन कहलाता] है। शुद्ध [प्रहसन] में तो पाखण्डी आदि किसी एकके ही चरितका उपहास किया जाता है यह पिछले [शुद्ध प्रहसन] से [संकीर्णरूप प्रहसनका] भेद है।

---

१. आसान। २. चारबुद्धं। ३. पिचारत।

अन्ये तु—स्वभावशुद्ध-पाखण्ड्यादेश्चरितं प्रहस्यते तत् सङ्कीर्णचरितविषयत्वात् सङ्कीर्णमित्याहुः। सङ्कीर्णमनेकाङ्कं केचिदनुस्मरन्ति। अत्र च प्रथमेन श्लोकेन सामान्यलक्षणम्। द्वितीयेन शुद्धस्य, तृतीयेन च सङ्कीर्णस्य लक्षणम्। उभयत्र तु विट-चेट्यादेः परिजनस्य भूयस्त्वमिति। प्रहसनेन च बाल-स्त्री-मूर्खाणां हास्य-प्रदर्शनेन नाट्ये प्ररोचना क्रियते। ततः सञ्जातनाट्यरुचयः शेषरूपकैः धर्मार्थकामेषु व्युत्पाद्यन्ते। तथा वृत्तच्युतस्य पाखण्डिप्रभृतेर्वृत्तं शुद्धं, बन्धक्यादेश्च धूर्तादिसंकुलं संकीर्णं वृत्तं त्याज्यतया व्युत्पाद्यते इति ॥ [२०] ८५ ॥

अथ डिमस्य लक्षणक्रमः—

[सूत्र १३४]—अशान्त-हास्य-शृङ्गार-विमर्शः ख्यातवस्तुकः।
रौद्रमुख्यश्चतुरङ्कः सेन्द्रजाल-रणो डिमः ॥ [२१] ८६ ॥

शान्त-हास्य-शृंगाररूपरसत्रयेण विमर्शाख्यचतुर्थसन्धिना च रहितत्वात् शेषरसैरन्यसन्धिभिश्च युक्तः। शान्तस्य करुणहेतुकत्वेनोपलक्षणत्वात् करुणोऽपि निषिध्यते दुःखप्रकर्षात्मकत्वात्।

सङ्कीर्ण प्रहसनका दूसरा लक्षण—

अन्य लोग तो—स्वभावशुद्ध [अर्थात् पवित्र आचारवाले होनेपर भी पाखण्डी आदि [अर्थात् अन्य धर्मोंके अनुयायी ब्राह्मणादि] के चरितका जिसमें उपहास किया जाता है वह चरितका सङ्कर [शुद्ध चरितमें अशुद्धता] का विषय होनेसे संकीर्ण [प्रहसन] होता है यह कहते हैं। कुछ लोगोंका कहना यह है कि संकीर्ण [प्रहसन] अनेक अङ्कों वाला होता है। [और शुद्ध प्रहसनमें केवल एक अङ्क होता है यह उन दोनोंका भेद है। प्रहसनके लक्षणमें ८३-८५ तक तीन श्लोक आए हैं] इनमेंसे प्रथम श्लोकसे [प्रहसनका] सामान्य लक्षण, द्वितीयसे शुद्धका लक्षण, तथा तृतीय श्लोकसे संकीर्ण [प्रहसन] का लक्षण किया गया है। [शुद्ध तथा संकीर्ण] दोनोंमें विट, चेट आदि परिजनोंका बाहुल्य रहता है। प्रहसनके द्वारा हास्य प्रदर्शित करके मूर्खों और स्त्रियोंकी नाट्यके विषयमें अभिरुचि उत्पन्न की जाती है। उससे नाटकके विषयमें रुचि हो जानेपर शेष रूपकभेदोंके द्वारा उनको धर्म, अर्थ और काम की शिक्षा प्रदान की जाती है। और साथ ही आचारहीन पाखण्डी आदि [किसी एक] का शुद्ध वृत्त तथा धूर्तादिसे व्याप्त बन्धकी आदिका संकीर्ण चरित त्याज्य रूपसे दिखलाया जाता है। [वह प्रहसनकी उपयोगिता है] ॥ [२०] ८५ ॥

९ नवम रूपक भेद 'डिम' का लक्षण—

[प्रहसनके लक्षणके बाद आगे] अब 'डिम' के लक्षणका अवसर प्राप्त है—[अतः 'डिम' का लक्षण करते हैं]

[सूत्र १३४]—शान्त, शृङ्गार और हास्य रसों सहित, विमर्श सन्धि-विहीन, प्रसिद्ध आख्यान-वस्तु वाला, तथा रौद्र रस-प्रधान, इन्द्रजाल एवं युद्धादिसे परिपूर्ण चार अंकों वाला [रूपकभेद] 'डिम' [कहलाता] है ॥ [२१] ८६ ॥

शान्त, शृङ्गार और हास्य रूप तीन रसोंसे, तथा विमर्श नामक चतुर्थ सन्धिसे रहित होनेसे अन्य रसों तथा सन्धियोंसे युक्त [डिम होता है]। शान्त रसके [यहाँ] करुण-जन्य

इह च करुण-रौद्र-भयानक-बीभत्साश्चत्वारो रसा दुःखात्मानः। शृङ्गार-हास्य-वीर-अद्भुत-शान्ताः पञ्च सुखात्मकाः। दिव्यानां च सुखबाहुल्येनाल्पदुःखत्वादन्यथा दिव्यत्वमेव न स्यादित्येषां तत्प्रभावानानुगृहीतानामन्येषां च दुःखात्मानो रसा अप्रयोज्या एव। समवकारादौ तु यद् रौद्रादिवर्णनं तद् दिव्यहेतुकस्वाभाविकसुखाबाधकत्वाददुष्टमेव। मर्त्याद्यवज्ञादिसमुत्थो हि रौद्रः। स्वाधिकक्रोधादिसम्भवो भयानकः। मर्त्याद्यशुचिशरीराद्यवलोकनाद् बीभत्सश्च दिव्यानामागन्तुक एव। करुणः पुनरिष्टवियोगप्रभवशोकप्रकर्षरूपत्वात् स्वाभाविकसुखपरिपन्थी सर्वदैषामवर्णनीय एव। शान्तोऽपि विषयासक्तिमत्त्वादसम्भव्येव।

अत्र च डिमे हास्य-शृङ्गारवर्जनमिन्द्रजालादिबहुलत्वादुचितमेवेति। ख्यातं

रूपसे उपलक्षण होनेके कारण [शान्त पदसे ही] करुणरसका भी निषेध किया गया है [यह समझना चाहिए]। [करुणरसके] दुःखप्रकर्षात्मक होनेसे।

रसोंकी सुख दुःखात्मकता—

करुणरसकी दुःखात्मताके कथनके प्रसंगसे रसोंके सुःखात्मक तथा दुखात्मक द्विविध विभागको दिखलाते हैं—

यहाँ करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स ये चार रस दुःखात्मक रस हैं। शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त ये पाँच रस सुखात्मक रस है। दिव्य पात्रोंमें सुखप्रधान होनेके कारण उनमें दुःखकी न्यूनता होनेसे, अन्यथा [अर्थात् यदि उनमें सुखकी प्रधानता न मानी जाय तो] उनमें दिव्यता ही नहीं बनेगी। इसलिए इन [देवताओं] और उनके प्रभावसे अनुगृहीत अन्यों [अर्थात् उनके भक्तगणों] के साथ दुःखात्मक रसोंका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि [यदि दिव्य पात्रोंके साथ दुःखप्रधान रसोंके प्रयोगका निषेध किया जाता है तो रौद्ररस-प्रधान समवकारमें दिव्य पात्रोंकी संगति कैसे लगेगी इस शंकाका उत्तर आगे देते हैं कि] समवकारादिमें [दिव्य पात्रोंके होते हुए भी] जो रौद्ररसका वर्णन कहा गया है वह [उन पात्रोंके] दिव्यता-जन्य स्वाभाविक सुखका बाधक न होनेसे दोषाधायक नहीं है। [आगे विभिन्न रसोंके कारण तथा स्वरूपका उपपादन प्रसंगतः करते हैं] मनुष्य आदिके द्वारा की जाने वाली अवज्ञा आदिसे रौद्र [रसका स्थायिभाव क्रोध] उत्पन्न होता है। अपनेसे अधिक [शक्तिशाली पुरुष] के क्रोधादिसे भयानक [रसके स्थायिभाव भय] की उत्पत्ति होती है। और मनुष्यादिके अपवित्र शरीर आदिके अवलोकनसे बीभत्स [रसका स्थायिभाव जुगुप्सा] दिव्य पात्रोंमें [वास्तविक नहीं] आगन्तुक ही होता है। [अर्थात् दुःखात्मक रौद्र भयानक और बीभत्सरसोंका देवताओंके साथ वर्णन आगन्तुक रूपमें ही किया जा सकता है। वास्तविक रूपसे नहीं। करुणरसका वर्णन तो उनके साथ किसी भी रूपमें नहीं करना चाहिए इस बातको आगे कहते हैं] किन्तु प्रियजनके वियोगसे उत्पन्न शोकके प्रकर्ष रूप होनेके कारण स्वाभाविक सुखके विरोधी करुण रसका इन [देवताओं] के साथ कभी भी वर्णन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार [देवताओंके] विषयासक्ति-प्रधान होनेके कारण उनमें शान्तरस भी असम्भव ही है [अर्थात् देवताओंके चरितमें शान्तरसका भी वर्णन नहीं करना चाहिए]।

यहाँ 'डिम' में इन्द्रजालादिका बाहुल्य होनेसे हास्य तथा शृङ्गारका वर्जन उचित ही

पूर्वप्रसिद्धं वस्त्वितिवृत्तं नायकोपायफललक्षणमत्र। रौद्रो मुख्योऽङ्गी यत्र। शेषा रसाः पुनरंगानि। अवस्थाचतुष्टयविशिष्टः चतुःसन्धित्वेन चतुर्दिननिवर्तनीयेतिवृत्तत्वेन च चतुरङ्कवान्। अङ्कावताररूपाश्चात्र अङ्का विधेयाः। चूलिकाङ्कमुखयोरपि युद्धादिवर्णने निबन्धो भवत्येव। 'सेन्द्र' इति सहेन्द्रजाल-रणाभ्यां वर्तते। विद्यमानता चात्र सहार्थः। इन्द्रजालमसतां शब्द-रूपादीनां प्रकाशनम्। अन्यथापादनं वा। रणः संग्रामः, बाहुयुद्ध-बलात्कारपराभवादिरूपः। डिमो डिम्बो विप्लव इत्यर्थः। तद्योगादयं डिमः। डिमेः संघातार्थत्वादिति॥ [२१] ८६।

अथ कृत्यान्तरं नायकं चोपदिशति—

[सूत्र १३५]—अत्रोल्कापात-निर्घाताश्चन्द्रसूर्योपरक्तयः।
सुरासुरपिशाचाद्याः प्रायः षोडश नायकाः॥[२२] ८७॥

है। [लक्षणमें आए हुए 'ख्यातवस्तुकः' पदका अर्थ करते हैं कि] जिसमें नायक, फल, तथा उपाय रूप अर्थ 'वस्तु' अर्थात् इतिवृत्त ख्यात अर्थात् पूर्व-प्रसिद्ध है। [इस प्रकारका डिम होना चाहिए]। रौद्ररस जिसमें अङ्गी अर्थात् प्रधानरस है। शेष रस अङ्ग अर्थात् अप्रधान होते हैं। [विमर्शसन्धि-रहित कहनेसे शेष] चार सन्धियों वाला होनेके कारण चार अवस्थाओंसे युक्त, तथा चार दिनोंमें सम्पादित कथा-भाग वाला होनेसे चार अंकोंसे युक्त [डिम को कहा गया है]। इसमें अङ्कोंकी रचना अंकावतारके रूपमें करनी चाहिए [अंकावतारका लक्षण 'सोऽङ्कावतारो यत् पात्रैरङ्कान्तरमसूचनम्' यह २७वीं कारिकामें किया जा चुका है। इसके अनुसार पूर्व अङ्कके पात्रों द्वारा ही बिना किसी अन्य सूचनाके नवीन अङ्कका आरम्भ होता है उसको अङ्कावतार कहते हैं। डिमके अङ्कोंकी रचना इसी प्रकारसे करनी चाहिए यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। अर्थात् डिमके अङ्कोंमें प्रथम अङ्कके पात्रों द्वारा ही द्वितीय अङ्क आदिका आरम्भ होना चाहिए। और उसमें विष्कम्भक प्रवेशक आदि अर्थोपक्षेपकोंका प्रयोग नहीं करना चाहिए]। किन्तु युद्धादिके वर्णनमें चूलिका तथा अङ्कमुख दोनों [अर्थोपक्षेपकों] का प्रयोग होता ही है। [विष्कम्भक प्रवेशक आदिका प्रयोग नहीं होता है]। 'सेन्द्रजालरणो डिमः' इसका अर्थ यह है कि इन्द्रजाल और युद्धसे युक्त हो। यहाँ 'सह' पदका अर्थ विद्यमानता है। [अर्थात् सेन्द्रजालमें सहार्थक 'स' आया है उससे इन्द्रजाल और युद्धकी डिममें विद्यमानता सूचित होती है]। अविद्यमान शब्द और रूपादिको प्रकाशित करना 'इन्द्रजाल' [कहलाता] है। बाहुयुद्ध, बलात्कार पराभवादि रूप संग्राम रण [शब्दका अर्थ] है। डिम अर्थात् डिम्ब या विप्लव 'डिम' शब्दका मुख्य अर्थ है उसके योगसे [रूपकभेदका नाम] डिम है। 'डिम' धातुके संघातार्थका होनेसे [विप्लवादिप्रधान रूपकभेद डिम कहलाता है। यह डिम शब्दका निर्वचन है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है] ॥ [२१] ८६॥

अब [डिममें] करने योग्य अन्य बातोंका, और नायकका निर्देश करते हैं—

[सूत्र १३५]—इस [डिम] में उल्कापात, भूकम्प, चन्द्रमा और सूर्यके उपराग [अर्थात् ग्रहण अथवा परिवेष] दिखलाए जाने चाहिए। [सूर्य तथा चन्द्रमाके चारों ओर कभी-कभी एक गोल घेरा दिखलाई देता है इसीको 'परिवेष' कहते हैं] सुर, असुर, पिशाच आदि प्रायः सोलह

'अत्र' डिमे उल्कापात-निर्घात-चन्द्रसूर्यपरिवेषाः। उपलक्षणपरत्वाच्चास्य लेप्य-किलिञ्ज-चर्म-वस्त्र-काष्ठकृतानि रूपाणि च प्रदर्श्यन्ते। 'सुरासुर' इत्याद्यशब्दाद् यक्ष-राक्षसभुजगेन्द्रादिग्रहः। प्रायोग्रहणात् न्यूनाधिकत्वेऽपि न दोषः। दिव्यानामुद्धतत्वाद् धीरोद्धता एते द्रष्टव्याः। स्वजात्यपेक्षया तु धीरोदात्तत्वमपि न विरुध्यते। एषां च परस्परविभिन्ना भावाः स्थायि-व्यभिचार्यादयोऽपि वर्णनीयाः। समवकारवत् तत्तद् देवताभक्तप्रीतिकार्यत्वाद् दिव्यनायकत्वं दिव्यचरितानुष्ठानव्युत्पत्तिश्च द्रष्टव्या। एवमीहामृगेऽपि ॥ [२२] ८७ ॥

अथ क्रमप्राप्तमुत्सृष्टिकाङ्कं निरूपयति—

[सूत्र १३६]—उत्सृष्टिकाङ्कः पुंस्वामी ख्यातयुद्धोत्थवृत्तवान्।
भाणोक्तवृत्तिसन्ध्यङ्गो वाग्युद्धः करुणाङ्गिकः ॥ [२३] ८८॥

प्रकारके नायक होते हैं। [२२] ८७।

इस [डिममें] उल्कापात, भूकम्प, सूर्यग्रहण, चन्द्रोपराग और इनके उपलक्षणमात्र होनेसे [इनके सदृश] लेप्य [अर्थात् प्लास्टर करने योग्य द्रव्यसे बनी हुई] अथवा किलिञ्ज [अर्थात् हरी चटाई अथवा पतले तख्तेसे बनी हुई] चर्मसे, वस्त्रसे तथा काष्ठसे बनी हुई प्रतिमाओं आदि [रूपों] को दिखलाया जाता है। [कारिकामें आए हुए सुरासुरपिशाचाद्याः पदमें] 'आद्य' शब्दसे यक्ष, राक्षस, भुजगेन्द्र, आदिका ग्रहण करना चाहिए। ['प्रायः षोडशनायकाः' में] 'प्रायः' पदसे यह सूचित होता है कि कभी-कभी इससे अधिक या कम होनेपर भी दोष नहीं है। [अर्थात् साधारणतः डिममें सोलह नायक होते हैं, किन्तु कभी-कभी इस संख्यामें न्यूनाधिक्य हो जानेपर भी कोई दोष नहीं होता है]। दिव्यजनोंके उद्धत होनेसे ये [डिमके सोलहों नायक] धीरोद्धत समझने चाहिए। [मनुष्योंकी अपेक्षासे ही ये धीरोद्धत कहे गए हैं] अपनी जातिकी अपेक्षासे तो इनका धीरोदात्तत्व भी विरुद्ध नहीं है [अर्थात् अपनी जातिकी अपेक्षासे तो वे धीरोदात्त भी कहे जा सकते हैं]। इन [सोलहों नायकोंके] के स्थायिभाव व्यभिचारिभाव आदि भी परस्पर पृथक्-पृथक् ही वर्णन करने चाहिए। समवकारके समान उन-उन देवताओंके भक्तोंके प्रति उपकारी [आनन्ददायक] होनेसे [डिममें भी] दिव्य नायक होते हैं और दिव्य चरितके अनुष्ठानका परिज्ञान [रूप उसका फल] समझना चाहिए। इसी प्रकार 'ईहामृग' में भी [दिव्य नायकोंकी स्थितिका समर्थन समझना चाहिए]।

समवकारमें तीन अङ्कोंमें बारह नायक दिखलाए थे। प्रत्येक अङ्कमें नायक, प्रतिनायक और उनके दो सहायक इस प्रकार चार नायकोंके होने से तीन अङ्कोंके समवकारमें कुल मिलाकर बारह नायक माने थे। इसी प्रकार चार अङ्कों वाले डिमके प्रत्येक अङ्कमें चार-चार नायक होनेसे कुल मिलाकर सोलह नायक माने गए हैं। इन सबके विभाव अनुभाव और फल आदि पृथक्-पृथक् ही वर्णन करने चाहिए।

१०. दशम रूपक भेद 'उत्सृष्टिकाङ्क' का लक्षण—

अब क्रमसे प्राप्त उत्सृष्टिकाङ्कका निरूपण करते हैं—

[सूत्र १३६] ['डिम' और 'समवकार' में दिव्य नायक कहे गए थे उनके विपरीत] पुरुष नायक वाला, प्रसिद्ध युद्धसे जन्य [अर्थात् प्रसिद्ध युद्धोपाख्यानपर आधारित] कथावस्तु

उत्क्रमणोन्मुखा सृष्टिर्जीवितं यासां ता उत्सृष्टिकाः, शोचन्त्यः स्त्रियः। ताभिरङ्कितत्वाद् 'उत्सृष्टिकाङ्कः'। पुमांसो मर्त्या अत्र स्वामिनो, न दिव्या दुःखात्मकस्य करुणरसस्यात्र प्राधान्यात्। दिव्यानां च सुखबाहुल्येन तत्सम्बन्धायोगात्। ख्यातं भारतादौ प्रसिद्धं यद् युद्धं तत्र सम्भवि, करुणरसबहुलं यद् वृत्तं तत्, स्वयं प्रसिद्धं वाऽसदत्र निबन्धनीयम्। भाणप्रतिपादितं मुख-निर्वहणाख्यसन्धिद्वयम्। परिदेवितबाहुल्यान्मुख्या भारती वृत्तिः। एकाहनिवर्तनीयचरितत्वादेकाङ्कश्चात्र कर्तव्यः। शौर्यादिमदावलिप्तानां परस्परं दोषोद्घट्टनं वाग्युद्धं, तद्बहुलः। मत्वर्थीयेनो भूम्न्यत्र विधानात्। वाग्युद्धं चानुशोचनपरायणानामिति रौद्राप्रवेशेन न करुणस्याङ्गित्वव्याघातः। करुणो रसोऽङ्गी प्रधानं बाहुल्यनिबन्धनादत्र विधेयः। ख्यातयुद्धोत्थवृत्ते ध-बन्धादिसद्भावेनेष्टवियोगादिप्राचुर्यादिति ॥ [२३] ८८ ॥

वाला, भाणमें कहे हुए [मुख तथा निर्वहण रूप दो] सन्धियों, [भारती] वृत्ति तथा [एक] अङ्कसे युक्त, करुणरस-प्रधान, वाग्युद्ध प्रदर्शक, [रूपकभेद] उत्सृष्टिकाङ्क [कहलाता] है ॥ [२३] ८८ ॥

इस कारिकाकी व्याख्या आरम्भ करनेसे पहले ग्रन्थकार 'उत्सृष्टिकाङ्क' पदका निर्वाचन दिखलाते हैं—

जिनकी सृष्टि अर्थात् जीवन उत्क्रमणोन्मुख है इस प्रकारकी शोकग्रस्त स्त्रियाँ 'उत्सृष्टिका' [कहलाती है] उनसे अङ्कित [अर्थात् उनकी चर्चा करने वाला रूपकभेद] उत्सृष्टिकाङ्क [कहलाता] है। 'पुंस्वामी' कहनेसे इसमें पुरुष अर्थात् मर्त्य ही नायक होते हैं। दुःखात्मक करुणरसकी प्रधानता होनेके कारण [उत्सृष्टिकाङ्कमें] दिव्य नायक नहीं होते हैं। क्योंकि दिव्यजनोंके सुखप्रधान होनेसे उनके साथ उस [दुःखात्मक करुणरस] का सम्बन्ध नहीं होता है [अतः इसमें दिव्य नायक नहीं होते हैं]। 'ख्यात' अर्थात् महाभारत आदिमें प्रसिद्ध जो युद्ध, उसमें होने वाले करुणरससे परिपूर्ण जो आख्यान-वस्तु, अथवा [महाभारतादिके आधारके बिना] स्वयं प्रसिद्ध जो विद्यमान या अविद्यमान आख्यान-वस्तु, उसकी रचना इसमें करनी चाहिए। भाणमें प्रतिपादित मुख तथा निर्वहण नामक दो सन्धि, विलाप आदिका बाहुल्य होनेसे भारती मुख्य वृत्ति, तथा एक दिनमें समाप्य चरित वाला होनेसे एक अङ्क इसमें रखना चाहिए। शौर्य आदिके मदसे मत्त जनोंका एक-दूसरेपर दोषारोपण वाग्युद्ध [कहलाता] है। उसका बाहुल्य [इस उत्सृष्टिकाङ्कमें] होता है। यहाँ मत्वर्थीय प्रत्ययके बाहुल्यार्थमें विहित होनेसे [वाग्युद्धः का अर्थ वाग्युद्धबहुलः करना चाहिए]। और यह वाग्युद्ध अनुशोचनपरायण जनोंका है इसलिए [वाग्युद्धमें युद्ध पदके होनेसे] रौद्र का प्रवेश नहीं होता है इसलिए करुणरसकी प्रधानताका व्याघात भी नहीं होता है [अर्थात् उत्सृष्टिकाङ्कमें अनुशोचनपरायण स्त्रियोंका वाग्युद्ध होनेपर भी उसमें रौद्ररस नहीं अपितु करुणरस ही प्रधान रहता है]। इसमें अधिकांशमें वर्णित करके करुणरस ही प्रधान रूपसे निबद्ध करना चाहिए। प्रसिद्ध युद्धात्मक इतिवृत्तमें बध-बन्धदिके होनेसे इष्ट-वियोगादिका प्राचुर्य होनेके कारण [करुणरस ही उत्सृष्टिकाङ्कका प्रधानरस होता है] ॥ [२३] ८८॥

अथ कृत्यशेषमुपदिशति—

[सूत्र १३७]—निर्वेदवाचो भूम्नात्र योषितां परिदेवितम् ।

नरा निवृत्तसंग्रामाश्चेष्टाश्चित्रा विसंस्थुलाः ॥[२४]८९॥

अत्र उत्सृष्टिकाङ्के यासु श्रुतासु निर्वेदो जायते, ता निर्वेदवाचो बाहुल्येन निबन्धनीयाः । दैवोपालम्भ-आत्मनिन्दादिरूपानुशोचनात्मकं परिदेवितं च योषितां बहुधा वर्णनीयम् । पुमांसश्चोपरतोद्धतप्रहार-बध-बन्ध-ताडनादिरूपसंग्रामाः पात्रत्वेन नियोज्याः । भूमिनिपात-विवर्तितोरः शिरस्ताडन-स्वकेशत्रोटनादिका नानाप्रकाराश्चेष्टा विसंस्थुला दर्शनीयाः ।

अत्र चोत्सृष्टिकाङ्के उत्तमानां मध्यमानां च बहुविधव्यसनपातेन वैरस्यार्दितानां महाविपद्यपि अविषादिनां स्थिराणां च पुनरुन्नतिर्दृश्यते इत्यविषादं चित्तस्थैर्यं च विधातुं स्त्रीपरिदेवितबहुलं वृत्तं व्युत्पाद्यत इति ॥ [२४] ८९ ॥

अथेहामृगस्य लक्षणप्रपञ्चे पर्याय :—

[सूत्र १३८]—ईहामृगः सवीथ्यङ्गो दिव्येशो दृप्तमानवः ।

एकाङ्कश्चतुरङ्को वा ख्याताख्यातेतिवृत्तवान् ॥ [२५] ९०॥

अब [उत्सृष्टिकाङ्कमें] करने योग्य अन्य बातोंका निर्देश करते हैं—

[सूत्र १३७]—इसमें मुख्य रूपसे स्त्रियोंके विलाप तथा [संसारकी अनित्यता दुःखमयत्वादिके प्रतिपादन द्वारा] वैराग्यकी जनक बातोंका वर्णन करना चाहिए । पुरुषों की संग्रामसे निवृत्ति और [भूपतन उरस्ताडन केशत्रोटनादि रूप] नाना प्रकारकी विश्रृङ्खल चेष्टाएँ प्रदर्शित करनी चाहिए ॥ [२४] ८९ ॥

उत्सृष्टिकाङ्कमें जिन [बातों] के सुननेसे वैराग्य उत्पन्न होता है इस प्रकारकी वैराग्यजनक बातें निबद्ध करनी चाहिए । दैवको उपालम्भ देना, आत्मनिन्दा, और अनुशोचन रूप स्त्रियोंका विलाप, प्रचुर मात्रामें वर्णन करना चाहिए । और पुरुषोंको उद्धत प्रहार बध, बन्ध, ताडन आदि रूप संग्राम व्यापारोंसे उपरत पात्रके रूपमें दिखलाना चाहिए । भूमिपर लोटना, छाती पीटना, सिर फोड़ना, बाल नोचना, आदि नाना प्रकारकी विश्रृङ्खल चेष्टाएँ [स्त्रियोंकी] दिखलानी चाहिए ।

इस उत्सृष्टिकाङ्कमें नाना प्रकारकी आपत्तियोंके आ पड़नेसे, दुःखोंसे पीड़ित, किन्तु महान् विपत्तिकालमें भी न घबड़ाने वाले, एवं स्थिर रहने वाले, उत्तम तथा मध्यम-लोगोंकी फिर दुबारा उन्नति होती है इसलिए [मनुष्यको दुःखमें पड़ जानेपर भी] घबड़ाना नहीं चाहिए तथा चित्तको स्थिर रखना चाहिए इस बातकी शिक्षा देनेके लिए [अथवा विपत्तिग्रस्त पुरुषोंको धैर्य तथा उत्साह प्रदान करनेके लिए] स्त्रियोंके विलापादिसे पूर्ण कथा प्रस्तुत की जाती है ॥ [२४] ८९ ॥

११ एकादश रूपक भेद 'ईहामृग' का लक्षण—

अब 'ईहामृग' के लक्षण आदि करनेका अवसर [प्राप्त] है—

[सू० १३८]—वीथ्यङ्गोंसे युक्त, दिव्य नायक, तथा दृप्त मानवपात्रों वाला, एक अङ्क अथवा चार अङ्कों वाला, प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध कथापर आश्रित—[२५] ९० ।

दिव्यस्त्रीहेतुसंग्रामो निर्विश्वासः सविड्वरः ।
स्त्र्यपहार-भेद-दण्डः प्रायो द्वादशनायकः ॥ [२६] ६१ ॥

ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था अत्र इति ईहामृगः । सह वीथ्यङ्गैर्व्याहारादिभिर्वर्तते । दिव्येशो दिव्यनायकः । दृप्ता उद्धता मानवा मर्त्यपुरुषपात्राण्यत्र । एकाङ्कश्चतुरङ्को वेति । अत्र च वृत्तसंक्षेप-विस्तारानुरोधिनी कविस्वेच्छा प्रमाणम् । एकाङ्कत्वे एकाहनिर्वर्त्यमेव चरितम् । चतुरङ्कत्वे तु चतुर्दिननिर्वर्त्यम् । ख्याताख्यातं प्रसिद्धाप्रसिद्धं यदितिवृत्तं तद्वान् । प्रशंसायां च मतुस्तेन चतुरङ्कत्वे परस्पराङ्कसम्बद्धमितिवृत्तम् न तु समवकारवदसम्बद्धम् ।

दिव्यस्त्रीहेतुः संग्रामो यत्र । अत्र हि दिव्यां नायकस्त्रियमनिच्छन्तीं प्रतिनायकोऽपहरति । ततस्तन्निमित्तको नायक-प्रतिनायकयोः संग्रामो निबन्धनीयः । निर्गतो विश्वासः परस्मिन् प्रत्ययो यस्मात् । आवेगानर्थपरस्परस्पर्धादयो विड्वरः, तद्युक्तः । स्त्रीनिमित्तमपहार-भेद-दण्डा यत्र । ते च यथासम्भवं स्त्रीविषया अन्यविषया वा । भेदः सामदानादिना विश्लेषोपपादम् । दण्डो बन्धादिः । प्रायोग्रहणं नायिका-न्यूनाधिकत्वख्यापनार्थम् ॥ [२५-२६] ६०-६१ ॥

दिव्य स्त्रीके कारण जिसमें संग्रामका प्रदर्शन किया जाय, परस्पर विश्वास रहित, परस्पर स्पर्धादि रूप [विड्वरों] से युक्त, स्त्रियोंके अपहरण, भेद अथवा दण्डका प्रदर्शक, और प्रायः बारह नायकों वाला [रूपकभेद] ईहामृग होता है ।।] ५[-२६] ६१ ॥

जिसमें 'मृग'के समान केवल स्त्रीके लिए 'ईहा' अर्थात् चेष्टा होती है वह 'ईहामृग' [कहलाता] है [यह 'ईहामृग' शब्दका निर्वचन हुआ] । वह व्याहारादि रूप वीथ्यङ्गोंसे युक्त होता है । दिव्य नायक तथा दृप्त अर्थात् उद्धत मानवपात्र जिसमें हों । एक अथवा चार अङ्क वाला हो । इस विषयमें [अर्थात् अङ्कोंकी संख्याके विषयमें] कथाभागके संक्षेप अथवा विस्तारका अनुसरण करनेवाली कविकी इच्छा ही प्रमाण है [कवि आख्यान-वस्तुके संक्षेप विस्तारके अनुसार अङ्कोंकी संख्या रखनेमें स्वतन्त्र है] । एक अङ्क होनेपर एक दिनमें समाप्त होने वाला ही चरित्र रखना चाहिए । और चार अङ्क होनेपर चार दिनमें समाप्त होने वाली कथा होनी चाहिए । प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध जो कथा, उसपर आधारित । इसमें प्रशंसा अर्थमें मतुप् प्रत्यय है । इसलिए चार अङ्क होनेपर उनकी कथा परस्पर सम्बद्ध होनी चाहिए, समवकारके समान असम्बद्ध नहीं । ['समवकार' के लक्षण में उसके अङ्कोंको स्वयं 'निष्ठितार्था' कहा था । 'ईहामृग' के अङ्क उससे भिन्न परस्पर सम्बद्ध होते हैं] ।

दिव्य स्त्रीके कारण जिसमें संग्राम हो । इसमें नायककी [प्रतिनायकको] न चाहने वाली दिव्य स्त्रीको प्रतिनायक [बलात्] अपहरण करता है । और उसके कारण नायक तथा प्रतिनायकमें संग्राम दिखलाया जाता है । जिसमें दूसरेपर विश्वास न रहा हो । आवेग, अनर्थ, परस्पर स्पर्धा आदि 'विड्वर' [कहलाते] हैं । उनसे युक्त, स्त्रीके कारण जिसमें अपहरण, भेद और दण्ड होते हैं । वे यथासम्भव स्त्री के विषयमें अथवा अन्यके विषयमें [होते हैं ।] भेद अर्थात् साम या दानादिके द्वारा फूट डालना । दण्ड अर्थात् बन्ध आदि । 'प्रायः' पदका ग्रहण [संख्याके] न्यूनत्व और अधिकत्वके सूचित करनेके लिए है ।। [२५-२६] ६०-६१ ॥

अथ कृत्यशेषमुपदिशति—

[सूत्र १३९]—व्याजेनात्र रणाभावो बधासन्ने शरीरिणि ।
व्यायोगोक्ता रसाः सन्धि-वृत्तयोऽनुचिता रतिः ॥ [२७] ९२ ॥

बधासन्ने समरानन्तरं भाविबधयोग्ये शरीरिणि व्याजेन पलायनादिना रणाभावो विधेयः । आस्तां साक्षात्, नेपथ्येऽपि बधो न वर्णनीयः । रसा वीर-रौद्राद्या दीप्ताः । सन्धयो गर्भावमर्शवर्जितास्त्रयः । वृत्तयश्च कैशिकीहीना तिस्र एव । 'सन्धि-वृत्तयः' इतीतरेतरयोगो द्वन्द्वः । अनुचिता रति रत्याभासः । स च प्रतिनायकस्य निष्प्रेमस्त्रीविषयत्वादिति ॥ [२७] ९२ ॥

अथ क्रमप्राप्तां वीथीं लक्षयति—

[सूत्र १४०]—सर्वस्वामि-रसा वीथी त्वेकाङ्का द्वयेकपात्रिका ।
मुखनिर्वाहसन्धिः स्यात्, सर्वरूपोपयोगिनी ॥ [२८] ९३ ॥

नाटकादिसर्वरूपकाणामेतदुक्तम् । वक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी[1] ।

अब [उत्सृष्टिकाङ्कमें] करने योग्य शेष बातोंको कहते हैं—

[सूत्र १३९]—इसमें बधासन्न व्यक्तिके [पलायन आदिके] बहानेसे युद्धकी समाप्ति तथा व्यायोगमें कहे हुए [वीर रौद्रादि दीप्त] रस सन्धि एवं [कैशिकीको छोड़कर भारती, सात्त्वती, आरभटी तीन] वृत्ति [होनी चाहिए], तथा एवं अनुचित रतिका वर्णन होना चाहिए ॥ [२७] ९२ ॥

बधासन्न अर्थात् बादमें शीघ्र ही जिसका बध होने वाला हो इस प्रकारके शरीरी अर्थात् व्यक्तिके पलायन आदिके बहानेसे इसमें युद्धकी समाप्ति दिखलानी चाहिए । अर्थात् साक्षात् [बध दिखलाए जानेकी] की बात तो दूर रही नेपथ्यमें भी बधका वर्णन नहीं करना चाहिए । [व्यायोगोक्त] रस अर्थात् वीर रौद्रादि दीप्त रस [होने चाहिए] । गर्भ और अवमर्श सन्धियोंको छोड़कर [मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण रूप तीन] सन्धि [होने चाहिए] । और कैशिकीको छोड़कर [भारती, सात्त्वती, आरभटी आदि] तीन ही वृत्तियाँ होनी चाहिए । 'सन्धि-वृत्तयः' इस पदमें इतरेतरयोगमें द्वन्द्व-समास है अनुचित रति अर्थात् रत्याभासका वर्णन होना चाहिए और वह प्रतिनायकके अननुरक्त स्त्री-विषयक [रति प्रदर्शन] होनेसे होता है ॥[२७] ९२ ॥

द्वादश रूपक भेद 'वीथी'का लक्षण—

अब क्रमप्राप्त 'वीथी' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १४०]—[उत्तम, मध्यम अधम] सब प्रकारके नायकोंसे और समस्त रसोंसे युक्त, एक अङ्क और एक या दो पात्रों वाली, मुख तथा निर्वहण [रूप दो] सन्धियोंसे युक्त, [अपने त्रयोदश अङ्गों द्वारा नाटक आदि] समस्त रूपकोंकी उपकारिणी 'वीथी' [कहलाती] है ॥ [२८] ९३ ॥

['सर्वरूपोपयोगिनी] यह बात नाटकादि सभी रूपकोंके विषयमें कही गई है । [अर्थात् वीथीमें कहे जानेवाले तेरह अङ्ग नाटक सहित सभी रूपकोंमें होते हैं]। वक्रोक्तिमार्गसे

---

१. वीथीति ।

सर्वे स्वामिन उत्तम-मध्यम-अधमरूपाः । सर्वे रसाश्च शृङ्गारादयः पर्यायेणात्र विधातव्याः । यदाह कोहल :—

उत्तमाधममध्याभि-र्युक्ता प्रकृतिभिस्त्रिधा ।
एकहार्या द्विहार्या वा सा वीथीत्यभिसंज्ञिता ॥ इति ॥

शंकुकस्त्वधमप्रकृतेर्नायकत्वमनिच्छन् प्रहसन-भाणादौ हास्यरसप्रधाने विटादेर्नायकत्वं प्रतिपादयन् कथमुपादेयः स्यादिति ?

'एकांका' इत्यनेन एकदिवसप्रयोज्यमितिवृत्तमत्रेति दर्शयति । द्वाभ्यां पात्राभ्यां उक्ति-प्रत्युक्तिवैचित्र्यविशिष्टाभ्यां, एकेन वा पात्रेण आकाशभाषितसमन्वितेन युक्ता वीथी कविना स्वेच्छया विधेया । मुख-निर्वाहाख्यौ सन्धी यस्याम् । सर्वेषां रूपकाणां नाटकादीनां वक्रोक्त्यादिसंकुल-त्रयोदशाङ्गप्रवेशेन उपयोगिनी वैचित्र्यकारिका । अत एवान्ते लक्षिता । वक्रोक्तिसहस्रसंकुलत्वेन शृङ्गार-हास्ययोः सूचनामात्रत्वात् कैशिकीवृत्तिहीनत्वम् । अत्र च बहुविधा वक्रोक्तिविशेषा उत्तम-मध्यम-अधमनायकानां व्युत्पाद्यन्ते इति ॥ [२८] ६३ ॥

[इसमें कहे हुए त्रयोदश अङ्गोंके नाटकादि सारे रूपकोंमें] जानेसे वीथीके समान होनेके कारण यह 'वीथी' कहलाती है । उत्तम, मध्यम, अधम रूप सारे स्वामी अर्थात् नायक [इसमें होते हैं] । और शृङ्गार आदि सारे रस एक-एक करके पर्यायसे इसमें वर्णन किए जाते हैं । जैसा कि कोहलने कहा है—

उत्तम, अधम और मध्यम तीनों प्रकारके पात्रोंसे युक्त एक पात्रके द्वारा अथवा दो पात्रोंके द्वारा सम्पादित [रूपक भेद] 'वीथी' कहलाती है ।

शंकुक जो अधम प्रकृतिको नायक नहीं मानना चाहते हैं । वे भाण, प्रहसन आदि हास्यरसप्रधान [रूपकों] में विट आदि [अधम पात्रों] को नायक [बनाने] का प्रतिपादन करके कैसे श्रद्धेय वचन हो सकते हैं ? [अर्थात् शंकुक एक ओर तो यह कहते हैं कि अधम प्रकृतिका नायक नहीं होना चाहिए । दूसरी ओर भाण प्रहसन आदिमें अधम प्रकृतिके विटादिको ही नायक बनानेका विधान करते हैं । ये दोनों बातें परस्पर विपरीत हैं इसलिए उनका कथन उपादेय नहीं हो सकता है । इसलिए वहां वीथीमें जो अधम प्रकृतिके भी नायक होने की बात कही गई है वह अनुचित नहीं है] ।

'एकांका' इस पदसे एक दिनमें समाप्त होनेवाले आख्यान-भागका ही इसमें वर्णन होना चाहिए यह दिखलाया है । उक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा वैचित्र्य युक्त दो पात्रोंसे, अथवा आकाशभाषितका अवलम्ब करने वाले एक ही पात्रसे युक्त 'वीथी' कवि अपनी इच्छाके अनुसार बना सकता है । मुख तथा निर्वहण नामक दो ही सन्धि इसमें होते हैं । वक्रोक्ति आदिसे युक्त त्रयोदश वीथ्यङ्गोके नाटकादि [समस्त] रूपकोंमें उपयुक्त होनेसे उन सबकी उपयोगिनी अर्थात् वैचित्र्यसम्पादिका [वीथी] होती है । इसीलिए सबके अन्तमें उसका लक्षण किया गया है । सहस्रों प्रकारकी वक्रोक्तियोंसे युक्त होनेके कारण हास्य तथा शृङ्गारकी सूचनामात्र होनेसे इसको कैशिकीवृत्तिहीन कहा जा सकता है । इसमें उत्तम, मध्यम तथा मधम नायकों के [अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल] अनेक प्रकारके वक्रोक्ति-भेदोंका [सामाजिकको] ज्ञान

१. त्येकादश ।

अथास्या अङ्गान्यभिधीयन्ते—

[सूत्र १४१]—व्याहारोऽधिबलं गण्डः प्रपञ्चास्त्रिगतं छलम् ।
असत्प्रलापो वाक्केली नालिका मृदवं मतम् ॥ [२६] ६४ ॥
उद्घात्यकावलगिते अथावस्पन्दितं स्मृतम् ।
भारतीवृत्तिवर्तीनि वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥ [३०] ६५ ॥

एतानि त्रयोदश वीथ्यङ्गानि विविधवक्रोक्त्यादिरूपत्वाद् भारत्यां वृत्तौ वर्तनशीलानि । अत एव वीथ्यप्येषामङ्गानां अङ्गीभूता भारतीवृत्त्येकदेशः ॥ [२६-३०] ६४-६५ ॥

(१) तत्र प्रथमं व्याहारः—

[सूत्र १४२]—अन्यार्था भाविदृष्टिर्वा व्याहारो हास्यलेशगीः ।

अन्योऽर्थः प्रयोजनं यस्याः, भाविनी वा भविष्यन्ती दृष्टिर्दर्शितविषयोऽर्थो यस्याः सा । हास्ये लेशप्रधाना गी-र्वाणी । विविधोऽर्थ आह्रियतेऽनयेति व्याहारः ।

तत्रान्यार्थो यथा मालविकाग्निमित्रे लास्यप्रयोगावसाने मालविका निर्गन्तुमिच्छति ।

कराया जाता है ॥ [२८] ६३ ॥

अब इस [वीथी] के [तेरह] अङ्ग कहते हैं—

[सूत्र १४१]—१. व्याहार, २. अधिबल, ३. गण्ड, ४. प्रपञ्च, ५. त्रिगत, ६. छल, ७. असत्प्रलाप, ८. वाक्केलि, ६. नालिका, १०. मृदव, ११. उद्घात्यक, १२. अवलगित, १३. अवस्पन्दित भारती-वृत्तिमें होने वाले ये तेरह वीथीके अङ्ग हैं ॥ [२६-३०] ६४-६५ ॥

ये तेरहों अङ्ग विविध प्रकारकी वक्रोक्ति रूप होनेसे । [वाग्व्यापार रूप] भारती वृत्तिमें रहने वाले होते हैं । इसीलिए इन वीथ्यङ्गोंकी अङ्गीभूत 'वीथी' भी भारती-वृत्तिका ही एक भाग है । ॥ [२६-३०] ६४-६५ ॥

(१) व्याहार नामक प्रथम वीथ्यङ्ग—

उन [तेरह वीथ्यङ्गों] मेंसे पहला 'व्याहार' है [उसका लक्षण निम्न प्रकार करते हैं]—

[सूत्र १४२]—[कथित प्रयोजनसे] अन्य प्रयोजन वाली अथवा आगे होने वाले [किसी विशेष] प्रयोजनसे हास्यके लेशसे युक्त कही गई वाणी 'व्याहार' [कहलाती] है ।

[सामान्य कथित प्रयोजनसे] अन्य अर्थ, अर्थात् प्रयोजन जिसका हो अथवा भाविनी अर्थात् आगे होने वाली दृष्टि अर्थात् दिखलाए जाने वाला अर्थ जिसका विषय हो, इस प्रकार की, हास्यके सम्पर्कसे युक्त वाणी, [व्याहार कहलाती] है । [व्याहार शब्दका निर्वचन दिखलाते हैं]—जिस [वाणी] के द्वारा विविध अर्थोंका आहरण किया जाता है वह व्याहार [कहलाती] है ।

उनमेंसे अन्यार्थ विषयक व्याहारका उदाहरण जैसे मालविकाग्निमित्रमें नृत्यप्रयोगके समाप्त होनेपर मालविका बाहर जाना चाहती है । [उस समय विदूषक उसको रोकता हुआ कहता है कि—

"विदूषकः—भोदि ! चिट्ठ दाव, विसुमरिदं खु वो किंचि तं ताव पुच्छिस्सं ।
[भवति ! तिष्ठ तावद् विस्मृतं खलु वः किञ्चित् तत् तावत् प्रक्ष्यामि] ।

गणदासः—वत्से ! तिष्ठ तावदुपेशविशुद्धौ गमिष्यसि । [मालविका स्थिता] ।

धारणी—गोदमवयणं पि अज्जो हियए पमाणीकरेदि ।
[गोतमवचनमपि आर्यो हृदये प्रमाणीकरोति] ।

गणदासः—देवि मा मैवम् । देवप्रत्ययात् सम्भाव्यते सूक्ष्मदर्शी गोतमः ।
पश्य—

मन्दोऽप्यमन्दतां याति संसर्गेण विपश्चितः ।
पङ्कच्छिदः फलस्येव निकर्षेणाविलं पयः ॥

[विदूषकं विलोक्य] किं विवक्षितमार्यस्य ?

विदूषकः—पढमं दाव पेक्खगे पुच्छ । पच्छा जो मए कम्मभेदो लक्खिदो तं भणिस्सं । [प्रथमं तावत् प्रेक्षकान् पृच्छ, पश्चाद् यो मया क्रमभेदो लक्षितस्तं भणिष्यामि] ।

गणदासः—भगवति ! गुणो वा दोषो वा यथादृष्टमभिधीयताम् ।

परिव्राजिका—यथा मे दर्शनं तथा सर्वमनवद्यम् ।

गणदासः—देवः कथं मन्यते ?

विदूषक—आप ज़रा ठहरिए । आप कुछ भूल गई हैं उसके विषय में पूछता हूँ ।

गणदास—[मालविकाका नृत्य-शिक्षक गुरु है, वह कहता है] वत्से ! ठहर जाओ । [विदूषक जो कुछ पूछना चाहता है उसका उत्तर देकर] उपदेशकी शुद्धता हो जानेपर जाना । [मालविका रुक जाती है] ।

धारणी—[राजाकी प्रधान रानी है वह मालविकाका अधिक देर राजाके सामने रहना पसन्द नहीं करती है इसलिए कहती है कि] क्या इस [गोतम] मूर्ख [विदूषक] के वचनको भी आर्य अपने हृदयमें प्रमाण मानेंगे । [अर्थात् इस मूर्खकी बात ध्यान देने योग्य नहीं है] ।

गणदास—देवि ! ऐसा मत कहिए । महाराजके सम्बन्धसे [गोतम विदूषकमें भी नृत्यकी बारीकिओंको समझ सकनेकी क्षमता हो सकती है । इसलिए] गोतम सूक्ष्मदर्शी हो सकता है । देखिए—

विद्वान्के संसर्गसे मूर्ख भी विद्वत्ताको प्राप्त कर सकता है । [जलकी] मलिनताको दूर करने वाले [कतकवृक्षके] फलके संसर्ग से जैसे मलिन जल भी शुद्ध हो जाता है ।

[विदूषकको देखकर] आप क्या कहना चाहते हैं ?

विदूषक—पहिले [जिसको इस नृत्यकी परीक्षामें निर्णायक नियत किया गया है उन] प्रेक्षक-महोदयसे पूछो, उसके बाद मैंने जो कमी देखी है उसको बतलाऊँगा ।

गणदास—[परिव्राजिकासे] भगवति ! [इस मालविकाके नृत्यमें] गुण या दोष जो आपने देखा हो उसे कहिए ।

परिव्राजिका—जहाँ तक मैं समझती हूँ सब-कुछ ठीक है ।

गणदास—[राजासे] महाराजकी क्या सम्मति है ?

राजा—वयमपि स्वपक्षं प्रति शिथिलाभिमानाः संवृत्ताः ।

गणदासः—देव ! अद्य नर्तयिताऽस्मि ।

धारणी—दिट्ठ्या पेक्खगाराधणेण [गणदासमवलोक्य] अज्जो वड्ढदि ।
[दिष्ट्या प्रेक्षकाराधनेन आर्यो वर्धते ।

गणदासः—देवीपरिग्रहो मे वृद्धिहेतुः । [विदूषकं विलोक्य] वदेदानीं, यत् ते मनः कर्षति ।

विदूषकः—पढमोवदेसदंसणे पढमं बंभणस्स पूया इच्छिदव्वा, सा तए लंघिदा ।

[प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा एष्टव्या, सा त्वया लंघिता ।]

परिव्राजिका—अहो प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्नः !

[सर्वे प्रहसन्ति मालती स्मितं करोति] ।"

इत्ययं नायकस्य विश्रब्धनायिकादर्शनार्थं प्रयुक्तो हास्यलेशकारित्वाद् व्याहारः ।

भाविदृष्टिर्यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के—

राजा—हमारा भी अपने पक्षमें [अर्थात् मालविकाकी प्रतिद्वंद्विनीके विषयमें] अभिमान नहीं रहा [मालविकाकी जीत हुई] ।

गणदास—देव ! आज मैं नर्तयिता [सच्चा नृत्य-शिक्षक कहलानेका अधिकारी] हूँ । [क्योंकि आप मेरे कार्य से सन्तुष्ट हुए हैं] ।

धारणी—सौभाग्यसे प्रेक्षक [अर्थात् निर्णायक] को प्रसन्न करके आपकी [वृद्धि] विजय हो रही है ।

गणदास—आपका सेवक होना ही मेरी वृद्धिका कारण है । [विदूषककी ओर देख-कर], अच्छा, अब तुम्हारा मन क्या कहता है सो बताओ ?

विदूषक—पहिली बार उपदेशका प्रदर्शन करते समय [अर्थात् अपनी कलाकी परीक्षा देते समय] पहिले ब्राह्मणदेवताकी पूजा करनी चाहिए सो आपने नहीं की हैं ।

परिव्राजिका—ओहो ! प्रयोगकी बड़ी बारीकीका प्रश्न है ।

[सब लोग जोरसे हँसने लगते हैं । मालविका मुस्कराती है ।]"

यह नायक [राजा] को विश्रब्ध रूपसे [अधिक काल तक] नायिका को दिखलाने [रूप अन्यार्थ] के लिए [विदूषक द्वारा] तनिक हास्यकारी [वचन कहा गया है इसलिए यह] व्याहार [का उदाहरण] है ।

भाविदृष्टि [रूप द्वितीय प्रकारके व्याहारका उदाहरण] जैसे रत्नावलीके द्वितीय अङ्क में राजा [कहते हैं]—

यह श्लोक श्लेषयुक्त है । इसमें दिए गए विशेषण लता और नारी दोनों पक्षोंमें लगते हैं । राजा समदना नारी-सी दीखनेवाली लताको देखकर कह रहे हैं कि इसकी ओर देखनेसे महारानी समदना नारीका अवलोकन मानकर अवश्य नाराज़ होंगी । और आगे चलकर इसी प्रसंगमें समदना सागरिकाके साथ राजाको देखकर महारानीका मुख क्रोधसे लाल हो जाता है । इसलिए इस श्लोकमें जो 'कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम्' कहा हैं वह भाविदृष्टि विषयक हास्यलेशोक्ति होनेसे व्याहार नामक वीथ्यङ्गका उदाहरण है । श्लोक

राजा—उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचिं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्‍गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
"अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥"

अत्र राज्ञा वासवदत्तां प्रति भाव्यर्थदर्शनं हास्येनोक्तम् ।

अन्ये तु वर्तमानप्रत्यक्षार्थवाचकं हास्यलेशकरं वचो व्याहारमिच्छन्ति । यथा मृच्छकटयां विदूषको गणिकाया वसंतसेनाया गृहं प्रविशन् वसंतसेनाया मातरं दृष्ट्वा पृच्छति ।

"विदूषकः—का एसा बंधुला ?
[का एषा बंधुला ?]
चेटी—एसा अज्जुआए जणणी अत्तिया ।
[एषा आर्याया जननी अत्तिका] ।

विदूषकः—जदि मरे ता सीयालसहस्सस्स पज्जत्तिका । अथ किं एदं पवेसिय[1] दुवारसोहा निम्मविदा ? आदु उक्खंदवेण पवेसिदा ?

का अर्थ निम्न प्रकार है—

"प्रचुर उत्कलिकाओं [नारी पक्षमें प्रियमिलनकी उत्कण्ठाओं और लतापक्षमें कलियों] से परिपूर्ण, [नारी पक्षमें प्रियवियोगके कारण और लतापक्षमें फूलोंसे लदी होनेके कारण] धवलकान्तिवाली, जृम्भायुक्त [और 'प्रारब्धजृम्भां' में 'जृम्भा' पदसे नारी पक्षमें जम्भाई तथा लतापक्षमें कुसुमोंका विकास अर्थ लेना चाहिए] और निरन्तर होनेवाले वायुके झोंकोंसे [नारी पक्षमें 'श्वसनोद्‍गमैः' का अर्थ दीर्घ निश्वास और लतापक्षमें इसका अर्थ वायुके झोंके लेना चाहिए] से अपने आयास [नारी पक्षमें अपने दुःख तथा लतापक्षमें अपने कम्पन] को प्रकाशित करती हुई अन्य नारीके समान [तुल्य विशेषणोंवाली] इस उद्यानलताको देखता हुआ आज मैं निश्चय ही देवी [महारानी] के मुखको क्रोधसे आरक्तवर्ण कर दूँगा ।"

इसमें राजाने वासवदत्ताके प्रति भावी अर्थका दर्शन [अर्थात् आगे होनेवाली घटना] को हास्यके रूपमें कहा है । [इसलिए यह भाविदृष्टि रूप 'व्याहार' नामक वीथ्यङ्गका उदाहरण है] ।

अन्य लोग तो वर्तमान प्रत्यक्ष अर्थके बोधक हास्यमय वचनको व्याहार कहते हैं । जैसे मृच्छकटिकमें वसन्तसेना वेश्याके घरमें प्रविष्ट होते समय वसन्तसेनाकी माताको देखकर विदूषक पूछता है—

"विदूषक—यह [बन्धुला] रंडी कौन है ?

चेटी—यह आर्या [वसन्तसेना] की माता अत्तिका है ।

विदूषक—यदि [यह] मरे तो हजारों शृङ्गालोंकेलिए [भोजनार्थ] पर्याप्त है । और [यह तो बतलाओ कि] क्या इसको [मकानके भीतर] प्रविष्ट करनेके बाद द्वारकी शोभाका निर्माण करवाया था अथवा ऊपरसे उठाकर भीतर लाये थे [क्योंकि वह इतनी अधिक मोटी है कि द्वारमेंसे तो यह भीतर आ नहीं सकती है] ।

१. पविसि ।

[यदि म्रियेत तदा शृंगालसहस्रस्य पर्याप्ता । अथ किमेतां प्रवेश्य द्वारशोभा निर्मापिता ? अथवावस्कंदेन प्रवेशिता ?]

चेटी—अय्य ! मा एत्तियं अनेक्खसु । अत्तिका चाउत्थिएण [1]बाधीयदि ।

[आर्य ! मा एतावदन्वीक्षस्व । अत्तिका चातुर्थिकेन बाध्यते]

विदूषकः—भयवं चाउत्थिय मं पि बंभणं अणुकंपेहि । इति

[भगवन् चातुर्थिक ! मामपि ब्राह्मणमनुकम्पस्व] ।"

यथा वा नलविलासे लम्बस्तनीकापालिकीं प्रति विदूषकः—

"एकं दाव मे संसयं भंजेहि । मह बंभणीए माया [2]थूलकुट्टिणी जा पाडलिपुत्ते वसदि सा किं तुमं, आदु अन्ना का वि । इत्यादीति ।

[एकं तावन्मे संशयं भङ्ग्ध्व । मम ब्राह्मण्या माता स्थूलकुट्टिनी या पाटलिपुत्रे वसति, सा किं त्वम् ? उतान्या कापि ?]"

(२) अथाधिबलम्—

[सूत्र १४३]—मिथो जल्पे स्वपक्षस्य स्थापनाधिबलं बलात् ॥

॥ [३१] ६६ ॥

मिथः परस्परं जल्पे उक्ति-प्रत्युक्तिक्रमे क्रियमाणे स्वपक्षस्य स्वाभ्युपगमस्य परस्परप्रज्ञोपजीवनबलात् स्थापना सुघटितत्वं क्रियते यत्र तदधिकबलसम्बन्धादधिबलम् ।

चेटी—आर्य ! इतना ही [मोटा इनको] मत समझो । माताजी [आजकल] चातुर्थिक [चौथे दिन आनेवाले ज्वर] से पीड़ित है [इसलिए दुबली हो गई है] ।

विदूषक—हे भगवन् चातुर्थिक ! [यदि आपकी कृपासे यह इतनी मोटी है तो फिर] मुझ ब्राह्मणके ऊपरभी कृपा कीजिए ।"

यह वर्तमान प्रत्यक्ष अर्थका बोधक हास्यकर वचन है ।

[अथवा] जैसे नलविलासमें लम्बस्तनी कापालिकाके प्रति विदूषक [कहता है]—

"विदूषक—मेरे एक संशयको दूर करो । [यह बताओ कि] मेरी ब्राह्मणीकी [अर्थात् मेरी पत्नीकी] स्थूलकुट्टिनी नामकी माता जो पटनामें रहती है वह क्या तुम ही हो, अथवा कोई और है ? इत्यदि [भी वर्तमान प्रत्यक्ष अर्थ विषयक हास्यकर वचन होनेसे इस प्रकारके व्याहारका उदाहरण है ।"

(२) 'अधिबल' नामक द्वितीय वीथ्यङ्ग—

अब 'अधिबल' [नामक द्वितीय विथ्यङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १४३]—परस्पर वार्तालापमें बलपूर्वक अपने पक्षकी स्थापना करना 'अधिबल' [कहलाता] है । [३१] ६६ ।

'मिथः' अर्थात् परस्पर,'जल्प' अर्थात् उक्ति-प्रत्युक्तिके क्रममें [कथनोपकथनके करनेमें] अपने पक्ष अर्थात् अपने सिद्धान्तका परस्पर बुद्धिका अवलम्बन कर जो स्थापन अर्थात् युक्ति-युक्तत्व सिद्ध किया जाता है वह अधिक बलका सम्बन्ध होनेसे 'अधिबल' [कहलाता] है ।

१. वाधी । २. मूल ।

यथा कृत्यारावणे प्रथमेऽङ्के सीतावेषधारिण्या [1]शूर्पणखया सह संवादे [नेपथ्ये]—

"हा भ्रातर्लक्ष्मण ! परित्रायस्व मां परित्रायस्व ।

[इति श्रुत्वा [1]शूर्पणखा मोहमुपगता । तस्यां च मूढायां]

लक्ष्मणः—आर्ये ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

शूर्पणखा—[अक्षिणी उन्मील्य सक्रोधं] आः अणज्ज ! अज्ज वि तुमं चिट्ठसि य्येव । अहो ! दाणि सि तुमं निस्संसो निग्घिणो य चिट्ठदु दाव भादुयसिणेहो, कध णाम इक्खाउकुलसंभवेण महाखत्तिएण भविय एवं तए ववसियं ? णं भणामि एवमक्कंदंतो सत्तू वि न उवेक्खीयदि किं पुण अज्जउत्तो ?

[आः अनार्य ! अद्यापि त्वं तिष्ठस्येव । अहो इदानीमसि त्वं नृशंसो निर्घृणश्च तिष्ठतु तावद् भ्रातृस्नेहः, कथं नाम इक्ष्वाकुकुलसम्भवेन महाक्षत्रियेण भूत्वैवं त्वया व्यवसितम् ? ननु भणामि एवमाक्रन्दन् शत्रुरपि नोपेक्ष्यते किं पुनरार्यपुत्रः ।

इति संस्कृतम्]।

लक्ष्मणः—आर्ये ! ननु त्वदर्थं एव आर्येण स्थापितोऽस्मि ।

शूर्पणखा—कुमार ! एवं मम अत्थो कदो होदि । एवं च अहं परिरक्खिदा होमि । ता सव्वधा अन्नं य्येव दे अणिट्ठं अभिप्पायं लक्खेमि । इत्यादि ।

[कुमार ! एवं ममार्थः कृतो भवति ! एवं चाहं परिरक्षिता भवामि ? तत्सर्वथान्यमेव तेऽनिष्टमभिप्रायं लक्षयामि । इति संस्कृतम्] ।"

यथा वा रघुविलासे—

जैसे कृत्यारावणमें प्रथम अङ्कमें सीताका वेष धारण किए हुए शूर्पणखाके साथ संवादमें [अर्थात् संवादके अवसरपर] नेपथ्यमें—

"हे भाई लक्ष्मण ! मुझे बचाओ, बचाओ ।

[ऐसा सुनकर शूर्पणखा मूच्छित हो जाती है]

और उसके मूच्छित हो जानेपर लक्ष्मण [कहते हैं]—आर्ये ! धैर्य धारण करो ।

शूर्पणखा—[आँखें खोलकर क्रोधपूर्वक कहती है] अरे दुष्ट अनार्य ! तुम अभी खड़े हुए ही हो । अरे ! तब तो तुम बड़े क्रूर और निर्लज्ज [प्रतीत होते] हो । भाईके स्नेहकी बात जाने भी दो, तो भी इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न महान् क्षत्रिय होकर तुमने यह कैसे किया ? [अब तक तुम गए क्यों नहीं ?] मैं कहती हूँ कि इस प्रकार पुकारनेपर शत्रुकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है [शत्रुकी रक्षाके लिए भी तुरन्त जाना चाहिए था] फिर आर्यपुत्रकी तो बात ही क्या है ?

लक्ष्मण—आर्ये ! आपकी ही रक्षाकेलिए मुझे आर्य [रामचन्द्र]ने नियुक्त किया है ।

शूर्पणखा—कुमार ! क्या इस प्रकार मेरा काम होगा । और क्या इस प्रकार मेरी रक्षा होगी । इसलिए. मैं तुम्हारा कुछ और ही अनिष्ट अभिप्राय देखती हूँ । [जिसके कारण तुम अभी तक नहीं गए] ।"

अथवा जैसे रघुविलासमें—

---

१. सूर्प ।

"मयः—देव ! सीतापहारमतितरां जुगुप्सते लङ्कालोकः ।

रावणः—[साक्षेपम्] सीतापहारमतितरां जुगुप्सते लङ्कालोकः ?

मयः—[सभयम्] अथ किम् ।

रावणः—[सावहेलम्]—

अविदितपथः प्रेम्णां बाह्यानुरागरुजां जडो,
वदतु दयितामैत्रीवन्ध्यो यथाप्रतिभं जनः ।
मम पुनरियं सीता राज्यं सुखं विभवः प्रियं,
हृदयमसवो मित्रं मन्त्री रतिर्धृतिरुत्सवः ॥

[पुनः सखेदम्] आर्य ! किमेकमस्य पामरप्रकृतेर्लङ्कालोकस्य विचारचातुरीवैमुख्यमुद्भावयामि—

अस्यां प्रेम ममेव वाङ्मनसयोरुत्तीर्णमन्यस्य चेद्,
वैदेह्यां नयनैकलेह्यलवणप्रारोहभूमौ भवेत् ।
कापेयं परिरभ्य स प्रकटयन्नुलुण्ठभूयं हठात्,
किञ्चित् कामितमादधीत, कृतवान् वेधास्तु मां रावणम् ॥

अपरथा पुनरार्य !

अहंयुनिकराग्रणीरवगणय्य धर्मार्गलां,
प्रसह्य यदि जानकीमभिरमेत लङ्कापतिः ।

"मय—[रावणसे] देव ! लङ्कावासी लोग सीताके अपहरणकी अत्यन्त निन्दा करते हैं ।

रावण—[क्रोधपूर्वक] आर्य ! क्या लङ्कावासी लोग सीताके अपहरणकी अत्यन्त निन्दा करते हैं ?

मय—[डरता हुआ] और क्या ।

रावण [अनादर पूर्वक]—

प्रेममार्गको न समझनेवाले, अनुरागकी पीड़ाका अनुभव करनेमें अक्षम, और प्रियजन की मैत्रीसे रहित, मूर्ख लोग अपनी समझके अनुसार चाहे जो कहें । पर मेरे लिए तो यह सीता ही राज्य, सुख, वैभव, प्रिय, हृदय, प्राण, मित्र, मन्त्री, धैर्य और आनन्द सब-कुछ है ।

[फिर खेदपूर्वक कहता है] आर्य ! इन पामर-प्रकृति वाले लङ्कावासियोंकी अविचारशीलताको क्या कहूँ—

यदि वाणी और मनकी सीमाको पार कर जाने वाले मेरे [प्रेमके] समान किसी औरका केवल नेत्रोंसे आस्वादन करने योग्य लावण्यके अंकुरकी जन्मभूमि सीतामें [मेरा जैसा] प्रेम हो जाय तो वह निश्चय ही [उसको] जबरदस्ती पकड़कर आनन्दातिरेक पूर्वक वानरता [वानरके समान काम-प्रवृत्ति] को प्रकट करता हुआ कुछ [अद्‌भुत] काम-व्यापार करने लगता । यह तो कहो कि विधाताने मुझे [अत्यन्त धैर्यशाली] रावण बनाया है [कि मैंने अपने हाथमें होने और उसके लिए इतना कष्ट उठानेपर भी अभी तक उसके साथ बलात्कार नहीं किया है] ।

नहीं तो हे आर्य !—

अभिमानियोंका अग्रणी लङ्कापति, धर्ममर्यादाका परित्याग करके जानकीके साथ

अमुष्य ननु रोदसीविजयनिष्णदोष्णः समि-
न्मृगव्यरसिकस्तदा क इव नाम वैतण्डिकः ! ॥

मयः—[अपवार्य मन्दोदरीं प्रति] वत्से। यथावस्थितमभिधाने लङ्कापतौ किमतः परं विज्ञापयामि । इति ।"

केचित्तु 'अन्योऽन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाऽधिबलं भवेत्' इति पठन्ति। एतदप्यर्थाभेदादनेन संगृहीतमिति ॥ [३१] ६६ ॥

(३) अथ गण्डः—

[सूत्र १४४]—गण्डोऽकस्माद् यदन्यार्थं प्रस्तुतानुगतं वचः ।

अन्याभिप्रायेणाकस्मात् प्रत्युक्तं प्रतिवचनतयानुच्चारितमपि प्रतिवचनरूपतया प्रक्रान्तेन यत् सम्बद्धं वचनं, तद् दुष्टार्थगर्भत्वाद् दुष्टशोणितगर्भगण्ड इव 'गण्डः'। यथोत्तरचरिते—

"रामः—[सीतामवलोक्य]—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो—
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः ।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥

बलात् रमण करने लगे तो द्यावा-पृथिवीको विजय करनेमें समर्थ भुजदण्ड वाले, उसके साथ युद्ध-मृगयाका रसिक कौन बाधक बन सकता है ?

मय—[और कोई न सुन सके इस प्रकार—अपवार्य—मन्दोदरीके प्रति वत्से ! [यह बात तो] लङ्कापति ठीक ही कह रहे हैं तब मैं और क्या कहूँ ?"

यहां परस्पर संवादमें रावणने युक्तियोंके बलसे प्रबलताके साथ अपने पक्षकी स्थापना की है। अतः यह 'अधिबल' नामक द्वितीय वीथ्यङ्गका उदाहरण है।

कोई लोग स्पर्धाके कारण एक-दूसरेसे बढ़कर वाक्योंके कथनको 'अधिबल' कहते हैं। अर्थमें भेद न होनेसे [अर्थात् अर्थतः इसी पूर्व लक्षण वाले अधिबलके समान होनेसे] उसका भी अन्तर्भाव इसी [पूर्वोक्त लक्षणमें] हो जाता है॥ [३१] ६६ ॥

(३) गण्ड नामक तृतीय वीथ्यङ्ग

३—अब 'गण्ड' [नामक तृतीय वीथ्यङ्गका लक्षणादि करते हैं]—

[सूत्र १४४] अन्यार्थक होनेपर भी प्रस्तुतसे सम्बद्ध हो जाने वाला जो वचन अकस्मात् कहा जाय वह 'गण्ड' कहलाता है।

अन्य अभिप्रायसे अकस्मात् बोला गया जो वचन प्रत्युत्तरके रूपमें उच्चारित न होनेपर भी, प्रकृतके साथ प्रत्युत्तर रूपमें संङ्गत हो जाता है वह, अनिष्ट अर्थको अपने भीतर लिए हुए होनेसे गन्दे खूनसे भरे हुए फोड़ेके समान 'गण्ड' कहलाता है। जैसे उत्तर-रामचरितमें—

"राम [सीताको देखकर]—

यह [सीता] घरमें लक्ष्मीके समान है, यह नेत्रोंके लिए अमृतकी शलाकाके समान [सुखद] है। इसका यह [शीतल] स्पर्श शरीरमें प्रचुर चन्दन रसके लेपके समान है। इसका

प्रविश्य—[प्रतीहारी] देव उवस्थिदो

[देव उपस्थितः।]

रामः—अयि ! कः ?

प्रतीहारी—देवस्स आसन्नपरिचारओ दुम्मुहो इति

[देवस्य आसन्नपरिचारको दुर्मुखः] इति॥"

अत्राकस्मात् प्रतीहारवचनमन्याभिप्रायप्रयुक्तं प्रस्तुतरामवचसा संयुज्यमानत्वाद् 'गण्डः'।

यथा वा बालिकावञ्चितके—

कंसः—रिष्टस्तावदुदग्रशृंगविकटः शैलेन्द्रकल्पो वृषः,

सप्तद्वीपसमुद्रजस्य पयसः शोषक्षमा पूतना।

केशी वाजितनुः खुरैर्विघटयेदापन्नगान्मेदिनीं,

सार्धं बन्धुभिरेवमूर्जितबलं कः कंसमास्कन्दति।

[नेपथ्ये]

जो अन्नओ पसूओ अन्नेण य वड्ढिओ महुप्पहवो।

कण्हो सो परउट्ठो मारेइ न कोइ धारेइ॥

[योऽन्यतः प्रसूतोऽन्येन च वर्धितो मधुप्रभवः।

कृष्णः स परपुष्टो मारयति न कोऽपि न धारयति।]"

यह बाहु गलेमें शीतल और चिकना हार है। इसका कौनसा भाग प्रिय नहीं है ? [सब कुछ ही प्रिय है]। किन्तु यदि कुछ असह्य है तो वह इसका वियोग है।

[प्रविष्ट होकर] प्रतीहारी—देव ! उपस्थित है।

राम—अरे कौन ? [उपस्थित है]।

प्रतीहारी—आपका आसन्न परिचारक दुर्मुख।"

इस [संवाद] में अन्य अभिप्रायसे प्रयुक्त [अर्थात् दुर्मुखके आगमनकी सूचना देनेके अभिप्रायसे कहा गया] भी प्रतीहारीका वचन ['यदि परमसह्यस्तु विरहः' इस] प्रस्तुत राम-वचनके साथके-साथ मिल जानेसे 'गण्ड' [नामक वीथ्यङ्गका उदाहरण बन गया है]।

अथवा जैसे 'बालिकावञ्चितक' में —

"कंस—बड़े-बड़े सींगोंसे भयङ्कर रिष्ट, महान् पर्वतके समान वृष, सातों द्वीपोंके समुद्रोंमें होनेवाले सारे जलको सोख जानेमें समर्थ पूतना, [ये सब मेरे सहायक हैं]। और अश्व-रूपधारी केशी अपने खुरोंसे पाताल तक भूमिको खोद डाल सकता है इस प्रकारके बन्धुओं [सहायकों] के कारण अत्यन्त शक्तिशाली कंसको कौन पराजित कर सकता है ?

[नेपथ्यमें]

जो किसी दूसरेसे उत्पन्न हुआ और किसी दूसरेसे पाला गया [अर्थात् देवकी-वसुदेव का पुत्र और नन्दके द्वार पाला गया कृष्ण] वह अत्यन्त बलशाली [परिपुष्ट, मधुसे उत्पन्न] माधव कृष्ण मार रहा है और कोई बचानेवाला नहीं है।"

रंगभूमिमें प्रविष्ट [कंस रूप] पात्रके द्वारा पठित वचनके साथ मिल जाने वाला यह नेपथ्य-पठित अनिष्टार्थ सूचक वचन गण्ड [का उदाहरण बन गया] है।

इदं रंगमध्यप्रविष्टपात्रपठितेन वचसा नेपथ्यपठितमनिष्टार्थसूचकं संयुज्यमानं चूलिकागण्डः ।

यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे—

"राजा—कपिञ्जल ! पुरो गत्वा विलोकय, आश्रमः कियति दूरे ?

['यदादिशति देवः इत्यभिधाय कपिञ्जलो निष्क्रान्तः]

राजा ! [सखेदम्]—

धिङ् मां भ्रूणविघातिनं सकलुषं धिग् जीवितं मेऽखिल—
क्षोणीलोककरोपतापजनिता धिग् धिग् ममैताः श्रियः ।
पुण्यास्ते करुणामृतार्द्र मनसो ये नाम वाचंयमाः,
हस्तारोपितशर्मणि प्रतिकलं वृत्ताः शुभे कर्मणि ॥

कुन्तल ! वयमिदानीं सर्वस्वपरित्यागमीहामहे ।

[प्रविश्य] कपिञ्जलः—देव प्रत्यासन्नं पश्य—

राजा—किं सर्वस्वपरित्यागम् ?

कपिञ्जलः—नहि, मुनीनामाश्रमम् ।" इति ।

इस श्लोकमें मुख्य रूपसे वसन्तमें होनेवाले कोकिलके वियोगियों को मार डालनेवाले अर्थात् अत्यन्त सन्तापदायक कलरवका वर्णन है । परन्तु प्रकृतमें कंसको मारनेवाले कृष्ण के साथ भी उसका सम्बन्ध है । 'अन्यतः प्रसूतः', 'अन्येन वर्धितः', 'परपुष्टः' आदि सब पद कोकिलके वाचक भी होते हैं और कृष्णपरक भी । कोकिलका नाम 'परभृत' भी है । क्योंकि कोकिल अपने बच्चोंका पालन कौओंके द्वारा कराता है । कृष्ण भी परभृत दूसरेके द्वारा पाले हुए हैं । 'कृष्णः' तथा 'मधुप्रभवः' पद भी कोकिल पक्ष तथा कृष्ण दोनोंमें लगते हैं । यह कोकिल वियोगी जनों को सन्तापदायक होता है । मुख्य रूपसे यहां उसका ही उल्लेख है । किन्तु अन्यार्थक होनेपर भी वह वाक्य प्रस्तुत कंसके वचनके साथ मिल गया है । इसलिए यह गण्डका उदाहरण बन गया है ।

अथवा जैसे सत्य हरिश्चन्द्रमें—

"राजा—कपिञ्जल जरा आगे बढ़कर देखो कि आश्रम कितनी दूर है ?

[जो आज्ञा, कहकर कपिञ्जल बाहर चला जाता है] ।

राजा—[खेदपूर्वक]—

भ्रूणहत्या करने वाले मुझको धिक्कार है । मेरे पापी जीवनको धिक्कार है । सारे भूमण्डलके लोगोंको करों द्वारा सन्ताप देकर प्राप्त की गई मेरी इस लक्ष्मीको धिक्कार है । करुणासे आर्द्र हृदय वाले और मौन धारण करने वाले जो [मुनिगण] अनायास सुख प्रदान करनेवाले [हस्तारोपितशर्मणि] शुभ कामोंमें प्रतिक्षण लगे रहते हैं वे धन्य हैं ।

कुन्तल ! अब हम सर्वस्व दरित्याग कर [मुनिव्रत ग्रहण करना] चाहते हैं ।

कपिञ्जल—[प्रविष्ट होकर] देव ! समीप आ गया है उसको देखिए ।

राजा—क्या ! सर्वस्व परित्यागको [देखूं] ?

कपिजल—जी नहीं, मुनियोंके आश्रमको ।"

इसमें अन्य अभिप्रायसे कहा गया कपिञ्जलका वचन, प्रस्तुत राजाके वचनके साथ

(४) अथ प्रपञ्चः—

[सूत्र १४५]—प्रपञ्चः सस्तवं हास्यं मिथो मिथ्यैकलाभकृत् ॥ [३२]६७॥

यथा रत्नावल्यां राजा कदलीगृहे चित्रगतां सागरिकां पश्यन् सुसङ्गताया दर्शने फलकं प्रच्छाद्य तामाह—

"राजा—सुसङ्गते कथमिहस्थो भवत्या ज्ञातः ?

सुसङ्गता—भट्टा न केवलं तुवं, समं चित्तफलएण सव्वो वुत्तंतो मए जाणिदो, ता गडुय देवीए निवेदइस्सं। [भर्तः ! न केवलं त्वं, समं चित्रफलकेन सर्वो वृत्तान्तो मया ज्ञातः, तद् गत्वा देव्यै निवेदयिष्यामि। इति संस्कृतम्]।

वसन्तकः—(अपवार्य) भो ! सव्वं संभवीयदि। मुहरा खु एसा गब्भदासी, ता किंचि दइय परिदोसेहि णं। [भो। सर्वं सम्भाव्यते। मुखरा खलु एषा गर्भदासी, तत् किंचिद् दत्वा परितोषय एनाम्]।

राजा—[सुसङ्गताया अलकान् प्रमार्जयन्] सुसंगते ! क्रीडामात्रकमेवैतत्। तथापि नाकारणे त्वया देवी खेदयितव्या। इदं च ते पारितोषिकम्। [इति कर्णाभरणं ददाति]।

सुसङ्गता—[प्रणम्य सस्मितम्] भट्टा पसादो मे कण्णाभरणेण।

भर्तः ! प्रसादो मे कर्णाभरणेन।" इत्यादि।

अत्र राज-सुसङ्गतयोर्मिथो 'देव्यै निवेदयिष्यामि' इति हास्यम्। 'भट्टा पसादो' इति स्तवसहितमेकस्य राज्ञः सागरिकासङ्गमलाभकारणं प्रपञ्चोऽसद्भूतत्वात्। सुसङ्गताकर्णाभरणलाभस्तु मुख्यसाध्यं प्रत्यनुपयोगित्वान्न विवक्षितः।

मिलकर भावी अनिष्टका सूचक हो गया है। इसलिए यह भी गण्डका उदाहरण है। इसके पूर्व पताका स्थानके रूपमें भी इसका वर्णन आ चुका है।

४ अब प्रपञ्च [नामक चतुर्थ वीथ्यङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १४५]—किसी एकको लाभ प्रदान करने वाला, स्तुति सहित मिथ्या हास्य प्रपञ्च [कहलाता] है ॥ [३२] ६७ ॥

जैसे रत्नावलीमें, कदलीगृहमें सागरिकाके चित्रको देखते हुए राजा, सुसंगताको देखकर चित्रफलकको ढककर [उससे कहते हैं]—

राजा—सुसंगते ! हम यहाँ बैठे हैं यह तुमको कैसे मालूम हुआ ?

सुसंगता—हे स्वामिन् ! न केवल आप, अपितु चित्रफलकके सहित समस्त वृत्तान्त मुझको मालूम हो गया है। सो मैं जाकर देवीसे कहूँगी।

वसन्तक—[दूसरा न सुन पाए इस प्रकार—अपवार्य—राजासे कहता है] अरे ! सब कुछ हो सकता है। यह गर्भदासी बड़ी वाचाल है इसलिए इसे कुछ देकर सन्तुष्ट करो।

राजा—[सुसंगताके बालोंको संवारता हुआ] सुसंगते ! यह सब तो केवल खेल-मात्र है फिर भी तुम देवीको व्यर्थ ही कष्ट मत देना। लो यह तुम्हारा पारितोषिक है। [यह कहकर कानोंका आभूषण देता है]।

सुसंगता—[मुस्कराती हुई प्रणाम करके] हे स्वामिन् ! यह कर्णाभरण मुझे पुरस्कार में दे रहे हैं।" इत्यादि।

इसमें 'देवीसे जाकर निवेदन करूँगी' [यहाँसे लेकर] 'भर्तः ! यह [कर्णाभरण मेरा]

केचित् त्वसद्भूतेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना योऽन्योऽन्यस्तवो हास्यहेतुस्तं प्रपञ्चमाहुः। यथा—

"रंडा चंडा दिक्खिदा धम्मदारा
मज्जं मंसं खज्जए पिज्जए वा।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा
कोलो धम्मो कस्स नो भादि रम्मो।

[रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा, मद्यं मांसं खाद्यते पीयते वा।
भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या, कौलो धर्मः कस्य नो भाति रम्यः॥"
इति संस्कृतम्]

अन्ये तु द्वयोर्लाभं विना मिथ्यारूपं हास्यं संस्तवयुक्तं प्रपञ्चत्वेन मन्यन्ते। यथा प्रयोगाभ्युदये—

"तरङ्गदत्तकचेटी—अम्मो अयं खु एसो संचारिमं उवहासपट्टणं अय्यभंडीरवो इदो य्येवा गच्छदि।

[अहो अयं खल्वेष संचरिष्णूपहासपत्तनं आर्यभण्डीरव इत एवागच्छति।
इति संस्कृतम्।

विदूषक—उपसृत्य भोदी! सागदं ते।

[भवति! स्वागतं ते]।

चेटी—[स्वगतम्] परिहासइस्सं दाव णं। [प्रकाशम्] को दाणि एसो अम्हाणं

पुरस्कार है' [यहाँ तक] यह स्तुति सहित; राजा और सुसंगताका परस्पर हास्य है। एक अर्थात् राजाको सागरिकाकी प्राप्ति रूप लाभका कारण है। और मिथ्या व्यवहार रूप होनेसे प्रपञ्च है। सुसंगताको कर्णाभरणकी प्राप्ति [प्रपञ्चके लक्षणमें कहे हुए 'एकलाभकृत्' पदसे यहाँ] मुख्य साध्यके प्रति अनुपयुक्त होनेसे विवक्षित नहीं है।

कुछ लोग असद्भूत परदाराभिगमन आदिके नैपुण्यके द्वारा जो एक-दूसरेकी स्तुति हास्यका कारण है उसको प्रपञ्च कहते हैं। जैसे—

उत्कट [कामवेग वाली] रंडियाँ [जिस धर्ममें] दीक्षाप्राप्त धर्मदारा [समझी जाती] हैं, मद्य और मांस [स्वेच्छा-पूर्वक] खाया-पिया जाता है। [जिस धर्ममें] भिक्षा ही भोजन है, और चर्मका टुकड़ा ही शय्या है ऐसा कौल [वाममार्गी सम्प्रदायका] धर्म किसको सुन्दर [आकर्षण करने वाला] नहीं लगता है।

इसमें कौल धर्मके अनुयायी किसी साथीका उपहास करते हुए उसमें परदाराभिगमन आदि दिखलाकर उसकी हास्यकर स्तुति की गई है इसलिए यह दूसरे लक्षणके अनुसार प्रपञ्चका उदाहरण है।

अन्य लोग तो दोनों [मेंसे किसी] के लाभके बिना ही प्रशंसायुक्त मिथ्या हास्यको प्रपञ्च कहते हैं। जैसे प्रयोगाभ्युदयमें—

"तरंगदत्तकी दासी—अरे सञ्चरणशील उपहास-नगर रूप यह आर्य भण्डीरक इधर ही आ रहे हैं।

विदूषक—[पास आकर] आपका स्वागत है।

पेसणयारओ चेडउ त्ति।

[परिहासयिष्यामि तावदेनम्। क इदानीमेषोऽस्माकं प्रेषणकारकश्चेटक इति।

विदूषकः—अहं घडदासीणं सामिगो।

[अहं घटदासीनां स्वामिकः]।

चेटी—किं चेडउ त्ति भणिदे कुविदो तुमं।

[किं चेटक इति भणिते कुपितस्त्वम्]

विदूषक :—को दाणि विसेसो घडदासीणं कुभदासीणं च ?

[क इदानीं विशेषो घटदासीनां कुंभदासीनां च] ?

चेटी—मा कुप्प भट्टउत्तो त्ति भणिस्सं।

[मा कुप्य, भर्तृपुत्र इति भणिष्यामि]।

विदूषकः—भोदी ! तुवं पि मा कुप्प अज्जा इति भणिस्सं।

[भवति ! त्वमपि मा कुप्य, आर्या इति भणिष्यामि]।

चेटी—अहो भट्टउत्तस्स गदी।

[अहो भर्तृपुत्रस्य गतिः]।

विदूषकः—अहो अदिरूआ अज्जया।

[अहो अतिरूपा आर्यका]" इति॥ [३२] ६७॥

(५) अथ त्रिगतम्—

[सूत्र १४६]—त्रिगतं शब्दसाम्येन भिन्नस्यार्थस्य योजनम्।

भिन्नस्य प्रस्तुतादन्यस्य। त्रिगतमनेकार्थगतं शब्दस्यानेकार्थत्वात्। तेन द्व्यर्थ-

---

चेटी—[स्वगत] इससे तनिक मजाक कर लूँ। [प्रकाश] यह हमारा प्रेषण कराने वाला कौन दास है।

विदूषक—मैं घटदासियोंका स्वामी हूँ। [घटदासीका अर्थ जन्मसे दासी है]।

चेटी—क्या चेट कहनेसे आप नाराज हो गए ?

विदूषक—घटदासी और कुम्भदासीमें क्या भेद है ?

चेटी—नाराज न हों अब 'भर्तृपुत्र' कहूँगी।

विदूषक—आप भी नाराज न हों अब 'आर्या' कहा करूँगा।

चेटी—ओहो भट्टपुत्रकी चाल [कैसी सुन्दर है] !

विदूषक—अहो आर्याका रूप कैसा सुन्दर है !

दोनोंमेंसे किसीके भी लाभके बिना यह मिथ्या संस्तवयुक्त हास्य वचन है। यह दूसरे मतसे प्रपञ्च नामक वीथ्यङ्गका उदाहरण है॥[३२]६७॥

५ त्रिगतनामक पञ्चम वीथ्यङ्ग—

अब त्रिगत [का लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १४६]—शब्दकी समानताके कारण [अनेकार्थक शब्दको प्रस्तुत अर्थसे] भिन्न अर्थ निकलना 'त्रिगत' [कहलाता] है।

शब्दोंकी समानताके कारण [अन्यार्थक शब्दोंसे] अन्य अर्थकी योजना 'त्रिगत' [कहलाता] है। जैसे 'देवीचन्द्रगुप्त' के द्वितीय अंकमें प्रजाओंके आश्वासनके लिए राजा राम-

मपि । यथा देवीचन्द्रगुप्ते द्वितीयेऽङ्के प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवीसम्प्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेनारिवधार्थं यियासुः, प्रतिपन्नध्रुवदेवीनेपथ्यः कुमारचन्द्रगुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते—

यथा—

"राजा—प्रतिष्ठोक्तिषु न खल्वहं त्वां परित्यक्तुमुत्सहे ।

प्रत्यग्रयौवनविभूषणमङ्गमेतद्,
रूपश्रियं च तव यौवनयोग्यरूपम् ।
सक्तिं च मय्यनुपमामनुरुध्यमानो
देवीं त्यजामि बलवांस्त्वयि मेऽनुरागः ॥

अन्यस्त्रीशंकया ध्रुवदेवी—यदि भत्तिं अवेक्खसि तदो मं मंदभाइणिं परिच्चयसि ।

[यदि भक्तिमपेक्षसे ततो मां मन्दभागिनीं परित्यजसि] ।

राजा—अपि च, त्यजामि देवीं तृणवत् त्वदन्तरे ।

ध्रुवदेवी—अहं पि जीविदं परिच्चयंती अज्जउत्तं पढमयरं य्येव परिच्चइस्सं ।

[अहमपि जीवितं परित्यजन्ती आर्यपुत्रं प्रथमतरमेव परित्यक्ष्यामि ।'

राजा—त्वया विना राज्यमिदं हि निष्फलम् ।

ध्रुवदेवी—ममावि संपद निष्फलो जीवलाओ सुहपरिच्चयणीओ भविस्सदि ।

[ममापि साम्प्रतं निष्फलो जीवलोकः सुखपरित्यजनीयो भविष्यति ।]

गुप्तके द्वारा ध्रुवदेवीको शकराजको दे देना स्वीकार कर लेनेपर ध्रुवदेवीका वेष धारण करके शत्रुके बधके लिए जाने वाले कुमार चन्द्रगुप्तको लक्ष्य करके कहते हैं—

राजा—प्रतिष्ठा-वचनोंके अवसरपर मैं तुमको भुला नहीं सकता हूँ ।

मैं [यद्यपि] देवीका परित्याग करने जा रहा हूँ किन्तु अभिनव यौवनसे रमणीय तुम्हारी यह देह, यौवनके अनुरूप इस रूप-सौन्दर्य, और अपने प्रति अनुपम प्रेमको देखकर तुम्हारे प्रति मेरा प्रबल अनुराग है ।

ध्रुवदेवी—[चन्द्रगुप्तको दूसरी स्त्री समझ कर] यदि इसके प्रेमकी अपेक्षा है तो [इसका अर्थ यह है कि अपने प्रति अनन्य अनुराग रखने वाली] मुझ मन्दभागिनीका परित्याग कर रहे हैं ।

राजा—और तुम्हारे कारण [अर्थात् तुम देवीकी रक्षा कर ही लोगे ऐसा मानकर दूसरे पक्षमें तुम्हारे प्रेमके वशीभूत होकर] मैं तृणके समान देवीका परित्याग कर रहा हूँ । [अर्थात् शकराजको देवीके दे देनेको स्वीकार कर रहा हूँ] ।

ध्रुवदेवी – [आपके इस परित्यागसे खिन्न होकर] मैं भी अपने जीवनका परित्याग करके आर्यपुत्रको पहिले ही छोड़ दूँगी ।

राजा—[चन्द्रगुप्तके प्रति] तुम्हारे बिना मेरा यह राज्य व्यर्थ है ।

ध्रुवदेवी—मेरे लिए भी अब यह जीवलोक निष्फल है । उसे मैं सरलतासे परित्याग कर सकूँगी ।

राजा—किन्तु देवी मेरी विवाहिता पत्नी है इसलिए उनके प्रति मुझे दया आती है ।

राजा—ऊढेति देवीं प्रति मे दयालुता ।

ध्रुवदेवी—इयं अज्जउत्त ! ईदिसी दयालुदा, जं अणवरद्धो जणो अणुगदो एवं परिच्चईयादि ।

[इयमार्यपुत्र ! ईदृशी दयालुता यदनपरद्धो जनोऽनुगत एवं परित्यज्यते] ।

राजा—त्वयि स्थितं स्नेहनिबन्धनं मनः ॥

ध्रुवदेवी—अदो य्येव मंदभागा परिच्चइयामि ।

[अत एव मन्दभागा परित्यज्ये] ।

राजा—त्वय्युपारोपितप्रेम्णा त्वदर्थे यशसा सह ।
परित्यक्ता मया देवी जनोऽयं जन एव मे ॥

ध्रुवदेवी—हंजे ! इयं सा अय्यउत्तस्स करुणदा ।
[हंजे ! इयं सा आर्यपुत्रस्य करुणता] ।

सूत्रधारी—देवि ! पडंति चंदमंडलाउ चुडुलीओ, किं एत्थ करीयदि ।

[देवि ! पतन्ति चन्द्रमण्डलादप्युलकाः, किमत्र क्रियते] ?

राजा—देवीवियोगदुःखार्तांस्त्वमस्मान् रमयिष्यसि ।

ध्रुवदेवी—वियोगदुक्खं पि दे अकरुणस्स अस्थि य्येव ?

[वियोगदुःखमपि तेऽकरुणस्यास्त्येव] ?

राजा—त्वद्दुःखस्यापनेतुं सा शतांशेनापि न क्षमा ॥" इति ॥

एतत् स्त्रीवेषधारिचन्द्रगुप्तबोधनार्थमभिहितमपि विशेषणसाम्येन देव्या स्त्रीविषयं प्रतिपन्नमिति भिन्नार्थयोजनम् । एवं त्र्यर्थमपि श्लेषादिवशादुदाहार्यम् ।

ध्रुवदेवी—हे आर्यपुत्र ! यह [आपकी] ऐसी दयालुता है कि अपने प्रति अनुरक्त और अनपराधी सेविका [मुझ] को छोड़ रहे हैं ।

राजा—[चन्द्रगुप्तके प्रति] किन्तु तुम्हारे प्रेमके कारण मेरा मन तुममें लगा हुआ है ।

ध्रुवदेवी—इसीलिए मुझ मन्दभागिनीका परित्याग कर रहे हैं ?

राजा—तुम्हारे ऊपर प्रेम [विश्वास] करके तुम्हारे लिए [अर्थात् तुम देवीकी रक्षा शत्रुवध करके अवश्य कर सकोगे ऐसा मानकर, देवीपरित्यागका वचन देकर] यशके साथ-साथ मैंने देवीका परित्याग कर दिया और यह प्रजाजन तो मेरे प्रजाजन ही ठहरे ।

ध्रुवदेवी—हंजे ! यह आर्यपुत्रकी वह करुणता है [जो मेरे प्रति रखते हैं] ।

सूत्रधारी—देवि ! चन्द्रमण्डलसे भी यह उल्कापात हो रहा है अब इसमें क्या किया जा सकता है ।

राजा—देवीके वियोगके दुःखमे दुःखी हमको अब [शत्रुका वध करके देवीकी रक्षा द्वारा] तुम ही सुखी बनाओगे ।

ध्रुवदेवी—करुणा-रहित आपको वियोग-दुःख बना ही है ?

राजा—तुम्हारे दुःखको दूर कर सकनेमें वह तनिक भी समर्थ नहीं है ।"

स्त्री-वेषधारी चन्द्रगुप्तको बोधित करनेके लिए कहे हुए भी ये सब वचन विशेषणोंकी समानताके कारण ध्रुवदेवीने अन्य स्त्री-परक समझ लिए हैं इसलिए यह भिन्नार्थमें उनकी योजना [होनेसे त्रिगत नामक वीथ्यङ्गका उदाहरण] है । इसी प्रकार श्लेषादिके द्वारा तीन

अथवा श्रुतिसारूप्येणैकस्यैव प्रश्नरूपतया सतः प्रतिवचनतया भिन्नार्थस्य योजनम्।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

सर्वक्षितिभृतां नाथ ! दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन् त्वया विरहिता मया॥

अत्र प्रश्ने महीभृतः प्रतिशब्देनैतदेवोत्तरम्।

यद्वा शब्दोऽव्यक्तध्वनिमात्रं, तत्साम्येनानेकार्थयोजनं 'त्रिगतम्'। यथा इन्दुलेखायां वीथ्याम्—

"राजा—वयस्य—

किं नु कलहंसनादो मधुरो ? मधुपायिनां नु झङ्कारः ?
हृदयगृहदेवतायास्तस्याः नु सनूपुरश्चरणः ? ॥इति॥"

(६) अथ छलम्—

[सूत्र १४७]—वचोऽन्यार्थं छलं हास्य-वञ्चना-रोषकारणम् ॥[३३]९८॥

अर्थोंसे सम्बद्ध]त्रिगत] का उदाहरण समझ लेना चाहिए।

अथवा प्रश्न रूपसे स्थित एक ही वचनको शब्दकी समानतासे उत्तरके रूपमें लगानेसे भिन्नार्थमें योजना ['त्रिगत' कहलाती] है। जैसे विक्रमोर्वशी में—

[उर्वशीके चले जानेपर उसके वियोग दुःखसे पागल हुआ राजा इधर-उधर उसको खोजता फिरता है और वह हिमालय पर्वतसे उर्वशीके विषयमें प्रश्न करता हुआ कहता है] हे समस्त पर्वतोंके स्वामिन् ! इस सुन्दर वन-भागमें मुझसे अलग हुई सर्वाङ्ग-सुन्दरी स्त्री [अर्थात् उर्वशी] को क्या आपने देखा है ?

इस प्रश्नके करनेपर प्रतिध्वनि द्वारा पर्वतका यही उत्तर है।

पर्वतकी ओरसे उत्तरके रूपमें इन शब्दोंका अर्थ यह होगा कि—हे समस्त राजाओंके अधिपति [महाराज] ! 'त्वया विरहिता' तुमसे वियुक्त हुई, सर्वाङ्ग-सुन्दरी स्त्रीको 'मया' मैंने इस सुन्दर वन-भागमें देखा है। इसमें प्रश्न कालमें 'मया विरहिता त्वया दृष्टा' यह अन्वय होता है। और उत्तर-पक्ष में 'त्वया विरहिता मया दृष्टा' यह अन्वय होता है। इसी प्रकार 'सर्वक्षितिभृतां नाथ' का अर्थ दोनों पक्षोंमें भिन्न हो जाता है। प्रश्न पक्षमें क्षितिभृत् का अर्थ पर्वत और उत्तर पक्षमें क्षितिभृत् का अर्थ राजा होता है।

अथवा शब्दसे अव्यक्त ध्वनिमात्र [लेना चाहिए], उसकी समानतासे अनेकार्थकी योजना 'त्रिगत' [नामक वीथ्यङ्ग कहलाता] है। जैसे इन्दुलेखा [नामक] वीथीमें—

राजा—हे मित्र !

क्या कलहंसोंका नाद या मधुपोंका झङ्कार मधुर है अथवा मेरे हृदयमन्दिरकी उस देवताके नूपुर [की ध्वनिसे युक्त] चरण [अधिक मधुर हैं] ?

(६) छल नामक छठा वीथ्यंग—

अब 'छल' [नामक अन्य षष्ठ वीथ्यङ्गका लक्षण करते हैं]।

[सूत्र १४७]—दूसरेके लिए प्रयुक्त, हास्य, वञ्चना या रोषके जनक वचनका प्रयोग 'छल' [कहलाता] है। [३३] ९८।

प्रयोजनान्तरेण प्रयुक्तं यद्वचनमन्यस्य, अन्यस्य हास्य-वञ्चना-रोषकारणं तद्व-ञ्चनाहेतुत्वाच्छलम् । यथा—

"कस्स व न होइ रोसो दट्ठूण पियाए सव्वणं अहरं
सभमरपउमग्घाइरि वारियवामे सहसु इण्हिं ॥
[कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सुव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥
इति संस्कृतम्] ।"

एतद्वचः सख्या भर्तृप्रत्यायनप्रयोजनेनोक्तं विदग्धजनस्य हास्यं श्वशुरा-देर्वञ्चनां सपत्न्या रोषं जनयतीति ॥ [३३] ६८ ॥

(७) अथासत्प्रलापः—

[सूत्र १४८]—असत्प्रलापस्तत्त्वेन हितं यन्नावगम्यते ।

परमार्थतो हितमुपकारपर्यवसायि यद्वचनं अविवेचकत्व-मौर्ख्याभ्यां तत्त्वेन हितत्वेन नैवावबुध्यते अविवेचकैर्मूर्खैश्च, तत् तौ प्रति असतो असाधुभूतस्य प्रलपनमसत्प्रलापः ।

तत्राविवेचकं प्रति यथा रामाभ्युदये द्वितीयेऽङ्के—

"रावणः—प्रायशः श्रुतमेव भवद्भिर्यथा कलत्रमात्रसाधनोऽसौ तापसस्तदपहार एव तावन्निरूप्यताम् । न च कलत्रापहरणादृते पुरुषास्यापरं परिभवस्थानमस्ति । तत्र मारीचेन साहायकं क्रियमाणमिच्छामि ।

अन्य प्रयोजनसे प्रयुक्त किया गया दूसरे व्यक्तिका जो वचन दूसरेके लिए हास्य वञ्चना अथवा रोषका कारण हो वह वञ्चनाका हेतु होनेसे 'छल' कहलाता है । जैसे—

अपनी प्रियाके अधरमें [दन्तक्षतका] घाव देखकर किसको क्रोध नहीं आता है ? इसलिए मना करनेपर भी न मानने वाली, और भ्रमर-युक्त कमलको सूंघने वाली अब [भ्रमरके काट लेनेसे बने अधरव्रणके कारण अपने पतिके क्रोध को] भोग ।

यह वचन सखीने [नायिकाकी रक्षाके लिए उसके] स्वामीको [यह] विश्वास दिलाने के लिए [कि इसके परपुरुष-द्वारा अधरव्रण नहीं हुआ है अपितु भ्रमरके काट लेनेसे व्रण हुआ है] कहा जानेपर भी विदग्ध लोगोंमें हास्य, श्वशुरादिकी वञ्चना तथा सपत्नीमें रोष उत्पन्न करता है ॥ [३३] ६८ ॥

(७) असत्प्रलाप नामक सातवाँ वीथ्यंग :—

अब असत्प्रलाप [नामक सप्तम वीथ्यङ्गका लक्षणादि कहते हैं] ।

[सूत्र १४८]—जिस हितकारी वचनको यथार्थ रूपमें ग्रहण नहीं किया जाता है वह 'असत्प्रलाप' है ।

वास्तवमें हितकारी अर्थात् लाभ पहुँचने वाला होनेपर भी [सुनने वालेके] अवि-वेकत्व अथवा मूर्खताके कारण हितकारी रूपसे ग्रहण नहीं किया जाता है वह उन दोनोंके प्रति असत् अर्थात् अहितकर प्रलापके समान होनेसे 'असत्प्रलाप' [कहलाता] है ।

उनमेंसे अविवेचकके प्रति [असत्प्रलापका उदाहरण] जैसे रामाभ्युदयके द्वितीयांकमें—

रावण—तुमने यह तो शायद सुना ही है कि उस तापसके पास केवल एक स्त्री

मारीचः—स्वामिन् ! जीवतो रामस्य परिभव इत्यशक्यमेतत् । न खलु तापस इति तमवज्ञातुमर्हति[1] देवः । अन्यदेव वस्त्वन्तरं किमपि तत् ।

रावणः—[सक्रोधम्] आः किं नाम वस्त्वन्तरं तत् ? मूढ़ !

युक्त्यैव क्षत्रबन्धोः परिभवमसमं जीवतः कर्तुमिच्छन्,
मायासाहायके त्वं निपुणतर इति प्रार्थये नासमर्थः ।
यच्चान्यत् तत्र बज्रप्रहृतिमसृणितस्फारकेयूरभाजः,
सज्जास्त्रैलोक्यलक्ष्मीहठहरणसहा बाहवो रावणस्य ॥"

अत्र मारीचवचनं परमार्थतो हितमपि रावणेन नावगतम् ।

मूर्खं प्रति, यथा भीमटविरचिते 'मनोरमावत्सराजे' वत्सराजाभ्युदयशंसी रुमण्वान् पांचालमुच्छेत्तुकामस्तस्य कृतकभृत्यतां श्रितो विश्वासोत्पादनार्थं वत्सराजान्तरःपुरमादीप्य यौगन्धरायणप्रमुखानाह—

"कौशाम्बी मम हस्त एव परया शक्त्या मया स्वीकृतः,
पंचालाधिपतिः प्रभुः स भवतां न ज्ञायते क्वाधुना ।
नन्वादीपित एष मोहितपरानीकेन लावाणको,
देवी सम्प्रति रक्ष्यतामयमहं प्राप्तो रुमण्वान् स्वयम् ॥"

ही है । इसलिए उसका अपहरण ही सबसे पहले करना चाहिए । स्त्रीके अपहरणसे अधिक पुरुषके लिए अपमानका दूसरा स्थान नहीं है । इसमें मारीच सहायता करे ऐसा मैं चाहता हूँ ।

मारीच—स्वामिन् ! रामके जीते रहते उसका अपमान हो सके यह असम्भव है । वह कोई साधारण तापस है यह समझकर उसकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए । वह कुछ और ही चीज़ है ।

रावण—[सक्रोध होकर] अरे वह कौनसी दूसरी चीज़ है ? मूर्ख—

उस नीच क्षत्रियके जीते रहते ही युक्तिसे उसका अपमान करनेके लिए ही, तू धोखा देनेमें अधिक चतुर है ऐसा समझकर तुमसे कहा था, मैं असमर्थ हूँ ऐसा मत समझना । और वह जो कुछ और है उसके लिए बज्रके प्रहारोंसे चिकने हुए बाजूबन्दोंको धारण करने वाले और तीनों लोकोंकी लक्ष्मीको बलात् हरणकर सकनेमें समर्थ, मेरे [रावणके] बाहु तैयार हैं ।

यहाँ मारीचका वचन वास्तवमें हितकर होनेपर भी रावणने [हितकर] नहीं समझा ।

मूर्खके प्रति—जैसे भीमट [कवि] विरचित मनोरमावत्सराजमें वत्सराजकी उन्नति की कामना करने वाले [मन्त्री] रुमण्वान् पाञ्चालराजको नाश करनेकेलिए उसके बनावटी भृत्य बनकर उसको विश्वास दिलानेके लिए वत्सराजके [लावाणक बनमें स्थित होनेके समय] अन्तःपुरमें आग लगाकर यौगन्धरायण आदिसे कहते हैं—

कौशाम्बीको मेरे हाथमें ही समझो । अत्यन्त शक्तिशाली होनेके कारण [उसपर नीतिसे ही विजय प्राप्त करनी होगी ऐसा मानकर] मैंने पाञ्चालराजको [बनावटी रूपसे] अपने स्वामी रूपमें स्वीकार किया है । आपके वे प्रभु [उदयन] न मालूम कहाँ हैं । शत्रुकी सेनाको भ्रममें डालने वाले मैंने इस लावाणक [वन] को आग लगा दी है, अब [इस लावा-

---

१. मर्हति ।

एतच्च परमार्थतः पांचालोच्छेदपरं यौगन्धरायणेनावबुद्धम्। वासवदत्तया सम्भ्रमकनाम्ना यौगन्धरायणानुचरेण च मौर्ख्यान्नावगतम्।

यथा वा व्यसनिना राजपुत्रेण किं सुखमिति पृष्टे मन्त्रिपुत्रेणोच्यते—

"सर्वदा योऽक्षविजयी सुरासेवनतत्परः।
तस्यार्थानां सुखानां च समृद्धिः करगामिनी॥"

एतदपि मूर्खत्वात् प्रियांशे पाशकविजय-मद्यपानरूपे गृह्यते, न त्विन्द्रियविजय-देवताराधनरूपे हितांशे इति।

अन्ये तु बालोत्कण्ठितादीनामसम्बद्धकथाप्रायमसत्प्रलापमिच्छन्ति। यथा—

"एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति व्यालुप्तसंख्याक्रमाः,
वाचः क्रौंचरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्णन्तु वः॥"

यथा वा रघुविलासे सीताविरहितो रामः —

"अरण्ये मां त्यक्त्वा हरिण! हरिणाक्षी क्व नु गता,
पराभूतो दृष्ट्वा कथयसि न चेन्मा स्म कथय।
अरे क्रीडाकीर! त्वमपि वहसे कामपि रुषं,
यदेवं तूष्णीकामनुसरसि वाचंयम इव॥" इति।

णकके शिविरमें स्थित] देवीको आप लोग बचा लो [इस बातका समाचार देनेके लिए मैं] रुमण्वान् स्वयं आया हूँ।

पाञ्चालराजके नाशके लिए यह [रुमण्वान्का प्रयोग है] इस बातको यौगन्धरायणने समझ लिया किन्तु वासवदत्ता तथा यौगन्धरायणके सम्भ्रम नामक अनुचरने मूर्खतावश नहीं समझा।

अथवा [उसी मनोरमावत्सराजमें] व्यसनी राजपुत्रके द्वारा सुख क्या है यह पूछे जाने पर मन्त्रिपुत्र कहता है—

जो सर्वदा अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करने वाला है और देवताओंकी सेवामें तत्पर रहता है उसके लिए अर्थ और सुखकी समृद्धि हस्तगत रहती है।

[यह इस श्लोकका विवक्षित अर्थ है किन्तु व्यसनी राजपुत्र] अपनी मूर्खताके कारण अपने प्रिय अंशमें [अक्षविजयी पदसे] द्यूतकी विजय, तथा [सुरासेवन पदसे] मद्य-सेवन अर्थ को लेता है। इन्द्रियविजय और देवताराधन रूप हितांशको नहीं।

दूसरे लोग तो असम्बद्ध कथायुक्त बालकोंकी उत्कण्ठा आदिके वर्णनको असत्प्रलाप मानते हैं। जैसे—

क्रौञ्चारि कार्तिकेयकी शिशुत्वके कारण असम्बद्ध एक, तीन, नौ, आठ, सात, छः आदि संख्या के क्रमसे रहित वाणी तुम्हारा कल्याण करें।

अथवा जैसे रघुविलासमें सीतासे विरहित राम [कहते] हैं—

हे हरिण! हरिणाक्षी [सीता] वनमें मुझको छोड़कर कहाँ चली गई है? क्या तुम मुझको देखकर डर जानेसे नहीं कह रहे हो, यदि ऐसी बात हो तो डरो मत, बतला दो। अरे क्रीडाके तोते! क्या तुम भी नाराज हो गए हो कि मौनियोंके समान इस प्रकार चुप्पी धारण किए हुए हो।

(८) अथ वाक्केली—

[सूत्र १४६]—प्रश्नोत्तरं तु वाक्केली हास्या वाक्-प्रतिवागपि ॥

[३४] ६६॥

प्रश्नस्य प्रश्नयोः प्रश्नानां वोत्तरं प्रश्नोत्तरम्। सहासा छेकोक्ति-प्रत्युक्तिर्वा। द्वयमप्येतद् वचनक्रीडारूपत्वाद् वाक्केली। यथा—

"नदीनां मेघविगमे का शोभा प्रतिभासते ?।
बाह्यान्तरा विजेतव्या के नाम कृतिनाऽरयः ? ॥"

अत्र 'अरय' इति एकत्र रयाभावो, अपरत्र शत्रव इति एकं प्रतिवचनम्। एवं बहूनामपि द्रष्टव्यम्। एतत्प्रश्नोत्तरम्।

छेकोक्ति-प्रत्युक्तिर्यथा—

"कोऽयं द्वारि ? हरिः, प्रयाह्युपवनं शाखामृगस्यात्र किं,
कृष्णोऽहं दयिते, बिभेमि सुतरां कृष्णात् पुनर्वानरात्।
मुग्धेऽहं मधुसूदनो, व्रज लतां तामेव तन्वीमलं,
मिथ्या सूचयसीत्युपेत्य धनिकां ह्रीतो हरिः पातु वः ॥"

---

(८) वाक्केली नामक अष्टम वीथ्यङ्ग—

अब 'वाक्केली' [का लक्षणादि करते हैं]—

[सूत्र १४६]—प्रश्नोत्तर अथवा हास्यपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर 'वाक्केली' कहलाती है [३४] ६६।

एक प्रश्नका, दो प्रश्नोंका, अथवा बहुत प्रश्नोंका उत्तर [यहाँ पर] प्रश्नोत्तर [कहलाता] है। अथवा हास्ययुक्त, चातुर्यपूर्ण, उक्ति-प्रत्युक्ति [ये दोनोंही वचनोंकी क्रीडा रूप होने से वाक्केली है]। जैसे—

बरसातके बाद नदियोंकी कैसी शोभा होती है ? और किन बाह्य तथा आन्तरोंको विजय करना चाहिए ? [ये दो प्रश्न हैं। इन दोनों प्रश्नोंका एक ही उत्तर देते हैं कि] 'अरयः'।

इसमें एक पक्षमें [अर्थात् प्रथम प्रश्नके उत्तरमें] 'अरयः' का अर्थ रयका अभाव अर्थात् वेगाभाव और दूसरे पक्षमें 'शत्रु' यह [दोनों प्रश्नोंका] एक ही उत्तर है। इसी प्रकार बहुत प्रश्नोंका भी [एक ही उत्तर] हो सकता है। यह प्रश्नोत्तर [रूप वाक्केलीका उदाहरण है]।

चातुर्यपूर्ण उक्ति-प्रत्युक्ति [का उदाहरण] जैसे—

अरे दरवाज़ेपर यह कौन है ? [यह धनिका राधिकाका प्रश्न है। इसका उत्तर कृष्ण देते हैं] हरि [अर्थात् मैं कृष्ण हूँ। 'हरि' शब्दका अर्थ कृष्ण भी होता है और बानर भी। कृष्णने तो हरि शब्दसे कृष्ण अर्थ लेकर अपना परिचय दिया था। किन्तु राधाने उसका वानर अर्थ लेकर कृष्णको उत्तर दिया कि यदि तुम वानर होतो] उपवनमें चले जाओ। यहाँ बन्दरका क्या काम ? [इस पर कृष्ण फिर] हे प्रिये ! मैं [बन्दर नहीं अपितु] कृष्ण हूँ। [इस पर राधा उसका काला बन्दर अर्थात् लंगूर अर्थ लेकर कहती है कि] काले बन्दरोंसे तो मैं बहुत डरती हूँ। [इस पर कृष्ण फिर मधूसूदन नामसे अपना परिचय देते हुए कहते हैं] अरी भोली प्रिये ! मैं [लंगूर नहीं] मधूसूदन हूँ। [राधा मधूसूदनका भ्रमर

केचित्तु साकांक्षस्य वाक्यस्य विनिवर्तनं वाक्केलीमधीयते । यथोत्तरचरिते—

"त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं,
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां,
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥" [३४] ६६ ॥

(६) अथ नालिका—

[सूत्र १५०]—हास्याय वञ्चना नाली—

परविप्रतारणकारि यदुत्तरं हास्याय हास्यनिमित्तं निगूढार्थत्वाद् भवति सा नाली व्याजरूपा प्रणालिका । यथा रत्नावल्यां सागरिका चित्रफलकार्थमागता कदलीगृहे वत्सराजं दृष्ट्वा बहिः स्थिता सुसङ्गतयोच्यते—

"सुसङ्गता—सहि जस्स कए तुवं आगदा सो एत्थ य्येव चिट्ठदि ।
[सखि यस्य कृते त्वमागता सोऽत्रैव तिष्ठति । इति संस्कृतम्] ।
सागरिका—[सकोपमिव] सहि कस्स ?
[सखि कस्य] ?
सुसङ्गता—[सहासम्] अयि अप्पसंकिदे णं पउत्तमहूसवे चित्तफलहयस्स ।

अर्थ लगाकर कहती है कि] तो फिर उसी कोमल लताके पास जाओ मुझे क्यों धोखा देते हो इस प्रकार धनिका] राधा के पास जाकर लज्जित हुए कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ।

कोई लोग साकांक्ष [अपरिसमाप्त] वाक्य वापिस कर लेने [अर्थात् कहते-कहते] को रोक लेनेको वाक्केली कहते हैं । जैसे उत्तरचरितमें—

तुम [अर्थात् सीता] मेरी प्राणस्वरूप हो, तुम ही मेरा दूसरा हृदय हो, तुम नेत्रोंके लिए कौमुदीरूप और अंगोंके लिए अमृतरूप हो । इस प्रकारके सैकड़ों प्रिय वचनोंसे उस भोली [सीता] को आश्वासन देकर अब उसको [तुमने घरसे निकाल दिया । इस बातको वासन्ती आगे कहना चाहती है, किन्तु उसको बीचमें ही रोक देती है] अथवा चुप रहो इसके आगे कहनेसे क्या लाभ ? ॥ ६६ ॥ [३४]

(६) नालिका नामक नवम वीथ्यङ्ग—

अब 'नालिका' [नामक नवम वीथ्यङ्गका लक्षण करते हैं]—

(सूत्र १५०) मजाक करनेके लिए धोखा देना 'नाली' [कहलाता] है ।

धोखा देने वाला जो उत्तर हास्यके लिए अर्थात् गूढार्थ होनेसे हास्यका जनक होता है वह नाली अर्थात् बहाना रूप [हास्यकी] प्रणालिका [होनेसे 'नाली' कहलाता है] । जैसे रत्नावलीमें चित्रफलकके लेनेके लिए आई हुई सागरिका कदलीगृहमें वत्सराज उदयनको बैठा देखकर बाहर रुक जाती है । तब सुसंगता उससे कहती है—

सुसङ्गता—हे सखि ! जिसके लिए तुम आई थीं यहीं स्थित हैं ।

सागरिका—[क्रुद्ध होती हुई सी] हे सखि ! किसके लिए [मैं आई थी] ?

सुसङ्गता—[हंसकर] अरी अपने आप शङ्का कर लेने वाली ! इस आनन्दके अवसर पर चित्र-फलकके लिए ।

[अयि आत्मशङ्किते ननु प्रवृत्तमधूत्सवे चित्रफलकस्य] ।

केचित् तु हास्यहेतुनोपेतां[1] निगूढार्थरूपां प्रहेलिकां नालीं मन्यन्ते । यथा 'बालिकावञ्चितके' पारिपार्श्विकः—

"तपनीयोज्ज्वलकरकं कुवलयारुचि भासमानमाकाशे ।
तेजोमयं दिनकराद् द्वितीयमाचक्ष्व मे भूतम् ॥"

अत्र निगूढो नारदलक्षणोऽर्थः सूत्रधारेणास्मिन्नेव श्लोके 'द्वितीयमेनं मुनिं पश्य' इति चतुर्थपादान्यथाकरणेन व्याख्यात इति ।

(१०) अथ मृदवम्—

[सूत्र १५१]—व्यत्ययो गुण-दोषयोः । मृदवम्

गुणानां दोषत्वं, दोषाणां च गुणत्वं येनोत्तरेण व्यत्ययो विपर्यासः क्रियते, तन्मृदा परपक्षमर्दनेन स्वपक्षमवति रक्षतीति मृदवम् ।

गुणस्य दोषीकरणं यथा वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के—

"जयद्रथमाता—जाद ! ते खु बंधुवधामरिसुद्दीविदकोवा समरे अणवेक्खिय-सरीरा परिकमिस्संति ।

[जात ! ते खलु बन्धुवधामर्षोद्दीपितकोपाः समरेऽनपेक्षितशरीराः परिक्रमिष्यन्ति ।
इति संस्कृतम्]

कुछ लोग हास्यके हेतु रूपमें प्राप्त होने वाली निगूढार्थ वाली 'प्रहेलिका' को 'नाली' बतलाते हैं । जैसे बालिकावञ्चितकमें पारिपार्श्विक [कहता है] ।

सोनेके समान चमकते हुए करों [किरणों और दूसरे पक्षमें हाथों] वाले, आकाशमें चमकते हुए और पृथिवी-मण्डलपर रुचि न रखने वाले, सूर्यको छोड़कर तेजोमय किसी अन्य भूत [प्राणी] को मुझे बतलाओ ।

यहाँ नारद रूप अर्थ छिपा हुआ है । सूत्रधारने [सूर्यसे भिन्न तेजोमय] 'इन मुनिको देखो' इस प्रकार चतुर्थ पादको बदलकर [अर्थात् 'द्वितीयमाचक्ष्व में भूतम्' के स्थानपर द्वितीय-मेनं मुनिं पश्य' ऐसा पाठ करके] बतलाया है ।

(१०) मृदव नामक दशम वीथ्यङ्ग—

अब 'मृदव' [नामक दशम वीथ्यङ्गका लक्षणादि कहते हैं]—

[सूत्र १५१]—गुण और दोषको बदल देना [अर्थात् गुणको दोष, और दोषको गुण बना देना] 'मृदव' कहलाता है ।

जिस उत्तरसे गुणोंका दोषत्व, और दोषोंका गुणत्व इस प्रकारका परिवर्तन हो जाता है वह मृदा अर्थात् दूसरे पक्षके मर्दन द्वारा अपने पक्षकी रक्षा [अवन] करनेके कारण 'मृदव' कहलाता है ।

गुणको दोष बना देने [रूप 'मृदव' का उदाहरण] जैसे वेणीसंहारके द्वितीय अंकमें—

जयद्रथकी माता—अरे बेटा ! बन्धु [अभिमन्यु] के वधके कारण अत्यंत क्रुद्ध हुए वे [पाण्डव लोग] अपने शरीरका भी मोह छोड़कर [युद्धभूमिमें] विचरण करेंगे [इसलिए उनसे सावधान होकर लड़ना चाहिए] ।

---

१ पेक्षां ।

राजा—[सोपहासम्] एवमेतत् । सर्वजनप्रसिद्धमेवामर्षित्वं पाण्डवानाम् । पश्य—

हस्ताकृष्टविलोलकेशवसना दुःशासनेनाज्ञया,
पांचाली मम राजचक्रपुरतो गौर्गौरिति व्याहृता ।
तस्मिन्नम्ब स किं न गाण्डिवधरो[1] नासीत् पृथानन्दनो,
यूनः क्षत्रियवंशजस्य कृतिनः क्रोधास्पदं किं न तत् । ?"

अत्र धनुर्धरत्वादयो गुणा दोषीकृताः ।

यथा नलविलासे—

"राजा—देवि ! उपालभ्यसे आभ्यन्तर-परिजनापराधेन ।

दमयन्ती—कहं विय ?

[कथमिव] ?

राजा—वक्त्रेन्दुः स्मितमातनोदधिगते दृष्टी विकासश्रियं,
बाहू कण्टककोरकाण्यबिभृतां प्राप्ता गिरो गौरवम् ।
किं नाङ्गानि तवातिथेयमसृजन् स्वस्वापतेयोचितं,
सम्प्राप्ते मयि नैतदुज्झति कुचद्वन्द्वं पुनः स्तब्धताम् ॥"

अत्र स्तब्धता स्तनगुणो दोषीकृतः ।

राजा—[उपहास करता हुआ] अच्छा यह बात । [पाण्डवोंके कोपसे हमें डरना चाहिए] किन्तु पाण्डवोंका कोप तो सब लोग जानते हैं [कि वे कोप करके भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते हैं] । देखो—

मेरी आज्ञासे दुःशासनके द्वारा राजाओंकी सभाके बीचमें द्रौपदीके केश और वस्त्रोंके हाथसे खींचे जानेपर [मैं तुम्हारी गौ हूँ मेरी रक्षा करो इस प्रकार अनेक बार] द्रौपदीसे गौ-गौ [ये दीनतापूर्ण शब्द] कहलवा लिए । [द्रौपदी गौ-गौ कहकर चिल्लाती रही] उस समय क्या गाण्डीवधारी अर्जुन नहीं था ? अथवा क्षत्रियवंशमें उत्पन्न हुए मनस्वी युवकके लिए क्या वह [अपनी पत्नीका ऐसा घोर अपमान] लज्जा-जनक नहीं था ?]

यहाँ [अर्जुनके] धनुर्धरत्व आदि गुणोंको दोष बना दिया है ।

अथवा जैसे नलविलासमें—

राजा—अपने भीतरी परिजनोंके अपराधके कारण तुमको उलाहना मिल रहा है ।

दमयन्ती—कैसे ?

राजा—[मेरे आनेपर तुम्हारा] मुखचन्द्र मुस्कराने लगा, दोनों नेत्र [विकासको प्राप्त हो गए] खिल उठे, बाहुओंमें रोमाञ्च हो आया और वाणी भारी हो गई । इस प्रकार क्या तुम्हारे अङ्गोंने अपनी-अपनी क्षमताके अनुरूप मेरा आतिथ्य या स्वागत नहीं किया ? [अर्थात् मेरे आनेपर तुम्हारे अन्य सारे अङ्गोंने मेरा स्वागत किया] किन्तु मेरे आने पर भी यह तुम्हारा स्तन-युगल अपनी स्तब्धता] अर्थात् कठोरता [और दूसरे पक्षमें जड़ता] को नहीं छोड़ रहा है ।

यहाँ स्तब्धता [कठोरता] स्तनोंका गुण है किन्तु उसको दोष बना दिया है ।

---

१ काण्डिवधरो ।

अपि चास्मदुपज्ञे 'सुधाकलशे'—

"लच्छी गिहीण भूसा अपत्तविज्जाण सा पुणो गरुई।
तत्तो पढेज्ज विज्जं आजम्मदुहंकरं सकन्नो॥
[लक्ष्मीगृहिणां भूषा, अप्राप्तविद्यानां सा पुनर्गुर्वी।
ततः पठेद् विद्यामाजन्मदुःखकरां सकर्णः। इति संस्कृतम्]"

अत्र निर्वेदाद् विबुधैर्विद्या गुणोऽपि दोषीकृतः।

दोषस्य गुणीकरणं यथा वेणीसंहारे कञ्चुकिना सह विवादे—

"दुर्योधनः—सूक्तमिदं कस्यापि—

गुप्तः साक्षात् महानल्पः स्वयमन्येन वा कृतः।
करोति महतीं प्रीतिमपकारोऽपकारिणाम्॥

येनाद्य द्रोण-कर्ण-जयद्रथादिनिहतमभिमन्युमुपश्रुत्योच्छ्वसितमिव [1]नश्चेतसा।'

अत्र क्षत्रधर्मं त्यक्त्वा अभिमन्युर्निहत इत्ययं दोषः, स्वप्रीतिहेतुत्वेन गुणीकृतः। यथा वा नलविलासे—

"सर्वेषामपि सन्ति वेश्मसु कुतः कान्ताः कुरङ्गीदृशो,
न्यायार्थी परदारविप्लवकरं राजा जनं बाधते।
आज्ञां कारितवान् प्रजापतिमपि स्वां पञ्चबाणस्ततः,
कामार्तः क्व जनो व्रजेत् परहिताः पण्याङ्गनाः स्युर्न चेत्॥"

और जैसे हमारे बनाये हुए सुधाकलशमें भी—

लक्ष्मी गृहस्थोंका भूषण है, और विद्या न पढ़े हुएका वह और भी बड़ा भूषण है। इसलिए आजन्म दुःख देने वाली विद्याको [सकर्ण : बड़े कानोंवाला गदहा] मूर्ख ही पढ़ेगा।

यहाँ विद्या रूप गुणोंको भी देवोंने निर्वेदके वशीभूत होकर दोष बना दिया है।

दोषको गुण बना देना जैसे वेणीसंहारमें कञ्चुकीके साथ विवादमें—

दुर्योधन—यह किसीका कथन बड़ा सुन्दर है कि—

अपने [अपकारियों अर्थात्] शत्रुओंके प्रति गुप्त रूपसे अथवा साक्षात् रूपसे छोटा या बड़ा स्वयं या दूसरेके द्वारा किया जाने वाला अपकार भी अत्यंत आनन्ददायक होता है।

इसीलिए आज द्रोण, कर्ण, जयद्रथ आदि [सात महारथियों] के द्वारा अभिमन्युके मारे जानेका समाचार सुनकर हमारा चित्त प्रसन्न हो उठा है।

यहाँ क्षात्र-धर्मका परित्यागकरके [सात महारथियोंने मिलकर] अभिमन्युको मार दिया यह [धर्मविरुद्ध होनेसे] दोष होनेपर भी अपनेलिए आनन्ददायक होनेसे गुण बना दिया गया है।

अथवा जैसे नलविलासमें—

सब लोगोंके घरमें तो मृगनयनी [सुन्दरी] स्त्रियाँ कहाँसे हो सकती हैं और न्यायकारी राजा दूसरोंकी स्त्रियोंको बिगाड़नेवाले लोगोंको दण्ड देता है। और कामदेवने स्वयं प्रजापतिसे भी अपनी आज्ञा पालन करवा ली [अर्थात् प्रजापति सदृश भी जब कामपर विजय प्राप्त न कर सके तब सामान्य मनुष्य कामपर विजय प्राप्त कर सकेगा यह तो असम्भव ही है। ऐसी दशामें] यदि वेश्याएं न हों तो कामार्त-जन [अपनी तृप्तिके लिए] कहाँ जाय?

१. उपसृतेद्धसितमिव।

अत्र पण्यस्त्रीत्वं दोषः शृङ्गारपुष्ट्यर्थं गुणीकृतः ।

अपि च यथा 'सुधाकलशे'—

ताण नमो निग्गुणसेहराण गुणिसलहिज्जजम्माणं ।
निअगुणविहलत्तभवा सिविणे वि न जाण अरईउ ॥

[तेभ्यो नमो निर्गुणशेखरेभ्यो गुणिश्लाघ्यमानजन्मभ्यः ।
निजगुणविफलत्वभवाः स्वप्नेऽपि न येषामरतयः ॥ इति संस्कृतम्]"

अत्र निर्वेदाद् गुणिभिर्निर्गुणत्वं दोषोऽपि गुणीकृतः ।

उभयमेकत्र यथा—

"सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः,
सर्वत्रैव जनापवादचकितास्तिष्ठन्ति दुःखं सदा ।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो,
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ॥

अत्र सत्त्वं गुणोऽपि दोषीकृतः । प्राकृतत्वं तु दोषोऽपि गुणीकृत इति ।

(११) अथोद्घात्यकम्—

[सूत्र १५१]—परस्परं स्यादुद्घात्यं गूढभाषणम् ॥ [३५] १०० ॥

पृच्छक-प्रतिवक्त्रोरन्योन्यं गूढार्थमुक्ति-प्रत्युक्त्यात्मकं भाषणं उद्घाते प्रश्नात्मके साधु उद्घात्यम् । यदा प्रष्टा विवक्षितोत्तरदानसमर्थः किन्तु यन्ममाभिप्रेतं तद् युक्तमयुक्तं वेत्यभिसन्धाय पृच्छति, प्रतिवक्ता चोचितमभिधत्ते तदा उद्घात्यमित्यर्थः ।

यहाँ वेश्यात्व रूप दोष भी शृङ्गारकी पुष्टिकेलिए गुण बना दिया गया है ।

और भी जैसे सुधाकलशमें—

गुणिजन भी जिनके जन्मकी प्रशंसा करते हैं उन निर्गुण-शिरोमणियोंको नमस्कार है । क्योंकि अपने गुणके विफल हो जानेका दुःख उनको स्वप्नमें भी नहीं होता है ।

यहाँ गुणियोंने वैराग्यके कारण निर्गुणत्व रूप दोषको भी गुण बना दिया है ।

[दोषको गुण बना देना और गुणको दोष बना देना इन] दोनोंका एकसाथ उदाहरण जैसे—

उत्तम कार्योंके करनेके अभ्यासी सज्जन पुरुष लोकापवादके भयसे यन्त्रणाग्रस्त और सदा कष्टमें रहते हैं । किन्तु उचित-अनुचितके विचारसे रहित, इसलिए की हुई भलाई-बुराईसे व्याकुल न होने वाले मूर्ख साधारण लोग धन्य हैं ।

यहाँ सज्जनता रूप गुणको भी दोष बना दिया गया है और मूर्खता रूप दोषको भी गुण बना दिया गया है ।

(११) उद्घात्यक नामक ग्यारहवाँ वीथ्यङ्ग—

अब 'उद्घात्यक'का [का लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १५१]—परस्पर गूढ़भाषणको 'उद्घात्यक' कहते हैं । १०० ॥

प्रश्नकर्ता और उत्तर देने वाले दोनोंके बीच परस्पर गूढार्थयुक्त उत्तर-प्रत्युत्तर रूप भाषण प्रश्नात्मक उद्घातमें साधु होनेसे 'उद्घात्यक' कहलाता है । जब पूछने वाला स्वयं विवक्षित उत्तर देनेमें समर्थ होनेपर भी, जो मेरा अभिप्रेत अर्थ है वह उचित है या अनु-

यथा 'पाण्डवानन्दे' सूत्रधार-पारिपार्श्विकयोरुक्ति-प्रत्युक्ती—

"का भूषा बलिनां क्षमा परिभवः को यः स्वकुल्यैः कृतः,
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः,
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरच्छन्नस्थितैः पाण्डवैः॥"

इति॥ [३५] १००॥

(१२) अथावलगितम्—

[सूत्र १५२]—तच्चावलगितं सिद्धिः कार्यस्यान्यमिषेण या।

विवक्षितप्रयोजनस्यान्यकार्यकरणव्याजेन सम्पत्तिर्यत्र तदन्यकार्यावलगनादवलगितम्। यथोत्तरचरिते समुत्पन्नवनविहारदोहदायाः सीताया दोहदकार्यमिषेण जनापवादादरण्ये त्यागः।

केचित् तु पात्रान्तरे स्वव्यापारं निक्षिप्य यत् कार्यान्तरकरणं तदवलगितमित्याहुः। यथा कृत्यारावणस्यामुखे—

"सूत्रधारः—[निःश्वस्य] आर्ये! ननु ब्रवीमि—

चित इस अभिप्रायसे [दूसरेसे] पूछता है, और उत्तर देने वाला उचित उत्तर देता है वह 'उद्घात्यक' होता है।

जैसे पाण्डवानन्दमें सूत्रधार और पारिपार्श्विकके उक्ति-प्रत्युक्तिका [निम्न प्रकार] है—

बलवानोंका भूषण क्या है? [यह सूत्रधारका प्रश्न है]। क्षमा [बलवानोंका भूषण है यह उत्तर]। अपमान कौनसा है? [यह प्रश्न है] जो अपने कुलके लोगों द्वारा किया जाय वही अपमान है [यह उत्तर हुआ] दुःख क्या है? [यह प्रश्न है] दूसरोंका आसरा लेना [दुःख हैं यह उत्तर हुआ]। संसारमें प्रशंसनीय कौन है? [यह प्रश्न है] जिसका लोग आश्रय लेते हैं [यही श्लाघ्य है यह उत्तर हुआ] मृत्यु क्या है? [यह प्रश्न है] व्यसन [ही मृत्यु है यह उत्तर हुआ]। शोकसे कौन बचता है? [यह प्रश्न है] जिन्होंने शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली [वे ही दुःखके पार हो जाते हैं यह उत्तर हुआ]। इस सबको किसने समझ लिया है? [यह प्रश्न है] विराटके नगरमें छिपकर रहने वाले पाण्डवोंने [इन सब बातोंको ठीक तरहसे समझ लिया है यह उत्तर है]।

(१२) अवलगित नामक बारहवाँ वीथ्यङ्ग—

अब अवलगित [का लक्षणादि करते हैं]—

[सूत्र १५२]—जहाँ अन्यके बहानेसे कार्यकी सिद्धि हो उसको 'अवलगित' कहते हैं।

जहाँ अन्य कार्यके करनेके बहानेसे विवक्षित प्रयोजनकी सिद्धि हो जाय वह अन्य कार्यका अवलम्बन करनेसे 'अवलगित' कहलाता है। जैसे उत्तररामचरितमें सीताके मनमें वनविहारकी इच्छा उत्पन्न होनेपर सीताके इच्छा [दोहद] रूप कार्यके बहानेसे जनापवादके कारण सीताको वनमें छोड़ देना [अवलगितका उदाहरण है]।

कुछ लोग अपने कार्यको दूसरे पात्रके ऊपर डालकर अन्य कार्यमें लग जानेको 'अवलगित' कहते हैं। जैसे कृत्यारावणके आमुखमें—

सूत्रधार—[निश्वास लेकर] अरे आर्ये! मैं तो यह कहता हूँ कि—

वाक्प्रपञ्चैकसारेण निर्विशेषाल्पवृत्तिना ।
स्वामिनेव नटत्वेन निर्विण्णाः सर्वथा वयम् ॥

तद् गच्छतु भवती पुत्रं मित्रं वा कमपि पुरस्कृत्य क्रमागतामिमां कुजीविकामनुवर्तयितुम् ।"

ततः क्रमादाह—

"परिग्रहोरुग्राहौघाद् गृहसंसारसागरात् ।
बन्धुस्नेहमहावर्तादिदमुत्तीर्य गम्यते ॥"

अत्र स्वजीविकां दारेषु निक्षिप्य परलोकहेतुकार्यकरणं स्वयमाश्रितम् ।

अपरे तु प्रस्तुतेऽन्यस्मिन् कार्ये यदन्यत् स्वयमेव सिद्धयति तदवलगितम् ।

यथा छलितरामे—

"रामः—लक्ष्मण ! तातविप्रयुक्तामयोध्यां विमानस्थो नाहं प्रवेष्टुं शक्नोमि । तदवतीर्य गच्छामि ।

कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः ।
जटावानक्षवलयी चामरीव विराजते ॥

अत्र भरतदर्शनकार्यान्तरस्यैवमेव सिद्धिरिति ।

(१३) अथावस्पन्दितम्—

[सूत्र १५३]—स्वेच्छोक्तस्यान्यथाख्यानं यदवस्पन्दितं तु तत् ॥[३६] १०१॥

बात बनाना ही जिसका सार है इस प्रकारके, और साधारण-सी अल्प वृत्तिवाले स्वामी जैसे नट-व्यापारसे हम सर्वथा खिन्न हो गए हैं ।

इसलिए पुत्र या किसी मित्रको लेकर तुम कुलक्रमागत इस कुजीविकाका अनुसरण करनेके लिए जाओ [मैं तो नहीं जाऊंगा] ।

उसके बाद फिर क्रमसे [आगे चलकर] कहता है—

परिवार रूप महान् ग्राहोंसे भरे हुए और बन्धुस्नेह रूप भयंकर भवरों वाले इस गृहस्थ रूप संसार सागरको पार करके मैं तो जाता हूँ ।

यहाँ अपनी जीविकाको स्त्रीके ऊपर छोड़कर [नट] स्वयं परलोकके हेतुभूत कार्योंके करनेमें लग जाता है ।

दूसरे लोग तो जहाँ अन्य कार्यके प्रस्तुत होनेपर अन्य कार्य स्वयं ही सिद्ध हो जाय उसको 'अवलगित' कहते हैं । जैसे छलितराममें—

राम—हे लक्ष्मण ! पिताजीसे शून्य अयोध्यामें, मैं विमानपर बैठा हुआ नहीं जा सकता हूँ इसलिए उतरकर चलूँगा ।

[अरे यहाँ तो] सिंहासनके नीचे पादुकाओंके सामने जटाधारण किए हुए, अक्षमाला-युक्त, और चमर-युक्त-सा कोई बैठा हुआ है ।

(१३) अवस्पन्दित नामक तेरहवाँ वीथ्यङ्ग—

अब 'अवस्पन्दित' [का लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १५३]—स्वेच्छासे [अर्थात् उस विशेष अभिप्रायसे न] कहे हुए [वचन] का

स्वेच्छया वर्णनाभिप्रायमात्रेण उक्तस्यान्यथाख्यानं यदवस्पन्दितं अन्यार्थकथन-रूपं यत् तदवस्पन्दितम्। चक्षुःस्पन्दनादिवत् अन्तर्गतसूचनीयसम्भवात्। यथा वेणी-संहारे—

"सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे॥"

अत्र स्वेच्छया शरद्वर्णनाय हंसवर्णनं सूत्रधारेणोक्तम्। एतत् पारिपार्श्विकेन धृतराष्ट्रसुतानां दुर्योधनादीनाममङ्गलार्थकथनेन अन्यथाख्यातम्।

यथा वा छलितरामे—

"सीता—जाद! पभाए तुम्हेहिं अउज्झाए गंतव्वं। सो अ राया विणएण पणमिदव्वो।

[जात! प्रभाते युवाभ्यामयोध्यायां गन्तव्यम्। स च राजा विनयेन प्रणन्तव्यः]
लवः—अम्ब! किमावाभ्यां राजोपजीविकाभ्यां भाव्यम्?

अन्य प्रकारसे कथन करना 'अवस्पन्दित' कहलाता है। [३६]१०१।

स्वेच्छासे अर्थात् साधारण वर्णनके अभिप्रायसे कहे हुएका अन्य प्रकारसे कथन करना अर्थात् अन्य अर्थका कथन जो होता है वह आँखके फड़कनेसे अन्तर्गत अभिप्रायके सूचनके समान होनेसे 'अवस्पन्दित' कहलाता है। जैसे वेणीसंहारमें—

शरद्वर्णनके अभिप्रायसे सूत्रधारने 'सत्पक्षा' : आदि श्लोक पढ़ा है। उसमें 'धार्तराष्ट्राः' पद हंसोंके लिए आया है। किन्तु उससे कौरवोंके पतन रूप अन्य अर्थकी भी प्रतीति होती है। यद्यपि सूत्रधारने इस अभिप्रायसे नहीं कहा है किन्तु पारिपार्श्विकने कौरवोंके नाश-रूप अमङ्गलार्थमें उसकी व्याख्या कर ली है। अतः यह 'अवस्पन्दित' नामक वीथ्यङ्गका उदाहरण है। श्लोकका अर्थ दोनों पक्षोंमें निम्न प्रकार लगता है :—

सुन्दर पक्ष वाले [हंस और दुर्योधनके पक्षमें 'सत्पक्षा'का अर्थ भीष्म, द्रोण आदि उत्तम पुरुष जिसके पक्षमें हैं इस प्रकारके कौरव यह होगा] जिन [हंसों] ने [अपनी स्थिति से] दिशाओंको अलंकृत कर दिया है [और कौरवोंके पक्षमें जिन्होंने सारी दिशाओंको अपने वशमें कर लिया है।] मदके कारणही उद्धत आरम्भ [व्यापार] करने वाले धार्तराष्ट्र [अर्थात् हंस और कौरव दोनों] काल [हंसपक्षमें शरदृतु रूप काल, तथा कौरव पक्षमें मृत्यु रूपकाल] के वशीभूत होकर पृथिवीपर गिर रहे हैं ['पतन्ति'का अर्थ हंस पक्षमें उतरना और कौरव पक्षमें गिरना है। हंस शरद् ऋतुमें पृथिवीपर उतरते हैं]।

यहाँ सूत्रधारने शरद् ऋतुके वर्णनके लिए स्वेच्छासे हंसका वर्णन किया है। इसको पारि-पार्श्विकने दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंके अमङ्गल-परक अर्थमें अन्य प्रकारसे समझ लिया है। [इसलिए यह 'अवस्पन्दित' का उदाहरण है]।

अथवा जैसे छलितराममें—

सीता—हे पुत्रो! कल सवेरे तुम दोनों अयोध्या जाना, और उस राजाको विनय-पूर्वक प्रणाम करना।

लव—माताजी! क्या हम दोनोंको राजाका सेवक बन जाना चाहिए? [फिर हम उसको विनयपूर्वक नमस्कार क्यों करें?]

सीता—सो खु तुम्हाणं पिदा ।

[स खलु युवयोः पिता] ।

लवः —किमावयो रघुपतिः पिता ?

सीता—[साशङ्कम्] न खु तुम्हाणं सयलाइ य्येव पुहवीए ।

[न खलु युवयोः, सकलाया एव पृथिव्याः] ।" इति ।

एतानि च त्रयोदश वीथ्यङ्गानि सर्वरूपकाणां सर्वसन्धिषु निबन्धनीयानि । सर्वसन्धिसाधारण्यादामुखेऽपि भावाच्च सन्ध्यङ्गेभ्यः पृथगुक्तानीति ॥[३६]१०१॥

अथ व्यायोगादौ रूपकान्तरे सामान्यनाटकलक्षणातिदेशमाह—

[सूत्र १५४]—स्वां स्वां वैशेषिकीं हित्वा सन्धि-वृत्त्यादिकां स्थितिम् ।

सामान्या नाटकस्यान्या विज्ञेया रूपकान्तरे॥[३७]१०२॥

वैशेषिकीमसाधारणीं सन्धि-वृत्त्यादिकां इति आदिशब्दादङ्कपरिमाण-रस-नायकादिपरिग्रहः । 'अन्या' इति पात्रोक्तिवैचित्र्य-अङ्कोपाय-दशा-सन्ध्यङ्गलक्षणनायकादिप्रकृत्यौचित्यादिका स्थितिर्व्यायोगादौ रूपकान्तरे नाटकप्रतिपादिता ज्ञातव्या । प्रकरणे तु नाटकसमानत्वमुक्तमेव । नाटिका-प्रकरण्योःपुनर्नाटक-प्रकरणान्तर्भूतत्वान्न किञ्चित् पृथग् वाच्यमिति सर्वं समञ्जसम् ॥ [३७] १०२ ॥

इति रामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञ-नाट्यदर्पणविवृतौ
प्रकरणाद्येकादशरूपनिर्णयो द्वितीयो विवेकः समाप्तः ॥

सीता—वह तुम्हारे पिता हैं ।

लव—क्या रघुपति हम दोनोंके पिता हैं ?

सीता—[साशङ्क] केवल तुम्हारे ही नहीं सारी पृथिवीके [वह पिता हैं] ।

इन तेरह वीथ्यङ्गोंको सारे रूपकोंके सब सन्धियोंमें दिखलाना चाहिए । सब संधियों में साधारण होनेसे, और आमुखमें भी निबद्ध होनेसे इनको सन्ध्यङ्गोंसे अलग कहा गया है ॥[३६]१०१॥

अब व्यायोग आदि अन्य रूपकोंमें सामान्य, नाटक-लक्षणका अतिदेश करते हुए [ग्रन्थकार] कहते हैं—

[सूत्र १५४]—अपनी-अपनी संधि तथा वृत्ति आदि विषयक विशेष स्थितिको छोड़कर नाटककी शेष स्थिति अन्य रूपकोंमें भी समान रूपसे समझ लेनी चाहिए ।[३७]१०२।

'वैशेषिकी' अर्थात् असाधारण । 'सन्धि-वृत्यादिकाम्' इसमें आदि शब्दसे अङ्क-परिमाण, रस और नायक आदिका ग्रहण करना चाहिए । 'अन्या' इस पदसे पात्रोक्तिवैचित्र्य, अङ्क, उपाय, दशा, सन्ध्यङ्ग, लक्षण तथा नायकादि प्रकृतिका औचित्य आदि रूप स्थिति व्यायोगादि अन्य रूपकोंमें भी नाटकमें प्रतिपादित [स्थितिके समान] समझ लेनी चाहिए । प्रकरणमें तो नाटककी समानता कही ही जा चुकी है । और नाटिका तथा प्रकरणीके अंतर्गत होनेसे [उन दोनोंके विषयोंमें] अलग कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती है । इस प्रकार सब विषय स्पष्ट हो जाता है ॥[३७]१०२॥

श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्र विरचित स्वप्रणीत नाट्यदर्पणकी विवृतिमें प्रकरणादि,
एकदश रूपकनिरूपण नामक द्वितीय विवेक समाप्त हुआ ।

अथ तृतीयो विवेकः

अथ तृतीयो विवेकः

अथ रूपकोद्देशश्लोकोद्दिष्टाः क्रमप्राप्ता वृत्तयः प्रपञ्च्यन्ते—

[सूत्र १५५]—भारती सात्त्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः ।
रस-भावाभिनयगाश्चतस्रो नाट्यमातरः ॥[१]१०३॥

पुरुषार्थसाधको विचित्रो व्यापारो वृत्तिः। रस-भावाभिनया वक्ष्यमाणाः। तांस्तन्मयत्वेन गच्छन्ति। रस-भावाभिनयसम्भिन्नो हि सर्वो नाट्ये व्यापारः। 'चतस्र' इति चतुर्भेदत्वमन्यतमचेष्टांशप्राधान्यविवक्षया, अपरथाऽनेकव्यापारसंवलितमेकमेव वृत्तितत्त्वम्। न नाम प्रबन्धेषु व्यापारान्तरासंवलितः कोऽप्येकाकी कायिको वाचिको मानसो वा व्यापारो लक्ष्यते। कायिक्यो हि व्यापृतयो मानसैर्वाचिकैश्च व्यापारैः सम्भिद्यन्ते। शब्दोल्लिखितं मनःप्रत्ययं विना रञ्जकस्य कायव्यापारपरिस्पन्दस्याभावात्। वाचिक्यो मानस्यश्च कायपरिस्पन्दाविनाभाविन्य एव। ताल्वादिव्यापाराभावे

अथ नाट्यदर्पणदीपिकायां तृतीयो विवेकः

वृत्तिनिरूपण—

[प्रथम द्वितीय विवेकमें रूपकके समस्त भेदोंके लक्षण आदि कर चुकनेके बाद] अब रूपकोंका उद्देश [अर्थात् नाम-परिगणन] करानेवाले [अर्थात् ३-४] श्लोकोंमें ['सर्ववृत्तयः' तथा 'त्रिवृत्तयः शब्दोंके प्रयोग द्वारा] कही हुई वृत्तियों [की व्याख्या] का अवसर प्राप्त होनेसे वृत्तियोंका निरूपण [प्रारम्भ] करते हैं।

[सूत्र १५५]—रस, भाव, अभिनय विषयक भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी चार प्रकारकी वृत्तियाँ नाट्यकी माता [के सदृश] होती हैं। [१] १०३।

पुरुषार्थके साधक नाना प्रकारके व्यापारको 'वृत्ति' कहते हैं। रस, भाव और अभिनय [का लक्षणादि] आगे कहेंगे। [भारती आदि वृत्तियाँ] तन्मय [अर्थात् रसभावादिमय] होनेसे उनका अनुगमन करती है [इसलिए इस कारिकामें उनके विशेषणके रूपमें 'रसभावाभिनयगाः' इस विशेषणपदका प्रयोग किया गया है। इसका यह अभिप्राय है कि] नाट्यमें सारा ही व्यापार रस, भाव और अभिनयसे युक्त होता है। [कारिकामें आए हुए] 'चतस्रः' इस पदसे कहा हुआ चतुर्भेदत्व किसी एक व्यापारांशकी प्रधानताकी विवक्षासे कहा गया है अन्यथा [वास्तवमें तो] अनेक व्यापारोंसे मिला हुआ वृत्ति-तत्त्व [अर्थात् व्यापार] एक ही होता है। क्योंकि नाटकादि [रूप प्रबन्धों] में [कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारोंमेंसे] कोई भी व्यापार अन्य व्यापारोंके योगके बिना नहीं होता है। कायिक व्यापार मानसिक तथा वाचिक व्यापारोंसे मिश्रित होते हैं। क्योंकि शब्द द्वारा निर्दिष्ट मानसिक ज्ञानके बिना कोई सुन्दर कायिक व्यापार सम्भव नहीं है और मानसिक तथा वाचिक व्यापार तो कायिक व्यापारके बिना हो ही नहीं सकते हैं। क्योंकि तालु आदिके व्यापारके बिना शब्दका

वचनानुच्चारणात्, प्राणादिरूपकायपरिस्पन्दाभावे मनोव्यापृत्यनुपलक्षणाच्च। मनः-शून्यश्च व्यापारः कायिको वाचिको वाऽरञ्जकत्वादनिबन्धनीय एव। विदूषकोऽपि हास्यार्थं बुद्धिपूर्वकमेव विसंस्थुलं विचेष्टते। अतः संकीर्णत्वेऽपि अंशप्राधान्यापेक्षया वृत्तयश्चतस्रः।

नाट्यस्य अभिनेयकाव्यस्य मातर इव मातरः। आभ्यो हि वर्णनीयत्वेन कवि-हृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते। 'नाट्य' इति च प्रस्तावापेक्षम्। तेनानभिनेयेऽपि काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव। न हि व्यापारशून्यं किञ्चिद्वर्णनीयमस्ति। रङ्गानन्तरं च नाट्यमिति रङ्गस्य व्यापारशून्यत्वेनावृत्तित्वेऽपि न कश्चिद् दोषः। मूर्च्छादौ तु व्यापाराभावेन वृत्त्यभावेऽपि न नाट्यस्य वृत्तिमयत्वहानिः। बाहुल्यापेक्षया वृत्तिमयत्व-स्याभिमतत्वादिति ॥ [१] १०३ ॥

उच्चारण नहीं हो सकता है। और प्राणादि रूप कायिक व्यापारके अभावमें मनोव्यापारोंका भी परिज्ञान नहीं हो सकता है। [इसलिए मानसिक तथा वाचिक व्यापार दोनों कायिक व्यापारके साथ मिश्रित होते हैं। अकेले नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार] मनोव्यापारसे रहित कायिक या वाचिक व्यापार नीरस [अरञ्जक] होनेसे [नाटकादिमें] वर्णन करनेके योग्य नहीं होता है। विदूषक भी हास्यके लिए बुद्धिपूर्वक ही अटपटी चेष्टाएँ करता है। इसलिए [कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार रूप भारती आदि चारों वृत्तियोंके परस्पर] संकीर्ण होनेपर भी [उस-उस] अंशकी प्रधानताकी दृष्टिसे चार प्रकारकी वृत्तियाँ [कही गई] हैं।

[आगे कारिकामें आए हुए 'नाट्यमातरः' पदका अर्थ करते हैं] नाट्यकी अर्थात् अभिनेय काव्यकी माताके समान [जननी] होनेसे [वृत्तियाँ नाट्यकी] माता [कहलाती] है। क्योंकि कविके हृदयमें वर्णनीय रूपसे स्थित [कायिक-वाचिक-मानसिक व्यापार रूप] इन [भारती आदि चारों वृत्तियों] से ही काव्यकी उत्पत्ति होती है [अर्थात् कवि अपने काव्यमें कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारोंका ही वर्णन करता है। वह त्रिविध व्यापार ही काव्यका जनक होता है, और भारती आदि वृत्तियाँ कायिक, वाचिक, मानसिक व्यापार रूप ही हैं। इसलिए काव्यकी जननी होनेसे उनको काव्यकी माता कहा गया है। 'नाट्यमातरः' इसमें] 'नाट्य' यह पद प्रकरणकी दृष्टिसे आया है। [अर्थात् इस समय नाटकका निरूपण किया जा रहा है इसलिए यहां 'नाट्यमातरः' कहा गया है। वैसे ये वृत्तियाँ केवल नाट्य अर्थात् अभिनेय काव्यकी ही नहीं अपितु अनभिनेय श्रव्यकाव्यकी भी माता हैं। क्योंकि श्रव्य-काव्योंमें भी कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारोंका ही वर्णन होता है] इसलिए अन-भिनेय [अर्थात् श्रव्य] काव्यमें भी [भारती आदि] वृत्तियाँ होती ही हैं। क्योंकि व्यापार-रहित किसी अर्थका वर्णन नहीं होता है। मुख्य नाटकका आरम्भ पूर्व [नान्दीपाठ आदि रूप] पूर्वरङ्गके बाद होता है इसलिए पूर्वरङ्गके [नाट्यमें वर्णनीय] व्यापारोंसे रहित होने पर भी कोई दोष नहीं है [क्योंकि वह पूर्वरङ्ग वाला भाग वास्तवमें नाटकका अंश नहीं है। इसी प्रकार मुख्य नाटकके बीचमें आने वाले] मूर्छा आदि [के प्रसंगों] में व्यापारादि न होने से वृत्तियोंका अभाव होनेपर भी नाट्यके वृत्तिमयत्वकी हानि नहीं होती है। क्योंकि [वृत्तियों के] बाहुल्यकी दृष्टिसे वृत्तिमयत्वका कथन किया गया होनेसे [कहीं थोड़ेसे भागमें व्यापार-शून्यता होनेसे कोई हानि नहीं होती है। मूर्छादि प्रसंगोंमें वृत्त्यभाव होनेपर भी नाट्य

अथ भारत्या लक्षणमाह—

[सूत्र १५६]—सर्वरूपकगामिन्यामुख-प्ररोचनोत्थिता ।
प्रायः संस्कृतनिःशेषरसाढ्या वाचि भारती ॥[२]१०४॥

सर्वरूपकेषु अभिनेयानभिनेयेषु गमनशीला प्रायस्तन्मयत्वाद् वर्णनायाः । आमुखप्ररोचनयोरुत्थितः सम्भवो यतः । प्रायो बाहुल्येन संस्कृतेन सर्वरसैश्च दीप्ताः ।

वृत्तिमय ही माना जाता है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है] ॥ [१] १०३ ॥

(१) भारतीवृत्तिका निरूपण—

इस प्रकार पिछली कारिकामें वृत्तियोंका सामान्य लक्षण करनेके बाद अब आगे भारती आदि चारों वृत्तियोंमेंसे एक-एक वृत्तिका लक्षण करेंगे। पिछली कारिकामें यह कहा था कि चारों वृत्तियाँ कायिक, वाचिक तथा मानसिक व्यापार-रूप हैं इसी दृष्टिसे आगे इन चारोंके लक्षण करेंगे। इस इनमेंसे भारती वृत्ति वाचिक व्यापार-रूप और सात्त्वती वृत्ति मानसिक व्यापार-रूप होती है। शेष कैशिकी तथा आरभटी दोनों वृत्तियाँ कायिक व्यापार-रूप होती है। काव्य और नाट्यमें वाचिक व्यापारकी प्रधानता होनेके कारण सबसे पहले वाचिक-व्यापार रूप भारती-वृत्तिका लक्षण निम्न प्रकार करते हैं।

अब भारती [वृत्ति] का लक्षण कहते हैं—

[सूत्र १५६]—**समस्त रूपकोंमें रहने वाली, आमुख तथा प्ररोचनासे उत्थित [अर्थात् नाट्य के प्रारम्भिक भागोंमें विशेष रूपसे उपस्थित] सम्पूर्ण रसोंसे परिपूर्ण, तथा प्रायः संस्कृत [भाषा] का अवलम्बन करने वाली, वाग्व्यापार-प्रधान वृत्ति 'भारती' [वृत्ति कहलाती] है।** [२] १०४

[कारिकामें आए हुए 'सर्वरूपकगामिनी' पदका अभिप्राय यह है कि यह भारती वृत्ति] अभिनेय और अनभिनेय [अर्थात् दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य] सब रूपकोंमें जाने वाली [सब प्रकारके काव्योंमें विद्यमान रहने वाली] है। क्योंकि सारा वर्णन प्रायः उससे युक्त [भारतीवृत्तिमय] होता है। ['आमुख-प्ररोचनोत्थिता' का अर्थ करते हैं कि] आमुख तथा प्ररोचना [रूप काव्य या नाट्य भागों] का उदय जिससे होता है। [आमुख और प्ररोचना किसको कहते हैं यह प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है। इसका लक्षण अगली दो कारिकाओंमें करेंगे]। प्रायः अर्थात् अधिकतर संस्कृत भाषा और सब रसोंसे युक्त [भारती वृत्ति होती है]।

भारतीवृत्तिके इस लक्षणमें मुख्यरूपसे आमुख तथा प्ररोचना भागोंमें भारतीवृत्ति का निर्देश किया गया है और उसको प्रायः संस्कृतभाषा तथा सब रसोंसे युक्त कहा गया है। यहाँ 'प्रायः' शब्दका जो प्रयोग किया गया है उसकी ग्रन्थकार यह व्याख्या करते हैं कि यद्यपि भारतीवृत्तिका मुख्य-स्थान आमुख तथा प्ररोचना भागोंको माना गया है किन्तु इनसे भिन्न स्थानोंपर भी इसका स्थान पाया जाता है। इसी प्रकार मुख्य रूपसे भारतीवृत्तिमें संस्कृत-भाषाका ही प्रयोग होता है किन्तु वह एकदम अनिवार्य नहीं है। कभी-कभी संस्कृतसे भिन्न प्राकृतभाषाका भी भारतीवृत्तिमें अवलम्बन किया जा सकता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें निम्न प्रकार कहते हैं—

प्ररोचना-आमुखयोरन्यत्रापि च रूपकैकदेशे प्राकृतादिपाठेन भारतीदर्शनात् प्रायोग्रहणं अर्थवत्। सर्वरूपकभावित्वाद् रसानां च वाग्जन्यत्वाद् सर्वरसात्मकत्वम्। ये तु भारत्यां बीभत्स-करुणौ प्रपन्नास्तैः सर्वरसप्रधानवीथी-शृङ्गारवीरप्रधानभाण-हास्यप्रधानप्रहसनानि स्वयमेव भारत्यामेव वृत्तौ नियन्त्रितानि नावेक्षितानि।

'प्ररोचना' और 'आमुख' [भागों] से अन्यत्र भी रूपकोंके किसी एकदेशमें [भारती वृत्तिके देखेजानेसे] और [संस्कृतभाषाको छोड़ कर] प्रकृत आदि [भाषा] के पाठसे भी भारती-वृत्तिके देखे जानेसे [कारिकामें किया गया] 'प्रायः' शब्दका ग्रहण सार्थक है। रसोंके सब रूपकोंमें व्यापक होने और वाणी द्वारा व्यक्त होनेसे [वाग्व्यापारप्रधाना भारती वृत्ति] सर्व-रसात्मक होती है। जो [दशरूपककार धनञ्जय] भारतीवृत्तिमें [सब रस न मान कर] केवल बीभत्स और करुण रस मानते हैं उन्होंने स्वयं [अपने आप] ही भारतीवृत्तिमें नियन्त्रित सर्व-रसप्रधान [वीथी] शृङ्गार और वीररस प्रधान [भाण], तथा हास्यरस-प्रधान [प्रहसन क्रमशः] वीथी भाण तथा प्रहसनों की ओर ध्यान नहीं दिया है [इसीलिए वे भारतीवृत्तिमें केवल बीभत्स और करुणरसको ही मानते हैं। किन्तु उनका यह सिद्धान्त ठीक नहीं है]।

इसका अभिप्राय यह है कि धनञ्जय जो केवल बीभत्स तथा करुणरसमें भारतीवृत्तिका प्रयोग मानते हैं उन्होंने भी 'वीथी', भाण तथा प्रहसनके लक्षणों में भारतीवृत्ति का समावेश माना है। सूत्र १४० में 'वीथी' का लक्षण करते हुए 'सर्वस्वामिरसा वीथीत्त लिखकर प्रकृत ग्रन्थकारने वीथीमें समस्त रसोंके रखनेका विधान किया है। १४१ वें सूत्रमें वीथीके तेरह अंगोंका वर्णन करते हुए फिर 'भारतीवृत्तिवर्तीनि वीथ्यंगनि त्रयोदश' लिखकर वीथीमें 'भारती' वृत्तिका समावेश किया है। इस प्रकार वीथीमें समस्त रसोंके साथ भारतीवृत्तिका प्रयोग माना जाता है। इसके अतिरिक्त ११९वें सूत्रमें 'भाण-प्रधानशृङ्गार-वीरौ' लिखकर भाणमें शृङ्गार तथा वीररसकी प्रधानताका प्रतिपादन किया गया है। और उसके साथ ही १३०वें सूत्रमें 'वृत्ति मुख्या च भारती' लिखकर भाणमें भारतीवृत्तिकी मुख्यता प्रतिपादन की है। इसलिए वीर तथा शृङ्गारके साथ भारतीवृत्तिका सम्बन्ध भाणके लक्षणमें प्रतिपादन किया है। फिर सूत्र १३१ वें 'हास्याङ्गि भाणसन्ध्यङ्गवृत्ति प्रहसनं द्विधा' इस प्रहसनके लक्षणमें हास्यरसको प्रहसनका प्रधानरस तथा भाणके समान सन्धि, अंक तथा वृत्तियोंका प्रतिपादन कर प्रहसनमें भी भारतीवृत्तिकी प्रधानता निर्दिष्टकी है। इसलिए हास्यरसके साथ भी भारतीवृत्तिका समावेश पाया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीवृत्तिका सम्बन्ध प्रहसनके लक्षणके अनुसार हास्यरसके साथ, भाणके लक्षणके अनुसार वीर और शृङ्गार रसोंके साथ, और वीथीके लक्षणके अनुसार सभी रसोंके साथ होता है। वीथी, भाण और प्रहसनके ये लक्षण सर्वसम्मत लक्षण हैं। जो दशरूपककार धनञ्जय आदि भारतीवृत्तिका सम्बन्ध केवल बीभत्स और करुण रससे बतलाते हैं, वे भी वीथी भाण और प्रहसनके इसी प्रकारके लक्षण करते हैं। इन लक्षणोंके अनुसार उन्होंने भी वीथी, भाण तथा प्रहसनोंको भारती वृत्तिमें नियन्त्रित कर दिया है। फिर भी वे भारतीवृत्तिका सम्बन्ध केवल बीभत्स और करुण रससे बतलाते हैं। यह बात उनके अपनेही कथनके विपरीत हो जाती है। इसी बातको ग्रन्थकारने यहाँ 'तैः' वीथी, भाण, प्रहसनानि स्वयमेव भारत्यां वृत्तौ नियन्त्रितानि नावेक्षितानि' इस रूपमें लिखा है।

'वाचि' वाग्व्यापारविषये वाग्व्यापारात्मिकेत्यर्थः। भारती वाग्व्यापारविषय एवेत्ययोगव्यवच्छेदः। तेन वाचिकाभिनयात्मिका सात्त्वत्यपि भवति। वृत्त्यन्तराणि तु सर्वथाभिनयविषयाणि। भारतीरूपत्वाद् व्यापारस्य भारतीति ॥ [२] १०४ ॥

अथ भारतीसम्भवमामुखं लक्षयति—

[सूत्र १५७]—विदूषक-नटी-मार्षैः प्रस्तुताक्षेपि भाषणम्।
सूत्रधारस्य वक्रोक्त-स्पष्टोक्तैर्यत् तदामुखम् ॥[३]१०५॥

पारिपार्श्विक एव विदूषकवेषधारी विदूषकः।

इस स्थलका पाठ कुछ अस्पष्टसा है। पूर्व संस्करणोंमें 'सर्ववीथीप्रधानशृङ्गारवीर भाणप्रधानहास्यप्रहसनानि' इस प्रकारका पाठ छपा था। उसकी कोई सङ्गति नहीं लगती है। इसमें 'सर्वरसप्रधानवीथी-शृङ्गारवीरप्रधानभाण-हास्यप्रधानप्रहसनानि' इस प्रकार पाठ होना चाहिए था, अतः हमने यही पाठ मूल में दिया है।

'वाचि' अर्थात् वाग्व्यापारके विषयमें होने वाली अर्थात् वाग्व्यापारात्मक वृत्ति 'भारती' ही होती है। भारती वाग्व्यापारके विषयमें ही होती है यह अयोग-व्यवच्छेद [का नियम] है। [इसका अभिप्राय यह है कि भारती वृत्ति वाग्व्यापारके विषयमें ही होती है। अन्यत्र नहीं। इसका यह अर्थ नहीं है कि केवल भारती वृत्ति ही वाग्व्यापार-विषयक होती है, अन्य वृत्तियोंका वाग्व्यापारसे सम्बन्ध नहीं हो सकता है।] इसलिए सात्त्वती वृत्ति भी वाग्व्यापारात्मिका होती है। भारती तथा सात्त्वती वृत्तिको छोड़कर] अन्य वृत्तियाँ तो सर्वथा [कायिक] अभिनय रूप ही होती हैं। [भारतीवृत्तिमें] व्यापारके [पूर्णतया] भारती रूप [अर्थात् वाचिकरूप] होनेसे [इस वृत्तिका नाम] 'भारती' [रखा गया] है।

इस कारिकाकी व्याख्यामें 'भारती वाग्व्यापारविषय एव इत्ययोगव्यवच्छेदः' यह वाक्य आया है। इसे विशेष रूपसे समझनेकी आवश्यकता है। 'एव' पदके अयोग-व्यवच्छेद, अन्ययोग-व्यवच्छेद और अत्यन्तायोग-व्यवच्छेद ये तीन अर्थ माने गए हैं। 'पार्थ एव धनुर्धरः' आदि वाक्योंमें जब 'एव' पद विशेष्यके साथ संगत होता है तब वह 'विशेष्यसंगतस्त्वेवकार अन्ययोगव्यवच्छेदकः' इस नियमके अनुसार अन्ययोगका व्यवच्छेदक होता है। 'पार्थ एव धनुर्धरः नान्यः' यह उसका अर्थ होता है। इसके विपरीत जब 'पार्थो धनुर्धर एव' इस रूपमें उसका सम्बन्ध विशेषणके साथ होता है तो 'विशेषणसंगतस्त्वेवकारो अयोग-व्यवच्छेदकः' इस नियमके अनुसार उसका अर्थ अयोग-व्यवच्छेद होता है। अर्थात् पार्थमें धनुर्धरत्व अवश्य है। उसमें धनुर्धरत्वका अयोग-अभाव-नहीं है। इसी प्रकार यहाँ 'भारती वाग्व्यापारविषय एव' में विशेषणके साथ संगत होनेसे एवकार अयोग-व्यवच्छेदक है। ॥[२] १०४ ॥

भारती वृत्तिसे सम्बद्ध आमुखका लक्षण—

अब भारती [वृत्ति] निर्मित [अथवा भारती वृत्तिके निर्माता] आमुखका लक्षण करते हैं—

[सूत्र १५७]—सूत्रधारका विदूषक, नटी अथवा पारिपार्श्विकके साथ स्पष्ट रूपसे अथवा वक्र मार्गसे, प्रस्तुत [अर्थात् नायकादि मुख्यपात्रके प्रवेश] का सम्पादन करनेवाला जो वार्तालाप होता है वह 'आमुख' [कहलाता] है ॥[३]१०५॥

[नटका मुख्य सहायक] पारिपार्श्विक ही विदूषकका वेष धारण कर लेनेसे यहाँ

मार्षः पारिपार्श्विकः। विदूषक-नटी-मार्षैर्व्यस्तैः समस्तैर्वा सह सूत्रधारस्य रङ्गसूत्रणाकर्तुः, सूत्रधारगुणानुकारस्य वा नाट्यस्थापनाकर्तुः स्थापकस्य, प्रस्तुतस्य काव्यार्थस्याक्षेपि उपस्थापकं भाषणं वक्रोक्तैः साक्षाद् विवक्षितार्थस्याप्रतिपादकैः, स्पष्टोक्तैः साक्षाद् विवक्षितार्थस्य प्रतिपादकैश्च यत् स्वस्याभिप्रायोत्कीर्तनं तदामुखम्। 'आङ् मर्यादायाम्' तेन मुखसन्धिं प्राप्य निवर्तते। 'ईषदर्थे वा' तत ईषन्मुखं मुखसन्धिसूचकत्वादारम्भः। प्रस्तावनाशब्दे नाप्येतदुच्यते।

इदं तावदामुखं नाट्यात् पृथग्भूतम्। तत्र कदाचित् रङ्गसूत्रयितैव आमुखार्थमनुतिष्ठति, तथा च दृश्यते—'नान्द्यन्ते सूत्रधारः'। 'नान्द्यन्ते' इत्यवयवे समुदायोप-

---

विदूषक कहा गया है। [वैसे नायक राजा आदिका सहायक विदूषक होता है उस विदूषकका यहाँ ग्रहण नहीं समझना चाहिए। अपितु सूत्रधारका सहायक, जो पारिपार्श्विक भी कहलाता है वही नाटकादिके प्रारम्भमें मुख्यपात्रका रङ्गमञ्चपर प्रवेश करानेके लिए विदूषकका वेष धारण करके सूत्रधारके साथ वार्तालाप करता है। उसी पारिपार्श्विककेलिए यहाँ विदूषक शब्दका प्रयोग हुआ है यह ग्रंथकारका अभिप्राय है। मार्षका अर्थ भी] पारिपार्श्विक [अर्थात् सूत्रधार या नटका मुख्य सहायक] है। [यहाँ पारिपार्श्विक अपने मुख्य रूपमें अभिप्रेत है। पहिले उसीकी विदूषक रूपमें उपस्थिति बतलाई थी] विदूषक, नटी और पारिपार्श्विकोंके साथ अलग-अलग अथवा एक साथ सूत्रधार अर्थात् रङ्गकी आयोजना करनेवाले [प्रधाननट] का, अथवा नाव्यार्थकी स्थापना करने वाले और सूत्रधारके गुणोंका अनुकरण करने वाले [किन्तु सूत्रधारसे भिन्न] 'स्थापक'का प्रस्तुत काव्यार्थको उपस्थित करानेवाला जो भाषण, वक्रोक्तियोंसे अर्थात् साक्षात् रूपसे विवक्षित अर्थका प्रतिपादन न करनेवाले [वचनोंसे], अथवा स्पष्टोक्तियोंसे अर्थात् साक्षात रूपसे विवक्षित अर्थका प्रतिपादन करने वाले वाक्योंसे जो [भाषण अर्थात्] अपने अभिप्रायका कथन करता है वह 'आमुख' कहलाता है। [आमुख शब्दमें आङ् उपसर्ग है। उसके दो अर्थ होते हैं : एक मर्यादा और दूसरा अभिविधि। ये दोनों शब्द सीमा अर्थके वाचक हैं। उनमें भेद यह है कि जो सीमा बतलाई जाती है वह यदि सीमित होने वाले भागके अन्दर ही समाविष्ट होती है तो उसे 'अभिविधि' कहते हैं। और यदि उस तक ही, अर्थात् उसको बाहर छोड़कर उसके पहिले-पहिले सीमा मानी जाती है तो उसको 'मर्यादा' कहते हैं। जैसे यहाँ आमुखकी सीमा मुखसन्धि पर्यन्त कही है। उसमें मुखसन्धिको भी आमुखके भीतर माना जाय तो आङ् अभिविध्यर्थक और यदि मुखसन्धिको आमुखसे अलग रखना अभिप्रेत है तो 'आङ्' का अर्थ मर्यादा होगा]। यहाँ आङ् मर्यादा अर्थमें है इसलिए [आमुख] मुखसन्धि तक पहुँचकर [अर्थात् मुखसन्धिसे आरम्भ होनेसे पहिले] समाप्त हो जाता है। अथवा [यहाँ आङ्] 'ईषत्' अर्थमें है इसलिए ईषन्मुख [अर्थात् छोटा मुख अर्थात्] मुखसन्धिका सूचक होनेसे आरम्भ [आमुख कहलाता है]। इसीको 'प्रस्तावना' नामसे भी कहा जाता है।

यह आमुख [मुख्य] नाव्यसे अलग होता है [मुख्य नाटकका भाग नहीं होता है]। उसमें कभी [रङ्गसूत्रयिता अर्थात्] सूत्रधार ही स्वयं आमुखमें किए जाने वाले [वार्तालाप आदि रूप] कार्यको करता है। जैसा कि [भास आदिके नाटकोंके आरम्भमें] 'नान्दीके अन्तमें सूत्रधार' [प्रविष्ट होकर आमुखका आरम्भ करता है यह लिखा हुआ] दिखलाई देता

चारात् पूर्वरङ्गान्ते इति द्रष्टव्यम्। नान्दी हि पूर्वरङ्गस्याङ्गम्। अत्र च पक्षे आमुखार्थस्य सूत्रधारविषयत्वान्मुखसन्धेः प्रभृति कवेर्व्यापारः।

है। यहाँ 'नान्द्यन्ते' इस पदमें अवयवमें समुदायका उपचार होनेसे [नान्दी पद समस्त पूर्वरङ्गका बोधक है यह समझना चाहिए]। क्योंकि नान्दी पूर्वरङ्गका अङ्ग है। [किन्तु यहाँ उस अङ्ग या अवयववाचक 'नान्दी' पदसे जिसका वह अङ्ग या अवयव है उस अङ्गी-रूप समस्त पूर्वरङ्गका ग्रहण होता है। अर्थात् समस्त पूर्वरङ्गका विधान समाप्त हो जानेपर सूत्रधार प्रविष्ट होकर मुख्य नाटकके पात्रके प्रवेशकी प्रस्तावना आरम्भ करता है] इस पक्षमें आमुखका [प्रतिपाद्य] अर्थ सूत्रधारसे सम्बन्ध रखता है, इसलिए मुखसन्धिसे पहिले-पहिले [अथवा मुखसन्धिके आरम्भ होनेसे पूर्व तक जो कुछ वर्णन होता है वह सब] कविका व्यापार होता है।

इसका अभिप्राय यह है कि मुखसन्धि, मुख्य नाटकका अङ्ग है, इसलिए मुखसन्धिसे मुख्य नाटकका आरम्भ होता है। उस मुख्य नाटक वाले भागमें जितना व्यापार होता है वह कविके द्वारा वर्णित होनेपर भी कविका व्यापार नहीं होता है अपितु जिन पात्रोंके द्वारा उसका कथन होता है उन पात्रोंका व्यापार होता है। कवि केवल उस व्यापारको सुनानेका निमित्त बनता है। किन्तु मुखसन्धि या मुख्य नाटकका आरम्भ होनेसे पहिले 'आमुख' तक का जो व्यापार होता है वह सब कविका अपना व्यापार होता है। काव्यशास्त्रके लक्षण-ग्रन्थोंमें ध्वनि-भेदोंके निरूपणके प्रसङ्गमें 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' और 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-सिद्ध' दोनों व्यङ्ग्योंको अलग-अलग माना है। यद्यपि कविनिबद्ध वक्ताकी उक्ति कविके द्वारा ही निबद्ध होनेसे कविप्रौढोक्तिमें आ सकती है किन्तु स्वयं कविकी उक्तिसे कविनिबद्ध वक्ता की उक्तिको अलग माना गया है। इसी प्रकार यह कविव्यापार और कविनिबद्ध-वक्तृ-व्यापारको अलग-अलग मानकर ग्रन्थकारने 'आमुख' तकके व्यापारको कवि-व्यापार कहा है। उसके आगे मुख्य नाटकके भीतर होनेवाला सारा व्यापार कविके द्वारा वर्णित होनेपर भी कवि-व्यापार नहीं अपितु कवि-निबद्ध पात्रों या वक्ताओंका व्यापार है, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

'आमुख' के इस प्रसङ्गमें ग्रन्थकारने सूत्रधार तथा स्थापक, नटी, विदूषक, पारिपार्श्विक मार्ष आदि अनेक पदोंका प्रयोग किया है। नाटकका अभिनय करनेवाले नटवर्गका प्रधान नेता नाट्यके सारे [सूत्र]का कार्य-सञ्चालन करता है इसलिए उसको 'सूत्रधार' कहा जाता है। इस कार्यमें सूत्रधारके दो प्रधान सहायक होते हैं। एक नटी और दूसरा पारिपार्श्विक। नटी सूत्रधारकी स्त्री है जो उसके कार्यमें उसकी प्रमुख सहायिका होती है। शेष नटोंमेंसे जो सूत्रधारका प्रधान सहायक होता है वह 'पारिपार्श्विक' कहलाता है। सूत्रधार वार्तालाप करते समय नटीको 'आर्या' कहकर और पारिपार्श्विकको 'मार्ष' कहकर सम्बोधन करता है। यह सूत्रधार, नटी तथा पारिपार्श्विक तथा 'मार्ष' पदोंकी व्याख्या हो गई। इसी पारिपार्श्विकके लिए 'विदूषक' पदका प्रयोग भी किया गया है। वैसे नाटकमें राजा आदि मुख्य नायकका प्रधान सहायक विदूषक होता है। उसका कार्य राजाके गुप्त प्रणय-व्यापार आदिमें उसकी सहायता करना, और हर समय राजाका मनोरञ्जन करना होता है। यहाँ आमुखके प्रसंगमें जो विदूषकका नाम लिया गया है यह उस मुख्य विदूषकका ग्राहक नहीं है। अपितु

कदाचित् तु सनान्दीकं रङ्गमनुष्ठाय विश्रान्ते सूत्रधारे, तत्तुल्यगुणाकृतिः स्थापक आमुखमनुतिष्ठति। तथा चानङ्गवत्यां नाटिकायां दृश्यते—'पूर्वरंगस्यान्ते स्थापकः'। अत्र च पक्षे आमुखानुष्ठानेऽपि कवेर्व्यापारः। स्थापकस्य सूत्रधारानुकारिणो रामानुकारिणो नटस्येव कविनैव प्रवेशात्। 'वक्रोक्त' इति च वीथ्यङ्गानामेवंविधरूपाणां व्याहारादीनां सद्भावमाहेति। स्पष्टोक्तिस्त्वेवं यथा—'नागानन्दे नाटयितव्ये किमित्यकारणमेव रुद्यते ?' इति ॥[३]१०५॥

सूत्रधारका मुख्य सहायक या पारिपार्श्विक भी कभी विदूषकका-सा वेष धारण करके उसीके समान कार्य करता हुआ सामने आता है इसके लिए ही यहाँ विदूषक शब्दका प्रयोग किया गया है।

अब एक शब्द और रह जाता है 'स्थापक'। सूत्रधारके समान ही वेष तथा कार्यको करने वाला उसका कोई सहायक स्थापकके रूपमें नाटककी प्रस्तावना करता है उसको 'स्थापक' कहते हैं। मुख्य नाटकके प्रारम्भ होनेसे पहिले अनेक प्रकारकी तैयारी करनी होती है। उसको पूर्वरङ्ग कहा गया है। पूर्वरङ्गके १५ अङ्ग भरतनाट्यशास्त्रमें कहे गए हैं। इन्हींमें नान्दी पाठ भी एक अङ्ग है। प्रायः नाटकोंके आरम्भमें सबसे पहले 'नान्दी' के श्लोक लिखे मिलते हैं। भासकविके नाटकोंमें उन नान्दी-श्लोकोंका उल्लेख नहीं रहता है। नान्दी वाले श्लोक नाटकमें लिखे गए हों अथवा न लिखे गए हों किन्तु उनका पाठ किया अवश्य जाता है। नान्दी पाठ तकका सारा पूर्वरङ्गका कार्य निश्चित रूपसे सूत्रधार ही करता है। उसके बाद आमुख या प्रस्तावनाका अवसर आता है। इस प्रस्तावनाके विषयमें दो प्रकारकी व्यवस्था पाई जाती है। कभी तो सूत्रधार स्वयं ही प्रस्तावनाका कार्य भी करता है। अर्थात् प्रस्तावना या आमुख द्वारा स्वयं ही मुख्य पात्रोंका प्रवेश करवाकर सूत्रधार रङ्गमञ्चसे बाहर जाता है। किन्तु दूसरे प्रकारकी यह व्यवस्था भी पाई जाती है कि नान्दीपाठ तकका कार्य सूत्रधार स्वयं करता है। नान्दीपाठके समय सारा नटवर्ग उपस्थित रहता है। अभिनय करनेवाले सारे नट मिलकर प्रार्थना आदि करते हैं। उसमें सूत्रधार भी अवश्य उपस्थित रहता है। किन्तु उसके बाद सूत्रधार स्वयं निवृत्त हो जाता है। उसके स्थानपर उसके सदृश दूसरा व्यक्ति आकर प्रस्तावना या आमुखका कार्य करता है उसको 'स्थापक' कहते हैं। इसी बातको ग्रन्थकार आगे लिखते हैं—

कभी तो नान्दी सहित पूर्वरङ्गको समाप्त करके सूत्रधारके विश्राम कर लेनेपर उसके तुल्य गुणों और आकृतिवाला स्थापक [आकर] 'आमुख'का सम्पादन करता है। जैसे कि 'अनङ्गवती' नाटिकामें 'पूर्वरङ्गके बाद स्थापक' [प्रविष्ट होता है यह लिखा है]। इस पक्षमें आमुखके अनुष्ठानमें भी कविका व्यापार होता है। रामका अनुकरण करनेवाले नटके [प्रवेशके] समान सूत्रधारका अनुकरण करनेवाले स्थापकका भी प्रवेश कविके द्वारा ही कराए जानेके कारण ['आमुख' भी कविका व्यापार होता है, लक्षणमें दिए हुए] 'वक्रोक्त' इस पदसे इस प्रकारके [अर्थात् अभी द्वितीय विवेकके अन्तमें कहे हुए] व्यवहारादि रूप वीथ्यङ्गों की सत्ता [आमुखमें] सूचित की है। स्पष्टोक्ति तो इस प्रकार होती है जैसे कि 'नागानन्दका अभिनय करते समय बिना बातके क्यों रोते हो' ॥ [३]१०५]

अथामुखाङ्गभूतं नाट्यपात्रप्रवेशविधिमाह—

[सूत्र १५८]—वाक्यार्थसमयाह्वानैर्भावोक्तैः पात्रसंक्रमः ।

समयः कालः । आह्वनं संज्ञा । एतैः सूत्रधार-स्थापकाभ्यामुक्तैर्हेतुभूतैः पात्रस्य मुख्यनायकादिभूमिकाधारिणो नटादिलोकस्य संक्रमः प्रवेशः । वाक्यार्थयोरनूद्यमानतया पात्रप्रवेशहेतुत्वम् । समयाह्वनयोस्तु सूचकत्वेनेति ।

वाक्येन यथा हरिश्चन्द्रे—

"सत्त्वैकतानवृत्तीनां प्रतिज्ञातार्थकारिणाम् ।
प्रभविष्णुर्न देवोऽपि किं पुनः प्राकृतो जनः ॥"

एतदेव पठन् हरिश्चन्द्रः प्रविशति ।

अर्थेन यथा वेणीसंहारे—

"निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां,
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुता सभृत्याः ॥"

आमुखके अङ्गभूत पात्रप्रवेशके नियम—

अब आमुखके अङ्गभूत नाट्यके पात्रोंके प्रवेशके विधिको कहते हैं—

[सूत्र १५८]—[भाव अर्थात्] सूत्रधार अथवा स्थापकके द्वारा कहे हुए वाक्य [अथवा उसके] अर्थ, [अथवा] काल, [अथवा] नामके द्वारा [नाट्यके मुख्य] पात्रका प्रवेश होता है [या कराना चाहिए] ।

समय अर्थात् काल । आह्वान अर्थात् संज्ञा [नाम] । सूत्रधार अथवा स्थापकके द्वारा कहे गए इन [वाक्य, अर्थ, समय तथा नाम] के द्वारा पात्र अर्थात् मुख्य नायक आदिके वेष को धारण करनेवाले नटादिका संक्रम अर्थात् प्रवेश होता है । वाक्य तथा अर्थका अनुवाद द्वारा पात्रप्रवेशके प्रति हेतुत्व होता है और काल तथा नामका, सूचक होनेसे ।

वाक्यके द्वारा [प्रवेश] जैसे हरिश्चन्द्रमें—

'एकमात्र सात्त्विक वृत्तिवालों, और प्रतिज्ञात अर्थको पूर्ण करनेवालों [के कार्य] का भगवान भी बाधक नहीं हो सकता है, तब साधारण मनुष्यों [के बाधक बन सकने] की तो बात ही क्या है ।"

[आमुखमें सूत्रधार पठित] इसी वाक्यको बोलते हुए [प्रधान पात्र] हरिश्चन्द्र प्रवेश करता है ।

अर्थके द्वारा [प्रवेशका उदाहरण] जैसे वेणीसंहारमें—

"शत्रुओंके नष्ट हो जानेसे जिनका वैर रूप अग्नि शान्त हो गया है इस प्रकारके पांडव लोग कृष्णके साथ आनन्द मनाएँ । और रक्तसे भूमिको सुशोभित करनेवाले [अथवा रक्तेभ्यः प्रियजनेभ्यः प्रसाधिता दत्ता भूर्यैः, ते रक्तप्रसाधितभुवः] अपने प्रिय सेवकोंको भूमि प्रदान करनेवाले, तथा जिनके विग्रह अर्थात् शरीर घायल हो गये हैं [अथवा जिन्होंने विग्रह अर्थात् युद्ध समाप्त कर दिया है] इस प्रकारके कौरव लोग अपने भृत्योंके सहित स्वर्गमें स्थित [अथवा स्वस्थ शरीर] हों ।"

इत्यस्य वाक्यस्य छन्दसा ग्रथितस्य चतुर्थपादेन 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' इत्यनेनार्थं गृहीत्वा भीमः ।

समयेन यथा छलितरामे—

"आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः,
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तिः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं,
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ॥"

अत्र समानविशेषणै रामशब्दकीर्तनाच्च रामप्रवेशसूचना ।

आह्वानेन यथा अभिज्ञानशाकुन्तले—

"तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा ॥"

छन्द रूपमें ग्रथित इस वाक्यके चतुर्थ चरणके अर्थको लेकर 'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' मेरे जीते रहते कौरवगण कभी स्वस्थ बैठ सकते हैं ? यह कहते हुए भीमका प्रवेश होता है ।

समय [के वर्णन] से [मुख्यपात्रका प्रवेश] जैसे छलितराममें—

इस श्लोकमें शरत्कालके वर्णनके द्वारा रामचन्द्रका प्रवेश कराया गया है । श्लोकमें कहे हुए विशेषण शरत्काल और रामचन्द्र दोनों पक्षोंमें लगेगे । प्रथम चरणमें 'चन्द्रहास' शब्द श्लिष्ट है । शरत्काल पक्षमें उसका अर्थ चन्द्रमाका हास यह होता है । और रामचन्द्र के पक्षमें चन्द्रहासका अर्थ तलवार होता है । चतुर्थ चरणमें 'संभृतबन्धुजीवः' में शरत्पक्षमें 'बन्धुजीव' पुष्पविशेषका नाम है, और रामचन्द्रपक्षमें उसका अर्थ बन्धु अर्थात् लक्ष्मणके जीवनको बचा लेनेवाला है । तृतीय चरणमें 'घनकालमुग्रं' में शरत्पक्षमें घनकालका अर्थ वर्षाकाल है और रामचन्द्र-पक्षमें उसका अर्थ रावण है । श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

"[मेघोंके बाहर] प्रकाशित निर्मल चन्द्रमाके हासको प्राप्त करने वाला, [रामपक्षमें नंगी तलवारको हाथमें लिए हुए] विशुद्ध कान्ति वाला, यह शरत्समय, गाढ़ अन्धकारयुक्त [रामपक्षमें गहन अज्ञानान्धकारसे युक्त] भयंकर वर्षकाल [रामपक्षमें वर्षकालके समान उग्र] को विनष्ट करके बन्धुजीव पुष्पको धारण करता हुआ इस प्रकार आ गया है जैसे निर्मल नङ्गी तलवारको लिए हुए विशुद्धकान्ति और बन्धु अर्थात् लक्ष्मणके जीवनकी रक्षा कर लेने वाले रामचन्द्र भयंकर रावणको मारकर आए हों ।"

इसमें [शरत्समय तथा रामचन्द्र दोनों पक्षोंमें लगने वाले] समान विशेषणोंसे और राम शब्दका कथन करनेसे रामचन्द्रके प्रवेशकी सूचना मिलती है ।

[आह्वान अर्थात्] नामसे [पात्रप्रवेशकी सूचनाका उदाहरण] जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल, में—

"[आमुखमें सूत्रधार नटीसे कहता है] तुम्हारे मनोहर गीतरागसे यह मैं ऐसे हरणकर लिया गया हूँ जैसे मनोहर और अत्यंत वेगवान् इस मृगके द्वारा यह राजा दुष्यन्त [हरणकर लिया गया है] ।"

अत्र नान्द्य-आमुखयोः सम्बन्धनार्थं कविना भाविप्रवेशस्य पात्रस्य युक्त्या नामग्रहणम्। पूर्वत्र समानविशेषणबलान्नामागतमित्यनयोर्विशेष इति।

एषां च नान्द्यपात्रप्रवेशप्रकाराणामन्यतम एवैकश्चमत्कारी निबन्धनीयः। अन्यथा पात्रप्रवेशग्रंथबाहुल्येन प्रस्तुतार्थविघातः स्यादिति। शब्दव्यापारबाहुल्याच्च भारत्यंशभूतत्वमस्य।

एवं प्ररोचनायाः पूर्वरङ्गाङ्गभूताया अपीति। पात्रप्रवेशस्य पूर्वो भाग आमुखम्। उत्तरः पुनर्नान्द्यमिति॥

अथ प्ररोचनां व्याचष्टे—

[सूत्र १५६]—पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या सभ्यौन्मुख्यं प्ररोचना ॥[४]१०६॥

पूर्वं नान्द्यात् प्रथमं, गीत-ताल-वाद्य-नृत्तानि नान्द्यादिकं च पाठ्यं व्यस्तं समस्तं च प्रयुज्यते यत्र रङ्गे रञ्जनाहेतौ नाट्यशालायां स पूर्वरङ्गः। अस्य च पूर्वरङ्गस्य प्रत्याहारादीनि आसारितान्तानि नव अन्तर्जवनिकं, गीतकादीनि प्ररोचनान्तानि च दश बहिर्जवनिकं अङ्गानि प्रयोज्यानि पूर्वाचार्यैर्लक्षितानि। अस्माभिस्तु स्वतो लोक-

---

इस [उदाहरण] में नाट्य तथा आमुखका सम्बन्ध जोड़नेके लिए कविने आगे होने वाले पात्रके प्रवेशके लिए युक्तिपूर्वक [दुष्यन्तके] नामका ग्रहण किया है [अतः यह आह्वान द्वारा पात्रप्रवेशका उदाहरण है] पहिले ['आसादित प्रकट निर्मलचन्द्रहास' आदि उदाहरण में] तो समान विशेषणोंके बलसे नाम प्राप्त हो जाता है [मुख्यरूपसे उसमें समयका ही वर्णन है। किन्तु इसमें मुख्य रूपसे दुष्यन्तके नाम ही कथन है] यह इन दोनों उदाहरणोंका भेद है।

पात्रप्रवेशके इन [चार] प्रकारोंमें से किसी एक ही चमत्कार-जनक प्रकारका अवलम्बन करना चाहिए। अन्यथा [सब प्रकारोंका अवलम्बन करनेपर तो] पात्रप्रवेश विषयक ग्रंथका विस्तार हो जानेसे प्रस्तुत विषयमें विघ्न पड़ेगा। इस [आमुख] में शब्द-व्यापारकी प्रचुरता होनेके कारण यह भारती वृत्तिका अंशभूत है।

इसी प्रकार पूर्वरङ्गकी अङ्गभूत प्ररोचनामें भी [शब्द-व्यापारके बहुल होनेसे भारतीय वृत्तिका अंगत्व] है। [मुख्य] पात्रके प्रवेशके पहिलेका भाग 'आमुख' [कहलाता] है और [पात्रप्रवेशके] बादका भाग नाट्य [कहलाता] है।

प्ररोचना निरूपण—

अब [भारतीय वृत्तिसे सम्बद्ध] 'प्ररोचना' की व्याख्या करते हैं—

[सूत्र १५६]—पूर्वरङ्गमें [कवि, नाट्य, सूत्रधार आदि] गुणोंकी स्तुति द्वारा सभ्यों को [नाट्य दर्शनकेलिए] उन्मुख करना 'प्ररोचना' [कहलाती] है। [४] १०६।

[पहिले कारिकामें आए हुए पूर्वरङ्ग शब्दका निर्वचन दिखलाते हैं] नाट्यके पहिले गीत, वाद्य, नृत्य नाट्यादि और पाठ्यका अलग-अलग अथवा मिलाकर जिस [भाग] में रंग अर्थात् रञ्जनाके कारणभूत नाट्यशालामें प्रयोग किया जाता है वह पूर्वरङ्ग कहलाता है। इस पूर्वरङ्गके 'प्रत्याहार'से लेकर 'आसारित' पर्यन्त नौ जवनिकाके भीतर, और गीतकादिसे लेकर प्ररोचना पर्यन्त दश जवनिकाके बाहर किए जानेवाले अंगोंके लक्षण पूर्व आचार्यों ने किए हैं। हमने तो उनके १ स्वतः लोकसिद्ध होनेका कारण, २ उनके वर्णनक्रमके

प्रसिद्धत्वात्, तन्न्यासक्रमस्य निष्फलत्वाद्, विविधदेवतापरितोषरूपस्य तत्फलस्य च श्रद्धालुप्रतारणमात्रत्वादुपेक्षितानि। प्ररोचना तु पूर्वरङ्गांगभूतापि नाट्ये प्रवृत्तौ प्रधानमिति लक्ष्यते।

तत्र पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या प्रस्तुतप्रबन्धार्थस्य प्रीत्यादिहेतुत्वप्रशंसनेन सामाजिकानां श्रवणावलोकनोत्साहोत्पादनं प्रकृतोऽर्थः प्रकर्षेण रोच्यते उपादेयतया ध्रियतेऽनयेति प्ररोचना। यथा क्षीरस्वामिविरचिते अभिनवराघवे—

"स्थापकः—[सहर्षम्] आर्ये! चिरस्य स्मृतम्।

अस्त्येव राघवमहीनकथापवित्रं,
काव्यं प्रबन्धघटनाप्रथितप्रथिम्नः।
भट्टेन्दुराजचरणाब्जमधुव्रतस्य,
क्षीरस्य नाटकमनन्यसमानसारम्॥"

यथा वा रघुविलासे—

"सीतां काननतो जहार विहितव्याजः पुरा रावण—
स्तं व्यापाद्य रणेन तां पुनरथो रामः समानीतवान्।

निष्फल होनेके कारण, और ३ विविध देवताओंको प्रसन्न करने रूप उनके फलके केवल श्रद्धालुओंको धोखा देने मात्र वाला होनेसे, उनकी उपेक्षा कर दी है। [पूर्वरङ्गके उन १६ अंगोंमेंसे] 'प्ररोचना' तो पूर्वरंगका अंग होनेपर भी नाट्यमें प्रवृत्ति करानेमें मुख्य है इसलिए उसका लक्षण [हम भी] कर रहे हैं।

उस पूर्वरंग [के १६ अंगों] में, गुणोंकी स्तुति द्वारा प्रस्तुत प्रबन्धके अर्थकी आनन्द आदिके जनक रूपमें प्रशंसा करके सामाजिकोंमें उसके देखनेका उत्साह उत्पन्न करनेकेलिए प्रकृत अर्थ जिसके द्वारा [प्रकर्षेण रोच्यते] अत्यन्त रोचक बनाया जाता है अर्थात् उपादेय सिद्ध किया जाता है वह 'प्ररोचना' [कहलाती] है।

जैसे क्षीरस्वामी विरचित अभिनवराघवमें—

"स्थापक—[सहर्ष] आर्ये! बड़ी देर बाद याद आई—

रामचन्द्रकी परमोत्कृष्ट कथासे पवित्र, और नाटक रचनामें प्रसिद्ध सामर्थ्य वाले, भट्ट इन्दुराजके चरणकमलोंके चञ्चरीक, क्षीरस्वामीका अद्वितीय महत्त्व वाला [अभिनव राघव नामक काव्य अर्थात्] नाटक तो विद्यमान है ही [फिर चिन्ता किस बातकी है। सामाजिकोंको प्रसन्न करनेके लिए आज हम लोग उसी अद्वितीय नाटकका अभिनय प्रस्तुत कर सकते हैं]।"

इसमें रामचन्द्रके चरित्र और क्षीरस्वामीकी नाटक-रचना-सामर्थ्यादिकी प्रशंसा द्वारा सामाजिकोंमें नाटक-दर्शनका उत्साह उत्पन्न करनेका यत्न किया गया है इसलिए यह पर्वरंग की अंगभूत 'प्ररोचना' का उदाहरण है।

अथवा जैसे रघुविलासमें—

"पूर्वकालमें छल करके रावण सीताको वनसे हरण कर ले गया था, उसको मारकर रामचन्द्र फिर उसको छुड़ाकर लाए थे। कवियोंकी सूक्ति रूप मौक्तिक मणियोंके [उत्पादक के लिए स्वाति जलके समान तथा भू, भुवः, स्वः तीनों लोकोंको मोहित करने वाले मोहन-

एतस्मै कविसूक्तिमौक्तिकमणिस्वात्यम्भसे भूभुवः—
स्वर्व्यामोहनकार्मणाय सुकथारत्नाय नित्यं नमः ॥

यथा वा नलविलासे—

"कविः काव्ये रामःसरसवचसामेकवसति—
र्नलस्येदं हृद्यं किमपि चरितं धीरललितम् ।
समादिष्टो नाट्ये निखिलनटमुद्रापटुरहं,
प्रसन्नः सभ्यानां कटरि ! भगवानद्य स विधिः ॥" इति ।

इयं प्ररोचना पूर्वरङ्गात् प्रथमं पश्चाच्च निबध्यते । निबन्धे चास्या नावश्यम्भावनियम इति ॥ [४] । १०६ ॥

अथोद्देशप्राप्तां सात्त्वतीं लक्षयति—

[सूत्र १६०]—सात्त्वती सत्त्व-वागङ्गाभिनेयं कर्म मानसम् ।
सार्जवाधर्ष-मुद्-धैर्य-रौद्र-वीर-शमाद्भुतम् ॥[५]१०७॥

कर्मके समान [रामायणकी] इस सुन्दर कथारत्नको नमस्कार है ।

इसमें कथा भागकी प्रशंसा द्वारा उस कथाके आधारपर विरचित 'रघुविलास' नाटकके देखनेके लिए सामाजिकोंको प्रोत्साहित करनेका यत्न किया गया है ।

अथवा जैसे नलविलासमें—

"[इस नलविलास नामक नाटकका निर्माता] सरस वचनोंका निधान रामचन्द्र इस काव्यका [निर्माता] कवि है, नलका मनोहर धीरललित और अद्भुत चरित्र [इस काव्यका वर्ण्य विषय] है, और समस्त नाट्यकलाओंमें निपुण मुझको नाट्य करनेकी आज्ञा मिली है, [इससे सिद्ध होता है कि] हे सुन्दर कटि वाली [आर्ये] ! आज भगवान् सभ्योंके ऊपर प्रसन्न हो रहे हैं ।"

इसमें ग्रन्थकारने अपने बनाए हुए नवविलासकी 'प्ररोचना'को उद्धृत किया है । इस प्ररोचना भागमें कविकी भी प्रशंसा की गई है । नाटकके आधारभूत आख्यान-वस्तु, और उसका अभिनय करने वाले नटकी भी प्रशंसा की गई है । इन सबकी प्रशंसा द्वारा सामाजिकों में इस नाटकके देखनेके लिए उत्साह एवं अभिरुचि उत्पन्न करनेका यत्न किया गया है । इसलिए यह भी प्ररोचनाका उदाहरण है ।

यह प्ररोचचना पूर्वरंगके पहिले और पीछे [दोनों रूपोंमें] निबद्ध की जा सकती है । और इसके रखे जानेका कोई आवश्यक नियम नहीं है । [अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक नाटकमें प्ररोचना अवश्य ही रखी जाए । कवि इस विषयमें स्वतन्त्र है । वह चाहे तो प्ररोचना रखे चाहे न रखे । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है फिर भी अधिकांश नाटकोंमें 'प्ररोचना' पाई ही जाती है ॥ १०६ ॥ [४] ।

२ सात्त्वती वृत्तिका निरूपण—

अब उद्देशक्रमसे प्राप्त सात्त्वती [वृत्ति] का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १६०]—मानसिक, वाचिक तथा कायिक अभिनयोंसे सूचित, आर्जव, डाँट-फटकार, [आधर्ष] हर्ष और धैर्यसे युक्त, तथा रौद्र, वीर, शान्त एवं अद्भुत रसोंसे सम्बद्ध मानस व्यापार 'सात्त्वती' वृत्ति कहलाता है । [५] १०७ ।

सत् सत्त्वं प्रकाशः, तद्यत्रास्ति तत् सत्त्वं मनः, तत्र भवा सात्त्वती। संज्ञा-शब्दत्वेन बाहुलकात् स्त्रीत्वम्। सत्त्व-वागङ्गाभिनेयं सत्त्व-वागङ्गाभिनयैर्ज्ञाप्यम्। सत्त्वाभिनयवागभिनय-अङ्गाभिनययुक्तं मानसं कर्म सात्त्वतीत्यर्थः। अभिनयत्रयाभिधानेऽपि मानसव्यापारस्य सत्त्वप्रधानत्वात् सत्त्वाभिनय एवात्र प्रधानमितरौ गौणौ। अत एव सत्त्वशब्दः प्रथममुपात्तः। आर्जवमकौटिल्यम्। आधर्षो वाचा न्यक्कारः। मुद् हर्षः। धैर्यं व्यसनेऽप्यकातर्यम्। एतैः रौद्रादिभिश्च सह वर्तमानो मनोव्यापारः सात्त्वती। आर्जवस्योपादानादत्र कपटाभावः। आधर्षख्यापनादुद्धतपुरुषसद्भावः। मुत्प्रतिपादनाच्छोक-करुण-निर्वेदाभावः। धैर्याभिधानात् स्त्र्यादिसङ्गमौत्सुक्याभावश्चाभिहितो भवति।

रौद्ररसयोगेऽपि केषाञ्चित् सत्त्वं प्रकाशरूपं दृश्यत एवेति रौद्रोपादानम्। वीर-रसश्चात्र युद्ध-दान-दयावीरादिरूपः, सत्त्वबाहुल्याद् गृह्यते। 'शम' इति च शम-स्थायिभावः शान्तो रसो द्रष्टव्यः। अरिषड्वर्गजयस्य सत्त्वैकनिबन्धनत्वात्। अद्भुतोऽप्यन्य-सत्त्वावलोकनात् सात्त्विकानां दृश्यत एवेति। इदं च मानसं कर्म विचित्राभिर्गम्भीरोक्तिभिः प्रारब्धकार्यापरित्यागात्, कार्यान्तरपरिग्रहेण, संग्रामाय परोत्साहनेन, सामादि-प्रयोग-दैवादिना अरिसंघातभेदजननेनान्यैश्च बहुभिः प्रकारैर्लक्ष्यते इति॥ [५] १०७॥

सत् अर्थात् सत्त्व या प्रकाश [का नाम है], वह जिसमें रहता है वह मन सत्त्व हुआ। उसमें रहनेवाली [मानस व्यापार रूप] सात्त्वती वृत्ति होती है। संज्ञा शब्द होनेसे बहुल करके [सात्त्वती शब्दसेमें] स्त्रीलिङ्ग [वाचक ङीप प्रत्यय हुआ] है। 'सत्त्ववागंगाभिनेय' [का अर्थ] मानस, वाचिक तथा कायिक अभिनयोंके द्वारा ज्ञाप्य [व्यापार है]। मानसिक अभिनय, वाचिक अभिनय, और कायिक अभिनयसे युक्त मानसिक व्यापार 'सात्त्वती' वृत्ति [कहलाता] है, यह अभिप्राय है। [मानसिक, वाचिक तथा कायिक] तीनों प्रकारके अभिनयोंके कहे जानेपर भी मानस व्यापारके ही सत्त्व-प्रधान होनेसे इन [तीनों] में सत्त्वाभिनय ही प्रधान है और शेष दोनों गौण हैं। इसीलिए सत्त्व शब्दका सबसे पहले ग्रहण किया गया है। [कारिकामें आए हुए 'आर्जव' आदि शब्दोंका अर्थ करते हैं] 'आर्जव' अर्थात् कुटिलताका अभाव 'आधर्ष' अर्थात् वाणीके द्वारा तिरस्कार [डाँट-फटकार]। 'मुत्' अर्थात् हर्ष। 'धैर्य' अर्थात् विपत्तिकालमें भी न घबराना। इनसे और रौद्रादिसे युक्त मानस-व्यापार 'सात्वती' वृत्ति [कहलाता] है। आर्जवके ग्रहणसे इसमें कपटका अभाव [सूचित होता है]। 'आधर्ष'के कथनसे उद्धत पुरुषोंका सद्भाव [सूचित होता है]। हर्षका प्रतिपादन होनेसे शोक, करुण निर्वेदका अभाव [सूचित होता है]। 'धैर्य' के कथनसे स्त्री आदिके सङ्गमके प्रति औत्सुक्यका अभाव सूचित होता है।

रौद्ररसका योग होनेपर भी किन्हीं-किन्हींमें प्रकाश-रूप सत्त्व दिखलाई देता है। इस-लिए रौद्रका ग्रहण किया है। और इस [सात्त्वती वृति] में वीररससे युद्धवीर, दानवीर, दयावीर आदिका ग्रहण सत्त्व-प्रधान होनेसे होता है। 'शम' पदसे शम जिसका स्थायिभाव है उस शांतरसका ग्रहण होता है। क्योंकि [शांतरसमें किए जानेवाले काम-क्रोधादि] छः मानस शत्रुओंके सत्त्व-प्रधान होनेसे [शमका ग्रहण किया है]। अन्योंके सत्त्वको देखनेसे सात्त्विक वृत्तियोंके लोगोंमें अद्भुत भी पाया जाता है। [इसलिए इसका भी ग्रहण किया गया है]। यह मानस-व्यापार नाना प्रकारकी गम्भीर उक्तियों द्वारा, प्रारब्धकार्यके [सैकड़ों विघ्न पड़ने

अथ कैशिकी—

[सूत्र १६१]—कैशिकी हास्य-शृङ्गार-नाट्य-नर्मभिदात्मिका ।

अतिशायिनः केशाः सन्त्यासामिति केशिकाः स्त्रियः । 'स्तनकेशवतीत्वं हि स्त्रीणां लक्षणम्' । तत्प्रधानत्वात् तासामियं कैशिकी । हास्य-शृङ्गाराभ्यां स्त्रीबाहुल्य-विचित्रप्रकारनेपथ्य-कामव्यवहाराणां सद्भावमाह । नाट्यं नृत्त-गीत-वादित्राणि । अग्राम्य इष्टजनावर्जनरूपो वाग्-वेष-चेष्टाभिः परिहासो नर्म । वाचा यथा—

"पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥"

यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे—

"राजा—[विहस्य] विहङ्गराज ! निःशेषवेश्याचक्रवर्तिनीमेनां लम्बस्तनीमुपश्लोकय ।

शुकः—पुण्यप्रागल्भ्यलभ्याय वेश्यापण्याय मङ्गलम् ।
यत्र प्रतीपाः शास्त्रस्य, कामादर्थप्रसूतयः ॥"

पर भी] न छोड़नेसे, नए कार्योंका [भी] स्वीकार कर लेनेसे, संग्रामादिके लिए दूसरोंको उत्साहित करनेसे, साम आदिके प्रयोग अथवा दैवादिवश शत्रु-समुदायमें भेद डालनेसे और इसी प्रकारके अन्य बहुतसे प्रकारोंसे लक्षित हो सकता है ॥[५]१०७॥

३ कैशिकी वृत्तिका निरूपण—

अब कैशिकी [वृत्तिका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६१]—हास्य, शृङ्गार [नृत्य, गीत आदि रूप] नाट्य तथा [नर्म अर्थात् शिष्ट परिहास आदिके भेदोंसे युक्त कैशिकी [वृति] होती है ।

अतिशय युक्त केश जिनके हों वे स्त्रियां कैशिका हुई [अर्थात् कैशिकी वृतिकी उत्पति केश शब्दसे हुई है । लम्बे केशोंसे युक्त होनेके कारण स्त्रीको 'केशिका' कहा जाता है] क्योंकि 'स्तनकेशवती स्त्री' यह स्त्रीका लक्षण है । उनका प्राधान्य होनेसे उनकी यह वृत्ति 'कैशिकी' कहलाती है । उसमें हास्य और शृङ्गार शब्दोंसे स्त्रीजनोंकी अधिकता, नाना प्रकारके वेष-विन्यास, तथा कामव्यवहारोंकी उपस्थिति सूचित की है । 'नाट्य' से नृत्य, गीत, वाद्यका ग्रहण होता है । इष्टजनोंको आकर्षित करनेवाला, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदिकेद्वारा किया जानेवाला शिष्ट [अग्राम्य] परिहास नर्म [कहलाता] है । वाणीके द्वारा [नर्मका उदाहरण] जैसे—

"पैरोंमें महावर लगा चुकनेपर सखीके द्वारा परिहासपूर्वक इस [चरण] से पति [शिव] के सिरपर स्थित [सपत्नी रूप] चन्द्रकलाका स्पर्श करना इस प्रकार आशीर्वाद किएजाने पर बिना उत्तर दिए हुए ही उसने [अर्थात् पार्वतीने] उस [सखी] को मालासे मार दिया ।"

अथवा जैसे सत्यहरिश्चन्द्रमें [वाचिक नर्मका उदाहरण निम्न प्रकार है]—

"राजा—[हँसकर] हे विहङ्गराज ! [मन्त्रिन् शुकदेव] समस्त वेश्याओंकी चक्रवर्तिनी इस लम्बस्तनीकी प्रशंसा तो करो ।

शुक—पुण्य सम्भारसे प्राप्त होनेवाले वेश्या-व्यापारका भला हो जिसमें शास्त्रीय विधानके विपरीत, कामसे अर्थकी प्राप्ति होती है [शास्त्रमें तो अर्थसे कामको प्राप्ति

वेषेण यथा—नागानन्दे विदूषक-शेखरव्यतिकरे।

चेष्टानर्म यथा मालविकाग्निमित्रे—

निपुणिका विदूषकस्योपरि सर्पविभ्रमकारि दण्डकाष्ठं पातयति। इति।

एतच्च कचिन्मानात्, कचिद्धास्यात्, कचित् शृङ्गार-हास्यात्, कचिद् भय-हास्यात्, कचित् सापराधप्रिय-प्रतिभेदनात्, कचित् पूर्वनायिका-प्रतिभयात्, इत्याद्यनेकधा द्रष्टव्यम्।

अत्र शृङ्गाररसेन रत्याख्यो मानसो, हास्येन नर्मभेदैश्च वाचिको, नाट्येन कायिकश्च व्यापारः संगृहीत इति व्यापारत्रयसङ्करात्मिकेयमिति।

अथारभटी—

[सूत्र १६२]—आरभट्यनृत-द्वन्द्व-छद्म-दीप्तरसान्विता ॥[६]१०८॥

आरेण प्रतोदकेन तुल्या भटा उद्धताः पुरुषा आरभटाः। ते सन्त्यस्यामिति 'ज्योत्स्नादित्वादणि' आरभटी। अनृतमसत्यम्। द्वन्द्वयुद्धमनेकप्रकारम्। छद्म वञ्चनाहेतुः प्रयोगः। अनेन इन्द्रजाल-पुस्तप्रयोग-च्छेद्य-भेद्यादिग्रहः। दीप्ता रसा रौद्रादय

कही गई है किन्तु वेश्या-व्यापारमें इसके विपरीत कामसे अर्थकी प्राप्ति वेश्याओंको होती है]।"

वेषके द्वारा [परिहास रूप नर्मका उदाहरण] जैसे नागानन्दमें विदूषक और शेखर के सम्पर्कमें [हुआ है]।

चेष्टाके द्वारा परिहासका [उदाहरण] जैसे मालविकाग्निमित्रमें—

निपुणिका विदूषकके ऊपर सर्पकी भ्रांति उत्पन्न करने वाले लकड़ीके [टेढ़े-मेढ़े] डण्डेको डाल देती है।

यह [परिहास या नर्म] कहीं मानके कारण, कहीं हास्यके कारण, कहीं शृंगारजनक हास्यके लिए, कहीं भयजनक हास्यके लिए, कहीं अपराधी प्रियके प्रतिभेदनके कारण, और कहीं पूर्व नायिकाके भयके कारण, इस प्रकार अनेक तरहका होता है।

यहाँ [कारिकामें आए हुए] शृङ्गाररससे रति-रूप मानस-व्यापारका, हास्य [पद] से और परिहासके [पूर्वोक्त] भेदोंसे वाचिक-व्यापारका, तथा 'नाट्य' [पद] से कायिक व्यापार का संग्रह होता है। इसलिए यह [कैशिकी वृत्ति] तीनों प्रकारके व्यापारोंके सङ्कर रूप है। [अर्थात् कैशिकी वृत्तिमें तीनों प्रकारके व्यापारोंका समावेश रहता है]।

४ आरभटी वृत्तिका निरूपण—

अब आरभटी [वृत्तिका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६२]—अनृतभाषण, छल-प्रपञ्च, द्वन्द्वयुद्ध, तथा [रौद्र आदि] दीप्तरसोंसे युक्त [वृत्ति] आरभटी [वृत्ति कहलाती] है। [६] १०८।

'आर' अर्थात् चाबुकके समान, जो भट अर्थात् उद्धत पुरुष, वे 'आरभट' हुए। वे जिसमें प्रचुर मात्रामें हों वह [आरभट शब्दको] ज्योत्सनादि गणपठित मानकर अण्-प्रत्यय करनेपर आरभटी [वृत्ति कहलाती] है। [लक्षणमें आए हुए अनृतादि शब्दोंका अर्थ करते हैं] अनृत अर्थात् असत्य भाषण। द्वन्द्वयुद्ध अनेक प्रकारका हो सकता है। धोखा देनेकेलिए किए जाने वाला प्रयोग छद्म कहलाता है। इसके द्वारा इन्द्रजाल [पुस्त लेप्यादि निर्मित] पुतली आदिका

औद्धत्यावेगादिहेतवः। अत्रानृतादिभिर्विचित्रनेपथ्य किलिञ्जहस्तिप्रयोग-मायाशिरोदर्शनादिकं, भय-हर्षातिशयाकुलितपात्रप्रवेशः, पूर्वनायकावस्थायाः परित्यागेन नायकावस्थान्तरग्रहो अवस्कन्द-अग्न्यादिकृतविद्रवादिकं, विविधस्थायि-व्यभिचारिभावयुक्तं प्रसंगागतकार्यादिकं बाहुयुद्ध-शस्त्रप्रहारादिकं च संगृह्यते। अत एवेयं सर्वाभिनयात्मिका सर्वव्यापारात्मिका च।

तत्र विचित्रं नेपथ्यं वेणीसंहारे अश्वत्थाम्नः। उदयनचरिते किलिञ्जहस्तिप्रयोगः। मायाशिरोदर्शनं रामाभ्युदये। बलीमुखेन पात्रप्रवेशो रत्नावल्याम्। हर्षेण वामनचेट्याः प्रवेशः सत्यहरिश्चन्द्रे। बालिनेतृत्यागेन सुग्रीवनेत्रन्तरग्रहणम्। परशुरामस्यौद्धत्यावस्थात्यागेन शान्तावस्थान्तरग्रहणम्। विचित्रभावं कार्यान्तरं कृत्यारावणे। तथा हि अंगदेनाऽभिद्रूयमाणाया मन्दोदर्या भयम्। अंगदस्योत्साहः। अस्यैव रावणदर्शनेन 'एतेनापि सुराजिताः' इत्यादि वदतो हासः। 'यस्तातेन निगृह्य बालक इव प्रक्षिप्य कक्षान्तरे' इति च जल्पतो जुगुप्सा-हास-विस्मयाः। रावणस्य रति-क्रोधौ। नियुद्धादि तु रामायणीयेषु इन्द्रजिल्लक्ष्मणयोरिति ॥[६]१०८॥

प्रयोग तथा छेद्य-भेद्य आदिका ग्रहण होता है। औद्धत्य, आवेगादिके कारणभूत रौद्रादिरस दीप्तरस [कहलाते] हैं। इसमें अनृतादिसे, नाना प्रकारके वेष विन्यास, [किलिञ्जहस्तिप्रयोग अर्थात्] चटाई आदिसे बने हुए [बनावटी] हाथीका प्रयोग, तथा [मायाशिरोदर्शन अर्थात्] बनावटी शिर आदिका दिखलाना [गृहीत होता है], भय तथा हर्षके अतिशयसे व्याकुल पात्रका प्रवेश, नायककी पूर्वावस्थाको छोड़कर नायककी दूसरी अवस्थाका ग्रहण, आक्रमण या अग्नि आदिके द्वारा किए जानेवाली भगदड़, आदि रूप नाना प्रकारके स्थायि-व्यभिचारिभावोंसे युक्त प्रासंगिक कार्यादि, बाहुयुद्ध और शस्त्रप्रहारादिका संग्रह हो जाता है। इसलिए यह [आरभटी वृत्ति कायिक, वाचिक तथा मानसिक] सब प्रकारके अभिनयोंसे युक्त और सब प्रकारके व्यापारों वाली [वृत्ति] है।

उनमें विचित्र वेष-विन्यास [का उदाहरण] जैसे वेणीसंहारमें अश्वत्थामाका [विचित्र वेष-विन्यास वर्णित है]। उदयनके चरित्रमें बनावटी हाथीका प्रयोग पाया जाता है। बनावटी शिरका दर्शन जैसे रामाभ्युदयमें [रामके बनावटी कटे हुए सिरका दर्शन सीता को कराया गया] है। [बलीमुख अर्थात्] बन्दरके भयसे प्रवेश [का उदाहरण] जैसे रत्नावली में [पाया जाता है]। हर्षसे जैसे सत्यहरिश्चन्दमें वामनचेटीका प्रवेश [वर्णित है]। बालीके नेतृत्वको छोड़कर सुग्रीवके नेतृत्वको स्वीकार करना। परशुरामकी उद्धतावस्थाको छोड़कर दूसरी शान्तावस्थाका वर्णन [ये दोनों नायकान्तर और अवस्थान्तरके ग्रहणके उदाहरण हैं]। विचित्र प्रकारके [प्रासङ्गिक] अन्य कार्य [का उदाहरण] जैसे कृत्यारावणमें [निम्न प्रकार पाया जाता है] अङ्गदके द्वारा पीछा किए जानेपर मन्दोदरीका भय, अङ्गदका उत्साह, इस [अङ्गदके द्वारा ही रावणको देखनेपर 'अच्छा इस [रावण] ने भी देवताओं को जीता था' इस प्रकार कहते हुए [रावणका] हास्य बनाना, और 'जिसको [रावण] पिताजी [अर्थात् अङ्गदके पिता बाली] ने बालकके समान पकड़कर कोठरीमें [बन्द कर दिया था]' इस प्रकार कहते हुए [रावणके प्रति अङ्गदकी] घृणा, हास्य और विस्मय [का वर्णन] तथा रावणके रति, क्रोध [ये सब प्रसङ्गोचित कार्योंके उदाहरण हैं]। रामायणके आधारपर

अथ 'रसभावाभिनयगाः' इत्यतो वृत्तिलक्षणात् प्रथमं रसमाचष्टे—

[सूत्र १६३]—स्थायी भावः श्रितोत्कर्षो विभाव-व्यभिचारिभिः ।
स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुख-दुःखात्मको रसः ॥[७]१०६॥

प्रतिक्षणमुदय-व्ययधर्मकेषु बहुष्वपि व्यभिचारिष्वनुयायितयावश्यं तिष्ठतीति स्थायी । यद्वा तद्भाव एव भावात् अभावे वाभावात् रत्यादिर्व्यभिचारिणं ग्लान्यादिकं प्रत्यवश्यं स्थायी । उपचयं प्राप्य रसरूपेण रत्यादिर्भवतीति भावः । विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनरूपैर्बाह्यैर्हेतुभिः सत एवाविर्भावाद्, व्यभिचारिभिर्ग्लान्यादिभी रसिकमनः-शरीरवर्तिभिः परिपोषणाच्च श्रितोत्कर्षः । स्वीकृतसाक्षात्कारित्वानुभूयमानावस्थो, यथासम्भवं सुख-दुःखस्वभावो रस्यते आस्वाद्यते इति रसः ।

तत्रेष्टविभावादिग्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृंगार-हास्य-वीर-अद्भुत-शान्ताः सुखात्मानः । अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुण-रौद्र-बीभत्स-भयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः ।

बने नाटकादिमें लक्ष्मण और मेघनादके नियुद्ध आदि [के उदाहरण हैं] ॥[६] १०८ ॥

रस निरूपण—

[इस प्रकार भारती आदि चारों वृत्तियोंके लक्षण हो जानेके बाद] अब वृत्तिके [सामान्य] लक्षणमें आए हुए 'रस-भावाभिनयगाः' इस पदमेंसे सबसे पहिले रसका वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

[सूत्र १६३]—विभाव तथा व्यभिचारिभाव आदिके द्वारा परिपोषको प्राप्त होने वाला, स्पष्ट अनुभावोंके द्वारा प्रतीत होनेवाला, स्थायिभाव [रूप ही] सुख-दुःखात्मक [अर्थात् केवल सुखात्मक अथवा केवल दुःखात्मक न होकर उभयात्मक] रस होता है । [७] १०६ ।

[यह ग्रन्थकारने रसका लक्षण किया है । अब उसमें आए हुए स्थायिभावादिका स्वरूप दिखलाते हैं] प्रतिक्षण उदय तथा अस्त होने वाले अनेक व्यभिचारिभावोंमें जो अनुगतरूपसे अवश्य विद्यमान रहता है वह 'स्थायिभाव' [कहलाता] है । अथवा उस [स्थायिभाव] की विद्यमानतामें ही होने और उसकी अविद्यमानतामें [व्यभिचारिभावोंके] न होनेसे, व्यभिचारिभाव ग्लानि आदिके प्रति, रत्यादि अवश्य स्थायिभाव होता है । [यह स्थायी शब्दका अर्थ हुआ अब आगे स्थायीके आगे जुड़े हुए भाव शब्दका अर्थ करते हैं । [व्यभिचारिभाव आदि सामग्रीके द्वारा] परिपोषको प्राप्त करके रत्यादि, रसरूप हो जाता है इसलिए ['भवतीति भावः इस व्युत्पत्तिके अनुसार रत्यादि] 'भाव' [कहलाता] है । विभावों अर्थात् ललना और उद्यान आदि [रूप] आलम्बन तथा उद्दीपन विभावरूप बाह्य हेतुओंके द्वारा पूर्वसे ही विद्यमान [रत्यादि स्थायिभाव] का आविर्भाव होनेसे, और रसिकोंके मनमें विद्यमान ग्लानि आदि व्यभिचारिभावोंके द्वारा परिपुष्ट होनेके कारण, उत्कर्षको प्राप्त [अर्थात्] साक्षात्कारात्मक अनुभूयमानावस्थाको प्राप्त होनेवाला, यथासम्भव सुख-दुखोभयात्मक [स्थायिभाव 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्तिसे] आस्वाद्यमान होनेसे रसपदसे वाच्य [बोधित] होता है ।

[रसके इस लक्षणमें रसको सुख-दुःखात्मक अर्थात् उभयात्मक माना है । उन दोनों प्रकारके रसोंका विभाग आगे दिखलाते हैं] उनमेंसे इष्ट विभावादिके द्वारा स्वरूपसम्पत्तिको

यत् पुनः सर्वरसानां सुख-दुखात्मकत्वमुच्यते तत् प्रतीतिबाधितम्। आस्तां नाम मुख्यविभावोपचिताः, काव्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो वा रसास्वादवतामनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अतएव भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादादुद्वेगो घटते।

यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कवि-नटशक्तिकौशलेन। विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणापि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः। अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते। कवयस्तु सुख-दुःखात्मकसंसारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुख-दुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति। पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इति। अपि च सीतायाः हरणं, द्रौपद्याः कचाम्बराकर्षणं, हरिश्चन्द्रस्य चाण्डालदास्यं, रोहिताश्वस्य मरणं,

---

प्रकाशित करने वाले शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त [ये पाँच] सुखप्रधान रस हैं। और अनिष्ट विभावादिके द्वारा स्वरूप लाभ करने वाले करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार दुःखात्मक रस हैं।

[कुछ आचार्योंके द्वारा] जो सब रसोंको सुखात्मक बतलाया जाता है वह प्रतीति के विपरीत [होनेसे अमान्य असंगत] है। मुख्य [अर्थात् वास्तविक] विभावोंसे उत्पन्न [करुण आदिकी दुःखात्मकताकी तो बात ही जाने दो, काव्यके अभिनयमें प्राप्त [बनावटी] विभाव आदिसे उत्पन्न हुआ भी भयानक, बीभत्स, करुण अथवा रौद्ररस आस्वादन करने वालोंकी कुछ अवर्णनीयसी क्लेशदशाको उत्पन्न कर देता है। इसी लिए भयानक आदि [दृश्यों] से सामाजिकोंको घबराहट होती है। [यदि सब रस सुखात्मक ही होते तो] सुखास्वादसे तो किसीको उद्वेग नहीं होता है। [इसलिए करुणादि रस दुःखात्मक ही होते हैं]।

और जो इन [करुणादिरसों] से भी सहृदयोंमें चमत्कार दिखलाई देता है वह रसास्वादके समाप्त होनेके बाद यथास्थित जैसे-तैसे पदार्थोंको दिखलाने वाले कवि और नटजनोंके कौशलके कारण होता है। क्योंकि वीरताके अभिमानी जन भी [एक ही प्रहारमें] सिरको काट डालने वाले, प्रहार-कुशल वरी [के कौशलको देखकर, उस] से भी विस्मय [और तज्जन्य चमत्कार] को अनुभव करते हैं। सम्पूर्ण अङ्गोंको आनन्द प्रदान करने वाले [सब इन्द्रियोंके आह्लादक], कवि और नटजनोंकी शक्ति [कौशल] से उत्पन्न चमत्कारके द्वारा धोखेमें आकर बुद्धिमान् लोग भी दुःखात्मक करुणादि रसोंमें भी परमानन्द रूपता समझने लगते हैं। और इनका आस्वादन करनेके लोभका संवरण न कर सकनेके कारण प्रेक्षक सामाजिक भी इन [के आस्वादन]में प्रवृत्त होते हैं। कविगण तो सुख-दुःखात्मक संसारके अनुरूप ही रामादिके चरित्रकी रचना करते समय सुख-दुःखात्मक रसोंसे युक्त ही [काव्य नाटक आदि की] रचना करते हैं। पने का माधुर्य जैसे [उसमें पड़ी हुई मिर्चके] तीखे आस्वादसे और अधिक अच्छा प्रतीत होता है इसी प्रकार [करुणादि दुःखप्रधान रसोंमें] दुःखके [तीखे] आस्वादसे मिलकर सुखोंकी अनुभूति और भी अधिक आनन्ददायिनी बन जाती है। और [नाटकादिमें] सीताके हरण, द्रौपदीके केश एवं वस्त्रोंके खींचे जाने, हरिश्चन्द्रकी चाण्डालके

लक्ष्मणस्य शक्तिभेदनं, मालत्या व्यापादनारम्भणमित्याद्यभिनीयमानं पश्यतां सहृदयानां को नाम सुखास्वादः ?

तथानुकार्यगताश्च करुणादयः परिदेवितानुकार्यत्वात्[1] तावद् दुःखात्मका एव। यदि चानुकरणे सुखात्मानः स्युर्न[2] सम्यगनुकरणं स्यात्। विपरीतत्वेन भासनादिति।

योऽपीष्टादिविनाशदुःखवतां करुणे वर्ण्यमानेऽभिनीयमाने वा सुखास्वादः सोऽपि परमार्थतो दुःखास्वाद एव। दुःखी हि दुःखितवार्तया सुखमभिमन्यते। प्रमोद-वार्तया तु ताम्यतीति करुणादयो दुःखात्मान एवेति।

विप्रलम्भशृङ्गारस्तु दाहादिकार्यत्वाद् दुःखरूपोऽपि सम्भोगसम्भावनागर्भत्वात् सुखात्मकः।

यहाँ दासता, रोहिताश्वके मरण, लक्ष्मणके शक्तिभेदन, मालतीके मारनेके उपक्रम आदिके अभिनयको देखने वाले सहृदयोंको सुखका आस्वाद कैसे हो सकता है ? [इसलिए करुणादि रसोंको सुखात्मक मानना उचित नहीं है। इसी बातके समर्थनकेलिए आगे और भी युक्ति देते हैं]।

और अनुकार्यगत [अर्थात् रामचन्द्र आदिके वास्तविक जीवनमें सीतावियोगके समय] करुणादि विलापादियुक्त होनेके कारण निश्चित रूपसे दुःखात्मक ही होते हैं। यदि उनको अनुकरण [रूप नाटकादि] में सुखात्मक माना जाय तो वह सम्यक् अनुकरण नहीं हो सकता है। [वास्तविक दुःखात्मक प्रतीतिसे] विपरीत रूपमें [नाटकादिमें] प्रतीत होनेसे [नाटकादिमें रामके वृत्तका यथार्थ अनुकरण नहीं बनेगा। इस कारण भी करुणादिको दुःखात्मक ही मानना पड़ेगा]।

कभी-कभी किसी इष्टजनके विनाशके समय उसको सान्त्वना देनेकेलिए लोग किसी अन्यके इसी प्रकारके दुःखका वर्णन आदि करते हैं। और उस प्रकारके दूसरेके दुःखको सुनकर या देखकर दुःखित व्यक्तिको कुछ सान्त्वना और अपने कष्टको सहनेका बल मिलता है परन्तु वह सुख नहीं है। वह दुःखास्वाद ही है। दुःखी व्यक्तिके सामने दूसरोंके उसी प्रकारके दुःखके वर्णनसे तो उसको सान्त्वना मिलती है किन्तु यदि उस दुःखके समय उसके सामने नाच-रंग आदि आनन्द वार्ताकी चर्चा की जाय तो वह उसको बुरी मालूम होती है। इसलिए करुणादि रस दुखात्मक ही है इस बातको आगे ग्रन्थकार इस प्रकार लिखते हैं—

और इष्टजनके विनाशसे दुःखियोंके सामने करुणादिका वर्णन किए जाने अथवा अभिनय किए जानेपर जो सुखास्वाद होता है वह ही वास्तवमें दुःखास्वाद ही होता है। दुःखी व्यक्ति दूसरे दुःखी व्यक्तिकी दुःख-वार्तासे सुख-सा [सान्त्वना-सी] अनुभव करता है। और प्रमोदकी वार्तासे [उस समय] उद्विग्न होता है। इसलिए भी करुण आदि रस दुःखात्मक ही होते हैं [उनको सुखात्मक रस नहीं माना जा सकता है]।

विप्रलम्भ शृंगार तो [इष्टजनके] दाहादि [द्वारा विनाशकी प्रतीति] से जन्य होनेके कारण दुःखरूप होनेपर भी उसमें पुनर्मिलन [सम्भोग] की सम्भावना बनी रहनेसे सुखात्मक [कहा गया] है।

इस पंक्तिमें ग्रन्थकारने करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गारका भेद दिखलाया है। करुण-

१. तालिकार्यत्वात्। २. स्युर्ना।

रसश्च मुख्यलोकगतः प्रेक्षकगतः काव्यस्य श्रोतृ-अनुसन्धायकद्वयगतो वेति। 'स्पष्टाः' इति स्पष्टाः सम्यङ् निर्णीताः। असन्दिग्धं हि लिङ्गं भवति। अनुभावयन्ति

रसको दुःखात्मक और विप्रलम्भ शृङ्गारको सुखात्मक रस माना है। इस भेदका कारण यह है कि विप्रलम्भ शृङ्गारमें पुनर्मिलनकी सम्भावना बनी रहती है। किन्तु करुणमें पुनर्मिलनकी सम्भावना नहीं रहती है। रामचन्द्रके जीवनमें सीता हरणके बादका प्रसंग विप्रलम्भ शृङ्गार का प्रसंग है और सीतानिष्कासनके बादका प्रसंग करुणरसका प्रसंग है। इसी भेदको महाकवि भवभूतिने उत्तर रामचरितमें इस प्रकार दिखलाया है—

उपायानां भावादविरलविनोदव्यतिकरैः,
विमर्दैर्वीराणां जनितजगत्यद्भुतरसः।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभूत्,
कटुस्तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः॥

करुण तथा विप्रलम्भ दोनोंमें प्रियजनका वियोग होता है। उस वियोगमें दोनों जगह दुःखी व्यक्ति रुदन विलाप आदि करता है। पर इन दोनोंका भेद कराने वाली सीमारेखा मृत्यु है। मृत्युके पहले वाला वियोग विप्रलम्भका क्षेत्र है और मृत्युके बादका वियोग करुण का क्षेत्र है। विप्रलम्भशृङ्गारमें पति-पत्नीका वियोग होता है, पर किसीका मरण नहीं होता है। इसलिए उस वियोगकी अवस्थामें किया जाने वाला रुदन और विलापादि सब विप्रलम्भशृङ्गारकी सीमामें आता है। किन्तु जहाँ किसी एककी मृत्यु हो जानेके बाद उसी प्रकारका रुदन और विलाप पाया जाता है वह सब करुणकी सीमामें आता है। करुणरसकी सीमाका निर्धारण करने वाला यह मृत्यु कभी वास्तविक भी होता है और कभी अवास्तविक भी हो सकता है। अवास्तविक मृत्युका अभिप्राय यह है कि वास्तवमें मृत्यु तो नहीं हुई है किन्तु किसी कारणसे पति-पत्नी दोनोंमेंसे किसी एकने अपने दूसरे साथी की मृत्यु समझ ली है। जैसे रामचन्द्रने सीताको बनमें भिजवा देनेके बाद यह समझ लिया है कि 'क्रव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता' सीताके शरीरको निश्चय ही जंगलके मांसभक्षी सिंहादि प्राणी खा गए हैं। यद्यपि सीता मरी नहीं है किन्तु रामचन्द्रने उसको मरा हुआ समझ लिया है। फलतः उत्तररामचरितमें किया गया रामचन्द्रका सारा विलाप करुणरसका विषय, और उत्तररामचरितको करुणरस प्रधान नाटक माना जाता है। इसीलिए उत्तररामचरितमें सीताके इस वियोगको 'निरवधिरयं तु प्रविलयः' कहा गया है।

रसका आश्रय—

इस प्रकार ग्रंथकारने यहाँ तक रसोंको सुखात्मक और दुःखात्मक दो वर्गोंमें विभक्त करते हुए सारे रसोंको सुखात्मक माने जानेके सिद्धांतका विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। अब आगे और व्याख्या आरम्भ करते हैं। इसमें भी पहिली पंक्तिमें रसोके आश्रयका निरूपण करते हुए लिखते हैं कि—

और रस [मुख्य लोकगत अर्थात्] अनुकार्यगत [अर्थात् रागादिगत] होता है अथवा सामाजिकगत होता हैं [अर्थात् मुख्य रूपसे नटमें रस नहीं रहता है] और काव्यमें [काव्यके] श्रोता अथवा निर्माता [अनुसन्धायक] इन दोमें रहता है। [आगे कारिकामें आए हुए 'स्पष्टानुभावनिश्चयः' पदकी व्याख्या करते हैं] 'स्पष्टा' इससे स्पष्ट अर्थात् भली प्रकारसे निर्णीत

परस्थानपि रसानवबोधयन्तीति अनुभावाः। स्तम्भ-स्वेद-अश्रु-रोमाञ्च-भ्रूक्षेप-आदयः। तैर्यथासम्भवं सत्तया निश्चेयः।

इह तावत् सर्वलोकप्रसिद्धा परस्थस्य रसस्य प्रतिपत्तिः। सा च न प्रत्यक्षा चेतोधर्माणामतीन्द्रियत्वात्। तस्मात् परोक्षैव। परोक्षा च प्रतिपत्तिरविनाभूताद् वस्त्वन्तरात्। अत्र च रसेऽन्यस्य वस्त्वन्तरस्यासम्भवात् कार्यमेवाविनाकृतम्।

[अनुभावोंके द्वारा रसका निश्चय होता है]। क्योंकि असंदिग्ध ही लिङ्ग [अनुमापक] होता है। [आगे इस पदमें आए हुए 'अनुभाव' पदकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं] अनुभव कराते हैं अर्थात् दूसरेमें रहने वाले रसोंको लक्षित करते हैं इसलिए ['अनुभावयन्ति इति अनुभावाः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार] स्तम्भ, स्वेद, अश्रु, रोमाञ्च, भ्रूक्षेप आदि 'अनुभाव' [कहलाते] हैं। उनके द्वारा यथासम्भव सद्रूपमें निश्चय किया जानेवाला [रत्यादि स्थायिभाव रस कहलाता है]।

यहाँ [काव्य नाटक आदिमें] दूसरे [रामादि] में रहने वाले रसकी प्रतीति सारे लोक में प्रसिद्ध है। [वह अन्तःकरणवर्तिनी होती है।] और अन्तःकरणके धर्मोके इन्द्रियग्राह्य न होनेसे प्रत्यक्ष नहीं कही जा सकती है। इसलिए परोक्ष रूप ही है। और परोक्ष प्रतीति उससे अविनाभूत [अर्थात् जिसके विना वह प्रतीति नहीं बन सकती है इस प्रकारके [शब्द या लिङ्ग आदि रूप] अन्य वस्तुके द्वारा होती है। और रसमें [इस प्रकारकी] अन्य वस्तुका सम्भव न होनेसे उसका कार्य [अर्थात् अनुभावादि] ही [रसके] अविनाभूत है। इसलिए उन्हींके द्वारा रसकी प्रतीति होती है]।

इस पंक्तिमें ग्रंथकारने यह कहा था कि अनुभावादि कार्य ही रसके अविनाभूत या नान्तरीयक होते हैं इसलिए उनके द्वारा ही रसकी प्रतीति होती है। इसपर यह शंका उपस्थित की जा सकती है कि अनुभावादिको रसका नान्तरीयक या अविनाभूत नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि रसका अविनाभूत केवल उनको कहा जा सकता है जो रसके बिना हो ही न सकें। स्तम्भ स्वेदादि अनुभावोंकी वह स्थिति नहीं है। वे तो रसके बिना भी हो सकते हैं। जैसे अभी ऊपर कहा जा चुका है कि रस या तो मुख्य लोक अर्थात् रामादिमें रहता है अथवा प्रेक्षक अर्थात् सामाजिकमें रहता है नटमें रस मुख्य रूपसे नहीं रहता है। किन्तु रसका अभाव होनेपर भी नटमें स्तम्भ-स्वेदादि अनुभाव पाए जाते हैं। इसलिए वे रसके अविना-भूत या नान्तरीयक नहीं है। तब उनसे रसकी प्रतीति कैसे हो सकती है?

इस शंकाका समाधान ग्रन्थकार दो प्रकारसे करते हैं। पहिला समाधान तो यह है कि हम नटगत स्वेदादि अनुभावोंके द्वारा रसकी अनुभूति नहीं मानते हैं। क्योंकि हमने 'कार्यमेवाविनाभूतं' कहा है। हम रसके कार्यरूप अनुभावोंको रसका अविनाभूत कहते हैं। नटगत स्तम्भादि रसके कार्य नहीं अपितु कारण है। नटगत स्तम्भ-स्वेदादिको देखकर प्रेक्षक या सामाजिकमें रसानुभूति होती है। इसलिए नटगत स्तम्भ-स्वेद अश्रु आदि सामाजिकगत रसके कारण हैं, कार्य नहीं। प्रेक्षकगत अश्रु आदि उसके कार्य हैं। उन प्रेक्षकगत अनुभावादिको देखकर दूसरोंको परस्थ रसकी प्रतीति होती है। यह ग्रन्थकारके द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रथम समाधानका अभिप्राय है।

इस समाधानके विषयमें एक बात विशेष रूपसे ध्यान देनेकी यह है कि यहाँ ग्रन्थकार ने प्रेक्षकगत अनुभावादिको कार्यरूप कहा है, और उनके द्वारा 'परस्थ' रसकी प्रतीतिका

परगतविभावाद्यनुक्रियायां च पररञ्जनार्थं प्रवृत्तस्य नटस्य रसाभावेऽपि स्तम्भ-स्वेदादयो भवन्तीति, नैषां रसनान्तरीयकत्वमाशङ्कनीयम्। तेषां परगतरसजनकत्वेनाकार्यत्वात्। नटगता हि स्तम्भादयः प्रेक्षकगतरसानां कारणम्। प्रेक्षकगतास्तु कार्याणि।

परोक्षं चार्थं बुभुत्सुना परोक्षार्थ-नान्तरीयके लिङ्गस्वरूपे निपुणेन प्रतिपत्त्रा भाव्यम्।

उपपादन किया है। यह सिद्धांत अन्य सिद्धांतोंसे विलक्षण है। अन्य सिद्धांतोंमें रसको साक्षात्कारात्मक ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया है। परन्तु यहाँ रसकी परोक्षात्मक और परस्थ प्रतीतिका उपपादन किया गया है।

पंक्तियों का अर्थ निम्न प्रकार है—

दूसरोंके मनोरञ्जनकेलिए, दूसरोंमें [अर्थात् अनुकार्य राम आदिमें] रहनेवाले विभावके अनुकरणमें प्रवृत्त होनेवाले नटमें रसका अभाव होनेपरभी स्तम्भ स्वेदादि [अनुभाव] होते हैं इससे उनके रसके अविनाभूत न होनेकी शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वे [अर्थात् नटगत स्तम्भ स्वेदादि अनुभाव] परगत [अर्थात् सामाजिकमें रहनेवाले] रसके जनक होनेसे [रसके] कार्य नहीं [अपितु कारण] होते हैं। नटगत स्तम्भ आदि सामाजिकगत रसोंके कारण होते हैं। सामाजिकगत [स्तम्भ आदि] के [रस के] कार्य होते हैं।

अनुमितिवाद—

ग्रन्थकारने यहाँ यद्यपि नामतः किसीके मतका उल्लेख नहीं किया है किन्तु उनके इस लेखसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस विषयमें शंकुकके अनुमितिवादका अनुसरण कर रहे हैं। परन्तु इनका अनुमितिवाद भी भरत सूत्रके व्याख्याता आचार्य शंकुकके अनुमितिवादसे कुछ भिन्न-सा है। शंकुकके मतमें नटगत अनुभावादिसे रसकी अनुमति मानी गई है। परन्तु यहाँ सामाजिकगत अनुभावादिके द्वारा उसकी अनुमतिका प्रतिपादन किया गया है।

परोक्ष अर्थको जाननेकी इच्छा रखने वालेको परोक्ष अर्थके अविनाभूत लिंगके स्वरूपके समझनेमें निपुण ज्ञाता होना चाहिए।।

इस पंक्तिका अभिप्राय यह है कि परस्थ रसका अनुमान करने वाला व्यक्ति इस विषयको भली प्रकार समझता हो कि अमुक प्रकारके अनुभाव अमुक प्रकारकी मनःस्थिति में होते हैं। तभी वह सामाजिक या प्रेक्षकगत विशेष प्रकारके अनुभावोंको देखकर उसमें शृङ्गार वीर आदि विशेष रसोंका अनुमान कर सकता है। इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ परगत रसके अनुमानका प्रकार तो दिखला दिया। किन्तु प्रेक्षकगत अनुभावादिसे रसकी प्रतीति किसको होती है यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है। सभी प्रेक्षकोंको एक-दूसरेमें रहने वाले रसकी परोक्ष प्रतीति होती है यही एक समाधान इस प्रश्नका हो सकता है किन्तु वह कुछ उचित प्रतीत नहीं होता है। रसकी प्रतीति सामाजिकको साक्षात्कारात्मक होती है तभी उसका आस्वादन बन सकता है। परोक्ष ज्ञानको आस्वादन नहीं कहा जा सकता है। अतः यह सिद्धांत युक्तिसंगत नहीं है।

दूसरा समाधान, नटमें अनुभावोंकी स्थिति—

अनुभावोंके द्वारा रसकी प्रतीति होती है इस सिद्धांतके विषयमें यह शंका उठाई गई थी कि अनुभावोंको रसोंका अविनाभूत या नान्तरीयक नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि

नटेऽपि च रसं गमयन्त्येव यदा रसकार्या भवन्ति। न च नटस्य रसो न भवतीत्येकान्तः। पण्यस्त्रियो हि धनलोभेन परस्त्यर्थं रतादि विपञ्चयन्त्यः कदाचित् स्वयमपि परां रतिमनुभवन्ति। गायनाश्च परं रञ्जयन्तः कदाचित् स्वयमपि रज्यन्ते। एवं नटोऽपि रामादिगतं विप्रलम्भाद्यनुकुर्वाणः कदाचित् स्वयमपि तन्मयीभावमुपयात्येवेति तद्गता अपि रोमाञ्चादयस्तत्र रसं गमयेयुरेव। अत एव 'स्पष्टानुभाव' इत्युक्तम्।

रोमाञ्चादयश्च ये स्त्री-पुंस-नट-काव्यस्थास्ते परेषां रसजनकत्वाद् विभावमध्यवर्तिनः। प्रेक्षक-श्रोतृ-अनुसन्धात्रादिस्थितास्तु रसस्य कार्याणि सन्तो व्यवस्थापकाः।

यत्र विभावाः परमार्थेन सन्तः प्रतिनियतविषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति, तत्र नियतविषयोल्लेखी रसास्वादप्रत्ययः। युवा हि रागवतीं युवतिमवलम्ब्य तद्विषयामेव रतिं शृङ्गारतयास्वादयति।

नटमें रसके न होनेपर भी अनुभाव उत्पन्न होते हैं। तब जिन अनुभावोंकी रसके साथ व्याप्ति या अविनाभाव ही नहीं है उनसे रसकी प्रतीति या अनुमिति कैसे हो सकती है ? इस शंकाका एक समाधान ग्रन्थकारने यह दिया कि नटगत अनुभावोंसे रसकी प्रतीति नहीं होती है अपितु प्रेक्षकगत कार्यभूत अनुभावोंसे रसकी प्रतीति होती है। अब इसी विषयमें दूसरा समाधान यह दे रहे हैं कि नटमें रस नहीं होता है यह बात भी नहीं है। नटमें भी रस हो सकता है। इसलिए नटगत अनुभाव भी रसके अविनाभूत हैं। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें निम्न प्रकार लिखते हैं—

[नटमें रहने वाले अनुभावादि] जब [नटगत] रसके कार्य [अर्थात् नटगत रससे उत्पन्न] होते हैं तब वे नटमें भी रसका अनुमान कराते हैं। और नटमें रस होता ही नहीं है यह कोई नियम नहीं है। वेश्याएँ जो धनके लोभसे दूसरोंको [भोगके लिए] रति आदिका अवसर देती हैं कभी स्वयं भी अत्यन्त आनन्दका अनुभव करती हैं। और गाने वाले दूसरोंके मनोरंजनके लिए गाते हुए कभी स्वयं भी आनन्द-मग्न हो जाते हैं। इसी प्रकार नट भी रामादिगत विप्रलम्भशृङ्गारका अनुकरण करते हुए कभी स्वयं भी तन्मयीभावको प्राप्त हो ही जाता है। इसलिए उसमें रहने वाले रोमांच आदि [अनुभाव] भी [उसके भीतर रहने वाले] रसका अनुमान कराते हैं। इसीलिए [कारिकामें] 'स्पष्टानुभावनिश्चयः' यह कहा गया है। [अर्थात् प्रेक्षकमें या नटमें जहाँ भी रसके कार्यभूत अनुभव स्पष्ट रूपसे प्रतीत हों वहीं वे रसका अनुमान करा सकते हैं]।

[लोकमें] स्त्री, पुरुष, नट, तथा काव्यमें स्थित जो रोमाञ्च आदि [अनुभाव] होते हैं वे अन्योंमें [स्थित] रसके जनक होनेसे [रसके कारणभूत] विभावोंमें [गिने जाते] हैं। [इसके विपरीत नाटकादि दृश्य-काव्यके] प्रेक्षक [श्रव्य-काव्यके] श्रोता तथा [उन दोनोंके] अनुसन्धाता [अर्थात् निर्माता कवि]में स्थित [रोमाञ्चादि] तो रसके कार्य रूप होनेसे [रसके व्यवस्थापक अर्थात्] निश्चायक होते हैं।

जहाँ [अर्थात् लोकमें] वास्तविक रूपमें स्थित विभाव [सीता राम आदि] निश्चित व्यक्ति-विशेषमें [रति आदि रूप] स्थायिभावको रसरूपताको प्राप्त कराते हैं वहाँ रसका आस्वाद नियत व्यक्तिविशेषमें होता है। जैसे कि [लोकमें कोई] युवक किसी युवतिको लेकर

यत्र तु परानुरक्तां वनितामवलम्ब्य सामान्यविषया रतिरुपचयमुपैति, तत्र न नियतविषयः शृङ्गाररसास्वादः। विभावानां सामान्यविषये स्थाय्याविर्भावकत्वात्। बन्धुशोकार्तां च रुदतीं स्त्रियमवलोक्य सामान्यविषय एव करुणरसास्वादः। एवमन्येष्वपि रसेषु विशेष-सामान्य-विषयत्वं द्रष्टव्यम्।

उसके विषयमें अपनी रतिको शृङ्गाररसके रूपमें आस्वादन करता है। [इसी प्रकार लोकमें वास्तविक रूपसे विद्यमान सीता-रामादि रूप विभावमें नियत विशेषसे सम्बद्ध रूपमें ही रसास्वादकी अनुभूति होती है। यहाँ रसकी प्रतीति विशेष-विषयक और लौकिकी हुई। आगे सामान्य-विषयक रसकी प्रतीतिकी अलौकिकता का उपपादन करते हैं]।

जहाँ [लोकमें वास्तविक रूपमें स्थित, पर] अन्यमें अनुरक्त वनिताको [अर्थात् परकीया नायिका] को लेकर [अनेक व्यक्तियोंमें] सामान्य विषयक रति परिपोषण होता है वहाँ नियत व्यक्तिविशेषसे सम्बद्ध रूपमें शृङ्गाररसका आस्वाद नहीं होता है [अर्थात् एक स्त्रीसे अनेक व्यक्तियोंको सामान्यरूपसे शृङ्गारानुभूति होती है] क्योंकि [ऐसे उदाहरणोंमें स्त्री आदि रूप] विभावोंसे सामान्य रूपसे [अनेक व्यक्ति विषयक रतिका आदि] स्थायिभाव का आविर्भाव होनेसे [सामान्य-विषयक ही रसास्वाद होता है]। इसी प्रकार अपने किसी प्रिय बन्धुके वियोगसे पीड़ित युवतिको रोते हुए देखकर [देखने वाले अनेक व्यक्तियोंको] सामान्य विषयक ही करुणरसका आस्वाद होता है। [इस प्रकार इन दो उदाहरणोंके द्वारा ग्रन्थकारने यह दिखलाया है कि शृङ्गार और करुण दोनों रसोंकी सामान्य-विषयक तथा विशेष-विषयक दोनों प्रकारकी स्थिति होती है। यही बात अन्य रसोंके विषयमें भी समझनी चाहिए। इसी बातको अगली पंक्ति में लिखते हैं]। इसी प्रकार अन्य रसोंमें भी सामान्य-विषयत्व और विशेष-विषयत्व समझ लेना चाहिए।

यह जो रसोंका सामान्य-विषयत्व तथा विशेष-विषयत्व दिखलाया है वह वास्तविक रूपसे विद्यमान 'परमार्थेन सन्तः' विभावादिके द्वारा उत्पन्न रसोंके विषयमें कहा गया है। 'परमार्थसतां' वास्तविक रूपमें विद्यमान विभावादिकी स्थिति लोकमें ही होती है, काव्य नाटक आदिमें नहीं। इसलिए यह सामान्य और विशेषगत द्विविध रसोंकी स्थिति भी लोक में ही हो सकती है। काव्य या नाटकमें नहीं। काव्य और नाटकमें साधारणीकरण व्यापार द्वारा सामान्य रूपसे अनेक व्यक्तियोंमें रसकी अनुभूति होती है। इस बातको अगले प्रकरणमें दिखला रहे हैं। किन्तु यहाँ एक बात विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है और वह यह बात है कि अन्य आचार्योंने रसको अलौकिक माना है। लोकमें होने वाली स्त्री-पुरुषकी परस्पर रतिको अन्य आचार्योंने रस नहीं माना है। काव्य नाटकमें होने वाले विभावादिको ही उन लोगोंने विभावादि शब्दसे कहा है। उनके मतमें विभावादि शब्द भी लोकके नहीं काव्य नाटकके क्षेत्रमें ही सीमित शब्द है। यहाँ ग्रन्थकारने लौकिक स्त्री-पुरुष आदिको भी 'विभावादि' शब्दोंसे और उनकी रति आदिको भी 'रस' शब्दसे निर्दिष्ट किया है। इसीलिए उन्होंने सामान्य-विषयक और विशेष-विषयक द्विविध रसोंकी स्थिति मानी है। उनका यह सिद्धान्त अन्य आचार्योंसे विलक्षण है।

इस प्रकार लौकिक रसादि-विषयक विवेचना करनेके बाद अब ग्रन्थकार अगले प्रकरणमें काव्य-नाटकगत रसोंकी विवेचना करते हुए लिखते हैं—

ये पुनरपरमार्थसन्तोऽपि काव्याभिनयाभ्यां सन्त इवोपनीता विभावास्ते श्रोतृ-अनुसन्धातृ-प्रेक्षकाणां सामान्यविषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति। अत्र च विषय-विभागानपेक्षी रसास्वादप्रत्ययः। न हि रामस्य सीतायां शृङ्गारेऽनुक्रियमाणे सामाजिकस्य सीताविषयः शृङ्गारः समुल्लसति। अपि तु सामान्यस्त्रीविषयः। नियतविषयस्मरणा-दिना स्थायिनः प्रतिनियतविषयतायां तु प्रतिनियतविषय एव रसास्वादः।

तथा अपरमार्थसतां,[1] अभिनय-काव्यार्पितानां च विभावानां बहुसाधारण-त्वाद् य एकस्य रसास्वादः सोऽन्याप्रतिक्षेपात्मा, इत्ययोगव्यवच्छेदेन न पुनरन्ययोग-व्यवच्छेदेन।

और वास्तविक रूपमें न होनेपर भी काव्य या अभिनय [नाटक] के द्वारा विद्यमानसे प्रतीत होनेवाले जो विभावादि हैं वे [काव्यके] श्रोता, अनुसन्धाता [अर्थात् निर्माता] तथा प्रेक्षक [तीनोंमें] सामान्य विषयक स्थायिभावको ही रसरूपताको प्राप्त कराते हैं। यहाँ [अर्थात् काव्यनाटकमें] विषय-विभागकी अपेक्षा न करने वाला रसास्वाद होता है। [अर्थात् काव्य नाटक आदिमें सामान्य-विषयक और विशेष-विषयक दो प्रकारका रसोद्बोध नहीं होता है]। रामके सीता-विषयक शृङ्गारका अनुकरण होनेपर सामाजिकमें सीता-विषयक [अर्थात् व्यक्ति-विशेषसे सम्बद्ध] शृङ्गारानुभूति नहीं होती है अपितु सामान्य स्त्री-विषयक [शृङ्गारकी ही अनुभूति होती है। लोकमें नियत विषयके विद्यमान न होनेपर भी] नियत विषयके स्मरणादि से नियत-विषयक [अर्थात् उस स्मर्यमाण व्यक्ति-विशेषसे सम्बद्ध] ही रसास्वाद होता है।

अर्थात् लोकमें भी विभावादिकी वास्तविक रूपसे विद्यमान और वास्तविक रूपसे अविद्यमान होनेपर भी स्मर्यमाण, दो रूपोंमें स्थिति हो सकती है। और उनसे विशेष-विषयक अर्थात् विशेष-व्यक्तिसे सम्बद्ध रूपमें भी रसानुभूति हो सकती है। किन्तु काव्य और नाट्य में विभावादि वास्तविक रूपमें विद्यमान नहीं होते हैं। केवल काव्य तथा अभिनयके द्वारा समर्पित होते हैं। इसलिए उनसे विशेष-विषयक रसानुभूति न होकर सामान्य-विषयक रसा-नुभूति ही होती है। इस बातको अगली पंक्तियोंको इस प्रकार लिखते हैं—

और वास्तवमें अविद्यमान किन्तु [केवल] काव्य तथा अभिनयकेद्वारा समर्पित विभावोंके अनेक पुरुषोंके लिए समान होनेसे [बहुसाधारणत्वात्] जो [उन बहुतसे सामाजिकोंमेंसे] किसी एकका रसास्वाद है वह अन्यका प्रतिक्षेपक रूप [अर्थात् अन्योंकी रसानुभूतिमें बाधक] न होने से[उस विशेष सामाजिकमें] अयोगव्यवच्छेदसे [अर्थात् अवश्य] रहता है, अन्ययोग-व्यवच्छेदक [अर्थात् अन्योंमें उसकी स्थितिमें बाधक बनकर] नहीं रहता है।

यहाँ 'य एकस्य रसास्वादः सोऽन्याप्रतिक्षेपात्मा इत्ययोगव्यवच्छेदेन न पुनरन्ययोग-व्यवच्छेदेन' यह सारी पंक्ति तनिक क्लिष्ट पंक्ति है। पंक्तिके आरम्भमें 'तथा परमार्थसतां' पद भी संदिग्ध-सा या भ्रमजनक हो सकता है। उसमें 'तथा' के आगे 'परमार्थसतां' पदच्छेद न करके 'तथा अपरमार्थसतां' इस प्रकारका पदच्छेद करना चाहिए। क्योंकि काव्य नाटक आदिमें जो विभावादि होते हैं वे 'परमार्थसत्' वास्तविक रूपमें विद्यमान नहीं होते हैं। इस-लिए यहाँ 'तथा अपरमार्थसतां' यही पदच्छेद करना उचित है। इसके बाद 'य एकस्य रसा-स्वादः सोऽन्यान् प्रति क्षेपात्मा' इस प्रकारका पाठ पूर्व संस्करणमें छपा था। पूर्व पाठके समान

---

१. परमार्थसतां।

एवं च लोके काव्ये वा सर्वरसिकसाधारणो रसास्वादो न पुनः सर्वथाप्याधारानुल्लेखी। आधारोल्लेखनिरपेक्षायाश्चित्तवृत्तेः कस्याश्चिदनुपलक्षणात्। चित्तवृत्तिविशेषश्च रसः।

यह पाठ भी अत्यन्त भ्रामक पाठ है। मूल पाण्डुलिपिमें तो यहाँ 'सोऽन्याप्रतिक्षेपात्मा' पाठ था। किन्तु पूर्व संस्करणके सम्पादक महोदयने 'सोऽन्यान् प्रति क्षेपात्मा' यह पाठ सुझाया है। किन्तु यह पाठ ठीक नहीं है। 'सोऽन्याप्रतिक्षेपात्मा' यही ठीक है। इसका अभिप्राय यह है कि काव्य-नाटकमें समर्पित विभावादिसे जो एक व्यक्तिको रसास्वाद होता है वह अन्योंका प्रतिक्षेप नहीं करता है। अर्थात् अन्योंकी रसप्रतीतिका बाधक या निषेध करने वाला नहीं होता है। काव्य नाटकमें जिस समय किसी एक व्यक्तिको रसास्वाद हो रहा है उसके साथ ही अन्य अनेक व्यक्तियोंको भी रसास्वाद होता है। इसी बातको ग्रन्थकारने यहाँ 'सोऽन्याप्रतिक्षेपात्मा' पदसे दिखलाया है। इसलिए यही पाठ ठीक है। पूर्व-संस्करणमें सुझाया गया पाठ ठीक नहीं है।

अब आगे 'अयोगव्यवच्छेदेन न पुनरन्योगव्यवच्छेदेन' वाली पंक्ति आती है। इसका अभिप्राय यह है कि काव्य नाटकमें जो एक व्यक्तिका रसास्वाद होता है वह 'अयोगव्यवच्छेदेन' उस विशेष व्यक्तिका होता है 'अन्ययोगव्यवच्छेदेन' नहीं। 'अयोगव्यवच्छेद'का अर्थ उस व्यक्तिमें रसके अयोग अर्थात् अभावका व्यवच्छेदक अर्थात् निषेधक अर्थात् उसमें सद्भावका सूचक रूप होता है। इसमें 'अयोग' और 'व्यवच्छेदक' दो शब्द आए हैं। इन दोनोंका अर्थ अभाव-परक है। अभावका अभाव अर्थात् भाव होता है। दो निषेधोंके एक साथ प्रयुक्त होने पर उनका अर्थ भाव हो जाता है। यहाँ अभाव परक 'अयोग' तथा 'व्यवच्छेदक' दो शब्दोंका एक साथ प्रयोग होनेसे उनका अर्थ भाव रूप बन जाता है। अर्थात् काव्य और नाटकोंमें जो एक व्यक्तिका रसास्वाद होता है वह उस व्यक्तिमें रसकी सत्ताका ही बोधक होता है।

'न पुनरन्ययोगव्यवच्छेदेन' यह इस पंक्तिका दूसरा भाग हैं। इसका अर्थ 'अन्ययोग' अर्थात् अन्योंके साथ सम्बन्धका 'व्यवच्छेदक' अर्थात् निषेधक रूपमें 'न' अर्थात् नहीं है यह होता है। अर्थात् काव्य नाटकोंमें जो एकका रसास्वाद होता है वह 'अन्ययोगव्यवच्छेदक' अर्थात् अन्य व्यक्तियोंके साथ उस रसके सम्बन्धके निषेधकके रूपमें नहीं होता है। अर्थात् काव्य नाटकमें एक व्यक्तिके रसास्वादका अर्थ यह नहीं हो सकता है कि अन्य किसीको रसास्वाद न हो। लोकमें तो रसास्वाद विशेष व्यक्तियों तक सीमित भी हो सकता है। उस दशामें एक व्यक्तिका रसास्वाद अन्य व्यक्तियोंके रसास्वादमें बाधक हो सकता है। किन्तु काव्य नाटकमें एक ही सामग्रीसे एक व्यक्तिको जो रसास्वाद होता है वह उसी सामग्रीसे अन्योंके होने वाले रसास्वादमें बाधक नहीं होता है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

इस प्रकार लोकमें और काव्यमें [दोनों जगह] सब रसिकोंके लिए साधारण रूपसे रसास्वाद होता है। [लोकमें विशेष-विषयक रसास्वाद केवल विशेष रसिक तक सीमित होता है। किन्तु सामान्य-विषयक रसास्वाद रसिकमात्रसे सम्बन्ध रखता है। इस अभिप्रायसे 'सर्वरसिकसाधारणः' कहा है। रसके] आधारका सर्वथा अनुल्लेख करने वाला नहीं होता है आधारका उल्लेख जिसमें न हो इस प्रकारकी किसी भी चित्तवृत्तिके न पाए जानेसे [चित्त-वृत्तिके आधारके उल्लेखसे रहित रसानुभूति नहीं हो सकती है। चित्तवृत्तिका आधार रसिक

अत्र च रत्यादेर्विभावैराविर्भूतस्य पोषकारिणो व्यभिचारिणो रसिकगता एव ग्राह्याः । यदा हि विभावैः स्त्र्यादिभिः, काव्यनाट्यगतैर्वा अन्यस्य रत्यादयो रसोन्मुखत्वेनोन्मीलयन्ते, तदा यथायोगं व्यभिचारिणोऽपि तत्र प्रादुःषन्ति । न हि स्त्र्यादिचिन्तां शृङ्गारो, धृतिं हास्यो, विषादं करुणो, अमर्षं रौद्रो, हर्षं वीरः, त्रासं भयानकः, शंकां बीभत्सः, औत्सुक्यमद्भुतो, निर्वेदं शान्तः सहचारिणं बिना प्रादुर्भवति ।

अन्यगतचेतसो विरक्तचेतसो वा, वाक्यार्थावबोधे वनितादिदर्शनेऽपि वा चिन्ताद्यभावे रसाभावात् । सौक्ष्म्यादाशुभावाच्च क्वचिदनुपलक्षणेऽपि न दोषः । प्रादुर्भूताश्च व्यभिचारिणो रसोन्मुखं स्थायिनं पोषयन्तो रसत्वमापादयन्ति । अत एव रसत्वोन्मुखानां स्थायिनां व्यभिचारिणः सहचारिणो, विभावास्तु प्राग्भाविनः ।

है । जिसकी चित्तवृत्ति हो वह व्यक्ति उस चित्तवृत्तिका आधार हुआ ।] चित्तवृत्ति-विशेष ही रस है । [इसलिए इस प्रतीतिमें उसके आधारभूत रसिकका सम्बन्ध अवश्य रहता है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है] ।

और यहाँ विभावोंसे आविर्भूत होने वाले रति आदि [स्थायिभाव] को पुष्ट करने वाले व्यभिचारिभाव रसिकगत ही लेने चाहिए । [नटगत या अनुकार्यगत व्यभिचारियोंसे सामाजिकगत रत्यादिकी पुष्टि नहीं होती है यह अभिप्राय है] । जब [लोकमें] स्त्री आदि विभावोंसे, अथवा काव्य नाट्यगत विभावोंसे दूसरोंको रत्यादिका रसोन्मुख रूपसे उन्मीलन होता है तब [उन सामाजिकों] के भीतर यथोचित व्यभिचारिभावोंका भी आविर्भाव होता है । क्योंकि स्त्री आदिकी चिन्ता [रूप व्यभिचारिभाव] के बिना शृङ्गाररस, धृति [रूप व्यभिचारिभाव] के बिना हास्य, विषाद [रूप व्यभिचारिभाव] के बिना करुण, अमर्षके बिना रौद्र, हर्षके बिना वीर, त्रास [रूप सहचारी] के बिना भयानक, शंका [रूप सहचारी] के बिना बीभत्स, औत्सुक्य [रूप सहचारी] के बिना अद्भुत, और निर्वेद [रूप सहचारी] के बिना शान्तका आविर्भाव नहीं हो सकता है । क्योंकि चित्तके दूसरी ओर लगे होनेपर अथवा विरक्तचित्तको चिन्तादि [सहचारियों] के अभावमें [काव्य नाटकके] वाक्योंके अर्थका ज्ञान होने अथवा [साक्षात् रूपमें] स्त्री आदिके दर्शन होनेपर भी शृङ्गार रसकी अनुभूति या उत्पत्ति नहीं होती है । [कहीं यदि चिंतादिके बिना भी रसकी प्रतीति अनुभव हो तो वहाँ यह समझना चाहिए कि] सूक्ष्म होनेके कारण अथवा अत्यन्त शीघ्रताके कारण [उन सहचारियोंकी स्थिति होनेपर भी] उनके न दिखलाई देनेके कारण उसमें कोई दोष नहीं आता है । [इस प्रकार लौकिक स्त्री आदि विभावों अथवा काव्य नाटकगत विभावोंसे रसिकोंमें] प्रादुर्भूत होने वाले व्यभिचारिभाव रसोन्मुख स्थायिभावको पुष्ट करते हुए [उसको] रसत्वको प्राप्त कराते हैं । इसीलिए व्यभिचारिभाव रसोन्मुख स्थायिभावोंके सहचारी [कहलाते] हैं । और विभाव तो [स्थायिभावोंके] पूर्ववर्ती [अर्थात् कारण कहलाते] हैं ।

रसके लक्षणकी कारिकामें ग्रंथकारने 'श्रितोत्कर्षो विभावव्यभिचारिभिः' यह कहा था । इसमें व्यभिचारिभावसे ग्रंथकार रसिकगत व्यभिचारिभावोंका ग्रहण करना चाहते हैं । यद्यपि व्यभिचरिभाव नटादिमें भी हो सकते हैं किन्तु उन सबको वे केवल विभाव मानते हैं । नटगत अनुभाव व्यभिचारिभाव ग्रन्थकारकी दृष्टिमें विभावकोटिके ही अन्तर्गत होते हैं । इसलिए यहाँ व्यभिचारिभाव सामाजिकगत ही लेने चाहिए । इसी बातको और अधिक खोल-

ये पुनः स्त्र्यादिगताः काव्याभिनयोपदर्शिताश्च व्यभिचारिणोऽनुभावा वा ते परस्मिन् रसोन्मुखत्वेन स्थायिनमुन्मीलयन्ति। ते विभावा एव जनकत्वात्। व्यभि-चारि-अनुभावव्यपदेशः पुनरेतेषां स्त्र्याद्यपेक्षया, वर्णनीयानुकार्यापेक्षया च।

यदप्युच्यते—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति तत्राप्यनु-भावा व्यभिचारिणश्च स्त्र्यादिवर्णनीयानुकार्यापेक्षयैव द्रष्टव्याः।

तदेवं स्व-परयोः प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्यां गमः सुख-दुःखात्मा (१) लोकस्य (२) नटस्य (३-४) काव्य-श्रोतृ-अनुसन्धात्रोः (५) प्रेक्षकस्य च रसः। केवलं मुख्यस्त्री-पुंसयोः स्पष्टेनैव रूपेण रसो, विभावानां परमार्थसत्त्वात्। अत एव व्याभिचारिणोऽनुभावाश्च

कर आगे लिखते हैं—

और [लोकमें] जो स्त्री आदिमें रहने वाले अथवा [काव्य तथा नाटकमें] काव्य तथा अभिनयके द्वारा समर्पित व्यभिचारिभाव अथवा अनुभाव होते हैं वे दूसरोंके भीतर [अर्थात् सामाजिकोंके हृदयमें] स्थायिभावको रसोन्मुख बनाते हैं। इसलिए [रसानुभूतिके] कारण रूप होनेसे विभाव ही कहलाते हैं। उनके लिए व्यभिचारिभाव या अनुभाव शब्दका प्रयोग [सामाजिककी दृष्टिसे नहीं होता है अपितु लोकमें केवल] स्त्री आदिकी अपेक्षासे और [काव्य नाटकमें] वर्णनीय अनुकार्यकी अपेक्षासे ही होता है। [अर्थात् अनुकार्य रामादिमें अथवा नटमें अथवा लोकमें स्त्री आदि निष्ठ जो अनुभाव या व्यभिचारिभाव होते हैं वे उन लोगोंकी दृष्टिसे तो अनुभाव या व्यभिचारिभाव कहे जा सकते हैं किन्तु सामाजिककी दृष्टिसे वे सब रसके कारण रूप होनेसे विभाव ही कहे जाते हैं। स्थायिभावोंकी पुष्टिके लिए यहाँ जिन अनुभावों तथा व्यभिचारिभावोंका ग्रहण किया गया है वे रसिकगत अर्थात् सामाजिकगत अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव ही हो सकते हैं]।

और [भारतमुनिने] जो "विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है" यह कहा है यहाँ भी अनुभाव और व्यभिचारिभाव [लोकमें] स्त्री आदि [और काव्य नाटकमें] वर्णनीय अनुकार्यकी अपेक्षासे ही समझने चाहिए।

इस प्रकार ग्रन्थकारके मतमें रसकी प्रतीति या रसानुभूतिके आधार चार होते हैं। लोकमें (१) स्त्री आदि विभावोंमें भी रसकी प्रतीति होती है और (२) उनको देखने वाले प्रेक्षकोंको भी। स्त्री आदिकी रसानुभूति स्वगत और प्रत्यक्षात्मक होती है। प्रेक्षककी रस-प्रतीति परगत और परोक्षात्मक होती है। नाटकमें (३) नटको स्वगत प्रत्यक्षात्मक, रसप्रतीति और (४) प्रेक्षकको उस नटगत या परगत रसकी परोक्षात्मक प्रतीति होती है। इसी बात को अगले अनुच्छेद में निम्न प्रकार कहते हैं—

इस प्रकार (१) [लोकस्य] लोकको [अर्थात् लौकिक रूपमें स्थित पुरुषको], (२) [नटस्य अर्थात्] नटको, (३) काव्य [तथा नाटक दोनों] के श्रोता, तथा (४) अनुसन्धाता [अर्थात् कर्ता] को एवं (५) प्रेक्षक [सामाजिक] को [इन पाँचोंको दो भागोंमें विभक्त करने पर पहिले चारको एक कोटिमें रखनेसे उन चारोंके एक वर्गको स्वतः प्रत्यक्ष रूपमें तथा पाँचवीं प्रेक्षक अर्थात् सामाजिकको परगत और परोक्ष रूपमें रसकी प्रतीति होती है। इसी बातको यहाँ 'स्व-परयोः प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्यां' शब्दसे कहा है] स्व तथा परको [क्रमशः] प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूपसे सुख-दुःखात्मक रस प्रतीत होता है। इसमेंसे भी [लोकमें] केवल मुख्य स्त्री-

रसजन्याः तत्र स्पष्टरूपाः। अन्यत्र तु प्रेक्षकादौ ध्यामलेनैव रूपेण। विभावानाम-परमार्थसतामेव काव्यादिना दर्शनात्। अत एव व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च रसानु-सारेणास्पष्टा एव। अत एव प्रेक्षकादिगतो रसो लोकोत्तर इत्युच्यते।

काव्यस्य च रसाविर्भावकविभाववत्त्वात् सरसत्वम्। न पुनः काव्यमेव रसः, काव्ये आधारे वा रसः। श्रितोत्कर्षो हि चेतोवृत्तिरूपः स्थायी भावो रसः। स चाचे-तनस्य काव्यस्यात्मा आधेयो वा कथं स्यात्? ततः काव्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं प्रतिपत्तॄणां रसाविर्भावः।

प्रतिपत्तारश्चात्मस्थं सुखमिव रसमास्वादयन्ति। न पुनर्बहिःस्थं रसं मोदक-मिव प्रतियन्ति। अन्यो हि मोदकस्यास्वादोऽन्यश्च प्रत्ययो रसस्य। न हि बहिस्थस्य रसस्य प्रत्ययमात्रेण रसास्वादश्चर्वणात्मकः संगच्छते। भयानक-करुणविभावाद्धि काव्यार्थात् प्रतिपत्तुश्चेतोधर्मतया स्थितौ भय-शोकौ भयानक-करुणतया परिणमतः। यदि च प्रतिपत्तुः स्थायी एव न रसतया भवति तदा बहिःस्थस्य रसस्य प्रत्ययोऽपि न

पुरुषमें विभावोंके वास्तविक होनेसे रसकी स्पष्टरूपसे प्रतीति होती है। इसलिए उनमें रससे उत्पन्न होने वाले [रसके कार्यभूत] अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव स्पष्टरूप होते हैं। अन्यत्र प्रेक्षक आदिमें [ध्यामल अर्थात्] अस्पष्ट रूपमे ही [अनुभाव व्यभिचारिभाव होते हैं] काव्या-दिके द्वारा वास्तवमें अविद्यमान विभावादिके ही उपस्थित किए जानेसे [उनके द्वारा होनेवाली रसप्रतीति भी अस्पष्ट ही होती है]। इसीलिए [प्रेक्षकादिमें] व्यभिचारिभाव तथा अनुभाव भी रसके अनुसार अस्पष्ट ही होते हैं। अत एव प्रेक्षक आदिमें रहने वाला रस [असत् विभावोंसे उत्पन्न और अस्पष्ट अनुभाव व्यभिचारिभाव युक्त होनेसे] लोकोत्तर कहलाता है।

रसके आविर्भाव करानेवाले विभावादिसे युक्त होनेसे काव्यको सरस माना जाता है। न तो काव्य ही रस है और न काव्य रूप आधारमें रस रहता है। [इसलिए काव्यकी सर-सताका उपपादन रसके आविर्भावक विभावादिके उसमें विद्यमान होनेके कारण ही किया जा सकता है]। परिपुष्ट हुआ चित्तवृत्ति रूप स्थायिभाव ही रस [कहलाता] है। वह अचेतन काव्यका आत्मा या आधेय नहीं हो सकता है। इसलिए काव्यके अर्थको समझ लेनेके बाद समझने वाले [प्रेक्षक या श्रोता] के भीतर रसका अविर्भाव होता है।

और अनुभव करने वाले [प्रेक्षकादि] अपने भीतर रहने वाले सुखके समान, रसका आस्वादन करते हैं। मोदक आदिके समान बाहर रहने वाले रसका ग्रहण नहीं करते। मोदक आदिका आस्वादन अन्य प्रकारका होता है और रसका ज्ञान और तरहका। बाहर रहने वाले रसके ज्ञानमात्रसे चर्वणात्मक रसास्वादका उपपादन नहीं हो सकता है [अर्थात् यदि मोदकादिके समान रसको बहिस्थ बाहर रहनेवाला मान लिया जाय तो उसकी चर्वणाका उपपादन नहीं हो सकता है। इसलिए बाह्य रसका अनुभव नहीं होता है अपितु अनुभव करने वालेके हृदयमें भीतर रहने वाले सुखादिके समान ही रसका आस्वादन होता है]। क्योंकि भयानक तथा करुण विभावोंका वर्णन करने वाले काव्यके अर्थसे ज्ञाता [सामाजिक] के चित्त-धर्मके रूपमें स्थित भय तथा शोक [स्थायिभाव] भयानक तथा करुण रसके रूपमें परि-णत हो जाते हैं। यदि सामाजिकका स्थायिभाव ही रस रूप न माना जाय तो फिर बाहर रहनेवाले रसकी प्रतीति भी नहीं हो सकती है। क्योंकि काव्य या नटमें या कहीं अन्यत्र रस

प्राप्नोति । काव्ये नटेऽन्यत्र वा रसस्यासत्त्वात् । असतश्चापि प्रत्यये अहृदयस्यापि प्रतीतिः स्यात् । ततो विभावप्रतिपादककाव्यप्रतिपत्तेरनन्तरं प्रतिपत्तुरेव स्थायी रसो भवति । तद्धेतुत्वाच्च काव्यं रसवदिति ॥ [७] १०९ ॥

अथ रसभेदकथनावसरेऽपि प्रस्तावागतानामनुभावादिसंज्ञानां विषयं लक्षयति—

[सूत्र १६४]—कार्य-हेतुः सहचारी स्थाय्यादेः काव्यवर्त्मनि ।
अनुभावो विभावश्च व्यभिचारी च कीर्त्यते ॥[८]११०॥

स्थायिनां आदिशब्दाद् रसभावानां च यथासम्भवं ये लोकसिद्धाः कार्य-हेतु-सहचारिणः, ते काव्यवर्त्मनि अभिनेयानभिनेयभेदभिन्ने यथासंख्यं अनुभाव-विभाव-व्यभिचारिसंज्ञाभिः कीर्त्यन्ते । काव्यसंस्कारतिरस्कृतात्मभिः कदाचिल्लोकेऽप्येवं व्यवह्रियन्ते । तत्र अनु लिंगनिश्चयात् पश्चाद् भावयन्ति गमयन्ति लिङ्गिनं रसमित्यनुभावाः, स्तम्भादयः । वासनात्मतया स्थितं स्थायिनं रसत्वेन भवन्तं विभावयन्ति आविर्भावना-विशेषण प्रयोजयन्ति इति आलम्बन-उद्दीपनरूपा ललनोद्यानादयो विभावाः । रसोन्मुखं स्थायिनं प्रति विशिष्टेनाभिमुख्येन चरन्ति वर्तन्ते इति व्यभिचारिणः । आभिमुख्यं

रहता ही नहीं है । [तो फिर उसकी प्रतीति ही कैसे हो सकेगी ? और [सामाजिकके भीतर] अविद्यमान [रस]की प्रतीति माननेपर तो असहृदयोंकोभी होने लगेगी । इसलिए विभावादिके प्रतिपादक काव्यको समझनेके बाद प्रतिपत्ता सामाजिकके भीतर रहने वाला स्थायिभाव ही रस बन जाता है । और उसका कारण होनेसे काव्य रसवत् कहलाता है ॥ [७] १०९ ॥

अब रसके भेदोंके कथनका अवसर होनेपर भी प्रकरणमें आए हुए अनुभाव आदि संज्ञाओंका विषय बतलाते हैं [अर्थात् अनुभाव आदिका लक्षण करते हैं] ।

स्थायिभाव आदिके [लोकसिद्ध] कार्य, कारण और सहचारियोंको काव्यमार्गमें क्रमशः अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारिभाव कहा जाता है ।[८]११०।

स्थायिभावोंके, और आदि-शब्दसे रस तथा [रतिर्देवादिविषया भावः आदि लक्षणके अनुसार देवादि-विषयक रति-रूप] भावोंके जो लोकसिद्ध यथासम्भव कार्य, कारण और सहकारी होते हैं वे अभिनेय और अनभिनेय दोनों प्रकारके काव्यमार्गमें क्रमशः अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारिभाव नामोंसे कहे जाते हैं, और काव्यसंस्कारसे प्रभावित लोगोंके द्वारा कभी-कभी लोकमें भी इसी प्रकार [अर्थात् अनुभाव आदि नामोंसे] कहे जाते हैं । [आगे इन तीन शब्दों का अवयवार्थ दिखलाते हैं] उनमेंसे 'अनु' अर्थात् लिङ्गके निश्चयके बाद [रसको] भावित अर्थात् बोधित करने वाले होनेसे [कार्य रूप] स्तम्भ आदि [रसके कार्य] 'अनुभाव' कहलाते हैं । [यह अनुभाव शब्दका अवयवार्थ हुआ । आगे विभाव शब्दका निर्वचन करते हैं] । वासना रूपसे स्थित, रसरूपताको प्राप्त होनेवाले, [रत्यादि] स्थायिभावको विशेष रूपसे भावित करते हैं अर्थात् विशेष रूपसे आविर्भूत करते हैं वे ललना और उद्यानादिरूप [रसके क्रमशः] आलम्बन तथा उद्दीपन रूप [कारण] 'विभाव' कहलाते हैं । [आगे व्यभिचारिभाव शब्दका निर्वचन करते हैं] । रसोन्मुख स्थायिभावकेप्रति विशेष प्रकारके आभिमुख्यसे चरण करनेवाले अर्थात् विद्यमान होनेवाले होनेसे 'व्यभिचारिभाव' कहलाते हैं । ['आभिमुख्येन चरन्ति'में] 'आभिमुख्य'का अर्थ पोषकत्व है । [आगे व्यभिचारभाव शब्दका दूसरे प्रकारका

पोषकत्वम्। यद्वा व्यभिचरन्ति स्थायिनि सत्यपि केऽपि कदापि न भवन्तीति व्यभिचारिणः, स्वविभावव्यभिचारिणः भावे भावात्, अभावेऽभावाच्च। रसायनमुपयुक्तवतो हि ग्लानि-आलस्य-श्रमप्रभृतयो न भवन्त्येव।

तत्र स्थायिनो रत्यादयः संविदात्मकत्वादजडा एव। धैर्यादीनां स्वेदादीनां चानुभावानां वनितादीनां पर्वतादीनां च विभावानां, निर्वेदादीनां व्याध्यादीनां च व्यभिचारिणां यथासंख्यं संविन्मयत्व-शरीरधर्मत्वादिना जडाजडात्मकत्वम्।

एते चानुभावादयः स्थायिनं प्रति कार्य-कारण-सहचारिरूपत्वादेवाप्रधानम्। स्थायी तु प्रकर्षप्राप्त्या एषां प्रच्छादकत्वात् प्रधानम्। तथा व्याघ्रादेर्विभावस्य क्रोध-

---

निर्वचन करते हैं] स्थायिभावके विद्यमान होनेपर भी कभी कोई [व्यभिचारिभाव] नहीं होता है इसलिए [स्थायिभावके साथ अनियत अर्थात्] व्यभिचारी होनेसे व्यभिचारिभाव [कहलाते हैं] अर्थात् अपने विभावके होनेपर भी न होनेसे और [अपने विभावादि रूप कारणोंके] न होनेपर भी होनेसे [ये] अपने विभावोंके व्यभिचारिभाव [कहलाते] हैं। क्योंकि रसायनका उपयोग करनेवालोंको ग्लानि, आलस्य, थकावट आदि नहीं होते हैं [इसलिए जो अपने कारण के होनेपर अवश्य होता है और उसके न होनेपर नहीं ही होता है वह 'अव्यभिचारी' कहलाता है। और जो कारणके न होनेपर भी हो या कारणके होनेपर भी न हो वह 'व्यभिचारी' कहलाता है।

उनमेंसे रत्यादिरूप स्थायिभाव ज्ञानस्वरूप होनेसे चेतनात्मक ही होते हैं। धैर्यादि [रूप मानस] अनुभाव ज्ञानरूप होनेसे अजड़ तथा स्वेदादि [रूप शारीरिक] अनुभाव जड़ात्मक [होते] हैं। वनितादि [विभाव चेतन रूप] तथा पर्वतादि विभाव [अचेतन रूप होते हैं] और निर्वेदादि [व्यभिचारभाव ज्ञान रूप होनेसे अजड़] तथा व्याध्यादि रूप व्यभिचारिभाव [शरीरधर्म होनेसे जडात्मक होते हैं। अतः ये क्रमशः] ज्ञानरूप [अजड़] तथा शरीरधर्मादि रूप [जड इस प्रकार] जड और चेतन उभयरूप होते हैं।

इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने स्थायिभावोंको केवल चेतनस्वरूप तथा अनुभाव, विभाव एवं व्यभिचारभावोंको चेतन अचेतन उभयविध माना है। स्थायिभावोंको चेतनस्वरूप मानने का यह हेतु दिया है कि वे ज्ञानात्मक होते हैं। वेदान्तादि शास्त्रोंके अनुसार ज्ञानात्मकता ही चेतनाका स्वरूप है। स्थायिभाव ज्ञानात्मक 'संविन्मय' होनेसे चेतन स्वरूप ही है यह ग्रन्थकारका आशय है। न्याय सिद्धान्तमें ज्ञान चेतन आत्माका गुण है। स्वयं चेतन नहीं है। नैयायिक गुण और गुणी अर्थात् ज्ञान और आत्माका भेद मानते हैं। किन्तु वेदान्ती गुण-गुणीका भेद नहीं मानते हैं। इसलिए उनके मतमें ज्ञान चेतनका गुण नहीं अपितु चेतन-स्वरूप ही है। इस सिद्धान्तको लेकर ग्रन्थकारने यहाँ स्थायिभावोंको ज्ञानस्वरूप होनेसे चेतन ही माना है। और अनुभाव, विभाव व व्यभिचारिभावोंमेंसे कुछ ज्ञानरूप भी होते हैं और कुछ ज्ञानसे भिन्न शरीरधर्मभूत भी होते हैं इसलिए उनको जड-अजडात्मक अर्थात् उभयरूप माना है। आगे स्थायिभावोंकी प्रधानता तथा अनुभाव-विभाव आदिकी अप्रधानताका हेतु दिखलाते हुए उनके गुण-प्रधानभावका निरूपण करते हैं—

ये अनुभावादि स्थायिभावके प्रति कार्य, कारण तथा सहकारी रूप होनेसे अप्रधान माने जाते हैं। स्थायिभाव प्रकर्षको प्राप्त होकर इन [अनुभावादि] का प्रच्छादक होने जानेसे

भयाविर्भावकत्वात् श्रम-चिन्तादेश्च व्यभिचारिणो भयोत्साहादिपोषकत्वात्, स्तम्भ-वेपथु-स्वेदादेश्चानुभावस्य शृङ्गार-भयानकदिजत्वात् क्वचिदपि न पार्थक्ये नियमः। सामग्रीपतितस्य तु नियम इति सामग्री एवैषामाविर्भाविका पोषिका ज्ञापिका चेति ॥[८]११०॥

अथ प्रस्तुतानेव रसभेदानाह—

[सू० १६५]—शृङ्गार-हास्य-करुणाः रौद्र-वीर-भयानकाः।
बीभत्साद्भुत-शान्ताश्च रसाः सद्भिर्नव स्मृताः ॥
॥[९]१११॥

तत्र कामस्य सर्वजातिसुलभतया अत्यन्तपरिचिततया च सर्वान् प्रति हृद्येतेति पूर्वं शृङ्गारः। ततः शृङ्गारानुगामित्वाद् हास्यः। ततो हास्यविरोधित्वात् करुणः। कामस्य चार्थजत्वात् ततोऽर्थप्रधानो रौद्रः। कामार्थयोश्च धर्मजन्यत्वात् ततो धर्मप्रधानो वीरः। अस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात् ततो भयानकः। भीतस्य च सात्त्विकैर्जुगुप्सनीय-

---

प्रधान माना जाता है। (१) व्याघ्रादि विभावोंके [रौद्र रसके स्थायिभाव] क्रोध, तथा [भयानक रसके स्थायिभाव] भयके आविर्भावक होनेसे, (२) श्रम तथा चिन्तादि व्यभिचारिभावोंके [भयानकके स्थायिभाव] भय और [वीररसके स्थायिभाव] उत्साहादि दोनोंका पोषक होनेके कारण, (३) [इसी प्रकार] स्तम्भ, वेपथु आदि अनुभावोंके शृंगार तथा भयानक दोनोंसे जन्य होनेके कारण अलग-अलग [रसोंके विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के निश्चित रूपसे अलग] होनेका कोई नियम नहीं है। [किसी विशेष रसकी] सामग्रीमें आ जानेपर तो नियम है। इसलिए सामग्री ही इनकी उत्पन्न करनेवाली, पोषण करनेवाली और ज्ञापन करानेवाली होती है [यह समझना चाहिए] ॥[८]११०॥

अब [आगे] प्रस्तुत रसभेदोंका ही वर्णन [प्रारम्भ] करते हैं—

[सूत्र १६५]—१. शृंगार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. बीभत्स, ८. अद्भुत और ९. शान्त ये नौ रस सहृदयोंने माने हैं ॥[९]१११।

उनमेंसे कामके सब जातियोंमें सुलभ, और अत्यन्त परिचित होनेसे तथा सबके प्रति उसकी मनोहरता होती है इस कारण सबसे पहिले उसका ग्रहण किया गया है। शृंगारका अनुगामी होनेके कारण उसके बाद हास्य [कहा] है। हास्यका विरोधी होनेसे उस [हास्य] के बाद करुण रखा गया है। [इस प्रकार हास्य और करुणका कामसे सम्बन्ध दिखलाकर अब रौद्रका भी कामसे सम्बन्ध दिखलाते हैं]। कामके अर्थज होनेसे उस [करुण] के बाद अर्थप्रधान रौद्र [रखा गया है] काम और अर्थ दोनोंके धर्मजन्य होनेके कारण उस [रौद्ररस] के बाद धर्मप्रधान वीररस रखा गया है। यह वीर रस मुख्य रूपसे भयभीतोंको अभय प्रदान करनेवाला होता है इसलिए [भयके साथ सम्बद्ध होनेसे] उसके बाद भयानकका ग्रहण किया गया है। सात्त्विक वृत्तिके लोग भयकी निन्दा करते हैं इसलिए [भयका जुगुप्साके साथ सम्बन्ध होनेसे उसके बाद [जुगुप्सा स्थायिभाव वाला] बीभत्स रस रखा गया है। बीभत्स का विस्मयके द्वारा नाश हो जाता है इसलिए [बीभत्सका विस्मयके साथ सम्बन्ध होनेसे] उसके बाद [विस्मय स्थायिभाव वाला] अद्भुत रस रखा गया है। धर्मका मूल कारण शम

त्वात् ततो बीभत्सः । बीभत्सस्य च विस्मयेनापनीयमानत्वात् ततोऽद्भुतः । धर्मस्य च शममूलत्वात् तदन्ते शमः । इति । एते शृङ्गारादयो नवैव रसा रञ्जनाविशेषेण पुरुषार्थोपयोगाधिक्येन च सद्भिः पूर्वाचार्यैरुपदिष्टाः । सम्भवन्ति त्वपरेऽपि । यथा—गर्द्धस्थायी लौल्यः । आर्द्रतास्थायी स्नेहः । आसक्तिस्थायि व्यसनम् । अरतिस्थायि दुःखम् । सन्तोषस्थायि सुखमित्यादि । केचिदेषां पूर्वेष्वन्तर्भावमाहुरिति ॥[६]११२॥

अथ सभेदं शृंगारं निरूपयति—

[सूत्र १६६]—सम्भोग-विप्रलम्भात्मा शृङ्गारः प्रथमो बहुः ।
मान-प्रवास-शापेच्छा-विरहैः पञ्चधाऽपरः ॥[१०]११२॥

विलासिनोरन्योन्यानुकूलवर्तिनोः प्रेमपरयोर्यद् दर्शन-स्पर्शनादिः, स सम्भोगः । परस्परानुरक्तयोरपि विलासिनोः पारतन्त्र्यादेरघटनं चित्तविश्लेषो वा विप्रलम्भः । एतौ द्वावप्यवस्थाविशेषौ आत्मा स्वभावो यस्य अवस्थातु-र्दशाद्वयानुयायिनः आस्थाबन्धात्मकरतिप्रकर्षरूपस्य शृंगारस्य । तेन शृंगारस्य नेमौ भेदौ गोत्वस्येव शावलेय-बाहुलेयौ, अपितु सम्भोगेऽपि विप्रलम्भसम्भावनासद्भावात्, विप्रलम्भेऽपि मनसा सम्भोगानुवेधाद् उभयसंवलितस्वभावः शृंगारः । उत्कटत्वाच्चैकदेशेऽपि सम्भोग-शृंगारो विप्रलम्भशृंगार इति चोपचारेणोच्यते । अवस्थाद्वयमीलननिबन्धने च सातिशयश्चमत्कारः । यथा—

है इसलिए सबसे अन्तमें शम [स्थायिभाव वाला शान्तरस] रखा गया है । विशेषरूपसे मनोरञ्जक तथा पुरुषार्थोंकी सिद्धिमें उपयोगी होनेके कारण शृंगार आदि ये नौ रस ही पूर्ववर्ती सहृदय आचार्योंने निर्दिष्ट किए हैं । किन्तु इनसे भिन्न और रस भी हो सकते हैं । जैसे तृष्णा रूप स्थायिभाववाला लौल्य, आर्द्रतारूप स्थायिभाववाला स्नेह, आसक्तिरूप स्थायिभाववाला व्यसन, अरति रूप स्थायिभाववाला दुःख और सन्तोष रूप स्थायिभाव वाला सुख इत्यादि [अन्य रस भी हो सकते हैं] । कुछ लोग [इनको रस तो मानते हैं किन्तु] इनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त नौ रसोंमें ही कर लेते हैं ॥[६]१११॥

अब आगे भेदों सहित शृंगार रसका निरूपण [प्रारम्भ] करते हैं—

[सूत्र १६६]—सम्भोग और विप्रलम्भात्मक दो प्रकारका शृंगाररस होता है । उनमेंसे पहिला [अर्थात् सम्भोग शृंगार] अनन्त प्रकारका [बहुः] होता है । दूसरा [विप्रलम्भ शृंगार] १. मान, २. प्रवास, ३. शाप, ४. ईर्ष्या तथा ५· विरह रूप पाँच प्रकारका होता है । [१०]१११ ।

एक-दूसरेके अनुकूल पड़नेवाले और एक-दूसरेको प्रेम करने वाले [स्त्री-पुरुष रूप] दो विलासियोंका जो परस्पर दर्शन स्पर्शन आदि है वह सम्भोग [शृंगार कहलाता] है । परस्पर अनुरक्त होनेपर भी परतन्त्रता आदिके कारण [स्त्री-पुरुष रूप] दोनों विलासियोंका परस्पर मिलन न हो सकना अथवा चित्तका विलग हो जाना विप्रलम्भ शृंगार [कहलाता] है । ये दोनों अवस्था विशेष जिस अवस्थावान् प्रेमबन्ध रूप रतिके उत्कर्ष रूप शृंगारका आत्मा अर्थात् स्वभावभूत है वह ['सम्भोग-विप्रलम्भात्मा' है । यह इस शब्दका अर्थ है] । इसलिए गौओंके चितकबरी और काली [शावलेयत्व और काहुलेयत्व] भेदोंके समान ये [सम्भोग तथा विप्रलम्भ] दोनों अलग-अलग भेद नहीं है । अपितु सम्भोगमें भी विप्रलम्भकी

"एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो—
रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ।
दम्पत्योः शनकैरपांगवलनामिश्रीभवच्चक्षुषो—
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहम् ॥"

अत्र ईर्ष्याविप्रलम्भ-सम्भोगयोर्विभावादिकृता सातिशया चमत्कृतिः। प्रथमः सम्भोगाख्यो बहुः। परस्परावलोकन-चुम्बन-विचित्रवक्रोक्त्यादिभेदतोऽनन्तप्रकारः। यथा—

"किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगा—
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो—
रविदितगतयामा रत्रिरेव व्यरंसीत् ॥"

अपरो विप्रलम्भः। ईर्ष्या-प्रणयभंगाभ्यां वैमनस्यं मानः। यथा—

"याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तझम्पानतां,
कालिन्दीतटरूढवंजुललतामालिंग्य सोत्कण्ठया।

सम्भावना बने रहने और विप्रलम्भमें भी मनमें सम्भोगका [इच्छात्मक] सम्बन्ध विद्यमान रहनेसे शृंगाररस उभयात्मक होता है। किन्तु [किसी एक अंशकी] प्रधानताके कारण सम्भोग शृंगार, विप्रलम्भ-शृंगार इस प्रकार कहा जाता है। दोनों अवस्थाओंके सम्मिश्रणका वर्णन होनेपर विशेष चमत्कार होता है।

जैसे—

"रूठे होनेके कारण एक ही पलंगपर लेटे होनेपर भी चुपचाप दुःखी होते हुए और मनमें एक-दूसरेके मनानेकी इच्छा होते हुए भी अपने-अपने गौरवकी रक्षा करनेमें लगे हुए दम्पतियोंके धीरेसे आँखें घुमाकर देखते समय आख-से-आँख मिल जानेपर उनका प्रणय-कलह स्वयं ही समाप्त हो गया और [दोनोंने] हँसते हुए वेगसे एक-दूसरेका [कण्ठग्रह] आलिंगन कर लिया।"

इसमें ईर्ष्याविप्रलम्भ और सम्भोग दोनोंकी [एक साथ मिश्रित रूपमें] विभावादिके कारण अत्यन्त चमत्कारयुक्त प्रतीति होती है।

पहिला सम्भोग नामक शृंगार बहुत प्रकारका होता है। अर्थात् एक-दूसरेके अवलोकन, चुम्बन और नाना प्रकारके सुन्दर वार्तालाप आदि भेदसे अनन्त प्रकारका होता है। जैसे—

अत्यन्त प्रेमके कारण गालसे गाल मिलाए हुए, गाढ आलिंगनमें जिनकी एक-एक भुजा लगी हुई है इस प्रकारके [हम दोनों सीता और रामचन्द्रके] बिना क्रमके [संगत असंगत सभी प्रकारकी] बात करते हुए ही सारी रात बीत गई।"

यह उत्तररामचरितका श्लोक है। इसमें सम्भोग शृङ्गारके अनेक रूपोंका प्रदर्शन कराया गया है।

दूसरा विप्रलम्भ शृंगार [पाँच प्रकारका होता है यह बात कही जा चुकी है। उन पाँच भेदोंमेंसे] ईर्ष्या अथवा प्रणय कलहके कारण होनेवाला वैमनस्य मान कहलाता है। [मानका उदाहरण] जैसे—

तद् गीतं गुरुवाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया,
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥"

सन्निहितदेशस्यापि रूपान्तरापादनं शापः। यथा कादम्बर्यां महाश्वेतया वशम्पायनस्य शुकरूपापादनम्।

मातापित्रादिपारतंत्र्याद् भाविनवसंगमयोः संगमाभिलाष इच्छा। यथा—

"उद्धच्छो पियइ जलं जह जह विरलंगुली चिरं पहिओ।
पावालिया वि तह तह धारं तणुअं पि तणुएइ ॥
[ऊर्ध्वाक्षः पिबति जलं यथा यथा विरलांगुलिश्चिरं पथिकः।
प्रपापालिकापि तथा तथा धारां तनुकामपि तनयति ॥"
इति संस्कृतम्]।

यथा वास्माकं सुधाकलशे—

"रत्थाइ संचरंतं नियच्छिउ पाडिवेसियजुयाणं।
कम्मयरीकम्मं पि हु धणवइधूआ सयं कुणइ ॥
[रथ्यायां संचरन्तं दृष्ट्वा प्रतिवेश्मिकयुवानम्।
कर्मकरीकर्मापि खलु धनपतिदुहिता स्वयं कुरुते ॥"
इति संस्कृतम्]।

"तब कृष्णजीके द्वारका चले जानेपर विरहाकुल हुई राधाने उन [कृष्ण] के द्वारा झोंका दिए जानेके कारण झुकी हुई यमुनाके किनारेकी वेतसलताको पकड़कर बड़े-बड़े आँसू ढरकाते हुए और भरे हुए गलेसे उच्च स्वरसे इस प्रकार रुदन किया कि जिसको सुनकर [यमुनाके] जलके भीतर रहनेवाले जलजन्तु भी गर्दन उठाकर रोने लगे।

यह [प्रणयभंगजन्य मानरूप विप्रलम्भ-शृंगारका उदाहरण है]।

[विप्रलम्भका दूसरा भेद या कारण शाप है। उसका लक्षण करते हैं] समीपस्थ रहनेवालेका भी अन्य रूप करा देना शाप कहलाता है। जैसे कादम्बरीमें महाश्वेताके द्वारा वैशम्पायनको शुक-रूपमें बना देना [शापका उदाहरण है]।

माता-पिता आदिके परतन्त्र होनेके कारण [इस समय जिनका मिलन नहीं हो पा रहा है किन्तु] आगे जिनका प्रथम मिलन होनेवाला है उनकी परस्पर मिलनकी इच्छा अभिलाष (कहलाती] है [उसके कारण दो प्रेमियोंका जो मिलनका अभाव है वह अभिलाषजन्य विप्रलम्भ कहलाता है]। जैसे—

"[पानी पिलानेवालीके पास देर तक रहनेके लिए] ऊपर देखते हुए पथिक अंजलिकी अंगुलियोंको विरल अर्थात् खोलकरके जैसे-जैसे पानी पी रहा है उसी प्रकार प्याऊवाली पहलेसे ही पतली धाराको और भी अधिक पतली करती जाती है [अर्थात् पानी पीनेवाले पथिक और पिलानेवाली प्रपापालिका दोनों ही अधिकसे अधिक कालतक एक-दूसरेके पास रहना चाहते हैं]।"

अथवा जैसे हमारे [बनाये हुए] सुधाकलशमें [अभिलाषका उदाहरण]—

"पड़ोसी युवकको गलीमें घूमता हुआ देखकर धनपतिकी पुत्री नौकरानीके करने योग्य कामोंको भी अपने-आप कर रही है [जिससे उस युवकको देखनेका अवसर मिल सके]।"

सम्भूतभोगयोर्मातात्राद्यभावेऽपि कार्यान्तरव्यापृततया अननुसर्पणं विरहः। यथा—

"अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृत्,
यो मां नेच्छति नागतश्च ह हा कोऽयं विधेः प्रक्रमः ?
इत्यल्पेतरकल्पना-कवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे,
बाला वृत्तविवर्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि ॥"

इति ॥ [१०] ११२ ॥

अथोभयात्मनोऽपि शृंगारस्य विभावानुभावौ प्रतिपादयति—

[सूत्र १६७]—स्त्री-पुंस-काव्य-गीततुं-माल्य-वेषेष्ट-केलिजः ।
अभिनेयः स चोत्साह-चाटु-तापाश्रु-मन्युभिः ॥
[११] ११३ ॥

इह शृङ्गारे स्त्री-पुंसौ परस्परं मुख्यविभावौ। तयोश्चोत्तमप्रकृतिकयोरुपयोगी काव्यादिः। काव्यं च सरसमभिनेयानभिनेयभेदभिन्नम्। गीतेन वाद्यनृत्ताद्यपि गृह्यते। ऋतवो वसन्ताद्याः। माल्येन विलेपन-ताम्बूल-विशिष्टभवनादि लक्ष्यते। वेषो

जिनका सम्मिलन पहिले हो चुका है इस प्रकारके प्रेमियोंका माता-पिता आदिके प्रतिबन्धके बिना भी अन्य कार्योंके कारण परस्पर मिलन न हो सकना विरह [कहलाता] है। जैसे—

"[मेरे पति] कहीं और चला जाय ऐसा तो सोचना भी असंगत है, और उनका कोई ऐसा मित्र भी नहीं है जो मुझे न चाहता हो [अर्थात् किसी मित्रने उनको रोककर मुझे कष्ट दिया हो ऐसी बातभी नहीं हो सकती है] किन्तु फिरभी अभीतक आए नहीं, हाय, भगवन् ! यह क्या खेल कर रहे हैं [जो वे अबतक नहीं आए] इस प्रकारकी अनेक भीषण कल्पनाओंमें डूबी हुई बाला रातको करवट बदलती हुई पड़ी है और उसको नींद नहीं आ रही है।"

यह [विरह-रूप विप्रलम्भका उदाहरण है] ।।[१०]११२]

अब [सम्भोग और विप्रलम्भ रूप] दोनों प्रकारके शृंगारके विभाव तथा अनुभावोंका वर्णन करते हैं।

[सूत्र १६७]—स्त्री पुरुष [शृंगारके मुख्य विभाव हैं] काव्य, गीत, ऋतु, माल्य, वेष अन्य इष्ट वस्तु तथा [वन-विहार जलक्रीडा आदि रूप] केलियोंसे [शृंगार] उत्पन्न होता है। ये सब शृंगारके कारण विभाव हैं। नाटकमें] उत्साह [एक-दूसरेकी] चाटुकारिता, संताप, रुदन तथा मान आदिके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए। [११]११३।

इनमेंसे स्त्री-पुरुष एक-दूसरेके प्रति मुख्य विभाव हैं। उत्तम प्रकृतिवाले उन दोनोंके उपयोगी काव्यादि [भी गौण कारण होनेसे गौण विभाव कहे जा सकते हैं]। काव्य पदसे अभिनेय और अनभिनेय [अर्थात् दृश्यकाव्य तथा श्रव्यकाव्य] भेदसे युक्त सरस काव्यका ग्रहण करना चाहिए। 'गीत' पदसे [उसके सहकारी] वाद्य और नृत्य आदि भी ग्रहण होता है। 'ऋतु' पदसे वसन्तादि [अभिप्रेत हैं]। माल्य पदसे विलेपन, ताम्बूल और विशेष भवन आदिका भी ग्रहण समझना चाहिए। 'वेष' पदसे विशेष प्रकारके वस्त्र अलंकारादि रूप

विशिष्टवस्त्राभरणादि नेपथ्यम् । इष्टो विदूषक-चन्द्रोदय-चक्रवाक-हंसालेख्यादिः । यद्वा नयन-वदन-प्रसाद-स्मित-मनोज्ञांगविकार-वक्रोक्त्यादयो ग्लान्यालस्य-श्रमादयश्चेष्टाः । एवंविधा हि विकाराः परस्परं स्त्री-पुंसयोरिष्टा भवन्ति । केलयः पुष्पावचय-उपवन-गमन-जलक्रीडादयश्चेष्टाविशेषाः । एवमन्येऽप्युपलक्षणादेवंविधा विभावा द्रष्टव्याः । एभ्यो यथायोगमुभयात्मापि जायते रतिस्थायी शृंगारः ।

स च शृंगारो लब्धसत्ताकः सन्नभिनेयो वाचिक-सात्त्विक-आंगिक-आहार्याभिनयैर्नटेन सामाजिकानां साक्षाच्चर्वणागोचर उत्साहादिभिः कर्तव्यः ।

उत्साहो नयन-वदनप्रसादकारी चित्तोल्लासः । अयं च स्थाय्यपि वीरस्य अत्रागन्तुकत्वाद् अनुभावः । एवं रसान्तरं प्रति व्यभिचारित्वमपि स्थायिनां सहचारितया भवत्येव । अस्य च स्थाय्यनुभावाभिनय-द्वारेणात्राभिनयहेतुत्वम् । एवं रत्यादावपि वाच्यम् । तापोऽभिमताप्राप्तेः काय-मनः-पीडा । मन्युरीर्ष्याप्रणयभंगाभ्यां चित्तोद्वेगः । उत्साह-चाटुभ्यां नयनचातुर्य-भ्रूक्षेप-परस्यांगविकारादिः सम्भोगशृंगारस्यानुभावः सूचितः । ताप-अश्रु-मन्युभिः पुनः पुनः परिदेवनादिर्विप्रलम्भशृंगारस्यनुभावो लक्षितः । तत्र सम्भोगे सुखमया धृत्यादयो व्यभिचारिणः । विप्रलम्भे त्वालस्यौग्य-जुगुप्सावर्जा निर्वेदादयो दुःखप्राया इति ॥[११]११३॥

नेपथ्यका ग्रहण करना चाहिए । 'इष्ट' पदसे विदूषक, चन्द्रोदय, चक्रवाक, हंस और आलेख्य [चित्र] आदिको भी लेना चाहिए । अथवा [इष्ट पदसे] नेत्रों और चेहरेकी प्रसन्नता, मुस्कराहट, सुन्दर अंगविकार, सुमनोहर वक्रोक्तियाँ आदि और ग्लानि, आलस्य श्रम आदि चेष्टा लेनी चाहिए । [क्योंकि] इस प्रकारके विकार स्त्री-पुरुषोंको परस्पर इष्ट होते हैं । केलियोंसे पुष्पावचय, वनविहार, जलक्रीडा आदि चेष्टाओंका ग्रहण होता है । [इन सबके] उपलक्षण रूप होनेसे इसी प्रकारके अन्य विभाव भी ले लेने चाहिए । इनके द्वारा यथायोग्य [सम्भोग तथा विप्रलम्भ रूप] दोनों प्रकारका रतिरूप स्थायिभाववाला शृंगार उत्पन्न होता है ।

उस उत्पन्न शृंगारको उत्साह आदिके द्वारा अभिनय करना चाहिए अर्थात् वाचिक सात्त्विक [मानसिक], आंगिक तथा वेषादिविषयक [आहार्य] अभिनयोंसे नटके द्वारा सामाजिकोंके साक्षात् चर्वणाका विषय बनाया जाना चाहिए ।

नेत्रों और चेहरेको प्रफुल्लित करनेवाली चित्तकी प्रसन्नता उत्साह [कहलाता] है । यह [उत्साह] वीररसका स्थायिभाव होनेपर भी यहाँ शृंगाररसमें आगन्तुक गौण होनेसे [स्थायिभाव न होकर] अनुभाव होता है । इसी प्रकार [अन्य] स्थायिभावोंका भी दूसरे रसोंमें सहकारी होनेके कारण व्यभिचारित्व भी होता ही है । इस [वीररसके] स्थायिभाव और [शृंगाररसके] अनुभावका अभिनय [के प्रति प्रवर्तकत्व] द्वारा यहाँ [शृंगाररसमें] अभिनयके प्रति हेतुत्व होता है । इसी प्रकार रत्यादिमें भी [अन्य रसोंके प्रति व्यभिचारिभावत्व आदि] समझना चाहिए । ['ताप' शब्दकी व्याख्या करते हैं] । प्रियजन [अभिमत] के प्राप्त न होनेपर होने वाली शारीरिक और मानसिक पीडा 'ताप' कहलाती है । 'मन्यु' पदसे ईर्ष्या तथा प्रणय-कलहके द्वारा होनेवाला चित्तका उद्वेग [गृहीत होता है । कारिकामें आए हुए] 'उत्साह' तथा 'चाटु' शब्दोंसे नयनचातुर्य और भ्रूक्षेप करने वाले [स्त्री-पुरुष रूप विभाव] के अंगविकारादि रूप सम्भोगशृंगारके अनुभावोंको सूचित किया गया है । और

अथ हास्यः—

[सूत्र १६८]—विकृताचार-जल्पांगाकल्पविस्मापनोद्भवः ।
हास्योऽस्याभिनयो नासास्पन्दाश्रुजठरग्रहैः ॥[१२]११४॥

विकृतः प्रकृति-देश-काल-वयोऽवस्थादिविपरीतः । अंगस्य च विकृतत्वं विरूपो व्यापारः, खञ्ज-कुण्टत्वादि वा । उपलक्षणाच्च धाष्टर्य-लौल्यादीनामनुचितानां मर्मोद्घाटन-अन्यहसनावलोकनादेश्च ग्रहः । विस्मापनं कक्षानासावादन-ग्रीवा-कर्ण-चूडा-भ्रूनर्तन-परभाषाद्यनुकरणादिकं च विटचेष्टितम् । एभ्यः स्वपरस्थेभ्यो हासस्थायी हास्यरसः प्रादुरस्ति । नासया गण्डौष्ठादयो, अश्रुणा चाकुञ्चन-प्रसारणादयो नेत्र-विकाराः, जठरग्रहेण पार्श्वग्रह-करताडन-मुखरागादयः संगृह्यन्ते । व्यभिचारिणश्चास्य अवहित्था-हर्षोत्साह-विस्मयादय इति ॥ [१२] ११४ ॥

[कारिकामें आए हुए अगले] ताप, अश्रु तथा मन्यु पदोंके द्वारा विप्रलम्भशृंगारके परिदेवन आदि रूप अनुभावोंको सूचित किया गया है। उनमेंसे सम्भोग-शृंगारमें सुख रूप धृत्यादि व्यभिचारिभाव होते हैं और विप्रलम्भशृंगारमें आलस्य, उग्रता और जुगुप्साको छोड़कर दुःख-प्रधान निर्वेदादि [व्यभिचारिभाव होते हैं] ॥११३॥

हास्यरस—

अब आगे हास्यरसका निरूपण करते हैं—

[सूत्र १६८]—विकृत आचरण, बातचीत, वेष-विन्यास और [नाक बजाना, बगल बजाना आदि रूप विस्मापन अर्थात्] आश्चर्यजनक चेष्टाओंसे हास्यरस उत्पन्न होता है। नाक सिकोड़ने अश्रु और पेट पकड़ने आदिके द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।[१२]११४।

विकृत अर्थात् प्रकृति [स्वभाव]. देश, काल, आयु और अवस्था आदिके विपरीत [आचार हास्यजनक होता है]। अंगोंका विकृतत्व [दो प्रकारका हो सकता है। एक तो] विरूप व्यापार [का किया जाना], अर्थात् [दूसरा] खञ्जत्व [लंगड़ापन] या निर्बलता आदि रूप होता है। [कारिकामें गिनाए गए विकृताचार आदिके] उपलक्षण रूप होनेसे [उनसे भिन्न] अनुचित धृष्टता लालच आदि और मर्म भागोंको दिखलाना, दूसरोंका मज़ाक बनाना, और [विशेष प्रकारसे] देखने आदिका भी ग्रहण होता है। [कारिकामें आए हुए] 'विस्मापन' पदसे बगल और नाकका बजाना, गर्दन, कान, सिर या भौंहोंका मटकाना और दूसरोंकी बोलीका अनुकरण करना आदि रूप व्यापारका ग्रहण होता है। अपनेमें अथवा किसी दूसरेमें स्थित इन [विकृताचार आदिके देखने] से हासस्थायिभाव वाले हास्यरसकी उत्पत्ति होती है। [कारिकामें आए हुए नासास्पन्दके 'नासा' शब्दसे गाल और ओठ आदि [के चलाने] का भी ग्रहण होता है। 'अश्रु' पदसे [नेत्रोंके] सिकोड़ने और फैलाने आदि रूप नेत्रविकारोंका भी ग्रहण समझना चाहिए। [कारिकाके] 'जठरग्रह' शब्दसे [पेट पकड़नेके साथ ही] पार्श्वग्रह हाथ पीटना, मुखराग आदिका भी संग्रह होता है। 'अवहित्था' [अर्थात् आकारगोपन] हर्ष, उत्साह, विस्मय आदि इस [हास्यरस] के व्यभिचारिभाव होते हैं ॥[१२]११४॥

अथास्य भेदानुपदिशति—

[सूत्र १६६]—विहासश्चोपहासश्च मध्ये ज्येष्ठे स्मितं हसः ।
अपहासोऽतिहासश्च नीचे प्रायोऽधमे रसः ॥[१३]११५॥

तत्र हसनं मधुरस्वरम् । सास्यराग-समयप्राप्तं च विहसितम् । सांसशिरःकम्पमुपहसितम् । एतौ भेदौ मध्यमप्रकृतौ । अलक्षितद्विजं स्मितम् । किञ्चिल्लक्ष्यदन्तं हसितम् । इमौ भेदौ उत्तमप्रकृतौ । अनवसरप्राप्तं साश्रुनेत्रमुत्कम्पितांस-शिरश्चापहसितम् । करोपगूढपार्श्वं विक्रुष्टस्वरमुद्धतं चातिहसितम् । अमू भेदावधमप्रकृतौ ।

एवं षडेते हास्यभेदाः । अयं च हास्यो रसः प्रायो बाहुल्येनाधमप्रकृतौ पामरप्राये भवति । स्ववर्गापेक्षया च स्त्रियाः प्राधान्येऽपि पुरुषापेक्षयाधमत्वेति तस्यामपि । एवं करुण-भयानक-बीभत्स-अद्भुता अप्यधमप्रकृतौ भूयस्त्वमनुभवन्ति । पामरप्रायः सर्वः प्रकर्षेण हसति, शोचति, बिभेति, परनिन्दामाद्रियते, स्वल्पेनापि सुभाषितेन सर्वत्र विस्मयते इति ॥ [१३] ११५ ॥

अब आगे इस [हास्यरसके] भेदोंको दिखलाते हैं—

[सूत्र १६६] —मध्यम [प्रकृतिके पात्रों] में [हास्यरसके] विहास और उपहास [रूप दो भेद पाए जाते हैं], उत्तम [श्रेष्ठ प्रकृतिके पात्रों] में स्मित और हास [रूप दो हास्य भेद पाए जाते हैं] और नीच [प्रकृतिके पात्रों] में अपहास तथा अतिहास [रूप दो हास्य-भेद पाए जाते हैं] । और यह हास्यरस प्रायः अधम पात्रोंमें पाया जाता है ।[१३]११५।

[हास्यके जो छः भेद कारिकामें दिखलाए हैं] उनमेंसे समुचित अवसरपर जिसमें गाल लाल हो जाएँ इस प्रकारका मधुर स्वरसे हँसना 'विहसित' [कहलाता] है । कन्धे और सिर जिसमें हिलने लगें [इस प्रकारका हँसना] 'उपहसित' कहलाता है । ये [विहसित और उपहसित रूप] दोनों भेद मध्यम प्रकृति [के पात्रों] में होते हैं । जिसमें दाँत दिखलाई न दें इस प्रकारका हास्य 'स्मित' [मुस्कराना] कहलाता है । और जिसमें दाँत थोड़े-थोड़े दिखलाई देने लगें [इस प्रकारका हास्य] 'हसित' [कहलाता] है । [स्मित और हसित] ये दोनों भेद उतम प्रकृति [के पात्रों] में होते हैं । बिना अवसरके जिसमें आँखोंमें आँसू आ जाएँ कन्धे और सिर हिलने लगें, इस प्रकारका हँसना 'अपहसित' कहलाता है । और हाथोंसे बगलोंको थामकर जोर-जोरसे उद्धततापूर्वक हँसना 'अतिहास' कहलाता है । [अपहसित और अतिहसित] ये दोनों भेद अधम प्रकृति [के पात्रों] में होते हैं ।

इस प्रकार हास्यके छः भेद हो जाते हैं । यह हास्यरस अधिकतर अधम प्रकृतिके नीच पुरुषोंमें होता है । अपने वर्गकी अपेक्षासे [किसी विशेष] स्त्रीकी उत्तमता [प्रधानता] होनेपर भी पुरुषोंकी अपेक्षा उस [उत्तम स्त्री] में भी अधमता ही होती है इसलिए उन [स्त्रियों] में भी हास्यरस अधिकतर पाया जाता है । इसी प्रकार करुण, भयानक, अद्भुत तथा बीभत्स रस भी अधिकतर अधम प्रकृति [अर्थात् नीच पात्रों]में होते हैं । इसलिए नीच प्रकृति वाले सभी लोग प्रायः जोरसे हँसते, अधिक शोक करते, अधिक डरते और अधिकतर दूसरों की निन्दा करते हैं तथा तनिक-से भी सुभाषितको सुनकर आश्चर्य करने लगते हैं । ॥ [१३] ११५ ॥

अथ करुणः—

[सूत्र १७०]—मृत्यु-बन्ध-धनभ्रंश-शाप-व्यसन-सम्भवः ।
करुणोऽभिनयस्तस्य वाष्प-वैवर्ण्य-निन्दनैः ॥[१४]११६॥

शापोऽभिमतवियोगहेतुर्दिव्यप्रभाववतः आक्रोशः । व्यसनमनर्थः । अनेन देशोच्चाटनादेर्जातं विप्लवजातं संगृह्यते । एभ्यो विभावेभ्यः शोकस्थायी करुणो रसः सम्भवति । वाष्प-वैवर्ण्याभ्यां निःश्वास-मुखशोष-स्मृतिलोप-स्रस्तगात्रतादयोऽनुभावाः सूचिताः । निन्दनमात्मनो दैवस्यान्यस्य चोपालम्भः । अनेन रुदित-प्रलपिता-उरस्ताडनादि गृह्यते । व्यभिचारिणस्तस्य निर्वेद-ग्लानि-चिन्ता-औत्सुक्य-मोह-श्रम-भय-विषाद-दैन्य-व्याधि-जडता-उन्माद-अपस्मार-आलस्य-मरण-स्तम्भ-वेपथु-वैवर्ण्य-अश्रु-स्वरभेदादय इति ॥ [१४] ११६ ॥

अथ रौद्रः —

[सूत्र १७१]—प्रहारासत्य-मात्सर्य-द्रोहाधर्षापनीतिजः ।
रौद्रःस चाभिनेतव्यो घातदन्तौष्ठपीडनैः ॥[१५]॥११७॥

परमविदारयतो विदारयतश्च शस्त्रादिव्यापारणं प्रहारः । अनेन गृहभृत्याद्युपमर्दनस्य ग्रहः । असत्येन बध-बन्धाद्यभिधायकवाक्पारुष्यस्य ग्रहः । गुणेष्वसूया मात्सर्यम् । द्रोहो जिघांसा । दारादिखलीकार-विद्या-कर्म-देश-जात्यादिनिन्दा-राज्य-

---

अब आगे करुण [रसका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र १७०]—[किसी प्रियजनके] मृत्यु, बन्धन, धननाश, शाप तथा विपत्ति आदि [को देखने]से करुणरस उत्पन्न होता है। आँसुओं, [चेहरेकी] विवर्णता तथा [भाग्यकी] निन्दा आदिके द्वारा इसका अभिनय किया जाता है। [१३] ११६।

प्रियजनके वियोगको कराने वाली, दिव्य प्रभाव वाले व्यक्तिकी अप्रसन्नता 'शाप' कहलाता है। अनर्थ [का नाम] 'व्यसन' है। इससे देश-नाशसे होने वाले विप्लव-समुदायका ग्रहण होता है। इन विभावोंके द्वारा शोक रूप स्थायिभाव वाला करुणरस उत्पन्न होता है। आँसू, [चेहरेकी] विवर्णता, निःश्वास, मुख सूखना, स्मृतिका लोप, शरीरकी शिथिलता आदि अनुभाव भी सूचित होते हैं। निन्दासे अपनी निंदा, भाग्यको अथवा अन्योंको उलाहना देना [अभिप्रेत है]। इससे रोने, प्रलाप करने और छाती पीटनेका भी संग्रह होता है। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जडता, उन्माद, अपस्मार, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभेद आदि इसके व्यभिचारभाव होते हैं॥[१४]११६ ॥

अब आगे रौद्ररस [का लक्षणादि करते हैं]—

[सूत्र १७१]—प्रहार, असत्य, मात्सर्य, द्रोह, आधर्षण तथा अपनीतिसे रौद्ररस होता है और मारने, दाँत तथा ओठोंके चबानेके द्वारा इसका अभिनय किया जाता है। [१५]११७।

दूसरेको काट देने वाला या न काटने वाला शस्त्रका व्यापार 'प्रहार' कहलाता है। इससे घर और भृत्य आदिके उपमर्दनका भी ग्रहण होता है। 'असत्य' पदसे बध, बन्ध आदिके कहने वाले कठोर वाक्यों आदिका संग्रह होता है। गुणोंमें असूया [दोषाविष्करण] 'मात्सर्य' कहलाता है। मारनेकी इच्छा 'द्रोह' [कहलाती] है। स्त्रियों आदिका अपमान,

सर्वस्वापहरणादिराधर्षः। अन्यायोऽपनीतिः। अनेनौद्धत्यं सूचितम्। एतेभ्यो विभावेभ्यः क्रोधस्थायी रौद्रो रसो जायते। घातेन छेदन-भेदन-रुधिराकर्षणादिरनुभावो गृह्यते। दन्तौष्ठपीडनेन गण्डौष्ठस्फुरण-हस्ताग्रनिष्पेषाद्यनुभाववृन्दं सूच्यते। व्यभिचारिणश्चास्य मोह-उत्साह-आवेग-अमर्ष-चापल-औग्र्य-स्वेद-वेपथु-रोमाञ्चादय इति। स्थायिनोऽपि चोत्साहादयो रसान्तरं प्रति व्याभिचारितां स्वीकुर्वन्ति। स्तम्भ-स्वेदादयश्च न रसकार्या व्यभिचारिणः, किन्तु स्थायिकार्या इति ॥ [१५] ११७ ॥

अथ वीरः—

[सूत्र १७२]—पराक्रम-बल-न्याय-यशस्तत्त्वविनिश्चयैः।
वीरोऽभिनयनं तस्य धैर्य-रोमाञ्च-दानतः ॥[१६]११८॥

पराक्रमः परकीयमण्डलाद्याक्रमणसामर्थ्यम्। बलं हस्त्यश्व-रथ-पदाति-धन-धान्य-मन्त्र्यादिसम्पत्। शारीरिकी शक्तिर्वा। न्यायः सामादीनां सम्यक् प्रयोगः। अनेनेन्द्रियजयो गृह्यते। यशः सार्वत्रिकी शौर्यादिगुणख्यातिः। अनेन शत्रुविषये सन्ताप-कर्तृत्वप्रसिद्धिरूपः प्रतापो गृह्यते। तत्त्वं याथात्म्यं तस्य विनिश्चयः। एवमादिभिर्विभावैरुत्साहस्थायी वीररसः सम्भवति। स चानेकधा, युद्ध-धर्म-दान-गुण-प्रतापावर्जन-

---

विद्या, कर्म, देश, जाति आदिकी निन्दा और राज्य या सर्वस्वका अपहरण आदि 'आधर्ष' [कहलाता] है। अन्यायका नाम 'अपनीति' है। इसके द्वारा औद्धत्यको भी सूचित किया है। इन विभावोंसे क्रोध रूप स्थायिभाव वाला रौद्ररस उत्पन्न होता है 'घात' पदसे छेदन-भेदन और रक्त बहाने आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है। दाँतोंके पीसने और ओंठ चबानेसे गालों और ओष्ठोंके फड़कने, हाथके अग्रभागके मलने, आदि अनुभाव-समुदायका ग्रहण होता है। इस [रौद्ररस] के व्यभिचारभाव मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, स्वेद, वेपथु और रोमाञ्चादि होते हैं। उत्साहादि [वीररसमें] स्थायिभाव होनेपर भी [रौद्रादि] दूसरे रसों में व्यभिचारी बन जाते हैं। स्तम्भ और स्वेदादि रसके कार्यरूप होनेसे [यहाँ] व्यभिचारिभाव नहीं कहलाते हैं अपितु स्थायिभावके कार्य होनेसे व्यभिचारिभाव कहलाते हैं ॥[१५]११७॥

अब वीररस [का लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १७२]—पराक्रम, बल, न्याय, यश, और तत्त्वविनिश्चय आदिसे वीररस होता है, और धैर्य, रोमाञ्च तथा दानके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है। [१६] ११८।

दूसरेके राज्य आदिपर आक्रमणकी सामर्थ्य पराक्रम [कहलाता] है। हाथी, घोड़े, रथ, पदाति, धन-धान्य और मन्त्री आदिकी सम्पत्ति बल [पदसे अभिप्रेत] है। अथवा शारीरिक शक्ति [बल कहलाती है]। सामादि [उपायों] का समुचित प्रयोग 'न्याय' [कहलाता] है। इसके द्वारा इन्द्रिय-जयका ग्रहण होता है। शौर्यादि गुणोंकी सर्वत्र प्रसिद्धि 'यश' [कहलाती] है। इसके द्वारा शत्रुओंके भीतर सन्ताप करनेकी प्रसिद्धि रूप प्रतापका [भी] ग्रहण होता है। तत्त्व अर्थात् यथार्थता, उसका विनिश्चय [तत्त्वविनिश्चय कहलाता है]। इस प्रकारके विभावोंसे उत्साह रूप स्थायिभाववाला वीररस उत्पन्न होता है। और युद्ध, धर्म, दान, आदि गुणों तथा प्रतापाकर्षण आदि उपाधियोंके भेदसे [युद्धवीर, धर्मवीर, दानवीर आदि रूपसे] अनेक प्रकारका होता है। महान् शत्रु-सैन्य अथवा महान् विपत्तिके उपस्थित

आद्युपाधिभेदात्। धैर्यं महत्यपि परसैन्ये विपदि वा अकातर्यम्। अनेन सैन्योत्तेजन-पराक्षेपादेरनुभावस्य ग्रहः। दानेन प्रमोद-माध्यस्थ्य-शान्तचेष्टादेः। व्यभिचारिणश्चास्य धृति-मति-गर्व-आवेग-औग्र्य-अमर्ष-स्मृति-रोमाञ्चादयः। वीररसे च युद्धादिभावेऽपि न रौद्रत्वम्, उत्साह-न्यायप्रधानत्वात्। रौद्रे तु मोह-अहङ्कार-अपन्याय-प्राधान्यमित्यनयो र्न साङ्कर्यमिति॥ [१६] ११८॥

अथ भयानकः —

[सूत्र १७३]—पताका-कीर्ति-रौद्रआजि-शून्य-तस्कर-दोषजः।
भयानकोऽभिनेतव्यः स्तम्भ-रोमाञ्च-कम्पनैः॥
[१७] ११६॥

रौद्राः स्वराकारवैकृत्येन भीषणाः पिशाचोलूकादयः। आजिःशस्त्राघातः। अयं चोपलक्षणं वध-बन्धयोः। शून्यं निर्जनं गेहारण्यादि। दोषो गुरुनृपादेरपराधः। एभ्यो दृष्ट-श्रुतेभ्यश्चिन्त्यमानेभ्यो वा विभावेभ्यो भयस्थायी भयानको रसो जायते। गात्रस्याचलनं स्तम्भः। कम्पनं करचरणादीनां प्रवेपनम्। एभिर्गात्र-मुख-दृष्टिविकार-गलशोष-वैवर्ण्य-मूर्च्छा-दयोऽनुभावाः संगृह्यन्ते। व्यभिचारिणश्चास्य शङ्का-मोह-दैन्य-आवेग-चपलता-त्रास-अपस्मार-मरण-स्तम्भ - स्वेद - रोमाञ्च - वेपथु - स्वरभेद-वैवर्ण्यादय इति॥ [१७] ११६॥

होनेपर भी न घबड़ाना 'धैर्य' कहलाता है। इसके द्वारा [अपनी] सेनाको उत्तेजित करने और दूसरेपर आक्षेप आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है। 'दान' पदसे प्रमोद मध्यस्थता और शांत चेष्टादिका ग्रहण होता है। इस [वीररस]के व्यभिचारभाव धृति, मति, गर्व, आवेग, अमर्ष, उग्रता, स्मृति तथा रोमाञ्च आदि होते हैं। वीररसमें युद्धादिके होनेपर भी रौद्रत्व नहीं आता है। क्योंकि उसमें उत्साह तथा न्यायकी प्रधानता रहती है। रौद्ररसमें तो मोह अहङ्कार और अन्याय आदिकी प्रधानता रहती है इसलिए [वीर और रौद्र] ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं॥ [१६] ११८॥

अब भयानक [रसका वर्णन करते हैं]—

[सूत्र १७३]—पताका, कीर्ति, भयोत्पादक [पिशाच उलूकादि], युद्ध [आजिः], निर्जन स्थान, और चोर-डाकू आदि तथा [गुरु आदिके] दोषोंसे भयानकरस उत्पन्न होता है। स्तम्भ-रोमाञ्च तथा कम्पनके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए। [१७] ११६।

स्वर तथा आकारकी विकृति द्वारा भयोत्पादक पिशाच उलूकादि रौद्र [पदसे गृहीत] होते हैं। यह [रौद्रपद] वध तथा बन्धनका भी उपलक्षण [ग्राहक] है। निर्जर घर या अरण्यादि 'शून्य' पदसे लिया जाता है। दोष अर्थात् गुरु अथवा राजा आदिका अपराध। इन विभावोंके देखने या सुननेसे भयरूप स्थायिभाव वाले भयानक रसकी उत्पत्ति होती है। अंगोंको हिलने-डुलनेका अभाव 'स्तम्भ' कहलाता है। हाथ-पैर आदिका हिलना 'कम्पन' कहलाता है। इसके द्वारा शरीर, मुख, या दृष्टिका विकार, गलेका सूख जाना, विवर्णता और मूर्छा आदि अनुभावों-का [भी] ग्रहण होता है। शङ्का, मोह, दैन्य, आवेग, चपलता, त्रास, अपस्मार, मरण, स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, कम्पन, स्वरभेद, वैवर्ण्य आदि इसके व्यभिचारिभाव हैं॥ [१७] ११६॥

अथ बीभत्सः —

[सूत्र १७४]—जुगुप्सनीयरूपादि-परश्लाघासमुद्भवः ।
बीभत्सोऽभिनयश्चास्य निष्ठेवोद्वेग-निन्दनैः ॥[१८]१२०॥

जुगुप्सनीया मालिन्य-कुथितत्व-दुर्गन्धित्व-कर्कशत्वादिभिरमनोज्ञाः । रूपादयो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दलक्षणाः विषयाः । परस्य विपक्षस्य श्लाघा स्तुतिः । एभ्यो दृष्ट-श्रुतेभ्यो विभावेभ्यो जुगुप्सास्थायी बीभत्सो रसः समुद्भवति । परश्लाघायां हि विशेषतो दोषदर्शनेन जुगुप्सते । निष्ठेवः कफनिरसनम् । उद्वेगो गात्रधूननम् । निन्दनं दोषोद्घनम् । एभिर्गात्रसङ्कोचन-मुखविकूणन-नासाकर्णप्रच्छादन-हृल्लेखादिरनुभावः सूच्यते । व्यभिचारिणश्चास्य व्याधि-मोह-आवेग-अपस्मार-मरणादयः इति ॥ [१८] १२० ॥

अथाद्भुत :—

[सूत्र १७५]—दिव्येन्द्रजाल-रम्यार्थ-दर्शनाभीष्टसिद्धितः ।
अद्भुतः, सोऽभिनेतव्यः श्लाघा-रोमाञ्च-हर्षतः ॥
[१९] १२१ ॥

दिव्याः शक्रादयः । इन्द्रजालं मन्त्र-दिव्य-हस्तयुक्त्यादिना असंभवद्वस्तु-प्रदर्शनम् । रम्यः सातिशयत्वेन हृद्योऽर्थः शिल्पकर्म-रूप-वाक्य-गन्ध-रस-स्पर्श-नृत्त-गीतादिकः, तस्य दर्शनं साक्षात्कारः । अनेन स्वयं कीर्तनं श्रवणं च गृह्यते । अभीष्टमत्य-

---

अब बीभत्स [रसका वर्णन करते हैं] —

[सूत्र १७४]—घृणित रूप आदि तथा शत्रुकी प्रशंसा आदिसे उत्पन्न बीभत्सरस होता है । थूकने, नाक-भौं सिकोड़ने और निन्दाके द्वारा इसका अभिनय किया जाता है ।[१८]१२०।

मलिनता सडांव, दुर्गन्ध अथवा कर्कशता आदिके कारण अरुचिकर [अर्थ] 'जुगुप्सनीय' [अर्थ] कहलाते हैं । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्दादि रूप विषय 'पर' अर्थात् विपक्ष [शत्रु] की प्रशंसा ['परश्लाघा' पदसे अभिप्रेत है] । इन विभावोंके देखने या सुननेसे जुगुप्सारूप स्थायिभाव वाला बीभत्सरस उत्पन्न होता है । शत्रुकी प्रशंसामें विशेष रूपसे दोषोंको देख-कर उससे घृणा करता है । 'निष्ठेव' पदका अर्थ कफका निकलना [अर्थात् थूकना] है । हाथ-पैर आदिका चलाना उद्वेग [का सूचक] है । निन्दा अर्थात् दोष निकालना । इनसे अङ्गों के सिकोड़ने, मुखके विचकाने, नाक-कान आदिके बन्द करने और जी मिचलाने, आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है । व्याधि, मोह, आवेग, अपस्मार, मरण आदि इसके व्यभिचारि-भाव है ॥ [१८] १२० ॥

अब अद्भुत [रसका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र १७५]—देवताओं, अथवा इन्द्रजाल, सुन्दर वस्तु आदिके देखने तथा अभीष्ट अर्थकी [आकस्मिक] सिद्धिसे उत्पन्न होने वाला अद्भुत रस होता है । प्रशंसा रोमाञ्च तथा हर्षके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए ॥ [१८] १२१ ॥

दिव्य अर्थात् इन्द्रादि देवता । मन्त्र अथवा किसी द्रव्य अथवा हाथकी चालाकी आदिके द्वारा असम्भव बातको दिखला देना 'इन्द्रजाल' कहलाता है । रम्य अर्थात् अत्यन्त सुन्दर लगने वाला अर्थ जैसे शिल्प-रचना, अथवा रूप या वाक्यरचना, अथवा गन्ध, रस,

न्तमीप्सितम् । तस्य सिद्धिः प्राप्तिर्निष्पत्तिर्वा । एवमादिभ्यो विभावेभ्यो विस्मयस्थायी अद्भुतो रसो भवति । हर्षेण स्वानुभावाः सूच्यन्ते । एभिर्नयनविस्तार-गात्रोल्लुकसन-अनिमिषप्रेक्षण-चेलोंऽगुलिभ्रमण-गद्गद्-वचन-वेपथु-स्वेदादेरनुभावस्य ग्रहः । व्यभिचारिणश्चास्य आवेग-जडता-सम्भ्रम-स्तम्भ-अश्रु-गद्गद्-रोमाञ्चादय इति ॥ [१६] १२१ ॥

अथ शान्तः —

[सूत्र १७६]—संसारभय-वैराग्य-तत्त्व-शास्त्र-विमर्शनैः ।
शान्तोऽभिनयनं तस्य क्षमा-ध्यानोपकारतः ॥[२०]१२२॥

देव-मनुष्य-नारक-तिर्यग्रूपेण बहुधा परिभ्रमणं संसारः, तस्माद् भयम् । वैराग्यं विषयवैमुख्यम् । तत्त्वस्य जीवाजीव-पुण्य-पापादिरूपस्य, शास्त्रस्य मोक्षहेतुप्रतिपादकस्य विमर्शनं पुनः पुनश्चेतसि न्यसनम् । एवमादिभिर्विभावैः, काम-क्रोध-लोभ-मान-मायाद्यनुपरक्त-परोन्मुखताविवर्जिताक्लिष्टचेतोरूपशमस्थायी शान्तो रसो भवति । तर्जन-वध-बन्धादिसहनं क्षमा । ध्यानं जीवाजीवादितत्त्वभावनम् । अनेन स्वानुभावा

स्पर्श, नृत्त, गीतादि, उसका दर्शन अर्थात् साक्षात्कार करना । इससे स्वयं कहना या सुनना भी गृहीत होता है । अभीष्ट पदसे अत्यन्त चाहने योग्य अत्यन्त प्रिय अर्थ गृहीत होता है । उसकी सिद्धि अर्थात् प्राप्ति अथवा उत्पत्ति । इस प्रकारके विभावोंसे विस्मय रूप स्थायिभाववाला अद्भुत रस उत्पन्न होता है । [कारिकामें आए हुए] 'हर्ष' पदसे अपने अनुभाव सूचित होते हैं, इनसे नेत्रोंका विस्तार, अंगोंको तोड़ना-मोड़ना टकटकी लगाकर देखना, कपड़ा अथवा अंगुलियोंका घुमाना, गद्गद् वचन, कम्पन और स्वेदादि अनुभावोंका ग्रहण होता है । आवेग, जड़ता, स्तम्भ, अश्रु, गद्गद् और रोमाञ्चादि इसके व्यभिचारिभाव होते हैं ॥ [१६] १२१ ॥

अब शांत [रसका निरूपण करते ह]—

[सूत्र १७६]—जन्म-मरण [रूप संसार] से भय, वैराग्य, [आत्मा-परमात्मा आदि] तत्त्वों और शास्त्रादिके चिन्तनसे उत्पन्न होने वाला शांतरस होता है । और क्षमा, ध्यान तथा उपकार के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है । [२०] १२२ ॥

देव मनुष्य नारक या तिर्यक् [पशु-पक्षी] आदि रूपमें घूमना [अर्थात् बार-बार जन्म धारण करना] 'संसार' कहलाता है । उससे भय [शांतरसका कारण होता है ।] विषयोंसे विमुखता 'वैराग्य' कहलाता है । तत्त्व अर्थात् जीव और अजीव अथवा पाप और पुण्य आदि रूप, तथा मोक्षके उपायोंके प्रतिपादक शास्त्रका विचार करना, चित्तमें बार-बार लाना । इस प्रकारके विभावोंसे काम, क्रोध, मोह, अभिमान, माया आदिके सम्बन्धसे रहित विषयोन्मुखतासे रहित अक्लिष्ट चित्तवृत्ति रूप शमस्थायिभाव वाला शांतरस उत्पन्न होता है । डांट-फटकार [तर्जन], बध, बन्धन आदिको सह लेना 'क्षमा' कहलाती है । जीव-अजीव आदि तत्त्वोंका विचार करना 'ध्यान' कहलाता है । इससे अपने निश्चलदृष्टिता आदि अनुभाव सूचित होते हैं । 'उपकार' पदसे मैत्री, मुदिता [प्रमोद] करुणा, और उपेक्षा [माध्यस्थ्य] आदि अनुभाव सूचित होते हैं । निर्वेद, मति, स्मृति, धृति आदि इसके व्यभिचारिभाव हैं । [धनञ्जय आदि जैसे] किन्हीं [आचार्यों] ने इस [शांतरस] को नहीं माना हैं । उनके मतमें

निश्चलदृष्टितादयः सूचिताः । उपकारेण मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यादयोऽनुभावा गृह्यन्ते । व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-मति-स्मृति-धृत्यादयः । अयं च कैश्चिन्नोक्तः, तेषां सकलक्लेशविमोक्षलक्षणमोक्षपुरुषार्थपराङ्मुखत्वमेव दूषणमिति ॥ [२०] १२२॥

अथ काव्येषु रसनिबन्धनेऽवहितैर्भाव्यमिति उपदिशति—

[सूत्र १७७]—अर्थ-शब्दवपुः काव्यं रसैः प्राणैर्विसर्पति ।
अञ्जसा तेन सौहार्दं रसेषु कविमानिनाम् ॥[२१]१२३॥

शब्दार्थौ अभिनेयानभिनेयभेदस्य काव्यस्य वपुः शरीरम् । रसाः पुनः प्राणाः । तैर्विभावोपनिबन्धनकरणोपनीतैः सहृदयहृदयेषु काव्यं विसर्पति । तेन हेतुना कविमम्मन्यानां अञ्जसा मुख्यतो रसेषु सौहार्दं प्रीतिः । रसाविर्भाविना प्रयत्नेनैवोपनीतस्य, अलंकारस्यापि निबन्धः । स चेतश्चमत्कारोत्येव इति अञ्जसा इत्युक्तम् । यथा—

"कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता,
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः ।

सकल क्लेशोंके छुड़ाने वाले मोक्ष रूप पुरुषार्थसे पराङ्मुख होना ही दूषण है । [इसलिए उन का मत उचित नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि मोक्ष-प्राप्तिके लिए शांतरसकी स्थिति आवश्यक है । जो लोग शांतरसको नहीं मानना चाहते हैं उनके मतमें मोक्षकी सिद्धिका मार्ग ही बन्द हो जाता है । फिर मोक्षकी सिद्धि किस प्रकार होगी । इसलिए सकल पुरुषार्थके शिरोमणिभूत मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धिके एकमात्र हेतुभूत शांतरसका मानना अनिवार्य है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।] ॥ [२०] १२२ ॥

अब काव्यों [की रचना] में [कवियोंको] रसका समावेश करनेमें विशेष रूपसे सावधान रखना चाहिए इस बातको [अगली कारिकामें] कहते हैं—

[सूत्र १७७]—शब्द और अर्थ रूप शरीर वाला काव्य, रस रूप प्राणोंसेही चलता है इसलिए अपनेको कवि समझने वाले [सुकवियों] का रसोंके प्रति अनायास प्रेम होता है । [२१] १२३ ।

अभिनेय तथा अनभिनेय भेद वाले काव्यका शरीर शब्द और अर्थ है । और रस उनका प्राण हैं । विभावोंके समावेश रूप साधनोंसे प्राप्त उन [रसों] के द्वारा काव्य सहृदयों के हृदयोंमे प्रवेश पाता है [विसर्पति] । इस कारण अपनेको कवि समझने वाले सुकवियोंका रसोंमें प्रधान रूपसे प्रेम होता है । [मुख्य रूपसे] रसको आविर्भूत करने वाले प्रयत्नसे ही प्राप्त होने वाले अलंकारकी भी रचना करनी चाहिए । [अलंकारोंकी रचनाके लिए अलगसे प्रयत्न सुकवि नहीं करते हैं । रसके सन्निवेशमें जो यत्न करते हैं उसीसे स्वाभाविक रूपसे अलङ्कार भी उनके काव्योंमें आ जाते हैं] और वे चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करते हैं । इस बातके सूचन करनेके लिए [कारिकामें] 'अञ्जसा' पदका ग्रहण किया है ।

जैसे—

हे मानिनि प्रिये ! तुम्हारे गालोंपरकी पत्राली [चन्दनादिके द्वारा बनाई गई सौन्दर्याधायक रेखाएँ, नाराज हो जानेके कारण गालोंके ऊपर रखे गए] हाथोंकी रगड़ से मिट गई [किन्तु तुमने हमें उनके छूनेका अवसर नहीं दिया] अमृतके समान सुन्दर तुम्हारे

मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति वाष्पः स्तनतटं,
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम् ॥"

यथा राघवाभ्युदये—

"तल्लावण्यमनन्यवृत्तिवचसां तत् कौशलं पेशलं,
तत् सौभाग्यमभाग्यमर्त्यविमुखं तद् यौवनं पावनम् ।
एकेन प्रियसङ्गमेन मनसो विश्रामधाम्ना विना,
व्यर्थं सा हृदि सर्वमेव मनुते व्यालोलनेत्रोत्पला ॥"

यथा वास्मदुपज्ञे मल्लिकामकरन्दे प्रकरणे मकरन्दः—

"आस्यं हास्यकरं शशाङ्कयशसां बिम्बाधरः सोदरः,
पीयूषस्य, वचांसि मन्मथमहाराजस्य तेजांसि च ।
दृष्टिर्विष्टपचन्द्रिका स्तनतटी लक्ष्मीनटीनाट्यभूः,
औचित्याचरणं विलासकरणं तस्याः प्रशस्यावधेः ॥"

यथा वास्मदुपज्ञायां वनमालायां नाटिकायाम्—

"राजा—[दमयन्तीं प्रति]—
"दृष्टिः कथं जरठपाटलपाटलेयं कम्पः किमेष पदमोष्ठदले बबन्ध ।
नारङ्गरङ्गहरणप्रवणः प्रियेऽस्य वक्त्रस्य कुंकुममृतेऽरुणिमा कुतोऽयम् ॥"

एषु रसप्रयत्नेनैव शब्दार्थालंकारलाभः ॥ [२१] १२३ ॥

इन अधरोंके रसको उष्ण निःश्वासोंने पी डाला [पर हमें न मिल सका] और तुम्हारे आँसू गलेमें लिपटते हुए स्तनोंके [ऊपर गिरकर उनके] तटको कम्पित कर रहे हैं [पर हम उसके छूनेके लिए तरस रहे हैं] जान पड़ता है कि [आज] क्रोध ही तुम्हारा प्रिय बन गया है, हम नहीं ।"

अथवा जैसे 'राघवाभ्युदय में—

"वह चञ्चल नेत्रों वाली [व्यालोलनेत्रोत्पला, अपने] उस [लोकोत्तर] लावण्यको, अन्यत्र न पाए जाने वाले वचनोंके उस सुन्दर कौशलको, अभाग्यशाली पुरुषोंको प्राप्त न हो सकने वाले उस सौभाग्यको, और उस पवित्र [अपने] यौवनको, हृदयको विश्राम देने वाले एकमात्र प्रियसङ्गमके बिना इस सबको व्यर्थ ही समझती है ।"

अथवा जैसे हमारे बनाए हुए 'मल्लिकामकरन्द' नामक प्रकरणमें मकरन्द—

"सौन्दर्यकी चरम सीमा [प्रशस्यावधेः] रूप उस [नायिका] का मुख चन्द्रमाकी कीर्ति का उपहास करने वाला है, बिम्बाधर अमृतका सहोदर है, वाणी मन्मथ महाराजके तेजके समान है, दृष्टि स्वर्गकी चाँदनी-सी है, स्तनतटी लक्ष्मी रूप नटीकी क्रीडाभूमि है और उचित आचरण विलासको उत्पन्न करने वाला है ।"

अथवा जैसे हमारी बनाई हुई 'वनमाला' नाटिकामें—

"राजा [दमयन्तीके प्रति]—

[हे प्रिये ! तुम्हारी] दृष्टि पुराने लोध्र [पाटल वृक्ष विशेष] के समान लाल क्यों हो रही है ? तुम्हारे ओठमें कम्प क्यों हो रहा है ? और बिना ही कुंकुमके लगाए तुम्हारे मुखपर नारंगीके रंगको भी पराजित करने वाली यह लालिमा क्यों हो रही है ?

अमुमेवार्थं द्रढयति—

**[सूत्र १७८]—न तथार्थशब्दोत्प्रेक्षाः श्लाघ्याः काव्ये यथा रसः ।
विपाककम्रमप्याम्रं उद्वेजयति नीरसम् ॥[२२]१२४॥**

न हि नवनवार्थव्युत्पन्नशब्दग्रथनमेव काव्यं, तर्क-व्याकरणयोरपि तथाभाव-प्रसंगात् । किन्तु विचित्ररसपवित्रशब्दार्थनिवेशः । विपाककमनीयमपि सहकारफलं विरसमुद्वेगमावहति । अतः शब्दार्थमात्रशरणाः शुष्ककवयो यमकश्लेषादीनामेव निबन्धमर्हन्ति । न तु रसैकशरणस्य नाट्यस्येति ॥ १२४ ॥

अथ विरुद्धरसानां विरोधे व्यवस्थामाह—

[सूत्र १७६]—एकत्र स्वैरिणोस्तुल्यशक्त्योर्योगे विरुद्धता ।

एकस्मिन्नाश्रये नायकादौ तस्मिन्नेव प्रक्रमे परस्परविरुद्धयो रसयोर्विरुद्धता, न तु भिन्ने । यथाऽर्जुनचरिते—

इनमें रसके लिए किये गए प्रयत्नसे ही [स्वाभाविक रूपसे] शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारोंका समावेश हो गया है [उनके लानेके लिए कविने पृथक् प्रयत्न नहीं किया है ।]

इसी बातको पुष्ट करते [हुए आगे कहते] हैं—

[सूत्र १७८]—काव्यमें शब्द तथा अर्थकी कल्पना उतनी प्रशंसनीय नहीं होती है जितनी रसकी स्थिति । जैसे पक जानेके कारण सुन्दर लगने वाला आमका फलभी रस-रहित होनेपर बुरा मालूम होता है ।[२२] १२४ ।

नए-नए अर्थोंको प्रकाशित करने वाले शब्दोंकी रचना कर देना मात्र ही काव्य नहीं कहलाता है । क्योंकि न्याय तथा व्याकरणादिमें भी यह [नए-नए अर्थोंके प्रकाशक शब्दोंकी रचना] हो सकता है । किन्तु [विचित्र] चमत्कारजनक, रससे पवित्र शब्द और अर्थका सन्निवेश [ही काव्य कहलाने योग्य होता है] । जैसे परिपाक हो जानेके कारण सुन्दर दिखलाई देने वाला भी आमका फल रसशून्य होने पर बुरा लगता है । इसलिए केवल शब्द तथा अर्थ का अवलम्बन करने वाले शुष्क कवि यमक अनुप्रास आदिकी ही रचना कर सकते हैं, रस-प्रधान नाटककी [रचना] नहीं कर सकते हैं ॥ [२२] १२४ ॥

अब विरुद्ध रसोंका विरोध [उपस्थित] होनेपर उसके परिहारके मार्ग [व्यवस्था] को बतलाते हैं—

[सूत्र १७६]—एक ही स्थानपर दो स्वतन्त्र और तुल्यशक्ति वाले रसोंमें विरोध होता है । [अर्थात् (१) भिन्न आश्रयोंमें रहने वाले अथवा (२) स्वतन्त्र न रहने वाले, अथवा (३) तुल्य बल न रहने वाले रसोंमें विरोध नहीं होता है । अत एव (१) दो विरोधी रसोंमें आश्रय-भेदसे, (२) एकको दूसरेके अंग बना देनेपर, अथवा (३) दोनोंको किसी तीसरे अविरोधी रसका अंग बना देनेसे और गौण रूपसे वर्णन करनेपर विरोध नहीं रहता है । यही उनके विरोध-परिहारके मार्ग हैं] ।

एक ही आश्रय अर्थात् नायकादिमें और उसी प्रसंगमें परस्पर विरोधी रसोंका विरोध होता है । भिन्न आश्रयोंमें अथवा भिन्न प्रसंगोंमें [उसी नाटकमें विरुद्ध रसका वर्णन] होने पर विरोध नहीं होता है । जैसे अर्जुनचरितमें—

समुत्थिते धनुर्ध्वनौ भयावहे किरीटिनः ।
महानुपप्लवोऽभवत् पुरे पुरन्दरद्विषाम् ॥"

अत्र नायकस्य वीरः, प्रतिपक्षाणां तु भयानकः ।

यथा वा—

"दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि,
प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे ।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥"

अत्र तस्मिन्नेव प्रकमे मुनि-कामुकयोर्भिन्नयोर्न शृङ्गार-शान्तौ विरुद्धाविति ।

तथा स्वैरिणोः स्वतन्त्रयोः सतोर्विरुद्धयो रसयोर्विरुद्धता, न तु परतन्त्र-स्वतन्त्रयोः, मुख्यस्यायत्तयोर्वा यथा—

"कुरबक ! कुचाघातक्रीडासुखेन वियुज्यसे,
बकुलविटपिन् ! स्मर्तव्यं ते मुखासवसेचनम् ।
चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोक ! सशोकतां,
इति निजपुरत्यागे यस्य द्विषां जगदुः स्त्रियः ॥"

अर्जुनके भयावह धनुषके ध्वनिके उदय होनेपर इन्द्रके शत्रुओंके नगरमें बड़ी घबराहट फैल गई ।

इसमें [वीर तथा भयानक दो रसोंका वर्णन है । ये दोनों रस एकाश्रयमें होनेपर विरोधी माने जाते हैं । यहाँ उन दोनोंके आश्रयका भेद कर दिया गया है । इसलिए उनमें विरोध नहीं रहता है] । नायक [अर्जुन] में वीर रस है और शत्रुओंमें भयानक रस है [इसलिए आश्रयभेद हो जानेसे उनमें विरोध नहीं रहा] ।

अथवा जैसे—

रक्तपानकी इच्छा करने वाली [दूसरे पक्षमें अनुरागपूर्ण मन वाली] मृगराजकी वधू [सिंहनी दूसरे पक्षमें किसी राजाकी पत्नी] ने आपके रोमाञ्चयुक्त शरीरके ऊपर जो दन्त-प्रहार और नखोंसे विपाटनके चिन्ह बनाए हैं उनको मुनियोंने भी सस्पृह होकर [अर्थात् हम भी इन दन्तक्षत नखाक्षतोंसे विभूषित होते इस इच्छासे] देखा ।

यहाँ उसी प्रसङ्गमें मुनि और कामुक दो भिन्न आश्रयोंमें रहने वाले शांत और शृङ्गार रसोंका विरोध नहीं है ।

इसी प्रकार [दो विरोधी रसोंके] स्वतन्त्र रूपसे [वर्णित] होनेपर ही विरोध होता है एकके परतन्त्र और दूसरेके स्वतन्त्र होनेपर अथवा दोनोंके किसी तीसरे मुख्य रसके अधीन होनेपर [उनका विरोध] नहीं होता है । जैसे—

हे कुरबक ! [वृक्ष विशेष, हमारे यहाँसे चले जानेपर] तुम [हमारे द्वारा प्राप्त होने वाले] कुचाघातके सुखसे वंचित हो जाओगे । हे बकुल ! [मौलश्रीके वृक्ष] तुम्हें [हमारे द्वारा प्राप्त होने वाले] मद्यके कुल्ले द्वारा सेचनकी याद आया करेगी । हे अशोक ! हमारे चरण प्रहारसे वञ्चित हो जानेपर तुम शोकयुक्त हो जाओगे । जिसके [भयके कारण उसके] शत्रुओंकी स्त्रियाँ इस प्रकार [इन वृक्षोंको सम्बोधित करके] कहती थीं ।

अत्रोद्दीपनविभावैः कुरबकादिभिरुद्दीप्यमानः शृङ्गारो विशेषतः करुणं स्वतन्त्रमङ्गिनं द्विषत्स्त्रीणां पोषयति ।

यथा वा—

"अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्युरूजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥

अत्र भूरिश्रवसः समरभुवि पतितबाहुदर्शनेन तत्प्रियाणां शृङ्गारः स्मर्यमाणः करुणं पोषयति ।

मुख्यस्यायत्तौ यथा—

"क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकांतं,
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः,
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥"

अत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशस्य करुण-शृङ्गारावङ्गभूतौ । परस्परविरोधेऽपि चान्यमुखप्रेक्षितपारतन्त्र्यदुःखाभिघातेन स्वात्मपुष्टिमलभमानयो-र्नृपसमीपस्थित-आततायिद्वयवत् कुतः करुण-श्रृंगारयोर्घात्य-घातकभावः इति ?

इसमें कुरबक आदि रूप उद्दीपन विभावोंके द्वारा उद्दीप्त किया जाने वाला शत्रु स्त्रियोंका शृङ्गार रस उनके भीतर रहनेवाले प्रधान और स्वतन्त्र करुणरसको पुष्ट करता है ।

अथवा जैसे—

[हमारी रशना अर्थात्] तगड़ीको हटाने वाला, पीन स्तनोंका मर्दन करने वाला तथा नाभि जंघाओं और नितम्बोंका स्पर्श करने वाला तथा नारेको खोलने वाला [हमारे प्रियतम भूरिश्रवाका] यह वही [आनन्ददायक] हाथ है ।

इसमें समरभूमिमें पड़े हुए भूरिश्रवाके हाथको देखकर उसको पत्नियोंका स्मर्यमाण शृङ्गार रस [भूरिश्रवाकी मृत्युके बाद वर्तमान] करुण रसका परिपोषण कर रहा है । [इसलिए श्रृंगार करुण रसका अंग होनेसे उसका विरोधी नहीं है] ।

[किसी तीसरे] मुख्य रसके अधीन रहने वाले [दो विरोधी रसोंके अविरोधका उदाहरण] । जैसे—

शिवाजीके द्वारा किए गए त्रिपुरदाहके समय त्रिपुरकी स्त्रियोंकी दुर्दशाका वर्णन करते हुए कविने इस श्लोकमें अग्निका कामीके साथ सादृश्य इस प्रकार दिखलाया है—

[आर्द्रापराध कामीके समान स्त्रियोंका] हाथ पकड़नेपर झटक दिया गया, बलात् हटाए जानेपर भी वस्त्रोंको ग्रहण करनेवाला, केशोंको छूते समय दूर हटाया गया, पैरोंमें गिरनेपर भी [अग्नि पक्षमें] भयके कारण [और कामी पक्षमें सम्भ्रम अर्थात् आदरपूर्वक] न देखा गया, और [परस्त्री गमन आदि रूप दुरन्त किए हुए अपराधके कारण] ताजे अपराध वाले कामीके समान आँखोंमें आँसू भरे हुए त्रिपुरकी युवतियोंने आलिंगन करते हुए जिस [अग्नि] को झटक दिया है इस प्रकारका शिवजीके बाणोंका अग्नि तुम्हारे दुःखों या पापों को नाश करे ।

इसमें करुण और श्रृंगार [दोनों परस्पर विरोधी रस] त्रिपुरारि [शिवजी] के प्रतापा-

तथा एकाश्रययोरपि तुल्यबलयोर्विरोधो, न तु हीनाधिकबलयोः । यथा पुरूरवाः प्राह—

"क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा,
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यंत्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा,
चेतः ! स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥"

अत्र शृङ्गार-शांतयोर्न परस्परमङ्गाङ्गिभावो अपोष्य-पोषकत्वात् । तृतीयस्याभावात् अङ्गभावोऽपि नास्ति, किन्तु स्वतन्त्रौ । तथापि न विरोधः, शांतस्यागन्तुकत्वेन अल्पबलत्वात् । अत एवात्र पर्यन्ते शृङ्गारे विश्रान्तिः । एवमन्यत्राप्युदाहार्यम् ।

तथा एकाश्रययोः स्वैरिणोस्तुल्यशक्त्योर्विरुद्धयोर्योगे नैरन्तर्ये विरोधो न त्व-

---

तिशयके अंग हैं । इसलिए परस्पर विरोधी होनेपर भी दूसरे [प्रधानभूत शिवके प्रतापातिशय] का मुख देखने वाले होनेसे परतन्त्रताके दुःखसे आक्रांत होकर स्वयं अपने परिपोषणको न प्राप्त कर सकने वाले करुण और शृंगारमें, राजाके समीपमें स्थित दो आततायियोंके समान एक दूसरेके लिए घात्य-घातक भाव नहीं हो सकता है । [इसलिए यहाँ इन दोनों रसों का परस्पर विरोध नहीं है] ।

इसी प्रकार एक ही [नायक आदि रूप] आश्रयमें रहने पर भी दोनोंके तुल्य बल होनेपर ही विरोध होता है । दुर्बल और प्रबल होनेपर नहीं । जैसे [विक्रमोर्वशीयमें] पुरूरवा कहता है—

(१) कहाँ यह अनुचित कार्य और कहाँ [हमारा उज्ज्वल] चन्द्रवंश [तर्क] ।
(२) क्या वह फिर कभी देखनेको मिलेगी [औत्सुक्य] ।
(३) [अरे] मैंने तो दोषोंपर विजय प्राप्तके लिए ही शास्त्रोंका अध्ययन किया है [फिर इस कुमार्गपर क्यों जा रहा हूँ] [मति] ।
(४) [ओहो] क्रोधमें [नाराज होनेपर] भी उसका [लाल-लाल] मुख कितना सुन्दर लगता है । [स्मरण] ।
(५) [अरे मेरे इस व्यवहारको देखकर] विद्वान् एवं धर्मात्मा लोग मुझको क्या कहेंगे [शंका] ।
(६) वह तो । अब स्वप्नमें भी दुर्लभ हो गई । [दैन्य]
(७) अरे मन तनिक धीरज रखो । [धैर्य]
(८) न जाने कौन सौभाग्यशाली युवक उसके अधरामृतका पान करेगा [चिन्ता] ।

इसमें शांत और शृंगार रसोंका पोष्य-पोषकभाव न होनेसे अंगांगिभाव [अर्थात् गुण-प्रधानभाव] नहीं है । और किसी तीसरे [रस] के न होनेसे [दोनोंका तीसरेके प्रति] अंगभाव भी नहीं है । किन्तु दोनों स्वतन्त्र रस हैं । फिर भी यहाँ शान्त रसके आगन्तुक होनेसे दुर्बल [तथा शृंगारके प्रकृत होनेके कारण प्रबल] होनेसे [उन दोनोंका] विरोध नहीं है । इसलिए यहाँ अन्तमें शृंगार रसमें ही विश्रान्ति होती है । इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझ लेने चाहिए ।

और एकाश्रयमें रहने वाले दो स्वतन्त्र तथा तुल्य बल रसोंका भी नैरन्तर्य [अर्थात्

विरुद्धेन रसान्तरेण व्यवधाने। यथा नागानन्दे—

"रागस्यास्पदमित्यवैमि न हि मे ध्वंसीति न प्रत्ययः।"

इत्यादिनोपक्षेपात् प्रभृति शांतो रसस्तस्य विरुद्धो मलयवतीविषयः शृङ्गारः—'अहो गीतमहो वादित्रम्' इत्यादिना अद्भुतमन्तरे कृत्वा निबद्धः। एवमन्येष्वप्युदाहार्यमिति।

विभाव-व्यभिचारिणां तु रसानुरोधेन विरोधः परिहारश्च द्रष्टव्यः।

अथ रसदोषानाह—

[सूत्र १८०]—दोषोऽनौचित्यमङ्गौग्र्यं अपोषोऽत्युक्तिरङ्गिभित्
॥ [२३] १२५ ॥

(अ) सहृदयानां विचिकित्साहेतु कर्मानौचित्यं तच्चानेकधा।

(क १) तत्र क्वचित् प्रतिकूलविभाव-मात्रनिबन्धो यथा—

"त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः॥"

अव्यवधानसे वर्णन] होनेपर ही विरोध होता है। [दोनोंके] अविरोधी अन्य रसके व्यवधान होनेपर विरोध नहीं होता है। जैसे नागानन्दमें—

[हे मित्र आत्रेय! यह यौवन] विषय-वासनाका घर है यह बात मैं जानता हूँ और यह सदा रहने वाला नहीं है यह बात भी मुझे मालूम है [प्रथमांक श्लोक संख्या ४]।

इत्यादि [मुखसन्धिके] उपक्षेप [नामक अंग] से लेकर शांत रस [प्रारम्भ हो गया] है। उसका विरोधी मालती विषयक अनुराग [प्रथमांकके १४ वें श्लोकके पूर्व कहे गए] 'अहो गीतं अहो वादितम्' इत्यादि [वाक्य] से बीचमें अद्भुत रसका समावेश करके [व्यवधानसे] वर्णन किया गया है। [इसलिए यहाँ शांत तथा शृंगार रसोंका विरोध नहीं रहता है]। इसी प्रकार अन्य रसोंमें भी समझ लेना चाहिए।

[विरोधी रसों] के विभावों तथा व्यभिचारिभावोंमें रसके [विरोध-अविरोधकी व्यवस्थाके] अनुसार ही विरोध तथा उसका परिहार समझ लेना चाहिए।

अब रसके दोषोंका वर्णन आरम्भ करते हैं—

[सूत्र १८०]—(क) [रसोंका] अनौचित्य, (ख) अंगोंकी उग्रता [अर्थात् अप्रधानभूत रसका प्रधानरसकी अपेक्षा विस्तारपूर्वक वर्णन] (ग) [मुख्य रसकी] पुष्टिका अभाव, (घ) [मुख्य रसका भी आवश्यकतासे] अधिक विस्तार (ङ) [अंगिभित् अर्थात्] प्रधान रसको भुला देना [ये पाँच प्रकारके रसके] दोष होते हैं। [३३] १२५।

(क) सहृदयोंके [मनमें] शङ्का या संदेह [उत्पन्न] करने वाला कर्म अनौचित्य कहलाता है। और वह अनेक प्रकारका हो सकता है। [रसका अनौचित्य] कहीं (क १) प्रतिकूल विभावादिके वर्णन रूप होता है। जैसे—

इस मानको छोड़ दो, [अधिक काल तक] प्रणय-कलह करना उचित नहीं है। यह [यौवनकी] सुन्दर अवस्था [एक बार समाप्त हो जानेपर] फिर लौटकर नहीं आती है। कोकिलोंके [कूहू शब्द द्वारा] मानो इस प्रकारकी सूचना देनेपर वधूजन कामोत्सुक पतियोंके

अत्र शृङ्गारप्रतिकूलस्य शांतस्यानित्यताप्रकाशरूपो विभावो विरुद्धः।

(क २) क्वचिदकाण्डे प्रथनम्। यथा वेणीसंहारे धीरोद्धतप्रकृतेरपि दुर्योधनस्य भीष्म-प्रमुखमहावीरलक्षक्षयकारिणि प्रवृत्ते समरसंरम्भे भानुमतीं प्रति शृङ्गारवर्णनम्।

(क ३) क्वचिदकाण्डे विच्छेदो यथा वीरचरिते राघव-भार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे 'कङ्कणमोचनाय गच्छामि' इति राघवस्योक्तिः।

(क ४) क्वचिदुत्तमाधम-मध्यमानां प्रकृतीनामन्यथा वर्णनम्। यथा—उत्तमानां हास्य-बीभत्स-करुण-भयानक-अद्भुतप्रकर्षः।

(क ५) मध्यमाऽधमानां तु अग्राम्यः शृंगारः, वीर-रौद्र-शांतप्रकर्षश्च।

(क ६) उत्तमेष्वपि दिव्येषु सम्भोगशृंगारवर्णनं पित्रोः सम्भोगवर्णनसमं यथा कुमारसम्भवे उमा-महेश्वरयोः।

(क ७) अदिव्येषूत्तमेष्वपि सद्यःफलदक्रोध-स्वः-पातालगमन-समुद्रलंघनाद्युत्साह-वर्णनम्।

साथ रमण करने लगीं।

(क १) इसमें शृंगार रसके प्रतिकूल अनित्यता प्रकाशन रूप शांत रसके विभावोंका वर्णन [प्रकृत शृंगार रसके] विपरीत है।

(क २) कहीं बेमौके विस्तार कर देना [भी रस दोष होता है] जैसे वेणीसंहार [के द्वितीयाङ्क]में धीरोद्धत प्रकृतिके [नायक] होनेपर भी भीष्म आदि लाखों वीरोंका नाश कर डालने वाले [भयङ्कर] युद्धके आरम्भ होनेपर भी भानुमतीके प्रति शृंगारका वर्णन [अकाण्ड-प्रथन रूप रसदोषका उदाहरण है]।

(क ३) कहीं अवसरके बिना ही रसका विच्छेद [कर देना भी रसदोष होता है] जैसे—महावीरचरित्रमें रामचन्द्र तथा परशुरामजीके बीच वीररसके पूर्ण प्रवाहपर आ जानेपर [अच्छा अब मैं] 'कंगन खोलनेके लिए जा रहा हूँ' यह रामचन्द्रका कथन [अकाण्डमें रसका विच्छेदक होनेसे रसदोष है]।

(क ४) कहीं उत्तम अधम तथा मध्यम प्रकृतियों [वाले पात्रों] का विपरीत रूपमें वर्णन [प्रकृति-विपर्यय नामक रसदोष है] जैसे उत्तम [प्रकृति वाले पात्रों]के वर्णन हास्य बीभत्स करुण भयानक और अद्भुत रसोंका अत्यधिक वर्णन [अनुचित है]

(क ५) मध्यम तथा अधम [प्रकृतिके नायकादि] के [साथ अग्राम्य अर्थात्] शुद्ध शृंगार वीर, रौद्र और शांतरसके प्रकर्षका वर्णन [अनुचित होनेसे ये दोनों प्रकारके वर्णन प्रकृति-विपर्यय नामक रस दोनोंमें आते हैं]।

(क ६) उत्तम [प्रकृतियों] में भी दिव्य [पात्रों] के शृंगारका वर्णन [अपने] माता-पिताके शृंगार रसके वर्णनके समान [होनेसे अनुचित] है। जैसे कुमारसम्भवमें पार्वती और शिवके [शृंगारका वर्णन]।

(क ७) देवताओंको छोड़कर उत्तम प्रकृतियोंमें भी तुरन्त फल देने वाले क्रोध, स्वर्ग या पातालमें गमन, समुद्रलङ्घनादिके उत्साहका वर्णन [भी अनुचित होनेसे इसी प्रकृति-विपर्यय रूप रसदोषकी श्रेणीमें आता है]।

(क ८) धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरललित-धीरशांतेषूत्तमेषु वीर-रौद्र-शृंगार-शांतानामवर्णनं, विपरीतवर्णनं वा। मध्यमाधमेषु त्वेषु वीरादिरसप्रकर्षवर्णनम्।

(क ९) क्वचिद् वर्ण-समासान्यथाप्रथनम्। तत्र दीप्तेषु रसेषु संयुक्तैर्मूर्धन्यैश्च वर्णैः समासदैर्घ्येण च प्रायः प्रसन्नो मसृणश्च बन्धः। अदीप्तेषु तु शृंगार-हास्य-करुण-शान्तेषु मूर्धस्थवर्गापञ्चमैर्ह्रस्वैश्च वर्णैः असमासेन मध्यमसमासेन च प्रायः प्रसन्नो बन्धः। सर्वेषु च प्रसिद्धैरक्लिष्टैरग्राम्यैः पुष्टार्थैः पदैर्न्यासः।

(क १०) क्वचिदुत्तमस्य उत्तमनायिकायां व्यलीकसम्भावना।

(क ११) क्वचिन्नायिकापादप्रहारादिना नायकस्य कोपः।

(क १२) क्वचिद् वयो-वेष-देश-काला-अवस्था-व्यवहारादीनामन्यथा वर्णनम्।

(क १३) एवमन्यदपि यमक-श्लेष-चित्रादिकं ऋतु-समुद्रादि-चन्द्रार्कोदया-स्तादिप्रकर्षवर्णनं च रसानङ्गमनौचित्यं द्रष्टव्यमिति।

(ख) अथाङ्गौग्र्यम्। अंगस्य मुख्यरसपोषकतया अवयवभूतस्य औग्र्यं विस्तरेणोत्कटत्वं दोषः। यथा कृत्यारावणे जटायुबध-लक्ष्मणशक्तिभेद-सीताविपत्ति-

---

(क ८) धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरशांत रूप उत्तम प्रकृतियोंमें भी वीर, रौद्र, शृंगार तथा शांत रसोंका वर्णन न करना अथवा विपरीत वर्णन [प्रकृति-विपर्यय नामक रस दोष होता है] और मध्यम तथा अधम प्रकृतियोंमें तो इन [धीरोदात्तादि] में वीरादि रसोंके प्रकर्षका वर्णन [भी अनुचित होनेसे प्रकृति-विपर्यय नामक रसदोषोंमें आता है]।

(क ९) कहीं वर्णों तथा समासोंका [रसके विपरीत रूपमें] अन्यथा प्रयोग [भी रसदोष में गिना जाता है]। जैसे [वीर रौद्रादि] दीप्त रसोंमें संयुक्त और मूर्धन्य [अर्थात् ऋटुरषाणां मूर्धा—र, ष, तथा टवर्ग] वर्णों तथा लम्बे-लम्बे समासोंसे सुन्दर और मनोहारिणी रचना बनती है। और शृङ्गार, हास्य, करुण, तथा शांत जैसे अदीप्त रसोंमें तो वर्गके पञ्चम अक्षर से युक्त ह्रस्व वर्णों और समास-रहित अथवा अल्प समासके द्वारा सुन्दर तथा मनोहारिणी रचना होती है। और सभी रसोंमें प्रसिद्ध अक्लिष्ट ग्राम्यता-रहित तथा पुष्टार्थक पदोंका विन्यास होना चाहिए। [इसके विपरीत होनेपर दोष हो जाता है]।

(क १०) कहीं उत्तम [प्रकृति] के [नायक] की उत्तम नायिकाके प्रति व्यभिचार-सम्भावना [भी अनौचित्य मानी जाती है क्योंकि उत्तम प्रकृतिकी नायिकामें इस प्रकारके दोषकी सम्भावना भी नहीं करनी चाहिए]।

(क ११) कहीं नायिकाके पादप्रहारादिसे नायकके कोपका वर्णन [अनौचित्यके है]।

(क १२) कहीं आयु, वेष, देश, काल, अवस्था तथा व्यवहारादिका अन्यथा-वर्णन [भी अनौचित्य माना जाता है]।

(क १३) यमक, इसी प्रकार [अनुचित रूपसे प्रयुक्त] श्लेष, चित्र, ऋतु, समुद्रादि, सूर्य तथा चन्द्रके उदयास्तादिके जो कि रसके अंग नहीं हैं उन [रसके अनङ्ग] के प्रकर्षका वर्णन [अर्थात् अत्यधिक विस्तारके साथ वर्णन] अनौचित्य समझना चाहिए।

(ख) अब [अङ्गोंकी] उग्रता [दोषका निरूपण करते हैं] अङ्ग अर्थात् मुख्य रसके पोषक होनेसे अवयव रूपकी उग्रता अर्थात् अत्यन्त विस्तारके कारण उत्कट हो जाना भी दोष है। जैसे कृत्यारावणमें जटायुके बध, लक्ष्मणके शक्ति लगने, और सीताकी विपत्तिको सुनने

श्रवणेषु रामस्य मुहुर्मुहुः करुणाधिक्यम्। अंगभूतो हि रसो न धाराधिरोहमर्हति, अन्यथाऽङ्गिनं वीररसं तिरोदधीत।

केचिदत्र हयग्रीववधे हयग्रीववर्णनमुदाहरन्ति। स पुनर्वृत्तदोषो वृत्तनायकस्याल्पवर्णनात्। तत्र हि वीरो रसः स विशेषतो बध्यस्य शौर्य-विभूत्यतिशयवर्णनेन भूष्यत इति।

(ग) 'अपोषः' इति धारानधिरोहणं अपोषो दोषः। यथा—

"बीभत्सा विषया, जुगुप्सिततमः कायो, वयो गत्वरं,
प्रायो बन्धुभिरध्वनीव पथिकैर्योगो वियोगावहः।
हातव्योऽयमसम्भवाय विरसः संसार इत्यादिकं,
सर्वस्यापि हि वाचि, चेतसि पुनः कस्यापि पुण्यात्मनः॥"

अत्र कविना 'वाचि' इत्युपनिबध्नता विषयबीभत्सत्वादीनां शान्तजननं प्रति मन्दत्वमुक्तम्। अन्यथा सर्वस्य चेतस्यपि स्यात्। अपोषश्चांगिनो, अंगांगिभाववर्जितस्य वा मुक्तकोपात्तस्य। अंगभूतस्यापोषः पुनरदोष एवेति।

(घ) 'अत्युक्तिः' इति धाराधिरूढस्यापि रसस्य नैरन्तर्येण पुनः पुनः उद्दीप्ति-

---

पर रामचन्द्रके बार-बार करुण [विलापादि] का अधिकय [इस औग्रच नामक रसदोषका उदाहरण है]। अङ्गभूत [अप्रधान] रसका अत्यन्त विस्तार नहीं होना चाहिए। अन्यथा वह प्रधान भूत वीररसको दबा देगा।

कुछ लोग हयग्रीव-बध में हयग्रीवके वर्णनको इसका उदाहरण बतलाते हैं। किन्तु [हमारी सम्मतिमें तो] वह वृत्त दोष है [रसदोष नहीं है]। क्योंकि उसमें वृत्त [अर्थात् कथा-भाग] के नायकका वर्णन कम [और प्रतिनायक हयग्रीवका वर्णन अधिक हो गया है। अतः वह वृत्त दोष है रसदोषमें उसका उदाहरण नहीं देना चाहिए]। उसमें वीररस [मुख्य रस] है और बध्य [हयग्रीव] के शौर्य तथा विभूति आदिके अतिशय वर्णनसे वह शोभित [परिपुष्ट] ही होता है [अतः उसमें रसदोष नहीं माना जा सकता है। वह वृत्तदोष अर्थात् कथाभागका दोष है]।

(ग) अपोष अर्थात् [मुख्य रसका] प्रवाहपर न आना [अपोष नामक रसदोष होता है]। जैसे—

विषय अत्यन्त बीभत्स है, यह शरीर [मल-मूत्र आदिकी खान होनेसे] अत्यन्त घृणित है, आयु विनष्ट होने वाली है, और बन्धु-बान्धवोंके साथ मिलन रास्तेमें मिलने वाले पथिकों के समान अन्तमें वियोगमें पर्यवसित होनेवाला ही होता है [असम्भवाय अर्थात्] पुनर्जन्मसे बचनेके लिए [मुक्तिकी प्राप्तिकेलिए] इस नीरस संसारको त्याग देना चाहिए इत्यादि [वैराग्यपूर्ण बातें] सब लोगोंके केवल वचनोंमें रहती है, मनमें तो किसी पुण्यात्माके ही पाई जाती है।

इसमें 'वाचि' [वाणीमें ही होती है मनमें नहीं] ऐसा कहकर कविने विषयोंकी बीभत्सता आदिकी शांतरसकी उत्पत्तिके प्रति मन्दता सूचित की है। अन्यथा [यदि इनमें प्रबलता होती तो] सबके मनमें भी [उनकी स्थिति] होती [इसलिए यहाँ रसका अपरिपोष रूप रसदोष है]। यह अपरिपोष (१) प्रधान रसका अथवा (२) मुक्तकोंमें स्वतन्त्र रूपसे वर्णितका होता है। अंगभूत [प्रधान रस] का अपरिपोष, दोष नहीं होता है।

(घ) 'अत्युक्ति' अर्थात् रसके प्रवाहपर पहुँच जानेपर भी उसका बार-बार उद्दी-

र्दोषो यथा कुमारसम्भवे रतिप्रलापेषु। लब्धपरिपोषो हि रसः पुनः पुनः परामृश्यमानो मालती-माल्यमिव म्लायति। अत एव प्रकर्षप्राप्तरसविशिष्टानां कवीनामल्पीयानेव वाग्विलास इति।

(ङ) 'अंगिभित्' इति बहुरसे प्रबन्धे अवयवभूतरसापेक्षया अंगिनोऽवयविभूतस्य रसस्य 'भिद्' अनुसन्धानं दोषः। अनुसन्धिर्हि सर्वस्वं रसपोषस्य। स्मृत्यभावे पुनरपोष एव। यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमनात् सागरिकाविस्मृतिरिति।

अंगौग्र्यादयश्च दोषाः परमार्थतो अनौचित्यान्तःपातिनोऽपि सहृदयानामनौचित्यव्युत्पादनार्थमुदाहरणत्वेनोपात्ताः।

केचित्तु व्यभिचारि-रस-स्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः, तदयुक्तम्। व्यभिचार्यादीनां स्ववाचकपदप्रयोगेऽपि विभावपुष्टौ—

"दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं,
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम्।

पन [करनेका प्रयत्न] करना [प्रधान रसका अति-विस्तार 'अत्युक्ति' नामक रसदोष कहलाता है]। जैसे कुमारसम्भवमें रतिके विलापोंमें [बार-बार करुण रसको उद्दीप्त करनेका यत्न किया गया है। इसलिए वह दोष है। क्योंकि] रसका पूर्ण परिपोष हो जानेके बाद उसको बारम्बार स्पर्श करनेसे वह [बार-बार छुई गई] मालतीकी मालाके समान कांतिहीन हो जाता है। इसलिए प्रकर्ष-प्राप्त रसविशिष्ट कवियोंका वाग्विलास थोड़ा ही होता है। [अर्थात् उत्तम कवि रसका पूर्ण परिपोष हो जानेके बाद रसका अनावश्यक विस्तार नहीं करते हैं]।

(ङ) 'अङ्गिभित्' अर्थात् अनेक रसों वाले प्रबन्ध [काव्य नाटकादि] में अवयवभूत [अप्रधान] रसकी अपेक्षासे अङ्गी [अर्थात् प्रधान] अवयविभूत [प्रधान] रसका भेदन अर्थात् विस्मरण [अननुसंधान, अङ्गिभित् नामक रस] दोष होता है। क्योंकि [हर समय मुख्य] रसका ध्यान रखना ही उसके परिपोषणका प्राण है। उसको भुला देनेपर तो उसका परिपोष ही नहीं बनता है। [इसलिए प्रधान रसको भुला देना रसका अपरिपोष-जनक 'अङ्गिभित्' नामक दोष कहलाता है] जैसे रत्नावलीके चतुर्थ अङ्कोंमें बाभ्रव्यके आ जानेपर [नाटककी प्रधान नायिका] सागरिकाकी विस्मृति [होनेसे मुख्य रसकी ही विस्मृति हो गई है। अतः उस में 'अङ्गिभित्' नामक रसदोष माना जाता है]।

[उक्त ५ रस दोषोंमें से प्रथम अनौचित्यको छोड़कर] अङ्गोंकी उग्रता आदि [शेष चारों] दोष वास्तवमें तो अनौचित्य [रूप प्रथम दोष] के भीतर ही आ जाते हैं फिर भी सहृदयोंको अनौचित्य [के विविध प्रकारों] का परिचय करनेकेलिए ही यहाँ दिखलाए गए हैं।

कुछ लोग व्यभिचारिभाव, रस, तथा स्थायिभावोंके नामतः ग्रहण [स्वशब्दवाच्यत्व] को भी रसदोष मानते हैं। [हमारी अर्थात् ग्रन्थकार रामचन्द्र गुणचन्द्रकी सम्मतिमें] यह उचित नहीं है। व्यभिचारिभाव आदिके वाचक अपने पदों [नामों] का प्रयोग होनेपर भी विभाव आदिकी पुष्टि होनेपर [रसकी अनुभूति होती ही है। उसमें कोई बाधा नहीं होती है। इसलिए व्यभिचारिभावादिकी स्वशब्द-वाच्यता कोई दोष नहीं है। जैसे इस प्रकारके उदाहरणके रूपमें ग्रन्थकार अगला श्लोक उद्धृत करते हैं]—

[नायकके] दूर रहनेसे [उसके दर्शनके लिए] उत्सुक, [पास] आनेपर नीचे झुक

मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं,
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥"

इत्यादौ रसोत्पत्तेरदोष एवायम् । तस्मादव्युत्पन्नोक्तित्वादवक्रोक्तिरेवेयम् ।

एवमुभयरससाधारणविभावपदानां कष्टेन नियतविभावाभिधायित्वाधिगमोऽपि सन्दिग्धत्वलक्षणो वाक्यदोष एव । यथा—

"परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः ।
इति बत विषमा दशा स्वदेहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥"

अत्र मतिपरिहारादीनां विभावानां करुणादावपि सम्भवात् शृंगारं प्रति भावत्वसन्देह इति ॥ [२३] १२५ ॥

अथ वृत्तिलक्षणे रसानन्तरमुद्दिष्टानां भावानामवसरस्तत्रापि रसानुरोधेन प्रथमं स्थायिन उच्यन्ते ।

**[सूत्र १८१]—रति-र्हासश्च-शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा-विस्मय-शमा रसानां स्थायिनः क्रमात् ॥
[२४] १२६ ॥**

जाने वाले, उसके बात करनेपर [प्रसन्नतासे] फटे हुए, आलिंगन करने लगनेपर [क्रोधसे] लाल हुए, और कपड़ा पकड़नेपर भौंहें टेढ़ी किए तथा चरणोंमें प्रणाम करने लगनेपर आँसुओंसे भरे, मानिनीके नेत्र प्रियतमके [परस्त्री-सम्भोग रूप अपराधके] अपराधी होनेपर नाना प्रकारकी प्रपञ्च-रचनामें चतुर हो गए हैं यह आश्चर्यकी बात है ।

इत्यादिमें [उत्सुकता आदि रूप व्यभिचारिभावोंके स्वशब्दवाच्य अर्थात् नामतः गृहीत होनेपर भी] रसकी उत्पत्ति होनेसे यह [व्यभिचारिभावादिकी स्वशब्दवाच्यता] दोष नहीं होता है । इसलिए अविद्वानोंके द्वारा कथित होनेसे यह [स्थायिभावादिकी स्वशब्दवाच्यताको दोष ठहराने वाली] उक्ति ठीक उक्ति नहीं है [अर्थात् व्यभिचारिभावादिकी स्वशब्दवाच्यताको दोष नहीं मानना चाहिए] ।

इसी प्रकार दो रसोंमें समान रूपसे पाए जाने वाले विभावादि वाचक पदोंसे किसी एक नियतरसके विभावादिकी कठिनतासे प्रतीति भी [जिसेकि मम्मट आदिने रसदोषोंमें गिनाया है वह रसदोष न होकर] सन्दिग्धत्वरूप वाक्यदोष ही है । जैसे—

[इस नायिकाको] बड़ी बेचैनी हो रही है, इसकी बुद्धि ठिकाने नहीं है, बार-बार गिर पड़ती है, और निरी करवटें बदल रही है । इस प्रकार इसके देहकी बड़ी विषम अवस्था हो रही है इसका क्या उपाय करना चाहिए ।

इसमें रतिका परिहरण आदि रूप विभाव [शृंगारमें तो होते ही हैं उसके अतिरिक्त] करुणादिमें भी हो सकते हैं इसलिए उनके शृंगारके प्रति भाव होनेमें सन्देह है [इसे अन्य लोग रसदोष मानते हैं । परन्तु ग्रंथकारके मतमें वह वाक्यदोष है, रसदोष नहीं] ॥ [२३] १२५ ॥

अब वृत्तियोंके लक्षणमें रसोंके बाद कहे हुए भावोंके प्रतिपादनका यद्यपि अवसर है किन्तु रसोंके प्रसङ्गसे पहिले स्थायिभावोंको कहते हैं ।

[सूत्र १८१]—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम [ये नौ शृंगारादि पूर्वोक्त नौ] रसोंके क्रमशः स्थायिभाव हैं । [२४] १२६ ।

स्त्री-पुंसयोरास्थाबन्धापरपर्यायोऽन्योन्यमभिष्वंगो 'रतिः'। एषा च कामावस्थानुवर्तिन्या अभिलाषमात्रसाराया व्यभिचारिण्याः, देवतादिषु बन्धुषु मनोहरवस्तुषु च प्रीतिरूपायाश्च रतेर्विलक्षणैव। रञ्जनोन्मादानुविद्धश्चित्तस्य विकासो 'हासः'। निर्वेदानुविद्धं दुःखं 'शोकः'। अपचिकीर्षा-जुगुप्साहेतुः परितापावेशः 'क्रोधः'। धर्म-दानयुद्धादिकर्मण्यनालस्यं 'उत्साहः'। वैक्लव्यं 'भयम्'। कुत्सितत्वाध्यवसायो 'जुगुप्सा'। उत्कृष्टत्वाध्यवसायो 'विस्मयः'। निःस्पृहत्वं 'शमः'। रसानां शृंगारादीनां स्थायिनः परिणामिकारणानि। 'क्रमात्' इति रसोद्देशक्रमेण। तेनामी रसान्तराणां व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च भवन्ति। तत्रैषामागन्तुकत्वेन स्थायित्वाभावात्। सहभावित्वेन पोषकत्वे व्यभिचारिता। कार्यत्वे त्वनुभावता। तथैषां विभावा अनुभावाश्च ये शृंगारादिषु रसेषूक्तास्त एवेति न पृथक् उच्यन्ते ॥ [२४] १२६ ॥

[सू० १८२]—निर्वेद-ग्लान्यपस्मार-शङ्काऽसूया-मद-श्रमाः।
चिन्ता-चापलमावेगो मति-र्व्याधिःस्मृति-र्धृतिः ॥
॥ [२५] १२७ ॥

स्त्री और पुरुषका एक-दूसरेके प्रति प्रेम, जिसको दूसरे शब्दोंमें 'आस्थाबन्ध' भी कहते हैं, 'रति' कहलाता है। यह [रति] कामावस्थामें रहनेवाली अभिलाषमात्र रूप व्यभिचारिभावात्मक रतिसे, तथा देवतादिके प्रति [प्रेम], बन्धुओंके प्रति प्रेम, और मनोहर वस्तुओंके प्रति प्रीति रूप रतिसे भिन्न प्रकारकी होती है। मनकी प्रसन्नता और उन्माद आदिसे उत्पन्न चित्तका विकास 'हास' कहलाता है। निर्वेदसे युक्त दुःख 'शोक' कहा जाता है। [दूसरेके] अपकार करने तथा [दूसरेसे] घृणा करनेका हेतुभूत सन्तापका आवेश 'क्रोध' कहलाता है। धर्म, दान और युद्धादि कार्योंके प्रति आलस्यका अभाव 'उत्साह' कहलाता है। घबराहटका नाम 'भय' है। कुत्सित होनेका निश्चय 'जुगुप्सा' कहलाता है। उत्कृष्ट होनेका निश्चय 'विस्मय' कहा जाता है। [किसी वस्तुकी प्राप्ति आदिकी] इच्छाका अभाव 'शम' कहलाता है। रसोंके अर्थात् शृङ्गारादिके प्रति स्थायिभाव [अर्थात् रत्यादि परिणामके जनक] परिणामिकारण होते हैं। 'क्रमसे' [यह जो कारिकामें कहा है] इससे रसोंके नाम कीर्तनके क्रमसे इन [स्थायिभावों]को समझना चाहिए। इसलिए [ये रत्यादि जिस रसके स्थायिभाव माने गए हैं] उससे भिन्न रसोंमें वे व्यभिचारिभाव तथा अनुभाव रूप भी हो सकते हैं। उन [दूसरे रसों] में इन [रत्यादि] के आगन्तुक होनेसे स्थायिभावत्व [इनमें] नहीं बनता है। [रत्यादिके] सहचारी रूपसे रस-पोषक होनेपर उनको व्यभिचारिभाव कहा जाता है। और कार्यरूप होनेपर उनको अनुभाव कहा जाता है। इन [रत्यादि] के विभाव और अनुभाव जो शृंगारादि रसोंमें कहे हैं वे ही [यहाँ स्थायिभावोंमें] होते हैं इसलिए अलग नहीं कहे गए हैं। [अर्थात् शृंगारादि रसोंमें जो विभाव अनुभाव कहे जा चुके हैं वे ही रत्यादि स्थायिभावोंके भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव होते हैं इसलिए यहाँ उनको दुबारा नहीं कहा है] ॥ [२४] १२६ ॥

स्थायिभावोंके बाद अगली तीन कारिकाओंमें व्यभिचारिभाव दिखलाते हैं—

[सूत्र १८२]—१. निर्वेद, २. ग्लानि, ३. अपस्मार, ४. शङ्का, ५. असूया, ६. मद, ७. श्रम, ८. चिन्ता, ९. चपलता, १०. आवेग, ११. व्याधि, १२. मति, १३. स्मृति, १४. धृति

अमर्षो मरणं मोहो निद्रा सुप्तौग्र्य-हृष्टयः ।
विषादोन्माद-दैन्यानि व्रीडा त्रासो वितर्कणम् ॥
॥ [२६] १२८ ॥

गर्वौत्सुक्यावहित्थानि जाड्यालस्य-विबोधनम् ।
त्रयस्त्रिंशद् यथायोगं रसानां व्यभिचारिणः ॥
॥ [२७] १२६ ॥

'त्रयस्त्रिंशत्' इति द्वन्द्वानुवादमात्रम् । अन्येऽपि पुनः सम्भवन्ति । यथा क्षुत्-तृष्णा-मैत्री-मुदिता-श्रद्धा-दया-उपेक्षा-रति-सन्तोष-क्षमा-मार्दव - आर्जव - दाक्षिण्यादयः, तथा स्थायिनोऽनुभावाश्चेति । 'यथायोगम्' इति रसौचित्यानतिक्रमेण । तेन केचित् साधारणाः, केचित् पुनरसाधारणाः । एतच्च यथारसं निर्णीतमेवेति ।
॥ [२५-२७] १२७-१२६ ॥

(१) अथैषां प्रत्येकशः स्वरूपप्रतिपादकं लक्षणमुच्यते—

[सूत्र १८३]—निर्वेदस्तत्त्वधीः क्लेशैर्वैरस्यं श्वासतापकृत् ।

क्लेशा दारिद्र्य-व्याध्यपमानेर्ष्या-श्रमाक्रोश-ताडनेष्टवियोग-परविभूतिदर्श-

---

१५. अमर्ष, १६. मरण, १७. मोह, १८. निद्रा, १६. सुप्ति, २०. हर्ष, २१. उग्रता, २२. विषाद, २३. उन्माद, २४. दैन्य, २५. व्रीड़ा, २६. त्रास, २७. वितर्क ।

२८. गर्व, २६. औत्सुक्य, ३०. अवहित्था [आकार-गोपन], ३१. जडता, ३२. आलस्य, और ३३. विबोध—ये तैंतीस औचित्यके अनुसार [यथायोग] रसोंके व्यभिचारिभाव होते हैं । [२५-२७] १२७-१२६ ।

तैंतीस कहनेसे इस [तीस और तीन] द्वंद्व [समाससे तैंतीस संख्याका] अनुवादमात्र किया गया है । किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य [व्यभिचारिभाव] भी हो सकते हैं । जैसे—भूख, प्यास, मैत्री, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा, रति, सन्तोष, क्षमा, मृदुता, सरलता, दाक्षिण्य आदि । और स्थायिभाव तथा अनुभाव [भी व्यभिचारिभाव हो सकते हैं । वे सब इन ३३ से अलग हैं । इसलिए ३३ संख्या केवल पूर्वकथित संख्याका अनुवादमात्र है] । 'यथायोगम्' इसका अभिप्राय यह है कि रसके औचित्यके अनुसार [इनमेंसे कौन कहाँ किस रसमें व्यभिचारिभाव है इसका निर्णय करना चाहिए] । इसलिए कुछ [व्यभिचारिभाव अनेक रसोंमें समान रूपसे विद्यमान रहनेके कारण] साधारण होते हैं और कुछ [निश्चित रूपसे किसी विशेष रसमें ही रहनेके कारण] असाधारण होते हैं । इस बातका निर्णय रसोंके प्रसङ्गमें कर ही चुके हैं ॥ [२४-४७] १२७-१२६ ॥

(१) अब क्रमशः इनके स्वरूपके प्रतिपादक लक्षण कहते हैं—

[सूत्र १८३]—तत्त्वज्ञान [परक चित्तवृत्ति] का नाम 'निर्वेद' है । वह क्लेशोंसे उत्पन्न विरसताके कारण होता है और श्वास तथा तापका कारण होता है ।

क्लेश अर्थात् दरिद्रता, व्याधि, अपमान, ईर्ष्या, श्रम, फटकार [आक्रोश], मार, इष्टवियोग, दूसरोंके ऐश्वर्य-दर्शन आदि । तत्त्वज्ञानादि रूप विभावोंसे जो वैरस्य वह 'निर्वेद

नादयः। तत्त्वज्ञानादिभिर्विभावैर्यद् वैरस्यं स निर्वेदः। स च निःश्वास-सन्तापयोरुपलक्षणत्वादन्येषां च चिन्ताश्रु-वैवर्ण्य-दैन्यादीनामनुभावानां कारक इति। अयं च रसेष्वनियतत्वात् कादाचित्कत्वाच्च व्यभिचारी न स्थायी। एवमन्येष्वपि वाच्यम्।

मम्मटस्तु व्यभिचारिकथनप्रस्तावे निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायितां, 'प्रतिकूलविभावादिपरिग्रहः' इत्यत्र तु तमेव प्रति व्यभिचारितां च, ब्रुवाणः स्ववचनविरोधेन प्रतिहत इति।

(२) अथ ग्लानिः—

[सूत्र० १८४]—ग्लानिः पीडा जराऽऽयासैः, अशक्तिः कार्श्य-कम्पभाक्॥ [२८] १३०॥

'पीडा' व्याधि-वमन-विरेक-क्षुत्-पिपासादिभिरनेकधा काय-मनोदुःखम्। 'आयासो' व्यायामाध्वगति-सुरतादिभिः कायक्लेशः। पीडा-जराऽऽयासैरुपलक्षणादन्यैश्च। निद्रोच्छेदमनस्तापादिभिर्विभावैर्याऽशक्तिः सामर्थ्याभावः सा 'ग्लानिः'। कार्श्यं कायक्षामता। कार्श्य-कम्पावुपलक्षणत्वात् क्षामवाक्य-मन्दपदोत्क्षेप-वैवर्ण्य-अनुत्साहादींश्चानुभावान् भजत इति॥ [२८] १३०॥

कहलाता है। और वह निश्वास और सन्तापका, तथा उनके उपलक्षणरूप होनेसे चिन्ता, अश्रु-विवर्णता दैन्यादि अन्य अनुभावोंका भी जनक होता है। यह [निर्वेद] रसोंमें नियत न होनेसे और कादाचित्क होनेसे व्यभिचारिभाव होता हैं। इसी प्रकार अन्य [व्यभिचारिभावों] में भी [अनियतत्व और कादाचित्कत्व होनेके कारण ही उनका व्यभिचारिभावत्व] समझना चाहिए।

[काव्यप्रकाशकार] मम्मटने तो व्यभिचारिभावोंके निरूपणके प्रसङ्गमें निर्वेदको शान्तरसका स्थायिभाव कहा है और 'प्रतिकूलविभावादिग्रहे' रूप रस दोषके प्रसंगमें उसी [शान्तरस] के प्रति [निर्वेद] के व्यभिचारभावत्वका प्रतिपादन करके स्वयं ही अपने कथनका खण्डन कर लिया है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि निर्वेद स्थायिभाव नहीं होता है। सदा व्यभिचारिभाव ही होता है। मम्मटने जो व्यभिचारिभावोंके निरूपणके प्रसङ्गमें निर्वेदको स्थायिभाव माना है वह अनुचित है। और आगे स्वयं उनके कथनसे ही यह सिद्ध हो जाता है कि निर्वेद शान्तरसका स्थायिभाव नहीं अपितु केवल व्यभिचारिभाव है। उस दशामें शान्तरसका स्थायिभाव 'शम' होगा। इसलिए यहाँ ग्रन्थकारने शमको ही शान्तरसका स्थायिभाव माना है॥

(२) [सूत्र १३४]—अब ग्लानि [का लक्षण करते हैं]—

पीडाका नाम ग्लानि है। वह वार्द्धक्य और श्रम आदि विभावों [कारणों] से उत्पन्न होती है और कृशता तथा कम्प आदि[अनुभावों]को उत्पन्न करनेवाली होती हैं॥[२८]१३०॥

व्याधि, वमन, विरेचन, भूख, प्यास आदिके द्वारा अनेक प्रकारसे शारीरिक, मानसिक दुःखका नाम 'पीडा, है। व्यायाम, मार्गगमन और सुरतादिसे होनेवाला शारीरिक क्लेश 'आयास' [कहलाता] है। पीड़ा, वार्द्धक्य और आयासादिसे तथा उनके उपलक्षणरूप होनेसे निद्रा न आने, मानसिक सन्ताप आदि अन्य विभावोंसे जो अशक्ति होती है वह 'ग्लानि' कहलाती है। कृशता अर्थात् शारीरिक दुर्बलता। [और वह कम्पकी जनक होती है]।

(३) अथापस्मारः—

[सू० १८५]—वैकल्यं ग्रह-दोषेभ्योऽपस्मारो निन्द्यचेष्टितः ।

'ग्रहाः' परग्रहणशीलाः पिशाचाद्याः । धातुवैषम्यं दोषः । बहुवचनादुच्छिष्ट-शून्यस्थानसेवनाशुचिसम्पर्कादेर्यद् वैकल्यं कृत्याकृत्याविवेचकत्वं सोऽपस्मारः । निन्द्यं विगर्हितं सहसा भूमिपतन-फेनमोच-निःश्वसन-धावन-प्रवेपन-स्तम्भ-स्वेदादिकं चेष्टितमत्रेति ॥

(४) अथ शंका—

[सू० १८६]—शङ्का स्व-परदौरात्म्याद् दोलनं श्यामतादियुक् ॥ [२९] १३१ ॥

दौरात्म्यमकार्यकरणम् । उपलक्षणत्वाच्चास्य सादृश्यादयोऽपि विभावा ग्राह्याः । दोलनं क्षोभ-सन्देहाभ्यामनवस्थितत्वं चेतसः । आदिशब्दान् मुहुरवलोकन-अवगुण्ठन-मुखौष्ठ-कण्ठशोष-जिह्वापरिलेहन-वेपथु-चलद्दृष्टित्वादयोऽनुभावा गृह्यन्ते इति । ॥ [२९] १३१ ॥

(५) अथासूया—

कार्श्य तथा कम्पके उपलक्षणरूप होनेसे आवाज न निकलना, पैर धीरे उठना, विवर्णता और अनुत्साह आदि अनुभावोंको भी बोधित करते हैं ॥१३०॥

(३) अब अपस्मार का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १८५] [पिशाचादि रूप] ग्रहों तथा [वात-पित्तादि रूप] दोषोंकी विषमतासे उत्पन्न बेचैनी 'अपस्मार' कहलाता है और वह [भूमिपतन आदि रूप] गर्हित व्यापारोंसे युक्त होता है ।

दूसरोंको पकड़ लेनेवाले पिशाचादि 'ग्रह' कहलाते हैं । वात, पित्त, कफ रूप धातुओं-की विषमता 'दोष' कहलाती है । [दोषेभ्यो इस] बहुवचनसे उच्छिष्ट खाने, निर्जन स्थानमें रहने, और गन्दे पदार्थोंसे सम्पर्क रखनेसे जो विकलता अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यका निश्चय न कर सकना वह 'अपस्मार' कहलाता है । 'निन्द्य' अर्थात् गर्हित सहसा भूमिपर गिर पड़ना, फेन गिराने लगना, जोरसे श्वास लेने लगना, दौड़ना, काँपना, कड़ा पड़ जाना और पसीना आने लगना आदि चेष्टाएँ इसमें होती हैं ॥

(४) अब 'शङ्का' [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १८६]—अपने या दूसरेके दुष्कर्मोंसे [मनका] कम्पन शङ्का कहलाती है । और वह श्यामता आदिको उत्पन्न करनेवाली होती है ॥ [२९] १३१ ॥

'दौरात्म्य' अर्थात् अनुचित कार्योंका करना [दौरात्म्य पदके] उपलक्षण रूप होनेसे [सर्पादिसे उत्पन्न शङ्कामें रज्जु आदि रूप] सादृश्य आदि विभावोंका भी ग्रहण करना चाहिये । दुःख तथा सन्देहके कारण मनकी अस्थिरता 'दोलन' कहलाती है । आदि शब्दसे बार-बार देखना, मुँह ढक लेना, मुख, ओष्ठ कण्ठका सूख जाना, जीभ चलाना, काँपना, चंचल दृष्टि आदि अन्य अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ॥ [२९] १३१ ॥

(५) अब 'असूया' [का लक्षण करते हैं]—

[सू० १८७]—द्वेषादेः सद्गुणाक्षान्तिरसूया दोषदर्शिनी ।

आदिशब्दादपराध-गर्व-परसौभाग्य-ऐश्वर्य-विद्या-लीलादर्शनादिग्रहः । सद्-गुणा ज्ञान-क्रियादयो विशिष्टधर्माः । एषा च दोषान् वञ्चकत्वादीनसतः सतो वा दर्शयति । उपलक्षणात् भ्रूभंग-अवज्ञा-गुणनिह्नव-मन्यु-क्रोधादयोऽनुभावा गृह्यन्त इति ॥

(६) अथ मदः—

[सू० १८८]—ज्येष्ठादौ मुन्मदो मद्यात्, निद्रा-हास्याश्रुकृत् क्रमात् ॥ [३०] १३२ ॥

ज्येष्ठ उत्तमः । आदिशब्दान्मध्यमाधमौ गृह्येते । निद्रया स्मित-मधुरास्यराग-रोमहर्ष-ईषद्व्याकुलवचन-सुकुमारगत्यादयः, हास्येन स्खलन-घूर्णन-बाहुस्रंसन-कुटिल-गमनादयः, अश्रुणा च निष्ठीवन-जिह्वास्खलन-स्मृतिनाश-मतिभ्रंश-छर्दित-हिक्का-कफादयो गृह्यन्ते । 'क्रमात्' इति उत्तमादौ यथासंख्यं निद्रादयोऽनुभावाः । नाट्ये च रञ्जनानिमित्तमापानमपि क्वचिदभिनीयते । तत्र च मदो व्यभिचारी सम्भवति । यत्र पुनः पात्रं पीतमद्यमेव प्रविशति, तस्य त्रासादिना मदोऽपनेयोऽन्यथा कार्यव्याघातः स्यादिति ॥ [३०] १३२ ॥

[सूत्र १८७]—द्वेषादिके कारण [किसी दूसरेके] सद्गुणोंको सहन न कर सकना 'असूया' कहलाता है और वह [सदा दूसरेके] दोषोंको देखने वाली होती है ।

आदि शब्दसे अपराध, गर्व, दूसरोंके सौभाग्य, या विद्या, या लीला आदिके दर्शनका ग्रहण होता है । सद्गुण अर्थात् ज्ञान, क्रिया आदि विशिष्ट धर्म । यह [असूया] विद्यमान या अविद्यमान वञ्चकत्वादि दोषोंको देखने वाली होती है । [दोषदर्शिनी पदके] उपलक्षण रूप होनेसे भ्रूभङ्ग, अपमान, गुणोंका छिपाना, मन्यु तथा क्रोध, आदि [असूयाके] अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ।

(६) अब मद व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १८८]—ज्येष्ठ आदि [अर्थात् उत्तम, मध्यम या अधम प्रात्रों] में मद्य-जन्य और निद्रा, हास्य तथा रोदनको उत्पन्न करनेवाला आनन्द 'मद' कहलाता है ॥[३०]१३२॥

ज्येष्ठ अर्थात् उत्तम । आदि शब्दसे मध्यम तथा अधमका भी ग्रहण होता है । निद्रा पदसे मुस्कराहट, चेहरेपर हलकी लालिमा, रोमांच हो आना, अस्त-व्यस्त वचन और सुकुमार गति आदिका, 'हास्य' पदसे गिरना चक्कर खाना, हाथ ढीले हो जाना और लड़ख-ड़ाना आदि, तथा 'अश्रु' पदसे थूकना, जीभ चटकारना, स्मृतिनाश, गतिभ्रंश, वमन, हिचकी, कफ आदिका ग्रहण भी होता है । 'क्रमात्' इससे यह अभिप्राय है कि उत्तम आदि में क्रमशः निद्रा आदि अनुभाव होते हैं । [अर्थात् मदसे उत्तममें निद्रा, मध्यममें हास्य तथा अधममें रोदन होता है] । स्वामीके मनोरंजनके लिए कभी मद्यपानका भी अभिनय किया जाता है । उनमें मद व्यभिचारिभाव होता है । जो पात्र मद्यपान किए हुए ही अभिनय करने के लिए आता है उसका मद तो भयादि द्वारा दूर कर देना चाहिए नहीं तो [अभिनय] कार्य में विघ्न पड़ेगा ॥ [३०] १३२ ॥

(७) अथ श्रमः—

[सूत्र १८६]—श्रमो रतादिभिः सादः स्वेद-श्वासादिकारणम् ।

आदिशब्दादध्वगति-व्यायामादेर्विभावस्य ग्रहः । सादोऽङ्गादीनां शोषः । द्वितीयादिशब्दान्मुखविकूणन-विजृम्भण-अंगमर्दन-मन्दपदोत्क्षेपादेरनुभावस्य ग्रह इति ॥

(८) अथ चिन्ता—

[१६०]—आधिश्चिन्ता प्रियानाप्तेः शून्यता-श्वास-कार्श्ययुक्

॥ [३१] १३३ ॥

आधिर्मानसी पीडा । प्रियस्येष्टस्याप्राप्तिः अप्रियाप्राप्तिर्वा प्रियानाप्तिः । शून्यता विकलेन्द्रियता । उपलक्षणत्वादेकाग्रदृष्टित्व-स्मृत्यादयोऽप्यनुभावा इति ॥ [३१] १३३॥

(६) अथ चापलम्—

[सूत्र १६१]—चापलं साहसं राग-द्वेषादेः स्वैरितादिमत् ।

साहसमविमृश्यकारिता । आदिशब्दाज्जाड्यादेर्ग्रहः । स्वैरित्वं स्वच्छन्दाचारः । आदिशब्दाद् वाक्पारुष्य-ताडन-बध-बन्धादेरनुभावस्य ग्रह इति ।

---

(७) अब श्रम [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १८६]—रमण करने आदिके कारण उत्पन्न थकावट 'श्रम' कहलाता है । और वह स्वेद तथा श्वासादिका कारण होता है ।

[रतादिमें] 'आदि' शब्दसे मार्गगमन और व्यायाम आदि विभावोंका ग्रहण होता है । 'सादः' अर्थात् शरीरादिका शोष । [श्वासादिकारणम् में आए हुए] दूसरे 'आदि' शब्दसे मुँह सिकुड़ना, जम्भाई, अङ्गोंकी मलिनता, धीरे-धीरे पैर उठाना आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है ।

(८) अब चिन्ता [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६०]—इष्ट वस्तुकी प्राप्ति न होने [अथवा अनिष्टकी प्राप्ति होने] से उत्पन्न मानसी पीड़ाको 'चिन्ता' कहते हैं । वह इन्द्रियोंकी विकलता श्वास और कृशता आदिकी जननी होती है । [३१] १३३ ॥

'आधि' अर्थात् मानसिक पीड़ा । प्रिय अर्थात् इष्टकी अप्राप्ति अथवा अप्रियकी प्राप्ति [दोनोंसे ही चिन्ता उत्पन्न होती है] । शून्यताका अर्थ इन्द्रियोंकी विकलता है । और उपलक्षणभूत होनेसे वह उससे टकटकी लगाना, याद आना आदि अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ॥ [३१] १३३ ॥

(६) अब चपलता [नामक व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६१]—रागद्वेषादिके [अतिरेकके] कारण बिना विचारे जो कार्य करने लगना है वह [अविमृश्यकारिता रूप साहस] 'चपलता' कहलाता है । और वह स्वेच्छाचरिता आदिकी जननी होती है ।

'साहस' अर्थात् बिना सोचे-समझे कार्य करना । [पहले] 'आदि' शब्दसे जड़ता आदिका ग्रहण होता है । स्वच्छन्द आचरण 'स्वैरिता' है । [दूसरे] 'आदि' शब्दसे कठोर

(१०) अथावेगः—

[सूत्र १६२]—आवेगः सम्भ्रमोऽतर्क्यात् विकर्ताऽङ्ग-मनो-गिराम् ॥ [३२] १३४ ॥

सम्भ्रमः संक्षोभः। अतर्क्यं अचिन्तितोपनतमिष्टमनिष्टं वा। तत्रेष्टं देवता-गुरु-मान्य-वल्लभ-सम्पच्छ्रवण-दृष्ट्यादि। अनिष्टमग्नि-भूकम्पाद्युत्पात-वात-वर्ष-कुञ्जर-चोर-सर्पामनोज्ञश्रवणदर्शनादि। तत्राभ्युत्थान-पुलकालिंगनवस्त्रादिप्रदानादयः प्रियाः, सर्वांगस्रस्ततामुखवैवर्ण्य-पिण्डीभाव-प्रधावन-आकुलनेत्रता- त्वरितापसरण - पश्चादवलोकन-शस्त्रादिग्रहण-उर्वीपतन-कम्प-स्वेद-स्तम्भादयो अप्रियाश्चांगिकाः। हर्ष-विस्मयादयः प्रियाः, शंका-विषाद-भयादयोऽप्रियाश्च मानसाः। स्मृति-चाटुकाराशंसावाक्यादयः प्रियाः, क्रन्दन-परिदेवन-असम्बन्धवचनादयश्चाप्रिया वाचिका विकारा यथायोगं प्रियाप्रियातर्क्यवस्तुजावेगस्यानुभावाः। सर्वेऽप्येते विकारा उत्तमस्य, स्थैर्यानुविद्धाः, नीचस्य तु चापलानुविद्धा इति ॥ [३२] १३४ ॥

(११) अथ मतिः—

[सूत्र १६३]—प्रतिभानं मतिः शास्त्र-तर्काद् भ्रांतिच्छिदादिकृत्।

वचन, मार-पीट करने और बध-बन्धन आदिका ग्रहण होता है।

(१०) अब आवेग [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १४२]—अकस्मात् उपस्थित हो जाने वाले [इष्ट या अनिष्ट] से उत्पन्न क्षोभ 'आवेग' कहलाता है। और शरीर, मन तथा वाणीमें विकारका जनक होता है।[३२]१३४।

'सम्भ्रम' अर्थात् संक्षोभ। 'अतर्क्य' अर्थात् जिसको सोचा भी नहीं था इस प्रकारके इष्ट या अनिष्टका अकस्मात् उपस्थित हो जाना। उसमें [अतर्क्योपनत] 'इष्ट' से देवता, गुरु, मान्य, प्रिय अथवा सम्पत्तिकी प्राप्तिका सुनना आदि [गृहीत होता है]। 'अनिष्ट'से आग लग जाना, भूकम्प आदिका उत्पात, आँधी-पानी, हाथी, चोर, साँप और अरुचिकर बातका सुनना या [अरुचिकर दृश्यका] देखना आदि [गृहीत होता है]। उनमें भी अभ्युत्थान रोमाञ्च, आलिङ्गन और वस्त्र-प्रदान आदि प्रिय, और सारे अङ्गोंका शिथिल हो जाना, मुख पीला हो जाना, पिण्डीभाव, दौड़ना, नेत्रोंमें घबराहट दीखना, जल्दीसे हट जाना, लौट-लौटकर पीछे देखना, शस्त्रादि उठाना पृथिवीपर गिर जाना, कम्पन, स्वेद और शरीरकी निष्क्रियता आदि अप्रिय अङ्गिक [अनुभव] होते हैं। हर्ष-विस्मय आदि प्रिय, शंका, विषाद, भय आदि अप्रिय मानसिक [अनुभव] होते हैं। प्रशंसा, चापलूसी शुभाकांक्षाके वाक्य आदि प्रिय, तथा और असम्बद्ध प्रलाप करना आदि वाचिक विकार, यथायोग्य प्रिय-अप्रिय रूप [अतर्क्य रोना-विलाप करना अर्थात्] अकस्मात् उपस्थित होने वाले वस्तुओंसे उत्पन्न आवेगके अनुभाव होते हैं। ये सभी विकार उत्तम पुरुषोंमें धैर्यसे युक्त और नीच [पात्रों] में चपलतासे युक्त रहते हैं ॥ [३२] १३४ ॥

(११) अब मति [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १४३]—शास्त्र [के चिन्तन] तथा तर्कसे उत्पन्न होने वाली नवनवोन्मेशशालिनी प्रज्ञा 'मति' कहलाती है। और वह भ्रमोच्छेदन आदिकी जननी होती है।

नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा प्रतिभानम्। शास्त्रं शास्त्रविषयं चिन्तनम्। तर्को विधि-निषेधविषयौ सम्भावनाप्रत्ययौ अन्वय-व्यतिरेकप्रत्ययौ वा। भ्रांतिः संशयो विपर्ययो वा। आदिशब्दादुपदेशादिग्रहः इति ॥

(१२) अथ व्याधिः—

[सूत्र १६४]—दोषेभ्योऽङ्ग-मनःक्लेषो व्याधिः स्तनित-कम्पवान्
॥ [३३] १३५ ॥

दोषाः कफ-वात-पित्त-सन्निपातादयः। स्तनितमार्तस्वरः। उपलक्षणान्मुखशोष-दन्तवीणावादन-शीताभिलाष-विक्षिप्तांगता-संतापादयोऽप्यनुभावा गृह्यन्ते इति ॥ [३३] १३५ ॥

(१३) अथ स्मृतिः —

[सूत्र १६५]—दृष्टाभासः स्मृतिस्तुल्यदृष्ट्यादेर्भ्रून्नतिक्रिया।

दृष्टाभासः पूर्वं दृष्टमिति ज्ञानम्। तुल्यदृष्टिः सदृशदर्शनम्। आदिशब्दात् सदृशश्रवण-चिन्ता-संस्कार-रात्रिपश्चाद्भागनिद्रोच्छेद-प्रणिधान-पुनःपुनःपरिशीलन-पूर्वं दर्शनपाटवादेर्विभावस्य ग्रहः। भ्रून्नतेर्भ्रुव ऊर्ध्वक्षेपस्य। उपलक्षणाच्छिरःकम्पना-वलोकनादेश्चानुभावस्य क्रिया निष्पत्तिर्यस्याः, सा तथेति ॥

नई-नई सूझ देने वाली बुद्धि 'प्रतिभा' कहलाती है। शास्त्रसे शास्त्र-विषयक चिन्तन [का ग्रहण होता है। किसी एक पक्षकी] विधि और निषेध से उत्पन्न होने वाले द्विविध सम्भावना ज्ञान अथवा अन्वय तथा व्यतिरेकको 'तर्क' कहते हैं। 'भ्रांति' शब्दसे संशय अथवा विपर्यय [दोनों का ग्रहण होता है]। आदि शब्दसे उपदेश आदिका ग्रहण होता है।

(१२) अब व्याधि [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६४]—[वात-पित्तादि रूप] दोषोंसे उत्पन्न शारीरिक या मानसिक क्लेश 'व्याधि' कहलाता है। और वह आर्तस्वर तथा कम्पादिका जनक होता है ॥ [३३] १३५ ॥

'दोष' अर्थात् कफ, वात, पित्त और उनका सन्निपात आदि। 'स्तनित' अर्थात् आर्तस्वर। उसके उपलक्षण रूप होनेसे मुखका सूखना, दाँतोंकी वीणाका बजाना, ठण्डककी इच्छा और अङ्गोंकी विक्षिप्तता तथा सन्ताप आदि अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ॥ [३३] १३५ ॥

(१३) अब स्मृति [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६५]—मिलते-जुलते सदृश पदार्थको देखने आदिसे उत्पन्न पूर्व दृष्ट अर्थका ज्ञान 'स्मृति' कहलाता है। और वह भौंहेंकी उन्नति आदिकी जननी होती है।

दृष्टाभास अर्थात् पूर्वदृष्ट अर्थका ज्ञान। तुल्यदृष्टिका अर्थ मिलते-जुलते सदृश पदार्थका देखना, है। आदि शब्दसे सदृश श्रवण, चिन्ता, संस्कार, रात्रिके पिछले भागमें नींदका खुल जाना, ध्यान, बार-बार सोचना, दर्शनकी तीव्रता आदि [विभावों अर्थात्] कारणोंका ग्रहण होता है। भौहोंकी उन्नति अर्थात् भौंहोंका ऊपर चढ़ना आदि अनुभावोंका। उसके उपलक्षण रूप होनेसे सिर हिलाना और देखने आदि अनुभावोंकी क्रिया अर्थात् उत्पत्ति जिससे होती है वह उस प्रकारकी [भ्रून्नतिक्रियाकी जननी स्मृति होती है।]

(१४) अथ धृतिः —

[सूत्र १९६]—धृतिर्ज्ञानेष्टलाभादेः सन्तुष्टिर्देहपुष्टिकृत् ॥ [३४] १३६ ॥

ज्ञानं विवेकज्ञानं बाहुश्रुत्यं वा। इष्टस्येप्सितस्य लाभः प्राप्तिः। आदिशब्दात् शौचाचरण-क्रीडा-देवतादिभक्ति-विशिष्टशक्त्यादेर्विभावस्य ग्रहः। देहपुष्टिरुपलक्षणं गताननुशोचनादीनामनुभावानामिति ॥ [३४] १३६ ॥

(१५) अथामर्षः —

[सूत्र १९७]—क्षेपादेः प्रतिकारेच्छाऽमर्षोऽस्मिन् कम्पनादयः।

क्षेपस्तिरस्कारः। आदिशब्दादपमानादेर्विभावस्य ग्रहः। अपकारिणि स्वयमपकरणाभिलाषः प्रतिकारेच्छा। परस्यापकाराभावेऽपि परानर्थकरणाभिप्रायरूपः क्रोध इत्यनयोर्भेदः। अस्मिन्नमर्षे। आदिशब्दादधोमुखचिन्तन-प्रस्वेद-उत्साह-ध्यानोपायान्वेषण-तर्जन-ताडनादीनामनुभावानां ग्रह इति ॥

(१६) अथ मरणम्—

[सूत्र १९८]—व्याध्यादेर्मृत्युसङ्कल्पो मरणं विकलेन्द्रियम् ॥ [३५] १३७ ॥

---

(१४) अब धृति [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १४६]—ज्ञान अथवा इष्टप्राप्ति आदिसे उत्पन्न सन्तोष 'धृति' है। और वह शरीरकी पुष्टि आदिका करने वाला होता है। [३४] १३६।

ज्ञान अर्थात् विवेकज्ञान अथवा बहुश्रुतता। इष्ट अर्थात् मनचाही वस्तुका लाभ अर्थात् प्राप्त होना। आदि शब्दसे शुद्धाचरण क्रीडा [मनोरंजन], देवताओंकी भक्ति, विशेष शक्ति आदि कारणों [विभाव] का ग्रहण होता है। देहपुष्टि शब्द, बीती बातका शोक न करने आदि अनुभावोंका भी उपलक्षण है ॥ [३४] १३६ ॥

(१५) अब अमर्ष [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १४७]—तिरस्कार आदिके कारण उत्पन्न बदला लेनेकी इच्छा 'अमर्ष' है। इसमें कम्पन आदि [अनुभाव] होते हैं।

क्षेप अर्थात् तिरस्कार। आदि शब्दसे अपमानादि विभावोंका ग्रहण होता है। अपकारीके प्रति स्वयं उसका अपकार करनेकी इच्छा 'प्रतिकारेच्छा' कहलाती है। दूसरेके द्वारा अपकार न किए जानेपर भी दूसरेको हानि पहुँचानेका अभिप्राय क्रोध' कहलाता है। यह इन दोनोंका भेद है। इसमें अर्थात् अमर्षमें। आदि शब्दसे सिर नीचा करके सोचना, पसीना आना, उत्साह, ध्यान, उपायोंके खोजने, फटकारने, पीटने आदि अनुभावोंका भी ग्रहण होता है।

(१६) अब मरण [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १४८]—व्याधि आदिके कारण मरनेकी इच्छा करना 'मरण' कहलाता है [अर्थात् यहाँ मरण शब्दसे प्राण निकल जाने रूप वास्तविक मरणका ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि नाटकोंमें वास्तविक मरणका दिखलाना निषिद्ध माना गया है]। और वह इन्द्रियोंको विकल करने वाला होता है। [३५] १३७।

व्याध्यादयो वात-पित्त-श्लेष्मवैषम्य-ज्वर-विचर्चिका-पिटकादयः। आदि-शब्दात् शस्त्राभिघात-विषपान-अहिदंश-श्वापद-गज-तुरगाद्याक्रमण-वाहनोच्चस्थान-पतनादेर्विभावस्य ग्रहः।

'मृत्युसंकल्पो' दुष्प्रतिकारोऽयमनर्थस्तस्मादवश्यं मरिष्यामीत्यध्यवसायः। विकलानि स्वविषयग्रहणं प्रत्यसमर्थानीन्द्रियाणि यस्मिन्। उपलक्षणाद् विह्वलचेष्टित-हिक्का-निःश्वास-परिजनानवेक्षण - अव्यक्ताक्षरभाषण - वदनदैन्य-सहसाभूमिपतन-कम्पन - स्फुरण-कार्श्य - फेन-जाड्य - हस्तस्कन्धभङ्गानपेक्षितगात्रसञ्चारादयोऽनुभावा गृह्यन्ते। प्राणनिरोधरूपं तु मरणं न नाट्ये प्रयोज्यमिति, न तस्य विभावानुभावस्व-रूपाणि प्रतिपाद्यन्त इति ॥ १३७ ॥

(१७) अथ मोहः —

[सूत्र १६६]—अचैतन्यं प्रहारादेर्मोहो,ऽत्राघूर्णनादयः।

'अचैतन्यं' प्रवृत्ति-निवृत्तिज्ञानाभावो न तु सर्वथा गतचेतनत्वम्। 'प्रहारो' मर्म-व्यभिघातः। आदिशब्दात् तीव्रवेदना-अशक्यप्रतिकार-चौर-राजा-अहि-व्याघ्राद्या-क्रमण-देशविप्लव-अग्न्युदकाद्युपघात-वैरिदर्शन-श्रवणादेर्विभावस्य ग्रहः। अत्र मोहे। आदि शब्दाद् भ्रमण-पतनेन्द्रियाव्यापारादेरनुभावस्य ग्रहः।

व्याधि अर्थात् वात, पित्त कफके वैषम्यसे उत्पन्न ज्वर विचर्चिका खाज और फोड़ा-फुन्सी आदि। आदि शब्दसे शस्त्रप्रहार, विषपान, साँपके काटने, हिंस्र जन्तुओं, हाथी, घोड़े आदिके आक्रमण, सवारी अथवा ऊँचे स्थानसे गिरने आदि विभावोंका ग्रहण होता है।

[वास्तवमें तो मरनेकी इच्छा भी कोई नहीं करता है इसलिए] मृत्युसंकल्पसे यहाँ, यह आपत्ति ऐसी है जिसका प्रतिकार असम्भव है इसलिए अवश्य ही मर जाऊँगा इस प्रकारका निश्चय [मृत्युसंकल्प पदसे गृहीत होता है]। विकल अर्थात् अपने विषयको ग्रहण करनेमें असमर्थ इन्द्रियाँ जिसमें हो जाती हैं [वह मृत्युसंकल्प विकलेन्द्रिय मरण रूप हुआ]। उसके उपलक्षण रूप होनेसे विह्वल चेष्टाओं, हिचकी, निःश्वास, परिजनोंको न देखने, अस्पष्ट शब्दोंका उच्चारण, चेहरेकी दीनता, सहसा पृथिवीपर गिर पड़ने, काँपने लगने, फड़कने, कृशता, फेन डालने, जड़ता, हाथ कन्धे आदिके टूटने-फूटनेकी चिन्ता न करके अङ्गोंके संचालन आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है। प्राण बन्द हो जाना रूप [वास्तविक] मरण तो नाटकमें नहीं दिखलाना चाहिए। इसलिए उसके विभाव और अनुभावोंके स्वरूपोंको यहाँ प्रतिपादन नहीं किया है ॥[३५] १३७ ॥

(१७) अब मोह [रूप व्यभिचारिभाव का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६६]—प्रहार आदिसे उत्पन्न अचैतन्य 'मोह' कहलाता है। इसमें चक्कर आना आदि होता है।

अचैतन्यका अर्थ [कर्तव्य व अकर्तव्यमें] प्रवृत्ति-निवृत्तिके ज्ञानका न रहना है। सर्वथा चैतन्यका अभाव [अचैतन्य शब्दसे विवक्षित नहीं है] प्रहार अर्थात् मर्मस्थलपर आघात। आदि शब्दसे तीव्र वेदना, जिनका प्रतिकार सम्भव न हो इस प्रकारके चोर, राजा, सर्प, व्याघ्र आदिके आक्रमण, देश-विप्लव, आग-पानी आदिके उपद्रव, शत्रुके दिखलाई देने अथवा सुनाई देने आदि विभावोंका ग्रहण होता है। इसमें अर्थात् मोहमें। आदि शब्दसे चक्कर खाने

(१८) अथ निद्रा —

[सूत्र २००]—इन्द्रियाव्यापृतिर्निद्रा, खेदादेर्मूर्द्धकम्पिनी ॥

[३६] १३८ ॥

इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, न तु मनः, तस्य निद्रायामपि व्यापारात्। 'अव्यापृति'-विषयग्रहणोपरतिः। आदिशब्दादालस्य-दौर्बल्य-रात्रिजागरण-अत्याहार-मद-श्रम-क्लम-चिन्ता-शयालतादेर्विभावस्य ग्रहः। मूर्द्धकम्पनेन जृम्भण-वदनविकास-निःश्वास-नेत्रघूर्णन-अङ्गभङ्ग-अक्षिमीलन-सर्वक्रियासम्मोहादयोऽनुभावा उपलक्ष्यन्त इति ॥ [३८] १३८ ॥

(१६) अथ सुप्तम्—

[सत्र २०१]—सुप्तं निद्राप्रकर्षोऽत्र स्वप्नायित-खमोहने ।

'प्रकर्षो' गाढतमावस्था। स्वप्नस्य तात्कालिकविषयज्ञानस्य आयितं प्रतीतिर्यतस्तत् 'स्वप्नायितं' प्रलपितम्। खानां मनःषष्ठानामिन्द्रियाणां मोहनमतिशयेन विषयवैमुख्यम्। निद्रायां मनसोऽवधानमस्ति। अत्र तु तदपि मनागुपरुध्यत इति भेदः। विभावास्तु निद्रागता एवात्र ग्राह्याः ॥

गिरने और इन्द्रियोंके व्यापारके अभाव आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है।

(१८) अब निद्रा [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २००] थकावट आदिसे उत्पन्न इन्द्रियोंके व्यापारका अभाव 'निद्रा' कहलाता है। उससे सिर हिलने लगता है। [३६] १३८।

इन्द्रियोंसे त्वचा आदि [ज्ञानेन्द्रियोंका ही ग्रहण करना चाहिए] मनका नहीं। क्योंकि उसका व्यापार तो निद्राकालमें भी होता रहता है। व्यापारका अभाव अर्थात् [इन्द्रियोंका] विषयोंके ग्रहणसे हट जाना। आदि शब्दसे आलस्य, दौर्बल्य, रातमें जगने, अधिक भोजन, मदके सेवन, परिश्रम, थकावट, चिन्ता, सोनेके स्वभाव आदि [निद्राके विभावों अर्थात्] कारणोंका ग्रहण होता है। सिर हिलानेसे जम्हाई आने, लम्बी निःश्वास छोड़ने, आँखें घुमाने, अंगड़ाई आने, आँखें झपकने और सारी क्रियाओंको भूल जाने आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है ॥ [३६] १३८ ॥

(१६) अब सुप्त [नाम व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०१]—प्रबल निद्राका आना 'सुप्त' [नामक व्यभिचारिभाव] कहलाता है। इस में बर्राना-[स्वप्नायित] और मन सहित सब इन्द्रियोंका विषयोंसे अत्यन्त वैमुख्य [मोहन] हो जाता है।

[निद्राका] प्रकर्ष अर्थात् गाढतम अवस्था। स्वप्नकी अर्थात् उस समय [स्वप्नमें होने वाले] ज्ञानकी 'आयितं' अर्थात् प्रतीति जिसमें हो उस बर्रानेको 'स्वप्नायित' कहते हैं। 'ख' अर्थात् मनके सहित [पाँचों कुल मिलाकर] छहों इन्द्रियोंका 'मोहन' अर्थात् विषयोंसे अत्यन्त विमुखता। निद्रामें मनकी वृत्ति रहती है यहाँ [सुप्तिमें] तो वह भी बिल्कुल निरुद्ध हो जाती है। यह [निद्रा और सुप्ति इन दोनोंका] भेद है। निद्रामें कहे हुए विभाव ही यहाँ [सुप्तिके भी कारण] समझने चाहिए ॥

(२०) अथौग्र्यम् —

[सूत्र २०२]—दुष्टेऽपराधान्नैर्घृण्यं औग्र्यं बन्ध-वधादिभिः ॥ [३७] १३९ ॥

'दुष्टे' हिंस्रत्वानृतवादित्व-वञ्चकत्वादियुक्ते। अपराधादकार्यकारित्वाद् दौर्मुख्य-चौर्यादिरूपाद् विभावाद् यद् राजादेर्नैर्घृण्यं निर्दयत्वं तदौग्र्यम्। तच्च बंध-वधाभ्याम्। आदिशब्दात् ताडन-निर्भर्त्सन-स्वेद-शिरःकम्पादिभिरनुभावैरभिनेतव्यमिति ॥ [३७] १३९ ॥

(२१) अथ हर्षः —

[सूत्र २०३]—हर्षः प्रसत्तिरिष्टाप्तेरत्र स्वेदाश्रु-गद्गदाः।

'प्रसत्ति'श्चेतोविकासः। 'इष्टं' प्रियसंयोगाप्रियसंयोगनिवृत्ति-देव-गुरु-राज-भर्तृप्रसाद-भोजनाच्छादन-धन-पुत्रादिलाभ - पुत्रादिगतहर्ष - विषयोपभोगोत्सवादि। 'गद्गदो' वाष्परुद्धकण्ठस्य वाक्। उपलक्षणात् पुलक-प्रियभाषण-नेत्रमुखप्रसादादेरनुभावस्य ग्रह इति।

(२२) अथ विषादः —

[सूत्र २०४]—विषादस्तान्तिरिष्टस्यानाप्तेर्निश्वासचिन्तनैः ॥ [३८] १४० ॥

---

(२०) अब उग्रता [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०२]—अपराधके कारण दुष्ट पुरुषके प्रति वध-बन्धादि द्वारा जो निर्दयता [का प्रकाशन है] वह 'उग्रता' कहलाती है। [३७] १३९।

दुष्ट अर्थात् हिंसा करने वाले, झूठ बोलने वाले, अथवा धोखा देने वाले [के प्रति] अपराधके कारण अर्थात् अनुचित कार्य करने, ऊटपटाँग बात करने, चोरी, आदि रूप कारणोंसे जो राजा आदि की निठुरता अर्थात् निर्दयता, उसको 'उग्रता' कहा जाता है उसका अभिनय वध तथा बन्धनके द्वारा किया जाता है। आदि शब्दसे मारने-फटकारने पसीना और सिर हिलाने आदि अनुभावोंके द्वारा उसका अभिनय होता है ॥ [३७] १३९ ॥

(२१) अब 'हर्ष' [व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०३]—इष्टकी प्राप्तिके कारण [मनकी] प्रसन्नता हर्ष होता है। इसमें स्वेद, अश्रु और गद्गदता हो जाती है।

प्रसन्नता अर्थात् चित्तका विकास। इष्ट अर्थात् प्रियका संयोग अथवा अप्रियके संयोग की निवृत्ति, देवता, गुरु, राजा अथवा स्वामीकी कृपाकी प्राप्ति, भोजन, आच्छादन, वस्त्र, धन, पुत्रादिकी प्राप्ति, पुत्रादिकी प्रसन्नता, विषयोंके उपभोग और उत्सव आदि [का ग्रहण होता है]। आँसुओंसे गला भरे हुएकी वाणी 'गद्गद' कहलाती है। उसके उपलक्षण रूप होनेसे रोमांच, प्रिय भाषण, आँखों और मुखकी प्रसन्नता आदि अनुभावोंका ग्रहण भी होता है।

(२२) अब विषाद [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०४]—इष्ट वस्तुके न मिलनेसे [चित्तका] अनुत्साह 'विषाद' कहलाता है। निःश्वास तथा चिन्ताके द्वारा [उसका अभिनय किया जाता है]।[३८]१४०।

'तान्ति'रनुत्साहाक्रान्तश्चित्तसन्तापः। 'इष्टं' प्रारब्धनिर्वहण-दैवाप्रतिकूलत्वादि। तस्यानाप्तिरलाभो विपरीतलाभो वा। चिन्तनमुपायानाम्। बहुवचनात् सहायान्वेषण-वैमनस्यादिभिर्मध्यमोत्तमगतैर्मुखशोष-निद्रा-ध्यान-जिह्वापरिलेहादिभिस्त्वधमगतैरनुभावैरभिनीयत इति॥ [३८] १४०॥

(२३) अथोन्मादः—

[सूत्र २०५]—मनोविप्लुतिरुन्मादो ग्रहदोषैरयुक्तकृत्।

विप्लुतिर्विसंस्थुलता, क्वचिदप्यविश्रान्तिरिति यावत्। ग्रह-दोषौ अपस्मारे व्याख्यातौ। अयुक्तमनुचितं गीत-नृत्त-पठितोत्थित-शयित-प्रधावित-रुदित-आक्रुष्ट-असम्बद्धप्रलापन-अनिमित्तहसित-भस्मपांस्ववधूलन-निर्माल्य-वीरघटवक्त्रशरावाभरणोपभोगादि। अयं चोत्तमस्य विप्रलम्भे, अधमस्य करुणे व्यभिचारी। अपस्मारस्तु बीभत्स-भयानकयोः। स च मनोवैकल्यम्, अयन्तु मनोऽनवस्थितिरिति भेद इति।

(२४) अथ दैन्यम्—

[सूत्र २०६]—आपदः स्वान्तनीचत्वं दैन्यं कार्ष्ण्यावगुण्ठनैः॥
॥ [३९] १४१ ॥

तान्ति अर्थात् अनुत्साहसे युक्त चित्तका सन्ताप। इष्ट अर्थात् आरम्भ किए हुए कार्यकी समाप्ति भाग्यकी अप्रतिकूलता आदि। उसका प्राप्त न होना अथवा विपरीत [अर्थात् अनिष्ट] की प्राप्ति। चिन्तन अर्थात् उपायोंके चिन्तनद्वारा [उसका अभिनय होता है। 'चिन्तनैः पदमें] बहुवचनके प्रयोगसे सहायकोंकी खोज और वैमनस्य आदि मध्यम तथा उत्तम पात्रगत [अनुभावों के द्वारा तथा] और मुख सूखने, नींद, ध्यान, जीभ फेरने आदि अधमपात्रगत अनुभावोंकेद्वारा उसका अभिनय किया जाता है॥[३८]१४०॥

(२३) अब उन्मादका [लक्षण करते हैं]—

[भूत-पिशाचादि रूप] ग्रह तथा [वात पित्तादि रूप] दोषोंके कारण मनका पथभ्रष्ट हो जाना 'उन्माद' कहलाता है और उसमें अनुचित कार्य करने लगता है।

[सूत्र २०५]—'विप्लुति' अर्थात् अस्थिरता, कहीं भी चित्तका न लगना। ग्रह तथा दोष दोनोंकी व्याख्या अपस्मारमें की जा चुकी है। अयुक्त अर्थात् अनुचित गाना, नाचना, पढ़ना, उठना, भागना, रोना, चिल्लाना, असम्बद्ध बकवाद करना, बिना बातके हँसना, राख या धूल फेंकना, देवताओंकी वस्तुओं [निर्माल्य] पीपल आदिके वृक्षोंपर टाँगे हुए घड़ों, [वीरघट] करवा, सकोरे आदि और आभरणादिका उपभोगादि। यह [उन्माद] उत्तमके विप्रलम्भमें और अधमके करुणमें व्यभिचारिभाव होता है। और अपस्मार बीभत्स तथा भयानक रसोंमें [व्यभिचारिभाव] होता है। [यह उन्माद तथा अपस्मारका एक भेद है। उनका दूसरा भेद यह भी है कि] वह [अर्थात् अपस्मार]मनकी विकलतामय होता है और यह [उन्माद] मनकी अस्थिरतारूप होता है यह इन [उन्माद तथा अपस्मार] का [दूसरा] भेद है।

(२४) अब दैन्य [नामक व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०६]—आपत्तियोंके कारण मनकी विकलता 'दैन्य' कहलाती है। [चेहरेकी] कृष्णता और ढकनेके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है। [३९]१४१।

'आपदो' दौर्गत्य-न्यक्कारादेः। स्वान्तनीचत्वं मनःक्लैब्यम्। काष्र्ण्यं वदन-श्यामता। अवगुण्ठनं शिरो-गात्रवरणम्। बहुवचनाच्छरीरासंस्कार-गौरवपरिहार-वस्त्रमालिन्याद्यैश्चानुभावैरभिनेतव्यमिति ॥ [३६] १४१ ॥

(२५) अथ व्रीडा—

[सूत्र २०७]—व्रीडाऽनुताप-गुर्वादेरधाष्टर्च्यं गात्रगोपकम्।

अकृत्यकरणादनु पश्चात् तापो मानसो विवेकः। गुरुर्मातापित्रादिः। आदि-शब्दात् प्रतिज्ञातानिर्वहण-गुरुव्यतिक्रम-अवज्ञान-असंस्तवादेर्विभावस्य ग्रहः। अधा-र्ष्ट्यमवैयात्यम्। गात्रगोपनेनोपलक्षणाद् अधोमुखचिन्तन-नखनिस्तोदन-भूविलेखन-वस्त्रांगुलीयस्पर्शनादेरनुभावस्य ग्रह इति ॥

(२६) अथ त्रासः—

[सूत्र २०८]—घोराच्चकितता त्रासः काय-सङ्कोच-कम्पितैः।
॥ [४०] १४२ ॥

'घोरं' भीषणं निर्घाताशनिपात-महाभैरवनाद-महारौद्रसत्त्व-शवदर्शनादि । 'चकितता' उद्वेगकारी चमत्कारः। अनर्थसम्भावनातः सत्त्वभ्रंशो भयमित्यनयोर्भेदः। बहुवचनात् स्तम्भ-रोमाञ्च-मूर्च्छा-गद्गद्वचनादिभिश्चायमनुभावैरभिनीयते इति ॥
॥ [४०] १४२ ॥

आपत्तिसे अर्थात् दुर्गति या अपमान आदिके कारण, अपने मनकी नीचता अर्थात् विकलता। कृष्णता अर्थात् मुखका काला पड़ जाना। अवगुण्ठन अर्थात् सिर और शरीरका ढक लेना। बहुवचनसे शरीरका [शुद्धि आदि रूप] संस्कारका अभाव, गौरवको भुला देना और वस्त्रोंकी मलिनता आदि अनुभावोंके द्वारा उसका अभिनय होता है ॥[३९]१४१॥

(२५) अब व्रीडा [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०७]—पश्चात्ताप अथवा माता-पिता आदि गुरुजनों [की उपस्थिति]के कारण धृष्टताका न करना 'व्रीडा' कहलाती है और उससे मुख शरीरादिको छिपाता है।

अनुचित कार्यके करनेके कारण बादको होनेवाला ताप अर्थात् मानसज्ञान [अनुताप कहलाता है]। माता-पिता आदि गुरु हैं। आदि शब्दसे प्रतिज्ञाको पूरा न कर सकने, गुरुओं की मर्यादाका उल्लंघन, अपमान और अपरिचय आदि विभावोंका ग्रहण होता है। अधाष्टर्च्य अर्थात् उद्दण्डताका अभाव। गात्रगोपनके उपलक्षण होनेसे, उससे सिर झुकाकर सोचने, नाखून चबाने, भूमि कुरेदने, कपड़े या अँगूठी आदिके छूने आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है।

(२६) अब त्रास [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०८]—भयंकर वस्तुको देखकर चकित हो जाना 'त्रास' कहलाता है। शरीर के सिकोड़ने और काँपनेके द्वारा [उसका अभिनय किया जाता है]।[४०]१४२।

भयंकर गर्जन, बिजली गिरना, महाभयंकर शब्द, अत्यन्त भीषण प्राणीका दर्शन आदि 'घोर' पदसे लिए जाते हैं। भयको उत्पन्न करनेवाला आश्चर्य 'चकितता' कहलाता है। [उस घोर दर्शनादिसे त्रास होता है। और] अनर्थकी होनेकी सम्भावनासे मानसिक बलका नाश 'भय' होता है। यह भय और त्रासका भेद है। बहुवचनसे स्तम्भ, रोमांच, मूर्च्छा,

(२७) अथ तर्कः—

[सूत्र २०६]—एकसम्भावनं तर्को वादादेरङ्गनर्तकः ।

'वादो' विप्रतिपत्तिस्तस्मात् । आदिग्रहणात् सन्देहबाधकबलोद्भूतपक्षान्तराभावज्ञानविशेष-प्रतीत्यभिलाषादेर्विभावाद् यद्येकस्य पक्षस्य सम्भावनं भवितव्यमनेनेति प्रत्ययः स तर्कः । अङ्गस्य भ्रू-शिरोऽङ्गुल्यादेर्नर्तक इति ॥

(२८) अथ गर्वः—

[सूत्र २१०]—आत्मन्याधिक्यधीर्गर्वो विद्यादेरन्यरीढया ॥

॥ [४१] १४३ ॥

'आधिक्यधीः' परजुगुप्साक्रान्तः स्वस्मिन बहुमानः । आदिशब्दाज्जाति-कुल-लाभ-बुद्धि-वाल्लभ्य-यौवनैश्वर्यादेर्विभावस्य ग्रहः । 'रीढा' अवज्ञा । तया । उपलक्षणात् पारुष्य-असूया-आधर्षण-अनुत्तरदान - अङ्गावलोकन- उपहसन - अलङ्कारव्यत्यासादिभिश्चानुभावैरभिनेतव्य इति ॥ [४१] १४३ ॥

(२६) अथौत्सुक्यम्—

[सूत्र २११]—इष्टाभिमुख्यमौत्सुक्यं स्मरणाद्यात् त्वरादिभिः ।

गद्गदवचन आदिके द्वारा भी इसका अभिनय किया जाता है ॥[४०]१४२॥

(२७) अब तर्क [व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०६]—वाद आदिके द्वारा एक पक्षकी सम्भावना 'तर्क' कहलाता है । उससे अंगोंका नचाना [रूप अनुभाव उत्पन्न होता है] ।

वाद अर्थात् मतभेद [विप्रतिपत्ति] । उससे [तर्क होता है] । आदि शब्दसे सन्देहके निवारक [प्रबल प्रमाण] के बलसे उत्पन्न दूसरे पक्षके अभावका ज्ञान और विशेष प्रतीतिकी इच्छा आदि विभावोंसे जो किसी एक पक्षकी सम्भावना, अर्थात् यह बात ऐसी होनी चाहिए इस प्रकारकी प्रतीति, वही 'तर्क' कहलाता है । अंग अर्थात् भौंह, सिर या अंगुलि आदिका नचाने वाला होता है ।

(२८) अब गर्व [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१०]—विद्या आदिके कारण अन्योंकी अवज्ञा करके अपनेको बड़ा समझना 'गर्व' कहलाता है । [४१] १४३ ।

'आधिक्यधीः' अर्थात् [अन्यके प्रति] घृणाके सहित अपने आपको बड़ा समझना । [विद्यादेः में प्रयुक्त] आदिशब्दसे जाति, कुल, लाभ, बुद्धि, [किसीकी] वल्लभता, यौवन, ऐश्वर्य आदि विभावोंका ग्रहण होता है । 'रीढा' अर्थात् अवज्ञा । उससे उपलक्षण द्वारा पारुष्य, असूया, रोब जमाने [धर्षण] उत्तर न देने, [अपने] अंगोंका देखने, [दूसरेका] उपहास करने और अलंकारोंका भिन्न स्थानोंपर प्रयोग करने आदि अनुभावोंके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है ॥ [४१] १४३ ॥

(२६) औत्सुक्य [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २११]—[इष्टके] स्मरण आदिके कारण इष्टके प्रति शीघ्रता आदिसे अभिमुख प्रवृत्त होना 'औत्सुक्य' कहलाता है ।

आभिमुख्यमौत्सुक्यम् । स्मरणमिष्टस्य । आद्यशब्दान्मनोज्ञदिदृक्षा-अभिष्वङ्ग-लोभादेर्विभावस्य ग्रहः । त्वरा मनो-वाक्-कायदृष्टि-चापलम् । आदिशब्दात् कृत्य-विस्मरण-दीर्घनिःश्वास-असम्बद्धवचन-स्वेद-हृत्तापादेरनुभावस्य ग्रह इति ।

(३०) अथावहित्था—

[सूत्र २१२]—धाष्टर्याद्विविक्रियारोधोऽवहित्थाऽत्र क्रियान्तरम् ॥

॥ [४२] १४४ ॥

'धार्ष्ट्य' प्रागल्भ्यम् । आदिशब्दाद् भय-लज्जा-गौरव-कुटिलाशयत्वादेर्विभावस्य ग्रहः । सर्वानुगतत्वख्यापनार्थं धाष्ट्र्यं प्रथममुपात्तम् । सभयादिरपि ह्यप्रगल्भो न शक्नोत्याकारं संवरीतुम् । 'विक्रिया' भ्रूविकार-मुखरागादिका, तस्या रोधः संवरणम् । रोधकारकत्वेनोपचाराच्चित्तविशेषोऽपि रोधः । न बहिःस्था चित्तवृत्तिरिति पृषोदरादित्वाद् 'अवहित्था' । अत्रावहित्थायां प्रस्तुतक्रियातोऽन्यकथनावलोकनकथा-भङ्गकृतकस्थैर्यादिकं क्रियान्तरमिति ॥ [४२] १४४ ॥

(३१) अथ जाड्यम्—

[सूत्र २१३]—जाड्यमिष्टादितः कार्याज्ञानं मौनानिमेषणैः ।

आभिमुख्य औत्सुक्य कहलाता है । स्मरण इष्टका [अभिप्रेत है । 'स्मरणाद्यात्' में] 'आद्य' शब्दसे सुन्दर वस्तुके देखनेकी इच्छा, प्रेम और लोभादि विभावों [कारणों] का ग्रहण होता है । त्वराका अभिप्राय मन, वाणी तथा शरीर और दृष्टिकी चपलता है । आदि शब्दसे कामको भूल जाने, लम्बी श्वास छोड़ने, असम्बद्ध बात करने, स्वेद, और हृदयकी जलन आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है ।

(३०) अब अवहित्था [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१२]—धृष्टता आदिसे उत्पन्न विकारको छिपानेका यत्न 'अवहित्था' कहलाता है । इसमें [आकार-विकृतिको छिपानेके लिए] दूसरी क्रिया की जाती है । [४२] १४४ ।

धृष्टता अर्थात् प्रगलभता आदि शब्दसे भय, लज्जा, गौरव, दुष्टाभिप्राय आदि कारणों [विभावों] का ग्रहण होता है । [धाष्ट्र्यंके] सबमें अनुस्यूत होनेके कारण सबसे पहले धृष्टता का ग्रहण किया है । सभय आदि व्यक्ति भी यदि प्रगल्भ न हो तो आकारको छिपानेमें समर्थ नहीं हो सकता है । विक्रिया अर्थात् भौंहोंका टेढ़ा होना या मुखका लाल आदि हो जाना आदि, उसका रोध अर्थात् छिपाना । [बाह्य विकारको] छिपानेका कारण होनेसे उस अभिप्रायकी चित्तवृत्ति-विशेषको भी 'रोध' कह सकते हैं । बाहर प्रकाशित न होने वाली चित्त-वृत्ति 'न बहिस्था' होनेसे 'अवहित्था' कहलाती है [यह अवहित्था पदका निर्वचन है] 'पृषोदरादिगण' पठित नियमसे इसकी सिद्धि होती है । इसमें अर्थात् अवहित्थामें प्रस्तुत क्रियासे भिन्न कथन, अवलोकन, बात समाप्त कर देना, बनावटी स्थिरता दिखलाना आदि दूसरी क्रियाएँ की जाती हैं ॥ [४२] १४४ ॥

(३१) अब जाड्य [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१३]—इष्ट आदिसे [अर्थात् इष्टप्राप्तिकी प्रसन्नतामें] कामको भूल जाना 'जाड्य' कहलाता है । मौन और टकटकी लगाकर देखनेके द्वारा [उसका अभिनय किया जाता है] ।

'इष्ट' प्रियं, तस्य दर्शन-श्रवणे अपीष्टे। आदिशब्दादनिष्टदर्शन-श्रवण-व्याध्यादेर्विभावस्य ग्रहः। कार्याज्ञानं नेत्राभ्यां पश्यतोऽपि श्रोत्राभ्यां शृण्वतोऽपि चेदानीं किं कृत्यमित्यनिश्चयः। नेदं वैकल्य-अचैतन्यस्वभावमित्यपस्मार-मोहाभ्यां भिन्नम्। 'मौनं' तूष्णीम्भावः। 'अनिमेषणं' अनिमेषनिरीक्षणम्। बहुवचनात् परवशत्वादिभिरनुभावैरभिनेतव्यमिति।

(३२) अथालस्यम्—

[सूत्र २१४]—कर्मानुत्साह आलस्यं श्रमाद्याज्जृम्भितादिभिः ॥ [४३] १४५ ॥

आदिशब्दात् सौहित्य-स्वभाव-व्याधि-गर्भादिभिर्विभावैः स्त्री-नीचानामनुद्यमरूपमालस्यं भवति। श्रमस्य व्यभिचारित्वेऽपि अन्यव्यभिचारिणं प्रति विभावत्वे न दोषः। व्यभिचारिता तु परस्परं व्यभिचारिणां स्थायित्वप्रसङ्गाद् दुष्टैव। एवं व्यभिचारिणाम् अनुभावत्वमपि भवत्येव। जृम्भितेन, आदिशब्दाद् आसितेनाहारवर्जितपुरुषार्थानारम्भादिभिश्चानुभावैस्तदभिनेतव्यम्। अलसोऽपि ह्यवश्यमाहारं करोत्येवेति ॥ [४३] १४५ ॥

इष्ट अर्थात् प्रिय, उसका दर्शन और श्रवण भी इष्ट [पदसे अभिप्रेत] है। आदि शब्दसे अनिष्टके दर्शन, श्रवण, व्याधि आदि कारणों [विभावों] का भी ग्रहण होता है। कार्य का ज्ञान न होना अर्थात् आँखोंसे देखते हुए और कानोंसे सुनते रहनेपर भी, अब क्या करना चाहिए इसका निश्चय न कर सकना। यह [जाड्य] न विकलता रूप है और न अचैतन्य रूप इसलिए [वैकल्य रूप] अपस्मार तथा [अचैतन्य रूप] मोह दोनोंसे भिन्न है। मौन अर्थात् चुप रहना। अनिमेषण अर्थात् टकटकी लगाकर देखना। बहुवचनसे परवशता आदि अनुभावोंके द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।

(३२) अब आलस्य [व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१४]—श्रम आदिके कारण कार्यमें उत्साहका न होना 'आलस्य' कहलाता है। जम्भाई आदिके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है। [४३] १४५।

[जृम्भितादिभिः में प्रयुक्त] आदि शब्दसे पेट भरा होना, [आलस्यका] स्वभाव, रोग, या गर्भ आदि कारणोंसे स्त्री और नीचोंकी उद्यमहीनता आलस्य कहलाता है। श्रमके व्यभिचारिभाव होनेपर भी दूसरे व्यभिचारिभावके प्रति विभाव [कारण] होनेमें कोई दोष नहीं है। व्यभिचारिभावोंकी परस्पर व्यभिचारिता [उनमेंसे एकके] स्थायिभाव बन जानेके कारण दूषित ही है। [अर्थात् व्यभिचारिभाव तो किसी स्थायिभावका ही होता है। यदि एक व्यभिचारिभावको दूसरेका व्यभिचारिभाव माना जाय तो पहला व्यभिचारी, व्यभिचारिभाव नहीं अपितु स्थायिभाव हो जायगा। इसलिए किसी व्यभिचारिभावको दूसरे व्यभिचारीका व्यभिचारिभाव नहीं माना जा सकता है। हां उनको विभाव और अनुभाव माना जा सकता है] इसी प्रकार व्यभिचारिभाव अनुभाव भी हो सकते हैं। जृम्भित शब्दसे और आदि शब्दसे बैठे-बैठे खानेके अतिरिक्त कोई काम न करने आदि अनुभावोंके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है। आलसी भी भोजन तो अवश्य ही करता है [इसलिए खानेको छोड़कर अन्य कोई काम न करना आलस्य कहलाता है ॥ [४३] १४५ ॥

अथ विबोधः—

[सूत्र २१५]—निद्राच्छेदो विबोधश्च शब्दादेरङ्गभङ्गवान् ।

आदिशब्दात् स्पर्श-स्वप्नान्त-आहारपरिणामादेर्विभावस्य ग्रहः । उपलक्षणात् जृम्भा-अक्षिविमर्दन-शयनमोक्षण-भुजाक्षेप-अंगुलित्रोटनादिरनुभावो द्रष्टव्यः । पर्यन्ते चकारः सर्वव्यभिचारिसमुच्चयार्थः इति ।

अथैषां रसादीनां मध्ये केषांचित् परस्परं कार्यकारणतामाह—

[सूत्र २१६]—केषाञ्चित् तु रसादीनामन्योन्यं हेतुकार्यता ॥ [४४] १४६ ॥

आदिशब्दाद् व्यभिचारिणाम् । यथा वीरादद्भुतः । महापुरुषोत्साहो हि जगद्विस्मयं फलं साक्षादनुसन्धत्ते । तथा द्रौपदीस्वयम्वरादौ वीराच्छृङ्गारोऽपि । रौद्राच्च वध-बन्धादिफलानन्तरं करुण-भयानकौ । तथा सर्वरसेभ्योऽनन्तरं सर्वे सजातीया रसा भवन्ति । यथा शृङ्गारिणं दृष्ट्वा शृङ्गारः, हसन्तं दृष्ट्वा हास्यः । इत्येवं सर्वरसेषु हेतु-फलभावो वाच्यः । सर्वरसानां चाभासा अनौचित्यप्रवृत्तत्वात् हास्यरसस्य कार-

---

(३३) अब विबोध [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१५]—शब्द आदिके कारण होने वाला निद्राभङ्ग 'विबोध' कहलाता है और उसमें अंगड़ाई आदि [अनुभाव] होते हैं ।

आदि शब्दसे छूने, स्वप्नकी समाप्ति, भोजनका परिपाक हो चुकने आदि [विभावों] कारणोंका ग्रहण होता है । [अंगभंगवान् पदके] उपलक्षण रूप होनेसे जम्भाई, आँखें मलना फिर सो जाने, खाट परसे उठ बैठने, हाथ फैलाने, अंगुलियाँ चटकाने आदि अनुभावोंको समझना चाहिए । [विबोधके वर्णनके साथ व्यभिचारिभावोंका वर्णन समाप्त होता है । इसलिए 'विबोधश्च' इस पदमें आया हुआ] अंतमें प्रयुक्त चकार व्यभिचारित्वके समुच्चयकेलिए है । [अर्थात् यहाँ तक सारे व्यभिचारिभावोंका वर्णन समाप्त हो गया इस बातका सूचक है] ।

अब इन रसादिमेंसे किन्हींके परस्पर एक-दूसरेके प्रति कार्य-कारणभावका कथन करते हैं—

[सूत्र २१६]—रसादिकोंमेंसे किन्हींका परस्पर एक-दूसरेके प्रति कार्य-कारणभाव होता है ॥ [४४] १४६॥

आदि शब्दसे व्यभिचारियोंका ग्रहण होता है । [रसोंके परस्पर कार्य-कारणभावका उदाहरण देते हैं] जैसे वीररससे अद्भुत रस [उत्पन्न होता है] । महापुरुषोंका उत्साह [जो वीररसका स्थायिभाव होता है] साक्षात् रूपसे जगत्के विस्मय रूप फलको [अर्थात् अद्भुत रसके स्थायिभावको] उत्पन्न करता है । और द्रौपदी स्वयम्वरादिमें [अर्जुनके पराक्रमको देखकर द्रौपदीके मनमें] वीररससे शृङ्गाररसकी भी उत्पत्ति होती है । और रौद्ररससे उसके वध या बन्ध रूप फलोंको देखकर करुण तथा भयानक रसोंकी उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार सब रसोंसे उनके बाद होनेवाले सजातीय रस उत्पन्न होते हैं । जैसे शृङ्गारयुक्तको देखकर [दूसरेमें] शृङ्गार, हँसते हुएको देखकर [दूसरेमें] हास्य [उत्पन्न होता है] । इस प्रकार सारे रसोंमें कार्य-कारणभाव समझना चाहिए । [अनौचित्यसे प्रवृत्त होनेवाले रस, रसाभास

णम् । रावणस्य ह्यविषयप्रवृत्तत्वात् शृङ्गाराभासः सतां हास्यमुपजनयति । हास्याभासादपि हास्यो भवति यथा—

लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एषः
सम्मन्यते यदि किमङ्ग वदाम नाम ?
यत् त्वत्र हासमुखरत्वममुष्य तेन,
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति ॥

व्यभिचारिणामपि उत्पाद्योत्पादकभावो यथा व्याधेर्निर्वेदः, चिन्ताविबोधाभ्यां स्मृतिः, श्रमादालस्यमित्यादि । व्यभिचार्याभासादप्यनौचित्यप्रवृत्तत्वाद् हास्यो भवतीति ॥ [४४] १४६ ॥

अथ रसानां स्थायिनां व्यभिचारिणामनुभावानां च कार्यभूताननुभावान् प्रतिपादयति—

[सूत्र २१७]—वेपथुः-स्तम्भ-रोमाञ्चाः स्वरभेदोऽश्रु-मूर्च्छनम् ।
स्वेदो वैवर्ण्यमित्याद्या अनुभावा रसादिजाः ॥[४५]१४७॥

आद्यशब्दात् प्रसाद-उच्छ्वास-निःश्वास-क्रन्दन-परिदेवित - उल्लुकसन - भूमिविलेखन-विवर्तन-उद्वर्तन-नखनिस्तोदन-भ्रुकुटि-कटाक्ष - तिर्यगधोमुखनिरीक्षण - प्रशंसन-हसन-दान-चाटुकार-आस्यरागादयः । कचित् स्थायिनो व्यभिचारिणश्च । यथायोगं रसानां स्थायिनां व्यभिचारिणानुभावानां च सहस्रसंख्या अनुभावा इति ॥ [४५] १४७ ॥

कहलाते हैं] अनौचित्यसे प्रवृत्त होनेके कारण सारे रसोंके रसाभास हास्यरसके कारण होते हैं । जैसे रावणका [सीताके अननुरक्त होनेके कारण] अविषयमें प्रवृत्त शृङ्गाराभास, सहृदयोंके भीतर हास्य उत्पन्न करता है । [अन्य रसाभासोंसे ही नहीं अपितु] हास्याभाससे भी हास्यरस उत्पन्न होता है । जैसे—

[रावणके] लोकोत्तर चरित्रोंको यदि यह लोक उचित नहीं समझता है तो हम क्या कह सकते हैं । किन्तु [अनुचित कर्म करके भी बेशर्मोंकी तरह] जो वह अट्टहास करता हुआ हँसता है उसको देखकर ऐसा कौन है जो कोख पकड़कर नहीं हँसता है । [हँसते-हँसते किस की कोखोंमें दर्द नहीं होने लगता है] ।

व्यभिचारिभावोंमें भी परस्पर उत्पाद्य-उत्पादकभाव होता है । जैसे व्याधिसे निर्वेद उत्पन्न होता है । चिन्ता तथा विबोधसे स्मृति, और श्रमसे आलस्य उत्पन्न होता है । अनौचित्य से प्रवृत्त होनेवाले व्यभिचारिभावसेभी हास्यरसकी उत्पत्ति होती है ॥[४४] १४६॥

अब रसोंके, स्थायिभावों और व्यभिचारिभावोंके [तीनोंके] कार्यभूत अनुभावोंका प्रतिपादन करते हैं—

[सूत्र २१७]—कम्प, स्तम्भ, रोमाञ्च, स्वरभेद, आँसू, मूर्च्छा, स्वेद, विवर्णता इत्यादि रसादिसे उत्पन्न होनेवाले अनुभाव होते हैं । [४५] १४७ ।

आद्य शब्दसे प्रसन्नता, उच्छ्वास, निश्वास, रोना-चिल्लाना, [उल्लुकसन] बाल नोचना, भूमि खोदना, लोटना-पोटना, नाखून चबाना, भ्रुकुटि कटाक्ष, इधर-उधर या नीचे देखना, प्रशंसा करना, हँसना, दान, चापलूसी और मुखका लाल पड़ जाना आदि [अनुभाव भी गृहीत होते हैं] । कहीं स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभाव भी [अनुभाव हो सकते हैं] ।

अथ ते प्रत्येकशो लक्ष्यन्ते । तत्र (१) वेपथुः—

[सूत्र २१८]—भयादेर्वेपथुर्गात्रस्पन्दो वागादिविक्रियः ।

आदिशब्दाद् रोग-हर्ष-शीत-रोष-प्रियस्पर्शादेर्विभावस्य ग्रहः । स्पन्दः किञ्चिच्चलनम् । वागादेरादिशब्दाद् गति-चेष्टादेर्विक्रिया यस्मात् । इत्यनुभावकथनम् ॥

(२) अथ स्तम्भः—

[सूत्र २१९]—यत्नेऽप्यङ्गाक्रिया स्तम्भो हर्षादिः, हा ! विषादवान् ॥

॥ [४६] १४८ ॥

अङ्गानां हस्त-पादादीनामन्तःपरिस्पन्देऽप्यक्रिया चलनाभावः स्तम्भः । आदिशब्दाद् विस्मय-भय-मद-रोगादेर्विभावस्य ग्रह इति ॥ [४६] १४८ ॥

(३) अथ रोमाञ्चः—

[सूत्र २२०]—रोमाञ्चः प्रियदृष्ट्यादेः रोमहर्षोऽङ्गमार्जनैः ।

आदिशब्दाद् व्याधि-शीत-क्रोध-स्पर्शादेर्विभावस्य ग्रहः । बहुवचनादङ्गमेदुर-प्रमुख-नेत्रविकास-दन्तवीणावादनादिभिरभिनेतव्यः ॥

रसोंके स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभावोंके और अनुभावोंके भी यथायोग्य सहस्रों अनुभाव हो सकते हैं ॥[४५]१४७॥

(१) अब उन अनुभावोंमें प्रत्येकका अलग-अलग लक्षण करते हैं । उनमें सबसे पहले वेपथुः [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१८]—भय आदिके कारण शरीरका किञ्चित् विचलित हो जाना 'वेपथु' कहलाता है और उससे वाणी आदिमें विकार आ जाता है ।

आदि शब्दसे रोग, हर्ष, शीत, क्रोध, प्रियके स्पर्श आदि विभावोंका ग्रहण होता है । स्पन्द अर्थात् तनिकसा हिल जाना । 'वागादेः' इसमें आदि शब्दसे गति और चेष्टा आदिमें जिससे विकार आ जाता है । यह [वेपथुः] अनुभावका कथन किया है ।

(२) स्तम्भ [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१९]—हर्ष आदिके कारण यत्न करनेपर भी अङ्गोंकी क्रियाका न होना 'स्तम्भ' कहलाता है । और उसमें 'हाय' आदि शब्दोंसे विषाद प्रकट होता है । [४६] १४८।

अङ्गोंका अर्थात् हाथ-पैर आदिके भीतर गति होनेपर भी बाहर उनका न चल सकना स्तम्भ कहलाता है । आदि शब्दसे विस्मय, भय, मद और रोगादि [अन्य कारणों] विभावों का ग्रहण होता है ॥[४६]१४८॥

(३) अब रोमाञ्च [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२०]—प्रियके देखने आदिसे उत्पन्न होनेवाला रोमहर्ष 'रोमाञ्च' कहलाता है । अङ्गोंके सहलानेकेद्वारा उसका अभिनय किया जाता है ।

आदि शब्दसे व्याधि, शीत, क्रोध, स्पर्श आदि विभावोंका ग्रहण होता है । बहुवचनसे अङ्गोंके फूल जाने, आँखोंके खिल जाने और दन्तवीणाके बजाने आदि अनुभावोंकेद्वारा उसका अभिनय करना चाहिए ।

(४) अथ स्वरभेदः—

[सूत्र २२१]—स्वरभेदः स्वरान्यत्वं मदादेर्हर्ष-हास्यकृत् ॥

॥ [४७] १४६ ॥

अन्यत्वमुपचयापचयाभ्यां भेदः । आदिशब्दाद् भय-जरा-हर्ष-क्रोध-राग-रौक्ष्यादेर्विभावस्य ग्रहः । उपलक्षणाद् व्रीडा-निर्वेदादयोऽप्यनुभावा द्रष्टव्या इति । ॥ [४७] १४६ ॥

(५) अथाश्रु—

[सूत्र २२२]—अश्रु नेत्राम्बु शोकाद्यैर्नासास्पन्दाक्षिरूक्षणैः ।

आद्यशब्दादनिमेषप्रेक्षण - आनन्द-अमर्ष-धूम-अञ्जन-जृम्भण-भय-पीडा-हास्यादेर्विभावस्य ग्रहः । नासायाः स्पन्दः श्लेष्मस्रवणम् । बहुवचनान्निष्ठीवन-गद्गदस्वरादेरनुभावस्य ग्रह इति ॥

(६) अथ मूर्च्छनम्—

[सूत्र २२३]—मूर्च्छनं घात-कोपाद्यैः खग्लानिर्भूमिपातकृत् ॥

॥ [४८] १५०॥

आद्यशब्दाद् मदादेर्विभावस्य ग्रहः । खग्लानिरिन्द्रियाणामभिभवः । उपलक्षणात् स्वेद-श्वासादयोऽप्यनुभावा इति ॥[४८] १५०॥

---

(४) अब स्वरभेद [रूप अनुभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२१]—मद आदिके कारण होनेवाली शब्दकी भिन्नता 'स्वरभेद' कहलाता है। और वह हर्ष तथा हास्यको उत्पन्न करनेवाला होता है ।[४७]१४६।

[स्वरकी] अन्यता अर्थात् उसके तीव्र या मन्द हो जानेसे होनेवाला भेद। आदि शब्दसे भय, बुढ़ापा, हर्ष, क्रोध, राग और रूक्षता आदि विभावोंका ग्रहण होता है। उपलक्षण रूप होनेसे व्रीडा तथा निर्वेद आदि अनुभाव भी समझ लेने चाहिए ॥[४७]१४६॥

(५) अब अश्रु [रूप अनुभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२२]—शोक आदिके कारण उत्पन्न होनेवाले नयनजलका नाम 'अश्रु' है। नथुने फड़कने और आँखोंके पोंछनेकेद्वारा [उसका अभिनय करना चाहिए]।

आद्य शब्दसे टकटकी लगाकर देखना, आनन्द, क्रोध, धुआँ, अञ्जन, जम्भाई, भय, पीड़ा, हास्य आदि विभावोंका ग्रहण होता है। नाकका स्पन्दन अर्थात् उससे श्लेष्माका प्रवाहित होना। बहुवचनसे थूकने और गद्गद स्वर आदि अनुभावोंका भी ग्रहण होता है।

(६) अब मूर्च्छा [रूप अनुभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२३]—प्रहार या कोप आदिके कारण उत्पन्न इन्द्रियोंकी असमर्थता 'मूर्च्छा' कहलाती है। और वह [मूर्छित व्यक्तिको] भूमिपर गिरा देने वाली होती है ।१५०।

आद्य शब्दसे मद आदि कारणोंका भी ग्रहण होता है। ग्लानि अर्थात् इन्द्रियोंका असमर्थ हो जाना। उपलक्षण होनेके कारण स्वेद और श्वास आदि अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ॥ [४८]१५०॥

(७) अथ स्वेदः—

[सूत्र २२४]—स्वेदो रोमजलस्रावः श्रमादेर्व्यजनग्रहैः ।

आदिशब्दाद् भय-हर्ष-लज्जा-रोग-ताप-ग्रह-दुःख-घर्म-व्यायामादेर्विभावस्य ग्रहः । बहुवचनाद् वाताभिलाष-स्वेदापनयनादिभिरप्यभिनेतव्य इति ।

(८) अथ वैवर्ण्यम्—

[सूत्र २२५]—छायाविकारो वैवर्ण्यं क्षेपादेर्दिङ्निरीक्षणैः ॥

॥ [४६] १५२॥

छाया शोभा तस्या विकारो विरूपत्वम् । क्षेपस्तिरस्कारः । आदिशब्दात् सन्ताप-भय-क्रोध-व्याधि-शीत-श्रम-तीव्रांशुकरादेर्विभावस्य ग्रहः । बहुवचनात् नख-निस्तोदन-व्रीडादिभिरप्यभिनेतव्यमिति ॥ [४६] १५१॥

अथ रसभावानन्तरोद्दिष्टस्याभिनयस्यावसरः । स च वाचिक-आङ्गिक-सात्त्विक-आहार्यभेदैश्चतुर्द्धा । तत्र प्रथमं वाचिकं लक्षयति—

[सूत्र २२६]—वाचिकोऽभिनयो वाचां यथाभावमनुक्रिया ।

वागनुकार्या प्रयोजनं हेतुरस्येति 'प्रयोजनम्' [हैम० ६-४-११७] इति 'इकण्'

---

(७) अब स्वेद [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२४]—श्रम आदिके कारण उत्पन्न होनेवाला रोमजलका स्राव 'स्वेद' कहलाता है । और पंखा हाथमें लेने आदिके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है ।

आदि शब्दसे भय, हर्ष, लज्जा, रोग, सन्ताप, ग्रह, दुःख, व्यायाम आदि कारणों [विभावों] का ग्रहण होता है । बहुवचनसे हवाकी इच्छा, पसीना पोंछना आदि अनुभावोंके द्वारा भी उसका अभिनय किया जाता है ।

(८) अब विवर्णता [रूप अनुभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२५]—अपमान आदिके कारण उत्पन्न होनेवाला मुखकी कान्तिका विकार 'वैवर्ण्य' कहलाता है । इधर-उधर देखने आदिके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है ।

। [४६] १५१ ।

छाया अर्थात् [मुखकी] शोभा । उसका विकार अर्थात् बिगड़ जाना । क्षेप अर्थात् तिरस्कार । आदि शब्दसे सन्ताप, भय, क्रोध, रोग, शीत, थकावट और धूप आदि विभावों का ग्रहण होता है । बहुवचनसे नाखून चबाने और लज्जा आदिके द्वारा भी इसका अभिनय किया जाता है यह सूचित किया है ॥ [४६] १५१ ॥

अब रस और भावोंके अनन्तर कहे हुए अभिनय [के निरूपण] का अवसर आता है । वह [अभिनय] वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक और आहार्य [अर्थात् वेष-भूषादि रूप] चार प्रकारको होता है । उनमेंसे सबसे पहले वाचिक [अभिनय] का लक्षण करते हैं—

[सूत्र २२६]—[वक्ताके] भावके अनुसार [उसकी] वाणीका अनुकरण वाचिक [अभिनय] कहलाता है ।

अनुकरण की जाने वाली वाणी [का अनुकरण] जिसका 'प्रयोजन' हेतु है । वह हेम 'चन्द्रकृत' हेम व्याकरणके 'प्रयोजनम्' इस सूत्रसे 'इकण्' प्रत्यय होकर 'वाचिक' पद बनता

वाचिकः । सामाजिकानामाभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यते अर्थोऽनेनेति अभिनयः । वाचां संस्कृत-प्राकृतादीनां सार्थिकानामनर्थिकानां वा । यथाभावं क्रोध-अहङ्कार-जुगुप्सा-उत्साह-विस्मय-हास-रति-भय-शोक - सुख-दुःख-मोह-लोभ-माया-असूया-शङ्काऽऽदीनां, वेपथु-स्तम्भ-रोमाञ्च-मूर्च्छा-वैवर्ण्य-प्रसादादीनां वा भावानामनतिक्रमेण । तथा च कवयः 'सक्रोधं' 'सावेगं' इत्यादीन्यनुकार्यभावप्रकाशकानि क्रियाविशेषणान्युपनिबध्नन्ति । तेनैकेनोक्तमपरस्य यथाभावं अनुवदतोऽनुवाद एव न वाचिकोऽभिनय इति । अनुक्रिया च वागादीनां तदध्यवसायवशात् न पुनर्वस्तुतः । रामादेरनुकार्यस्य नटेन प्रेक्षकैर्वा स्वयमदृष्टत्वात् । अनुकर्ता ह्यनुकार्यमदृष्ट्वा नानुकर्तु मलम् । प्रेक्षकोऽपि चादृष्टानुकार्यो नानुकर्तुरनुकर्तृत्वमनुमन्यते । तदयं नटो रामादेश्चरितं कविनिबद्धमधीत्य अत्यन्ताभ्यासवशतः स्वयं दृष्टमनुमन्यमानो अनुकरोमि इत्यध्यवस्यति । परमार्थस्तु लोकव्यवहारमेवायमनुवर्तते । प्रहृष्टोऽपि हि रामेण रुदिते रोदिति, न तु हसति । विषण्णोऽपि च हसिते हसति, न तु रोदितीत्यादि ।

प्रेक्षकोऽपि रामादिशब्दसंकेतश्रवणादतिहृद्यसंगीतकाहितवैवश्याच्च स्वरूप-

---

है । [आगे अभिनय शब्दका निर्वचन करते हैं] । आभिमुख्यसे अर्थात् साक्षात्कारात्मक रूप से [अभिनेतव्य] अर्थ जिसके द्वारा सामाजिकोंके पास पहुँचाया जाता है वह [अभिनीयते इस निर्वचनके अनुसार] अभिनय कहलाता है । वचनोंका अर्थात् संस्कृत अथवा प्राकृत भाषामय वचनोंका अथवा सार्थक या अनर्थक वचनोंका । [वक्ताके] मनके अनुसार 'यथाभावं' अर्थात् क्रोध अहङ्कार, जुगुप्सा, उत्साह, विस्मय, हास्य, रति, भय, शोक, सुख-दुःख, मोह-लोभ माया, असूया, शंका आदि [भावों] का, तथा कम्प, स्तम्भ, रोमाञ्च, मूर्च्छा, वैवर्ण्य तथा प्रसन्नता आदि रूप भावोंका अतिक्रमण किए बिना [अभिनय करना 'यथाभावमनुक्रिया' कहलाती है] । इसीलिए कविगण 'सावेगं' सक्रोधं' इत्यादि अनुकार्य भावके प्रकाशक पदोंका प्रयोग करते हैं । इसलिए एकके द्वारा कहे गएका, दूसरेके द्वारा यथोचित भावका अनुकरण किए बिना जो [अनुवाद करना] कथन करना है वह केवल 'अनुवाद' कहलाता है उसको वाचिक अभिनय नहीं कहा जाता है । क्योंकि वाचिक अभिनयमें यथाभावानुक्रिया भावोंका अनुकरण आवश्यक है] । और वाणी आदिका अनुकरण [यह रामका कथन है]इस प्रकारके निश्चयके कारण होता है वास्तविक रूपमें नहीं । क्योंकि नटने अथवा प्रेक्षकोंने किसीने भी अनुकार्य रामादिको स्वयं नहीं देखा है । अनुकरण करने वाला [नट] अनुकार्य [रामादि]को देखे बिना उसका अनुकरण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है । और प्रेक्षक भी अनुकार्यको देखे बिना अनुकरण करने वालेको अनुकर्ता नहीं मान सकता है । इसलिए यह नट कविके द्वारा निबद्ध राम आदिके चरित्रको पढ़कर अत्यन्त अभ्यासके द्वारा स्वयं देखा जैसा मान कर 'मैं [इस समय] उसका अनुकरण कर रहा हूँ' ऐसा निश्चय करता है [इसी अध्यवसायके कारण उसके व्यापारको अनुकरण कहा जाता है] वास्तवमें तो वह [रामके व्यापार का नहीं अपितु] लोक-व्यवहारका ही अनुकरण करता है । क्योंकि स्वयं प्रसन्न होनेपर भी रामके रोनेपर रोता है हँसता नहीं है । और स्वयं दुःखी होनेपर भी [राम आदिके] हँसने पर हँसता है, रोता नहीं है । इत्यादि

और प्रेक्षक भी [नटके विषयमें] राम आदि शब्द-संकेतको समझने तथा अत्यन्त

देश-कालभेदेनातथाभूतेष्वप्यभिनेयचतुष्टयाच्छादनात् तथाभूतेष्विव नटेषु रामादीनध्यवस्यति। अत एव तासु तासु सुख-दुःखरूपासु रामाद्यवस्थासु तन्मयीभवति।

अपरे तेषु तु नामसंकेत-संगीतकाभिनयेषु रामाद्यध्यवसायहेतुषु उपदेशपरमेतदिति मन्यमाना हेयोपादेय-हानोपादानैकतानचेतसो जायन्ते।

अथवा इह तावत् इत्थमाकृतिः, इत्थं गतिः, इत्थं जल्पितं, इत्थं क्रोधादिललितं इत्येवमशेषमपि रामादिललितं ऋषीणां कालदर्शिना ज्ञानेन निश्चितं कवयो नाटके निबध्नन्ति। तत्र चार्थे मुनिज्ञानविश्वासान्नटस्य साक्षाद् दर्शनमेव।

अपि च कदाचिन्मांसदृशो वस्तुस्वरूपे भ्राम्यन्ति न पुनर्ज्ञानदृशः। तत्र मुनिज्ञानदर्शितं अर्थं दर्शनादप्यधिकतरमवगतं वस्तुत एवानुकुर्वाणो दुर्विदग्धबुद्धिभिः कथङ्कारमपाक्रियते वराको नटः? प्रेक्षकाणां तु सत्यसति च स्वदर्शने नटेषु रामाद्यध्यवसाय एव। अन्यथा तु कृत्रिममेतदिति जानन्तो न रामादिसुख-दुःखेषु तन्मयीभवेयुः। उन्मिषन्ति च भ्रान्तेरपि शृङ्गारादयः। कामिनी-वैरि-चौरादीनधिस्वप्नमभिपश्यतः पुंसः कथमपरथा रसप्ररोहरोहिणस्तत्र स्तम्भादयोऽनुभावाः प्रादुर्भवेयुरिति।

मनोहर संगीतको सुनने आदिके कारण विवश होकर, स्वरूप देश और कालका भेद होनेसे उस प्रकारके [अर्थात् रामादि रूप] न होनेपर भी [वाचिक, आंगिक, सात्त्विक तथा आहार्य रूप] चारों प्रकारके अभिनयोंके द्वारा [नटके] स्वरूपका आवरण कर लिए जानेसे उस प्रकारके [अर्थात् रामादि रूप] बने हुए, नटोंमें रामका निश्चय कर लेते हैं। इसीलिए उस प्रकारकी सुख-दुःखमयी राम आदिकी अवस्थाओं में तन्मय-सा हो जाता है।

दूसरे लोग [यह कहते हैं कि नटमें] राम आदिका निश्चय कराने वाले नामके संकेत संगीत और अभिनय आदि हेतुओंके उपस्थित होनेपर यह [अभिनय आदि सब सामग्री मनोरञ्जनके साथ-साथ कर्तव्यके] उपदेश देनेके लिए है ऐसा मानकर हेय तथा उपादेयके परित्याग अथवा ग्रहणमें ही तत्पर हो जाते हैं।

अथवा [तीसरा मत यह है कि राम आदि] अनुकार्य पुरुषोंकी इस प्रकारकी आकृति, इस प्रकारकी गति, इस प्रकार की बात-चीत, और इस प्रकारका क्रोधादिकी चारुता थी। इस प्रकार रामादिके सम्पूर्ण चरित्रको ऋषियोंके त्रिकालदर्शी ज्ञानके द्वारा निश्चय करके ही कविगण नाटकमें उसकी रचना करते हैं। और उसके विषयमें मुनिजनोंके विश्वासके कारण नटका [राम रूपमें दर्शन] साक्षात् [रामका ही] दर्शन है।

और दूसरी बात यह भी है कि इन चर्म-चक्षुओंसे देखने वाले लोग भ्रांत हो सकते हैं किन्तु ज्ञान-चक्षुओंसे देखने वाले [मुनिगण भ्रांत] नहीं [हो सकते हैं]। इसलिए मुनियों [के सदृश कवियों] के ज्ञान द्वारा प्रदर्शित [अर्थ] वास्तविक देखे हुए अर्थसे भी अधिक अच्छी तरहसे अवगत अर्थको वास्तविक रूपमें अनुकरण करने वाले बिचारे नटको अल्पबुद्धि [यह अनुकरण नहीं है इस प्रकार] निराकरण कैसे कर सकते हैं? प्रेक्षकों ने [अनुकार्यको] देखा हो या न देखा हो किन्तु उनको [रामादिका अभिनय करते समय] नटोंमें राम आदि [के तादात्म्य] का निश्चय होता ही है। अन्यथा यह बनावटी [राम] है इस प्रकारका ज्ञान होनेपर रामादिके सुख-दुःखोंमें तन्मयताको प्राप्त नहीं कर सकते हैं। [इस प्रकार नटमें रामादि बुद्धिको चाहे भ्रम ही क्यों न माना जाय किन्तु उससे सामाजिकमें शृङ्गारादिकी प्रतीति

अथाङ्गिकः—

[सूत्र २२७]—कर्मणोऽङ्गैरुपाङ्गैश्च साक्षाद् भावनमाङ्गिकः ॥
॥[५०]१५२॥

कर्मणोऽनुकार्यचेष्टाया अङ्गैः शिरो-हस्त-वक्षः-कटी-पार्श्व-पादादिभिः, उपाङ्गैश्च नेत्र-भ्रू-पक्ष्म-अधर-कपोल-चिबुकादिभिः। साक्षाद् भावनं परोक्षस्यापि सामाजिकेभ्यः साक्षादिव करणमाङ्गिकः। अङ्गानि प्रयोजनं हेतवो यस्येत्याङ्गिकः। 'यथाभावं' इति, अत्रापि स्मर्यते। तेन रामादेरनुकार्यस्य ये क्रोध-उत्साह-आवेग-वैमनस्य-हर्ष-वैवर्ण्य-आस्यराग-भ्रुकुट्यादयश्चेष्टाविमिश्रा भावाः, तैरनस्यूतस्य कर्मणः साक्षादिव भावनं न तु केवलस्येति।

तत्रोत्तमाङ्गस्याकम्पित-कम्पितादयस्त्रयोदश।

होती ही है। क्योंकि] भ्रांतिसे भी शृङ्गारादिकी उत्पत्ति हो सकती है। अन्यथा स्वप्नमें कामिनी, वैरी चोर आदिको देखने वालोंके भीतर रसके चरम सीमापर पहुँच जानेपर [रसोंके अनुकूल] स्तम्भादि अनुभाव कैसे होते हैं?

अब आंगिक [अभिनयका वर्णन करते हैं]—

[सूत्र २२७]—अंगों और उपाङ्गोंके द्वारा कार्योंका साक्षात्कार कराना आंगिक [अभिनय कहलाता] है। [५०] १५२।

कार्योंका अर्थात् अनुकार्य [रामादि] की चेष्टाका। अंगोंके द्वारा अर्थात् सिर हाथ छाती कमर पार्श्व और पैर आदि रूप [मुख्य अंगों] के द्वारा। और उपांगों अर्थात् नेत्र भौंह, पलक, अधर, कपोल, ठोड़ी आदि [गौण] उपांगोके द्वारा। साक्षात् भावन अर्थात् परोक्ष अर्थको भी सामाजिकोंके लिए साक्षात्-सा बना देना। आंगिक [अभिनय कार्य] है। अङ्ग जिसका प्रयोजन अर्थात् हेतु है वह आङ्गिक है [यह आङ्गिक शब्दका निवर्चन हुआ]। इस कारिकाके पूर्वार्द्धमें पठित 'यथाभावनुक्रिया'मेंसे] 'यथाभावं' यह भाग यहाँ [आङ्गिकके लक्षणमें] भी संगत होता है। इसलिए रामादि अनुकार्यके जो क्रोध, उत्साह, आवेग, वैमनस्य, हर्ष, वैवर्ण्य, मुखराग और भ्रूकुटि आदिसे युक्त चेष्टाविमिश्रित भाव हैं उनसे समन्वित कार्योंका सा साक्षात्करण [होना आवश्यक है], केवल [भावानुकरण रहित कर्म] का नहीं।

इस प्रकार आङ्गिक अभिनयका लक्षण करनेके बाद अब ग्रंथकार भरत मुनिके नाट्य शास्त्रके आधारपर आङ्गिक अभिनयोंका संक्षिप्त विवेचन करते हैं।

भरतमुनिके नाट्यशास्त्रके आठवें अध्यायमें इन आङ्गिक अभिनयोंका विशेष रूपसे वर्णन किया गया है उसीका संकेत करते हुए ग्रंथकार आगे प्रतिपादन करते हैं।

ग्रन्थकारने यहाँ अङ्गों और उपाङ्गोंके द्वारा किए जाने वाले अभिनयको आङ्गिक अभिनय कहा है। भरतमुनिने इन अङ्गों तथा उपाङ्गोंका विभाजन निम्न प्रकार किया है—

''तत्र शिरो हस्तोरः पार्श्वकटीपादतः षडंगानि।
नेत्र-भ्रू-नासाधर - कपोल - चिबुकन्युपांगानि ॥ ८-१४ ॥

उनमेंसे सिरके कम्पित आकम्पित आदि तेरह प्रकार [के अभिनय होते] हैं।

इन छः अङ्गोंमेंसे सिरके तेरह प्रकारके अभिनयोंका संकेत यहाँ ग्रन्थकारने किया है।

दृष्टेः कान्ताभयानकादयः षट्त्रिंशत् ।

नेत्रतारकयोः भ्रमण-वलनादयो बहवः क्रियाभेदाः समसाच्यादयो दर्शन-प्रकाराश्च ।

अक्षिपुटयोरुन्मेष-निमेषादयो बहवः ।

भ्रुवोरुत्क्षेप-पतनादयः सप्त । नासिकाया नता-मन्दादयः षट् । गण्डयोः क्षाम-

---

उनका उल्लेख नाट्यशास्त्रमें इस प्रकार किया गया है—

मुखजेऽभिनये विप्रा नानाभावरसाश्रये ।
शिरसः प्रथमं कर्म गदतो मे निबोधत ॥ ८-१७ ॥
आकम्पितं कम्पितं च धुतं विधुतमेव च ।
परवाहितमाधूतं अवधूतं तथांचितम् ॥ १८ ॥
निहंचितं परावृत्तमुत्क्षिप्तं चाप्यधोगतम् ।
ललितं चेति विज्ञेयं त्रयोदशविधं शिरः ॥ १६ ॥

दृष्टिके कान्ता, भयानका आदि छत्तीस प्रकार होते हैं ।

भरतमुनिने दृष्टिके इन छत्तीस प्रकारोंके नाम निम्न प्रकार गिनाए हैं—

कान्ता भयानका हास्या करुणा चाद्भुता तथा ।
रौद्रा वीरा च बीभत्सा विज्ञेया रसदृष्टयः ॥ ४१ ॥
स्निग्धा हृष्टा च दीना च क्रुद्धा दीप्ता भयान्विता ।
जुगुप्सिता विस्मिता च स्थायिभावेषु दृष्टयः ॥ ४२ ॥
शून्या च मलिना चैव श्रांता लज्जान्विता तथा ।
कुंचिता चाभितप्ता च जिह्मा सललिता तथा ॥ ४३ ॥
वितर्किताधर्मुकुला विश्रांता विलुप्ता तथा ॥ ४४ ॥
आकेकरा विकोशा च त्रस्ता च मदिरा तथा ।
षट्त्रिंशद् दृष्टयो ह्येतास्तासु नाट्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ४५ ॥

नेत्र और तारकोंके भ्रमण, वलन आदि बहुतसे क्रियाभेद होते हैं ।

सम और वक्र [साची] आदि दर्शनके प्रकार हैं ।

इस सम आदि दर्शन प्रकारोंका वर्णन करते हुए भरतमुनिने लिखा है—

अथात्रैव प्रवक्ष्यामि प्रकारान् दर्शनस्य तु ।
समं साच्यनुवृत्ते च ह्यालोकित-विलोकिते ।
प्रलोकितोल्लोकिते चाप्यवलोकितमेव च ॥ १०६ ॥ ८ ॥

[अक्षि] नेत्रपुटोंके उन्मेष, निमेष आदि बहुतसे भेद होते हैं ।

भरतमुनिने इन नेत्रपुटोंके अभिनय-भेदोंका निरूपण निम्न प्रकार किया है—

तारागतोऽस्यानुगतं पुटकर्म निबोधत ।
उन्मेषश्च निमेषश्च प्रसृतं कुञ्चितं समं ।
विवर्तितं सस्फुरितं पिहितं सविताडितम् ॥

भौंहोंको उठाना-गिराना आदि सात [अभिनय प्रकार होते हैं] । नासिकाके नता, मन्दा आदि छः । ठोड़ीके कुट्टन, खण्डन आदि बहुतसे [अभिनय प्रकार होते हैं] । गालोंके

फुल्लादयः षट्। अधरस्य विवर्तन-कम्पादयः षट्। चिबुकस्य कुट्टन-खण्डनादयो बहवः। ग्रीवायाः समा-नतादयो नव। हस्तयोः पताक-त्रिपताकादयश्चतुःषष्टिः।

वक्षस आभुग्न-निर्भुग्नादयः पञ्च। पार्श्वयोर्नत-समुन्नतादयः पञ्च। उदरस्य क्षाम-खल्ल-पूर्णलक्षणास्त्रयः। कट्याश्छिन्नानिवृत्तादयः पञ्च। ऊर्वोः कम्पन-वलनादयः पञ्च। जङ्घयोरावर्तित-नतादयः पञ्च। पादयोरुद्घटित-समादयः षट्। तथैकपादप्रचाररूपाः- समपादा-स्थितावर्तिकादयो भौम्यः षोडश। अतिक्रांत-अपक्रांतादयः षोडश आकाशिक्यश्च 'चार्यः'। स्थिरहस्त-पर्यस्तकादयो अङ्गहारा द्वात्रिंशत्।

पिचक जाना, या फूल जाना आदि छः, अधरके फड़कना, काँपना आदि छः, ठोड़ीके कुट्ट, खण्डन आदि बहुतसे [अभिनय प्रकार होते हैं]। गर्दनके समा, नता आदि नौ, हाथोंके पताका, त्रिपताकादि ६४ प्रकार होते हैं।

छातीके आभुग्न, निर्भुग्न आदि पाँच, पार्श्वोंके नत, समुन्नत आदि पाँच, उदरके दुर्बल, खाली और भरा आदि तीन, कमरके छिन्न अनिवृत्त आदि पाँच, जाँघों के कम्पन, लपेटना आदि पाँच, जंघाओंके आवर्तित नत आदि पाँच [अभिनय प्रकार होते हैं]। पैरोंके उद्घटित, सम आदि छः [अभिनय प्रकार होते हैं]। और एक पैरसे चलने रूप समपाद, स्थित, आवर्तित आदि सोलह प्रकारकी भूमिपर की जाने वाली 'चारी' तथा अतिक्रांत अपक्रान्त आदि सोलह प्रकारकी आकाशीय 'चारी' एवं स्थिर हस्त पर्यस्तक आदि बत्तीस प्रकारके अङ्गहार [ये सब आङ्गिक अभिनयके अन्तर्गत आते हैं]।

इसमें ग्रन्थकारने जिन 'चारी', 'अङ्गहार' आदि आङ्गिक अभिनय भेदोंका उल्लेख किया है उनका वर्णन नाट्यशास्त्रके दशम अध्यायमें विस्तारपूर्वक दिया गया है। उसमें 'चारी'का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

एक पादप्रचारो यः सा चारीत्यभिसंज्ञिता।
द्विपादक्रमणं यत्तु करणं नाम तद्भवेत्॥ १०-३॥

अर्थात् एक पैरकेद्वारा चलनेका नाम 'चारी' और दोनों पैरोंसे परिक्रमण करनेको 'करण' कहते हैं। नाटकमें 'चारी'के महत्त्वका प्रदर्शन करते हुए भरतमुनिने लिखा है—

चारीभिः प्रसृतं नृत्तं चारीभिश्चेष्टितं तथा।
चारीभिः शस्त्रमोक्षश्च चार्यो युद्धे च कीर्तिताः॥ ५॥
यदेतत् प्रस्तुतं नाट्यं तच्चारीष्वेव संस्थितम्।
न हि चार्या विना किंचिन्नाट्येऽङ्गं सम्प्रवर्तते॥ ६॥

नाट्यमें चारीके महत्त्वका प्रतिपादन करनेके बाद भरतमुनिने आग सोलह प्रकारकी भौमी और सोलह प्रकारकी आकाशिकी चारियोंके नाम गिनाकर उनके लक्षण विस्तारपूर्वक दिखलाए हैं। इन सबको देखना चाहें तो नाट्यशास्त्रके दशम अध्यायमें देखना चाहिए। यहाँ ग्रन्थकारने उनके नामोंका संकेतमात्र किया है। वे नाम निम्न प्रकार गिनाए गए हैं—

समपादा स्थितावर्ता शकटाख्या तथैव च।
अध्यर्धिका चाषगतिर्विच्यवा च तथा परा॥ ८॥
एडकाक्रीडिता बद्धा उरूद्वृत्ता तथांकिता।
उत्स्पन्दिताथ जनिता स्यन्दिता चापस्यन्दिता॥ ६॥

तलपुष्प पुटवर्तितादीनि करणान्यष्टोत्तरं शतमित्यादिः सर्वोऽपि चेष्टाविषयो अङ्गोपाङ्गप्रभवत्वाद्-आङ्गिक एवाभिनयः ।

गतयोऽप्येवम् । तत्रोत्तम-मध्यम-नीचानां क्रमेण धीरा मध्यमा द्रुता च सामान्येन गतिः । विशेषस्तु वृद्ध-व्याधित-क्षधित-श्रांत-तपःक्लांत-क्षुभित-सावहित्थ-शोक-शृङ्गारान्वित-स्वच्छन्दादीनां मन्थरा । हर्ष-आवेग-कुतूहल-भय-औत्सुक्यादि-मतां त्वरिता । प्रच्छन्नकामुक-वैरि-चौर-रौद्रसत्त्वादिशङ्कितादीनां निःशब्दपदसञ्चारा उन्मार्गा दिगवलोकनवती च । शीत-वर्षार्दितयोः कम्पमाना सम्पीडिताङ्गा । घर्मार्तस्य स्वेदापनयना छायावलोकनवती । प्रहारार्त-स्थूलयोरङ्गाकर्षण-श्वासवती स्थिरा च । यतिनां नेत्रचापल्य-पुरतो युगमात्रनिरीक्षणवती । उन्मत्त-मत्तयोर्विघूर्णितनेत्रा स्खलिता

समोत्सारितमतल्ली मतल्ली चेति षोडश ।
एता भौम्यः स्मृताश्चार्यः शृणुताकाशिकीः पुनः ॥ १० ॥

इन सोलह भौमी चारियोंके नाम गिनानेके बाद भरतमुनिने सोलह प्रकारकी आकाशिकी चारियोंके नाम दिए हैं जो निम्न प्रकार हैं—

अतिक्रांता ह्यपक्रांता पार्श्वक्रांता तथैव च ।
ऊर्ध्वजानुश्च सूची च तथा नूपुरपादिका ॥ ११ ॥
डोलापादा तथाक्षिप्ता आविद्धोद्वृत्तसंज्ञिते ।
विद्युद्भ्रांता ह्यलाता च भुजंगत्रासिता तथा ॥ १२ ॥
मृगप्लुता च दण्डा च भ्रमरी चेति षोडश ।
आकाशिक्यः स्मृता ह्येता लक्षणं च निबोधत ॥ १३ ॥

तलपुष्प पुटवर्तिता आदि एक सौ आठ प्रकारके करण होते हैं [द्विपादक्रमणं यत्तु करणं नाम तद् भवेत्] इस प्रकार चेष्टाका सारा ही विषय अंगों और उपांगोंके द्वारा होने वाला होनेके कारण आंगिक अभिनय कहलाता है ।

इसी प्रकार गतियाँ भी [आंगिक अभिनयके भीतर ही आती हैं । भरतमुनिने बारहवें अध्यायमें गतिप्रचारका विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है । उसके आधारपर गतियोंका संक्षिप्त विवरण ग्रंथकार यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं] । उनमेंसे उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रोंकी साधारणतः क्रमशः धीरा, मध्यमा तथा द्रुता गति होती है । विशेष रूपसे रोगी, वृद्ध, भूखे, थके हुए, तपसे क्षीण हुए, क्षुभित, आकार-गोपनमें लगे हुए [सावहित्थ] शोकयुक्त या भृङ्गार युक्त और स्वच्छन्दादिकी गति मन्थर होती है । हर्ष, आवेग, कौतूहल, भय, औत्सुक्य आदिसे युक्त व्यक्तियोंकी गति तेज [त्वरिता] होती है । प्रच्छन्न-कामुक, वैरी, चोर और भयानक प्राणियोंसे डरे हुए आदि व्यक्तियोंकी धीरे-धीरे, आवाज़ न होने पावे इस प्रकार पैर रखते हुए, रास्ता छोड़कर और चारों ओर देखते हुए चलनेवाली गति होती है । जाड़े तथा वर्षासे पीड़ितोंकी गति काँपते हुए और शरीरको सिकोड़े हुए होती है । धूपसे संतप्त व्यक्तिकी पसीना पोंछते हुए और छायाकी खोज करते हुए गति होती है । प्रहारसे आर्त और मोटे आदमियोंकी अपने शरीरको खींचते हुएसी हाँफनेसे युक्त और स्थिर-सी गति होती है । साधुओंकी गति नेत्रोंकी चपलतासे रहित और सामनेकी ओर थोड़ी दूर तक देखने वाली होती है । पागल और मदपान किए हुए व्यक्तियोंकी गति आँखें चढ़ाए हुए और लड़खड़ाते हुए

च। विदूषकस्य असम्बद्धेक्षणवती। जले पादविकर्षवती, प्रतरणे जठर-शय-काया-बाहुभ्यां जलविपाटनवती च। जलह्रियमाणस्य विसंस्थुलाङ्ग-केश-वसनवती। अन्ध-अन्धकारगतयोः आकृष्यमाणमन्दपदा पुरःप्रसारितविलोलहस्ता च। आरोहणे ऊर्ध्वावलोकनपरा, विपरीता त्ववरोहणे। आकाशे समाभ्यां पादाभ्यां, वाहनैः, पक्षाभ्यां वा। आकाशान्यतो विसंस्थुलांगकेश-अंशुका। इत्याद्यनेको गतिप्रकार इति।

तथा रूपस्य शिरसि हस्तौ कृत्वा किञ्चिदास्यचालनानिमिषप्रेक्षणाभ्याम्, शब्दस्य शिरसा पार्श्वनतेन, स्पर्शस्य नेत्राकुञ्चनेन, रस-गन्धयोश्चैकोच्छ्वासेनाभिनयः। सर्वोऽपि चाभिनय इष्टो, मध्योऽनिष्टश्चेति त्रिप्रकारः। तत्रेष्टः सौमुख्य-पुलक-गात्र-नेत्रविकासादिना क्रियते। मध्यो माध्यस्थ्येन। अनिष्टः शिरःपरावर्तन-नेत्र-नासाविकोणनादिति। चतुर्विधश्चात्र मुखरागः, प्रसन्नः, स्वाभाविको, रक्तः, श्यामश्चेति रसौचित्यानतिक्रमेण भवति। यदपि सर्वशरीरसाध्यं भूपातादिकं तदप्याङ्गिक एव। अङ्गोपाङ्गरूपत्वाच्छरीरस्येति॥ [५०] १५२॥

अथ सात्त्विकः—

[सूत्र २२८]—सात्त्विकः स्वरभेदादेरनुभावस्य दर्शनम्।

होती है। विदूषककी गति असम्बद्ध बातोंको देखते हुए होती है। पानीमें, पैरोंको घसीटते हुए, तैरते समय पेट, हाथ, शरीर तथा बाहुओंसे जलको चीरते हुए, और जलमें बहते हुएकी अस्त-व्यस्त हाथ-पैर, केश तथा वस्त्रोंसे युक्त गति होती है। अन्धों और अन्धकारमें चलने वालों की धीरे-धीरे पैरोंको खचेड़ते हुए और आगेकी ओर फैले हुए हाथको हिलाते हुए [गति होती है]। ऊपर चढ़ते समय ऊपरकी ओर देखते हुए और उतरते समय उसके विपरीत [अर्थात् नीचेकी ओर देखते हुए गति होती है]। आकाशमें दोनों पैर एकसे किए अथवा वाहनोंके द्वारा अथवा पंखोंके द्वारा [गति होती है]। आकाशको छोड़कर अन्यत्र अस्त-व्यस्त केश वस्त्रादिसे युक्त अनेक प्रकारका गमनविधि कहा गया है।

और रूप [के दर्शन] का [अभिनय] सिरके ऊपर हाथ रखकर तनिक सिर हिलाते हुए टकटकी लगाकर देखते हुए नेत्रोंसे, शब्द [के श्रवण] का [अभिनय] एक ओरको सिर झुकाकर सुननेसे, विशेष प्रकारके स्पर्शका [अभिनय] आँखें बन्द कर लेनेसे, और रस तथा गन्धका एक लम्बे साँस लेनेके द्वारा होता है। सभी अभिनय इष्ट, मध्यम तथा अनिष्ट तीन प्रकारका होता है। उनमेंसे इष्ट अभिनय मनकी प्रसन्नता, शरीरके रोमांच तथा नेत्रोंके विकास आदिके द्वारा [प्रदर्शित] किया जाता है। मध्य अभिनय मध्यमस्थताके द्वारा और अनिष्ट अभिनय [का प्रदर्शन] मुँह फेर लेने और नेत्र एवं नाकके सिकोड़नेके द्वारा किया जाता है। इस अभिनयमें प्रसन्न, स्वाभाविक रक्त, लाल तथा काला चार प्रकारका मुखराग होता है। जो रसके औचित्यके अनुसार होता है। और पृथिवीपर गिर पड़ना आदि जो सारे शरीरसे साध्य व्यापार है वह भी शरीरके ही अङ्गोपांग रूप होनेसे आंगिक अभिनयके अन्तर्गत ही होता है॥ [५०] १५२॥

अब सात्त्विक [अर्थात् मानसिक अभिनयका वर्णन करते हैं]—

[सूत्र २२८]—स्वरभेदादि अनुभावोंका प्रदर्शन सात्त्विक [अभिनय] कहलाता है।

अवहितं मनः सत्त्वं, तत् प्रयोजनं हेतुरस्येति सात्त्विकः। मनोऽनवधाने हि न शक्यन्त एव स्वरभेदादयो नटेन दर्शयितुम्। आदिशब्दाद् वेपथुः-स्तम्भ-रोमाञ्च-मूर्छन-स्वेद-वैवर्ण्य-अश्रु-निश्वासोच्छ्वास-सन्ताप-शैत्य-जृंभा-कार्श्य - मेदुरत्व-उल्लुकसन-अवहित्थ-सावधानता-लाला-फेनमोक्ष-गात्रस्रंसन-हिक्कादेर्ग्रहः। नायमभिनयो वाचिकः, शब्दाननुकारात्। नाप्याङ्गिकः अङ्गोपाङ्गसाध्य-स्पष्टचेष्टाया अभावादिति। स्वरभेदाद्यनुभावप्रदर्शनं रसोत्तम-मध्यम-अधमप्रकृत्याद्यौचित्यानुसारतो द्रष्टव्यमिति॥

अथाहार्यः —

[सूत्र २२६]—वर्णाद्यनुक्रियाऽऽहार्यो बाह्यवस्तुनिमित्तकः॥

[५१] १५३॥

वर्णः श्वेतादिः। आदिशब्दाद् रस-गन्ध-आकल्प-आयुध-वाहन-अङ्गाधिक्य-देश-नदी-नगर-वन-पक्षि-द्विपद-चतुष्पद-अपद-प्रासाद-पर्वतादेर्ग्रहः। बाह्यं शरीरव्यतिरिक्तं भस्म-धातु-जतु-राग-हरिताल-मषी-मृत्तिका-वस्त्र-वेणु-दलादिकं निमित्तमस्येति। वाचिकादयस्तु शरीरनिमित्ता इति भेदः। अयं च देश-काल-कुल-प्रकृति-दशा-स्त्रीत्व-

---

एकाग्र मनका नाम सत्त्व है। वह सत्त्व जिसका प्रयोजन अर्थात् हेतु है वह सात्त्विक [अभिनय] होता है। मनकी स्थिरता न होनेपर नट स्वरभेदादिका प्रदर्शन नहीं कर सकता है [इसलिए स्वरभेदादि अनुभावोंका प्रदर्शन सात्त्विक अभिनय कहलाता है]। आदि शब्दसे कम्पन, स्तम्भ, रोमांच, मूर्छा, स्वेद, विवर्णता, आंसू, निःश्वास, उच्छ्वास, सन्ताप, शैत्य, जम्भाई, कृशता, स्थूलता, उल्लुकसन, आकारगोपन [अवहित्था] सावधानता, लार गिराना या फेन गिराना, शरीरका शिथिल कर देना और हिचकी आदिका ग्रहण होता है। इन सबका यह अभिनय शब्दानुकरण रूप न होनेसे वाचिक नहीं कहा जा सकता है और अंगों अथवा उपांगोंसे साध्य स्पष्ट चेष्टारूप न होनेसे आंगिक भी नहीं कहा जा सकता है। [इसलिए यह तीसरे प्रकारका सात्त्विक अभिनय कहलाता है]। स्वरभेद आदि अनुभावोंका प्रदर्शन रस तथा उत्तम मध्यम अधम आदि प्रकृतियोंके औचित्यके अनुसार किया जाना चाहिए।

अब [वेष-भूषादिसे साध्य चौथे प्रकारके] आहार्य [अभिनयका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२६]—बाह्य वस्तुओंके द्वारा किया जाने वाला वर्ण आदिका अनुकरण आहार्य [अभिनय कहलाता] है। [५१] १५३।

वर्ण अर्थात् श्वेतादि। आदि शब्दसे रस, गन्ध, वेष [आकल्प] शस्त्र, वाहन, अंगोंकी अधिकता, देश, नदी, नगर, वनपक्षी, द्विपद, चतुष्पद, पदरहित [सर्प आदि] प्रासाद और पर्वत आदिका ग्रहण होता है। बाह्य अर्थात् शरीरसे भिन्न भस्म धातु लाख आदिका राग, हरिताल, स्याही, मिट्टी, वस्त्र, बाँसुरी और पत्रादि जिसके निमित्त अर्थात् प्रयोजक हैं [वह सब आहार्य अभिनय कहलाता है]। और वाचिक आदि [पहले कहे हुए तीनों प्रकारके अभिनय] तो शरीर निमित्तक होते हैं यह [उन तीनोंसे इस आहार्य अभिनय का] भेद है। देश, काल, प्रकृति, दशा, स्त्रीत्व, पुंस्त्व, षण्ढत्व आदिके औचित्यके अनुसार इस [आहार्य अभिनय]को करना चाहिए।

पुंस्त्व-षण्ढत्वाद्यौचित्यानुसारतो विधेय इति ।

यस्तु पञ्चमश्चित्राभिनयः प्रोक्तः सोऽप्यङ्गोपाङ्गकर्मविशेषरूपत्वादांगिक एवान्तर्भवति ।

अभिनयद्वय-त्रय-चतुष्टयसन्निपातरूपः सामान्याभिनयः पुनर्वाचिकादिलक्षणेनैव चरितार्थ इति ॥ [५१] १५३ ॥

इति श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञनाट्यदर्पणविवृतौ
वृत्ति-रस-भाव-अभिनयविचारस्तृतीयो विवेकः ॥ ३ ॥

और जो पाँचवें प्रकारका चित्राभिनय [नाट्यशास्त्रमें] कहा गया है वह भी अंगों तथा उपांगोंके विशेष कर्म-रूप होनेसे आंगिक अभिनयके भीतर ही आ जाता है ।

दो, तीन या चार अभिनयोंका सन्निपात रूप जो सामान्याभिनय [नाट्यशास्त्रमें] कहा गया है वह भी वाचिक आदिके लक्षणोंके अन्तर्गत ही हो जाता है ॥ [५१]१५३ ॥

श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्र विरचित स्वनिर्मित नाट्यदर्पणकी विवृत्तिमें
वृत्ति-रस-भाव-अभिनय-विचार नामक
तृतीय विवेक समाप्त हुआ ॥३॥

अथ चतुर्थो विवेकः

अथ चतुर्थो विवेकः

अतः परं सर्वरूपकोपयोगि किञ्चिदुच्यते—

[सूत्र २३०]—देव-भूप-सभा-भर्तृमुख्यानां मङ्गलाभिधा ।
नित्या रूपमुखे नान्दी पदैः षड्भिरथाष्टभिः ॥
[१] १५४ ॥

'मुख्य' ग्रहणं सरस्वती-कविप्रभृतीनामुपलक्षणार्थम् । 'मङ्गलाभिधा' सद्भूत-गुणोत्कीर्तनं, आशीर्वचनं वा । 'नित्या' एवंविधरूपैव । अपरेषां तु पाठ्यानामुत्थापना-दीनां पूर्वरङ्गाङ्गानां प्रयोगवशादन्यथात्वमपि भवति । अवश्यम्भावाद्वा नित्यत्वम् । शेषाणां हि रङ्गाङ्गानां नावश्यम्भावः । अहरहः प्रयोज्यत्वाद्वा नित्यत्वम् । यावद्धि रूप-कस्याभिनयस्तावदेषा नान्दी प्रयोक्तव्यैव । 'रूपकस्य' नाटकादेः, 'मुखे' प्रारम्भे, नान्दी । प्रयोगस्थानकथनमेतत् । नान्दीत्वं च मङ्गलाभिधायाःप्रत्यूहापसारणेन समृद्धि-जनकत्वात् । 'पदानि' वाक्याङ्गानि । केचित्तु पूर्णवाक्यापेक्षयावान्तरवाक्यानि 'पदानि' इत्याहुः । तथा च भरतमुनिर्नान्दीं पठति—

अथ नाट्यदर्पणदीपिकां चतुर्थो विवेकः

अब सब प्रकारके रूपकोंमें उपयोगी कुछ बातें कहते हैं—

[सूत्र २३०]—देवताओंकी, राजाकी, सभाकी तथा स्वामी आदिकी मंगल-कामना रूप, छः पदोंसे युक्त अथवा आठ पदोंसे युक्त 'नान्दी' प्रत्येक रूपकके आरम्भमें नित्य ही करनी चाहिए । [१] १५४ ।

'मुख्य' पदका ग्रहण सरस्वती और कवि आदिका उपलक्षण है । 'मंगलाभिधा' अर्थात् विद्यमान सद्गुणोंका कथन करना, अथवा आशीर्वचन । 'नित्या' अर्थात् (१) सदा इसी प्रकारकी [मंगलाभिधा रूप] होती है । पूर्वरंगके, पढ़े जाने वाले 'उत्थापना' आदि अन्य अंगोंमें तो प्रयोगके भेदसे परिवर्तन भी हो जाता है । [किन्तु नान्दीका सभी रूपकोंमें एक ही स्वरूप रहता है । यह 'नित्या' पदका अभिप्राय है] । (२) अथवा [सब रूपकोंमें नान्दीका] अवश्यम्भाव होनेसे नित्यत्व कहा है । रंगके अन्य अंगोंका होना आवश्यक नहीं है । अथवा (३) प्रतिदिन प्रयोग किए जानेके कारण नान्दीका नित्यत्व कहा है । जब तक रूपकोंका अभिनय रहेगा तब तक इस नान्दीका प्रयोग किया जाना चाहिए । [यह 'नित्या' पदका अभिप्राय है] । 'रूपक' अर्थात् नाटकादिके 'मुख' अर्थात् प्रारम्भमें नान्दी होती है । यह प्रयोगके स्थानका कथन किया गया है । विघ्नोंके विनाश द्वारा समृद्धिजनक होनेके कारण मंगल-कामना मंगलाचरणको 'नान्दी' कहा गया है । 'पद' अर्थात् वाक्यके अवयव । कुछ लोग पूर्ण वाक्यकी दृष्टिसे अवान्तर खण्ड-वाक्योंको 'पद' कहते हैं । जैसाकि [अवान्तर खण्ड वाक्योंको पद मानकर] भरतमुनिने [नाट्यशास्त्र अ०५,११०-११३ में] इस प्रकार नान्दीका पाठ दिखलाया है ।

"नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो द्विजातिभ्यश्च वै नमः ।
जितं सोमेन वै राज्ञा शिवं गो-ब्राह्मणाय च ॥
ब्रह्मोत्तरं तथैवास्तु हता ब्रह्मद्विषस्तथा ।
प्रशास्त्विमां महाराजः पृथिवीं च ससागराम् ॥
राष्ट्रं प्रवर्धतां चैव रङ्गस्याशा समृध्यतु ।
प्रेक्षाकर्तुर्महान् धर्मो भवतु ब्रह्मभाषितम् ॥
काव्यकर्तुर्यशश्चापि धर्मश्चापि प्रवर्धताम् ।
इज्यया चानया नित्यं प्रीयन्तां देवता इति ॥"

ना० अ० ५, ११०-११३ ॥

अत्र द्वादशावान्तराशीर्वाक्यानि । षड्भिरिति त्र्यस्रं, अष्टभिरिति चतुरस्रं रङ्गमपेक्ष्य मध्यमनान्द्या निर्देशः । त्र्यस्ररङ्गे चोत्तमा द्वादशभिः, अधमा त्रिभिः पदैर्नान्दी । चतुरस्ररङ्गे पुनरुत्तमा षोडशभिः, अधमा चतुर्भिरिति । नान्दी च पूर्वरङ्गाङ्गानां द्वादशमङ्गं सकलपूर्वरङ्गाङ्गोपलक्षिका । तेन 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' इत्यस्य । सकलपूर्वरंगानि तु केषाञ्चिल्लोकप्रसिद्धत्वात्, केषाञ्चिन्निष्फलत्वात्, केषांचिदनवश्यम्भावित्वाच्च न लक्ष्यन्ते । नान्दी त्ववश्यम्भावित्वात्, मंगलाभिधानपूर्वकत्वाच्च शुभ-

---

समस्त देवताओंको और द्विजातियोंको हमारा नमस्कार है । सोम रूप राजा [अथवा प्रकाशमान चन्द्रमा] की विजय हो तथा गौओं एवं ब्राह्मणोंका कल्याण हो ।

इसी प्रकार ब्राह्मणोंकी वृद्धि यह ब्रह्मविद्याकी वृद्धि हो । तथा ब्रह्मद्वेषियोंका विनाश हो । और महाराज सागरों सहित इस पृथिवीका शासन करें ।

राष्ट्रकी समृद्धि हो और रंगशालाओंकी आशा पूर्ण हो । नाट्यकी व्यवस्था कराने वाले [राजा आदि] को महान् धर्मकी प्राप्ति हो और [उनके द्वारा] वेदोंका पाठ होता रहे ।

तथा काव्यकी रचना करने वाले [कवियों] को यशकी प्राप्ति हो, उनके धर्मकी सदा वृद्धि होती रहे । तथा इस यज्ञके द्वारा सदैव देवगण प्रसन्न होते रहें ।

इसमें आशीर्वादात्मक बारह अवान्तर वाक्य हैं । [कारिकामें] 'षड्भिः' इस पदसे त्रिभुजात्मक रंगको लक्ष्यमें रखकर मध्यम नान्दीका निर्देश किया गया है और 'अष्टभिः' पदसे चतुरस्र मण्डपको ध्यानमें रखकर मध्यम नान्दीका निर्देश किया गया है । त्रिभुजात्मक मण्डपमें उत्तम नान्दी बारह पदोंकी [मध्यम ६ पदोंकी] और अधम [नान्दी] तीन पदोंकी होती है । और चतुरस्र मण्डपमें उत्तम [नान्दी] सोलह पदोंकी [मध्यम आठ पदोंकी] तथा अधम [नान्दी] चार पदोंकी होती है । नान्दी, पूर्वरंगके अंगोंमें बारहवां अंग है और यहाँ वह पूर्वरंगके सारे अंगोंकी उपलक्षण रूप है । इसलिए 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' [यह जो नाटकोंमें लिखा जाता है] इसकी भी उपलक्षिका है । [पूर्वरंगके अंगोंमेंसे] कुछ लोक-प्रसिद्ध होनेसे, कुछके निष्फल होनेसे और किन्हींके आवश्यक न होनेसे होनेसे पूर्वरंगके समस्त अंगोंका लक्षण हमने यहां नहीं किया है । नान्दीका होना तो आवश्यक है इसलिए, और प्रत्येक शुभ कार्यके आरम्भमें मंगलाचरण करना ही चाहिए इसलिए नान्दीका लक्षण किया है । इसीलिए [अर्थात् प्रत्येक शुभकार्यके आरम्भमें मंगलाचरणके आवश्यक होनेके कारण जो लोग नान्दी को नाटकका अंग नहीं मानते हैं वे] कविगण [भी] नाटकके आरम्भमें 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः'

कृत्यारम्भस्येति लक्षिता। अत एव कवयो रूपकारम्भे 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' इति पठन्ति। यत्र तु कविकृता नान्दी न दृश्यते तत्रापि रङ्गसूत्रणकर्तृकृता द्रष्टव्या। नांदी-पाठकाश्च सूत्रधार-स्थापक-पारिपार्श्विका इति ॥ १५४ ॥

अथ ध्रुवा लक्ष्यते—

[सूत्र २३१]—प्रवेश-निष्क्रमाक्षेप-प्रसादान्तरसङ्गतम्।
चित्रार्थं रूपकं गेयं पञ्चधा स्यात् कविध्रुवा ॥
[२] १५५ ॥

'रूपकं कविध्रुवा' इति सम्बन्धः। प्रविशतः पात्रस्य रस-भाव-प्रकृति-अवस्था-दिकं प्रवेशशब्देनोच्यते। तदनुसारेण श्लेष-समासोक्त्याद्यलंकृतं यद् रूपकं गीयते सा, 'प्रवेशः' प्रयोजनमस्या इति 'ईकणि' प्रावेशिकी।

(१) यथा अनर्घराघवे—

(क)—"दिणयरकिरणुक्केरो पियायरो को वि जीवलोयस्स।
कमलमउलंकवाली-कय-महुअर-कड्ढणवियड्ढो ॥

[अर्थात् नान्दी सम्पादनके बाद सूत्रधार प्रविष्ट होता है] इस प्रकार लिखते हैं। [भास आदि के नाटकमें] जहाँ कवि द्वारा की गई नान्दी उपलब्ध नहीं होती है वहाँ भी रंगकी व्यवस्था करने वाले सूत्रधारकी ओरसे की गई नान्दी समझ लेनी चाहिए। नान्दी-पाठ करने वाले सूत्रधार, स्थापक तथा पारिपार्श्विक ये तीन होते हैं ॥ [१] १५४ ॥

अब 'ध्रुवा' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १८१]—[पात्रोंके] प्रवेश, निष्क्रमण, [रसान्तरके] आक्षेप, [प्रस्तुत रसके] उज्ज्वलीकरण और [नटोंके किसी छिद्र अर्थात्] त्रुटि [को छिपानेके लिए इन सब] के साथ सम्बद्ध जो पद [रूपकं] गाए जाते हैं वे 'ध्रुवा' कहलाते हैं और वह [पूर्वोक्त प्रवेश निष्क्रमण आदि पाँचके साथ सम्बद्ध होनेसे] 'कविध्रुवा' पाँच प्रकारकी होती है। [२] १५५।

[कारिकामें] 'रूपकं कविध्रुवा' इस प्रकारका अन्वय करना चाहिए। [रूपकं अर्थात् गेय पदोंको ध्रुवा कहते हैं यह अभिप्राय है]। उसका प्रयोजन पात्रोंका प्रवेश निष्क्रमण आदि पाँच प्रकारका होता है इसलिए ध्रुवा भी पाँच प्रकारकी कही गई है। उनमेंसे पहले पात्रोंके प्रवेशसे सम्बद्ध प्रावेशिकी ध्रुवा दिखलाते हैं] आगे प्रविष्ट होने वाले पात्रके रस, भाव, प्रकृति, अवस्था आदिको यहाँ 'प्रवेश' शब्दसे कहा गया है। उसके अनुसार श्लेष समासोक्ति आदिके द्वारा जिस [रूपक अर्थात्] गेय पदका गान किया जाता है वह प्रवेश जिसका प्रयोजन है इस अर्थमें [आचार्य हेमचन्द्रकृत व्याकरणके अनुसार] 'ईकण्-प्रत्यय करने पर' प्रावशिकी [पद सिद्ध होता है]।

(१) प्रावेशिकी ध्रुवा—

[प्रवेशिकी ध्रुवाका उदाहरण] जैसे अनर्घराघवमें—

(क) सूर्यदेवका किरण समुदाय जो कमल-कलिकाओंकी गोदमें भौरोंका आकर्षण करनेमें विदग्ध है, समस्त जीवलोककेलिए कुछ अपूर्व आनन्ददायक है।

[दिनकरकिरणोत्करः प्रियाकरः कोऽपि जीवलोकस्य ।
कमलमुकुलांकपालीकृतमधुकरकर्षणविदग्धः ॥ इति संस्कृतम्] ॥"

इयं स्वाश्रमरक्षणार्थं रामाकर्षणायागच्छतो विश्वामित्रस्य आदित्योदय-वर्णनव्याजेन प्रवेशसूचिका ।

(ख) यथा वा देवीचन्द्रगुप्ते पञ्चमेऽङ्के—

"एसो सियकरवित्थरपणासियासेसवेरितिमिरोहो ।
नियविहवरेण चन्दो गयणं गहं लंघितं विसइ ॥
[एष सितकरविस्तरप्रणाशिताशेषवैरितिमिरौघः ।
निजविभववरेण चन्द्रो गगनं ग्रहं लंघयितुं विशति ॥इति संस्कृतम्]॥"

इयं स्वापायशंकिनः कृतकोन्मत्तस्य कुमारचन्द्रगुप्तस्य चन्द्रोदयवर्णनेन प्रवेश-प्रतिपादिकेति ।

(२) अङ्कान्ते अङ्कमध्ये वा सनिमित्तं रङ्गात् पात्रस्य बहिर्निःसरणं निष्क्रमः । तत्प्रयोजना । अनुशतिकादेराकृतिगणत्वाद् 'इकणि' उभयपदवृद्धौ नैष्क्रामिकी ।

यथा देवीचन्द्रगुप्ते पञ्चमांकान्ते—

"बहुविह-कज्जविसेसं अइगूढं निण्हवेइ मयणादो ।
निक्खलइ खुद्धचित्तउ रत्ताहुत्तं मणो रिउणो ॥
[बहुविधकार्यविशेषमतिगूढं निह्नुते मदनात् ।
निष्कलति क्षुब्धचित्तो रक्ताक्षिप्तमना रिपोः ॥
इति संस्कृतम्]"

यह सूर्योदय-वर्णनके बहाने से अपने आश्रमकी रक्षाके लिए रामचन्द्रको लिवा जानेके उद्देश्यसे आनेवाले विश्वामित्रके प्रवेशकी सूचिका [प्रवेशकी ध्रुवा] है ।

(ख) अथवा जैसे देवी चन्द्रगुप्तके पञ्चम अङ्कमें—

अपनी शुभ किरणोंके विस्तारद्वारा शत्रु रूप समस्त अन्धकार-समुदायको नाश कर देने वाला चन्द्रमा अपने प्रचुर [ज्योत्स्ना रूप] वैभवसे [अनिष्ट] ग्रहोंका उल्लंघन करनेके लिए आकाशमें प्रविष्ट हो रहा है ।

यह चन्द्रोदयके वर्णनके बहानेसे अपने विनाशकी शंका करनेवाले बनावटी रूपसे उन्मत्त बने हुए कुमार चन्द्रगुप्त के प्रवेशकी सूचिका [प्रवेशिकी ध्रुवा] है ।

(२) नैष्क्रामिकी ध्रुवा—

(२) अङ्कके अन्तमें अथवा अङ्कके बीचमें कारणवश पात्रका रंगसे बाहर जाना निष्क्रमण कहलाता है । वह जिसका प्रयोजन हो, वह [नैष्क्रामिकी ध्रुवा होती है । यह नैष्कामिकी पद] अनुशतिकादिगणको आकृतिगण मानकर [हेमचन्द्र व्याकरणके अनुसार] ईकण्-प्रत्यय करनेपर तथा उभयपद-वृद्धि करके 'नैष्क्रामिकी' [पद सिद्ध होता है] ।

जैसे देवीचन्द्रगुप्तके पञ्चम अङ्कके अन्तमें—

नाना प्रकारके अत्यन्त गुप्त विशेष कार्योंको कामके आवेगसे छिपाना चाहता है और शत्रुके रक्तपानके लिए उत्सुक क्षुब्धचित्तवाला [कुमार चन्द्रगुप्त रङ्गभूमिसे] बाहर जाता है ।

इयमुन्मत्तस्य चन्द्रगुप्तस्य मदनविकारगोपनपरस्य मनाक् शत्रुभीतस्य राजकुल-गमनार्थं निष्क्रमसूचिकेति।

(३) प्रस्तुतरसोल्लंघनेन रसान्तरोद्भावनमाक्षेपः। तत्प्रयोजना आक्षेपिकी। यथोदात्तराघवे रामस्य प्रस्तुतशृङ्गारोल्लंघनेन—

"अरे रे तापस! स्थिरीभव, क्वेदानीं गम्यते?

स्वसुर्मम पराभवप्रसव एकदत्तव्यथः।
खरप्रभृतिबान्धवोद्दलनवातसन्धुक्षितः।
तवेह विदलीभवत्तनुसमुच्छलच्छोणित-
च्छटाच्छुरितवक्षसः प्रशममेतु कोपानलः॥"

इत्यादि नेपथ्यवाक्याकर्णनेन वीररसाक्षेपः।

(४) प्रस्तुतस्य रसस्य विभावोन्मीलनेन निर्मलीकरणं 'प्रसादः'। प्रविष्टपात्रस्य अन्तर्गतचित्तप्रवृत्तेः सामाजिकान् प्रति प्रथनं वा 'प्रसादः'। प्रसादप्रयोजना 'प्रासादिकी'। इयं च प्रावेशिकी आक्षेपिक्यनन्तरमवश्यं प्रयोज्येति वृद्धसम्प्रदायः।

(५) 'अन्तरं' छिद्रं, तत्र भवा 'आन्तरी'। अनुकर्तुर्यदा अनाशंकित एव धन-विघातादिना विघातः, उद्धतप्रयोगाश्रयाद्वा मूर्छा-श्रमादिसम्भावना, वस्त्राभरणदेर्वा

यह मदन-विकारको छिपानेकेलिए उन्मत्त और कुछ शत्रुसे भयभीत चन्द्रगुप्तके राज-भवनमें जानेकेलिए [रङ्गमञ्चसे] निष्क्रमणकी सूचिका है।

(३) आक्षेपिकी ध्रुवा—

प्रस्तुत रसको हटाकर अन्य रसका उत्पन्न करना 'आक्षेप' कहलाता है। वह जिसका प्रयोजन है वह 'आक्षेपिकी' हुई। जैसे 'उदात्तराघव' में—रामचन्द्रके प्रस्तुत शृङ्गाररसको हटाकर [निम्न श्लोक द्वारा वीररसका आक्षेप कराया गया है]—

अरे दुष्ट तापस! ठहर जा, खड़ा रह, अब जाता कहाँ है?

मेरी बहिन [शूर्पणखा] के अपमानसे उत्पन्न, एक [असह्य अपूर्व] क्लेशको देनेवाला खर-दूषण आदि बन्धुओंके विनाश रूप वायुसे प्रज्वलित किया हुआ क्रोधानल आज चूर्ण किए जाते हुए तेरे शरीरसे निकलनेवाले रक्तप्रवाहसे जिसका वक्षःस्थल व्याप्त हो रहा है इस प्रकारका बनकर ही शांत होगा।

इत्यादि नेपथ्यगत [रावणके] वाक्यको सुननेसे वीररसका आक्षेप होता है।

(४) प्रासादिकी ध्रुवा—

विभावोंके उन्मीलन द्वारा प्रस्तुत रसका निर्मलीकरण 'प्रसाद' कहलाता है। अथवा प्रविष्ट हुए पात्रकी चित्तवृत्तिको सामाजिकोंके सामने प्रकाशित करना 'प्रसाद' माना जाता है। 'प्रसाद' जिसका प्रयोजन है वह 'प्रासादिकी' [ध्रुवा] हुई। 'प्रावेशिकी' और 'आक्षेपिकी' ध्रुवाओंके बाद इस [प्रासादिकी ध्रुवा] का प्रयोग अवश्य करना चाहिए यह वृद्धजनोंकी परम्परा है।

(५) आन्तरी ध्रुवा—

अन्तर अर्थात् त्रुटि [छिद्र]। उस [छिद्र या त्रुटि] के होनेपर प्रयुक्तकी जाने वाली [ध्रुवा] 'आन्तरी' [ध्रुवा कहलाती] है। [इसका अभिप्राय यह है कि] जब अनुकरण करने वाले [नट] को (१) जिसकी शंका भी नहीं हो सकती थी इस प्रकारके आकस्मिक धन-

प्रच्युतिः, तदा तत्संवरणावकाशदित्सया इयं गीयते। अस्यां च प्राक्तनं भावि वा रस-स्वरूपमनुवर्त्यम्। छिद्राच्छादनमात्रप्रयोजनत्वाच्चास्या न सार्थकपदन्यसनमुपयोगीति शुष्काक्षराण्येवास्यां निबध्यन्ते।

'संगतं' प्रवेशाद्यनुरूपार्थम्। 'चित्रो' नानाप्रकारः, सरः-काननादि-दिवस-रात्रि-सन्ध्यादिः, उत्तम-मध्यमाधमप्रकृतिः गज-वाजि-सिंहादिर्भावो रत्यादिकश्चार्थो यत्र। अर्थश्च तथा निबन्धनीयो यथा 'उपश्रुति-शकुनन्यायेन' प्रत्ययेन प्रस्तुतोपयोगी भवति।

'रूपकं' नियतमात्राक्षरं छन्दः। 'गेयं' स्वरतालैर्गानार्हम्। पञ्चधा प्रवेशादिभिः

विनाश आदिके कारण आघात लगता है तब, अथवा (२) किसी उद्धत प्रयोगके कारण मूर्च्छा या चक्कर आने लगनेकी सम्भावना होनेपर, अथवा (३) वस्त्र, आभरण आदिके गिर जानेपर उस [त्रुटि, अन्तर या छिद्र] के छिपानेकेलिए अवसर प्रदान करनेकी दृष्टिसे इस [आन्तरी ध्रुवा] का गान किया जाता है। [जिससे प्रेक्षकोंका ध्यान उस गानकी ओर चला जाता है और नटको उस त्रुटिको पूरा करने और सँभल जानेका अवसर मिल जाता है]। इसमें पूर्ववर्ती अथवा आगे आनेवाले रसके स्वरूपका अनुगमन आवश्यक होता है। केवल छिद्रोंका आच्छादन करना ही इसका प्रयोजन होता है इसलिए इसमें सार्थक पदके पाठ आदि ही उपयोगी नहीं है [और सार्थक गेय पद इस समय अकस्मात बनाए भी नहीं जा सकते हैं] इसलिए केवल [सार्थक या निरर्थक जैसे भी बन जावें] शुष्क अक्षरमात्रका इसमें जोड़-तोड़ किया जाता है। [उन्हींके गानसे सामाजिकोंका चित्त बँटाकर नटको अपनी त्रुटिको छिपाने तथा सँभलनेका अवसर मिल जाता है]।

[प्रवेश, निष्क्रम, आक्षेप, प्रसाद और अन्तर इन पाँचोंके साथ] 'संगत' अर्थात् प्रवेश आदि [पाँचों] के अनुरूप [जो गेय पद वह 'ध्रुवा' कहलाता है]। चित्र अर्थात् नाना प्रकारका [अर्थात्] तालाब, बन आदि अथवा दिन, रात व सन्ध्यादि अथवा उत्तम, मध्यम व अधम प्रकृति अथवा हाथी, घोड़ा, सिंह आदि पदार्थ और रत्यादि रूप अर्थ जिस [गेय पद] में हों [वह 'चित्रार्थ' गेय पद 'ध्रुवा' कहलाता है]। इस अर्थकी रचना इस ढंगसे करनी चाहिए कि जिससे वह 'उपश्रुति-शकुन-न्याय' से अपने [श्रवणात्मक] ज्ञानमात्रसे प्रकृतमें उपयोगी हो सके।

इसमें 'उपश्रुति-शकुन-न्याय' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि परम्परागत संस्कारोंके अनुसार यात्रापर जाते समय यदि नीलकण्ठ आदि किसी विशेष पक्षीका दर्शन या उसकी ध्वनिका श्रवण अथवा जलसे भरे घट आदिका दर्शन हो जाय तो वह कार्यसिद्धिके लिए शुभ शकुन माना जाता है। यद्यपि जलभरे घटको ले जानेवालेका, अथवा पक्षीके शब्द करनेका प्रयोजन यात्रा करनेवालेकेलिए शकुन करना नहीं होता है। उसका प्रयोजन कुछ और ही होता है। किन्तु इन पदार्थोंके दर्शन अथवा शब्दके श्रवणमात्र से मंगल होता है। इसी प्रकार इन ध्रुवाओंके पदोंका अर्थ चाहे कुछ भी हो किन्तु उनके श्रवणमात्र अथवा ज्ञानमात्रसे उनका प्रकृतमें उपयोग हो सके। यह 'उपश्रुतिशकुन-न्याय' का अभिप्राय है।

नियत मात्रा और नियत अक्षरों वाला छन्द यहाँ 'रूपक' [पदसे अभिप्रेत] है। स्वर और तालसे गाने योग्य 'गेय' कहलाता है। [ध्रुवा] पाँच प्रकारकी अर्थात् प्रवेश [प्रवेश

पञ्चप्रकारा। उपयोगबाहुल्यापेक्षं चैतत्। अपरे च ध्रुवाप्रकाराः सन्ति, अल्पोपयोगित्वात् तु न लक्षिताः। 'कविध्रवा' इति कवेः प्रबन्धकर्तुरियं पञ्चविधा ध्रुवा। अनेन रङ्गमध्यवर्तिनीनां ध्रुवाणां रंगविध्यनन्तरं नाट्याचार्यकल्पितानां गानध्रुवाणां च व्युदास इति ॥[२]१५५॥

अथ नाट्यपात्राणां प्रकृतिभेदानाह—

[सूत्र २३२]—उत्तमा मध्यमा नीचा प्रकृतिर्नृस्त्रियोस्त्रिधा।
एकैकापि त्रिधा स्व-स्वगुणानां तारतम्यतः ॥
॥ [३] १५६ ॥

'उत्' इत्यव्ययं उत्कृष्टेऽर्थे। ततः प्रकृष्टार्थे 'तमपि' उत्तमा। प्रकर्षेण क्रियन्ते बाह्याश्चेष्टा अस्या इति। प्रकृतिर्जन्मसहभुवं शुभाशुभं शीलम्। 'त्रिधेति' तिस्रोऽपि प्रकृतयः स्वस्थाने उत्तमा मध्यमा नीचाश्चेति। 'गुणाः' प्रत्येकं प्रकृतिषु वक्ष्यमाणाः। प्रकृष्टस्य किञ्चिदाधिक्य-बहुत्वभाविनोस्तरप्-तमप्-प्रत्यययोरनुकृतिस्तर-तमौ इति। तयोर्भावः 'तारतम्यम्'। सामान्य-किञ्चिदाधिक्य-सातिशयाधिक्यलक्षणावस्थात्रययोगित्वमिति ॥ [३] १५६ ॥

निष्कर्म, आक्षेप, प्रसाद और अन्तर] आदिसे पाँच प्रकारकी होती है। [इन पाँच प्रकारोंके] उपयोगके बाहुल्यकी दृष्टिसे यह [पाँच भेदोंका] कहा गया है। [वैसे तो इन पाँचके अतिरिक्त] और भी ध्रुवाके प्रकार हैं किन्तु उनका उपयोग बहुत कम होनेसे उनके लक्षण नहीं किए हैं। [कारिकामें इन पाँचोंको 'कविध्रुवा' कहा है इसका अभिप्राय यह है कि कविध्रुवाओंके अतिरिक्त अन्य ध्रुवाएँ भी होती हैं। इसलिए] 'कविध्रुवा' इस पदके द्वारा कवि अर्थात् ग्रंथकर्ताकी [अर्थात् ग्रंथकर्ताके द्वारा प्रयुक्त] ये पाँच प्रकारकी 'ध्रुवा' होती हैं। इससे पूर्व रङ्गके मध्यमें होनेवाली और पूर्वरंगविधिके बाद नाट्याचार्य द्वारा कल्पित गानकी ध्रुवाओंका निराकरण किया गया है। [अर्थात् ये पाँच प्रकार केवल 'कविध्रुवा' के होते हैं। अन्य ध्रुवाओंसे इन भेदोंका कोई सम्बन्ध नहीं है] ॥ [२] १५५ ॥

अब नाट्यके पात्रोंकी प्रकृतिके भेदोंको बतलाते हैं—

[सूत्र २३२]—[नाटकके] स्त्री और पुरुष [पात्रों] की उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकारकी प्रकृति होती है। और अपने-अपने गुणोंके तारतम्यसे उनमेंसे प्रत्येक [प्रकृति] के फिर तीन-तीन भेद हो सकते हैं। [३] १५६।

[उत्तम पदका निर्वचन करते हैं। इस उत्तम पदमें] 'उत्' यह अव्यय उत्कृष्ट अर्थमें है। उससे प्रकृष्ट अर्थमें तमप्-प्रत्यय होकर 'उत्तमा' [पद बनता है। इसका अभिप्राय यह है कि] जिसकी बाह्य चेष्टाएँ उत्तम रूपसे की जाती हैं [वह उत्तम प्रकृति कहलाती है] जन्मसे प्राप्त होनेवाले भले-बुरे स्वभावको 'प्रकृति' कहते हैं। ['एकैकापि त्रिधा' इस स्थलपर दुबारा प्रयुक्त हुए] 'त्रिधा' इससे [यह सूचित किया जाता है कि पहली बार जो उत्तम, मध्यम व अधम तीन प्रकारकी प्रकृति कही गई थीं वे] तीनों प्रकारकी प्रकृतियाँ अपने स्थानमें भी उत्तम, मध्यम तथा नीच [भेदसे] तीन प्रकारकी हो सकती हैं। [स्व-स्वगुणानां तारतम्यतः में कहे हुए] 'गुण' प्रत्येक [उत्तम, मध्यम व अधम आदि] प्रकृतियोंमें आगे कहे जाने वाले हैं।

अथोत्तमप्रकृतेः पुंसो गुणानाह—

[सूत्र २३३]—शरण्यो दक्षिणस्त्यागी लोक-शास्त्रविचक्षणः ।
गाम्भीर्य-धैर्य-शौण्डीर्य-न्यायवानुत्तमः पुमान् ॥
॥ [४] १५७ ॥

शरणमापद्गतत्राणम् । तत्र साधुः । 'दक्षिणो'ऽनुकूलः । 'लोक'-शब्देनात्र लोकव्यवहार उच्यते । तत्र 'विचक्षणः' । एवमादयोऽन्येऽप्युत्तमपुरुषगुणा द्रष्टव्या इति ॥ [४] १५७ ॥

अथ मध्यमप्रकृतिः—

[सूत्र २३४]—मध्यो मध्यगुणः ।

'मध्या' नाप्युत्कृष्टा नाप्यपकृष्टा 'गुणा' लोकव्यवहार-चातुर्य-कला-विचक्षणत्वादयो धर्मा अस्येति ।

अथ नीचप्रकृतिः—

[सूत्र २३५]—नीचः पापीयान् पिशुनोऽलसः ।
कृतघ्नः कलही क्लीबः स्त्रीलीलो रूक्षवाग् जड़ः ॥
[५] १५८ ॥

[आगे 'तारतम्य' शब्दका अर्थ करते हैं] 'प्रकृष्ट' [पद] से कुछ आधिक्य और बहुत अर्थमें होनेवाले 'तरप्-तमप्' दोनों प्रत्ययोंके अनुकरण रूपमें 'तर-तम' [प्रत्यांश] हैं । उन [तर-तम] का भाव 'तारतम्य' हुआ । [उसका अर्थ यह है कि] सामान्य, उससे कुछ अधिक और उससे भी विशेष अधिक रूप तीन अवस्थाओंसे युक्त [भाव 'तारतम्य' कहलाता है] ॥[३]१५६॥

अब आगे उत्तम प्रकृतिवाले पुरुषके गुणोंको कहते हैं—

[सूत्र २३३]—शरणागतोंके रक्षणमें साधु, अनुकूल, त्यागी, लोकव्यवहार तथा शास्त्रों में निपुण, गम्भीरता, धीरता, पराक्रम और न्याय-विचारसे युक्त पुरुष 'उत्तम' पुरुष कहलाता है । [४] १५७ ।

शरण अर्थात् विपत्तिमें पड़े हुएकी रक्षा करना । उसमें साधु [व्यक्ति 'शरण्य' कहलाता है] । 'दक्षिण' अर्थात् [सबके] अनुकूल । 'लोक' शब्दसे यहां लोकव्यवहारका कथन किया गया है । उसमें निपुण । इसी प्रकारके अन्य भी गुण उत्तम प्रकृतिवाले पुरुषोंमें होते हैं ॥[४]१५७॥

अब आगे मध्यम प्रकृति [के पुरुषके गुणोंको कहते हैं]—

[सूत्र २३४]—मध्यम गुणोंवाला [पुरुष] मध्यम प्रकृति कहलाता है ।

'मध्यम' अर्थात् न तो अधिक उत्कृष्ट और न ही अधिक निकृष्ट 'गुण' अर्थात् लोकव्यवहारकी निपुणता, कला, विद्वत्ता आदि धर्म जिसके हों [वह मध्यम प्रकृतिका पुरुष कहलाता है] ।

अब आगे नीच प्रकृति [पुरुषके गुणोंको कहते हैं]—

[सूत्र २३५]—नीच प्रकृतिवाला पुरुष अत्यन्त पाप करने वाला, चुगलखोर, आलसी, कृतघ्न, झगड़ालू, पराक्रम-विहीन, स्त्री-निरत और रूक्ष बोलनेवाला होता है ।[५]१५८।

'पिशुनः' कर्णेजपः। 'क्लीबो' हीनसत्त्व इति ॥ [५] १५८ ॥

अथोत्तमां स्त्रियमाह—

[सूत्र २३६]—लज्जावती मृदुर्धीरा गम्भीरा स्मितहासिनी।
विनीता कुलजा दक्षा वत्सला योषिदुत्तमा ॥
॥ [६] १५६ ॥

वत्सला स्नेहलेति ॥ [६] १५६ ॥

अथ मध्यमा-नीचे—

[सूत्र २३७]—नरवन्मध्यमा-नीचे—

मध्यम-नीचपुरुषवन्मध्यमा-नीचे स्त्रियौ बोद्धव्ये। एषा नृ-स्त्रियोस्त्रिधा प्रकृतिरनुरूपा विरूपा रूपानुरूपिणी चेति पुनस्त्रिप्रकारा। तत्रानुरूपा पुंसः पौंस्नः, स्त्रियास्तु स्त्रैणो वयोऽवस्थाऽनुरूपो भावः। विरूपा तु बालोचितभावस्य स्थविरेण, स्थविरोचितस्य तु बालेन दर्शनम्। रूपानुरूपिणी पुरुषोऽपि स्त्रीरूपेण भूत्वा, स्त्रिया पुंरूपया च स्त्री-पुंसभावदर्शनमिति ॥

'पिशुन' अर्थात् चुगलखोर। 'क्लीब' अर्थात् शक्ति रहित ॥[५]१५८॥

अब आगे उत्तम स्त्री [के गुणों] को कहते हैं—

[सूत्र २३६]—लज्जावती, मृदु, धीर, गम्भीर, मन्द मुस्कानेवाली, नम्र, उच्चकुलोत्पन्न, चतुर और सहनशील स्त्री उत्तम स्त्री कहलाती है।[६]१५६।

'वत्सला' अर्थात् स्नेह करने वाली ॥[६]१५६॥

इस प्रकार यहाँ तक उत्तम, मध्यम व अधम तीनों प्रकारकी प्रकृतिवाले पुरुषों तथा तीनों प्रकृतिकी स्त्रियोंके गुण कहे गए है।

अब आगे मध्यमा तथा नीचा [स्त्रियोंके लक्षण कहते हैं]—

[सूत्र २३७]—[मध्यम तथा नीच] पुरुषके समान मध्यमा तथा नीच स्त्रियाँ [होती हैं]।

मध्यम तथा नीच पुरुषोंके समान [प्रकृतिवाली] मध्यमा तथा नीचा स्त्रियोंको समझना चाहिए। पुरुष तथा स्त्रियोंकी यह [उत्तम, मध्यम तथा अधम रूप] तीन प्रकारकी प्रकृति (१) अनुरूपा, (२) विरूपा तथा (३) रूपानुरूपिणी भेदसे फिर तीन-तीन प्रकारकी होती है। उनमेंसे पुरुषका पुरुषके अनुरूप और स्त्रीका स्त्रीके अनुरूप आयु और दशा आदि के अनुकूल भाव 'अनुरूपा' [प्रकृति] कहलाता है। और बालोचित भावका वृद्धकेद्वारा अथवा वृद्धोचित भावका बालकके द्वारा प्रदर्शन 'विरूपा' प्रकृति [कहलाता] है। जहां पुरुष भी स्त्री बनकर अथवा स्त्री भी पुरुष बनकर [क्रमशः] स्त्रीभाव तथा पुरुषभावको प्रदर्शन करते हैं वह 'रूपानुरूपिणी' प्रकृति कहलाती है।

इस प्रकार यहाँ तक उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृतिके पुरुष तथा स्त्रियोंके लक्षण दिखलाकर आगे मध्यम तथा अधम प्रकृतिके पात्रोंको भी नाट्यमें नायक बनाया जा सकता है इस बातको लिखते हैं। प्रथम विवेकमें केवल उत्तम प्रकृति वाले नायकोंके बनाए जानेका विधान किया था। उससे अपवाद रूपमें यहाँ मध्यम तथा नीच प्रकृतिके नायकोंके बनानेका भी विधान किया जा रहा है।

अथ प्रबन्धेषु नीचप्रकृतिकमपि नायकमाह—

[सूत्र २३८]—नीचोऽपीशः कथावशात् ।

कथा वृत्तं, तस्या वशः सामर्थ्यं हसनीयत्वादि तस्माद् भाण-प्रहसनयोः, कस्याञ्चिद् वीथ्यां च नीचोऽपि नायकः। प्रथमविवेके मध्यमोत्तमयोर्नायकत्वमुक्तं तदपवादोऽयमिति ।

अथ सर्वरूपकेषु मुख्यनायकं लक्षयति—

[सूत्र २३९]—प्रधानफलसम्पन्नोऽव्यसनी मुख्यनायकः ॥[७]१६०॥

व्यसनं स्त्र्याद्यासक्तिः, विपद्वा ॥ [७] १६० ॥

अथास्य गुणानुद्दिशति—

[सूत्र २४०]—तेजो विलासो माधुर्यं शोभा स्थैर्यं गभीरता ।
औदार्यं ललितं चाष्टौ गुणा नेतरि सत्त्वजाः ॥
॥ [८] १६१ ॥

'अष्टौ' इत्युक्तपरिगणनम् । न तु संख्यानियमोऽन्येषामपि सम्भवात् । सत्त्वं विपुलाशयत्वम् ॥ [८] १६१ ॥

अथैषां प्रत्येकशो लक्षणम्—

अब आगे प्रबन्धकाव्योंमें नीच प्रकृतिवाले नायकों [के हो सकने] का भी प्रतिपादन करते हैं—

[सूत्र २३८]—कथाके अनुसार कहीं नीच भी नायक हो सकता है ।

कथा अर्थात् आख्यान-वस्तु । उसके वशसे अर्थात् सामर्थ्यसे अर्थात् हसनीयत्व आदि की दृष्टिसे । इसलिए 'भाण' और 'प्रहसन'में तथा किसी 'वीथी'में नीच भी नायक हो सकता है । प्रथम विवेकमें [केवल] मध्यम तथा उत्तमके नायकत्वका कथन किया था यह उसका अपवाद है ।

अब आगे समस्त रूपकोंके मुख्य नायकका लक्षण करते हैं—

[सूत्र २३९]—[रूपकके] प्रधान फलको प्राप्त करनेवाला [विषयासक्ति अथवा प्राण-हानि रूप विपत्ति] व्यसनसे रहित मुख्य नायक होता है ।[७]१६०।

व्यसनका अर्थ स्त्री आदिके प्रति आसक्ति अथवा [प्राणहानि आदि रूप] विपत्ति है ॥[७]१६०॥

[सूत्र २४०]—अब इस [मुख्य नायक] के गुणों को गिनाते हैं—

मुख्य नायकमें उनके सत्त्वसे उत्पन्न १. तेज, २. विलास, ३. माधुर्य, ४. शोभा, ५. स्थिरता, ६. गम्भीरता, ७. उदारता, ८. लालित्य ये आठ गुण रहते हैं ।[८]१६१।

'अष्टौ' इस पदसे [कारिकामें] कहे हुए [आठ गुणों] की गणना दिखलाई है । यह संख्याका नियम नहीं है [अर्थात् आठ ही गुण मुख्य नायकमें होते हैं यह इस 'अष्टौ' पदका अभिप्राय नहीं है । क्योंकि इनके अतिरिक्त] अन्य गुण भी नायकमें हो सकते हैं । ['सत्त्व-सम्भवात्' पदमें] 'सत्त्व' शब्दसे विपुलाशयत्वका ग्रहण होता है ॥[८]१६१॥

(१) अब आगे इन [आठ गुणों] मेंसे प्रत्येकके अलग-अलग लक्षण कहते हैं—

[सूत्र २४१]—क्षेपादेरसहिष्णुत्वं तेजः प्राणात्ययेऽपि च ।

क्षेपस्तिरस्कारः । आदिशब्दाद् दैन्यावज्ञादिग्रहः । 'प्राणात्ययेऽपि च' इति प्राणात्ययमप्युपगम्येत्यर्थः । तेनासहिष्णुत्वमक्षमा । न तु देशकालावस्थाद्यपेक्षया नीत्या सहनपूर्वकं निर्यातनमिति ।

(२) अथ विलासः—

[सूत्र २४२]—विलासो वृशवद् यानं धीरा दृक् सस्मितं वचः ।
[९] १६२ ॥

'वृषो' महोक्षः । धीरत्वमुदात्तत्वमिति ॥ [९] १६२ ॥

(३) अथ माधुर्यम्—

[सूत्र २४३]—माधुर्यं विकृतिः स्तुत्या क्षोभहेतौ महत्यपि !

प्रस्तुताद् रूपाद् रूपान्तरं 'विकृतिः' । 'स्तुत्या' रोमाञ्च-परिकरबन्ध-श्मश्रु-केशसमारचन-शस्त्रावलोकनादिकात् । 'क्षोभः' सत्त्वचलनमिति ।

(४) अथ शोभा—

[सूत्र २४४]—शोभा चिह्नं घृणा-स्पर्द्धा-दाक्ष्य-शौर्योद्यमोन्नये ॥
[१०] १६३ ॥

[सूत्र २४१]—प्राणनाशके संकटको स्वीकार करके भी अपमान आदिको सहन न करना 'तेज' कहलाता है ।

'क्षेप' अर्थात् तिरस्कार । आदि शब्दसे दैन्य और अवज्ञा आदिका ग्रहण होता है । 'प्राणात्ययेऽपि च' इसका अपने प्राणोंके विनाशको भी स्वीकार करके यह अभिप्राय है । इसलिए 'असहिष्णुत्व' का अर्थ सहन न करना क्षमा न करना है । देश, काल, अवस्था आदि की अपेक्षासे उस समय सहन करके बादमें उसका बदला लेना [निर्यातन, असहिष्णुत्व शब्द का अर्थ] नहीं है ।

(२) अब विलास [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४२]—वृषके समान गति, धीर दृष्टि और मुस्कराते हुए बात करना यह 'विलास' गुणका लक्षण है । [९] १६२ ।

वृष अर्थात् सांड । धीरत्वका अर्थ उदात्तत्व है ॥ [९] १६२ ॥

(३) अब आगे माधुर्य [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४३]—क्रोध आनेका महान् कारण उपस्थित होनेपर भी हलकी-सी विकृति माधुर्य [गुण कहलाती] है ।

प्रस्तुत वर्तमान रूपसे भिन्न रूपकी प्राप्ति 'विकृति' कहलाती है । हलके-से [स्तुत्या अर्थात्] रोमांच, कमर कसना, मूछोंपर ताव देना और शस्त्रकी ओर देखना आदिसे [हलकी-सी विकृतिका प्रकाशन माधुर्य गुण कहलाता है] । 'क्षोभ' अर्थात् सत्त्वसे विचलित हो जाना ।

(४) अब 'शोभा' [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४४]—घृणा, स्पर्द्धा, दक्षता, शौर्य तथा उद्यमके विद्यमान होनेके अनुमान करनेका चिह्न शोभा [गुण] कहलाता है ॥ [१०] १६३ ॥

'चिह्न' घृणादेः सत्तानिश्चयहेतुः शरीरविकारः। 'घृणा' नीचार्थजुगुप्सनम्। 'स्पर्द्धा' अधिकेन सह साम्याधिक्याभिलाषः। 'उद्यम' उत्साहः। एषामुन्नयः सत्ता-निश्चय इति ॥ [१०] १६३ ॥

(५) अथ स्थैर्यम्—

[सूत्र २४५]—विघ्नेऽप्यचलनं स्थैर्यं प्रारब्धादशुभादपि ।

'विघ्नः' प्रत्यूहः। 'अचलनं' दाढ्र्यम्। अशुभमिह परलोकानुचितमिति ॥

(६) अथ गाम्भीर्यम्—

[सूत्र २४६]—गाम्भीर्यं सहजा मूर्तिः कोप-हर्षादिगोपिनी ॥
[११] १६४ ॥

'सहजा' मुखराग-दृष्टविकारादिरहिता। 'मूर्तिः' देहस्वभावः। 'आदि' शब्दाद् भय-शोकादिग्रहः। 'गोपनी' प्रच्छादिकेति ॥ [११] [१६४ ॥

(७) अथौदार्यम—

[सूत्र २४७]—औदार्यं शत्रु-मित्राणां प्राणितेनाप्युपग्रहः ।

बहुवचनान्मध्यस्थानां ग्रहः। 'प्राणित'-शब्देन स्वजीवितव्यस्य दानमुच्यते। 'अपि'-शब्देन दान-प्रियभाषणादिग्रहः। 'उपग्रह' उपकार इति।

'चिह्न' अर्थात् घृणा आदिकी विद्यमानताका निश्चायक हेतुभूत शारीरिक विकार। नीच अर्थकी निन्दा 'घृणा' है। अधिक गुण वालेकी बराबरी करना या उससे अधिक बनने की इच्छा 'स्पर्द्धा' [कहलाती] है। 'उद्यम' का अर्थ उत्साह है। इनका 'उन्नयन' अर्थात् सत्ता का निश्चय [जिस चिह्नके द्वारा होता है उसको 'शोभा' गुण कहते हैं] ॥ [१०] १६३ ॥

(५) अब आगे स्थैर्य [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४५]—विघ्नोंके उपस्थित होने पर भी और अशुभ प्रारब्धसे भी [अपने निश्चयको न छोड़ना स्थैर्य कहलाता है]।

'विघ्न' अर्थात् प्रत्यूह बाधा। 'अचलन' अर्थात् दृढ़ रहना। 'अशुभ' का अर्थ यहाँ परलोकके अयोग्य [कर्म आदि] है।

(६) अब आगे गम्भीर्य [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४६]—क्रोध और हर्ष आदिको प्रकट न होने देनेवाली स्वाभाविक देह-स्थिति का नाम गाम्भीर्य है ॥ [११] १६४ ॥

सहजा अर्थात् [क्रोधादिके आनेपर भी] मुखकी लालिमा और दृष्टिके विकार आदि से रहित। 'मूर्ति' अर्थात् देहका स्वभाव। 'आदि' शब्दसे [कोप और हर्षके साथ] भय-शोकादिका भी ग्रहण होता है। 'गोपनी' अर्थात् आच्छादन करने वाली [प्रकट न होने देने वाली] ॥ [११] १६४ ॥

(७) अब आगे औदार्य [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४७]—अपने प्राण देकर भी शत्रु या मित्रका उपकार करना 'औदार्य' [क]हलाता है।

बहुवचनसे [शत्रु और मित्रोंके साथ] मध्यस्थोंका भी ग्रहण होता है। 'प्राणित'

(८) अथ ललितम्—

[सूत्र २४८]—शृङ्गारिचेष्टा ललितं निर्विकाराः स्वभावजाः ॥
[१२] १६५ ॥

'शृङ्गारिण्यः' शृङ्गारजनिताः। 'चेष्टाः' तिर्यगवलोकन-बक्रोक्तिभाषण-शरीर-संस्कारादिकाः। 'निर्विकाराः' गर्हारहिताः। 'स्वभावजाः' अबुद्धिपूर्वका इति ॥[१२]१६५॥

अथ मुख्यनेतारमुक्त्वा गौणमाह—

[सूत्र २४९]—अमुख्यो नायकः किञ्चिदूनवृत्तोऽग्र्यनायकात् ।

'अमुख्यत्वं' प्रधानफलापेक्षयाऽवान्तरफलभाजनत्वात्। 'नायकत्वं' बहुतर-वृत्तव्यापकत्वात् मुख्यनेतृसहायभूतत्वाच्च। 'किञ्चिदूनं' स्वल्पन्यूनं वृत्तं शौर्य-त्याग-बुद्ध्यादिकं यस्य। अयं च पताकाप्रकरीरूपो नायको द्रष्टव्य इति ॥

अथ प्रतिनायकमाह—

[सूत्र २५०]—लोभी धीरोद्धतः पापो, व्यसनी प्रतिनायकः ॥
[१३] १६६ ॥

मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायकः 'प्रतिनायकः'। यथा राम-युधिष्ठिरयो रावण-दुर्योधनौ इति ॥ [१३] १६६ ॥

शब्दसे अपने जीवनको दे डालनेका अभिप्राय है। 'अपि' शब्दसे दान और प्रियभाषण आदि का ग्रहण होता है। 'उपग्रह' अर्थात् उपकार।

(८) अब ललित [गुणका लक्षण आगे करते हैं]—

[सूत्र २४८]—[निन्दित] विकारोंसे रहित स्वाभाविक शृंगार-चेष्टाएँ ललित कहलाती हैं। [१२] १६५।

'शृंगारिणी' अर्थात् शृंगारसे उत्पन्न होने वाली। 'चेष्टा' अर्थात् तिरछी नजरसे देखना, वक्रोक्तियोंसे भाषण, तथा शरीरको सजाना आदि। 'निर्विकार' अर्थात् असुन्दरतासे रहित। 'स्वभावजा' अर्थात् बिना सोच कर की हुई ॥ [१२] १६५ ॥

मुख्य नायकका वर्णन करनेके बाद अब आगे गौण नायकको कहते हैं—

[सूत्र २४९]—मुख्य नायककी अपेक्षा कुछ कम वृत्त [कम कथाभाग] वाला अमुख्य नायक कहलाता है।

प्रधान फलकी अपेक्षा अवान्तर अमुख्य फलका पात्र होनेसे इसको 'अमुख्य' कहा गया है। और बहुत बड़े कथाभागमें व्यापक होने तथा नायकके सहायक रूपमें होनेसे उसका 'नायकत्व' होता है। जिसका वृत्त अर्थात् शौर्य त्याग और बुद्धि आदिका [मुख्य नायककी अपेक्षा] 'किंचिदूनम्' अर्थात् कम है। और यह [अमुख्य नायक कारिका २९ तथा ३२ में प्रथम विवेकमें कहे हुए] 'पताका' तथा 'प्रकरी' नायक समझने चाहिए।

अब आगे प्रतिनायकका लक्षण करते हैं—

[सूत्र २५०]—प्रतिनायक लोभी, धीरोद्धत, पापी और व्यसनी होता है। [१३]१६६।

मुख्य नायकका विरोधी नायक 'प्रतिनायक' कहलाता है। जैसे राम और युधिष्ठिरके विरोधी रावण और दुर्योधन आदि ॥ [१३] १६६ ॥

अथ विदूषकादीनां प्रकृतिं केषाञ्चिल्लक्षणं चाह—

[सूत्र २५१]—नीचा विदूषक-क्लीब-शकार-विट-किङ्कराः ।
हास्यायाद्यो नृपे श्यालः शकारस्त्वेकविद् विटः ॥
[१४] १६७ ॥

'क्लीबो' नपुंसकः । एषां नीचत्वं नैसर्गिकम् । स्वामिचित्तानुरोधादौपाधिकं तु मध्यमत्वमपि । तत्राद्यो विदूषको हास्यनिमित्तं भवति । हास्यं चास्य अंग-नेपथ्य-वचो-विकारात् त्रेधा । तत्रांगहास्यं खलति-खञ्ज-दन्तुर-विकृताननत्वादिना । नेपथ्यहास्य-मत्यायताम्बरत्वोल्लोकित-विलोकित-गमनादिना । वचोहास्यमसम्बद्धानर्थकाश्लील-भाषणादिना भवति । 'नृपे' नृपस्य सम्बन्धी 'श्यालः' पत्नीभ्राता । नीचत्वादेव चायं हीनजातिः । 'हास्याय' इति अत्रापि सम्बन्धान्न सर्वो राजपुत्रादिर्नृपश्यालः शकारः, किन्तर्हि विकृतहास्यहेतुः परिचारक एव । एकं राजोपयोगि किञ्चिद् गीतादिषु मध्ये वेत्ति इति एकविद्, विटो ज्ञेय इति ॥ [१४] १६७ ॥

अथ धीरोद्धतादीनां नेतॄणां प्रत्येकं विभिन्नान् विदूषकानाह—

[सूत्र २५२]—स्निग्धा धीरोद्धतादीनां यथौचित्यं वियोगिनाम् ।
लिंगी द्विजो राजजीवी शिष्यश्चैते विदूषकाः ॥
[१५] १६८ ॥

अब आगे विदूषक आदिकी प्रकृति और उनमेंसे किन्हींके लक्षण कहते हैं—

[सूत्र १६६]—विदूषक नपुंसक शकार विट और भृत्य आदि नीच [पात्र होते हैं] उनमेंसे पहला [अर्थात् विदूषक] हास्यके [उत्पन्न करने] केलिए होता है । राजाका [नीच जातीय] साला 'शकार' कहलाता है । [राजाके उपयोगी नृत्य गीतादि] किसी एक बातको जानने वाला 'विट' कहलाता है । [१४] १६७ ।

'क्लीब' अर्थात् नपुंसक । इनका नीचत्व स्वाभाविक होता है । किन्तु स्वामीके चित्तके अनुसार औपाधिक रूपसे मध्यमत्व भी हो सकता है । उनमेंसे पहला अर्थात् विदूषक [सबके लिए] हास्यजनक होता है । इसका हास्य (१) अंग, (२) वेष-भूषा तथा (३) वचनोंसे [उत्पन्न] तीन प्रकारका होता है । जैसे गंजापन, लंगड़ापन, बाहर निकलते हुए या ऊपर बैठे हुए दाँतों और विकृत मुख आदिसे अङ्ग-हास्य होता हैं । अत्यन्त लम्बे-चौड़े अस्त्रोंसे ऊपर ताकने, इधर-उधर देखने और गमन आदिके द्वारा नेपथ्यहास्य होता है । और असंबद्ध अनर्थक तथा अलीष्ल भाषण आदिके द्वारा वचन-मूलक हास्य उत्पन्न होता है । 'नृपे' अर्थात् राजाका सम्बन्धी । 'श्याल' अर्थात् पत्नीका भाई । नीच [पात्रोंमें परिगणित] होनेके कारण ही वह नीच जातिका होता है । 'हस्याय' इस पदका यहाँ [श्यालके साथ] भी संबंध होनेसे राजाके राजपुत्र आदि [उत्तमजातीय] सारे साले 'शकार' नहीं होते हैं अपितु विकृति हास्यके कारणभूत [नीचजातीय] परिचारक [रूपसाला] ही ['शकार' कहलाता है । विटके लक्षणमें आए हुए 'एकवित्' पदका अर्थ करते हैं] गीतादिमेंसे राजाके उपयोगी किसी एक को जानता है इसलिए 'एकवित्' विट कहलाता है ॥ [१४] १६७ ॥

अब आगे धीरोद्धत आदि नायकोंमेंसे प्रत्येकके अलग-अलग विदूषकों [के लक्षणोंको

'स्निग्धाः' सुहृदः। 'आदि' शब्दाद् धीरोदात्त-धीरललित-धीरप्रशान्ता गृह्यन्ते। एषां 'वियोगिनां' विप्रलम्भशृङ्गारवतां औचित्यानतिक्रमेण लिंग्यादयो यथासंभवं सन्धिं विग्रहेण, विग्रहं सन्धिना च विशेषेण दूषयन्ति विनाशयन्ति, विप्रलम्भं तु विनोददानेन विस्मारयन्ति इति 'विदूषकाः'। उचितश्च लिंगी देवतानां, ब्राह्मणस्य शिष्यः, राज्ञां तु शिष्यवर्जास्त्रयः। एवं वणिगादेरपीति ॥ [१५] १६८ ॥

अथैषामेव धीरोद्धतादीनां सहायानाह—

[सूत्र २५३]—युवराज-चमूनाथ-पुरोधः-सचिवादयः।

सहाया एतदायत्तकर्मैव ललितः पुनः ॥[१६]१६९॥

'आदि' शब्दादाटविक-सामन्तादयस्तापसादयश्च गृह्यन्ते। एते च केचिदर्थ-कामयोः सहायाः। केचिद् धर्मसहायाः। तथा सहायायत्तसिद्धिरेव धीरललितः। सहायव्यापारश्च नायकव्यापार एव, एतावद्रूपत्वान्नायकस्य। धीरोद्धतादयस्तु स्व-अन्य-उभयसिद्धयः इति॥ [१६] १६९॥

कहते हैं]—

[सूत्र २५२]—धीरोद्धत आदि नायकोंके [स्निग्धाः अर्थात्] मित्र और वियोगियोंके औचित्यके अनुसार लिंगी [अर्थात् ब्रह्मचारी या सन्यासी आदि] ब्राह्मण राजजीवी तथा शिष्य आदि विदूषक होते हैं। [१५] १६८।

'स्निग्ध' अर्थात् मित्र। [धीरोद्धत पदके साथ जुड़े हुए] 'आदि' शब्दसे धीरोदात्त, धीरललित तथा धीरप्रशांत नायकोंका भी ग्रहण होता है। इनके 'वियोगी' अर्थात् विप्रलम्भ-शृंगारयुक्त होनेपर यथासम्भव लिंगी आदि [विदूषक] औचित्यके अनुसार होते हैं। [आगे विदूषक शब्दका निर्वचन दिखलाते हैं] सन्धिको विग्रहोत्पादनके द्वारा तथा विग्रहको सन्धि-जनन द्वारा विशेष रूपसे दूषित अर्थात् विनष्ट करते हैं और विप्रलम्भको मनोरंजन प्रदान करनेके द्वारा विनष्ट करते हैं इसलिए 'विदूषक' कहलाते हैं। देवताओंके लिए [लिंगी अर्थात्] ब्रह्मचारी [या संन्यासी], ब्राह्मणके लिए शिष्य, और राजाके लिए शिष्यको छोड़कर शेष तीनों विदूषक उचित हैं। इसी प्रकार वणिग् आदि भी [औचित्यानुसार विदूषक समझ लेने चाहिए] ॥ [१६] १६८ ॥

अब आगे किन्हीं धीरोद्धत आदि [नायकों] के सहायकोंका वर्णन करते हैं—

[सूत्र २५३]—युवराज, सेनापति, पुरोहित और सचिव आदि [इन धीरोद्धत आदि नायकोंके] सहायक होते हैं। और धीरललित [नायक] तो इन [सहायकों] के आयत्त-सिद्धि वाला ही होता है। [अर्थात् स्वयं कार्य नहीं करता है। सहायकोंके द्वारा ही धीरललित नायकके सारे कार्योंका सम्पादन होता है]। [१७] १६९।

'आदि' शब्दसे वनाध्यक्ष [आटविक] तथा सामन्त और तापस आदिका ग्रहण होता है। इसमेंसे कुछ अर्थ तथा काम [की सिद्धि] में सहायक होते हैं। कुछ धर्म [की सिद्धि]में सहायक होते हैं और धीरललित [नायक] सहायायत्तसिद्धि ही होता है। सहायकोंका व्यापार नायकका ही व्यापार माना जाता है। क्योंकि [धीरललित] नायक इसी [सहायायत्तसिद्धि के] रूपमें होता है। [सहायायत्तसिद्धि धीरललित नायकको छोड़कर] धीरोद्धत आदि [शेष तीन प्रकारके नायक] तो (१) स्वायत्तसिद्धि, (२) अन्यायत्तसिद्धि और (३) उभयायत्तसिद्धि

अथ शुद्धान्तोचितं परिवारमाह—

[सू० २५४]—शुद्धान्ते कारुको द्वाःस्थः कंचुकी शुभकर्मणि ।
वर्षवरस्तु रक्षायां, निर्मुण्डः प्रेषणे स्त्रियाः ॥
कार्याख्याने प्रतीहारी, रक्षा-स्वस्त्योर्महत्तरा ।
पूर्वस्थितिविधौ वृद्धा, चित्रादौ शिल्पकारिका ॥
[१७] १७० ॥ [१८] १७१ ॥

शुद्धान्तमन्तःपुरं, तस्मिन्नाचारवान् आर्यो हीनसत्त्वः पुमान् 'कारुकः' । स द्वार-पालो दक्षो नपुंसकः । 'कंचुकी' अदूष्यजातिः स्त्रीस्वभावः । तुच्छसत्त्वो विनीतश्च 'वर्षवरः' । अतिनिःसत्त्वोऽकर्मकरश्च निर्मुण्डः' । स च स्त्रीणां दास्यादीनां प्रेषण-कारकः । 'रक्षा' भूत्यादिकर्म । 'स्वस्ति'मङ्गलवाचनम् । 'चित्रं' पत्र-वल्लयादि । 'आदि'शब्दाद् गन्ध-पुष्प-शिल्प-शय्या-आसन-छत्र-मण्डन-संवाहन-आक्रीड-व्यज-नादिग्रह इति ॥ [१७-१८] १७०-१७१ ॥

अथ नायिकां लक्षयति—

[सू० २५५]—नायिका कुलजा दिव्या क्षत्रिया पण्यकामिनी ।
अन्तिमा ललितोदात्ता पूर्वोदात्ता त्रिधा परे ॥
[१९] १७२ ॥

[तीन प्रकारके] होते हैं ॥ [१७] १६९ ॥

अब आगे अंतःपुरके उपयोगी परिचारक-वर्ग का वर्णन करते हैं—

[सूत्र २५४]—अन्तःपुरमें (१) कारुक, द्वारपाल, कंचुकी शुभकाममें, (२) रक्षामें वर्षवर, (३) स्त्रियोंके प्रेषण आदिमें निर्मुण्ड, [ये कार्यकर्ता होते हैं पुरुष] । [१७] १७० ।

कार्यकी सूचना देनेमें प्रतीहारी, भभूत आदि देने और स्वस्तिवाचनमें मेहतरानी, पूर्व-परम्परा विधिके पालनमें वृद्धा और चित्रादि-रचनामें शिल्पकारिका [ये स्त्रियां कार्यकर्त्री होती हैं] ॥ [१९] १७१ ॥

शुद्धान्तका अर्थ अन्तःपुर है । उसमें सदाचारी, श्रेष्ठ और पौरुषहीन पुरुष 'कारुक' [विशेष कार्यकर्ता] होना चाहिए । द्वारपाल चतुर नपुंसक होना चाहिए । उत्तम जाति का और स्त्रीस्वभाव वाला [पुरुष] कंचुकी होना चाहिए । न्यून पौरुष वाला और विनीत [पुरुष] वर्षवर [अन्तःपुर-रक्षक] होना चाहिए । अत्यन्त पौरुषहीन और अकर्मण्य निर्मुण्ड [होता है] । वह दासी आदि स्त्रियोंको इधर-उधर भेजनेवाला होता है । [कारिकाके रक्षा-स्वस्त्योर्महत्तरा भाग में प्रयुक्त] 'रक्षा' पद भभूत आदि देनेके अर्थमें प्रयुक्त है । स्वस्ति अर्थात् मंगल वाचन । चित्र अर्थात् पत्रवल्ली आदि [की रचना] । आदि शब्दसे गन्ध-पुष्प, शिल्प-शय्या-आसन-छत्र, मण्डन संवाहन, खिलौना और पंखे आदिका ग्रहण होता है ॥ १७०-१७१ ॥

अब आगे नायिकाके लक्षणको कहते हैं—

[सूत्र २५५] कुलजा दिव्या क्षत्रिया और वेश्या [चार प्रकारकी] नायिका होती है । उनमेंसे अन्तिम [अर्थात् वेश्या नायिका] ललितोदात्त [ही] होती है । और पहली [अर्थात्

'कुलजा' विप्र-वणिगादिकुलसम्भूता। 'अन्तिमा' इति पण्यकामिनी ललितोदात्ता रूपकेषु वर्णनीया कामार्थप्रधानत्वात्। 'पूर्वा' कुलजा पुनरुदात्ता, नय-विनय-गुरुभीत्यादिबहुलत्वात्। 'परे' द्वाभ्यामन्ये। त्रिधा धैर्य-लालित्य-उदात्तत्वेन त्रिप्रकारे। दिव्योत्तमजातित्वाभ्यां, कामार्थनिष्ठत्वाच्च। शान्तत्वप्रकारस्तु भोगभूमिजत्वेन दिव्यानां दिव्यासाहाचर्येणोपात्तत्वाच्च क्षत्रियाणां नैव गृह्यते इति ॥ [१६] १७२ ॥

अथासां विशेषमाह—

[सूत्र २५६]—रागिण्येवाप्रहसने नृपे दिव्ये च न प्रभौ।
गणिका क्वापि दिव्या तु भवेदेषा महीभुजः॥
[२०] १७३ ॥

प्रहसनवर्जिते रूपके गणिका नायिका रागिण्येव विधेया। यथा मृच्छकटिकायां चारुदत्तस्य वसन्तसेना। प्रहसने तु हास्यनिमित्तं अरक्तापि। नृप-दिव्यनायकयोश्च गणिका न नायिका निबन्धनीया। एषा गणिका यदि दिव्या भवति, तदा राज्ञः 'क्वापि' इति, वृत्तानुरोधान्नायिकात्वेन भवति। यथोर्वशी पुरूरवसः। 'नृपे दिव्ये च न प्रभौ' इत्यस्यापवादोऽयमिति ॥ [२०] १७३ ॥

कुलजा नायिका] उदात्त होती है। शेष दोनों दिव्या और क्षत्रिया [धीरा, ललिता और उदात्ता] तीन प्रकारकी होती हैं। [१६] १७२।

कुलजा अर्थात् ब्राह्मण या वणिक् आदिके कुलमें उत्पन्न हुई। [क्षत्रिया नायिका अलग गिनाई है इसलिए कुलजाकी व्याख्यामें क्षत्रियाका ग्रहण न करके ब्राह्मण या वैश्य कुलोत्पन्नाका ही वर्णन किया है]। अन्तिमा अर्थात् [पण्यकामिनी] वेश्या नायिका रूपकोंमें ललितोदात्ता ही वर्णन करनी चाहिए। पूर्वा अर्थात् पहिली कुलजा नायिका नीति विनय और गुरुओं [माता पिता आदि] से भयसे युक्त होनेके कारण उदात्ता ही [वर्णनीय होती है] 'परे' अर्थात् [वेश्या तथा कुलजा] इन दोनोंसे भिन्न [दिव्या तथा क्षत्रिया रूप] शेष दोनों [प्रकारकी नायिकाएँ] धीरा, ललिता तथा उदात्ता रूप होनेसे तीन प्रकारकी होती है। दिव्य तथा उत्तम जातिवाली होनेसे और काम तथा अर्थनिष्ठ होनेसे [दिव्य तथा क्षत्रिया नायिकाएँ धीरा, ललिता तथा उदात्ता] तीन प्रकारकी होती हैं। दिव्य नायिकाओंके भोग-भूमिमें उत्पन्न होनेके कारण और क्षत्रिया नायिकाओंके दिव्योंके साहचर्यसे प्राप्त होनेके कारण धीरशान्त वाला चौथे प्रकारका नहीं लिया जाता है। [अर्थात् धीर प्रशान्त नायकके समान धीरशान्त नायिका वर्णनीय नहीं होती है] ॥ [१६] १७२ ॥

[सूत्र २५६] अब इन [नायिकाओं] के विशेष भेदको कहते हैं—

प्रहसनसे भिन्न रूपकोंमें गणिका नायिका अनुरागिणी ही निबद्ध करनी चाहिए। [प्रहसनमें अनुराग रहित गणिका नायिका भी हो सकती है]। राजा और दिव्य नायकोंके साथ गणिका नायिकाका वर्णन नहीं करना चाहिए। कहीं-कहीं यह गणिका नायिका यदि दिव्य हो तो उसका राजाके साथ सम्बन्ध वर्णन हो सकता है। [२०] १७३।

प्रहसनसे भिन्न रूपकोंमें गणिका नायिका अनुरागिणी ही दिखलानी चाहिए। जैसे मृच्छकटिकमें चारुदत्तकी वसन्तसेना [अनुरागिणी नायिका है]। प्रहसनमें तो हास्य [जनन]

अथासां त्रैविध्यमाह—

[सूत्र २५७]—मुग्धा मध्या प्रगल्भेति त्रिविधाः स्युरिमाः पुनः ।

इमाः कुलजादय इति ।

अथ मुग्धा—

[सत्र २५८]—मुग्धा वामा रते स्वल्पमाना रोहद्वयः-स्मरा ॥

[२१] १७४ ॥

रतं सुरतं, तत्र विपरीता अनभिज्ञत्वात् । अत एवेषदीर्ष्या-कोपा । रोहत् प्रवर्धमानं वयो यौवनं स्मरश्च यस्या इति ॥ [२१] १७४ ॥

अथ मध्या—

[सूत्र २५९]—मध्या मध्यवयः-काम-माना मूर्छान्तमोहना ।

मध्या अनधिरूढप्रौढवयः-काम-माना यस्याः । मूर्छान्तं अचैतन्यपर्यवसायि मोहनं सुरतं किंचिदभिज्ञत्वादस्याः । एषा च धीरा अधीरा धीराधीरा चेति त्रिधा । तत्र धीरा कृतागसि प्रिये सोत्प्रासवक्रोक्तिपरा । अधीरा साश्रुपरुषभाषिणी । धीराधीरा साश्रूत्प्रासं परुषवक्रोक्तिवादिनीति ।

के कारण अनुरागहीन [गणिका नायिका] भी हो सकती है। राजा और दिव्य नायकों के साथ गणिका नायिकाका वर्णन नहीं करना चाहिए। किन्तु यह गणिका यदि दिव्य हो तो 'क्वापि' इस कथन से कथावस्तुके अनुरोधसे कभी राजाकी नायिका भी हो सकती है। जैसे उर्वशी पुरूरवाकी [नायिका है]। 'नृपे दिव्ये च न प्रभौ' राजा और दिव्य नायकके साथ गणिकाका वर्णन नहीं करना चाहिए' इस [पूर्वोक्त नियम] का यह अपवाद है जिसमें दिव्य गणिकाको राजाकी नायिका रूपमें वर्णन करनेकी अनुमति दी गई है] ॥ [२०] १७३ ॥

अब इन [नायिकाओं] के तीन भेद बतलाते हैं—

[सूत्र २५७]—[कुलजा दिव्या क्षत्रिया और गणिका] ये [चारों नायिकाएँ] फिर मुग्धा मध्या और प्रगल्भा [भेदसे] तीन प्रकारकी होती है।

ये अर्थात् कुलजा आदि [चारों नायिकाएं इनमेंसे प्रत्येकके तीन-तीन भेद होते हैं। कुल मिलाकर बारह भेद हो जाते हैं]।

अब मुग्धा [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २५८]—'यौवन और कामके उठावपर स्थित' स्वल्प मान वाली तथा सुरत-व्यापारमें प्रतिकूल नायिका 'मुग्धा' नायिका कहलाती है [२१] १७४।

अब आगे मध्या [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २५९]—मध्यम आयु, मध्यम काम और मध्यम मान वाली तथा सुरतकालमें [आनन्दातिरेकसे] मूर्छा पर्यन्त पहुँच जानेवाली मध्या नायिका होती है।

मध्यम अर्थात् अप्रौढ, जिसकी आयु, काम तथा मान [अप्रौढ] होते हैं [वह मध्या नायिका कहलाती है] मूर्छान्त अर्थात् अचैतन्य पर्यन्त जिसका 'मोहन' अर्थात् सुरत-व्यापार होता है। क्योंकि वह [सुरतानन्दसे] कुछ परिचित हो चुकी है। और यह धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा भेदसे तीन प्रकारकी होती है। उनमेंसे प्रियके [अन्यस्त्री-सम्बन्धरूप] अपराध-युक्त

अथ प्रगल्भा—

[सूत्र २६०]—प्रगल्भेद्धवयो-मन्यु-कामा स्पर्शेऽप्यचेतना ॥

[२२] १७५ ॥

इद्धा दीप्ता वयो-मन्यु-कामा यस्याः। प्रियेण स्पृष्टापि प्रकृष्टकामत्वादेषा चैतन्यं मुंचति। एषापि मध्यावत् त्रिप्रकारा। तत्र धीरा कृतागसि प्रिये सावहित्थादरा कृतौदासीन्या च रते। अधीरा सन्तर्जन-ताडनपरा। धीराधीरा सोत्प्रासवक्रोक्तिपरेति ॥ [२२] १७५ ॥

अथ प्रकारान्तरेण नायिकानां प्रसिद्धान् भेदानाह—

[सूत्र २६१]—कार्यतः प्रोषिते पत्यावभूषा प्रोषितप्रिया।

कार्यं धनार्जन-राजप्रयोजनादि, तस्माद् देशान्तरं गते प्रिये, अभूषा केशसम्मार्जनादिभूषारहितेति।

अथ विप्रलब्धा—

[सूत्र २६२]—विप्रलब्धा ससंकेते प्रेष्य दूतीमनागते ॥ [२३] १७६ ॥

होनेपर व्यंग्यपूर्ण ताने देने वाली होती है। अधीरा रोते हुए कठोर वचन कहने वाली होती है। और धीराधीरा रोते हुए व्यंग्य और कठोर ताने सुनाती है।

अब आगे प्रगल्भा [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६०]—पूर्ण रूपसे दीप्त आयु, काम तथा मान वाली और [प्रियके] स्पर्शमात्रसे [आनन्दातिरेक से] मूर्छित हो जाने वाली [नायिका] प्रगल्भा नायिका कहलाती है। [२२] १७५।

इद्ध अर्थात् दीप्त आयु, मान तथा काम जिसके हैं वह [इद्धवयो-मन्यु-काम हुई]। अत्यन्त उग्र काम-वासनासे युक्त होनेके कारण यह [प्रगल्भा नायिका] प्रियतमके स्पर्शमात्रसे भी होश-हवास भूल जाती है। यह भी मध्याकी तरह [धीरा-अधीरा और धीराधीरा भेदसे] तीन प्रकारकी होती है। उनमेंसे धीरा प्रियके अपराधी होनेपर अपने आकारको छिपाते हुए [प्रियके प्रति] आदर प्रदर्शित करती है, किन्तु सुरत-व्यापारमें उदासीन हो जाती है। अधीरा [प्रियको] डाँट-फटकार करती और मार तक लगाती है। धीराधीरा व्यंग्यपूर्ण ताने सुनाती है [२२] ॥ १७५ ॥

अब आगे नायिकाओंके अन्य प्रकारसे प्रसिद्ध भेदोंको कहते हैं—

[सूत्र २६१]—कार्यवश प्रियके बाहर चले जानेपर शरीरकी सजावट न करनेवाली प्रोषितपतिका नायिका कहलाती है।

कार्य अर्थात् धनोपार्जन अथवा राजाका प्रयोजन आदि, उसके कारण प्रियके देशांतर को चले जानेपर भूषारहित अर्थात केशप्रसाधन आदि रूप भूषासे रहित [नायिका 'प्रोषित्पतिका' कहलाती है]।

अब आगे विप्रलब्धा [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६२]—[नायिकाके साथ मिलनेका] संकेत करके और दूतीको भेज कर भी [प्रियके] न आनेपर [नायिका] 'विप्रलब्धा-नायिका' कहलाती है ॥ [२३] १७६ ॥

पत्याविति सर्वेषु स्त्रीभेदेषु स्मरणीयम्। तेन कार्यतः कृतसंकेते दूतीं वा प्रेष्यानागते पत्यौ 'विप्रलब्धा'इति सम्बन्धः ॥ [२३] १७६ ॥

अथ खण्डिता—

[सूत्र २६३]—खण्डिता खण्डयत्यन्यासक्त्या वासकमीर्ष्यिता ।

अपरस्त्र्यभिष्वंगादुचितं वासकर्म कुर्वाणे प्रिये असूयावती खण्डिता। विप्रलब्धायां नान्यस्त्र्यासक्तिरित्यस्या भेदः इति।

अथ कलहान्तरिता—

[सूत्र २६४]—ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्ते कलहान्तरितार्तिभाक् ॥ [२४] १७७ ॥

ईर्ष्याकलहेन तत्समीपान्निष्क्रान्ते तत्सविधमनागच्छति प्रिये पीडावती कलहान्तरितेति। अत्रेर्ष्यया कलहपूर्वकं परस्परमसंयोगाभिलाषः। पूर्वत्र तु नायिका समागमार्थिनी कलहाभावात्, किन्तु अन्यासंगिनि प्रिये ईर्ष्यामात्रवतीति विशेष इति ॥ [२४] १७७ ॥

अथ विरहोत्कण्ठिता—

[सूत्र २६५]—विलम्बयत्यदोषेऽपि विरहोत्कण्ठितोत्सुका ।

'पत्यौ' यह पद सब स्त्रियों [अर्थात् सब नायिकाओं] के साथ समझ लेना चाहिए। इसलिए कार्यवश मिलनेका संकेत करके और दूतोंको भेज करके भी कार्यवश पतिके न आ सकनेपर विप्रलब्धा नायिका होती है यह संबन्ध है ॥ [२३] १७६ ॥

अब आगे खण्डिता [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६३]—खण्डिता नायिका [पतिकी] अन्य स्त्रीके प्रति आसक्तिके कारण ईर्ष्यायुक्त होकर [अन्य स्त्रीके पास जाते समय उसके] वस्त्रों को खण्डित कर देती है।

अन्य स्त्रीके प्रति आसक्तिके कारण सुन्दर वस्त्र आदिको धारण करते समय पतिके प्रति असूयावती नायिका 'खण्डिता' कहलाती है। विप्रलब्धा नायिका] में [उसके पतिमें दूसरी स्त्रीके प्रति आसक्ति नहीं होती है यह [खण्डिता तथा विप्रलब्धा का] भेद है।

अब आगे कलहान्तरिता [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६४]—ईर्ष्या-कलहके कारण पतिके बाहर चले जानेपर दुःखी होने वाली 'कलहान्तरिता' नायिका कहलाती है। [२४] १७७।

ईर्ष्याकलहके कारण उस [स्त्री] के पाससे प्रियके निकल जाने और समीपमें न आने पर पीडा अनुभव करने वाली नायिका कलहान्तरिता' होता है। इसमें ईर्ष्या के कारण आपस में मिलने की इच्छा नहीं होती है। पहिली [खण्डिता] नायिका तो कलह न होने के कारण समागम के लिए इच्छुक है, किन्तु अन्य के साथ सम्बन्ध रखने वाले प्रिय के विषय में केवल ईर्ष्या वाली है यह भेद है। [२४] १७७॥

अब आगे विरहोत्कण्ठिता [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६५]—अपना कोई अपराध न होनेपर भी [अन्य स्त्रीके प्रति आसक्तिके कारण पास आनेमें] विलम्ब करनेपर उत्सुका [नायिका] विरहोत्कण्ठिता कहलाती है।

अन्यनारीव्यासंगादिना प्रस्तुतस्त्रीकृतापराधाभावेऽपि तत्रागन्तुकामेऽपि विलम्बं कुर्वाणे पत्यौ नायकोत्सुका सती विरहोत्कण्ठिता। अत्र प्रियागमनमचिरादवश्यम्भावि, परस्परं कलहश्च नास्तीति सर्वाभ्यो भिन्नेयमिति।

अथ वासकसज्जा—

[सूत्र २६६]—हृष्टा वासकसज्जात्मान्यलंकृतिपरैष्यति ॥ [२५] १७८ ॥

प्रियेण सह रात्र्यादिवसनं वासकः। तत्रोचिते उद्यमपरा। 'एष्यति' विवक्षितकालागमनवति प्रिये स्वमण्डनवती नायिका वासकसज्जा। पूर्वासु सर्वासु विप्रलम्भशृङ्गारो ऽत्र तु सम्भोगशृङ्गार इति भेदः॥ [२५] १७८॥

अथ स्वाधीनभर्तृका—

[सूत्र २६७]—सुभगम्मानिनी वश्यासन्ने स्वाधीनभर्तृका।

सुभगमात्मानं मन्यते या नायिका सा वश्ये आसन्ने च पत्यौ एतदीयरूपयौवनाद्याक्षिप्तहृदयत्वात् स्वाधीनभर्तृका। आसन्नवर्तिप्रियतमत्वेन पूर्वास्या भिन्नेयमिति॥

प्रस्तुत स्त्रीका अपराध न होनेपर भी उस [अपनी] स्त्रीके प्रति आनेकी इच्छा रखते हुए भी दूसरी स्त्रीके पास होने आदिके कारण पतिके विलम्ब करनेपर नायकसे मिलनके लिए उत्सुक नायिका 'विरहोत्कण्ठिता नायिका' कहलाती है। उसमें प्रियका आगमन शीघ्र ही अवश्य होने वाला और परस्पर कलह नहीं है इसलिए यह पूर्वकी सब नायिकाओं से भिन्न है।

अब आगे वासकसज्जा [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६६]—पतिके आनेकी आशा होनेपर प्रसन्न होकर अपनेको सजानेमें लगी हुई नायिका 'वासकसज्जा' कहलाती है। [२५] १७८।

रात्रि आदिको प्रियके साथ रहना 'वासक' है। उसके योग्य व्यापारमें लगी हुई [वासकसज्जा कहलाती है]। 'एष्यति' अर्थात् प्रियके विवक्षित कालपर आगमन करनेकी आशा होनेपर अपनेको सजानेमें लगी हुई नायिका 'वासकसज्जा' कहलाती है। पहले कही हुई [प्रोषितपतिका से लेकर 'विरहोत्कण्ठिता' तक पांच] सब नायिकाओंमें विप्रलम्भ शृंगार है। इस [छठी वासकसज्जा] में सम्भोग शृंगार है यह इसका अन्य सब नायिकाओंसे भेद है॥ [२५] १७८॥

अब आगे स्वाधीनभर्तृका [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६७]—[पतिके] अपने वशमें और सदा समीपवर्ती होनेपर अपनेको सुन्दर समझने वाली नायिका 'स्वाधीनभर्तृका' कहलाती है।

जो नायिका अपनेको सुन्दर समझती है वह पतिके अपने वशमें और समीपवर्ती होनेपर उसके रूप यौवन आदिसे हृदयके वशीभूत हो जानेसे स्वाधीनभर्तृका कहलाती है। प्रियके समीप उपस्थित होनेके कारण यह पिछली [अर्थात् वासकसज्जा नायिका] से भिन्न है।

अथाभिसारिका—

[सूत्र २६८]—सरन्ती सारयन्ती वा रिरंसुरभिसारिका ॥

[२६] १७६॥

सरन्ती स्वयं तस्य पार्श्वे, सारयन्ती वा तं प्रियमात्मसमीपे। रिरंसुः सुरतार्थिनी नायिका अभिसारिका। अत्र नायिकायाः प्रियसन्निधौ गमनमिति भेदः इति ॥ [२६] १७६ ॥

अथ स्त्रीणां यौवनस्थान् धर्मानाह—

[सूत्र २६६]—भावाद्या यौवने स्त्रीणामलङ्कारास्त्रयोऽङ्गजाः ।

दश स्वाभाविकाश्चैते क्रियारूपास्त्रयोदश ॥[२७]१८०॥

सति भोगे गुणाः सप्तायत्नजाश्च स्वभावजाः ।

नावश्यम्भाविनोऽथैषा, विंशतिः स्त्रीषु मुख्यतः ॥[२८]

१८१ ॥

यौवने उत्तमप्रकृतीनां च, वनितानां च भाव-हावादयोऽलंकाराः कटक-केयूरादिवद् वपुर्विभूषाहेतवः प्रादुर्भवन्ति। बाल्येऽपि किंचिदुन्मीलन्ति। वार्धके तु प्राचुर्येण नश्यन्ति। एते च यौवने स्त्रीणां प्राधान्यतोऽलंकाराः। पुंसां तूत्साहादयो मुख्यतो

अब आगे 'अभिसारिका' [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६८]—रमण करनेकी इच्छासे स्वयं [प्रियके पास] जाने वाली अथवा प्रिय को अपने पास बुलाने वाली नायिका अभिसारिका कहलाती है। [२६] १७६।

'सरन्ती' अर्थात् स्वयं उसके पास जाती हुई अथवा 'सारयन्ती' अर्थात् उस प्रियको अपने पास बुलाने वाली। रिरंसु अर्थात् सुरताभिलाषिणी नायिका अभिसारिका कहलाती है। इसमें नायिका स्वयं प्रियके पास जाती है [और स्वाधीनभर्तृकामें प्रिय नायिका के पास उपस्थित रहता है] यह [स्वाधीनभर्तृकासे इसका] भेद है ॥ [२६] १७६ ॥

अब आगे स्त्रियोंके [अर्थात् नायिकाओंके] यौवनमें होने वाले धर्मोंको कहते हैं—

[सूत्र २६६]—यौवनकालमें स्त्रियोंके भाव आदि तीन आंगिक और दस स्वाभाविक अलंकार होते हैं। ये तेरहों [अलङ्कार द्रव्य रूप न होकर] क्रिया-रूप होते हैं। [२७] १८०।

[प्रियका] सम्भोग होनेपर बिना प्रयत्नके उत्पन्न होने वाले सात स्वाभाविक गुण होते हैं जो अवश्यम्भावी नहीं होते हैं। ये बीस [१३+७=२०] गुण मुख्य रूपसे स्त्रियोंमें रहते हैं। [२८] १८१।

यौवनमें उत्तम प्रकृति वाले [पुरुषों] और स्त्रियोंमें भाव-हाव आदि अलङ्कार कटक-केयूर आदिके समान शरीरकी शोभाके जनक उत्पन्न हो जाते है। बाल्यावस्थामें भी कुछ-कुछ उदित होते हैं, और वृद्धावस्थामें अधिकांश प्रायः नष्ट हो जाते हैं। यौवनमें ये स्त्रियोंके मुख्य रूपसे अलङ्कार होते हैं। पुरुषोंके तो उत्साहादि मुख्य रूपसे अलङ्कार होते हैं। इसीलिए उद्धतादि नायकोंके साथ धीरत्व विशेषण कहा गया है। पुरुषोंमें भावादि

ऽलंकाराः । तेन नायकभेदेषूद्धतादिषु धीरत्वं विशेषणमुक्तम् । भावादयस्तु पुरुषाणां उत्साहाद्याच्छादिता एव भवन्तीति ते गौणाः । भावादीनां च विंशतिसंख्यात्वमत्रो-द्दिष्टभेदापेक्षया, अपरथा यौवने वनितालंकाराणामनन्तसंख्यात्वमेव । तत्र प्रथमे त्रयो ऽंगाद्, यौवनोद्भेधशालिनः प्रियदृष्टि-वस्त्र-माल्यादिबाह्यनिमित्तरहिताद् गात्रमात्राज्जा-यन्ते । तेभ्यः परे दश स्वस्माद् रतिलक्षणाद् भावात् प्रियोपभोगानुपभोगयोर्जायन्ते । एते च दश एक-द्वि-त्र्यादिविकल्पेन भावान्नावश्यम्भाविनः । अथांगजाःस्वाभावि-काश्च क्रियारूपाः स्त्रीचेष्टात्मकाः । मिलिताश्च त्रयोदशसंख्याः । ततः परे सप्त यत्नं अन्तःपरिस्पन्दं विना देहधर्मरूपाः पुरुषोपभोगे सति भवन्ति । पूर्वे तु चेष्टात्मकाः । इच्छातो यत्नस्ततो देहचेष्टेति यत्नजा इति ॥ [२७-२८] १८०-१८१ ॥

(१) अथ भावादीनां प्रत्येकशो लक्षणमाह—

[सूत्र २७०]—भावो वागादिवैशिष्ट्यं चिह्नं रत्युत्तमत्वयोः ।

वाचां, आदिशब्दात् कर-पादादीनां वैशिष्ट्यं हृद्यो विकारः अंतर्गतरतिभावस्य पामरनायिकावैलक्षण्येन उत्तमप्रकृतित्वस्य च निश्चयहेतुर्भावः । भवति हि तथाभूतं वागादिवैचित्र्यमुपलभ्य उद्बुद्धोऽयमन्तःकामप्रदीपोस्या इति, उत्तमप्रकृतिश्च नायिके-यमिति सहृदयस्य निश्चय इति ॥

[अलङ्कार] उत्साहादि [पुरुषोचित अलङ्कारों] से आच्छादित ही होते हैं इसलिए [पुरुषोंमें] उनको गौण कहा गया है । भाव आदिकी बीस संख्या यहाँ गिनाए गए [बीस] भावोंकी दृष्टिसे ही है । वैसे तो यौवनमें स्त्रियोंके अलङ्कारोंकी संख्या अनन्त होती है । उन [बीस अलङ्कारों] मेंसे [भाव-हाव और हेला ये] पहले तीन यौवनोदयसे युक्त शरीरमें प्रियके देखने अथवा वस्त्र-माल्य आदिके बिना बाह्य साधनोंके बिना केवल शरीरमात्रसे उत्पन्न होते हैं [इसीलिए इनको अंगज कहा गया है] । और उनसे अगले दस स्वयं अपने रतिरूप भावसे प्रियका उपभोग होने या न होनेपर उत्पन्न होते हैं । ये दस [अलङ्कार] कहीं एक, कहीं दो, या कहीं तीन आदि रूपसे भी उत्पन्न हो सकते हैं । इसलिए वे अवश्यम्भावी नहीं होते हैं । और अंगज तथा स्वाभाविक सभी अलङ्कार क्रियारूप अर्थात् स्त्रियोंके चेष्टात्मक होते हैं । [अंगज तथा स्वाभाविक दोनों प्रकारके अलङ्कारोंको] मिलाकर तेरह संख्या होती है । उनके बाद सात [अलङ्कार] पुरुषका उपभोग हो जानेके बाद [स्त्रियोंके भीतर] यत्न अर्थात् भीतरी व्यापारके बिना ही देह धर्मके रूपमें प्रकट होते हैं । पहले [तेरह] तो चेष्टात्मक होते हैं । [पर ये सात चेष्टात्मक नहीं अपितु देह धर्मरूप होते हैं यह इनका भेद है] । इच्छासे यत्न होता है । यत्नसे देह-चेष्टा होती है । इसलिए [देह-चेष्टात्मक पहले तेरह अलङ्कार] यत्न [और अन्तिम सात अलङ्कार अयत्ज] होते हैं ॥ [२७-२८] १८०-१८१ ॥

अब आगे भाव आदिके अलग-अलग लक्षण करते हैं—

रति और उत्तमत्वकी सूचक वाणी आदिको विशेषताको 'भाव' कहते हैं ।

[सूत्र २७०]—वाणीका और आदि शब्दसे हाथ-पैर आदिका वैशिष्ट्य अर्थात् मनोहर विकार, भीतर रहने वाले रति-भावका और पामर नायिकासे भिन्न उत्तम प्रकृतित्वके निश्चायक चिह्न, 'भाव' कहलाता है । उस प्रकारके वाणी आदिके वैशिष्ट्यको देखकर इसके भीतर काम-प्रदीप प्रज्वलित हो गया है इस प्रकारका और यह नायिका उत्तम

(२) अथ हावः —

[सूत्र २७१]—नेत्रादिविकृतं हावः सशृङ्गारमसन्ततम् ॥

[२६] १८२ ॥

नेत्रयोः, आदिशब्दाद् भ्रू-चिबुक-ग्रीवादेश्च सातिशयो विकारः शृङ्गारोचित उद्भिद्योद्भिद्य विश्रान्तिमत्त्वेनासन्ततो हाव इति ॥ [२६] १८२ ॥

(३) अथ हेला—

[सूत्र २७२]—तदेव सन्ततं हेला, तारुण्योद्बोधशालिनी ।

तदेव सातिशयं नेत्रादिविकृतं सन्ततं प्रसरणशीलं सशृङ्गारं समुचितविभाव-विशेषोपग्रहविरहादनियतविषयं प्रबुद्धरतिभावसमन्वितं हेला। अस्यां च तारुण्यस्य प्रकर्षगमनम्। एते च त्रयोऽङ्गजाः परस्परसमुत्थिता अपि भवन्ति। तथा हि कुमारी-शरीरे प्रौढतमकुमारगत-हाव-भाव-हेलादर्शन-श्रवणाभ्यां भावादयोऽनुरूपा विरूपाश्च भवन्ति। किन्तूत्तरानपेक्ष्य एव भावः। हावस्तु भावापेक्षः। हावापेक्षिणी च हेला। पूर्वपूर्वोत्कर्षरूपत्वादनयोरिति।

प्रकृतिकी है इस प्रकारका निश्चय सहृदयोंको हो जाता है [इसीलिए भावको रति तथा उत्तमत्वका चिह्न कहा गया है]।

अब आगे 'हाव' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७१]—शृङ्गारयुक्त किन्तु निरन्तर न रहनेवाला नेत्रादिका विकार 'हाव' कहलाता है। [२६]१८२।

दोनों नेत्रोंका, और आदि शब्दसे भौंह, ठोडी, गर्दन आदिका शृंगारके अनुरूप विशेष प्रकारका [विकार] उठ-उठकर विश्रांत हो जानेके कारण निरन्तर न विद्यमान रहने वाला विकार 'हाव' कहलाता है ॥[२६]१८२॥

अब आगे 'हेला' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७२]—यौवनोत्कर्षपर उदित और निरन्तर रहनेवाला वही [नेत्रादिका विशेष प्रकारका विकार] 'हेला' कहलाता है।

शृंगारके अनुरूप और निरन्तर विद्यमान रहनेवाला नेत्र आदिका वही विशेष प्रकार का बिकार किसी विशेष कारण [विभाव] के सम्बन्धके बिना, अनियत-बिषय [अर्थात् किसी व्यक्ति-विशेषसे सम्बद्ध न होनेवाला] प्रबुद्ध सामान्य रतिभावसे समन्वित [वही नेत्रादि का विशेष प्रकारका विकार] 'हेला' कहलाता है। इस [हेला] में यौवनोदय प्रकर्षको प्राप्त हो जाता है। [भाव, हाव और हेला] ये तीनों आंगिक विकार एक-दूसरेसे भी उदित होते हैं। जैसे कि कुमारीके शरीरमें प्रौढतम कुमारके भाव हाव हेलाको देखने या सुननेसे [उस कुमारके प्रति रुचि या अरुचि होनेके कारण] अनुरूप या विरूप भावादि उत्पन्न होते हैं। [ये परस्पर अन्योन्य भावादि होते हैं] किन्तु इनमेंसे भाव उत्तरवर्ती [हावादि] की अपेक्षा नहीं रखता और हाव [अपने पूर्ववर्ती] भावकी अपेक्षा करता है [भावके बिना हाव उत्पन्न नहीं हो सकता है। और हावके बाद उत्पन्न होनेवाली] हेला हावकी अपेक्षा करती है [हाव के बिना उत्पन्न नहीं होती है] इन [हाव तथा हेला] दोनोंके पूर्व-पूर्वके उत्कर्ष रूप होनेसे।

अथ स्वभावजेषु प्रथमं विभ्रममाह—

[सूत्र २७३]—रागादिना विपर्यासः क्रियाणामथ विभ्रमः ॥

॥ [३०] १८३ ॥

अथेति आंगिकानन्तर्यार्थः। रागः प्रियतमं प्रत्येव बहुमानः। आदिशब्दान्मद-हर्षादिग्रहः। मदो मद्यकृतश्चित्तोल्लासः। हर्षः सौभाग्यगर्वः। अन्यथा वक्तव्येऽन्यथा-वचनं, हस्तेनादातव्ये पादेनादानं, कटीयोग्यस्य कण्ठे निवेशनं, इत्यादिकश्चेष्टाविपर्यासो विभ्रमः। विशिष्टविभावलाभे रतिप्रकर्षाद् देहविकाराः स्वाभाविकाः। अंगजास्तु विशिष्टविभावमन्तरेणेति विशेषः ॥ [३०]१८३ ॥

अथ विलासः—

[सूत्र २७४]—विलासः प्रियदृष्ट्यादौ चारुत्वं गात्रकर्मणोः।

आदिशब्दात् सम्भाषणादिग्रहः। चारुत्वं तात्कालिकः सातिशयो विशेषः। कर्मस्थानासन-गमन-निरीक्षणादिचेष्टेति।

अथ विच्छित्तिः—

अर्थात् अपने पूर्ववर्ती भावके उत्कर्ष रूप होनेसे हाव, भावकी अपेक्षा करता है और अपने पूर्ववर्ती हावके उत्कर्ष-रूप होनेसे हेला हावकी अपेक्षा करती है]।

[इस प्रकार तीन प्रकारके आंगिक धर्मोंको कह चुकनेके बाद] अब आगे स्वाभाविक [दस धर्मों] मेंसे पहले 'विभ्रम' को कहते हैं—

[सूत्र २७३]—रागादिके कारण क्रिया उलट-पुलट हो जाना 'विभ्रम' कहलाता है।[३०]१८३।

'अथ' इस शब्दका अर्थ आंगिक [धर्मोंके वर्णन] के बाद यह है। राग अर्थात् प्रियतम के प्रति ही अत्यन्त आदर। आदि शब्दसे मद, हर्ष आदिका ग्रहण होता है। मद अर्थात् मद्यपानके कारण उत्पन्न चित्तकी प्रसन्नता। हर्ष अर्थात् अपने सौभाग्यका गर्व। कुछ और कहनेके स्थान पर कुछ और कह जाना, हाथसे पकड़ने योग्यको पैरसे पकड़ना, कमरमें पहिनने योग्यको गलेमें डाल लेना [यह सब 'क्रियाणां विपर्ययः' 'विभ्रम' कहलाता है। विशिष्ट कारण [विभाव] के प्राप्त होनेपर रतिके प्रकर्षसे देहमें विकार होना स्वाभाविक है [इसलिए इनको स्वाभाविक धर्म कहा गया है] और आंगिक विकार तो विशेष कारणके बिना [शरीरमात्रसे उत्पन्न] होते हैं यह [इन दोनों प्रकारके धर्मोंका भेद है] ॥[३०]१८३॥

अब आगे 'विलास' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७४]—प्रियके दर्शन आदिसे शरीर और कर्मोंमें विशेष सुकुमारता 'विलास' कहलाता है।

आदि शब्दसे सम्भाषण आदिका ग्रहण होता है। चारुत्व अर्थात् उस समय उत्पन्न होनेवाला विशेष प्रकारका सौन्दर्य। कर्म अर्थात् खड़ा होना, बैठना, चलना और देखना आदि चेष्टाएँ।

अब आगे 'विच्छित्ति' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७५]—वेषाल्पतैव विच्छित्तिः परां शोभां वितन्वती ॥
॥ [३१] १८४ ॥

स्वल्पाप्याकल्परचना प्रकृतिसौभाग्यादिगुणयुक्तत्वात् परां शोभां स्त्रियां वितन्वती विच्छित्तिरिति ॥ [३१] १८४ ॥

अथ लीला—

[सूत्र २७६]—लीला दयितवागादेः स्वे न्यासो बहुमानतः ।

आदिशब्दाद् वेष-व्यापारादिग्रहः । प्रियतमप्रीत्यतिशयेन दयितवागादेः सशृङ्गारं स्वस्मिन् न्यासः सम्यक् करणं लीलेति ।

अथ विव्वोकः—

[सूत्र २७७]—विव्वोकोऽनादरो मान-दर्पादिष्टेऽपि वस्तुनि ॥
॥ [३२] १८५ ॥

मानश्चित्तसमुन्नतिः । दर्पः सौभाग्यगर्वः । इष्टं वस्त्रमाल्यालंकारादीति ।
॥ [३२] १८५ ॥

अथ विहृतम्—

[सूत्र २७८]—विहृतं जल्पकालेऽपि मौनं ह्री-व्याज-मौग्ध्यतः ।

जल्पकालो भाषणस्योचितः समयः । मौनमभाषणम् । व्याजः छद्म । उपलक्षण-

---

[सूत्र २७५]—अत्यधिक सौन्दर्यको प्रदर्शित करनेवाला स्वल्प वेष-धारण ही विच्छित्ति कहलाती है ।[३१]१८४।

स्त्रियोंके भीतर उनके प्रकृष्ट सौभाग्यादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त सौंदर्य को प्रकाशित करनेवाला थोड़ासा भी वेष-विन्यास 'विच्छित्ति' कहलाती है ।।[३१]१८४।।

अब आगे 'लीला' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७६]—प्रियके वचन आदिको अत्यन्त आदरपूर्वक अपने भीतर रखना लीला कहलाती है ।

आदि शब्दसे वेष और व्यापार आदिका ग्रहण होता है । प्रियतमके प्रति अत्यधिक प्रेम होनेके कारण प्रियतमकी वाणी आदिको शृंगाराभिव्यक्तिपूर्वक अपनेमें लगाना अर्थात् यथार्थ बनाना 'लीला' कहलाती है ।

अब आगे 'विव्वोक' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७७]—मान अथवा दर्पके कारण इष्ट वस्तुके प्रति भी अनादर दिखलाना 'विव्वोक' कहलाता है ।[३२]१८५।

मान अर्थात् चित्तका चढ़ा होना । हर्ष अर्थात् सौभाग्यका गर्व । इष्ट अर्थात् वस्त्र माला, अलंकार आदि ।।[३२]१८५।।

अब आगे 'विहृत' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७८]—लज्जा अथवा किसी बहाने अथवा मुग्धताके कारण बोलने के उचित समयपर भी न बोलना 'विहृत' कहलाता है ।

त्वादनायत्तत्व-बाल्यादयोऽपि गृह्यन्ते। आत्मनो ह्रयादिप्रकाशननिमित्तं समयेऽप्य-भाषणं विहृतमित्यर्थः।

अथ ललितम्—

[सूत्र २७९]—ललितं गात्रसंचारः सुकुमारो निरर्थकः ॥[३३]१८६॥

गात्रस्य नेत्रहस्तादेः, संचारो व्यापारः। सुकुमारोऽतिमनोहरो, द्रष्टव्यं विना दृष्टिक्षेपो, ग्राह्यमृते हस्तादिव्यापृतिरित्येवं निष्प्रयोजनो ललितम्। सप्रयोजनस्तु व्यापारो विलास, इत्यनयोर्भेदः इति॥ [३३] १८६॥

अथ कुट्टुमितम्—

[सूत्र २८०]—कचौष्ठादिग्रहे कोपो मृषा कुट्टुमितं मुदि।

आदिशब्दात् स्तन-करादिग्रहः। प्रियतमेन कचादिषु गृह्यमाणाया अन्तः-प्रमोदे ऽपि व्यलीककोपकरणं कुट्टुमितमिति।

अथ मोट्टायितम्—

[सूत्र २८१]—मोट्टायितं प्रियेक्षादौ रागतो गात्रमोटनम् ॥[३४]१८७॥

प्रियस्य दर्शन-श्रवणानुकरणादिषु तद्भावभावनात्मकरागवशादंगमर्दनपर्यन्तं योषितश्चेष्टितमति॥ [३४] १८७॥

जल्पकाल अर्थात् भाषणके उचित समय। मौन अर्थात् चुप रहना। व्याज अर्थात् बहाना। इसके उपलक्षण रूप होनेसे परवशता और बाल्य आदिका ग्रहण होता है। अपनी लज्जा आदिके प्रकाशनके लिए बोलनेके अवसरपर भी न बोलना 'विहृत' कहलाता है यह अभिप्राय है।

आगे 'ललित'का [लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७९]—व्यर्थ ही नजाकतके साथ अंगोंका चलाना 'ललित' कहलाता है।

गात्र अथवा नेत्र और हाथ आदिका, संचार अर्थात् संचालन-व्यापार। सुकुमार अर्थात् अत्यन्त मनोहर। [जैसे] द्रष्टव्य विषयके न होनेपर भी दृष्टि दौड़ाना, पकड़ने योग्य किसी वस्तुके न होनेपर भी हाथ आदिका चलाना। इस प्रकारका निष्प्रयोजन व्यापार 'ललित' कहलाता है। और सप्रयोजन व्यापार 'विलास' कहलाता है। यह इन दोनोंका भेद है ॥[३३]१८६॥

अब आगे 'कुट्टमित' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८८]—[प्रियतम द्वारा] केश, ओष्ठ आदि पकड़े जानेपर [हृदयके भीतर तो प्रसन्नताके होनेपर भी [बाहर] मिथ्या क्रोध दिखलाना 'कुट्टमित' कहलाता है।

आदि शब्दसे स्तन, कर आदिका ग्रहण होता है। प्रियतमके द्वारा केश आदिके पकड़े जानेपर भी भीतर प्रसन्नता होनेपर भी झूठमूठ नाराज होता 'कुट्टमित' कहलाता है।

अब आगे मोट्टायित [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८१]—प्रियतमके दर्शन आदिके होनेपर अंगोंका मरोड़ना 'मोट्टायित' कह-है।[३४]१८७।

प्रियतमके दर्शन, श्रवण, अनुकरणादिके होनेपर तन्मयता रूप रागके कारण [विशिष्ट] अंगोंके मर्दन पर्यन्त स्त्रीका व्यापार 'मोट्टायित' कहलाता है ॥[३४]१८७॥

अथ किलकिंचितम्—

[सूत्र २८२]—मुहुः स्मिताऽश्रुकम्पादेः संकरः किलकिंचितम् ।

आदिशब्दाद् भय-हसित-श्रम-रोष-गर्व-दुःखाभिलाषादिग्रहः । गर्वाद् वारं वारं स्मितादीनां संकीर्णतया योषिता यत्करणं तत् किलकिञ्चितम् । एते दश स्वाभाविका भुक्तायामभुक्तायां च योषिति रतिभावोद्बोधाद् भवन्तीति ।

यथायत्नजेषु सप्तसु शोभा प्रथमं लक्ष्यते—

[सूत्र २८३]—औज्ज्वल्यं यौवनादीनामथ शोभोपभोगतः ।[३५]१८८ ।

यौवनस्य, आदिशब्दाद् रूप-लावण्यादीनां च पुरुषेणोपभुज्यमानानां यदौज्ज्वल्यं छायाविशेषः सा शोभा । अथेति स्वाभाविकानन्तर्यार्थ इति ॥ [३५] १८८ ॥

अथ कान्ति-दीप्ती—

[सूत्र २८४]—सा कान्तिः पूर्णसम्भोगा दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ।

शोभैव रागावतारघना कान्तिः । कान्तिरेव चातिविस्तीर्णा दीप्तिः । यौवनादीनामौज्ज्वल्यस्य मन्द-मध्य-तीव्रावस्थाः क्रमेण शोभा-कान्ति-दीप्तय इत्यर्थः इति ।

अब आगे 'किलकिंचित' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८२]—बार-बार हँसने, रोने और कम्पन आदिका सम्मिश्रण 'किलकिंचित' कहलाता है ।

आदि शब्दसे भय, हास्य, श्रम, रोष, गर्व, दुःख और अभिलाष आदिका ग्रहण होता है । गर्वके कारण स्त्रियोंके द्वारा हँसने, रोने आदिका जो बार-बार संकीर्ण रूपसे किया जाता है वह 'किलकिंचित' कहलाता है [यह अभिप्राय है । भुक्ता तथा अभुक्ता दोनों प्रकार की स्त्रियोंमें रतिभावका उदय होनेपर ये दश स्वाभाविक धर्म उदय होते हैं ।

अब आगे बिना यत्नके उत्पन्न होने वाले सात धर्मोंमेंसे पहले 'शोभा' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र २८३]—उपभोगके बाद यौवन आदिकी उज्ज्वलता 'शोभा' कहलाती है । [३५] १८८ ।

अनु०—यौवनका, और आदि शब्दसे रूप-लावण्यादिकी पुरुषके द्वारा भोगे जाने पर जो उज्ज्वलता अर्थात् सौन्दर्यातिशय उसको 'शोभा' कहते हैं [यह अभिप्राय है] । ['अथ शोभोपयोगतः, में प्रयुक्त] 'अथ' शब्द स्वाभाविक आनन्तर्य अर्थका बोधक है । [अर्थात् पहले निरूपण किए दस स्वाभाविक धर्मोंके बाद शोभाका लक्षण किया जा रहा है] ॥ [३५] १८८ ॥

अब आगे 'कान्ति' और 'दीप्ति' [दोनोंका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८४]—पूर्ण विस्तारको प्राप्त हो जानेपर वह शोभा ही 'कान्ति' कहलाती है । और 'कान्ति' का भी विशेष विस्तार 'दीप्ति' कहलाता है ।

अत्यन्त अनुरागातिशयके कारण घनताको प्राप्त शोभा ही 'कान्ति' कहलाती है और अत्यन्त विस्तारको प्राप्त हो जाने वाली 'कान्ति' ही 'दीप्ति' कहलाती है । अर्थात् यौवन आदिकी उज्ज्वलताकी मन्द, मध्य और तीव्र अवस्थाएँ ही क्रमशः शोभा, कान्ति और दीप्ति कहलाती हैं यह अभिप्राय है ॥

अथ माधुर्यौदार्ये—

[सूत्र २८५]—सौम्यं तापेऽपि माधुर्यम्, औदार्यमुचिताच्युतिः ॥ [३६] १८९ ॥

शोक-क्रोध-भय-अमर्ष-ईर्ष्यादिजः सन्तापस्तापः। अपि शब्दाद् व्रीडा-रत्यादिजे अस्वास्थ्ये ऽपीति। तापे ऽपि सत्युचितस्य विनयादिकस्य अच्युतिरपरित्यजनं औदार्यम्। माधुर्यं आकाराविकृतिः इत्यनयोर्विशेष इति ॥ [३६] १८९ ॥

अथ धैर्य-प्रागल्भ्ये—

[सूत्र २८६]—चेतोऽविकत्थनं धैर्यं प्रागल्भ्यं कौशलं रते।

अविकत्थनं आत्मश्लाघा-चापलाभ्यां रहितं चेतो धैर्यमिति। कौशलं वैशारद्यं, रते सुरतक्रियायां यत् तत् प्रागल्भ्यम्। एते यत्नमन्तरेण पुरुषोपभोगनिष्पन्नाः स्त्रीणां सप्त गुणा इति।

अथ एवंविधालङ्कारवतीनां स्त्रीणां नायकेषु विनियोगमाह—

[सूत्र २८७]—यथौचित्यं च नेतॄणां नायिकाः, कुलजादयः ॥ [३७] १९०

औचित्यं प्रकृति-अवस्था-आचार-देशकालाद्यविरोधः। तदनतिक्रमेण धीरोद्धतादीनां नायकानां कुलजादयो नायिका नाटकेषु निबन्धनीया इति ॥ [३७] १९० ॥

अब आगे 'माधुर्य' और 'औदार्य' [दोनोंके लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८५]—तापके होनेपर भी सौम्यता माधुर्य कहलाता है। और उचित मार्गसे पतित न होना 'औदार्य' कहलाता है। [३६] १८९।

शोक, क्रोध, भय, अमर्ष और ईर्ष्यादिसे उत्पन्न होने वाला सन्ताप यहाँ 'ताप' [माना गया] है। 'अपि' शब्दसे लज्जा और रत्यादिसे उत्पन्न अस्वस्थताका भी ग्रहण होता है। इस तापके होनेपर भी [सौम्यताका बना रहना 'माधुर्य' कहलाता है]। और तापके होनेपर भी विनय आदि रूप उचित बातोंका परित्याग न करना 'औदार्य' कहलाता है। आकारमें विकार का उत्पन्न न होना माधुर्य है [और मनमें विकारका उत्पन्न न होना औदार्य है] यह इन दोनोंका भेद है ॥ [३६] १८९ ॥

अब आगे 'धैर्य' तथा 'प्रगल्भता' [दोनोंका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८६]—[आत्मश्लाघा और चपलतासे रहित चित्तावस्थाका नाम 'धैर्य' है और सुरत-व्यापारमें निपुणताकी प्राप्ति 'प्रगल्भता' कही जाती है।

अविकत्थन अर्थात् आत्मश्लाघा और चपलतासे रहित चित्तावस्थाका नाम 'धैर्य' है। और 'रते' अर्थात् सुरत-व्यापारमें जो कौशल अर्थात् निपुणता वह 'प्रागल्भ्य' कहलाता है। ये सात गुण पुरुषोपभोगके द्वारा स्त्रियोंमें बिना यत्नके स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं।

अब इस प्रकारके [१०+७=१७] अलंकारोंसे युक्त नायिकाओंका नायकोंके साथ सम्बन्ध दिखलाते हैं—

[सूत्र २८७]—औचित्यके अनुसार कुलजा आदि नायिकाएँ नायकोंके साथ विनियुक्त करनी चाहिए। [३७] १९०।

औचित्य अर्थात् प्रकृति, अवस्था, आचार, देश, काल, आदिके साथ अविरोध। उस

अथासां नायिकानां सहायिन्य उच्यन्ते—

[सूत्र २८८]—सहायिन्यस्तु धात्रेयी-लिंगिनी-प्रातिवेशिकाः ।
शिल्पिनी चेटिका-सख्यो गुप्ता दक्षा मृदु-स्थिराः ॥
[३८] १६१ ॥

धात्रेयी स्तन्यदायिनी । लिंगिनी परिव्राजिकादिलिंगवती । प्रातिवेशिका निकटावसथा । शिल्पिनी चित्रादिशिल्पकारिका । चेटिका दासी । सखी समानगुणा मैत्र्यमुपगता । एवमादिकाःप्रियघटने सहायिन्यः । एताश्च 'गुप्ता' रहस्यधारणसमर्थाः । दक्षा देश-काल-समयादिविदः । मृद्व्यो अनहंकृताः । स्थिराश्चापलवर्जिताः । एवमन्येऽपि गुणा द्रष्टव्या इति ॥ [३८] १६१ ॥

अथ सामान्येन भाषाविधानमुच्यते—

[सूत्र २८९]—देवानीचनृणां पाठः संस्कृतेनाथ जातुचित् ।
महिषी-मन्त्रिजाया-पण्यस्त्रीणामव्याजलिंगिनाम् ॥
[३९] १६२ ॥

[औचित्य] का उल्लङ्घन किए बिना धीरोद्धत आदि नायकोंके साथ कुलजा आदि नायिकाओं का नाटकादिमें वर्णन करना चाहिए ॥ [३७] १९० ॥

अब इन नायिकाओंकी सहायिकाओंको कहते हैं—

[सूत्र २८८]—धाय, परिव्राजिका, पड़ोसिन, शिल्पिनी, दासी और सखी जो [गुप्ता अर्थात्] रहस्यको धारण करनेमें समर्थ, चतुर, अहंकाररहित और चपलतारहित हों इनकी सहायिकाएँ होती हैं । [३८] १६१ ।

धात्रेयी अर्थात् दूध पिलाने वाली धाय । लिंगिनी अर्थात् परिव्रजिका आदिके चिह्नों को धारण करने वाली । प्रतिवेशिका अर्थात् समीप रहने वाली पड़ोसिनी । शिल्पनी अर्थात् चित्रादि शिल्पकी रचना करने वाली । चेटी अर्थात् दासी । सखी अर्थात् समान गुण वाली और मित्रताको प्राप्त स्त्री । इस प्रकार की स्त्रियाँ प्रियके साथ मिलन करनेमें सहायिका होती हैं । ये सब गुप्ता अर्थात् रहस्यको छिपा सकनेमें समर्थ, दक्षा अर्थात् देश, काल, आचार आदिको समझने वाली, मृदु अर्थात् अहंकाररहित और स्थिरा अर्थात् चपलतारहित होनी चाहिए । इसी प्रकारके अन्य गुण भी [सहायिकाओंमें] समझने चाहिए ॥ [३८] १६१ ॥

अब सामान्य रूपसे भाषाविधानको कहते हैं—

[सूत्र २८९]—देवताओं और नीचोंको छोड़कर अर्थात् उत्तम तथा मध्यम पुरुषोंके पाठ संस्कृतमें [होना चाहिए] । और कभी-कभी पटरानी, मन्त्रि-पत्नीवेश्याओंका तथा [लिंगिनी पदमें लिंगिनश्च लिंगिन्यश्च अर्थात् पुरुष तथा स्त्री-रूप दोनों प्रकारके लिंगियोंमेंसे एक शेष हो जानेसे] पुरुष तथा स्त्री-रूप दोनों प्रकारके परिव्राजकों दम्भ-रहित [अर्थात् मुनि, बौद्ध, भिक्षु, श्रोत्रिय आदि] द्वारा [भी संस्कृत का प्रयोग किया जाना चाहिए] । ३९ [१६२] ॥

देवशब्देन सुराः सुर्यश्चैकशेषाद् गृह्यन्ते। एषां च नीचवर्जितानामुत्तम-मध्यम-नराणां च। स्त्रीणां प्राकृतस्यैव विधानात् पुरुषाणामेव संस्कृता भाषा। कदाचित् पुनः कार्यवशतः कृताभिषेकाया राज्ञ्या मन्त्रिजा-पण्यस्त्रियोर्लिंगिनां च एकशेषेण पुं-स्त्रीरूपाणां परिव्राड्-मुनि-शाक्य-श्रोत्रियादीनां संस्कृतं द्रष्टव्यम्। लिंगिनश्च दम्भं विना ये गृहीतव्रतास्तेषां संस्कृतम्। सामर्थ्याच्च व्याजलिंगिनां प्राकृतमिति लभ्यते। स्वगोपनार्थमेतैर्भाषान्यथात्वस्य करणात्। तत्र महिष्याः संधि-विग्रहचिंतादिना, मंत्रि-जाया न्यायप्रवृत्त्यादिना वेश्याया वैदग्ध्यादिना, लिंगिनां च सर्वविद्याकौशलख्यापनादिना कार्येण संस्कृतं, अन्यत्र तु प्राकृतमवगंतव्यम्। 'योषिताम्' इति महिष्यादीनां प्राकृतस्यैव प्राप्तौ 'देवानीचनृणां' इति च लिंगिनां संस्कृतस्यैव प्रसङ्गे 'जातुचित्' इत्यप्राप्त्यर्थं प्राप्तनिषेधार्थं चोपात्तम्। तेन लिंगिनां बाहुल्येन प्राकृतं भवतीति ॥ [३६] १६२ ॥

अथ प्राकृतं पाठ्यमाह—

[सूत्र २६०]—बाल-षण्ढ-ग्रहग्रस्त-मत्त-स्त्रीरूप-योषिताम्।
प्राकृतेनोत्तमस्यापि दारिद्र्यैश्वर्यमोहिनः ॥
[४०] १६३ ॥

'देव' शब्दसे एक शेषसे देव और देवी दोनोंका ग्रहण होता है। इनमें और नीचोंको छोड़कर शेष पुरुषोंकी भाषा संस्कृत होनी चाहिए। स्त्रियोंके लिए प्राकृतका ही विधान होने से [स्त्रियोंकी प्राकृत भाषाही होनी चाहिए]। कभी-कभी कार्यवश पटरानी मंत्रि-पत्नी वेश्या तथा लिंगियोंमें एक शेष द्वारा स्त्री-पुरुष रूप दोनों प्रकारके संन्यासियों मुनियों बौद्ध तथा ब्राह्मण श्रोत्रिपादिकी संस्कृत भाषा समझनी चाहिए। लिंगसे जिन्होंने दम्भ रहित होकर व्रत लिया है उनको संस्कृतका प्रयोग कराना चाहिए। इस कथनकी सामर्थ्यसे बनावटी परिव्राजक आदिके द्वारा प्राकृतका प्रयोग करना चाहिए यह अर्थ निकलता है। क्योंकि ये अपनेको छिपानेके लिए भाषाको बदल भी लेते हैं। उनमेंसे सन्धि-विग्रह आदिकी चिन्ताके अवसरपर राजनीतिके [द्वारा संस्कृत भाषण करना चाहिए] न्याय, विचार आदिके समय [मन्त्रिजाया अर्थात्] मन्त्रीकी पत्नीके द्वारा [संस्कृत भाषण कराना चाहिए]। वैदग्ध्यादि [प्रदर्शन] के लिए वेश्या द्वारा और सब विद्याओंमें प्रवीणताके सिद्ध करनेके लिए परिव्राजिका आदिके द्वारा कार्याविशेषके कारण संस्कृतका प्रयोग कराना चाहिए। और साधारण रूपमें अन्य जगह प्राकृतका ही प्रयोग समझना चाहिए। 'योषिताम्' इस पदसे महिषी आदिमें प्राकृत [का प्रयोग] प्राप्त होनेसे और 'देवानीचनृणां' पदसे परिव्राजक आदिमें संस्कृत [के प्रयोगके] के ही प्राप्त होनेपर 'जातुचित्' इस पदको [प्राप्तकी] अप्राप्तिकेलिए अर्थात् प्राप्तके निषेध करनेके लिए ग्रहण किया गया है। इसलिए परिव्राजक आदिमें अधिकतर प्राकृतका प्रयोग होता है ॥ [३६] १६२ ॥

अब आगे प्राकृत पाठ्यको कहते हैं—

[सूत्र २६०]—बालकों, नपुंसकों ग्रहग्रस्त, मत्त, स्त्रीप्रकृति वाले और स्त्रियोंका प्राकृतका ही प्रयोग कराना चाहिए। और दारिद्र्य अथवा ऐश्वर्यादि मोहित उत्तम पुरुषके द्वारा भी [प्राकृत भाषाका ही प्रयोग कराना चाहिए। [४६] १६३।

ग्रहैः शनैश्चरादिभिः, कदाग्रहैर्वा ग्रस्ता दूषिता ग्रहग्रस्ताः। स्त्रीरूपाः स्त्रीप्रकृतयः पुरुषाः। बालादीनामज्ञत्व-नीचप्रकृतिकत्व-तुच्छस्वभावत्वादेः प्राकृतेन पाठः। तथोत्तमप्रकृतेरपि धीरोदात्तादे-र्दारिद्र्यैश्वर्याभ्यां उपलक्षणाद् धनभ्रंशादिना च मूढमनसः प्राकृत पाठ इति ॥ [४०] १६३ ॥

अपरमपि वाक्प्रकारमाह—

[सूत्र २६१]—अत्यन्तनीच-भूतादौ पैशाची मागधी च वाक् ।
शौरसेनी तु नीचस्य देशोद्देशे स्वदेशगीः ॥[४१]१६४॥

अत्यन्तनीचः प्रकृष्टाधमप्रकृतिः। आदिशब्दात् पिशाचादिग्रहः। एषु पैशाची मागधी च सांकर्येण भाषा भवति। नीचमात्रप्रकृतेः पुनः शौरसेनी। देशस्य कुरु-मगधादेरुद्देशः प्रकृतत्वं तस्मिन् सति स्व-स्वदेशसम्बन्धिनी भाषा निबन्धनीयेति ॥ [४१] १६४ ।

प्रकारांतरमप्याह—

[सूत्र २६२]—तिर्यग्जात्यन्तरादीनामानुरूप्येण संकथा ।

तिर्यञ्चः पशवो पक्षिणश्च। जात्यन्तराणि वणिग्-विप्र-चाण्डालादीनि। एतानि

ग्रहों अर्थात् शनैश्चर आदिके अथवा कुत्सित आग्रहोंसे जो दूषित हैं वे ग्रहग्रस्त हुए [उनके द्वारा प्राकृत भाषाका प्रयोग कराना चाहिए]। स्त्रीरूप अर्थात् स्त्रियों-जैसे स्वभाव-वाले पुरुष [उनके द्वारा भी प्राकृतका ही प्रयोग कराना चाहिए]। बालकों आदिके मूर्ख, अज्ञानी, नीच प्रकृति वाले तथा क्षुद्र स्वभाववाले होने आदिके कारण प्राकृत भाषाका पाठ कराया जाता है। और [कभी] उत्तम प्रकृति वाले अर्थात् धीरोदात्त आदिके [स्वभाव वाले पुरुषके] भी दरिद्रता अथवा ऐश्वर्यातिशयसे मोहित हो जानेपर और इनके उपलक्षण रूप होनेसे धननाश आदिसे भी विमूढमनस्क हो जानेपर प्राकृत ही बुलवाना चाहिए ॥[४०]१६३॥

अब बोलनेके विषयमें अन्य प्रकारोंका भी वर्णन करते हैं—

[सूत्र २६१]—अत्यन्त नीच भूतादि [के भाषण] में 'पैशाची' तथा मागधी [संकीर्ण] भाषा प्रयुक्त होती है। नीच [पात्रके भाषण] में 'शौरसेनी' [प्राकृत भाषा] होती है। और किसी देश-विशेषका उल्लेख होनेपर अपने-अपने देशकी भाषाका ही प्रयोग कराना चाहिए। [४१] १६४।

अत्यन्त नीच अर्थात् अत्यधिक अधम प्रकृति वाला। [भूतादि पदमें प्रयुक्त] आदि शब्दसे पिशाचादिका ग्रहण होता है। इसमें पैशाची और मागधी दोनों भाषाओंका संकीर्ण रूपसे प्रयोग होता है। और केवल सामान्य रूपसे नीच प्रकृति वाले पात्रमें शौरसेनी भाषाका प्रयोग कराना चाहिए ॥ [४१] १६४ ॥

अब आगे [भाषाके विषय] अन्य प्रकार भी बतलाते हैं—

[सूत्र २६२]—पशु-पक्षी आदि और विभिन्न जातियोंमें औचित्यके अनुसार [भाषा का अवलम्बन करके] बातचीत होनी चाहिए।

तिर्यक् अर्थात् पशु और पक्षी। अन्य जातियाँ अर्थात् वणिक्, विप्र, चाण्डाल आदि। ये सब एक ही स्थानपर भी हो सकते हैं। 'आदि' शब्दसे ग्राममें रहनेवाले नगर-निवासी

चैकस्मिन्नपि देशे भवन्ति। आदिशब्दाद् ग्राम्य-नागरक-आरण्यक-विट्-देवकुलिकादि-ग्रहः। एवंविधपात्राणामानुरूप्येण यस्य तिर्यगादेर्या भणितिरीतिः प्रसिद्धा सा सा तस्य सम्यग् वर्णनीया। येन स एवायं तिर्यगादिरिति ताद्रूप्यावगमो भवति। इयं च देशगीश्च प्रायो अपभ्रंशे निपततीति॥

अथ भाषादेरन्यथात्वमपि भवतीत्याह—

[सूत्र २९३]—भाषा-प्रकृति-वृत्तादेः कार्यतः क्वापि लंघनम्॥
[४२] १९५॥

भाषायाः संस्कृत-प्राकृतादेर्वाचः। प्रकृतेरुत्तम-मध्यमाधमरूपायाः। वृत्तस्य आचारस्य, इतिवृत्तस्य वा। आदिशब्दाद् धीरोद्धतवादिधर्माणां नेपथ्यादेर्वा केनचित् प्रयोजनेन लंघनमिति क्रमो विधेयः। एतच्च यथायथं क्वचित् किंचित् प्रदर्शितमेव। स्वयं वाभ्यूह्यमिति॥ [४२] १९५॥

अथ रूपकेषु यो येन नाम्ना व्यवहर्तव्यस्तस्य तदाह—

[सूत्र २९४]—आर्येति शब्द्यते पत्नी लिंगिनी ब्राह्मणी द्विजैः।
अम्बापि जननी-वृद्धे पूज्या तु भवतीत्यपि॥
[४३] १९६॥

और वनमें रहने वाले तथा विट्, देवकुलिका आदिका ग्रहण होता है। इस प्रकारके पात्रोंकी भाषा आनुरूप्यके अनुसार अर्थात् जिस तिर्यगादिकी जो भाषा लोकमें प्रसिद्ध है उसकी उसके साथ भली प्रकारसे प्रयोग करना चाहिए जिससे यह वही तिर्यगादि है यह बात ठीक तरह से प्रतीत हो सके। यह [तिर्यगादिकी भाषा] और देश-भाषा दोनों प्रायः अपभ्रंशमें आती हैं।

अब आगे भाषा आदिमें परिवर्तन भी हो सकता है यह बात दिखलाते हैं—

[सूत्र २९३]—भाषा, प्रकृति, वृत्त अर्थात् आचार या कथावस्तु आदिका कार्यवश कहीं उल्लंघन भी किया जा सकता है। [४२] १९५।

भाषा अर्थात् संस्कृत और प्राकृत आदि वाणीका। प्रकृति अर्थात् उत्तम, मध्यम, अधम रूप प्रकृतिका। वृत्त अर्थात् आचरणका अथवा कथावस्तुका। आदि शब्दसे धीरोदात्तत्वादि धर्मोंका अथवा वेष-भूषादिका किसी विशेष प्रयोजनसे लङ्घन किया जा सकता है इस प्रकारका [क्रम अर्थात्] अन्वय करना चाहिए। इस बातका कहीं-कहीं कुछ वर्णन किया जा चुका है। अथवा स्वयं समझ लेना चाहिए॥ [४२] १९५॥

अब रूपकोंमें जिसको जिस नामसे पुकारा जाना चाहिए उसके उस नाम आदिको बतलाते हैं—

[सूत्र २९४]—ब्राह्मणोंके द्वारा पत्नी, परिव्राजिका और ब्राह्मणी 'आर्या' इस नामसे कही जाती है। माता और वृद्धा स्त्री [आर्या शब्दसे तो कही ही जाती है किंतु उसके अतिरिक्त] 'अम्बा' भी कही जाती है। पूज्या स्त्री [भी आर्या तो कही ही जाती है उसके अतिरिक्त] 'भवती' इस पदसे भी कही जाती है। [४३] १९६।

भ्रात्राग्रजो ऽधमैर्मन्त्री नटी-सूत्रभृतौ मिथः ।
पुरोधः-सार्थवाहाभ्यां य पत्नी पत्न्या जरन् पतिः
॥ [४४] १६७ ॥

'आर्यशब्द' इत्यन्तो अविवक्षितलिंग-संख्या-कारकः शक्तिस्वरूपमात्रेण ग्रहणार्थमुपात्तः । तेन नानालिंग-संख्या-कारकेषु प्रयुज्यते । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । पत्नी सधर्मचारिणी । अम्बापीति न केवलं 'आर्या' शब्देन किंतु 'अम्बा' शब्देनापि जननी-वृद्धे उच्येते । पूज्या मान्या । सा चात्रेषद् वृद्धा सती, 'भवति' इति शब्देन 'आर्या' शब्देन च वाच्या ।

भ्रात्रा अनुजेन अग्रजो ज्येष्ठो भ्राता, अधमैर्हीनैः मंत्री राज्ञः सचिवो नटी-सूत्रधारौ मिथः परस्परं नट्या सूत्रधारः सूत्रधारेण च नटी, पुरोधः-सार्थवाहाभ्यां कर्तृभ्यां पत्नी, पत्न्या च कर्त्र्या वृद्धः पतिः 'आर्य' इति शब्द्यते इति संबंधः । 'आर्येति शब्द्यते पत्नी' इत्यनेनैव सिद्धेऽपि 'पुरोधः-सार्थवाहाभ्यां पत्नी' इति यौवनेऽपि 'आर्या' इति वा निबंधनार्थम् ॥ [४३-४४] १६६-१६७ ॥

[छोटे भाईके द्वारा] बड़े भाईको [आर्य शब्दसे भी कहा जाता है और उसके अतिरिक्त] भ्राता [भी कहा जाता है] नीच पात्रोंके द्वारा मन्त्रीको [को आर्य] और नटी तथा सूत्रधार परस्पर एक-दूसरेको [आर्य तथा आर्या] और पुरोहित तथा सार्थवाहके साथ [यौवनस्थामें] पत्नी [आर्या] तथा पत्नीके द्वारा वृद्ध पति [आर्य शब्द कहा जाता है]। [४४] १६७ ।

[आर्येति इस कारिकाभागमें] इति शब्द जिसके अन्तमें दिया गया है इस प्रकारका आर्य शब्द लिंग, संख्या, कारक आदिसे रहित शक्तिके स्वरूपमात्रसे ग्रहण किया गया है । इसलिए विभिन्न लिंग, संख्या तथा कारकोंमें उसका प्रयोग माना जाता है । इसी प्रकार अन्य शब्दोंके विषयमें भी समझना चाहिए । [अर्थात् अम्बा, भवती आदि शब्द भी नियत संख्या, नियत कारक आदिके ग्राहक न होकर सामान्य रूपसे ही पढ़े गए हैं] । पत्नीका अर्थ सहधर्मचारिणी है । 'अम्बापि' इसमें जननी तथा वृद्धाके न केवल 'आर्या' शब्दसे ही नहीं अपितु 'अम्बा' शब्दसे भी कही जाती है । पूज्या अर्थात् मान्य । वह कुछ थोड़े वृद्धा होनेपर 'भवती' इस शब्दके द्वारा तथा 'आर्या' शब्दके द्वारा सम्बोधित की जाती है ।

भाई अर्थात् छोटे भाई द्वारा बड़े भाईको [आर्य शब्दसे], तथा नीच पात्रोंके द्वारा मन्त्री अर्थात् राजाके सचिवको [आर्य कहा जाता है] तथा नटी और सूत्रधार एक-दूसरेको परस्पर अर्थात् नटीकेद्वारा सूत्रधारको [आर्य] तथा सूत्रधारकेद्वारा नटीको [आर्या सम्बोधन किया जाता है] । पुरोहित तथा सार्थवाह रूप प्रयोगकर्ताओंके द्वारा पत्नी [आर्या कही जाती है] और पत्नीके द्वारा वृद्ध पति [आर्य रूप पदसे सम्बोधित किया जाता है । 'आर्येति शब्द्यते पत्नी' इस १६६वीं कारिकाके प्रारम्भिक भाग] से ही [पत्नीके लिए आर्या शब्दके प्रयोगके] सिद्ध होनेपर भी 'पुरोधः-सार्थवाहाभ्यां पत्नी' इसमें [जो पत्नीको आर्या पदसे सम्बोधित किए जानेकी बात दुबारा कही गई है] वह [पुरोहित तथा सार्थवाहकेद्वारा] यौवनावस्थामें भी पत्नीको 'आर्या' कहकर ही सम्बोधित करना चाहिए इस बातको सूचित करनेकेलिए कही गई है ॥ [४३-४४] १६६-१६७ ॥

अन्यदप्याह—

[सूत्र २६५]—महाराजो नृपः सर्वस्त्वार्यपुत्रेति यौवने ।
पुंसा भद्रेति भोक्तव्या प्रियेति दयिताथवा ।
॥ [४५] १६८ ॥

पिता-पुत्राभिधायोगैर्मुख्या देव्यपि राजभिः ।
विदूषकेण भवती राज्ञी-चेट्यौ नृपस्त्रियः ॥
॥ [४६] १६६ ॥

भट्टिनी स्वामिनी देवीत्येवं सर्वाः परिच्छदैः ।
वेश्या ऽज्जुकेति वृद्धा तु साऽत्ता तुल्या स्त्रिया हला ॥
॥ [४७] २०० ॥

'पत्न्या' इति 'जरन्' इति चानुवर्तते। पत्न्या जरन्नृपो 'महाराज' इति । सर्वस्तु नृपोऽन्यश्च पतिर्यौवने वर्तमान 'आर्यपुत्र' इति पत्न्या कीर्त्यते । आर्यपुत्र इति' हि श्वशुरेण व्यपदेशो यौवनस्य शृङ्गारोचितत्वख्यापनार्थः । यौवनादन्यत्र तु 'आय

[इसी विषयमें आगे] और भी कहते हैं—

[सूत्र २६५]—[पत्नीके द्वारा वृद्ध] राजाको महाराज [कहकर सम्बोधन करना चाहिए] सब राजा और अन्य [सामान्य रूपसे राजा तथा] पति को पत्नी के द्वारा यौवन कालमें आर्यपुत्र [नामसे सम्बोधित किया जाता है]। भोक्तव्या स्त्रीको पुरुष [प्रथम परिचयके साथ] भद्रा [कहकर], और दयिता अर्थात् भार्याको या प्रिय, [कहकर सम्बोधन करें] । [४५]१६८।

अथवा [दयिता अर्थात् अपनी पत्नीको उसके] पिता या पुत्रोंके नामको जोड़कर [रामचन्द्रकी माता अथवा सोमशर्माकी पुत्री इस रूपमें सम्बोधन किया जाता है] । राजाओं के द्वारा मुख्या अर्थात् पटरानीको [प्रियाके अतिरिक्त] देवी भी [कहा जाता है] । विदूषकके द्वारा रानी और चेटी [दोनोंको भवती पदसे सम्बोधित किया जाना चाहिए] । [४६]१६६।

सारी रानियोंको परिजनोंके द्वारा भट्टिनी, स्वामिनी, देवी इस प्रकार सम्बोधन किया जाना चाहिए [इसमें 'नृपस्त्रियः' पद १६६वें श्लोकके अन्तमें आया है उसका अन्वय इस २००वें श्लोकमें होता है] । [यौवनवती] वेश्याको [उसके सेवकवर्ग] 'अज्जुका' [कहकर सम्बोधन करते हैं] और उसी [वेश्या] के वृद्ध होनेपर 'अत्ता' पदसे उसको सम्बोधित किया जाता है । और बराबर वाली स्त्रियाँ एक-दूसरेको 'हला' कहकर सम्बोधन करती हैं । [४७]२०० ।

'पत्न्या' और 'जरन्' ये दोनों पद [१६७ संख्यावाली कारिकासे] अनुवृत्ति द्वारा आते हैं । इसलिए पत्नीके द्वारा वृद्ध राजाको महाराज [कहकर सम्बोधित किया जाता है । यह अभिप्राय है] । सामान्य रूपसे सारे राजाओंको [महाराजके अतिरिक्त] आर्यपुत्र [भी कहा जाता है] यौवनावस्थामें वर्तमान पतिको [पत्नी] आर्यपुत्र पदसे कहती है । 'आर्यपुत्र' यह नाम श्वसुरके सम्बन्धसे बना है । [और यौवनकालमें इस शब्दका प्रयोग] यौवनके शृङ्गारो-

इत्येवं कीर्त्यते । भोक्तव्या भोक्तुमभिलषिता प्रथमपरिचये पुरुषेण स्त्री 'भद्रा' इति, दयिता भार्या पुनर्यौवने 'प्रिया' इति कीर्त्यते । अथवा दयिता पिता-पुत्रयोर्यदभिधानं तद्योगैस्तेन युज्यमानैः शब्दैः 'माठरपुत्रि' 'सोमशर्मजननि' इत्येवमादिभिः पुरुषेणा-भाष्या । मुख्या कृताभिषेका दयिता पुनर्देवीति, अपिशब्दात् प्रियेति च राजभिर्बहु-वचनादन्यैश्च पुम्भिः । तथा विदूषकेण राज्ञी राजपत्नी चेटी च 'भवति' इति वाच्या । तथा सर्वा अपि नृपस्त्रियो राजपत्न्यः परिजनेन भट्टिनी स्वामिनी देवी इति शब्दैः शब्द्यन्ते । वेश्या पण्यस्त्री यौवनवती द्रष्टव्या, वृद्धाया नामान्तरविधानात् । परिजनेन 'अज्जुका' इति । सा इति वेश्या । वृद्धा पुनः 'अत्ता' इति । तुल्या समानकुल-शीलवयो-ऽवस्थादिका वनिता च समानया स्त्रिया'हला'इति वाच्या इति । ॥ [४५-४७]१९८-२००॥

अन्यदप्याह—

[सूत्र २६६]—हंजे त्वनुत्तमा-प्रेष्ये भगवदिति देवता ।
तपःस्था चार्च्य-देवर्षि-बहुविद्याः सयोषितः ॥
[४८] २०१ ॥

चित होनेकी सूचना देनेवाला है । यौवनकालको छोड़ अन्य समयमें केवल 'आर्य' पदसे [पत्नी पतिको सम्बोधित करती है] । भोक्तव्य अर्थात् जिसके साथ पुरुष भोग करना चाहता है उस स्त्रीको प्रथम परिचयके समय पुरुष 'भद्रे' कहकर सम्बोधित करता है । और दयिता अर्थात् अपनी भार्याको यौवनकालमें 'प्रिया' पदसे सम्बोधित करता है । अथवा दयिता अर्थात् पत्नीको [उसका पति प्रियाके अतिरिक्त उसके] पिता और पुत्रके जो नाम हों उनके साथ जोड़कर माठरकी पुत्री, सोमशर्माकी माता आदि इस प्रकारके शब्दोंसे सम्बोधित करता है । मुख्या अर्थात् अभिषिक्ता पत्नीको राजा लोग देवी भी कहते हैं । अपि शब्दसे प्रिया भी राजाओंके द्वारा कहा जाता है । बहुवचनसे अन्य पुरुषोंके द्वारा भी [कृताभिषेका रानीको देवी कहा जाता है] । तथा विदूषकके द्वारा राजपत्नी अर्थात् रानी और चेटी दोनोंको 'भवती' पदसे सम्बोधित किया जाता है । और राजाओंकी सभी पत्नियों अर्थात रानियोंको परिजनवर्ग भट्टिनी, स्वामिनी तथा देवी शब्दोंसे सम्बोधित करते हैं । वेश्या पदसे यौवनावस्थावाली बाजारू स्त्रीका ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि वृद्धा वेश्याओंके लिए [अत्ता इस] दूसरे नाम का विधान किया गया है । [उस यौवनवती वेश्याको] परिजनवर्ग 'अज्जुका' इस नामसे कहते हैं । 'सा' अर्थात वही वेश्या वृद्धा हो तो 'अत्ता' पदसे कही जाती है । तुल्या अर्थात् समान कुल, शील, आयु और दशा आदि वाली बराबरवाली स्त्रीको बराबरवाली दूसरी स्त्री 'हला' कहकर सम्बोधित करती है ॥ [४५-४७] १९८-२०० ॥

[इसी विषयमें आगे] और भी कहते हैं—

[सूत्र २६६]—उत्तम प्रकृतिसे रहित [अत एव अप्रेष्या अर्थात् दूती आदिके रूपमें प्रियके पास न भेजने योग्य] और प्रेष्या दोनोंको 'हंजे' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है । [सरस्वती आदि] देवता और तपस्विनी स्त्रीको 'भगवती' शब्दसे कहा जाता है । पूज्य और बहुश्रुत पुरुषों और उनकी पत्नियों दोनोंको भी भगवत् शब्दसे सम्बोधित करना चाहिए । [४८] २०१ ।

मान्यो नामान्तरैः राजा लिंगिनाथ विदूषकैः ।
वयस्यो ऽप्यधमैर्भट्टी लोकैर्देवेति भूपतिः ॥
[४६] २०२ ॥

उत्तमप्रकृतिरहिता युवतिःअप्रेषणीया सती अनुत्तमा, सा, प्रेष्या च 'हंजे' शब्देन कीर्त्यते । देवता सरस्वत्यादिका । तपःस्था व्रतविशेषवती । एते च स्वतंत्रे, न तु कंचनापि पतिमाश्रिते । अर्च्याः पूज्यतमाः । बहुविद्याः बहुश्रुताः । एते अर्च्यादयः सयोषितो भार्याप्येतदीया भगवच्छब्देनोच्यते इत्यर्थः । तथा मान्यः प्रसिद्धनामपरिहारेण नामान्तरैः प्रशंसासूचिभिः अमात्य ! श्रेष्ठिन् ! वत्सराज ! सोमवंशमौक्तिकमणे ! इत्यादिभिराभाषणीयः । प्रायिकं चैतत् । तेन चाटुकारादौ-उदयने महीं शासति को विपदामवकाशः' इति स्वानाम्नाप्याभाष्यः ।

मान्यादन्यस्तु मध्यमः स्वनामभिर्वाच्यः । नीचस्य सम्भाषणन्तु वक्ष्याम इति । लिंगिना च 'राजन्' शब्देन शब्द्यते भूपतिः इत्युत्तरेण संबन्धः । उपलक्षणात् 'कौरव्य' इत्याद्यपत्यप्रत्ययान्तैरपि । विदूषकैः पुनर्भूपतिः 'वयस्य' शब्देन अपि शब्दात् 'राजन्' शब्देन च । अधमैश्च नीचप्रकृतिभिर्भूपतिः भट्टिन्-शब्देन लोकैश्च उत्तम-मध्यम-अधमप्रकतिभिर्जनैः भूपतिर्देव शब्देन शब्द्यत इति ॥ [४८-४६] २०१-२०२ ॥

मान्य पुरुषोंको [उनके असली नामोंको छोड़कर] अन्य नामोंसे सम्बोधन करना चाहिए । राजाको परिव्राजक आदि 'राजन्' पदसे और विदूषक 'वयस्य' पदसे, अधम पुरुष 'भट्टी' पदसे तथा साधारण लोकोंके द्वारा 'देव' पदसे सम्बोधित किया जाता है । [४६]२०२ ।

उत्तम प्रकृतिसे रहित युवती जो [दूती आदिके रूपमें] भेजने योग्य नहीं है उसको तथा भेजने योग्य स्त्री [प्रेष्या] दोनोंको हंजे पदसे सम्बोधित् किया जाता है । देवता अर्थात् सरस्वती आदि । और तपःस्था अर्थात् किसी विशेष व्रतके अनुष्ठानमें लगी हुई । ये दोनों स्वतन्त्र हों किसी पतिके आश्रित न हो तब [भगवत् शब्दसे कही जाती है] । अर्चनीय अर्थात् अत्यन्त पूज्य, और बहुविद्या अर्थात् बहुश्रुत पूज्य ये अर्च्य आदि 'सयोषितः' अर्थात् अपनी पत्नियोंके सहित, अर्थात् उनकी पत्नी भी 'भगवत्' शब्दसे वाच्य होती है । यह अभिप्राय है । और मान्य जनोंको प्रसिद्ध नाम छोड़कर प्रशंसासूचक दूसरे नामोंसे सम्बोधित किया जाता है । जैसे—अमात्य, श्रेष्ठिन्, वत्सराज, चन्द्रवंशके मौक्तिकमणि ! इत्यादि [उपनामों] के द्वारा सम्बोधित किया जाना चाहिए । यह कथन प्रायिक है [अर्थात् प्रायः अधिकतर इस प्रकारके नामोंसे सम्बोधित करना चाहिए] इसलिए चाटुकारिता आदि [खुशामद आदि] के समय 'महाराज उदयनके राज्यमें विपत्तियोंका अवसर कहाँ आ सकता है' इत्यादि में अपने प्रसिद्ध नाम द्वारा भी सम्बोधन किया जा सकता है ।

मान्यको छोड़कर अन्य अर्थात् मध्यम लोगोंको उनके प्रसिद्ध नामोंके द्वारा ही सम्बोधित करना चाहिए । नीचके लिए सम्बोधित पदोंको आगे कहेंगे । परिव्राजक आदि लिंगधारियोंके द्वारा राजाको राजन् पदसे सम्बोधित किया जाता है यह अगले वाक्यके साथ सम्बद्ध है । [राजा पदके] उपलक्षण रूप होनेसे कौरव्य आदि अपत्यार्थक प्रत्यय जिनके अन्तमें हों इस प्रकारके शब्दोंके द्वारा भी [राजाको सम्बोधित किया जा सकता है] । विदू-

किंच —

[सूत्र २६७]— मित्राख्याभिर्विदू राज्ञा कुमारो भर्तृदारकः ।
मुनि-शाक्यौ भदन्तेति स्वप्रसिद्धयाऽपरो व्रती ॥
[५०] ३०३ ॥

सूत्री भावोऽनुगेनासौ तेन मार्षः समः सखा ।
शिष्यात्मजानुजाः पुत्र-वत्सौ तातो जरन्नपि ॥
[५१] २०४ ॥

सौम्यो भद्रमुखश्चेति नीचो हण्डे तु पामरैः ।
येन कर्मादिना यस्तु ख्यातः स तदुपाधिकः ॥
[५२] २०५ ॥

वयस्य-सखीत्यादयो मित्राख्याः । ताभिर्विदूषको राज्ञा सम्बोध्यः । सूत्रत्वाच्च 'विदू' इत्येकदेशनिर्देशो न विरोधी । कुमारो युवराजः कौमारे वयसि वर्तमानो ऽन्यो वा एष भर्तृदारक इति, भर्तृदारको वा 'कुमार' इत्यभिधातव्यः । एवं कुमार्यपि

षकोंके द्वारा राजाको 'वयस्य' कहकर और अपि शब्दसे 'राजन्' इस पदसे भी सम्बोधित किया जा सकता है । अधमों अर्थात् नीच प्रकृति वालोंके द्वारा राजाको 'भट्टी' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है । उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृतिके सामान्य लोगोंके द्वारा राजाको 'देव' कहकर सम्बोधित किया जाता है ॥ [४८-४९] २०१-२०२ ॥

और भी [इसी विषयमें आगे कहते हैं]—

[सूत्र २६७]—राजा विदूषकको मित्र-वाचक पदोंसे सम्बोधित करता है । स्वामीके पुत्रको कुमार पदसे कहा जाता है । जैन तथा बौद्ध-भिक्षु 'भदन्त' पदसे सम्बोधित होते हैं । अन्य व्रती [तपस्वी] लोग अपने-अपने सम्प्रदायमें प्रसिद्ध नामोंसे सम्बोधित होते हैं । [५०] २०३ ।

सूत्रधारको उसका अनुचर 'भाव' शब्दसे पुकारता है । और वह अर्थात् सूत्रधार उस [अनुचर]को 'मार्ष' कहकर सम्बोधित करता है । बराबर वालेको 'सखा' कहकर और शिष्य, पुत्र तथा छोटे भाईको क्रमशः पुत्र, वत्स तथा तात कहकर सम्बोधित किया जाता है । तात शब्दसे वृद्ध जनोंको भी सम्बोधित किया जाता है । [५१] २०४ ।

नीच पुरुषको [मध्यम तथा उत्तम पुरुषोंके द्वारा] सौम्य भद्रमुख कहकर और नीचोंके द्वारा [नीचको ही] हंडे कहकर सम्बोधित किया जाता है । और जिस कार्यके द्वारा जिसकी प्रसिद्धि है उस कार्यको करने वाला उस-उस पदसे सम्बोधित किया जाना चाहिए । [५२] २०५ ।

वयस्य, सखा इत्यादि मित्र-वाचक पद हैं । उनके द्वारा राजा विदूषकको सम्बोधित करता है । [इन कारिकाओंके] सूत्ररूप होनेसे इसमें [विदूषक इस पूरे पदके स्थानपर] 'विदू' इस [आधे] पदके प्रयोगमें कोई विरोध नहीं आता है । कुमार अर्थात् कौमारावस्थामें वर्तमान युवराज । अथवा स्वामीके अन्य पुत्र को 'भर्तृदारक' कहा जाता है । अथवा स्वामी

द्रष्टव्या। मुनिर्निर्ग्रन्थकः, शाक्यः सौगतः, एतौ भदंतेति। अपरः पाशुपतादिव्रती स्वसमयप्रसिद्धनामभिर्वाच्यः। यथा पाशुपतस्य भापूर्वं 'भासर्वज्ञ' इत्यादि सम्भाषणम्।

तथा सूत्री सूत्रधारो अनुगेन अनुचरेण कर्त्रा 'भाव'-शब्देन सम्भाष्यः। असौ इत्यनुगः सूत्रधारात् किंचिन्न्यूनगुणः तेन सूत्रधारेण 'मार्ष' इत्यभिधातव्यः। तथा समो वयो ऽवस्था-गुणादिना तुल्यः, समेनैव 'सखा' इति वाच्यः। मित्राभिधायिना शब्देन सम्भाष्य इत्यर्थः। अनेन च विधानेन समस्य प्रसिद्धस्वनाम्ना सम्भाषणं न निषिध्यते। असम्भवायोगयोर्व्यवच्छेदफलत्वात् सर्वस्यापि नामविधानस्य। तेन आर्यादिनामविधानेऽपि नान्यशब्देन कीर्तननिषेधः।

'शिष्यात्मजानुजाः' इति शिष्यो दीक्षितोऽध्यापितो वा। आत्मजः पुत्रः। अनुजो लघीयान् भ्राता। एते गुरु-जनक-ज्येष्ठभ्रातृभिः यथासंख्यं पुत्रशब्देन वत्सशब्देन च सम्भाष्याः। तातशब्देन पुनर्जरन्, अपि-शब्दात् शिष्यात्मजानुजाश्च कीर्तनीयाः।

तथा नीचप्रकृतिर्मध्यमोत्तमाभ्यां 'सौम्य' इति 'भद्रमुख' इति च शब्द्यते। पामरैर्नीचैः पुनर्नीच एव 'हंडे'-शब्देन, उपलक्षणाद् 'अरे', 'हंहो' इत्यादिना च

के पुत्र 'भर्तृदारक' को 'कुमार' कहा जाता है। इसी प्रकार कुमारीके लिए भी [भर्तृदारिका पदका प्रयोग] समझना चाहिए। मुनि अर्थात् दिगम्बर, जैन और शाक्य अर्थात् बौद्ध-भिक्षु। इन दोनोंको 'भदन्त' इस पदसे सम्बोधित किया जाता है। पाशुपतादि अन्य सम्प्रदायोंके साधु अपने-अपने सम्प्रदायमें प्रसिद्ध नामोंसे सम्बोधित होते हैं। जैसे पाशुपत साधुकेलिए भा-शब्द को पहले लगाकर 'भा-सर्वज्ञ' आदि सम्बोधन किया जाता है।

और सूत्री अर्थात् सत्रधारको अनुग अर्थात् उसके किंचित् न्यून गुण वाले अनुचरके द्वारा 'भाव' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है। और 'असौ' अर्थात् अनुचरको जोकि सूत्रधारसे किंचित् न्यूनगुण वाला होता है सूत्रधार द्वारा 'माष' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है। और बराबर वाले अर्थात् आयु, दशा और गुणादिमें अपने समान व्यक्ति को बराबर वाला व्यक्ति 'सखा' कहकर अर्थात् मित्र-वाचक पदोंसे सम्बोधित करता है। इस विधानके द्वारा बराबर वालेको उसके प्रसिद्ध नामसे सम्बोधित करनेका निषेध नहीं किया जा रहा है। इन सारे सम्बोधन-प्रकारोंके विधानका प्रयोजन असम्भव [अर्थात् अत्यन्तायोग] और अयोग-व्यवच्छेद करना ही है, इसलिए 'आर्य' आदि नामोंके विधानमें भी अन्य शब्दोंके द्वारा सम्बोधित करनेका निषेध नहीं है।

'शिष्यात्मजानुजाः' इसमें शिष्य अर्थात् जिसको दीक्षा दी हो अथवा पढ़ाया हो। आत्मज अर्थात् पुत्र। और अनुज अर्थात् छोटा भाई। इनको [क्रमशः] गुरु, पिता और बड़े भाईके द्वारा 'पुत्र' शब्दसे और 'वत्स' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है। 'तात' शब्दसे [शिष्य, पुत्र और छोटे भाईको तो सम्बोधित किया ही जाता है किन्तु इनके अतिरिक्त] वृद्ध जनोंको भी सम्बोधित किया जाता है। 'अपि' शब्दसे शिष्य, पुत्र तथा छोटे भाईको भी 'तात' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है।

और नीच प्रकृति वालेको उत्तम तथा मध्यम लोग 'सौम्य', और भद्रमुख कहकर पुकारते हैं। पामरों अर्थात् नीचोंके द्वारा नीच पुरुषको ही 'हंडे' शब्दसे और इसके उपलक्षणमें रूप होनेसे 'अरे', 'हंहो' आदि शब्दोंसे भी पुकारते हैं। 'येन' अर्थात् जिस कर्म

वाच्यः। येनेति कर्म वाणिज्य-कृषि-पाशुपाल्य-गीत-नृत्त-वाद्यवादन-चित्र-राजसेवा-शस्त्र-श्रमादिव्यापारः। आदिशब्दात् जाति-कुलादिग्रहः। येन केनचित् कर्मादिना यः कश्चित् प्रसिद्धः स तेन कर्मादिनोपाधिना शब्दप्रवृत्तिनिमित्तेन संकीर्तनीयः। यथा गांधिकः ताम्बूलिकः, कृषीवलः, पशुपालो, गोपालो, गांधर्वश्चित्रकरः, सेवकः, वैद्यः, क्षत्रियो, ब्राह्मण इत्यादि। तथा स्वयं वा यत् कल्प्यते तदपि कर्माद्यनुरूप्येणैवेति॥ [५०-५२] २०२-२०५॥

अथ कल्पनीयनाम्नां कल्पनाप्रकारमाह—

[सूत्र २९८]—शूरे विक्रमसंसूचि कल्प्यं नामाथ वाणिजे।
दत्तान्तं प्रायशो विप्रे गोत्रकर्मानुरूप्यतः॥
[५३] २०६॥

नृपस्त्रियां शुभं दत्ता-सेनान्तं पण्योषिति।
पुष्पादिवाचकं चेट्यां चेटे मङ्गलकीर्तनम्॥
[५४] २०७॥

शूरे सत्त्वप्रधाने पुरुषे विक्रमस्य शौर्यस्य संसूचकं नाम कल्पनीयम्। यथा

अर्थात् वाणिज्य, कृषि, पशु-पालन, गीत, नृत्य, वाद्य-वादन, चित्ररचना, राजसेवा, शस्त्र और श्रमादि व्यापारसे [जो प्रसिद्ध हो उसको उस उपाधिके द्वारा सम्बोधित किया जाता है] आदि शब्दसे जाति, कुल आदिका ग्रहण होता है। जिस किसी कर्म आदिसे जो कोई प्रसिद्ध हो उसको उस कर्म-सूचक उपाधि आदिके द्वारा अर्थात् उस उपाधिको नाम शब्दका प्रवृत्ति-निमित्त मानकर सम्बोधित करना चाहिए। जैसे [इतर, फुलेल आदिका व्यापार करने वालेको] गांधिक, [पान बेचने वालेको] ताम्बूलिक, [खेती करनेवालेको] किसान, [कुत्ते पालने वालेको] शुपाल [गायोंका पालन करने वालेको] गोपाल [संगीतसे जीविकोपार्जन करने वाले को] गांधर्व, [चित्ररचनाका कार्य करने वालेको], चित्रकर [नौकरीपेशाको] सेवक, वैद्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण इत्यादि [ये सब कर्म-निमित्तक सम्बोधन-पद कहलाते हैं]। और जिन नामोंकी स्वयं कल्पना की जाए वे भी कर्म आदिके अनुरूप ही होने चाहिए॥ [५०-५२] २०३-२०५॥

जब आगे कल्पित किए जाने वाले नामोंकी कल्पना करनेके प्रकारको कहते हैं—

[सूत्र २९८]—शूर-वीरके लिए पराक्रम-सूचक नामकी कल्पना करनी चाहिए। वणिक्का नाम ऐसा रखना चाहिए जिसके अंतमें दत्त आता हो और ब्राह्मणका नाम गोत्र एवं कर्मके अनुरूप रखना चाहिए। [५३] २०६।

राजाकी रानीका शुभ-सूचक नाम कल्पित करना चाहिए। वेश्याओंके नाम ऐसे बनाने चाहिए जिनके अन्तमें 'दत्ता' या 'सेना' पद आते हों। चेटीके नाम फूल आदिके ऊपर रखने चाहिए। और चेटका नाम किसी मंगल-वस्तुका सूचक कल्पित करना चाहिए। [५४] २०७।

शूर अर्थात् पराक्रम-प्रधान पुरुषकेलिए विक्रम अर्थात् पराक्रमके संसूचक नामकी कल्पना करनी चाहिए। जैसे भीमपराक्रम अरिमर्दन आदि। बनियोंके लिए प्रायः अर्थात्

भीमपराक्रमोऽरिमर्दन इत्यादि। वाणिजे पुनः प्रायशो बाहुल्येन दत्तशब्दान्तं नाम विधेयम्। यथा समुद्रदत्तः सागरदत्त इत्यादि। प्रायोवचनाद् धनपतिरित्याद्यपि। विप्रे तु गोत्र-कर्मणोरानुरूप्येण नाम कल्पनीयम्। यथा शांडिल्यो गार्ग्यायण इत्यादि। आथर्वणिकः सामको अग्निहोत्रिय इत्यादि। प्रायोवचनादग्निशर्मा सोमशर्मा इत्यपि।

तथा नृपस्त्रियां शुभं शुभसंसूचकं नाम कर्तव्यं। यथा सुलक्षणा विजयवती इत्यादि। पण्योषिति वेश्यायां पुनर्दत्ताशब्दान्तं सेनाशब्दान्तं च नाम करणीयम्। यथा देवदत्ता, वसन्तसेना। प्रायोग्रहणाद् विदग्धमित्रा वसन्तश्रीरित्याद्यपि। तथा चेट्यां प्रेष्यायां योषिति मालिनी मल्लिका इत्यादीनि पुष्पवाचकानि, आदिशब्दात् चूतलतिका प्रियंगुमंजरी इत्यादीनि च नामानि कल्पनीयानि। चेटे प्रेषणीयपुरुषे पुनः मंगलं मंगलकारणं वस्तु कीर्त्यते शब्द्यते येन नाम्ना तत् सिद्धार्थकेत्यादि सिद्धिं नेयम्। एवमन्यदप्यत्र उत्तम-मध्यम-अधमपात्राणां प्रयोजनानुसारतो नाम रूपकेषु कीर्तनीयमिति ॥ २०६-२०७ ॥

तदेवं नाटकादीनि वीथ्यंतानि द्वादश रूपाणि सप्रपञ्चं लक्षितानि ॥

अन्यान्यपि रूपकाणि दृश्यंते। यदाहुः—

अधिकतर 'दत्त' शब्द जिसके अंतमें हो इस प्रकारके नामकी कल्पना करनी चाहिए। जैसे समुद्रदत्त, सागरदत्त इत्यादि। प्रायः शब्दका ग्रहण होनेसे [दत्तान्त नामोंको छोड़कर अन्य प्रकारके नामभी बनियोंके रखे जा सकते हैं] जैसे धनपति इत्यादि। ब्राह्मणोंके नाम, गोत्र और कर्मके अनुरूप कल्पित करने चाहिए। जैसे शाण्डिल्य, गार्ग्यायण [ये दोनों नाम गोत्र-परक हैं] और आथर्वणिक, सामक, अग्निहोत्रिय इत्यादि [ये तीनों नाम कर्मके आधारपर बनाए गए हैं]।

राजाकी स्त्रीके लिए शुभ अर्थात् मंगलका सूचक नाम कल्पित करना चाहिए। जैसे सुलक्षणा या विजयवती इत्यादि। पणयोषित अर्थात् वेश्याके लिए दत्ता शब्द या सेना शब्द जिसके अंतमें इस प्रकारके नामकी कल्पना करनी चाहिए। जैसे देवदत्ता, वसन्तसेना इत्यादि। प्रायः शब्दके ग्रहणसे [दत्तान्त तथा सेनान्त नामोंको छोड़कर] विदग्धमित्रा वसन्तश्री इत्यादि [नाम भी वेश्याओंके रखे जा सकते हैं]। चेटी अर्थात् जिसको [प्रियके पास दूती आदिके रूपमें सन्देश देकर] भेजा जा सके इस प्रकारकी [विश्वस्तसेविका] स्त्रीके लिए मालिनी, मल्लिका इत्यादि पुष्पवाचक, और आदि शब्दसे चूतलतिका, प्रियंगुमंजरी इत्यादि नामोंकी भी कल्पना की जा सकती है। और चेट अर्थात् भेजे जा सकने योग्य पुरुषके लिए मंगल अर्थात् मंगलजनक वस्तुका जिस शब्दसे कथन सूचित हो इस प्रकारका नाम कल्पित करना चाहिए। जैसे सिद्धार्थक आदि नाम बनाने चाहिए। इसी प्रकार यहाँ रूपकोंमें प्रयोजनके अनुसार उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रोंके नाम रखने चाहिए। [५३-५४] २०६-२०७] ॥

इस प्रकार नाटकसे लेकर वीथी-पर्यन्त बारह प्रकारके रूपकोंका विस्तारपूर्वक विवेचन यहाँ तक कर दिया गया है।

[इन बारह प्रकारके रूपकोंके अतिरिक्त] अन्य रूपक भी पाए जाते हैं। जैसा कि आगे कहते हैं—

[सूत्र २६६-१]—विष्कम्भक-प्रवेशकरहितो यस्त्वेकभाषया भवति ।
अप्राकृत-संस्कृतया स सट्टको नाटिका ॥५५॥

[२]—श्रीरिव दानवशत्रोर्यस्मिन् कुलांगना पत्युः ।
वर्णयति शौर्य-धैर्यप्रभृति गुणानग्रतः सख्याः ॥
पत्या च विप्रलब्धा गातव्ये तं क्रमादुपालभते ।
'श्रीगदित'मिति मनीषिभिरुदाहृतोऽसौ पदाभिनयः ॥
॥५६॥

---

[१] सट्टक—

विष्कम्भक तथा प्रवेशकसे रहित, प्राकृत-रहित केवल एक भाषामें [अर्थात् संस्कृत भाषा वाला प्राकृतसे रहित और प्राकृत वाला संस्कृतसे रहित] बनाया गया, नाटिकाके सदृश रूपक 'सट्टक' नामसे कहा जाता है ॥ १ ॥

साहित्य-दर्पणकारने सट्टकका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम् ।
न च विष्कम्भोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः ॥ २७६ ॥
अंका जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यन्नाटिकासमम् ।

यथा कर्पूरमंजरी ।

साहित्यदर्पणकारके अनुसार सट्टकमें सारा पाठ्य भाग केवल प्राकृत भाषामें लिखा जाता है, किन्तु नाट्यदर्पणकारके अनुसार संस्कृत या प्राकृत किसी भी एक भाषामें लिखा जा सकता है । जो सट्टक प्राकृत भाषामें लिखा जाए वह संस्कृत भाषासे रहित हो और जो संस्कृतमें लिखा जाए वह प्राकृत भाषासे रहित हो । यह नाट्यदर्पणकारके 'अप्राकृत-संस्कृतया एकभाषया भवति' का अभिप्राय प्रतीत होता है ।

[२] श्रीगदित—

इसमें भी जहाँ दानवशत्रु अर्थात् विष्णुकी पत्नी लक्ष्मीके समान कोई कुलांगना अपने पतिके शौर्य, धैर्य आदि गुणोंका सखीके सामने बखान करती है ।

और पतिके द्वारा ठगी जानेपर किसी गीतमें उसको उपालम्भ देती है उसको विद्वानोंने 'श्रीगदित' कहा है । और वह [पदार्थोंका अभिनय न होकर केवल] पदाभिनयात्मक होता है ॥ ५६ ॥

साहित्यदर्पणकारने 'श्रीगदित' का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

प्रख्यातवृत्तमेकांकं प्रख्यातोदात्तनायकम् ।
प्रसिद्धनायिकं गर्भ-विमर्शाभ्यां विवर्जितम् ॥ २६३ ॥
भारतीवृत्तिबहुलं श्रीतिशब्देन संकुलम् ।
मतं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिरुपरूपकम् ॥ २६४ ॥
श्रीरासीना श्रीगदिते गायेत् किंचित् पठेदपि ।
एकांको भारतीप्राय इति केचित् प्रचक्षते ॥ २६५ ॥

[३]—चौर्यरतप्रतिभेदं यूनोरनुरागवर्णनं चापि ।
यत्र ग्राम्यकथाभिः कुरुते किल दूतिका रहसि ॥
मन्त्रयति च तद्विषयं न्यग्जातित्वेन याचते च वसु ।
लब्ध्वापि लब्धुमिच्छति 'दुर्मिलिता' नाम सा भवति॥५७॥

[४]—प्रथमानुराग-मान-प्रवास-शृङ्गारसंश्रयं यत् स्यात् ।
प्रावृड्-वसन्तवर्णनपरमन्यद् वापि सोत्कण्ठम् ॥
अन्ते वीररसाद्यैर्निबद्धमेतच्चतुर्भिरपसारैः ।
प्रस्थानमिति ब्रुवते प्रवासमुपलक्षयत् सुधियः ॥५८॥

नृत्यच्छिन्नानि खण्डान्यपसाराः ॥ ५८ ॥२११॥

---

[३] दुर्मिलिता—

जिसमें कोई दूती एकान्तमें ग्राम्य [अश्लील] कथाओं द्वारा युवक और युवतियोंके प्रेमका वर्णन और उनके चौर्यरतका प्रकाशन करती है। उसके विषयमें सलाह करती है नीच जातिकी होनेसे धन माँगती है। धनके मिल जानेपर भी और अधिक धन चाहती है उसको 'दुर्मिलित' नामक रूपक कहा जाता है ॥ ५७ ॥

साहित्यदर्पणकारने 'दुर्मिलिता' के स्थानपर दुर्मल्लिका आदि नामोंका प्रयोग किया गया है और उसका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

दुर्मल्ली चतुरंका स्यात् कैशिकी-भारतीयुता ।
अगर्भा नागर-नरा न्यूननायकभूषिता ॥ ३०३ ॥
त्रिनालिः प्रथमोऽङ्कोऽस्यां विटक्रीडामयो भवेत् ।
पंचनालिर्द्वितीयो ऽङ्को विदूषकविलासवान् ॥ ३०४ ॥
षण्णालिकस्तृतीयस्तु पीठमर्दविलासवान् ।
चतुर्थो दशनालिः स्यादेकः क्रीडितनागरः ॥ ३०५ ॥

[४] प्रस्थान—

प्रथम अनुराग, मान, प्रवास, शृंगाररससे युक्त वर्षा और वसन्तके वर्णन, अथवा और भी उत्कण्ठा-प्रदर्शक सामग्रीसे परिपूर्ण, अन्तमें वीररस द्वारा निबद्ध किया गया और चार अपसार [अर्थात् नृत्य द्वारा छिन्न होनेवाले खण्डों] में विरचित [उपरूपकभेदको] विद्वान् लोग प्रवासके सूचक 'प्रस्थान' इस नाम से कहते हैं ॥ ५८ ॥

नृत्यके द्वारा छिन्न होनेवाले [रूपकके] खण्डोंको अपसार कहते हैं।

'प्रस्थानक'का लक्षण साहित्यदर्पणकारने निम्न प्रकार किया है—

प्रस्थाने नायको दासो हीनः स्यादुपनायकः ।
दासी च नायिका वृत्तिः कैशिकी भारती तथा ॥ २८० ॥
सुरापानसमायोगादुद्दिष्टार्थस्य संहृतिः ।
अंकौ द्वौ लयतालादिर्विलासो बहुलस्तथा ॥ २८१ ॥

[५]—गोष्ठे यत्र विहरतश्चेष्टितमिह कैटभद्विषः किंचित् ।
रिष्टासुरप्रमथनप्रभृति तदिच्छन्ति गोष्ठीति ॥ ५६ ॥

[६]—यन्मण्डलेन नृत्तं स्त्रीणां हल्लीसकं तु तत् प्राहुः ।
तत्रैको नेता स्याद् गोपस्त्रीणामिव मुरारिः ॥ ६० ॥

[७]—यस्य पदार्थाभिनयं ललितलयं सदसि नर्तकी कुरुते ।
तन्नर्तकं शम्या लास्यच्छलितद्विपद्यादि ॥ ६१ ॥

किन्नरविषयं लास्यं नृत्तं शम्या । शृङ्गाररसप्रधानं लास्यम् । शृङ्गार-बीर-रौद्रादिप्रधानं छलितम् । द्विपद्यादयः छन्दोभेदाः ॥

[८]—रथ्या-समाज-चत्वर-सुरालयादौ प्रवर्त्यते बहुभिः ।
पात्रविशेषैर्यत् तत् प्रेक्षणकं कामदहनादि ॥ ६२ ॥

---

[५] गोष्ठी—
जिसमें गोष्ठमें विहार करनेवाले कृष्णके रिष्टासुरबध आदि जैसे किसी व्यापारका प्रदर्शन किया जाय उसको 'गोष्ठी' कहते हैं ॥५६॥

साहित्यदर्पणकारने 'गोष्ठी'का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

प्राकृतैर्नवभिः पुंभिर्दशभिर्वाप्यलंकृता ।
नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकीवृत्तिशालिनी ॥ २७४ ॥
हीना गर्भ-विमर्शाभ्यां पंच-षड् योषिदन्विता ।
काम-शृङ्गारसंयुक्ता स्यादेकाङ्कविनिर्मिता ॥ २७५ ॥

[६] हल्लीसक—
स्त्रियोंका जो मण्डलाकार बनाकर नाचना है उसको 'हल्लीसक' कहते हैं । गोपियोंके बीच कृष्णके समान उसमें एक नायक होता है ॥ ६० ॥

साहित्यदर्पणकारने हल्लीसकका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

हल्लीसक एक एवांकः सप्ताष्टौ दश वा स्त्रियः ।
वागुदात्तैकपुरुषः कैशिकीवृत्तिरुज्वला ॥
मुख्यान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयस्थितिः ॥ ३०७ ॥

[७] शम्या—
सभामें नर्तकी ललित लयके साथ जिसके पदार्थोंका अभिनय करती है उस नृत्यको शम्या, लास्य, छलित, द्विपदी आदि नामोंसे कहते हैं ॥ ६१ ॥

किन्नरोंके नाचको 'शम्या' कहते हैं । शृंगाररस प्रधान नृत्त 'लास्य' कहलाता है । शृंगार, बीर और रौद्रादि प्रधान नृत्तको 'छलित' कहते हैं । 'द्विपदी' आदि [उन नृत्तोंमें गाए जानेवाले] छन्दोंके भेद होते हैं ।

[८] प्रेक्षणक—
गलीमें, समाजमें, चौराहेपर अथवा मद्यशाला आदिमें बहुतसे विशेष प्रकारके पात्रों के द्वारा जिसका प्रदर्शन किया जाय उस [नृत्यविशेष] को 'प्रेक्षणक' कहते हैं । जैसे कामदहन आदि [प्रेक्षणकके उदाहरण हैं] ॥ ६२ ॥

[९]—षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन् नृत्यन्ति नायिकाः ।
पिण्डीबन्धादिविन्यासैः रासकं तदुदाहृतम् ॥
पिण्डनात् तु भवेत् पिण्डी गुम्फनाच्छृङ्खला भवेत् ।
भेदनाद् भेद्यको जातो, लताजालापनोदतः ॥६३॥
[१०]—कामिनीभिर्भुवो भर्तुश्चेष्टितं यत् तु नृत्यते ।
रागाद् वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ॥६४॥

साहित्यदर्पणकारने 'प्रेक्षणकम्' के स्थानपर 'प्रेङ्खणम्' नामका प्रयोग किया है और उसका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

गर्भावमर्शरहितं प्रेङ्खणं हीननायकम् ।
असूत्रधारमेकांकमविष्कम्भ - प्रवेशकम् ॥ २८६ ॥
नियुद्धसम्फेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम् ।
नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना ॥ २८७ ॥

[९] रासक—

जिसमें सोलह, बारह या आठ स्त्रियाँ [नायिकाएँ] पिण्डीबन्ध आदिकी रचना द्वारा नाचती हैं उसको 'रासक' कहा जाता है ।

[नाचने वालियोंके] एक साथ इकट्ठे हो जानेको पिण्डी कहते हैं । एक-दूसरेसे गुंथकर [नाचन] शृंखला कहलाती है । [पूर्व गुम्फित] लताजालको तोड़कर अलग हो जानेको भेद्यक कहते हैं ॥ ६३ ॥

साहित्यदर्पणकारने 'रासक'का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

रासकं पंचपात्रं स्यात् मुख-निर्वहणान्वितम् ।
भाषा-विभाषाभूयिष्ठं भारतीकैशिकीयुतम् ॥ २८८ ॥
असूत्रधारमेकांकं सवीथ्यंगं कलान्वितम् ।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम् ॥ २८९ ॥
उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम् ।
इह प्रतिमुखसन्धिमपि केचित् प्रचक्षते ॥ २९० ॥

[१०] नाट्य-रासक—

वसन्त आदि [उन्मादक] ऋतुओंके आनेपर स्त्रियोंके द्वारा रागादिके आवेशमें जो राजाओंके चरित्रका नृत्य द्वारा प्रदर्शन किया जाता है उसको 'नाट्य-रासक' कहा जाता है ॥ ६४ ॥

साहित्यदर्पणकारने नाट्यरासकका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

नाट्यरासकमेकांकं बहुताललयस्थिति ॥ २८७ ॥
उदात्तनायकं तद्वत्पीठमर्दोपनायकम् ।
हास्योऽङ्गयत्र सश्रृङ्गारो नारी वासकसज्जिका ॥२७८॥
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्यांगानि दशाऽपि च ।
केचित् प्रतिमुखं सन्धिमिह नेच्छन्ति केवलम् ॥ २७९ ॥

[११]—आक्षिप्तिकाथ वर्णो मात्राध्रुवकोऽप्यभग्नतालश्च ।
पद्धतिका छर्दनिका यत्र स्युस्तदिह काव्यमिति ॥६५॥
[१२]—हरि-हर-भानु-भवानी-स्कन्द-प्रमथाधिपस्तुतिनिबद्धः ।
उद्धत-करणप्रायः स्त्रीवर्जो वर्णनायुक्तः ॥
यदि चैव शुद्धवाचा शुद्धः संकीर्णया च संकीर्णः ।
सर्वाभिर्भाषाभिचित्रैश्च विचेष्टितैश्चित्रः ॥
अयमुद्धतोऽथ ललितो भाणो ललितोद्धतश्च सम्भवति ।
अर्थानामौद्धत्याल्लालित्यादुभयसत्त्वाच्च ॥६२॥
[१३]—यद् दुष्करमभिनेयं चित्रं चात्युद्भटं च सम्भवति ।
तद् भाणके ऽभिनेयं युतमनुतालैर्वितालैश्च ॥
प्रायो हरिचरितयुतः स्त्रीकृतगाथादिवर्णमात्रश्च ।
सुकुमारतः प्रयोगाद् भाणो ऽपि हि भाणिका भवति ॥६३॥

इत्यादीनि ॥ ६३ ॥

---

[११] काव्य—

जिसमें आक्षिप्तका, वर्ण, मात्रा, ध्रुव और न टूटनेवाला ताल, पद्धतिका और छर्दनिका जिसमें हो उसको 'काव्य' कहते हैं ॥ ६५ ॥

[१२] भाण—

विष्णु, महादेव, सूर्य, पार्वती, स्कन्द और प्रमथाधिपकी स्तुतिमें निबद्ध किया गया, उद्धत करणोंसे युक्त, स्त्री पात्रोंसे रहित, यदि शुद्ध संस्कृत वाणी द्वारा वर्णनायुक्त हो तो शुद्ध और यदि [संस्कृत तथा प्राकृतके] संकर [द्वारा किए गए वर्णन] से युक्त हो तो संकीर्ण [भाण कहलानेवाला] सब प्रकारकी भाषाओं और नाना प्रकारके व्यापारोंसे विचित्र यह भाण उद्धत [उसमें वर्णित] विषयोंके उद्धत ललित तथा उभयात्मक होनेसे उद्धत, ललित तथा ललितोद्धत [भेदसे तीन प्रकारका हो सकता है ।] और उस भाणमें अभिनेय वस्तु अनुताल तथा वितालोंसे युक्त होता है ॥ ६२ ॥

[१३] भाणिका—

अधिकतर विष्णुके चरितसे युक्त स्त्रियों द्वारा गाथा [छन्द], वर्ण और मात्राओंकी रचना जिसमें की जाय इस प्रकारका भाण भी सुकुमारताके प्रयोग के [दिखलानेके कारण] भाणिका कहलाता है ॥ ६३ ।

साहित्यदर्पणकारने भाण तथा भाणिकाके लक्षण निम्न प्रकार किए हैं—

भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्या मुख-निर्वहणान्विता ।
कैशिकी-भारतीवृत्तियुक्तैकाङ्कविनिर्मिता ॥ ३०८ ॥
उदात्तनायिका मन्दपुरुषात्राङ्गसप्तकम् ।
उपन्यासोऽथ विन्यासो विबोधः साध्वसं तथा ॥ ३०९ ॥

एतानि च स्वल्पमात्ररंजनानिमित्तत्वाद्, वृद्धैरनभिहितत्वाच्च वृत्तावेव कीर्तितानीति ।

शब्द-प्रमाण-साहित्य-छन्दोलक्ष्मविधायिनाम् ।
श्रीहेमचन्द्रपादानां प्रसादाय नमो नमः ॥ १ ॥

परोपनीतशब्दार्थाः, स्वनाम्ना कृतकीर्तयः ।
निबद्धारोऽधुना तेन, को नौ क्लेशमवेष्यति ॥ २ ॥

न सूत्र-वृत्त्योराधिक्यं न हीनत्वं न कुण्ठता ।
यावदर्था गिरः सन्ति स्वयं सन्तो विवेचताम् ॥ ३ ॥

शब्दलक्ष्म-प्रमालक्ष्म-काव्यलक्ष्म-कृतश्रमः ।
वाग्विलासस्त्रिमार्गो नौ प्रवाह इव जाह्नजः ॥ ४ ॥

रूपस्वरूपं विज्ञातुं यदीच्छत यथास्थितम् ।
सन्तस्तदानीं गृह्णीत निर्मलं नाट्यदर्पणम् ॥ ५ ॥

समर्पणं निवृत्तिश्च संहार इति सप्तमः ।
उपन्यासः प्रसंगेन भवेत् कार्यस्य कीर्तनम् ॥ ३१० ॥
निर्वेदवाक्यव्युत्पत्तिर्विन्यास इति स स्मृतः ।
भ्रान्तिनाशो विबोधः स्यान्मिथ्याख्यानं तु साध्वसम ॥ ३११ ॥
सोपालम्भवचः कोपपीडयेह समर्पणम् ।
निदर्शनस्योपन्यासो निवृत्तिरिति कथ्यते ॥ ३१२ ॥
संहार इति च प्राहुर्यत् कार्यस्य समापनम् ॥

इनके स्वल्प मात्रामें ही मनोरंजक होने तथा भरतमुनि [वृद्ध] के द्वारा न कहे जानेके कारण [इनको हमने मूल ग्रंथमें न दिखलाकर यहाँ] वृत्तिभागमें ही दिखलाया है ।

व्याकरण, न्याय, साहित्य तथा छन्दःशास्त्रके लक्षण ग्रंथोंकी रचना करनेवाले श्री पूज्य आचार्य हेमचन्द्रजीकी प्रसन्नताके लिए हम उनको नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

आजकल [के ग्रंथकार प्रायः] दूसरोंके शब्दों और अर्थोंको लेकर अपने नामसे [ग्रंथ रचना-दिखलाकर] कीर्तिका उपार्जन करते हैं [इसी दशामें इस ग्रंथ की रचनामें उठाए हुए] हमारे क्लेशको कौन समझता है ॥ २ ॥

[हमारे इस ग्रंथमें] न सूत्रका आधिक्य है और न वृत्तिभागका । न किसी भागमें कमी है और न [कुण्ठता अर्थात्] अस्पष्टता है। विद्वान् लोग स्वयं ही देख लें कि इसमें जितना अर्थ कहना है उतने ही शब्दोंका प्रयोग किया गया है । [अनावश्यक कुछ भी नहीं लिखा गया है और न अपेक्षित बातको छोड़ा ही गया है] ॥ ३ ॥

व्याकरणशास्त्र, न्यायशास्त्र और साहित्यशास्त्रमें श्रमको प्रदर्शित करनेवाला हम दोनोंकी वाणीका प्रवाह गंगाकी धाराके समान तीन धाराओं वाला है ॥ ४ ॥

हे सज्जन पुरुषों यदि आप रूपकोंके वास्तविक स्वरूपको देखना चाहते हो तो इस निर्मल नाट्यदर्पणको ग्रहण कीजिए । [इस निर्मल नाट्यदर्पणमें ही रूपकोंके स्वरूपको यथार्थ दर्शन हो सकेगा ।]

इति श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञनाट्यदर्पणविवृत्तौ
सर्वरूपकसाधारणलक्षणनिर्णयो नाम चतुर्थो विवेक :

श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्र विरचित स्वनिर्मित नाट्यदर्पणकी विवृत्तिमें
सब रूपकोंके समान विषयोंका प्रतिपादन करनेवाला
चतुर्थ विवेक समाप्त हुआ ॥

उत्तरप्रदेशस्थ 'पीलीभीत' मण्डलान्तर्गत 'मकतुल' ग्रामनिवासिनां
श्री शिवलाल-बखशी-महोदयानां-तनुजनुषा
वृन्दावनस्थ-गुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्येन, तत्रत्याचार्यपदमधितिष्ठता,
एम० ए० इत्युपपदधारिणा 'विद्यामार्तण्डेन' श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिना
विरचिता 'नाट्यदर्पणदीपिका' हिन्दीव्याख्या समाप्ता ।
समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

---

* समाप्त *

परिशिष्ट [१]

रामचन्द्र-गुणचन्द्रसंसूत्रितं

नाट्यदर्पणम्

(मूलम्)

* * *

: १ :

अथ नाटकनिर्णयः प्रथमो विवेकः

चतुर्वर्गफलां नित्यं, जैनीं वाचमुपास्महे।
रूपैर्द्वादशभिर्विश्वं, यया न्याय्ये धृतं पथि ॥ १ ॥

अभिनेयस्य काव्यस्य, भूरिभेदभृतः कियत्।
कियतोऽपि प्रसिद्धस्य, दृष्टं लक्ष्म प्रचक्ष्महे ॥ २ ॥

नाटकं प्रकरणं च, नाटिका प्रकरण्यथ।
व्यायोगः समवकारः भाणः प्रहसनं डिमः ॥ ३ ॥

अङ्क ईहामृगो वीथी, चत्वारः सर्ववृत्तयः।
त्रिवृत्तयः परे त्वष्टौ, कौशिकी-परिवर्जनात् ॥ ४ ॥

ख्याताद्यराजचरितं, धर्म-कामार्थसत्फलम्।
साङ्कोपाय-दशा-सन्धि, दिव्याङ्गं तत्र नाटकम् ॥ ५ ॥

उद्धतोदात्त-ललित-शान्ता धीर-विशेषणाः।
वर्ण्याः स्वभावाश्चत्वारः, नेतॄणां मध्यमोत्तमाः ॥ ६ ॥

देवा धीरोद्धता धीरोदात्ताः सैन्येश-मन्त्रिणः।
धीरशान्ता वणिग्-विप्राः, राजानस्तु चतुर्विधाः ॥ ७ ॥

धीरोद्धतश्चलश्चण्डः, दर्पी दम्भी विकत्थनः।
धीरोदात्तोऽतिगम्भीरः, न्यायी सत्त्वी क्षमी स्थिरः ॥ ८ ॥

श्रृङ्गारी धीरललितः, कलासक्तः सुखी मृदुः।
धीरशान्तोऽनहङ्कारः, कृपालुर्विनयी नयी ॥ ९ ॥

मुख्यमिष्टफलं वृत्तम्, अङ्गं प्रासङ्गिकं क्वचित्।
सूच्यं प्रयोज्यमभ्यूह्यम्, उपेक्ष्यं तच्चतुर्विधम् ॥ १० ॥

नीरसानुचितं सूच्यं, प्रयोज्यं तद्विपर्ययः ।
ऊह्यं तदविनाभूतम्, उपेक्ष्यं तु जुगुप्सितम् ।। ११ ।।

प्रकाशं ज्ञाप्यमन्येषां, स्वगतं स्वहृदि स्थितम् ।
परावृत्य रहस्याख्याऽन्यस्मै तदपवारितम् ।। १२ ।।

त्रिपताकान्तरोऽन्येन, जल्पो यस्तज्जनान्तिकम् ।
आकाशोक्तिः स्वयम्प्रश्न-प्रत्युत्तरमपात्रकम् ।। १३ ।।

स्वल्पपद्यं लघुगद्यं, श्लिष्टावान्तरवस्तुकम् ।
सिन्धु-सूर्येन्दु-कालादि-वर्णनाधिक्यवर्जितम् ।। १४ ।।

एकाङ्गिरसमन्याङ्गम्, अद्भुतान्तं रसोर्मिभिः ।
अलङ्घितमलङ्कार-कथा-ऽङ्गैरगलद्-रसम् ।। १५ ।।

उक्तत्वाद् वक्ष्यमाणत्वाद्, भूयःकार्याद् यदुच्यते ।
तत् कर्णे श्रावयेद् येन, न याति पुनरुक्तताम् ।। १६ ।।

गोपुच्छ-केश-कल्पानि, नाट्यवस्तूनि कल्पयेत् ।
उदात्ता रञ्जका भावाः, स्थापनीयाः पुरः पुरः ।। १७ ।।

अयुक्तं च विरुद्धं च, नायकस्य रसस्य वा ।
वृत्तं यत् तत् परित्याज्यं, प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा ।। १८ ।।

अवस्थायाः समाप्तिर्वा, छेदो वा कार्ययोगतः ।
अङ्कः सबिन्दुर्दृश्यार्थः, चतुर्यामो मुहूर्ततः ।। १९ ।।

आवश्यकाविरोध्यर्थः, स्वल्पपात्रः सनिर्गमः ।
पञ्चसङ्ख्योऽपकर्षेण, दशसङ्ख्यः प्रकर्षतः ।। २० ।।

अभिघातः प्रधानस्य, नेतुर्ग्रंथ्यो न कुत्रचित् ।
बन्धः पलायनं सन्धिः, योज्यो वा फललिप्सया ।। २१ ।।

दूराध्वयानं पूरोधः, राज्य-देशादि-विप्लवः ।
रतं मृत्युः समीकादि, वर्ण्यं विष्कम्भकादिभिः ।। २२ ।।

अङ्कानर्हस्य वृत्तस्य, त्रिकालस्यानुरञ्जिना ।
सङ्क्षिप्य संस्कृतेनोक्तिः, अङ्कादौ मध्यमैर्जनैः ।। २३ ।।

शुद्धो विष्कम्भकस्तत्र, सङ्कीर्णो नीच-मध्यमैः ।
अङ्कसन्धायकः शक्य-सन्धानातीतकालवान् ।। २४ ।।

एवं प्रवेशको नीचैः, परार्थैः प्राकृतादिना ।
एतौ प्रभूतकार्यत्वात्, नाटकादिचतुष्टये ।। २५ ।।

अङ्कास्यमन्तपात्रेण, छिन्नाङ्कमुखयोजनम् ।
वस्तुनः सूचनं चूला, पात्रैर्नेपथ्यसंस्थितैः ।। २६ ।।

सोऽङ्कावतारो यत्-पात्रैः, अङ्कान्तरमसूचनम् ।
आद्यौ सूच्ये बहावन्ये, क्रमादल्पे तरे तमे ॥ २७ ॥

बीजं पताका प्रकरी, बिन्दुः कार्यं यथारुचि ।
फलस्य हेतवः पञ्च, चेतनाचेतनात्मकाः ॥ २८ ॥

स्तोकोद्दिष्टः फलप्रान्तः, हेतुर्बीजं प्ररोहणात् ।
आविमर्शं पताका चेत्, चेतनः स परार्थकृत् ॥ २९ ॥

चिन्तितार्थपरप्राप्तिः, वृत्ते यत्रोपकारिणी ।
पताकास्थानकं तत् तु, चतुर्धा मण्डनं क्वचित् ॥ ३० ॥

सहसेष्टार्थलाभश्च, श्लिष्टसातिशया च वाग् ।
द्व्यर्था चाप्रकटे श्लिष्ट-स्पष्टप्रत्यभिधाऽपि च ॥ ३१ ॥

प्रकरी चेत् क्वचिद् भावी, चेतनोऽन्यप्रयोजनः ।
हेतोश्छेदेऽनुसन्धानं, बहूनां बिन्दुराफलात् ॥ ३२ ॥

साध्ये बीजसहकारी, कार्यं कार्यैस्तु मुख्यता ।
पताकायाः प्रधानत्वेऽनुसन्धिः सूचनाऽऽदिभिः ॥ ३३ ॥

आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागमाः ।
नेतुर्वृत्ते प्रधाने स्युः, पञ्चावस्था ध्रुवं क्रमात् ॥ ३४ ॥

फलायौत्सुक्यमारम्भः, प्रयत्नो व्यापृतौ त्वरा ।
फलसम्भावना किञ्चित्, प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः ॥ ३५ ॥

नियताप्तिरुपायानां, साकल्यात् कार्यनिर्णयः ।
साक्षादिष्टार्थसम्भूतिः, नायकस्य फलागमः ॥ ३६ ॥

मुखं प्रतिमुखं गर्भामर्श-निर्वहणान्यमी ।
सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः, पञ्चावस्थाऽनुगाः क्रमात् ॥३७॥

मुखं प्रधानवृत्तांशः, बीजोत्पत्ति-रसाश्रयः ।
प्रतिमुखं कियल्लक्ष्य-बीजोद्घाट-समन्वितः ॥३८॥

बीजस्यौन्मुख्यवान् गर्भः, लाभालाभ-गवेषणैः ।
उद्भिन्नसाध्य-विघ्नात्मा, विमर्शो व्यसनादिभिः ॥ ३९ ॥

सबीजविकृतावस्थाः नाना-भावा मुखादयः ।
फलसंयोगिनो यस्मिन्, असौ निर्वहणो ध्रुवम् ॥ ४० ॥

उपक्षेपः परिकरः, परिन्यासः समाहितिः ।
उद्भेदः करणं चैतान्यत्रैवाथ विलोभनम् ॥ ४१ ॥

भेदनं प्रापणं युक्तिः, विधानं परिभावना ।
सर्वसन्धिष्वमूनि स्युः, द्वादशाङ्गं मुखं ध्रुवम् ॥ ४२ ॥

बीजस्योप्तिरुपक्षेपः स्वल्पव्यासः परिक्रिया ।
विनिश्चयः परिन्यासः, पुनर्न्यासः समाहितिः ॥ ४३ ॥

स्वल्पप्ररोह उद्भेद,ः करणं प्रस्तुतक्रिया ।
विलोभनं स्तुतेर्गार्ध्यं, भेदनं पात्रनिर्गमः ॥ ४४ ॥

प्रापणं सुखसम्प्राप्तिः, युक्तिः कृत्यविचारणा ।
विधानं सुख-दुःखाप्तिः, विस्मयः परिभावना ॥ ४५ ॥

विलासो धूननं रोधः, सान्त्वनं वर्णसंहृतिः ।
नर्म नर्मद्युतिस्तापः, स्युरेतानि यथारुचि ॥ ४६ ॥

पुष्पं प्रगमनं वज्रम्, उपन्यासोपसर्पणम् ।
पञ्चावश्यमप्यङ्गानि, प्रतिमुखे त्रयोदश ॥ ४७ ॥

विलासो नृ-स्त्रियोरीहा, धूननं साम्न्यनादरः ।
रोधोऽर्तिः सान्त्वनं साम, पात्रौघो वर्णसंहृतिः ॥ ४८ ॥

क्रीडायै हसनं नर्म दोषावृत्तौ तु तद्द्युतिः ।
अपायदर्शनम् तापः, पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ४९ ॥

प्रगमः प्रतिवोक्-श्रेणिः, वज्रं प्रत्यक्षकर्कशम् ।
उपपत्तिरुपन्यासः, नष्टेष्टेहाऽनुसर्पणम् ॥ ५० ॥

सङ्ग्रहो रूपमनुमा, प्रार्थनोदाहृतिः क्रमः ।
उद्वेगो विद्रवश्चैतद्, गुणतः कार्यमष्टकम् ॥ ५१ ॥

आक्षेपोऽधिबलं मार्गोऽसत्याहरण-तोटके ।
पंचैतानि प्रधानानि, गर्भेऽङ्गानि त्रयोदश ॥ ५२ ॥

सङ्ग्रहः साम-दानादिः, रूपं नानार्थसंशयः ।
अनुमा निश्चयो लिङ्गात्, प्रार्थना भावयाचनम् ॥ ५३ ॥

उदाहृतिः समुत्कर्षः, क्रमो भावस्य निर्णयः ।
उद्वेगो भीर्द्रवः शङ्काऽऽक्षेपो बीजप्रकाशनम् ॥ ५४ ॥

अधिबलं बलाधिक्यं, मार्गस्तत्त्वार्थशंसनम् ।
असत्याहरणं छद्म, तोटकं गर्भितं वचः ॥ ५५ ॥

द्रवः प्रसङ्गः सम्फेटोऽपवादाश्छादनं द्युतिः ।
खेदो विरोधः संरम्भः भवेयुर्गणतो नव ॥ ५६ ॥

शक्ति-प्ररोचनाऽऽदान-व्यवसायास्तु मुख्यतः ।
त्रयोदशाङ्गान्यामर्शे, द्रवः पूज्यव्यतिक्रमः ॥ ५७ ॥

प्रसङ्गो महतां कीर्तिः, सम्फेटः क्रोधजं वचः ।
अपवादः परीवादः, छादनं मन्युमार्जनम् ॥ ५८ ॥

तिरस्कारो द्युतिः खेदः, श्रमः काय-मनो-भवः ।
विरोधः प्रस्तुतज्यानि, संरम्भः शक्तिकीर्तनम् ॥ ५९ ॥

क्रुद्धप्रसादनं शक्तिः भाविसिद्धिः प्ररोचना ।
फलसामीप्यमादानं, व्यवसायोऽर्थ्यहेतुयुक् ॥ ६० ॥

सन्धिर्निरोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ।
उपास्तिः कृतिरानन्दः, समयः परिगूहनम् ॥ ६१ ॥

भाषणं काव्यसंहार-पूर्वभाव प्रशस्तयः ।
चतुर्दशाङ्गो निर्वाहः, सन्धिर्बीज-फलागमः ॥ ६२ ॥

निरोधः कार्यमीमांसा, ग्रथनं कार्यदर्शनम् ।
निर्णयोऽनुभवख्यातिः, परिभाषा स्वनिन्दनम् ॥ ६३ ॥

सेवोपास्तिः कृतिः क्षेमम्, आनन्दो वाञ्छितागमः ।
समयो दुःखनिर्वासोऽद्भुताप्तिः परिगूहनम् ॥ ६४ ॥

भाषणं साम-दानोक्तिः, प्राग्भावः कृत्यदर्शनम् ।
वरेच्छा काव्यसंहारः प्रशस्तिः शुभशंसना ॥ ६५ ॥

इति श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचिते नाटचदर्पणसूत्रे नाटकनिर्णयो नाम प्रथमो विवेकः ॥ १ ॥

: २ :

अथः प्रकरणाद्येकादशरूपनिर्णयो द्वितीयो विवेकः

प्रकरणं वणिग्-विप्र-सचिव-स्वाम्यसंकरात् ।
मन्दगोत्राङ्गनं दिव्यानाश्रितं मध्यचेष्टितम् ॥ १ ॥

दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्तं, क्लेशाढ्यं तच्च सप्तधा ।
कल्प्येन फल-वस्तूनाम्, एक-द्वि-त्रि-विधानतः ॥ २ ॥

कुलस्त्री गृहवार्तायां, पण्यस्त्री तु विपर्यये ।
विटे पत्यौ द्वयं तस्माद् एकविंशतिधाऽप्यदः ॥ ३ ॥

अत्राकल्प्यं पुरा क्लृप्तं, यद्वाऽनार्षमसद्गुणम् ।
शेषं नाटकवत् सर्वं, कैशिकीपूर्णतां विना ॥ ४ ॥

चतुरङ्का बहुस्त्रीका, नृपेशा स्त्री-महीफला ।
कल्प्यार्था कैशिकी-मुख्या, पूर्वरूपद्वयोत्थिता ॥ ५ ॥

अख्याति-ख्याततः कन्या-देव्योर्नाटी चतुर्विधा ।
अत्र मुख्याकृतो योगः, पर्यन्ते नेतुरन्यया ॥ ६ ॥

प्रेमार्द्रो वर्ततेऽन्यस्यां, नेता मुख्याभिशङ्कितः ।
देवी दक्षाऽपरा मुग्धा, समा धर्मा द्वयोः पुनः ॥ ७ ॥

क्रोध-प्रसाद-प्रत्यूह-रति-च्छद्मादि भूरिशः ।
एवं प्रकरणी किन्तु, नेता प्रकरणोदितः ॥ ८ ॥

एकाहचरितैकाङ्को, गर्भामर्शविवर्जितः ।
अस्त्रीनिमित्तसङ्ग्रामो, नियुद्ध-स्पर्धनोद्धतः ॥ ९ ॥

स्वल्पयोषिज्जनः ख्यात-वस्तुर्दीप्तरसाश्रयः ।
अदिव्यभूपतिस्वामी, व्यायोगो नायिकां विना ॥ १० ॥

विज्ञेयः समवकारः, ख्यातार्थो निर्विमर्शकः ।
उदात्तदेव-दैत्येशो, वीथ्यङ्गी वीर-रौद्रवान् ॥ ११ ॥

अत्र द्वादश नेतारः, फलं तेषां पृथक् पृथक् ।
अङ्कास्त्रयस्त्रिशृङ्गाराः, त्रिकपटास्त्रिविद्रवाः ॥ १२ ॥

षड्युग्मैकमुहूर्ताः स्युः, निष्ठितार्थाः स्वकार्यतः ।
महावाक्ये च सम्बद्धाः, क्रमाद् द्व्येकैकसन्धयः ॥ १३ ॥

शृङ्गारस्त्रिविधो धर्म-कामार्थफलहेतुकः ।
वञ्च्य-वञ्चयक-दैवेभ्यः, सम्भवी कपटस्त्रिधा ॥ १४ ॥

जीवाजीवोभयोत्थः स्याद्, विद्रवस्त्रिरमीषु तु ।
प्रत्येकमङ्केष्वेकैकः, पद्यं च स्रग्धराऽऽदिकम् ॥ १५ ॥

भाणः प्रधानशृङ्गार-वीरो मुखनिर्वाहवान् ।
एकाङ्को दशलास्याङ्गः, प्रायो लोकानुरञ्जकः ॥ १६ ॥

एको विटो वा धूर्तो वा, वेश्याऽऽदेः स्वस्य वा स्थितिम् ।
व्योमोक्त्या वर्णयेदत्र, वृत्तिर्मुख्या च भारती ॥ १७ ॥

वैमुख्यकार्यं वीथ्यङ्गि, ख्यातकौलीन-दम्भवत् ।
हास्याङ्गि भाण-सन्ध्यङ्क-वृत्ति प्रहसनं द्विधा ॥ १८ ॥

निन्द्य-पाखण्डि-विप्रादेः, अश्लीलाऽसभ्य-वर्जितम् ।
परिहासवचः-प्रायं, शुद्धमेकस्य चेष्टितम् ॥ १९ ॥

सङ्कीर्णमुद्धताकल्प-भाषाऽऽचार-परिच्छदम् ।
बहूनां बन्धकी-चेट-वेश्याऽऽदीनां विचेष्टितम् ॥ २० ॥

अशान्त-हास्य-शृङ्गार-विमर्शः ख्यातवस्तुकः ।
रौद्रमुख्यश्चतुरङ्कः, सेन्द्रजाल-रणो डिमः ॥ २१ ॥

अत्रोल्कापात-निर्घाताः, चन्द्र-सूर्योपरक्तयः ।
सुरासुर-पिशाचाद्याः, प्रायः षोडश नायकाः ॥ २२ ॥

उत्सृष्टिकाङ्कः पुंस्वामी, ख्यातयुद्धोत्थवृत्तवान् ।
भाणोक्तसन्धि-वृत्यङ्कः, वाग्युद्धः करुणाङ्गिकः ॥ २३ ॥

निर्वेदवाचो भूम्नाऽत्र, योषितां परिदेवितम् ।
नरा निवृत्तसङ्ग्रामाः, चेष्टाश्चित्रा विसंस्थुलाः ॥ २४ ॥

ईहामृगः सवीथ्यङ्गः, दिव्येशो दृप्तमानवः ।
एकाङ्कश्चतुरङ्को वा ख्याताख्यातेतिवृत्तवान् ॥ २५ ॥

दिव्यस्त्रीहेतुसङ्ग्रामः, निर्विश्वासः सविड्वरः ।
स्त्र्यपहार-भेद-दण्डः, प्रायो द्वादशनायकः ॥ २६ ॥

व्याजेनात्र रणाभावः, वधासन्ने शरीरिणि ।
व्यायोगोक्ता रसाः सन्धि-वृत्तयोऽनुचिता रतिः ॥ २७ ॥

सर्वस्वामिरसा वीथी, त्वेकाङ्का द्व्येकपात्रिका ।
मुखनिर्वाहसन्धिः स्यात्, सर्वरूपोपयोगिनी ॥ २८ ॥

व्याहारोऽधिबलं गण्डः, प्रपञ्चस्त्रिगतं छलम् ।
असत्प्रलापो वाक्केली, नालिका मृदवं मतम् ॥ २९ ॥

उद्घात्यकावलगिते, अथावस्पन्दितं स्मृतम् ।
भारतीवृत्तिवर्त्तीनि, वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥ ३० ॥

अन्यार्था भाविदृष्टिर्वा, व्याहारो हास्यलेशगीः ।
मिथो जल्पे स्वपक्षस्य, स्थापनाऽधिबलं बलात् ॥ ३१ ॥

गण्डोऽकस्माद् यदन्यार्थं, प्रस्तुतानुगतं वचः ।
प्रपञ्चः सस्तवं हास्यं, मिथो मिथ्यैकलाभकृत् ॥ ३२ ॥

त्रिगतं शब्दसाम्येन, भिन्नस्यार्थस्य योजनम् ।
वचोऽन्यार्थं छलं हास्य-वञ्चना-रोषकारणम् ॥ ३३ ॥

असत्प्रलास्तत्त्वेन, हितं यन्नावगम्यते ।
प्रश्नोत्तरं तु वाक्केली, हास्या वाक् प्रतिवागपि ॥ ३४ ॥

हास्याय वञ्चना वाली, व्यत्ययो गुण-दोषयोः ।
मृदवं परस्परं स्याद्, उद्घात्यं गूढ-भाषणम् ॥ ३५ ॥

तच्चावलगितं सिद्धिः, कार्यस्यान्यमिषेण या ।
स्वेच्छोक्तस्यान्यथाऽऽख्यानं, यदवस्पन्दितं तु तत् ॥ ३६ ॥

स्वां स्वां वैशेषिकीं हित्वा, सन्धि-वृत्त्यादिकां स्थितिम् ।
सामान्या नाटकस्यान्या, विज्ञेया रूपकान्तरे ॥ ३७ ॥

इति श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचिते नाटचदर्पणे प्रकरणाद्येकादशरूपनिर्णयो नाम

द्वितीयो विवेकः समाप्तः ॥ २ ॥

: ३ :

अथ: वृत्ति-रस-भावभिनय-विचार: तृतीयो विवेक:

भारती सात्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः ।
रस-भावाभिनयगाः, चतस्रो नाट्य-मातरः ।। १ ।।

सर्वरूपकगामिन्यामुख-प्ररोचनोत्थिता ।
प्राय: संस्कृतनि:शेष-रसाढ्या वाचि भारती ।। २ ।।

विदूषक-नटी-मार्षैः, प्रस्तुताक्षेपि भाषणम् ।
सूत्रधारस्य वक्रोक्त-स्पष्टोक्तैर्यत् तदामुखम् ।। ३ ।।

वाक्यार्थ-समयाह्वानैः, भावोक्तैः पात्रसङ्क्रमः ।
पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या, सभ्यौन्मुख्यं प्ररोचना ।। ४ ।।

सात्वती सत्त्व-वागङ्गाभिनेयं कर्म मानसम् ।
सार्जवाधर्ष-मुद्धैर्य-रौद्र-वीर-शमाद्भुतम् ।। ५ ।।

कैशिकी हास्य-शृङ्गार-नाट्य-धर्मभिदात्मिका ।
आरभट्यनृत-द्वन्द्व-छद्म-दीप्तरसान्विता ।। ६ ।।

स्थायी भाव: श्रितोत्कर्षः, विभाव-व्यभिचारिभिः ।
स्पष्टानुभावनिश्चेयः, सुख-दुःखात्मको रसः ।। ७ ।।

कार्यहेतु: सहचारी, स्थाय्यादे: कार्यवर्त्मनि ।
अनुभावो विभावश्च, व्यभिचारी च कीर्त्यते ।। ८ ।।

शृङ्गार-हास्य-करुणाः, रौद्र-वीर-भयानकाः ।
बीभत्साद्भुत-शान्ताश्च, रसा: सद्भिर्नव स्मृताः ।। ९ ।।

सम्भोग-विप्रलम्भात्मा, शृङ्गारः प्रथमो बहुः ।
मान-प्रवास-शापेच्छा-विरहैः पञ्चधाऽपरः ।। १० ।।

स्त्री-पुंस-काव्य-गीतर्तु-माल्य-वेषेष्टकेलिजः ।
अभिनेयः स चोत्साह-चाटु-तापाश्रु-मन्युभिः ।। ११ ।।

विकृताचार-जल्पाङ्गाकल्पलय-विस्मापनोद्भवः ।
हास्योऽस्याभिनयो नासा-स्पन्दाश्रु-जठर-ग्रहैः ।। १२ ।।

मृत्यु-बन्ध-धनभ्रंश-शाप-व्यसन-सम्भवः ।
करुणोऽभिनयस्तस्य, वाष्प-वैवर्ण्य-निन्दनैः ।। १४ ।।

प्रहारासत्य-मात्सर्य-द्रोह-धर्षापनीतिजः ।
रौद्र: स चाभिनेतव्यः, घात-दन्तौष्ठ-पीडनैः ।। १५ ।।

पराक्रम-बल-न्याय-यशस्तत्त्वविनिश्चयैः ।
वीरोऽभिनयनं तस्य, धैर्य-रोमाञ्च-दानतः ।। १६ ।।

पताका-कीर्ति-रौद्राजि-शून्य-तस्करदोषजः ।
भयानकोऽभिनेतव्यः, स्तम्भ-रोमाञ्च-कम्पनैः ।। १७ ।।

जुगुप्सनीयरूपादि-परश्लाघा-समुद्भवः ।
बीभत्सोऽभिनयश्चास्य, निष्ठेवोद्वेग-निन्दनैः ।। १८ ।।

दिव्येन्द्रजाल-रम्यार्थ-दर्शनाभीष्टसिद्धितः ।
अद्भुतः सोऽभिनेतव्यः, श्लाघा-रोमाञ्च-हर्षतः ।। १९ ।।

संसारभय-वैराग्य-तत्त्व-शास्त्रविमर्शनैः ।
शान्तोऽभिनयनं तस्य, क्षमा-ध्यानोपकारतः ।। २० ।।

अर्थ-शब्द-वपुः काव्यं, रसैः प्राणैर्विसर्पति ।
अञ्जसा तेन सौहार्दं, रसेषु कविमानिनाम् ।। २१ ।।

न तथाऽर्थ-शब्दोत्प्रेक्षाः, श्लाघ्याः काव्ये यथा रसः ।
विपाककम्रमप्याम्रम्, उद्वेजयति नीरसम् ।। २२ ।।

एकत्र स्वैरिणोस्तुल्य-शक्त्योर्योगे विरुद्धता ।
दोषोऽनौचित्यमङ्गौग्रचम्, अपोषोऽस्त्युक्तिरङ्गिभित् ।। २३ ।।

रतिर्हासश्च शोकश्च, क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा-विस्मय-शमाः, रसानां स्थायिनः क्रमात् ।। २४ ।।

निर्वेद-ग्लान्यपस्मार-शङ्काऽसूया-मद-श्रमाः ।
चिन्ता चापलमावेगः, मतिर्व्याधिः स्मृतिर्धृतिः ।। २५ ।।

अमर्षो मरणं मोहः, निद्रा-सुप्तौग्रच-हृष्टयः ।
विषादोन्माद-दैन्यानि, व्रीडा त्रासो वितर्कणम् ।। २६ ।।

गर्वौत्सुक्यावहित्थानि, जाड्यालस्य-विबोधनम् ।
त्रयस्त्रिंशद् यथायोगं, रसानां व्यभिचारिणः ।। २७ ।।

निर्वेदस्तत्त्वधी-क्लेशैः, वैरस्यं श्वास-तापकृत् ।
ग्लानिः पीडा जराऽऽयासैः, अशक्तिः कार्श्य-कम्प-भाक् ।। २८ ।

वैकल्यं ग्रहदोषेभ्योऽपस्मारो निन्द्यचेष्टितः ।
शङ्का स्व-पर-दौरात्म्याद्, दोलनं श्यामताऽऽदियुक् ।। २९ ।।

द्वेषादेः सद्गुणाक्षान्तिः, असूया दोषदर्शनी ।
ज्येष्ठादौ मुन्मदो मद्यात्, निद्राहास्याश्रुकृत् क्रमात् ।। ३० ।।

श्रमो रतादिभिः सादः, स्वेद-श्वासादि कारणम् ।
आधिश्चिन्ता प्रियानाप्तेः, शून्यता-श्वास-कार्श्ययुक् ।। ३१ ।।

चापलं साहसं राग-द्वेषादेः स्वैरिताऽऽदिमत् ।
आवेगः सम्भ्रमोऽतर्क्यर्चाद्, विकर्ताङ्ग-मनो-गिराम् ॥ ३२ ॥

प्रतिभानं मतिः शास्त्र-तर्काद् भ्रान्तिच्छिदादिकृत् ।
दोषेभ्योऽङ्ग-मनः-क्लेशः, व्याधिः स्तनित-कम्पवान् ॥ ३३ ॥

दृष्टाभासः स्मृतिस्तुल्य-दृष्टयादेर्भ्रून्नतिक्रिया ।
धृतिर्ज्ञानेष्टलाभादेः, सन्तुष्टिर्देहपुष्टिकृत् ॥ ३४ ॥

क्षेपादेः प्रतिकारेच्छाऽमर्षोऽस्मिन् कम्पनादयः ।
व्याध्यादेर्मृत्युसङ्कल्पः मरणं विकलेन्द्रियम् ॥ ३५ ॥

अचैतन्यं प्रहारादेः मोहोऽत्राघूर्णनादयः ।
इन्द्रियाव्यापृतिर्निद्रा, खेदादेर्मूर्धकम्पिनी ॥ ३६ ॥

सुप्तं निद्राप्रकर्षोऽत्र, स्वप्नायित-श्रमोहने ।
दुष्टेऽपराधान्नैर्घृण्यम्, औग्रयं बन्ध-वधादिभिः ॥ ३७ ॥

हर्षः प्रसत्तिरिष्टाप्तेः, अत्र स्वेदाश्रु-गद्गदाः ।
विषादस्तान्तिरिष्टस्यानाप्तेर्निःश्वास-चिन्तनैः ॥ ३८ ॥

मनोविप्लुतिरुन्मादः, ग्रह-दोषैरयुक्तकृत् ।
आपदः स्वान्तनीचत्वं, दैन्यं कार्ष्ण्याविगुण्ठनैः ॥ ३९ ॥

व्रीडाऽनुताप-गुर्वादेः, अधाष्ट्र्यं गात्रगोपकम् ।
घोराच्चकितता त्रासः, कायसङ्कोच-कम्पितैः ॥ ४० ॥

एकसम्भावनं तर्कः, वादादेरङ्गनर्तकः ।
आत्मन्याधिक्यधीर्गर्वः, विद्याऽऽदेरन्यरीढया ॥ ४१ ॥

इष्टाभिमुख्यमौत्सुक्यं, स्मरणाद्यात् त्वराऽऽदिभिः ।
धाष्ट्र्याद्यैर्विक्रियारोधोऽवहित्थाऽत्र क्रियान्तरम् ॥ ४२ ॥

जाड्यमिष्टादितः कार्याज्ञानं मौनानिमेषणैः ।
कर्मानुत्साह आलस्यं, श्रमाद्याजृम्भितादिभिः ॥ ४३ ॥

निद्राच्छेदो विबोधश्च, शब्दादेरङ्गभङ्गवान् ।
केषांचित् तु रसादीनाम्, अन्योन्यं हेतु-कार्यता ॥ ४४ ॥

वेपथु-स्तम्भ-रोमाञ्चाः, स्वरभेदोऽश्रु मूर्छनम् ।
स्वेदो वैवर्ण्यमित्याद्याः, अनुभावारसादिजाः ॥ ४५ ॥

भवादेर्वेपथुर्गात्र-स्पन्दो वागादिविक्रियः ।
यत्नेऽप्यङ्गाक्रिया स्तम्भः हर्षादेर्हा ! विषादवान् ॥ ४६ ॥

रोमाञ्चः प्रियदृष्टयादेः, रोमहर्षोऽङ्गमार्जनैः ।
स्वरभेदः स्वरान्यत्वं मदादेर्हर्ष-हास्यकृत् ॥ ४७ ॥

अश्रु नेत्राम्बु शोकाद्यैः, नासास्पन्दाक्षिरूक्षणैः ।
मूर्छनं घात-कोपाद्यैः, खग्लानिर्भूमिपातकृत् ॥ ४८ ॥

स्वेदो रोमजलस्रावः, श्रमादेर्व्यजनग्रहैः ।
छायाविकारो वैवर्ण्यं, क्षपादेर्दिग्निरीक्षणैः ॥ ४६ ॥

वाचिकोऽभिनयो वाचां, यथाभावमनुक्रिया ।
कर्मणोऽङ्गैरुपाङ्गैश्च, साक्षाद् भावनमाङ्गिकः ॥ ५० ॥

सात्त्विकः स्वरभेदादेः, अनुभावस्य दर्शनम् ।
वर्णाद्यनुक्रियाऽऽहार्यः, बाह्यवस्तुनिमित्तकः ॥ ५१ ॥

इति श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविनिर्मिते नाट्यदर्पणसूत्रे वृत्ति-रस-भावभिनय-विचारस्तृतीयो विवेकः ॥ ३ ॥

: ४ :

अथ सर्वरूपक-साधारण-लक्षणनिर्णयः चतुर्थोविवेकः

देव-भूप-सभा-भर्तृ-मुख्यानां मङ्गलाभिधा ।
नित्या रूपमुखे नान्दी, पदैः षड्भिरथाष्टभिः ॥ १ ॥

प्रवेश-निष्क्रमाक्षेप-प्रसादान्तरसङ्गतम् ।
चित्रार्थं रूपकं गेयं, पञ्चधा स्यात् कविध्रुवा ॥ २ ॥

उत्तमा मध्यमा नीचा, प्रकृतिर्नृ-स्त्रियोस्त्रिधा ।
एकैकापि त्रिधा स्व-स्व-गुणानां तारतम्यतः ॥ ३ ॥

शरण्यो दक्षिणस्त्यागी, लोकशास्त्रविचक्षणः ।
गाम्भीर्य-धैर्य-शौण्डीर्य-न्यायवान् उत्तमः पुमान् ॥ ४ ॥

मध्यो मध्यगुणो नीचः, पापीयान् पिशुनोऽलसः ।
कृतघ्नः कलही क्लीबः, स्त्रीलोलो रूक्षवाग् जडः ॥ ५ ॥

लज्जावती मृदुर्धीरा, गम्भीरा स्मितहासिनी ।
विनीता कुलजा दक्षा, वत्सला योषिदुत्तमा ॥ ६ ॥

नरवन्मध्यमा-नीचे, नीचोऽपीशः कथावशात् ।
प्रधानफलसम्पन्नोऽव्यसनी मुख्यनायकः ॥ ७ ॥

तेजो विलासो माधुर्यं, शोभा स्थैर्यं गंभीरता ।
औदार्यं ललितं चाष्टौ, गुणा नेतरि सत्त्वजाः ॥ ८ ॥

क्षेपादेरसहिष्णुत्वं, तेजः प्राणात्ययेऽपि च।
विलासो वृषवद् यानं, धीरा दृक् सस्मितं वचः ॥ ९ ॥

माधुर्यं विकृतिः स्तुत्या, क्षोभहेतौ महत्यपि।
शोभा चिह्नं घृणा-स्पर्द्धा-दाक्ष्य-शौर्योद्यमोन्नये ॥ १० ॥

विघ्नेऽप्यचलनं स्थैर्यं प्रारब्धादशुभादपि।
गाम्भीर्यं सहजा मूर्तिः, कोप-हर्षादि-गोपनी ॥ ११ ॥

औदार्यं शत्रु-मित्राणां, प्राणितेनाप्युपग्रहः।
शृङ्गारिचेष्टा ललितं, निर्विकाराः स्वभावजाः ॥ १२ ॥

अमुख्यो नायकः किञ्चिदूनवृत्तोऽग्रचनायकात्।
लोभी धीरोद्धतः पापी, व्यसनी प्रतिनायकः ॥ १३ ॥

नीचा विदूषक-क्लीब-शकार-विट-किङ्कराः।
हास्यायाद्यो नृपे श्यालः, शकारस्त्वेकविद् विटः ॥ १४ ॥

स्निग्धा धीरोद्धतादीनां, यथौचित्यं वियोगिनाम्।
लिङ्गी द्विजो राजजीवी, शिष्याश्चैते विदूषकाः ॥ १५ ॥

युवराज-चमूनाथ-पुरोधः-सचिवादयः।
सहाया एतदायत्त-कर्मैव ललितः पुनः ॥ १६ ॥

शुद्धान्ते कारुको द्वाःस्थः, कञ्चुकी शुभकर्मणि।
वर्षवरस्तु रक्षायां, निर्मुण्डः प्रेषणे स्त्रियाः ॥ १७ ॥

कार्याख्याने प्रतीहारी, रक्षा स्वत्योर्महत्तरा।
पूर्वास्थितिविधौ वृद्धा, चित्रादौ शिल्पकारिका ॥ १८ ॥

नायिका कुलजा दिव्या, क्षत्रिया पण्यकामिनी।
अन्तिमा ललितोदात्ता, पूर्वोदात्ता त्रिधा परे ॥ १९ ॥

रागिण्येवाप्रहसने, नृपे दिव्ये च न प्रभौ।
गणिका क्वापि दिव्या तु, भवेदेषा महीभुजः ॥ २० ॥

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति, त्रिविधाः स्युरिमाः पुनः।
मुग्धा वामा रते स्वल्प-माना रोहद्-वयः-स्मरा ॥ २१ ॥

मध्या मध्य-वयः-काम-माना मूर्च्छान्त-मोहना।
प्रगल्भेद्ध-वयो-मन्यु-कामा स्पर्शेऽप्यचेतना ॥ २२ ॥

कार्यतः प्रोषिते पत्यावभूषा प्रोषितप्रिया।
विप्रलब्धा ससङ्केते, प्रेष्य दूतीमनागते ॥ २३ ॥

खण्डिता खण्डयत्यन्यासक्त्या वासकमीर्ष्यिता।
ईर्ष्या-कलह-निष्क्रान्ते, कलहान्तरिताऽऽर्तिभाक् ॥ २४ ॥

विलम्बयत्यदोषेऽपि, विरहोत्कण्ठितोत्सुका ।
दृष्टा वासकसज्जाऽऽत्मन्यलंकृतिपरैष्यति ॥ २५ ॥

सुभगम्मानिनी वश्यासन्ने स्वाधीनभर्तृका ।
सरन्ती सारयन्ती वा रिरंसुरभिसारिका ॥ २६ ॥

भावाद्या यौवने स्त्रीणाम्, अलङ्कारास्त्रयोऽङ्गजाः ।
दश स्वाभाविकाश्चैते, क्रियारूपास्त्रयोदश ॥ २७ ॥

सति भोगे गुणाः सप्तायत्नजाश्च स्वभावजाः ।
नावश्यम्भाविनोऽथैषा, विंशतिः स्त्रीषु मुख्यतः ॥ २८ ॥

भावो वागादिवैशिष्ट्यं, चिह्नं रत्युत्तमत्वयोः ।
नेत्रादिविकृतं हावः सश्रृङ्गारमसन्ततम् ॥ २९ ॥

तदेव सन्ततं हेला, तारुण्योद्बोधशालिनी ।
रागादिना विपर्यासः, क्रियाणामथ विभ्रमः ॥ ३० ॥

विलासः प्रियदृष्ट्यादौ, चारुत्वं गात्र-कर्मणोः ।
वेषाल्पतैव विच्छित्तिः, परां शोभां वितन्वती ॥ ३१ ॥

लीला दयितवागादेः, स्वे न्यासो बहुमानतः ।
विव्वोकोऽनादरो मान-दर्पादिष्टेऽपि वस्तुनि ॥ ३२ ॥

विहृतं जल्पकालेऽपि, मौनं ह्री-व्याज-मौग्ध्यतः ।
ललितं गात्रसञ्चारः, सुकुमारो निरर्थकः ॥ ३३ ॥

कचौष्टादिग्रहे कोपः मृषा कुट्टुमितं मुदि ।
मोट्टायितं प्रियेक्षादौ, रागतो गात्रमोटनम् ॥ ३४ ॥

मुहुः स्मिताश्रु-कम्पादेः सङ्करः किलि (ल) किंचितम् ।
औज्ज्वल्यं यौवनादीनाम्, अथ शोभोपभोगतः ॥ ३५ ॥

सा कान्तिः पूर्णसम्भोगा, दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ।
सौम्यं तापेऽपि माधुर्यम्, औदार्यमुचिताच्युतिः ॥ ३६ ॥

चेतोऽविकत्थनं धैर्यं, प्रागल्भ्यं कौशलं रते ।
यथौचित्यं च नेतॄणां, नायिकाः कुलजादयः ॥ ३७ ॥

सहायिन्यस्तु धात्रेयी-लिङ्गिनी-प्रातिवेशिकाः ।
शिल्पिनी-चेटिका-सख्यः, गुप्ता दक्षा मृदु-स्थिराः ॥ ३८ ॥

देवानीचनृणां पाठः, संस्कृतेनाथ जातुचित् ।
महिषी मन्त्रिजा-पण्यस्त्रीणामव्याजलिङ्गिनाम् ॥ ३९ ॥

बाल-षण्ढ-ग्रहग्रस्त-मत्त-स्त्रीरूप-योषिताम् ।
प्राकृतेनोत्तमस्यापि, दारिद्र्यैश्वर्यमोहिनः ॥ ४० ॥

अत्यन्तनीचभूतादौ, पैशाची मागधी च वाक् ।
शौरसेनी तु नीचस्य, देशोद्देशे स्वदेशगी: ॥ ४१ ॥

तिर्यग्-जात्यन्तरादीनाम्, आनुरूप्येण सङ्कथा ।
भाषा-प्रकृति-वृत्तादे:, कार्यत: क्वापि लङ्घनम् ॥ ४२ ॥

आर्येति शब्द्यते पत्नी, लिङ्गिनी ब्राह्मणी द्विज:(जैः) ।
अम्बाऽपि जननी-वृद्धे, पूज्या तु भवतीत्यपि ॥ ४३ ॥

भ्राताऽग्रजोऽधमैर्मन्त्री, नटी-सूत्रभृतौ मिथ: ।
पुरोध:-सार्थवाहाभ्यां, पत्नी पत्न्या जरन् पति: ॥ ४४ ॥

महाराजो नृप: सर्वैस्त्वार्यपुत्रेति यौवने ।
पुंसा भद्रेति भोक्तव्या, प्रियेति दयिताऽथवा ॥ ४५ ॥

पिता पुत्राभिधायोगैर्मुख्या देव्यपि राजभि: ।
विदूषकेण भवती, राज्ञीचेट्यौ नृपस्त्रिय: ॥ ४६ ॥

भट्टिनी स्वामिनी देवीत्येवं सर्वा: परिच्छदै: ।
वेश्याऽज्जुकेति वृद्धा तु, साऽत्ता तुल्या स्त्रिया हला ॥ ४७ ॥

हञ्जे त्वनुत्तमा-प्रेष्ये, भगवदिति देवता ।
तप:स्था चार्च्य-देवर्षि-बहुविद्या: सयोषित: ॥ ४८ ॥

मान्यो नामान्तरै राजा, लिङ्गिनाऽथ विदूषकै: ।
वयस्योऽप्यधमैर्भट्टी, लोकैर्देवेति भूपति: ॥ ४९ ॥

मित्राख्याभिर्विदू राज्ञा, कुमारोभर्तृदारक: ।
मुनि-शाक्यौ भदन्तेति, स्वप्रसिद्धयाऽपरो व्रती ॥ ५० ॥

सूत्री भावोऽनुगेनासौ, तेन मार्ष: सम: सखा ।
शिष्यात्मजानुजा: पुत्र-वत्सौ तातो जरन्नपि ॥ ५१ ॥

सौम्यो भद्रमुखश्चेति, नीचो हण्डे तु पामरै: ।
येन कर्मादिना यस्तु, ख्यात: स तदुपाधिक: ॥ ५२ ॥

शूरे विक्रमसंसूचि, कल्प्यं नामाथ वाणिजे ।
दत्तान्तं प्रायशो विप्रे, गोत्र-कर्मानुरूप्यत: ॥ ५३ ॥

नृपस्त्रियां शुभं दत्ता-सेनाऽन्तं पण्ययोषिति ।
पुष्पादिवाचकं चेट्यां, चेटे मङ्गलकीर्तनम् ॥ ५४ ॥

इति श्री रामचन्द्रगुणचन्द्रनिर्मिते नाट्यदर्पणसूत्रे सर्वरूपकसाधारणलक्षणनिर्णयो नाम चतुर्थो विवेक: समाप्त: ॥४॥

२०७ पद्यात्मकं समाप्तं नाट्यदर्पणसूत्रम् ॥

परिशिष्टम् [२]

नाटचदर्पणविवरणनिर्दिष्ट-ग्रन्थकृन्नामसूची ।

[वर्णक्रमेण]

ग्रन्थकृन्नाम		
अभिनवगुप्तः	(नाटचशास्त्रस्य अभिनवभारतीवृत्तिकारः)	२३
इन्दुराजभट्टः	(क्षीरस्वामिगुरुः)	२८४
कोहलः	(सट्टकादिलक्ष्मप्रणेता)	१४,२४१
क्षीरस्वामी:	(भट्टेन्दुराजशिष्योऽभिनवराघवनाटककारः)	२८४
भरतमुनिः	(नाटचशास्त्र-निर्माता)	२७,२१२
भवनुतचूडा भट्टः	(कौशलिकानाटिकाकारः)	३०
भवभूतिः	(मालतीमाधवकर्ता)	२१२
भासः	(स्वप्नवासवदत्तकर्ता)	१४८
भीमटः	(मनोरमा-वत्सराजकर्ता)	२५९
भीमदेवः	(वसुनाग-जनकः)	१९७
भेज्जलः	(राधाविप्रलम्भरचयिता)	१९७
मम्मटः	(काव्यप्रकाशकारः)	३३२
मुनिः (भरतमुनिः)	(नाट्यशास्त्रकर्ता)	२७, २१२
वसुनागः	(भीमदेवसूनुः, प्रतिमाऽनिरुद्धप्रणेता)	१९७
विशाखदेवः	(देवीचन्द्रगुप्तरचयिता)	२०७
वीरनागः	(कुन्दमालाकर्ता)	८१
शङ्कुकः	(अमात्यः, चित्रोत्पलावलम्बितकप्रकरणकारः)	२४१,१५२,
शुक्तिवासकुमारः	(अनङ्गसेना-हरिनन्दिप्रकरणकारः)	१६५
शूद्रकः	(मृच्छकटिकाकारः)	८१
हेमचन्द्रः	(शब्द-प्रमाण-साहित्य-छन्दो-लक्ष्मविधाता, नाटचदर्पणकृद्-गुरुः)	४०९

परिशिष्टम् [३]

नाट्यदर्पणविवरणनिर्दिष्ट-नाट्यादिग्रन्थनाम-सूची ।

[वर्णक्रमेण]

नाट्यादिग्रन्थनाम

परिशिष्टम् [४]

[वर्णक्रमेण]

कौशाम्बी मम हस्त एव	२५६	मनोरमावत्सराजे
क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः	३२३	[विक्रमोर्वश्याम्]
क्षिप्तो हस्तावलग्नः	३२२	[अमरुशतके २]
क्षुद्राग्नेरमुतोऽपि	७९	तापसवत्सराजे अ० २
खण्डय न्यायतेजोभिः	१६५	रघुविलासे अ० ७
गिरिरयममरेन्द्रेणाद्य	१४७	कृत्यारावणे
गुप्तः साक्षात् महानल्पः	२६५	वेणीसंहारे
गेयपदं स्थितपाठ्यम्	२२६	[नि०सा०नाट्यशास्त्रे अ० १८,१८३; १६,११६]
गोष्ठे यत् तु विहरतः	४०६	[हे०का० अलं० ८ उ]
चञ्चद्भुजभ्रमित—	११०	वेणीसंहारे
चूर्णिताशेषकौरव्यः	१७१	,, अ० ५
चौर्यरतप्रतिभेदं	४०५	
जो अन्नो पसूओ (प्रा०)	२५०	बालिकावञ्चितके
तपनीयोज्ज्वलकरकं	२६३	,,
तल्लावण्यमनन्यवृत्ति	३१६	राघवाभ्युदये
तवास्मि गीतिरागेण	२८२	अभिज्ञानशकुन्तले
तवैव रुधिराम्बुभिः	१३०	रामाभ्युदये अ० २
तस्मिन् कौरव पार्थयोः	१६६	वेणीसंहारे अ० ६
ताण नमो निग्गुण-(प्रा०)	२६६	सुधाकलशे
तिक्तादुद्विजते मृदौ	१५८	मुद्राराक्षसे
तीर्ण भीष्ममहोदधौ	१०२	वेणीसंहारे अ० ६
त्यजत मानमलं	३२४	[रघुवंशे ६,४७]
त्यजन् हेम्नो लक्षं	१२६	सत्यहरिश्चन्द्रे
त्यजामि देवीं	२५५	देवीचन्द्रगुप्ते अ० २
त्रातो घोषभुवां	१६४	यादवाभ्युदये
त्वद्दुःखस्यापनेतुं सा	१२८	देवीचन्द्रगुप्ते
त्वद्यानं यः	१९०	मृच्छकट्याम्
त्वय्युपारोपितप्रेम्णा	२५६	देवीचन्द्रगुप्ते अ० २
त्वं जीवितं त्वमसि मे	२६२	उत्तर [राम] चरिते
दत्वा द्रोणेन	१५५	वेणीसंहारे
दन्तक्षतानि करजैश्च	३२१	[ध्वन्यालोके उ० ३ उद्धृतम्]
दाराणां व्रतिनां च	१३०	रामाभ्युदये अ० २
दिणयरकिरणुक्केरो (प्रा०)	३६५	अनर्घ्यराघवे
दिष्ट्या भो !	१८७	मृच्छकट्याम्
दुर्गं भूमिरमात्य	८२	मायापुष्पके